ॐ अर्हं

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क २३

[परमश्रद्धेय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

श्री शय्यंभवस्थविरविरचित

दशवैकालिकसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]

□

प्रेरणा
(स्व.) उपप्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज

□

आद्यसंयोजक—प्रधानसम्पादक
(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर'

□

अनुवादक—विवेचक—सम्पादक
सिद्धान्ताचार्या महासती पुष्पवती

□

प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

जिनागम-ग्रन्थमाला : ग्रन्थाङ्क २३

☐ निर्देशन
महासती साध्वी श्री उमरावकुँवरजी म. सा. 'अर्चना'

☐ सम्पादकमण्डल
अनुयोगप्रवर्तक मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
उपाचार्य श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री
श्री रतनमुनि

☐ सम्प्रेरक
मुनि श्री विनयकुमार 'भीम'
श्री महेन्द्रमुनि 'दिनकर'

☐ द्वितीय सस्करण
वीरनिर्वाण सवत् २५१९
विक्रम सं० २०४९
ई० सन् १९९३

☐ प्रकाशक
श्री आगमप्रकाशन समिति
श्री ब्रज-मधुकर स्मृति भवन,
पीपलिया बाजार, ब्यावर (राजस्थान)
पिन—३०५९०१

☐ मुद्रक
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यंत्रालय,
केसरगंज, अजमेर—३०५००१

☐ मूल्य [illegible] 80/-

Published at the Holy Remembrance occasion
of
Rev. Guru Shri Joravarmalji Maharaj

Sayyambhava's

DASHAVAIKĀLIK SŪTRA

[Original Text, Hindi Version, Notes, Annotations and Appendices etc.]

Inspiring Soul
Up-pravartaka Shasansevi (Late) Swami Shri Brijlalji Maharaj

Convener & Founder Editor
(Late) Yuvacharya Shri Mishrimalji Maharaj 'Madhukar'

Translator & Annotator
Siddhantacharya Sadhwi Pushpavati

Publishers
Shri Agam Prakashan Samiti
[redacted]war (Raj.)

Jinagam Granthmala Publication No. 23

☐ **Direction**
Sadhwi Shri Umravkunwar 'Archana'

☐ **Board of Editors**
Anuyogapravartaka Muni Shri Kanhaiyalalji 'Kamal'
Sri Devendra Muni Shastri
Sri Ratan Muni

☐ **Promotor**
Munisri Vinayakumar 'Bhima'
Sri Mahendra Muni 'Dinakar'

☐ **Second Edition**
Vir-Nirvana Samvat 2519
Vikram Samvat 2049,
January, 1993.

☐ **Publisher**
Shri Agam Prakashan Samiti,
Shri Brij-Madhukar Smriti Bhawan,
Pipaliya Bazar, Beawar (Raj.)
Pin 305 901

☐ **Printer**
Satish Chandra Shukla
Vedic Yantralaya
Kesarganj, Ajmer

☐ **Price :** [redacted] 80/-

समर्पण

प्रातःस्मरणीय परमपूज्य श्री जयमलजी महाराज के तृतीय पट्ट पर विराजमान होकर जिन्होंने धर्मशासन के उन्नयन में महत्त्वपूर्ण योगदान किया,

जिन्होंने धार्मिक तथा आध्यात्मिक पद्य-रचनाओं द्वारा साहित्य-समृद्धि में वृद्धि की,

जो संयम और तप की साधना के क्षेत्र में नूतन मान स्थापित करने में प्रमुख रहे, उन

आचार्यश्री आसकरणजी महाराज

की पवित्र स्मृति में
सादर सविनय समर्पित.

[प्रथम संस्करण से]

इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे अर्थ-सहयोगी

श्रीमान् सेठ जी. सायरमलजी चोरड़िया

[जीवन-परिचय]

मरुधरा के नोखा चादावता निवासी समाजरत्न स्वर्गीय श्री गणेशमलजी चोरडिया की यावज्जीवन धर्म एव समाज के प्रति अटूट श्रद्धा व भावना रही।

आपका विवाह स्व श्रीमती सुन्दरकु वरजी से हुआ। श्रीमती सुन्दरकु वरजी भी अपने पति की भाति धर्म और समाज के प्रति पूर्ण श्रद्धा रखने वाली धर्मपरायणा स्त्रीरत्न थी।

श्री गणेशमलजी सा तथा श्रीमती सुन्दरकु वरजी के ग्यारह सन्ताने हुई जिनमे एक कन्या तथा दस पुत्र हैं। आपके होनहार सुपुत्र श्री सायरमलजी चोर्रडिया मद्रास महानगर की विभिन्न धार्मिक एव सामाजिक सस्थाओ से जुड़े हुए है। आपकी प्रखरता, सरलता, समाज के प्रति वात्सल्य, श्रद्धा एव दान प्रवृत्ति जग-जाहिर है। स्व युवाचार्य प र मुनि श्री मिश्रीमलजी म सा 'मधुकर' के प्रति आपकी अटूट श्रद्धा समाज के लिए अनुकरणीय गुरुभक्ति की परिचायक है। विभिन्न धार्मिक एव सामाजिक सस्थाओ को मुक्तहस्त से दिया गया आर्थिक सहयोग समाज के प्रति आपकी वात्सल्य भावना को उजागर करता है। आपकी समाज-सेवा, सघ-सेवा, जन-सेवा एव जन कल्याण की भावना स्तुत्य एव समाज के प्रत्येक सदस्य के लिए अनुकरणीय है।

आपके परिवारिक सदस्यो ने प्रस्तुत आगम के प्रकाशन मे विशिष्ट सहयोग प्रदान किया है।

आपकी धर्मभावना दिनोदिन वृद्धिगत हो, ऐसी मगल कामना है।

□

प्रकाशकीय

जिनागम ग्रन्थमाला के २३ वे ग्रन्थाक के रूप मे श्री दशवैकालिकसूत्र का प्रथम सस्करण प्रकाशित हुआ था, पुन इसी ग्रन्थांक से यह द्वितीय सस्करण प्रकाशित कर रहे हैं।

यद्यपि अन्यान्य प्रकाशन सस्थाओ से दशवैकालिकसूत्र के सस्करण प्रकाशित हुए हैं वे अतीव सक्षिप्त या विस्तृत है। किन्तु समिति द्वारा प्रकाशित सस्करण मूल के हार्द को स्पष्ट करने के साथ सरलता से बोध कराने वाला होने से पाठको के लिए विशेष रुचिकर सिद्ध हुआ और प्रचार-प्रसार भी अधिक हुआ है।

प्रस्तुत सूत्र चार मूलसूत्रो मे परिगणित है। मूल वर्ग मे समाविष्ट करने के लिये प्रस्तावना मे विस्तृत चर्चा की है, अतएव यहां पुनरावृत्ति करना उपयोगी नही है। परन्तु इसके वर्ण्य विषय और उसकी क्रमबद्धता को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न आगमो और चतुर्दशपूर्वों मे से आवश्यक अशो का निर्यूहण करके गागर मे सागर को समाहित कर दिया है, जिससे अध्यात्मिक साधको के लिये दीपस्तम्भवत् मार्गदर्शक है। सामान्य नागरिक भी सूत्रगत आचार पद्धति को अपने लौकिक जीवन व्यवहार का अशत भी अग बनायें तो सभ्य, शिष्ट, सुसस्कारित जीवनयापन कर सकता है।

सूत्र को अनुवादक-विवेचक साध्वी श्री पुष्पवतीजी सिद्धान्ताचार्य ने जिस लगन और परिश्रम से प्रत्येक विषय को स्पष्ट किया है, उसके लिए उनका हार्दिक अभिनन्दन करते हैं। उन्होने अपनी प्रतिभा का सर्वतोभावेन उपयोग किया है।

समिति ने आगम बत्तीसी के प्रकाशन का जो लक्ष्य निर्धारित किया था, वह तो प्राप्त कर लिया है। अब आगम साहित्य का प्रचार-प्रसार करने के लिये अप्राप्य आगमो के द्वितीय सस्करण प्रकाशित करने के लिये प्रयास किये जा रहे है। अनेक ग्रन्थो का पुनर्मुद्रण हो चुका है और शेष का मुद्रण हो रहा है।

अत मे हम अपने सभी सहयोगियो का सधन्यवाद आभार मानते है, जिनके सहकार से समिति को और हमे श्रुतसेवा करने का महान् अवसर प्राप्त हुआ है।

रतनचन्द मोदी	सायरमल चोरड़िया	अमरचन्द मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष	महामत्री	मत्री

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर

(कार्यकारिणी समिति)

१	श्रीमान् सागरमलजी बेताला	इन्दौर	अध्यक्ष
२.	,, रतनचन्दजी मोदी	ब्यावर	कार्यवाहक अध्यक्ष
३.	,, धनराजजी विनायकिया	ब्यावर	उपाध्यक्ष I
४	,, एम० पारसमलजी चोरडिया	मद्रास	उपाध्यक्ष II
५	,, हुक्मीचन्दजी पारख	जोधपुर	उपाध्यक्ष III
६	,, दुलीचन्दजी चोरडिया	मद्रास	उपाध्यक्ष IV
७	,, जसराजजी पारख	दुर्ग	उपाध्यक्ष V
८	,, जी० सायरमलजी चोरडिया	मद्रास	महामन्त्री
९	,, अमरचन्दजी मोदी	ब्यावर	मन्त्री I
१०.	,, ज्ञानराजजी मूथा	पाली	मन्त्री II
११	,, ज्ञानचन्दजी विनायकिया	ब्यावर	सह-मन्त्री
१२	,, जवरीलालजी शिशोदिया	ब्यावर	कोषाध्यक्ष I
१३	,, आर० प्रसन्नचन्द्रजी चोरडिया	मद्रास	कोषाध्यक्ष II
१४	,, श्री माणकचन्दजी सचेती	जोधपुर	परामर्शदाता
१५	,, एम० सायरमलजी चोरडिया	मद्रास	सदस्य
१६	,, मोतीचन्दजी चोरडिया	मद्रास	,,
१७	,, मूलचन्दजी सुराणा		,,
१८	,, तेजराजजी भण्डारी	महामन्दिर	,,
१९	,, भवरलालजी गोठी	मद्रास	,,
२०	,, प्रकाशचन्दजी चोपडा	ब्यावर	,,
२१	,, जतनराजजी महता	मेडतासिटी	,,
२२.	,, भवरलालजी	दुर्ग	,,
२३	,, चन्दनमलजी चोरडिया	मद्रास	,,
२४	,, सुमेरमलजी मेडतिया	जोधपुर	,,
२५	,, आसूलालजी बोहरा	महामन्दिर	,,

सम्पादकीय

आगम जैन साहित्य की अनमोल निधि और उपलब्धि है। अक्षर-देह से वह जितना अधिक विशाल और विराट् है, उससे भी अधिक अर्थ-गरिमा की दृष्टि से व्यापक है। भगवती,[1] अनुयोगद्वार[2] और स्थानाग[3] मे 'आगम' शब्द शास्त्र के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है। वहाँ पर प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ये चार प्रमाण बताए हैं। आगम के भी लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद किए हैं। लौकिक आगम महाभारत, रामायण प्रभृति ग्रन्थ हैं तो लोकोत्तर आगम आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, भगवती, ज्ञाताधर्मकथा आदि हैं।[4]

श्रमण भगवान् महावीर के पावन प्रवचनो का सूत्र रूप मे सकलन और आकलन गणधरो ने किया।[5] वह आगम अगसाहित्य के नाम से विश्रुत हुआ। आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण ने अगप्रविष्ट और अगबाह्य का विश्लेषण करते हुए लिखा है—अगप्रविष्ट वह है, जो गणधरो के द्वारा सूत्र रूप मे निर्मित हो, जो गणधरों के द्वारा जिज्ञासा प्रस्तुत करने पर तीर्थंकरो के द्वारा प्रतिपादित हो और जो शाश्वत सत्यो से सम्बन्धित होने से ध्रुव व दीर्घकालीन हो।[6] अगबाह्य आगम वह है, जो स्थविरकृत हो और तीर्थंकरो द्वारा अर्थत भाषित वाणी से सगत हो।

वक्ता के भेद की दृष्टि से आगम-साहित्य अगप्रविष्ट और अगबाह्य इन दो भागो मे विभक्त किया है।[7] आचार्य पूज्यपाद ने 'सर्वार्थसिद्धि' मे वक्ता के (१) तीर्थंकर, (२) श्रुतकेवली, (३) आरातीय आचार्य, ये तीन प्रकार बताए है।[8] आचार्य अकलङ्क ने तत्त्वार्थराजवार्तिक मे लिखा है—आरातीय आचार्यों द्वारा निर्मित आगम अगप्रतिपादित अर्थ के निकट या अनुकूल होने के कारण अगबाह्य हैं।[9] नन्दीसूत्र मे अगप्रविष्ट और अगबाह्य आगमो की एक लम्बी सूची दी है। अगबाह्य आगमो के आवश्यक, आवश्यक-व्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक भेद किए हैं।[10]

दशवैकालिक, यह अगबाह्य आगम है और उत्कालिक है। जब आगमो के अग, उपाग, मूल और छेद, ये चार विभाग किए गए तब दशवैकालिक को मूल सूत्रो मे स्थान दिया गया और इसका अध्ययन सर्वप्रथम आवश्यक माना गया है। दशवैकालिक का महत्त्व, वह कहाँ से निर्यूढ किया गया है, उसका नामकरण प्रभृति विषयो पर श्री देवेन्द्रमुनिजी ने अपनी प्रस्तावना मे चिन्तन किया है, अत: प्रबुद्ध पाठक उसका अवलोकन करें।

---

१ भगवती ५।३।१९२
२ अनुयोगद्वार
३ स्थानाग ३३८-२२८
४ नन्दीसूत्र ७१-७२
५ आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १९२
६ विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५५२
७. नन्दीसूत्र ४३
८ सर्वार्थसिद्धि १।२० पूज्यपाद
९. तत्त्वार्थराजवार्तिक १।२०
१०. नन्दीसूत्र ७९-८४

दशवैकालिक मे दस अध्ययन हैं। यह आगम विकाल मे रचा गया जिससे इसका नाम दशवैकालिक रखा गया। श्रुतकेवली आचार्य शय्यभव ने अपने पुत्र शिष्य मणक के लिए इस आगम की रचना की। वीरनिर्वाण ८० वर्ष के पश्चात् इस महत्त्वपूर्ण सूत्र की रचना हुई। इसमे श्रमणजीवन की आचारसहिता का निरूपण है और यह निरूपण बहुत सक्षेप मे किया गया है पर श्रमणाचार की जितनी भी प्रमुख बातें हैं, वे सभी इसमे आ गई हैं। यही कारण है कि उत्तरवर्ती नवीन साधको के लिए यह आगम अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुआ है। इस आगम की रचना चम्पा मे हुई है।

प्रथम अध्ययन का नाम द्रुमपुष्पिका है। पाच गाथाओ के द्वारा धर्म की व्याख्या, प्रशसा और माधुकरी वृत्ति का निरूपण किया गया है। अतीत काल से ही मानव धर्म के सम्बन्ध मे चिन्तन करता रहा है। धर्म की शताधिक परिभाषाएँ आज तक निर्मित हो चुकी हैं। विश्व के जितने भी चिन्तक हुए उन सभी ने धर्म पर चिन्तन किया पर जितनी व्यापक धर्म की परिभाषा प्रस्तुत अध्ययन मे दी गई है, अन्यत्र दुर्लभ है। धर्म वही है जिसमे अहिंसा, सयम और तप हो। ऐसे धर्म का पालन वही साधक कर सकता है, जिसके मन मे धर्म सदा अगडाइयाँ लेता हो। धर्म आत्मविकास का साधन है। यही कारण है सभी धर्मप्रवर्त्तको ने धर्म की शरण में आने की प्रेरणा दी—'धम्म सरण गच्छामि', 'धम्म सरण पवज्जामि', 'मामेक शरण व्रज'। क्योकि धर्म का परित्याग कर ही प्राणी अनेक आपदाए वरण करता है। शान्ति का आधार धर्म है। जन्म, जरा और मृत्यु के महाप्रवाह मे बहते हुए प्राणियों की धर्म रक्षा करता है। प्रत्येक वस्तु उत्पन्न होती है, जीर्ण होती है और नष्ट होती है। परिवर्तन का चक्र सतत् चलता रहता है, किन्तु धर्म अपरिवर्तनीय है। वह परिवर्तन के चक्रव्यूह से व्यक्ति को मुक्त कर सकता है। कविवर रवीन्द्रनाथ टैगौर ने इसीलिए कहा था कि धर्म को पकडो। धर्म कभी भी अहित नही करता। धर्म से वैमनस्य, विरोध, विभेद आदि पैदा नहीं होते, वे पैदा होते हैं—साप्रदायिकता से। सम्प्रदाय अलग है, धर्म अलग है। धर्म ही उत्कृष्ट मगल है।

इस अध्ययन मे माधुकरी वृत्ति का सुन्दर विवेचन हुआ है। जीवन-यात्रा के लिए भोजन आवश्यक है। यदि मानव पूर्ण रूप से निराहार रहे तो उसका जीवन टिक नही सकता। उच्च साधना के लिए और कर्त्तव्य-पालन के लिए मानव का जीवित रहना आवश्यक है। जीवन का महत्त्व सभी चिन्तको ने स्वीकार किया है। जीवन के लिए भोजन आवश्यक है। किन्तु आत्मतत्त्व का पारखी साधक शरीर-यात्रा के लिए भोजन करता है। वह अपवित्र, मादक, तामसिक पदार्थों का सेवन नही करता। श्रमण का जीवन त्याग-वैराग्य का जीवन है। वह स्वय सासारिक कार्यों से सर्वथा अलग-थलग रहता है। वह स्वय भोजन न बनाकर भिक्षा पर ही निर्वाह करता है। जैन श्रमण की भिक्षा सामान्य भिक्षुको की भाति नही होती। उसके लिए अनेक नियम और उपनियम है। वह किसी को भी बिना पीडा पहुचाये शुद्ध सात्विक नव कोटि परिशुद्ध भिक्षा ग्रहण करता है। भिक्षाविधि मे भी सूक्ष्म अहिंसा की मर्यादा का पूर्ण ध्यान रखा गया है।

द्वितीय अध्ययन का नाम श्रामण्यपूर्वक है। इस अध्ययन मे ग्यारह गाथाए है, जिनमे सयम मे धृति का और उसकी साधना का निरूपण है। धर्म बिना धृति के स्थिर नही रह सकता। इस अध्ययन की प्रथम गाथा मे कामराग के निवारण पर बल दिया है। आत्मपुराण मे लिखा है—काम ने ब्रह्मा को परास्त कर दिया, काम से शिव पराजित है, विष्णु भी काम से पराजित है और इन्द्र को भी काम ने जीत लिया है।[११] कबीर ने भी

---

११. कामेन विजितो ब्रह्मा, कामेन विजितो हरि।
कामेन विजितो विष्णु, शक्र कामेन निर्जित।

लिखा है —'विषयन वश तिहु लोक भयो, जती सती संन्यासी'। इसके पार पहुंचना योगी और मुनियो के लिए भी सहज नहीं है। कुछ ही व्यक्ति इसके अपवाद हैं, जो काम-ऊर्जा को ध्यान मे रूपान्तरित करते है। भोगी और रोगी की शक्ति का व्यय काम की ओर होता है। वातुविकार आदि शारीरिक कारणो से वासनाए उद्दीप्त होती हैं और वह मानव ब्रह्मचर्य की ओर प्रवृत्त होता है। काम एक आवेग है। उस पर नियत्रण किया जा सकता है। उसके लिए भारतीय चिन्तको ने विविध उपाय बताए हैं। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रायड का भी मन्तव्य है कि कामशक्ति को अन्य शक्तियो मे रूपान्तरित किया जा सकता है। एक चित्रकार अपनी कमनीय कला मे, सगीतकार संगीत मे, लेखक लेखन मे, वक्ता वक्तृत्वशक्ति मे और योगी योग मे काम को रूपान्तरित कर सकता है। काम विशुद्ध प्रेम के रूप मे रूपान्तरित हो सकता है। वासना उपासना मे बदल सकती है। 'काम जीवन की एक अनिवार्यता है, जैसे भूख और प्यास' जो इस प्रकार की धारा रखते है, वह उचित नही है, क्योकि अनिवार्य वह है जिसके बिना मानव जी न सके। बिना खाये-पीए मनुष्य जी नही सकता पर काम-सेवन के बिना जीवित रह सकता है। इसलिए काम अनिवार्य और वास्तविक नही है। प्रस्तुत अध्ययन मे श्रमण रथनेमि को साध्वी राजीमती कामविजय का उपदेश देती है। वह कामवासना की भर्त्सना करती है, जिससे रथनेमि काम पर विजय प्राप्त करते हैं।

तृतीय अध्ययन का नाम क्षुल्लकाचारकथा है। इस अध्ययन मे १५ गाथाए हैं। उनमे आचार और अनाचार का विवेचन किया गया है। सम्पूर्ण ज्ञान का सार आचार है, जिस साधक मे धृति होती है वही साधक आचार और अनाचार के भेद को समझ सकता है और आचार को स्वीकार कर अनाचार से बचता है। जो साधना मोक्ष के लिए उपयोगी है, वह आचार है और जो कार्य मोक्ष-साधना मे बाधक है, वह अनाचार है। श्रमण के लिए ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य—ये पाच आचरण करने योग्य है, इसीलिए इन्हे पचाचार कहा है। प्रस्तुत अध्ययन मे अनाचारो की सूची दी गई है। उनकी सख्या के सबध मे प्रस्तावना मे विस्तृत चर्चा की गई है। साराश यह है कि जितने भी अग्राह्य, अभोग्य और अकरणीय कार्य हैं, वे अनाचार है। साधको को उन अनाचारो से बचने का सकेत आगमकार ने किया है।

चतुर्थ अध्ययन का नाम धर्मप्रज्ञप्ति या षड् जीवनिका है। इस अध्ययन मे सूत्र २३ हैं और गाथाए २८ है। इस अध्ययन मे जीवसयम और आत्मसयम पर चिन्तन किया गया है। वही साधक श्रमणधर्म का पालन कर सकता है जो जीव और अजीव के स्वरूप को जानता है। इसलिए आचार-निरूपण के पश्चात् इस अध्ययन मे जीव-निकाय का निरूपण किया गया है। यह बात स्पष्ट है कि अजीव का साक्षात् निरूपण इस अध्ययन मे नही है। इसमे जीव-निकाय का निरूपण है। जीव के साथ अजीव का निरूपण इसलिए आवश्यक है क्योकि उसको बिना जाने जीव का शुद्ध स्वरूप जाना नही जा सकता। जो भी दृश्यमान जगत् है वह सब पुद्गल है। पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस जीवो के जो शरीर दिखाई देते है, वे पुद्गलो से निर्मित हैं। जब उनमे से जीव पृथक् हो जाता है, तब वह जीव मुक्त शरीर कहलाता है। इसीलिए 'अप्पत्थ सत्थपरिणएण' वाक्य का प्रयोग है। इस वाक्य से दोनो दशाओ का निदर्शन किया गया है। शस्त्रपरिणति के पूर्व पृथ्वी, पानी आदि सजीव होते हैं और शस्त्रपरिणति के पश्चात् वे निर्जीव बन जाते हैं। प्रस्तुत अध्ययन मे महाव्रतो का निरूपण है। महाव्रत के पाँच प्रकार हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। इनमें मुख्य अहिंसा है, शेष उसी के विस्तार हैं। मन, वाणी और शरीर से क्रोध, लोभ, मोह और भय आदि से दुषित मनोवृत्तियों के द्वारा किसी भी प्राणी को शारीरिक या मानसिक किसी भी प्रकार की हानि पहुँचाना हिंसा है। इस प्रकार हिंसा से बचना अहिंसा है। हिंसा और अहिंसा की आधारभूमि मुख्य रूप से भावना है। यदि मन में हिंसक भावना चल

रही है पर बाहर से हिंसा न भी हो तो भी वह हिंसा ही है। यदि मन पावन है, उसमे विवेक का आलोक जगमगा रहा है और यदि बाहर हिंसा होती हुई दिखलाई देती है तो भी वह अहिंसा ही है। स्नेह, करुणा और कल्याण की मगलमय भावना से गुरु कदाचित् शिष्य की कठोर शब्दो के द्वारा भर्त्सना करता है, दोष लगने पर उसे प्रायश्चित्त और दण्ड देता है, तो भी वह हिंसा नही है। जैन श्रमण का जीवन पूर्ण अहिंसक है। वह अहिंसा का देवता है। उसके समस्त जीवन-व्यापारो मे अहिंसा, करुणा, दया का अमृत व्याप्त रहता है। उसकी अहिंसा व्रत नही महाव्रत है, महान् प्रण है। उक्त महाव्रत के लिए प्रस्तुत अध्ययन मे 'सव्वाओ पाणाइवायाओ वेरमण' वाक्य का प्रयोग हुआ है। जिसका अर्थ है—मन, वचन और कर्म से न हिंसा स्वय करना, न दूसरो से करवाना और न हिंसा करने वालो का अनुमोदन करना।

द्वितीय महाव्रत सत्य है। मन, वाणी और कर्म से यथार्थ चिन्तन करना, आचरण करना और बोलना सत्य है। जिस वाणी से अन्य प्राणियो का हनन होता हो, दूसरो के हृदय मे पीडा उत्पन्न हो, यह सत्य नही है। जैन श्रमण अत्यन्त मितभाषी होता है। उसकी वाणी मे अहिंसा की स्वरलहरिया झनझनाती है। उसकी वाणी मे स्व और पर के कल्याण की भावना अठखेलियाँ करती है। जैन श्रमण के लिए हँसी और मजाक मे भी झूठ बोलने का निषेध है। वह प्राणो पर सकट आने पर भी सत्य से विमुख नही होता। इस प्रकार उसके सत्य महाव्रत के लिए 'सव्वाओ मुसावायाओ वेरमण' वाक्य का प्रयोग हुआ है।

तृतीय महाव्रत अचौर्य है। अचौर्य अहिंसा और सत्य का ही एक रूप है। किसी भी वस्तु को बिना अनुमति के ग्रहण करना चोरी है। यहाँ तक कि दात कुरेदने के लिए तिनका भी ग्रहण नही करना चाहिए। अचौर्यव्रत की रक्षा के लिए श्रमणो को जो भी वस्तु ग्रहण करनी हो, उसके लिए आज्ञा लेने का विधान है। इस महाव्रत के लिए 'सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमण' वाक्य का प्रयोग है।

चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य एक आध्यात्मिक शक्ति है। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक प्रभृति सभी पवित्र आचरण ब्रह्मचर्य पर ही निर्भर हैं। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए काम के वेग को रोकना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल उपस्थ-इन्द्रिय-सयम ही नही है परन्तु सर्वेन्द्रिय-सयम है। जो पूर्ण जितेन्द्रिय होता है वही साधक पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन कर सकता है। ब्रह्मचारी साधक ब्रह्मचर्य को नष्ट करने वाले पदार्थों का सेवन नही करता। कामोद्दीपक दृश्यो को निहारता नही है और न इस प्रकार की वार्ताओ को सुनता है। न मन मे कुविचार ही लाता है। वह पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य का पालन करता है, इसलिए 'सव्वाओ मेहुणाओ वेरमण' का प्रयोग हुआ है।

पाचवें महाव्रत का नाम अपरिग्रह है। धन, सम्पत्ति भोगसामग्री आदि पदार्थों का ममत्वमूलक सग्रह परिग्रह है। वर्तमान युग मे समाज की दयनीय स्थिति चल रही है। उसके अन्तस्तल मे आवश्यकता से अधिक सग्रह का भयकर विष भरा हुआ है। एक के पास सैकडो विशाल भवन हैं तो दूसरे के पास छोटी सी झोपडी भी नही है। एक के पास अन्न के अम्बार लगे हुए हैं तो दूसरा व्यक्ति अन्न के एक-एक दाने के लिए तरस रहा है। एक के पास बहुमूल्य वस्त्रो के सन्दूक भरे पडे हैं और दूसरे को लज्जानिवारणार्थ कोपीन भी नसीब नहीं है। इस प्रकार सामाजिक विषमता से समाज ग्रस्त है, जिससे आध्यात्मिक उन्नति नही हो सकती और न भौतिक उन्नति ही सम्भव है। यह विषमता अतीत मे भी थी। इस विषम स्थिति को सम करने के लिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रह का मूलमत्र प्रदान किया। गृहस्थो के लिए जहाँ परिग्रह की मर्यादा का विधान है, वही श्रमणो के लिए पूर्ण अपरिग्रही जीवन जीने का सन्देश दिया गया है। परिग्रह का मूल मोह, मूर्च्छा और आसक्ति है। प्रस्तुत

आगम में परिग्रह की बहुत ही सुन्दर परिभाषा की गई है—मुच्छा परिग्गहो वुत्तो। कोई भी वस्तु, चाहे बड़ी हो छोटी हो, जड हो या चेतन हो, अपनी हो या पराई हो, उसमे आसक्ति रखना परिग्रह है। परिग्रह सबसे बड़ा विष है। श्रमण उस विष से मुक्त होता है। इसलिए प्रस्तुत अध्ययन मे 'सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमण' पाठ प्रयुक्त हुआ है। महाव्रतों के साथ ही रात्रिभोजन का भी श्रमण पूर्ण रूप से त्यागी होता है। महाव्रतो का सम्यक् पालन वही कर सकता है जिसे पहले ज्ञान हो। ज्ञान के अभाव मे दया की आराधना नही हो सकती और बिना दया के अन्य व्रतो का पालन नही हो सकता। इस दृष्टि से यह अध्ययन अत्यन्त प्रेरणादायी सामग्री से भरा हुआ है।

पांचवे अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। यह अध्ययन दो उद्देशको मे विभक्त है। प्रथम उद्देशक मे सौ गाथाए है तो द्वितीय उद्देशक मे पचास गाथाए है। इस अध्ययन मे भिक्षा सम्बन्धी गवेषणा, ग्रहणषणा और परिभोगैषणा का वर्णन है। इसलिए इस अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। भिक्षा श्रमण की कठोर चर्या है, उस चर्या मे निखार आता है—दोषो को टालने से। भिक्षु निर्दोष भिक्षा ग्रहण करे। प्रस्तुत अध्ययन मे किस प्रकार भिक्षा के लिए प्रस्थान करे? चलते समय उसे किन-किन बातों की सावधानी रखनी चाहिए? वर्षा बरस रही हो, कोहरा गिर रहा हो, महावात चल रहा हो और मार्ग मे तिर्यक् सम्पातिम जीव छा रहे हो तो भिक्षु भिक्षा के लिए न जाए। ऐसे स्थानो पर न जाए जहाँ जाने से सयम-साधना की विराधना सम्भव हो। मल-मूत्र की बाधा हो तो उसे रोककर भिक्षा के लिए न जाय क्योकि उससे स्वास्थ्य पर प्रतिकूल प्रभाव पडता है। किस प्रकार भिक्षा ग्रहण करनी चाहिए? आदि विषयो पर बहुत ही विस्तार से विवेचन किया है। भिक्षा के लिए चलते हुए जो भी घर आ जाए, बिना किसी भेदभाव के वहा से भिक्षा ले। स्वादु भोजन की तलाश न करे किन्तु स्वास्थ्य की उपेक्षा भी नही करनी चाहिए। उसकी भिक्षा सामान्य भिक्षा न होकर विशिष्ट भिक्षा होती है।

छठे अध्ययन का नाम महाचार कथा है। इसमे ६८ गाथाए हैं। तृतीय अध्ययन मे क्षुल्लक-आचारकथा है तो इस अध्ययन मे महाचार की कथा है। क्षुल्लक-आचारकथा मे अनाचारो का सकलन है, सामान्य निरूपण है, उसमे केवल उत्सर्ग मार्ग का ही निरूपण है, जबकि इस अध्ययन मे उत्सर्ग और अपवाद दोनो मार्गों का निरूपण है। दोनो ही मार्ग साधक की साधना को लक्ष्य मे रखकर बनाए गये है। एक नगर तक पहुचने के दो मार्ग है, वे दोनो ही मार्ग कहलाते है, अमार्ग नही। वैसे ही उत्सर्ग भी साधना का मार्ग है और अपवाद भी। उदाहरण के रूप मे बाल, वृद्ध, रोगी श्रमणो के लिये अठारह स्थान वर्ज्य माने है। उन अठारह स्थानो मे सोलहवा स्थान 'गृहान्तरनिषद्यावर्जन' है, जिसका अर्थ है—गृहस्थ के घर मे नही बैठना। इसका अपवाद भी इसी अध्ययन की ५९ वी गाथा मे है कि जराग्रस्त, रोगी और तपस्वी निर्ग्रन्थ गृहस्थ के घर बैठ सकता है। क्षुल्लक-आचारकथा का प्रस्तुत अध्ययन मे सहेतु निरूपण हुआ है।

सातवे अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। इस अध्ययन मे ५७ गाथाए हैं, जिसमे भाषा-विवेक पर बल दिया है। जो आचारनिष्ठ होगा उसकी वाणी मे विवेक अवश्य होगा। जैन श्रमणो के लिये गुप्ति, समिति और महाव्रत का पालन आवश्यक ही नही अविवार्य है। महाव्रत मे द्वितीय महाव्रत भाषा से सम्बन्धित है तो गुप्ति और समिति मे भी द्वितीय गुप्ति और द्वितीय समिति भाषा से ही सम्बन्धित है। वचन-गुप्ति मे मौन है और समिति मे विचार युक्त वाणी का प्रयोग है। जिसमे श्रमण कर्कश, निष्ठुर, अनर्थकारी, जीवो को आघात और परिताप देने वाली भाषा का प्रयोग नही करता। वह अपेक्षा दृष्टि से प्रमाण, नय और निक्षेप से युक्त हित, मित, मधुर और सत्य भाषा बोलता है। वाणी का विवेक सामाजिक जीवन के लिए भी आवश्यक है।

पाश्चात्य विचारक बर्क का मन्तव्य है—ससार को दु.खमय बनाने वाली अधिकाश दुष्टताए शब्दो से ही उत्पन्न होती हैं। श्रमण, जो साधना की उच्चतम भूमि पर अवस्थित है, उसे अपनी वाणी पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए। यहाँ तक कि श्रमण जो भाषा सत्य होते हुए भी बोलने योग्य नही है, वह न बोले और न मिश्र भाषा का ही प्रयोग करे। जो भाषा व्यावहारिक है, सत्य है, पापरहित, अकर्कश और सन्देहरहित है, उसी भाषा का प्रयोग करे। निश्चयकारी भाषा का प्रयोग इसलिए निषिद्ध किया गया है कि वह भाषा अहिंसा और अनेकान्त की कसौटी पर खरी नही उतरती। साधक के जीवन मे वाक्यशुद्धि का कितना महत्त्व है, यह बताने के लिए प्रस्तुत अध्ययन है।

आठवे अध्ययन का नाम आचारप्रणिधि है। इस अध्ययन मे मे ६३ गाथाएँ हैं। इस अध्ययन मे आचार का नही अपितु आचार की प्रणधि या आचार सम्बन्धी प्रणिधि का निरूपण है। आचार एक महान् निधि है। उस निधि को पाकर श्रमण किस प्रकार चले, उसका दिग्दर्शन इस अध्ययन मे किया गया है। प्रणिधि का अपर अर्थ एकाग्रता, स्थापना और प्रयोग है। श्रमण को इन्द्रियो के विकारो के प्रवाह मे प्रवाहित न होकर, आत्मस्थ होना चाहिए। अप्रशस्त प्रयोग न कर प्रशस्त प्रयोग करने चाहिए। इसकी शिक्षा इस अध्ययन मे दी गई है। इस अध्ययन मे क्रोध-मान-माया-लोभ जो पाप बढाते हैं, पुनर्जन्मरूपी वृक्ष का सीचन करते जाते हैं, उन कषायो को जीतने का सन्देश दिया है। शातिमार्ग के पथिक साधक के लिए कषाय का त्याग आवश्यक है। कषाय मानसिक उद्वेग है, आवेग है। एक कषाय मे भी इतना सामर्थ्य है कि वह साधना को विराधना मे परिवर्तित कर सकता है तो चारो कषाय साधना का कितना अध पतन कर सकते हैं, यह सहज ही समझा जा सकता है। क्रोध की अग्नि सर्वप्रथम क्रोध करने वाले को ही जलाती है। मान प्रगति का अवरोधक है। माया अविद्या और असत्य की जननी है और कुल्हाडे के समान—शीलरूपी वृक्ष को नष्ट करने वाली है। लोभ ऐसी खान है जिसके खनन से समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। यह ऐसा दानव है जो समस्त सद्गुणो को निगल जाता है। यह सारे दु खो का मूलाधार है और धर्म और कर्म के पुरुषार्थ-मार्ग की सबसे बडी बाधा है। इस प्रकार आचरणीय अनेक साधना के पहलुओ पर इस अध्ययन मे प्रकाश डाला है।

नौवे अध्ययन का नाम विनय-समाधि है। इस अध्ययन मे ६२ गाथाए है तथा सात सूत्र और चार उद्देशक हैं जिनमे विनय का निरूपण किया गया है। विनय का वास्तविक अर्थ है—वरिष्ठ एव गुरुजनो का सम्मान करते हुए, उनकी आज्ञाओ का पालन करते हुए अनुशासित जीवन जीना। विनय को धर्म का मूल कहा है। विनय और अहकार मे ताल-मेल नही है, दोनो की दो विपरीत दिशाए हैं। अहकार की उपस्थिति मे विनय केवल औपचारिक होता है। अह का विसर्जन ही विनय है। अह के शून्य होने से ही मानसिक, वाचिक और कायिक विनय प्रतिफलित होता है। इसके बिना व्यक्ति का रूपान्तर असम्भव है। भगवान् महावीर ने कहा—बिना अहकार को जीते साधक विनम्र नही बन सकता। जब साधक अह से पूर्ण मुक्त हो जाता है तभी वह समाधि को प्राप्त करता है। विनीत व्यक्ति गुरु के अनुशासन को सुनता है, जो गुरु कहता है—उसे स्वीकार करता है, उनके वचन की आराधना करता है और अपने मन को आग्रह से मुक्त रखता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मे विविध दृष्टियों से विनय-समाधि का निरूपण हुआ है। इसमे यह बताया है कि यदि शिष्य अनन्त ज्ञानी भी हो जाये तो भी वह आचार्यों की उसी तरह आराधना करता है जैसे पहले करता था। जिसके पास धर्म का अध्ययन किया उसके प्रति शिष्य को मन, वचन और कर्म से विनीत रहना चाहिए। जो शिष्य विनीत होता है, वही गुरुजनों के स्नेह को प्राप्त करता है, अविनीत शिष्य विपदा को आमन्त्रित करता है। विनीत शिष्य ही ज्ञान-सम्पदा को प्राप्त कर सकता है। इस अध्ययन मे विनय, श्रुत, तप और आचार, इन चारो समाधियो का वर्णन भी है और वे समाधिया किस तरह प्राप्त होती हैं, इसका भी निरूपण है।

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु है। इस अध्ययन की इक्कीस गाथाओ मे भिक्षु के स्वरूप का निरूपण है। भिक्षा से जो अपना जीवनयापन करता हो वह भिक्षु है। सच्चा और अच्छा श्रमण भी 'भिक्षुक' सज्ञा से ही अभिहित किया जाता है और भिखारी भी। पर दोनो की भिक्षा मे बहुत बडा अन्तर है, दोनो के लिए शब्द एक होने पर भी उद्देश्य मे महान् अन्तर है। भिखारी मे सग्रहवृत्ति होती है जबकि श्रमण दूसरे दिन के लिए भी खाद्य-सामग्री का सग्रह करके नही रखता। भिखारी दीनवृत्ति मे मागता है पर श्रमण अदीनभाव से भिक्षा ग्रहण करता है। भिखारी देने वाले की प्रशसा करता है पर श्रमण न देने वाले की प्रशसा करता है और न अपनी जाति, कुल, विद्वत्ता आदि बताकर भिक्षा मागता है। भिखारी को भिक्षा न मिलने पर वह गाली और शाप भी देता है किन्तु श्रमण न किसी को शाप देता है और न गाली ही। श्रमण अपने नियम के अनुकूल होने पर तथा निर्दोष होने पर ही वस्तु को ग्रहण करता है। इस प्रकार भिखारी और श्रमण भिक्षु मे बडा अन्तर है। इसलिए अध्ययन का नाम सभिक्षु या सद्भिक्षु दिया है। पूर्ववर्ती नौ अध्ययनो मे जो श्रमणो की आचार-सहिता बतलाई गई है, उसके अनुसार जो श्रमण अपनी मर्यादानुसार अहिंसक जीवन जीने के लिए भिक्षा करता है—वह भिक्षु है। इस अध्ययन की प्रत्येक गाथा के अन्त मे सभिक्खु शब्द का प्रयोग हुआ है। भिक्षुचर्या की दृष्टि से इस अध्ययन मे विपुल सामग्री प्रयुक्त हुई है। भिक्षु वह है जो इन्द्रियविजेता है, आक्रोश-वचनो को, प्रहारो को, तर्जनाओ को शान्त भाव से सहन करता है, जो पुन पुन व्युत्सर्ग करता है, जो पृथ्वी के समान सर्वसह है, निदान रहित है, जो हाथ, पैर, वाणी, इन्द्रिय से सयत है, अध्यात्म मे रत है, जो जाति, रूप, लाभ व श्रुत आदि का मद नही करता, अपनी आत्मा को शाश्वत हित मे सुस्थित करता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मे श्रमण के उत्कृष्ट त्याग की झलक दिखाई देती है।

दस अध्ययनो के पश्चात् प्रस्तुत आगम मे दो चूलिकाए भी है। प्रथम चूलिका का नाम रतिवाक्या है। इसमे अठारह गाथाए हैं तथा एक सूत्र है। इसमे सयम मे अस्थिर होने पर पुन स्थिरीकरण का उपदेश दिया गया है। असयम की प्रवृत्तियो मे सहज आकर्षण होता है, वह आकर्षण सयम मे नही होता। जिनमे मोह की प्रबलता होती है, उन्हे इन्द्रियविषयो मे सुखानुभूति होती है। उन्हे विषयो के निरोध मे आनन्द नही मिलता। जिन के शरीर मे खुजली के कीटाणु होते हैं, उन्हे खुजलाने मे सुख का अनुभव होता है किन्तु जो स्वस्थ हैं उन्हे खुजलाने मे आनन्द नही आता और न उनके मन मे खुजलाने के प्रति आकर्षण ही होता है। जब मोह के परमाणु बहुत ही सक्रिय होते है तब भोग मे सुख की अनुभूति होती है पर जो साधक मोह से उपरत होते है उन्हे भोग मे सुख की अनुभूति नही होती। वह भोग को रोग मानता है। कई बार भोग का रोग दब जाता है किन्तु परिस्थितिवश पुन उभर आता है। उस समय कुशल चिकित्सक उस रोग का उपचार कर ठीक करता है, जिससे वह रोगी स्वस्थ हो जाता है। जो साधक मोह के उभर आने पर साधना से लडखडाने लगता है, उस साधक को पुन सयम-साधना मे स्थिर करने का मार्ग इस चूलिका मे प्रतिपादित है। इस चूलिका के वाक्यो से साधक मे सयम के प्रति रति उत्पन्न होती है, इसीलिए इस चूलिका का नाम रतिवाक्या है। इसमे जो उपदेश प्रदान किया गया है, वह बहुत ही प्रभावशाली और अनूठा है।

दूसरी चूलिका विविक्तचर्या है। इस चूलिका मे सोलह गाथाए हैं। इसमे श्रमण की चर्या के गुण और नियमो का निरूपण है, इसलिए इसका नाम विविक्तचर्या रखा गया है। ससारी जीव अनुस्रोतगामी होते हैं। वे इन्द्रिय और मन के विषय-सेवन मे रत रहते है, पर साधक प्रतिस्रोतगामी होता है। वह इन्द्रियो की लोलुपता के प्रवाह मे प्रवाहित नही होता। वह जो भी साधना के नियम-उपनियम हैं, उनका सम्यक् प्रकार से पालन करता है। पांच महाव्रत मूलगुण है। नवकारसी, पौरसी आदि प्रत्याख्यान उत्तरगुण हैं। स्वाध्याय, कायोत्सर्ग

आदि नियम है, जो इनका जागरूकता के साथ पालन करता है वह प्रतिबुद्ध-जीवी कहलाता है। वर्तमान समय मे चर्या का नियमन करने वाले आगम हैं। इसलिए स्पष्ट शब्दो मे कहा गया है—भिक्षु सूत्रोक्त मार्ग पर चले 'सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू'। सूत्र का गम्भीर अर्थ—विधि और निषेध, उत्सर्ग और अपवाद आदि को अनेकान्त दृष्टि से जानकर आचरण करे। चूलिका के अन्त मे यह महत्त्वपूर्ण सदेश दिया गया है कि सभी इन्द्रियो को सुसमाहित कर आत्मा की सतत् रक्षा करनी चाहिए। कितने ही विचारको का यह अभिमत है कि आत्मा को गवाकर भी शरीर की रक्षा करनी चाहिए, शरीर आत्मसाधना का साधन है। किन्तु यहाँ इस विचारधारा का खण्डन किया गया है और आत्मरक्षा को ही सर्वोपरि माना गया है। आत्मा की रक्षा का अर्थ है—सयम की रक्षा और सयमरक्षा के लिए बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना आवश्यक है।

इस प्रकार दशवैकालिकसूत्र मे श्रमणाचार का बहुत ही व्यवस्थित निरूपण है। जैन श्रमण बाह्य रूप से समस्त पापकारी वृत्तियो से बचे और आन्तरिक रूप से समस्त राग-द्वेषात्मक वृत्तियो से ऊपर उठे। सक्षेप मे कहा जाय तो पाचो इन्द्रियो और मन को सयम मे रखे और निरन्तर सयम-साधना के पथ पर आगे बढे।

दशवैकालिक आगम अतीव महत्त्वपूर्ण है। श्रमण को सर्वप्रथम अपने आचार का ज्ञान आवश्यक है। दशवैकालिक की रचना से पूर्व आचाराग का अध्ययन-अध्यापन होता था पर दशवैकालिक की रचना के बाद आचारबोध के लिए सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन आवश्यक माना गया। दशवैकालिक के निर्माण के पूर्व आचाराग के शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन मे श्रमणो को महाव्रतो की विभागत उपस्थापना की जाती थी किन्तु दशवैकालिक के निर्माण के बाद दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन से महाव्रतो की उपस्थापना की जाने लगी। अतीतकाल मे श्रमणो को भिक्षाग्राही बनने के लिए आचारागसूत्र के दूसरे अध्ययन के लोकविजय के पाचवे उद्देशक को जानना आवश्यक था। पर जब दशवैकालिक का निर्माण हो गया तो उसके पाचवे अध्ययन पिण्डैषणा को जानने वाला श्रमण भी भिक्षाग्राही हो गया। इससे यह स्पष्ट है कि दशवैकालिक का कितना अधिक महत्त्व है। इस पर अनेक व्याख्याए हुई है, विवेचन लिखे गए हैं।

स्वर्गीय युवाचार्य प प्रवर श्री मधुकर मुनिजी महाराज की प्रबल प्रेरणा से आगम-बत्तीसी का मगलमय कार्य प्रारम्भ हुआ। मेरे लघु भ्राता श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री का स्नेह भरा आग्रह था कि मुझे दशवैकालिकसूत्र का सम्पादन करना है, उस पर विवेचन आदि भी लिखना है। छोटे भाई के प्रेम भरे आग्रह को मैं कैसे टाल सकती थी ? मैने इस महान् कार्य को करने का सकल्प किया, पर शुभ कार्य मे विघ्न आते ही हैं। मुझे भी इस कार्य को सम्पन्न करने मे अनेक बाधाओ का सामना करना पडा। मेरे सयमी जीवन की आधारस्तम्भ, जिनके कारण मैं सदा निश्चितता का अनुभव करती रही, जिनकी छत्रछाया मे मेरे जीवन की सुखद घडिया बीती, उन प्रतिभामूर्ति मातेश्वरी महासती प्रभावती जी का २७ जनवरी १९८२ को सथारे के साथ स्वर्गवास हो गया। उनके स्वर्गवास से मन को भारी आघात लगा, मेरा भी स्वास्थ्य शिथिल ही रहा, इसलिए न चाहते हुए भी विलम्ब होता ही चला गया।

इसका सपादन मैंने उदयपुर वर्षावास मे सन् १९८० के प्रारम्भ किया। डूगला वर्षावास मे प्रवचन आदि अन्य आवश्यक कार्यों मे व्यस्त रहने के कारण कार्य मे प्रगति न हो सकी, जोधपुर और मदनगज के वर्षावास मे उसे सम्पन्न किया।

आगम का सम्पादनकार्य अन्य सम्पादन कार्यों से अधिक कठिन है, क्योकि आगम की भाषा और भावधारा वर्तमान युग के भाव और भाषा-धारा से बहुत ही पृथक् है। जिस युग मे इन आगमो का सकलन-

आकलन हुआ उस युग की शब्दावली मे जो अर्थ सन्निहित था, आज उन शब्दो का वही अर्थ हो, यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता। शब्दो के मूल अर्थ मे भी कालक्रमानुसार परिवर्तन हुए हैं। इसलिए मूल आगम मे प्रयुक्त शब्दों का सही अर्थ क्या है ? इसका निर्णय करना कठिन होता है, अत: इस कार्य मे समय लगना स्वाभाविक था। तथापि परम श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी उपाध्यायप्रवर श्री पुष्कर-मुनिजी महाराज तथा भाई महाराज श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री के मार्गदर्शन से यह दुरूह कार्य सहज सुगम हो गया। यदि पूज्य गुरुदेवश्री का हार्दिक आशीर्वाद और देवेन्द्रमुनिजी का मार्गदर्शन प्राप्त नहीं होता तो सम्पादन कार्य मे निखार नही आता। उनका चिन्तन और प्रोत्साहन मेरे लिए सबल के रूप मे रहा है। मैं इस अवसर पर त्याग-वैराग्य की जीती-जागती प्रतिमा स्वर्गीया बालब्रह्मचारिणी परम-विदुषी चन्दनबाला श्रमणीसंघ की पूज्य प्रवर्तिनी महासती श्री सोहनकुंवरजी म. को विस्मृत नही कर सकती, जिनकी अपार कृपादृष्टि से ही मैं सयम-साधना के महामार्ग पर बढी और उनके चरणारविन्दो मे रहकर आगम, दर्शन, न्याय, व्याकरण का अध्ययन कर सकी। आज मैं जो कुछ भी हू, वह उन्ही का पुण्य-प्रताप है।

प्रस्तुत आगम के सम्पादन, विवेचन एव लेखन मे पूजनीया माताजी महाराज का मार्गदर्शन मुझे मिला है। प्रेस योग्य पाण्डुलिपि को तैयार करने मे पण्डितप्रवर मुनि श्री नेमिचन्द्रजी ने जो सहयोग दिया है वह भी चिरस्मरणीय रहेगा। श्री रमेशमुनि, श्री राजेन्द्रमुनि, श्री दिनेशमुनि प्रभृति मुनि-मण्डल की सत्प्रेरणा इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न करने के लिए मिलती रही तथा सेवामूर्ति महासती चतरकुवरजी की सतत सेवा भी भुलाई नही जा सकती, सुशिष्या महासती चन्द्रावती, महासती प्रियदर्शना, महासती किरणप्रभा, महासती रत्नज्योति, महासती सुप्रभा आदि की सेवा-शुश्रूषा इस कार्य को सम्पन्न करने मे सहायक रही है। ज्ञात और अज्ञात रूप मे जिन महानुभावों का और ग्रन्थो का मुझे सहयोग मिला है, उन सभी के प्रति मैं विनम्र भाव से आभार व्यक्त करती हूँ।

—जैन साध्वी पुष्पवती

महावीर भवन,
मदनगज-किशनगढ़
दि ४-५-८४

[प्रथम संस्करण से]

प्रस्तावना

दशवैकालिक : एक समीक्षात्मक अध्ययन

(प्रथम संस्करण से)

चिरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति का माध्यम : साहित्य

आत्मा और अनात्मा सबधी भावनाओ की यथातथ्य अभिव्यक्ति साहित्य है। साहित्य किसी भी देश, समाज या व्यक्ति की सामयिक समस्याओ तक ही सीमित नही है, वह सार्वदेशिक और सार्वकालिक सत्य-तथ्य पर आधृत है। साहित्य, सम्प्रदाय-विशेष मे जन्म लेकर भी सम्प्रदाय के सकीर्ण घेरे मे आबद्ध नही होता। फूल मिट्टी मे से जन्म लेकर भी मिट्टी से पृथक् होता है और सौरभ फूल मे उत्पन्न होकर भी फूल से पृथक् अस्तित्व रखता है। यही स्थिति साहित्य की है। साहित्य मानव के विमल विचारो का अक्षय कोष है। साहित्य मे जहाँ उत्कृष्ट आचार और विचार का चित्रण होता है वहाँ उत्थान-पतन, सुख-दु ख, आशा-निराशा की भी सहज अभिव्यक्ति होती है। यदि हम विश्व-साहित्य का गहराई से पर्यवेक्षण करें तो स्पष्ट परिज्ञात होगा कि सौन्दर्य सुषमा को निहार कर मानव पुलकित होता रहा है तो कारुण्यपूर्ण स्थिति को निहार कर करुणा की अश्रु-धारा भी प्रवाहित करता रहा है। जहाँ उसने जीवन-निर्माण के लिए अनमोल आदर्श उपस्थित किए हैं, वहाँ जीवन को पतन से बचाने का मार्ग भी सुझाया है। जीवन और जगत् की, आत्मा और परमात्मा की व्याख्याएँ करना साहित्य का सदा लक्ष्य रहा है। इस प्रकार साहित्य मे साधना और अनुभूति का, सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का अद्भुत समन्वय है। साहित्यकार विचार-सागर मे गहराई से डुबकी लगाकर चिन्तन की मुक्ताए बटोर कर उन्हे इस प्रकार शब्दो की लडी की कडी मे पिरोता है कि देखने वाला विस्मित हो जाता है। जीवन की नश्वरता और अपूर्णता की अनुभूति तो प्राय सभी करते हैं, पर सभी उसे अभिव्यक्त नही कर पाते। कुछ विशिष्ट व्यक्ति ही शब्दो के द्वारा उस नश्वरता और अपूर्णता को चित्रित कर एव जन-जन के अन्तर्मानस मे त्याग और वैराग्य की भावना उद्बुद्ध कर उन्हे आत्मदर्शन के लिए उत्प्रेरित करते हैं। निरन्तन सत्य की अभिव्यक्ति साहित्य के माध्यम से होती है।

वैचारिक क्रान्ति का जीता-जागता प्रतीक : प्राकृत साहित्य

प्राकृत साहित्य का उद्भव जन-सामान्य की वैचारिक क्रान्ति के फलस्वरूप हुआ है। श्रमण भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध के समय सस्कृत आभिजात्य वर्ग की भाषा थी। वे उस भाषा मे अपने विचार व्यक्त करने मे गौरवानुभूति करते थे। जन बोली को वे घृणा की दृष्टि से देखते थे। ऐसी स्थिति मे श्रमण भगवान् महावीर और तथागत बुद्ध ने उस युग की जन-बोली प्राकृत और पाली को अपनाया। यही कारण है, जैन आगमो की भाषा प्राकृत है और बौद्ध त्रिपिटको की भाषा पाली है। दोनो भाषाओ मे अद्भुत सास्कृतिक ऐक्य है। दोनो भाषाओ का उद्गम-बिन्दु भी एक है, प्राय दोनो का विकास भी समान रूप से ही हुआ है। समवायाङ्ग[1]

१ समवायाङ्ग सूत्र, पृष्ठ ६०

और औपपातिक[२] सूत्र के अनुसार सभी तीर्थंकर अर्धमागधी भाषा में उपदेश करते हैं। चारित्र धर्म की आराधना और साधना करने वाले जिज्ञासु मन्दबुद्धि स्त्री-पुरुषों पर अनुग्रह करके जन-सामान्य के लिए सिद्धान्त सुबोध हो, इसलिए प्राकृत मे उपदेश देते हैं।[३] आचार्य जिनदास गणी महत्तर अर्धमागधी का अर्थ दो प्रकार से करते हैं—यह भाषा मगध के एक भाग मे बोली जाती थी, इसलिए अर्द्धमागधी कहलाती है, दूसरे इस भाषा मे अट्ठारह देशी भाषाओ का सम्मिश्रण हुआ है। दूसरे शब्दों मे कहा जाए तो मागधी और देशज शब्दो का इस भाषा में मिश्रण होने से यह अर्धमागधी कहलाती है।[४] अर्धमागधी को ही सामान्य रूप से प्राकृत कहते हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने आगम साहित्य की भाषा को आर्ष प्राकृत कहा है। चिन्तकों का अभिमत है कि आगमो की भाषा मे भी दीर्घकाल मे परिवर्तन हुआ है। उदाहरण के रूप मे आचार्य शीलांक ने सूत्रकृताङ्ग की टीका मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि सूत्रादर्शों मे अनेक प्रकार के सूत्र उपलब्ध होते हैं, पर हमने एक ही आदर्श को स्वीकार कर विवरण लिखा है। यदि कही सूत्रो मे विसवाद दृग्गोचर हो तो चित्त मे व्यामोह नही करना चाहिए।[५] कही पर 'य' श्रुति की प्रधानता है तो कहीं पर 'त' श्रुति की, कही पर ह्रस्व स्वर का प्रयोग है तो कही पर ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर का प्रयोग है। आगमप्रभावक श्री पुण्यविजयजी महाराज ने बृहतकल्पसूत्र[६], कल्पसूत्र[७] और अगविज्जा[८] ग्रन्थो की प्रस्तावना मे इस सम्बन्ध मे उल्लेख किया है।

आगमों का वर्गीकरण

आगमो का सबसे उत्तरवर्ती वर्गीकरण है—अग, उपांग, मूल और छेद। आचार्य देववाचक ने जो आगमो का वर्गीकरण किया है उसमे न उपांग शब्द का प्रयोग हुआ है और न ही मूल और छेद शब्दो का ही। वहाँ पर अग और अगबाह्य शब्द आया है। तत्त्वार्थभाष्य[९] मे सर्वप्रथम अगबाह्य आगम के अर्थ मे उपाग शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके पश्चात् सुखबोधा समाचारी,[१०] विधिमार्गप्रपा,[११] वायनाविही[१२] आदि मे उपाग विभाग का उल्लेख है। किन्तु मूल और छेद सूत्रो का विभाग किस समय हुआ, यह अभी अन्वेषणीय है। दशवैकालिक की निर्युक्ति, चूर्णि, हारिभद्रीया वृत्ति और उत्तराध्ययन की शान्त्याचार्य कृत बृहद्वृत्ति मे मूलसूत्र के सम्बन्ध मे कुछ भी चर्चा नही है। इससे स्पष्ट है कि ग्यारहवी शताब्दी तक 'मूलसूत्र' यह विभाग

---

२ औपपातिकसूत्र
३ दशवैकालिक, हारिभद्रीया वृत्ति
४ मगहविसयभासाणिबद्ध अद्धमागह, अट्ठारस देसीभासाणिमय वा अद्धमागहं। —निशीथचूर्णि
५ सूत्रकृताङ्ग, २/२-३९, सूत्र की टीका
६ बृहत्कल्पसूत्र, भाग ६, प्रस्तावना, पृष्ठ ५७
७ कल्पसूत्र, प्रस्तावना, पृष्ठ ४-६
८ अगविज्जा, प्रस्तावना, ८-११
९ तत्त्वार्थभाष्य १/२०
१०. सुखबोधा समाचारी, पृष्ठ १३४
११ विधिमार्गप्रपा के लिए देखिए—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १, प्रस्तावना पृ. ३८
१२. वायनाविही, पृष्ठ ६४

नही हुआ था। विक्रम संवत् १३३४ मे प्रभावकचरित्र[१३] मे सर्वप्रथम अग, उपांग, मूल और छेद यह विभाग प्राप्त होता है। इसके बाद 'समाचारी-शतक' मे भी उपाध्याय समयसुन्दर गणी ने इसका उल्लेख किया है।

मूलसूत्र संज्ञा क्यों ?

दशवैकालिक और उत्तराध्ययन आदि को मूलसूत्र सज्ञा क्यो दी गई है ? इस सम्बन्ध मे विज्ञो मे विभिन्न मत हैं। पाश्चात्य विज्ञो ने भारतीय साहित्य का जिस गहराई, रुचि और अध्यवसाय से अध्ययन किया है वह वस्तुत: प्रशसनीय है। कार्य किस सीमा तक हुआ है ? कितना उपादेय है ? यह प्रश्न अलग है, पर उन्होंने कठिन श्रम और उत्साह के साथ जो प्रयत्न किया है, यह भारतीय चिन्तको के लिए प्रेरणादायी है।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध प्राच्य अध्येता प्रो शर्पेन्टियर ने उत्तराध्ययनसूत्र की प्रस्तावना मे लिखा है कि मूलसूत्र मे भगवान् महावीर के मूल शब्द सगृहीत हैं जो स्वय भगवान् महावीर के मुख से निसृत हैं।[१४]

सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ वाल्टर शुब्रिग ने Lax Religion Dyaina (जर्मन भाषा मे लिखित) पुस्तक मे लिखा है कि मूलसूत्र नाम इसलिए दिया गया ज्ञात होता है कि श्रमण और श्रमणियो के साधनामय जीवन के मूल मे—प्रारम्भ मे उनके उपयोग के लिए इनका निर्माण हुआ।

इटली के प्रोफेसर गेरीनो ने एक विचित्र कल्पना की है। उस कल्पना के पीछे उनके मस्तिष्क मे ग्रन्थ के 'मूल' और 'टीका' ये दो रूप मुख्य रहे है। इसलिए उन्होंने मूल ग्रन्थ के रूप मे मूलसूत्र को माना है क्योकि इन आगम-ग्रन्थो पर निर्युक्ति, चूर्णि, टीका आदि विपुल व्याख्यात्मक साहित्य है। व्याख्या साहित्य मे यत्र-तत्र मूल शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसकी वे टीकाएँ और व्याख्याएँ हैं। उत्तराध्ययन और दशवैकालिक पर विपुल व्याख्यात्मक साहित्य है, इसलिए इन आगमो को मूलसूत्र कहा गया है। टीकाकारो ने मूल ग्रन्थ के अर्थ मे मूलसूत्र का प्रयोग किया है, सभव है उसी से यह आगम मूलसूत्र कहे जाने लगे हो।

पाश्चात्य मूर्धन्य मनीषियो ने मूलसूत्र की अभिधा के लिए जो कल्पनाए की हैं, उनके पीछे किसी अपेक्षा का आधार अवश्य है, पर जब हम गहराई से चिन्तन करते है तो उनकी कल्पना पूर्ण रूप से सही नही लगती। प्रो. शर्पेन्टियर ने भगवान् महावीर के मूल शब्दो के साथ मूलसूत्रो को जोडने का जो समाधान किया है, वह उत्तराध्ययन के साथ कदाचित् सगत हो तो भी दशवैकालिक के साथ उसकी सगति बिल्कुल नही है। यदि हम भगवान् महावीर के साक्षात् वचनो के आधार पर 'मूलसूत्र' मानते हैं तो आचाराग, सूत्रकृताग प्रभृति अग ग्रन्थ, जिन का सम्बन्ध सीधा गणधरो से रहा है मूलसूत्र कहे जाने चाहिए। पर ऐसा नही है, इसलिए प्रो. शर्पेन्टियर की कल्पना घटित नही होती।

डॉ. वाल्टर शुब्रिग के मतानुसार मूलसूत्र के लिए श्रमणो के मूल नियम, परम्पराओ एव विधि-निषेधो की दृष्टि से मूलसूत्र की अभिधा दी गई। पर यह समाधान भी पूर्ण रूप से सही नही है। दशवैकालिक मे तो यह बात मिलती है पर अन्य मूलसूत्र मे अनेक दृष्टान्तो से जैन धर्म-दर्शन सम्बन्धी अनेक पहलुओ पर विचार किया गया है। इसलिए डॉ शुब्रिग का चिन्तन भी एकागी पहलू पर ही आधृत है।

प्रो गेगिनो ने मूल और टीका के आधार पर 'मूलसूत्र' अभिधा की कल्पना की है, पर उनकी यह कल्पना बहुत ही स्थूल है। इस कल्पना मे चिन्तन की गहराई का अभाव है। मूलसूत्रो के अतिरिक्त अन्य

---

१३. प्रभावकचरित्र, आर्यरक्षित प्रबन्ध, श्लोक २४१

१४. The Uttradhyayana Sutra, Page 32

आगमो पर भी अनेक टीकाएँ है। उन टीकाओ के आधार से ही किसी आगम को मूलसूत्र की सज्ञा दी गई हो तो वे सभी आगम 'मूलसूत्र' कहे जाने चाहिए।

हमारी दृष्टि से जिन आगमों मे मुख्य रूप से श्रमण के आचार सम्बन्धी मूल गुणो—महाव्रत, समिति, गुप्ति, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि का निरूपण है और जो श्रमण-जीवनचर्या में मूल रूप से सहायक बनते हैं और जिन आगमो का अध्ययन सर्वप्रथम अपेक्षित है, उन्हे मूलसूत्र कहा गया है।

हमारे प्रस्तुत कथन का समर्थन इस बात से होता है कि पहले श्रमणो का अध्ययन आचारांग से प्रारम्भ होता था। जब दशवैकालिकसूत्र का निर्माण हो गया तो सर्वप्रथम दशवैकालिक का अध्ययन कराया जाने लगा और उसके पश्चात् उत्तराध्ययनसूत्र पढाया जाने लगा।[१५]

पहले आचारांग के शस्त्र-परिज्ञा अध्ययन से शैक्षिकी उपस्थापना की जाती थी, जब दशवैकालिक की रचना हो गई तो उसके चतुर्थ अध्ययन से उपस्थापना की जाने लगी।[१६]

मूलसूत्रो की सख्या के सम्बन्ध मे मतैक्य नही है। तथापि यह पूर्ण सत्य है कि सभी विज्ञो ने दशवैकालिक को मूलसूत्र माना है। चाहे समयसुन्दर गणि हो,[१७] चाहे भावप्रभसूरि हों,[१८] चाहे प्रोफेसर वेबर और प्रोफेसर बूलर हो, चाहे डॉ शर्पेन्टियर या डॉ. विन्टरनित्ज हो, चाहे डॉ. गेरिनो या डॉ. शुब्रिंग हों—सभी ने प्रस्तुत आगम को मूलसूत्र माना है।[१९]

दशवैकालिक का महत्त्व

मूल आगमो मे दशवैकालिक का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आचार्य देववाचक ने आवश्यक-व्यतिरिक्त के कालिक और उत्कालिक ये दो भेद किए हैं। उन भेदो मे उत्कालिक आगमो की सूची मे दशवैकालिक प्रथम है।[२०] यह आगम अस्वाध्याय समय को छोडकर सभी प्रहरो मे पढ़ा जा सकता है। चार अनुयोगो मे दशवैकालिक का समावेश चरणकरणानुयोग मे किया जा सकता है। यह निर्युक्तिकार द्वितीय भद्रबाहु[२१] और

---

१५ आयारस्स उ उवरिं, उत्तरज्झयणा उ आसि पुव्व तु।
दसवेयालिय उवरिं इत्थाणि किं तेन होवती उ॥ —व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गा. १७६

१६ पुव्व सत्थपरिण्णा, अधीय पढियाइ होइ उवट्ठवणा।
इण्हिच्छज्जीवणया, किं सा उ न होउ उवट्ठवणा॥ —व्यवहारभाष्य उद्देशक ३, गा १७४

१७ समाचारीशतक

१८ अथ उत्तराध्ययन-आवश्यक-पिण्डनिर्युक्ति ओघनिर्युक्ति-दशवैकालिक-इति चत्वारि मूलसूत्राणि।
—जैनधर्मवरस्तोत्र, श्लोक ३० की स्वोपज्ञवृत्ति।

१९. ए हिस्ट्री ऑफ दी केनोनिकल लिटरेचर ऑफ दी जैन्स, पृ. ४४-४५—ले. एच. आर. कापडिया

२० से किं त उक्कालिय ? उक्कालिय अणेगविह पण्णत्तं, त जहा—दसवेयालिय०। —नन्दीसूत्र ७१

२१ अपुहुत्तपुहुत्ताह निद्दिसिउं एत्थ होइ अहिगारो।
चरणकरणाणुओगेण तस्स दारा इमे हुंति॥ —दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा ४

अगस्त्यसिंह स्थविर[२२] का अभिमत है। इसमे चरण[२३] (मूलगुण) व करण[२४] (उत्तरगुण) इन दोनों का अनुयोग है। आचार्य वीरसेन के अभिमतानुसार दशवैकालिक आचार और गोचर की विधि का वर्णन करने वाला सूत्र है।[२५] ज्ञानभूषण के अभिमतानुसार दशवैकालिक का विषय गोचरविधि और पिण्डविशुद्धि है।[२६] आचार्य श्रुतसागर के अनुसार इसे वृक्ष-कुसुम आदि का भेदकथक और यतियो के आचार का कथक कहा है।[२७]

दशवैकालिक मे आचार-गोचर के विश्लेषण के साथ ही जीव-विद्या, योग-विद्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयो की चर्चा भी की गई है। यही कारण है इस आगम की रचना होने के पश्चात् अध्ययन-क्रम मे भी आचार्यों ने परिवर्तन किया, जैसा कि हम पूर्व लिख चुके हैं।

व्यवहारभाष्य के अनुसार अतीत काल मे आचाराग के द्वितीय लोकविजय अध्ययन के ब्रह्मचर्य नामक पाचवे उद्देशक के आमगध सूत्र को बिना जाने-पढे कोई भी श्रमण और श्रमणी पिण्डकल्पी अर्थात् भिक्षा ग्रहण करने योग्य नही हो सकता था। जब दशवैकालिक का निर्माण हो गया तो उसके पिण्डैषणा नामक पाचवे अध्ययन को जानने व पढ़ने वाला पिण्डकल्पी होने लगा। यह वर्णन दशवैकालिक के महत्त्व को स्पष्ट रूप से उजागर करता है।[२८]

दशवैकालिक के रचनाकार का परिचय

प्रस्तुत आगम के कर्त्ता आचार्य शय्यम्भव है। वे राजगृह नगर के निवासी थे। वत्स गोत्रीय ब्राह्मण परिवार मे उनका जन्म वीर निर्वाण ३६ (विक्रम पूर्व ४३४) मे हुआ। वे वेद और वेदाग के विशिष्ट ज्ञाता थे। जैनशासन के प्रबल विरोधी थे, जैनधर्म के नाम से ही उनकी आखो से अगारे बरसते थे। जैनधर्म के प्रबल विरोधी प्रकाण्ड विद्वान् शय्यम्भव को प्रतिबोध देने के लिए आचार्य प्रभव के आदेश से दो श्रमण शय्यम्भव के यज्ञवाट मे गए और धर्मलाभ कहा। श्रमणो का घोर अपमान किया गया। उन्हे बाहर निकालने का

---

२२ अगस्त्यसिंह स्थविर दशवैकालिकचूर्णि

२३ चरण मूलगुणा ।
वय-समणधम्म सयम, वेयावच्च च बभगुत्तीओ ।
णाणाइतिय तव, कोहनिग्गहाई चरणमेय ॥ —प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५५२

२४ करण उत्तरगुणा ।
पिंडविसोही समिई भावण पडिमा इ इदियनिरोहो ।
पडिलेहण गुत्तीओ, अभिग्गहा चेव करण तु ॥ —प्रवचनसारोद्धार, गाथा ५६३

२५ दसवेयालिय आयार-गोयर-विहि वण्णेइ । —षट्खडागम, सत्प्ररूपणा १-१-१, पृ ९७

२६. जदि गोचरस्स विहि, पिंडविसुद्धि च ज परूवेहि ।
दसवेआलियसुत्त दहकाला जत्थ सवुत्ता ॥ —अगपण्णत्ती ३/२४

२७. वृक्षकुसुमादीना दशाना भेदकथक यतीनामाचारकथक च दशवैकालिकम् ।
— तत्त्वार्थवृत्ति श्रुतसागरीया, पृ. ६७

२८ वितितमि बभचेरे पचम उद्देसे आमगधम्मि ।
सुत्तमि पिडकप्पो इह पुण पिंडेसणाए ओ ॥ —व्यवहारभाष्य, उ. ३, गा. १७५

उपक्रम किया गया। श्रमणो ने कहा —'अहो कष्टमहो कष्ट तत्त्व विज्ञायते न हि'—अहो ! खेद की बात है, तत्त्व नही जाना जा रहा। श्रमणो की बात शय्यम्भव के मस्तिष्क मे टकराई पर उन्होंने सोचा—यह उपशान्त तपस्वी झूठ नही बोलते।[२९] हाथ में तलवार लेकर वह अपने अध्यापक के पास पहुचा और बोला—तत्त्व का स्वरूप बताओ, यदि नही बताओगे तो मैं तलवार से तुम्हारा शिरच्छेद कर दू गा। लपलपाती तलवार को देखकर अध्यापक काँप उठा। उसने कहा—अर्हत् धर्म ही यथार्थ धर्म और तत्त्व है। शय्यम्भव अभिमानी होने पर भी सच्चे जिज्ञासु थे। वे आचार्य प्रभव के पास पहुचे। उनकी पीयूषस्रावी वाणी से बोध प्राप्त कर दीक्षित हुए। आचार्य प्रभव के पास उन्होने १४ पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया और श्रुतधरपरम्परा में वे द्वितीय श्रुतधर हुए।

जब शय्यम्भव दीक्षित हुए तब उनकी पत्नी गर्भवती थी।[३०] ब्राह्मणवर्ग कहने लगा—शय्यम्भव बहुत ही निष्ठुर व्यक्ति है जो अपनी युवती पत्नी का परित्याग कर साधु बन गया।[३१] स्त्रियाँ शय्यम्भव की पत्नी से पूछती—क्या तुम गर्भवती हो ? वह सकोच से 'मणय' अर्थात् मणाक शब्द का प्रयोग करती। इस छोटे से उत्तर से परिवार वालो को सतोष हुआ। उसने एक पुत्र को जन्म दिया। पुत्र का नाम माता द्वारा उच्चरित 'मणय' शब्द के आधार पर 'मनक' रखा गया।[३२] वह बहुत ही स्नेह से पुत्र मनक का पालन करने लगी। बालक आठ वर्ष का हुआ, उसने अपनी माँ से पूछा—मेरे पिता का नाम क्या है ? उसने सारा वृत्त सुना दिया कि तेरे पिता जैन मुनि बने और वर्तमान मे वे जैन सघ के आचार्य हैं। माता की अनुमति लेकर वह चम्पा पहुचा। आचार्य शय्यम्भव ने अपने ही सदृश मनक की मुख-मुद्रा देखी तो अज्ञात स्नेह बरसाती नदी की तरह उमड पडा। बालक ने अपना परिचय देते हुए कहा—मेरे पिता शय्यम्भव हैं, क्या आप उन्हे जानते है ? शय्यम्भव ने अपने पुत्र को पहचान लिया। मनक को आचार्य ने कहा—मैं शय्यम्भव का अभिन्न (एक शरीरभूत) मित्र हू। आचार्य के त्याग-वैराग्य से छलछलाते हुए उपदेश को सुनकर मनक आठ वर्ष की अवस्था मे मुनि बना। आचार्य शय्यम्भव ने बालक मनक की हस्तरेखा देखी। उन्हे लगा— बालक का आयुष्य बहुत ही कम है। इसके लिए सभी शास्त्रो का अध्ययन करना सभव नही है।[३३]

दशवैकालिक का रचना काल

अपश्चिम दशपूर्वी विशेष परिस्थिति मे ही पूर्वों से आगम निर्यूहण का कार्य करते है।[३४] आचार्य शय्यम्भव चतुर्दश पूर्वधर थे। उन्होने अल्पायुष्क मुनि मनक के लिए आत्म-प्रवाद से दशवैकालिकसूत्र का

---

२९ तेण य सेज्जभवेण दारमूले ठिएण त वयण सुअ, ताहे सो विचितेइ—एए उवसता तवस्सिणो असच्च ण वयति। —दशवै हारि. वृत्ति, पत्राक १०-११

३०. जया य सो पव्वइओ तया य तस्स गुव्विणी महिला होत्था। —दशवै हारि वृत्ति, पत्राक ११ (१)

३१. अहो शय्यम्भवो भट्टो निष्ठुरेभ्योऽपि निष्ठुर।
स्वा प्रियां यौवनवती सुशीलामपि योऽत्यजत् ॥ ५७ ॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

३२ मायाए से भणिअ 'मणग' ति तम्हा मणओ से णाम कयति। —दशवै हारि वृत्ति, पत्राक ११ (२)

३३ एव च चिन्तयामास शय्यम्भवमहामुनि।
अत्यल्पायुरय बालो भावी श्रुतधर कथम् ॥८२॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

३४. अपश्चिमो दशपूर्वी श्रुतसार समुद्धरेत्।
चतुर्दशपूर्वधर पुन केनापि हेतुना ॥८३॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५

निर्यूहण किया।[३५] छह मास व्यतीत हुए और मुनि मनक का स्वर्गवास हो गया। शय्यम्भव श्रुतधर तो थे पर वीतराग नहीं थे। पुत्रस्नेह उभर आया और उनकी आँखे मनक के मोह से गीली हो गईं। यशोभद्र प्रभृति मुनियों ने खिन्नता का कारण पूछा।[३६] आचार्य ने बताया कि मनक मेरा संसारपक्षी पुत्र था, उसके मोह ने मुझे कुछ विह्वल किया है। यह बात यदि पहले ज्ञात हो जाती तो आचार्यपुत्र समझ कर उससे कोई भी वैय्याबृत्य नही करवाता, वह सेवाधर्म के महान् लाभ से वंचित हो जाता। इसीलिए मैंने यह रहस्य प्रकट नहीं किया था। आचार्य शय्यम्भव २८ वर्ष की अवस्था मे श्रमण बने। अत दशवैकालिक का रचनाकाल वीर-निर्वाण सवत् ७२ के आस-पास है। उस समय आचार्य प्रभवस्वामी विद्यमान थे,[३७] क्योकि आचार्य प्रभव का स्वर्गवास वीर निर्वाण ७५ मे होता है।[३८] डॉ विन्टरनित्ज ने वीरनिर्वाण के ९८ वर्ष पश्चात् दशवैकालिक का रचनाकाल माना है,[३९] प्रो एम. वी पटवर्द्धन का भी यही अभिमत है।[४०] किन्तु जब हम पट्टावलियो का अध्ययन करते है तो उनका यह कालनिर्णय सही प्रतीत नही होता क्योकि आचार्य शय्यम्भव वीरनिर्वाण सवत् ६४ मे दीक्षा ग्रहण करते हैं।[४१] उनके द्वारा रचित या निर्यूहण की हुई कृति का रचनाकाल वीरनिर्वाण सवत् ९८ किस प्रकार हो सकता है? क्योंकि सवत् ६४ मे उनकी दीक्षा हुई और उनके आठ वर्ष पश्चात् उनके पुत्र मनक की दीक्षा हुई।* इसलिए वीरनिर्वाण ७२ मे दशवैकालिक की रचना होना ऐतिहासिक दृष्टि से उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ पर जो उन्हें आचार्य लिखा है, वह द्रव्यनिक्षेप की दृष्टि से है।

दशवैकालिक एक निर्यूहण-रचना है

रचना के दो प्रकार हैं—एक स्वतन्त्र और दूसरा निर्यूहण। दशवैकालिक स्वतन्त्र कृति नही है अपितु निर्यूहण-कृति है। दशवैकालिकनिर्युक्ति के अनुसार आचार्य शय्यम्भव ने विभिन्न पूर्वों से इसका निर्यूहण किया। चतुर्थ अध्ययन आत्म-प्रवाद पूर्व से, पाँचवाँ अध्ययन कर्म-प्रवाद पूर्व से, सातवाँ अध्ययन—सत्य-प्रवाद पूर्व से और अवशेष सभी अध्ययन प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु से उद्धृत किए गए हैं।[४२]

---

३५. (क) सिद्धान्तसारमुद्धृत्याचार्य शय्यम्भवस्तदा।
दशवैकालिक नाम श्रुतस्कन्धमुदाहरत् ॥८५॥ —परिशिष्ट पर्व, सर्ग ५
(ख) दशवैकालिक हारिभद्रीयावृत्ति, पत्र १२

३६ आणद-असुपाय कासी सिज्जभवा तहिं थेरा।
जसभद्दस्स य पुच्छा कहणा अ विआलणा सघे ॥ —दशवै. निर्युक्ति ३७१

३७ जैनधर्म का मौलिक इतिहास, द्वितीय भाग, पृष्ठ ३१४

३८ जैनधर्म के प्रभावक आचार्य, पृष्ठ ५१

३९ A History of Indian Literature, Vol II, Page 47, F N 1

४० The Dasavaikalika Sutra . A Study, Page 9

४१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, पृष्ठ ३१४

* दसवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र ११-१२

४२ आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।
कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स उ एसणा तिविहा ॥
सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ ॥ —दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १६-१७

दूसरा मन्तव्य यह है कि दशवैकालिक का निर्यूहण गणिपिटक द्वादशागी से किया गया है।[४३] यह निर्यूहण किस अध्ययन का किस अग से किया गया इसका स्पष्ट निर्देश नही है, तथापि मूर्धन्य मनीषियों ने अनुमान किया है कि दशवैकालिक के दूसरे अध्ययन मे विषय-वासना से बचने का उपदेश दिया गया है, उस सदर्भ मे रथनेमि और राजीमती का पावन प्रसग भी बहुत ही सक्षेप मे दिया गया है। उत्तराध्ययन के बाईसवें अध्ययन में यह प्रसग बहुत ही विस्तार के साथ आया है। दोनो का मूल स्वर एक सदृश है। तृतीय अध्ययन का विषय सूत्रकृताङ्ग १।९ से मिलता है। चतुर्थ अध्ययन का विषय सूत्रकृताङ्ग १।११।७-८ और आचारांग १।१।१, २।१५ से कही पर सक्षेप मे और कही पर विस्तार से लिया गया है। आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के उत्तरार्द्ध मे भगवान् महावीर द्वारा गौतम आदि श्रमणो को उपदिष्ट किए गए पाच महाव्रतो तथा पृथ्वीकाय प्रभृति षड्जीवनिकाय का विश्लेषण है। सभव है इस अध्ययन से चतुर्थ अध्ययन की सामग्री का सकलन किया गया हो। पाचवे अध्ययन का विषय आचाराग के द्वितीय अध्ययन लोकविजय के पाचवें उद्देशक और आठवे, नौवें अध्ययन के दूसरे उद्देशक से मिलता-जुलता है। यह भी सभव है कि आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध का प्रथम अध्ययन पिण्डैषणा है अत पाचवा अध्ययन उसी से सकलित किया गया हो। छठा अध्ययन समवायाङ्ग के अठारहवे समवाय के 'वयछक्क कायछक्क अकप्पो गिहिभायण। परियक निसिज्जा य, सिणाण सोभवज्जण' गाथा का विस्तार से निरूपण है। सातवे अध्ययन का मूलस्रोत आचारांग १।१।६।५ मे प्राप्त होता है। आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन का नाम भाषाजात है, उस अध्ययन मे श्रमण द्वारा प्रयोग करने योग्य और न करने योग्य भाषा का विश्लेषण है। सभव है इस आधार से सातवें अध्ययन मे विषय-वस्तु की अवतारणा हुई हो। आठवे अध्ययन का कुछ विषय स्थानाग ८।५९८, ६०९, ६१५, आचाराग और सूत्रकृताग से भी तुलनीय है।[४४] नौवे अध्ययन मे विनयसमाधि का निरूपण है। इस अध्ययन की सामग्री उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन की सामग्री से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। सभव है इस अध्ययन का मूल स्रोत उत्तराध्ययन का प्रथम अध्ययन रहा हो। दसवे अध्ययन मे भिक्षु के जीवन और उसकी दैनन्दिनी चर्या का चित्रण है, तो उत्तराध्ययन का पन्द्रहवा अध्ययन भी इसी बात पर प्रकाश डालता है। अत सभव है, यह अध्ययन उत्तराध्ययन के पन्द्रहवे अध्ययन का ही रूपान्तरण हो, क्योकि भाव के साथ ही शब्दरचना और छन्दगठन मे भी दोनो मे प्राय एकरूपता है।

---

४३ बीओऽवि अ आएसो गणिपिडगाओ दुवालसगाओ।
एअ किर निज्जढ मणगस्स अणुग्गहट्ठाए॥ —दशवैकालिकनिर्युक्ति, गाथा १८

४४ (क) सतिमे तसा पाणा त जहा—अडया पोयया जराउया रसया ससेयया समुच्छिमा उब्भिया ओववाइया।
—आचाराग १।११८

तुलना करे—
अडया पोयया जराउया रसया ससेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया।
—दशवैकालिक अध्ययन ४, सूत्र ९

(ख) ण मे देति ण कुप्पेज्जा —आचाराग २।१०२
तुलना करें—
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा —दशवैकालिक ५।२।२८

(ग) सामायिकमाहु तस्स त ज गिहिमत्तेऽसण ण भक्खति। —सूत्रकृताग १।२।२।१८
तुलना करें—
सन्निही गिहिमत्ते य रायपिडे किमिच्छए। —दशवैकालिक ३।३

आचाराग के द्वितीय श्रुतस्कन्ध की पहली चूला, १ व ४ अध्ययन से क्रमश ५ वे और ७ वें अध्ययन की तुलना की जा सकती है। दशवैकालिक के २, ९ व १०वें अध्ययन के विषय की उत्तराध्ययन के १ और १५वें अध्ययन से तुलना कर सकते हैं।[४५]

दिगम्बर परम्परा मे दशवैकालिक का उल्लेख धवला, जयधवला, तत्त्वार्थराजवार्तिक, तत्त्वार्थ-भुतसागरीया वृत्ति प्रभृति अनेक स्थलो मे हुआ है और 'आरातीयैराचार्यैर्निर्यूढ' केवल इतना सकेत प्राप्त होता है।

सर्वार्थसिद्धि मे लिखा है—जब कालदोष से आयु, मति और बल न्यून हुए, तब शिष्यो पर अत्यधिक अनुग्रह करके आरातीय आचार्यों ने दशवैकालिक प्रभृति आगमो की रचना की। एक घडा क्षीरसमुद्र के जल से भरा हुआ है, उस घडे मे अपना स्वय का कुछ भी नही है। उसमे जो कुछ भी है वह क्षीरसमुद्र का ही है। यही कारण है कि उस घडे के जल मे भी वही मधुरता होती है जो क्षीरसमुद्र के जल मे होती है। इसी प्रकार जो आरातीय आचार्य किसी विशिष्ट कारण से पूर्व-साहित्य मे से या अग-साहित्य मे से अग-बाह्य श्रुत की रचना करते हैं, उसमे उन आचार्यों का अपना कुछ भी नही होता। वह तो अगो से ही गृहीत होने के कारण प्रामाणिक माना जाता है।[४६]

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थभाष्य[४७] मे, नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने गोम्मटसार[४८] मे दशवै-कालिक को अग-बाह्य श्रुत लिखा है। वीरसेनाचार्य ने जयधवला[४९] मे दशवैकालिक को सातवा अग-बाह्य श्रुत लिखा है। यापनीय सघ मे दशवैकालिकसूत्र का अध्ययन अच्छी तरह से होता था। यापनीय सघ के सुप्रसिद्ध आचार्य अपराजितसूरि ने भगवती आराधना की विजयोदया वृत्ति मे दशवैकालिक की गाथाए प्रमाण रूप मे उद्धृत की हैं।[५०]

यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि दशवैकालिक सूत्र की जब अत्यधिक लोकप्रियता बढी तो अनेक श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यों ने अपने ग्रन्थो मे दशवैकालिक की गाथाओ को उद्धरण के रूप मे उट्टङ्कित किया। उदाहरणार्थ आवश्यकनिर्युक्ति[५१], निशीथचूर्णि,[५२] उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति[५३] और उत्तराध्ययन चूर्णि[५४] आदि ग्रन्थों को देखा जा सकता है।

---

४५. दशवेआलिय तह उत्तरज्झयणाणि की भूमिका, पृ १२

४६. आरातीयै पुनराचार्यै कालदोषात्सक्षिप्तायुर्मतिबलशिष्यानुग्रहार्थं दशवैकालिकाद्युपनिबद्धम्। तत्प्रमाण-मर्वतस्तदेवेदमिति क्षीरार्णव-जल घटगृहीतमिव। —सर्वार्थसिद्धि १।२०

४७. तत्त्वार्थभाष्य १।२०

४८ दसवेयाल च उत्तरज्झयण। —गोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ३६७

४९. कषायपाहुड (जयधवला सहित) भाग १, पृ १३।२५

५० मूलाराधना, आश्वास ४, श्लो ३३३, वृत्ति पत्र ६११

५१. देखें—आवश्यकनिर्युक्ति गा १४१, वृ पत्र १४९

५२ निशीथचूर्णि—१।७, १।१३, १।१०६; १।१६३, २।१२५, २।२६, २।३५९, २।३६३, ३।४८३; ३।५४७, ४।३१, ४।३२; ४।३३, ४।१४३, ४।१५७, ४।२७२

५३. उत्तराध्ययन वृहद्वृत्ति—१।३१, वृत्ति ५९, २।१३।९४, ३।१३।१८६, ५।३१।२५४, १५।२।४१५;

५४. उत्तराध्ययन चूर्णि—१।३४ पृ ४०, २।४१।८३, ५।१८।१३७

दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों मे दशवैकालिक का उल्लेख व वर्णन होने पर भी पं नाथूराम प्रेमी ने लिखा है कि आरातीय आचार्य कृत दशवैकालिक आज उपलब्ध नही है और जो उपलब्ध है वह प्रमाण रूप नही है।[५५] दिगम्बर परम्परा मे यह सूत्र कब तक मान्य रहा, इसका स्पष्ट सकेत नहीं मिलता। हमारी दृष्टि से जब दोनों परम्पराओ मे वस्त्रादि को लेकर आग्रह उग्र रूप मे हुआ, तब दशवैकालिक मे वस्त्र का उल्लेख मुनियो के लिए होने से उसे अमान्य किया होगा।

नामकरण

प्रस्तुत आगम के 'दसवेयालिय'[५६] (दशवैकालिक) और 'दसवेकालिय'[५७] ये दो नाम उपलब्ध होते हैं। यह नाम दस और वैकालिक अथवा कालिक इन दो पदो से निर्मित है। सामान्यत. दस शब्द इस अध्ययनो का सूचक है और वैकालिक का सम्बन्ध रचना निर्यूहण या उपदेश से है। विकाल का अर्थ सन्ध्या है। सामान्य नियम के अनुसार आगम का रचनाकाल पूर्वाह्ण माना जाता है किन्तु आचार्य शय्यम्भव ने मनक की अल्पायु को देखकर अपराह्ण मे ही इसकी रचना या निर्यूहण प्रारम्भ किया और उसे विकाल मे पूर्ण किया। ऐसी भी मान्यता है कि दस विकालो या सध्याओ मे रचना-निर्यूहण या उपदेश किया गया, इस कारण यह आगम 'दशवैकालिक' कहा जाने लगा। स्वाध्याय का काल दिन और रात मे प्रथम और अन्तिम प्रहर है। प्रस्तुत आगम बिना काल (विकाल) मे भी पढ़ा जा सकता है। अत इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है। अथवा आचार्य शय्यम्भव चतुर्दशपूर्वी थे, उन्होने काल को लक्ष्य कर इसका निर्माण किया, इसलिए इसका नाम दशवैकालिक रखा गया है। एक कारण यह भी हो सकता है कि इसका दसवा अध्ययन वैतालिक नाम के वृत्त मे हुआ है, अत इसका नाम दसवेतालिय भी सभव है।[५८]

हम यह लिख चुके हैं कि आचार्य शय्यम्भव ने अपने बालपुत्र मनक के लिए दशवैकालिक का निर्माण किया। मनक ने दशवैकालिक को छह महीने मे पढ़ा, श्रुत और चारित्र की सम्यक् आराधना कर वह ससार से समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर स्वर्गस्थ हुआ। आचार्य शय्यम्भव ने सघ से पूछा—अब इस निर्यूढ आगम का क्या किया जाय? सघ ने गहराई से चिन्तन करने के बाद निर्णय किया कि इसे ज्यो का त्यो रखा जाय। यह आगम मनक जैसे अनेक श्रमणो की आराधना का निमित्त बनेगा। इसलिए इसका विच्छेद न किया जाय।[५९] प्रस्तुत निर्णय के पश्चात् दशवैकालिक का जो वर्तमान रूप है उसे अध्ययनक्रम से सकलित किया गया है। महानिशीथ के अभिमतानुसार पाचवे आरे के अन्त मे पूर्ण रूप से अग साहित्य विच्छिन्न हो जायेगा तब दुप्पसह मुनि दशवैकालिक के आधार पर सयम की साधना करेंगे और अपने जीवन को पवित्र बनायेंगे।[६०]

चूलिका के रचयिता कौन?

दस अध्ययनो और दो चूलिकाओ मे यह आगम विभक्त है। चूलिका का अर्थ शिखा या चोटी है। छोटी चूला (चूडा) को चूलिका कहा गया हैं, यह चूलिका का सामान्य शब्दार्थ है। साहित्यिक दृष्टि से चूलिका

---

५५. जैन साहित्य और इतिहास पृ ५३, सन् १९४२, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकार कार्यालय बम्बई
५६ (क) नन्दीसूत्र ४६ (ख) दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा ६
५७. दशवैकालिक निर्युक्ति, गाथा १, ७, १२, १४, १५
५८ दशवैकालिक अगस्त्यसिंह चूर्णि, पुण्यविजय जी म द्वारा सम्पादित
५९ 'विचारणा संघ' इति शय्यम्भवेनाल्पायुषमेनमवेत्य मयेद शास्त्र निर्यूढ किमत्र युक्तमिति निवेदिते विचारणा संघे—कालह्रासदोषात् प्रभूतसत्वानामिदमेवोपकारकमतस्तिष्ठत्वेतदित्येवभूता स्थापना।
—दशवैकालिक हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २८४
६०. महानिशीथ अध्ययन ५, दु.षमाकरक प्रकरण।

का अर्थ मूल शास्त्र का उत्तर भाग है। यही कारण है कि अगस्त्यसिंह स्थविर ने और जिनदासगणी महत्तर ने दशवैकालिक की चूलिका को उसका 'उत्तर-तन्त्र' कहा है। तन्त्र, सूत्र और ग्रन्थ ये सभी शब्द एकार्थक है। जो स्थान आधुनिक युग के ग्रन्थ मे परिशिष्ट का है, वही स्थान अतीतकाल मे चूलिका का था। निर्युक्तिकार की दृष्टि से मूल सूत्र मे अवर्णित अर्थ का और वर्णित अर्थ का स्पष्टीकरण करना चूलिका का प्रयोग है। आचार्य शीलाक के अनुसार चूलिका का अर्थ अग्र है और अग्र का अर्थ उत्तर भाग है। दस अध्ययन सकलनात्मक हैं, किन्तु चूलिकाओ के सम्बन्ध मे मूर्धन्य मनीषियो मे दो विचार हैं। कितने ही विज्ञो का यह अभिमत है कि वे आचार्य शय्यम्भवकृत है। दस अध्ययनो के निर्यूहण के पश्चात् उन्होने चूलिकाओ की रचना की। सूत्र और चूलिकाओ की भाषा प्राय एक सदृश है इसलिए अध्ययन और चूलिकाओ के रचयिता एक ही व्यक्ति है। कितने ही विज्ञ इस अभिमत से सहमत नही है। उनका अभिमत है कि चूलिकाए अन्य लेखक की रचनाए है जो बाद मे दस अध्ययनो के साथ जोड दी गई।

आचार्य हेमचन्द्र ने 'परिशिष्ट-पर्व' ग्रन्थ मे लिखा है कि आचार्य स्थूलभद्र की बहिन साध्वी यक्षा ने अपने अनुज मुनि श्रीयक को पौरुषी, एकाशन और उपवास की प्रबल प्रेरणा दी। श्रीयक ने कहा—बहिन! मै क्षुधा की दारुण वेदना को सहन नही कर पाऊँगा। किन्तु बहिन की भावना को सम्मान देकर उसने उपवास किया पर वह इतना अधिक सुकुमार था कि भूख को सहन न कर सका और दिवगत हो गया। मुनि श्रीयक का उपवास मे मरण होने के कारण साध्वी यक्षा को अत्यधिक हार्दिक दु ख हुआ। यक्षा ने मुनि श्रीयक की मृत्यु के लिए अपने को दोषी माना। श्रीसघ ने शासनदेवी की साधना की। देवी की सहायता से यक्षा साध्वी महाविदेह क्षेत्र मे सीमधर स्वामी की सेवा मे पहुची। सीमधर स्वामी ने साध्वी यक्षा को निर्दोष बताया और उसे चार अध्ययन चूलिका के रूप मे प्रदान किए। सघ ने दो अध्ययन आचाराग की तीसरी और चौथी चूलिका के रूप मे और अन्तिम दो अध्ययन दशवैकालिक चूलिका के रूप मे स्थापित किए।[६१]

दशवैकालिक निर्युक्ति की एक गाथा मे इस प्रसग का उल्लेख मिलता है।[६३] आचार्य हरिभद्र ने दूसरी चूलिका की प्रथम गाथा की व्याख्या मे उक्त घटना का सकेत किया है[६४] पर टीकाकार ने निर्युक्ति की गाथा का

---

६१ श्री सघायोपदा प्रेषीन्मन्मुखेन प्रसादभाक्।
श्रीमान्सीमन्धर स्वामी चत्वार्यध्ययनानि च॥
भावना च विमुक्तिश्च रतिकल्पमथापरम्।
तथा विचित्रचर्या न तानि चैतानि नामत॥
अप्येकया वाचनया मया तानि धृतानि च।
उद्गीतानि च सघाय तत्तथाख्यानपूर्वकम्॥
आचारागस्य चूले द्वे आद्यमध्ययनद्वयम्।
दशवैकालिकस्यान्यदथ सघेन योजितम्॥ —परिशिष्ट पर्व, ९।९७-१००, पृ ९०

६३. आओ दो चूलियाओ आणीया जक्खिणीए अज्जाए।
सीमधरपासाओ भवियाण विबोहणट्ठाए॥ —दशवैकालिक निर्युक्ति, गा. ४४७

६४. एव च वृद्धवाद—कयाचिदार्ययाऽसहिष्णु कुरगडुकप्राय सयतश्चातुर्मासिकादावुपवास कारित., स तदाराधनया मृत एव, ऋषिघातिकाऽहमित्युद्विग्ना सा तीर्थंकर पृच्छामीति गुणावर्जितदेवतया नीता श्रीसीमन्धरस्वामिसमीप, पृष्टो भगवान, अदुष्टचित्ताऽघातिकेत्यभिधाय भगवतेमां चूडा ग्राहितेति।
—दशवै. हारिभद्रीया वृत्ति, पत्र २७८-२७९

अनुसरण नहीं किया, इसलिए कितने ही विज्ञ दशवैकालिकनिर्युक्ति की गाथा को मूलनिर्युक्ति की गाथा नहीं मानते।[६५] आचारांगचूर्णि मे उल्लेख है कि स्थूलभद्र की बहिन साध्वी यक्षा महाविदेह क्षेत्र मे भगवान् सीमंधर के दर्शनार्थ गई थी लौटते समय भगवान् ने उसे भावना और विमुक्ति ये दो अध्ययन प्रदान किए।[६६] आवश्यकचूर्णि मे भी दो अध्ययनों का वर्णन है। प्रश्न यह है कि आचार्य हेमचन्द्र ने चार अध्ययनो का उल्लेख किस आधार से किया? आचारागनिर्युक्ति में इस घटना का किञ्चिन्मात्र भी सकेत नही है तथापि आचारागचूर्णि और आवश्यक चूर्णि मे यह घटना किस प्रकार आई, यह शोधार्थियो के लिए अन्वेषणीय है।

ग्रन्थ-परिमाण

दशवैकालिक के दस अध्ययन है, उनमे पाचवे अध्ययन के दो और नौवे अध्ययन के चार उद्देशक हैं, शेष अध्ययनो के उद्देशक नही हैं। चौथा और नौवां अध्ययन गद्य-पद्यात्मक है, शेष सभी अध्ययन पद्यात्मक है। टीकाकार के अभिमतानुसार दशवैकालिक के पद्यो की सख्या ५०९ है और चूलिकाओ की गाथासख्या ३४ है। चूर्णिकार ने दशवैकालिक की पद्यसख्या ५३६ और चूलिकाओ की पद्यसख्या ३३ बताई है। पुण्यविजय जी महाराज द्वारा सपादित 'दसकालियसुत्त' मे दशवैकालिक की गाथाए ५७५ बताई हैं।[६७] मुनि कन्हैयालाल जी 'कमल' ने दशवैकालिक-सक्षिप्तदर्शन मे लिखा है 'इसमे पद्यसूत्र गाथायें ५६१ हैं और गद्यसूत्र ४८ हैं।'[६८] आचार्य तुलसी ने[६९] 'दसवेआलिय' ग्रन्थ की भूमिका मे दशवैकालिक की श्लोक-सख्या ५१४ तथा सूत्र सख्या ३१ लिखी है। इस प्रकार विभिन्न ग्रन्थो मे गाथासख्या और सूत्रसख्या मे अन्तर है।

धर्म : एक चिन्तन

दशवैकालिक का प्रथम अध्ययन 'द्रुमपुष्पिका' है। धर्म क्या है? यह चिर-चिन्त्य प्रश्न रहा है। इस प्रश्न पर विश्व के मूर्धन्य मनीषियो ने विविध दृष्टियो से चिन्तन किया है। आचाराग मे स्पष्ट कहा है कि तीर्थंकर की आज्ञाओ के पालन मे धर्म है।[७१] मीमासादर्शन के अनुसार वेदो की आज्ञा का पालन ही धर्म है।[७२] आचार्य मनु ने लिखा है—राग-द्वेष से रहित सज्जन विज्ञो द्वारा जो आचरण किया जाता है और जिस आचरण को हमारी अन्तरात्मा सही समझती है, वह आचरण धर्म है।[७३] महाभारत मे धर्म की परिभाषा इस प्रकार प्राप्त है—जो प्रजा को धारण करता है अथवा जिससे समस्त प्रजा यानी समाज का सरक्षण होता है, वह धर्म है।[७४] आचार्य शुभचन्द्र ने धर्म को भौतिक और आध्यात्मिक अभ्युदय का साधन

---

६५ दशवैकालिक एक समीक्षात्मक अध्ययन, पृ ५२

६६ सिरिओ पव्वइतो अब्भत्तट्ठेण कालगतो महाविदेहे य पुच्छिका गता अज्जा दो वि अज्झयणाणि भावणा विमोत्ती य आणितानि। —आवश्यक चूर्णि, पृ १८८

६७ श्री महावीर जैन विद्यालय, बम्बई, जैन आगम ग्रन्थमाला ग्रन्थाक १५, पृष्ठ ८१

६८ दशवैकालिकसूत्र मूल, प्रकाशक—आगम अनुयोग ट्रस्ट, अहमदाबाद १३, पृ पाच

६९. भूमिका, पृष्ठ २८-२९, प्र जैन विश्वभारती, लाडनूं

७१. आचाराग, १।६।२।१८१

७२. मीमांसादर्शन, १।१।२

७३. मनुस्मृति, २।१

७४. महाभारत, कर्ण पर्व, ६९।५९

मानता है।[७५] आचार्य कार्तिकेय ने वस्तु के स्वभाव को धर्म कहा है,[७६] जिससे स्वभाव मे अवस्थिति और विभाव दशा का परित्याग होता है। चूंकि स्व-स्वभाव से ही हमारा परम श्रेय सम्भव है और इस दृष्टि से वही धर्म है। धर्म का लक्षण आत्मा का जो विशुद्ध स्वरूप है और जो आदि-मध्य-अन्त सभी स्थितियों मे कल्याणकारी है—वह धर्म है।[७७] वैशेषिक दर्शन का मन्तव्य है—जिससे अभ्युदय और निश्रेयस् की सिद्धि होती है—वह धर्म है।[७८]

इस प्रकार भारतीय मनीषियो ने धर्म की विविध दृष्टियो से व्याख्या की है, तथापि उनकी यह विशेषता रही है कि उन्होने किसी एकाकी परिभाषा पर ही बल नही दिया, किन्तु धर्म के विविध पक्षो को उभारते हुए उनमे समन्वय की अन्वेषणा की है। यही कारण है कि प्रत्येक परम्परा मे धर्म की विविध व्याख्याएँ मिलती हैं। दशवैकालिक मे धर्म की सटीक परिभाषा दी गई है—अहिंसा, सयम और तप ही धर्म है। वही धर्म उत्कृष्ट मगल रूप मे परिभाषित किया गया है। वह धर्म विश्व-कल्याणकारक है।[७९] इस प्रकार लोक-मगल की साधना मे व्यक्ति के दायित्व की व्याख्या यहाँ पर की गई है। जिसका मन धर्म मे रमा रहता है, उसके चरणों मे ऐश्वर्यशाली देव भी नमन करते हैं।

धर्म की परिभाषा के पश्चात् अहिंसक श्रमण को किस प्रकार आहार-ग्रहण करना चाहिए, इसके लिए 'मधुकर' का रूपक देकर यह बताया है कि जैसे मधुकर पुष्पो से रस ग्रहण करता है वैसे ही श्रमणो को गृहस्थो के यहाँ से प्रासुक आहार-जल ग्रहण करना चाहिए। मधुकर फूलो को बिना म्लान किए थोडा-थोडा रस पीता है, जिससे उसकी उदरपूर्ति हो जाए। मधुकर दूसरे दिन के लिए सग्रह नही करता, वैसे ही श्रमण सयमनिर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो उतना ग्रहण करता है, किन्तु सचय नही करता। मधुकर विविध फूलो से रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्रमण विविध स्थानो से शिक्षा लेता है। इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन मे अहिंसा और उसके प्रयोग का निर्देश किया गया है।

भ्रमर की उपमा जिस प्रकार दशवैकालिक मे श्रमण के लिए दी गई है, उसी प्रकार बौद्ध साहित्य मे भी यह उपमा प्राप्त है[८०] और वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे भी इस उपमा का उपयोग हुआ है।[८१]

सयम मे श्रम करने वाला साधक श्रमण की अभिधा से अभिहित है। श्रमण का भाव श्रमणत्व या श्रामण्य कहलाता है। बिना धृति के श्रामण्य नही होता, धृति पर ही श्रामण्य का भव्य प्रासाद अवलम्बित है। जो धृतिमान् होता है, वही कामराग का निवारण करता है। यदि अन्तर्मानस मे कामभावनाए अगडाइयाँ

---

७५ अमोलकसूक्तिरत्नाकर, पृष्ठ २७

७६. कार्तिकेय-अनुप्रेक्षा, ४७८

७७ अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड ४, पृष्ठ २६६९

७८ यतोऽभ्युदयनि श्रेयससिद्धि स धर्म। —वैशेषिकदर्शन १।१।२

७९. (क) दशवैकालिक १।१
(ख) योगशास्त्र ४।१००

८० धम्मपद ४।६

८१ यथामधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पद ।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्याद् अविहिंसया ॥ —महाभारत, उद्योग पर्व, ३४।१७

ले रही हैं, विकारों के सर्प फन फैलाकर फूत्कारें मार रहे हैं, तो वहाँ श्रमणत्व नही रह सकता। रथनेमि की तरह जिसका मन विकारी है और विषयसेवन के लिए ललक रहा है वह केवल द्रव्यसाधु है, भावसाधु नही। इस प्रकार के श्रमण भर्त्सना के योग्य हैं। जब रथनेमि भटकते हैं और भोग की अभ्यर्थना करते हैं तो राजीमती सयम मे स्थिर करने हेतु उन्हे धिक्कारती है। काम और श्रामण्य का परस्पर विरोध है, जहाँ काम है, वहाँ श्रामण्य का अभाव है। त्यागी वह कहलाता है—जो स्वेच्छा से भोगो का परित्याग करता है। जो परवशता से भोगो का त्याग करता है, उसमे वैराग्य का अभाव होता है, वहाँ विवशता है, त्याग की उत्कट भावना नही। प्रस्तुत अध्ययन मे कहा गया है—जीवन वह है जो विकारो से मुक्त हो। यदि विकारो का धुँआ छोडते हुए अर्ध-दग्ध काष्ठ की तरह जीवन जीया जाए तो उस जीवन से तो मरना ही श्रेयस्कर है। एक क्षण भी जीओ—प्रकाश करते हुए जीओ किन्तु चिरकाल तक धुँआ छोडते हुए जीना उचित नही। अगन्धन जाति का सर्प प्राण गँवा देना पसन्द करेगा किन्तु परित्यक्त विष को पुन ग्रहण नही करेगा। वैसे ही श्रमण परित्यक्त भोगों को पुनः ग्रहण नही करता है। विषवन्त जातक में इसी प्रकार का एक प्रसग आया है—सर्प आग मे प्रविष्ट हो जाता है किन्तु एक बार छोडे हुए विष को पुन ग्रहण नही करता।[८२] इस अध्ययन मे भगवान् अर्हत् अरिष्टनेमि के भ्राता रथनेमि का प्रसग है जो गुफा मे ध्यानमुद्रा मे अवस्थित हैं, उसी गुफा मे वर्षा से भीगी हुई राजीमती अपने भीगे हुए वस्त्रों को सुखाने लगी, राजीमती के अग-प्रत्यगो को निहार कर रथनेमि के भाव कलुषित हो गये। राजीमती ने कामविह्वल रथनेमि को सुभाषित वचनो से सयम मे सुस्थिर कर दिया। निर्युक्तिकार का अभिमत है कि द्वितीय अध्ययन की विषय-सामग्री प्रत्याख्यानपूर्व की तृतीय वस्तु से ली गई है।[८३]

आचार और अनाचार

तृतीय अध्ययन मे क्षुल्लक आचार का निरूपण है। जिस साधक मे धृति का अभाव होता है वह आचार के महत्त्व को नही समझता, वह आचार को विस्मृत कर अनाचार की ओर कदम बढाता है। जो आचार, मोक्ष-साधना के लिए उपयोगी है, जिस आचार में अहिंसा का प्राधान्य है, वह सही दृष्टि से आचार है और जिसमे इनका अभाव है वह अनाचार है। आचार के पालन से सयम-साधना मे सुस्थिरता आती है। आचार-दर्शन मानव को परम शुभ प्राप्त करने का मार्ग प्रशस्त करता है। कौनसा आचरण औचित्यपूर्ण है और कौनसा अनौचित्यपूर्ण है, इसका निर्णय विवेकी साधक अपनी बुद्धि की तराजू पर तौल कर करता है। जो प्रतिषिद्ध कर्म, प्रत्याख्यातव्य कर्म या अनाचीर्ण कर्म हैं, उनका वह परित्याग करता है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य जो आचरणीय हैं उन्हे वह ग्रहण करता है। आचार, धर्म या कर्त्तव्य है, अनाचार अधर्म या अकर्त्तव्य है। प्रस्तुत अध्ययन मे अनाचीर्ण कर्म कहे गये है। अनाचीर्णों का निषेध कर आचार या चर्या का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इस अध्ययन का नाम आचारकथा है। दशवैकालिक के छठे अध्ययन मे 'महाचार-कथा' का निरूपण है। उस अध्ययन मे विस्तार के साथ आचार पर चिन्तन किया गया है तो इस अध्ययन मे उस अध्ययन की अपेक्षा सक्षिप्त मे आचार का निरूपण है। इसलिए इस अध्ययन का नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' दिया गया है।[८४]

---

८२ धिरत्थु त विस वन्त, यमह जीवितकारणा।
वन्त पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वर॥ —जातक, प्रथम खण्ड, पृ ४०४

८३. सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ।
अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ॥ —निर्युक्ति गाथा १७

८४. एएसि महताण पडिवक्खे खुड्डया होंति॥ —निर्युक्ति गाथा १७८

प्रस्तुत अध्ययन मे अनाचारो की सख्या का उल्लेख नही हुआ है और न अगस्त्यसिह स्थविर ने अपनी चूर्णि मे और न जिनदासगणी महत्तर ने अपनी चूर्णि मे सख्या का निर्देश किया है। समयसुन्दर ने दीपिका मे अनाचारो की ५४ सख्या का निर्देश किया है।[८५] यद्यपि अगस्त्यसिह स्थविर ने सख्या का उल्लेख नहीं किया है तो भी उनके अनुसार अनाचारो की सख्या ५२ है, पर दोनो मे अन्तर यह है कि अगस्त्यसिह ने राजपिण्ड और किमिच्छक को व सैन्धव और लवण को पृथक्-पृथक् न मानकर एक-एक माना है। जिनदासगणी ने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक न मानकर अलग-अलग माना है तथा सैन्धव और लवण को एव गात्राभ्यग और विभूषण को एक-एक माना है। दशवैकालिक के टीकाकार आचार्य हरिभद्र ने तथा सुमति साधु सूरि ने अनाचारो की सख्या ५३ मानी है, उन्होने राजपिण्ड और किमिच्छक को एक तथा सैन्धव और लवण को पृथक्-पृथक् माना है। इस प्रकार अनाचारो की सख्या ५४, ५३ और ५२ प्राप्त होती है। सख्या मे भेद होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से कोई भेद नही है। अनाचारो का निरूपण सक्षेप मे भी किया जा सकता है, जैसे सभी सचित्त वस्तुओ का परिहार एक माना जाए तो अनेक अनाचार स्वत कम हो सकते है। जो बाते श्रमणो के लिए वर्ज्य है वस्तुत वे सभी अनाचार है। प्रस्तुत अध्ययन मे बहुत से अनाचारो का उल्लेख नही है किन्तु अन्य आगमो मे उन अनाचारो का उल्लेख हुआ है। भले ही वे बातें अनाचार के नाम से उल्लिखित न की गई हो, किन्तु वे बाते जो श्रमण के लिए त्याज्य हैं, अनाचार ही है। यहाँ एक बात का ध्यान रखना होगा कि कितने ही नियम उत्सर्गमार्ग मे अनाचार है, पर अपवादमार्ग मे वे अनाचार नही रहते, पर जो कार्य पापयुक्त है, जिनका हिंसा से साक्षात् सम्बन्ध है, वे कार्य प्रत्येक परिस्थिति मे अनाचीर्ण ही है। जैसे—सचित्तभोजन, रात्रिभोजन आदि। जो नियम सयम साधना की विशेष विशुद्धि के लिए बनाए हुए है, वे नियम अपवाद मे अनाचीर्ण नही रहते। ब्रह्मचर्य की दृष्टि से गृहस्थ के घर पर बैठने का निषेध किया गया है। पर श्रमण रुग्ण हो, वृद्ध या तपस्वी हो तो वह विशेष परिस्थिति मे बैठ सकता है। उसमे न तो ब्रह्मचर्य के प्रति शका उत्पन्न होती है और न अन्य किसी भी प्रकार की विराधना की ही सभावना है। इसलिए वह अनाचार नही है।[८६] जो कार्य सौन्दर्य की दृष्टि से शोभा या गौरव की दृष्टि से किए जाये वे अनाचार है पर वे कार्य भी रुग्णावस्था आदि विशेष परिस्थिति मे किये जाये तो अनाचार नही हैं। उदाहरण के रूप मे नेत्र-रोग होने पर अजन आदि का उपयोग। कितने ही अनाचारो के सेवन मे प्रत्यक्ष हिंसा है, कितने ही अनाचारो के सेवन मे वे हिंसा के निमित्त बनते हैं और कितने ही अनाचारो के सेवन मे हिसा का अनुमोदन होता है, कितने ही कार्य स्वय मे दोषपूर्ण नही हैं किन्तु बाद मे वे कार्य शिथिलाचार के हेतु बन सकते है, अत उनका निषेध किया गया है। इस प्रकार अनेक हेतु अनाचार के सेवन मे रहे हुए है।

जैन परम्परा मे जो आचारसहिता है, उसके पीछे अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य का दृष्टिकोण प्रधान है। अन्य भारतीय परम्पराओ ने भी न्यूनाधिक रूप से उसे स्वीकार किया है।

स्नान

तथागत बुद्ध ने पन्द्रह दिन से पहले जो भिक्षु स्नान करता है उसे प्रायश्चित्त का अधिकारी माना है। यदि कोई भिक्षु विशेष परिस्थिति मे पन्द्रह दिन मे पहले नहाता है तो पाचित्तिय है। विशेष परिस्थिति यह

---

८५ सर्वमेतत् पूर्वोक्तचतु पञ्चाशद्भेदभिन्नमौद्देशिकतादिक यदनन्तरमुक्त तत् सर्वमनाचरित ज्ञातव्यम।

—दीपिका (दशवैकालिक), पृ ७

८६ निण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पइ। जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो॥

—दशवैकालिक ६।५९

है —ग्रीष्म के पीछे के डेढ मास और वर्षा का प्रथम मास, यह ढाई मास और गर्मी का समय, जलन होने का समय, रोग का समय, काम (लीपने-पोतने आदि का समय) रास्ता चलने का समय तथा आधी-पानी का समय।[८७]

भगवान् महावीर की भाति तथागत बुद्ध की आचारसहिता कठोर नही थी। कठोरता के अभाव मे भिक्षु स्वच्छन्दता से नियमो का भग करने लगे, तब बुद्ध ने स्नान के सम्बन्ध मे अनेक नियम बनाये।

एक बार तथागत बुद्ध राजगृह मे विचरण कर रहे थे। उस समय षडवर्गीय भिक्षु नहाते हुए शरीर को वृक्ष से रगडते थे। जघा, बाहु, छाती और पेट को भी। जब भिक्षुओ को इस प्रकार कार्य करते हुए देखते तो लोग खिन्न होते, धिक्कारते।

तथागत ने भिक्षुओ को सम्बोधित किया—'भिक्षुओ! नहाते हुए भिक्षु को वृक्ष से शरीर को न रगडना चाहिए, जो रगडे उसको 'दुष्कृत' की आपत्ति है।'

उस समय षड्वर्गीय भिक्षु नहाते समय खम्भे से शरीर को भी रगडते थे। बुद्ध ने कहा—'भिक्षुओ! नहाते समय भिक्षु को खम्भे से शरीर को न रगडना चाहिए, जो रगडे उसको दुक्कड (दुष्कृत) की आपत्ति है।'[८८]

छाता-जूता

विनय-पिटक मे जूत खडाऊ, पादुका प्रभृति विधि-निषेधो के सम्बन्ध मे चर्चाए हैं।[८९] उस समय षड्वर्गीय भिक्षु जूता धारण करते थे। व जब जता धारण कर गाव मे प्रवेश करते, तो लोग हैरान होते थे। जैसे काम-भोगी गृहस्थ हो। बुद्ध ने कहा— भिक्षुओ! जूता पहने गाव मे प्रवेश नही करना चाहिए। जो प्रवेश करता है, उसे दुक्कड दोष है।[९०]

किसी समय एक भिक्षु रुग्ण हो गया। वह बिना जता धारण किये गाव मे प्रवेश नही कर सकता था। उसे देख बुद्ध ने कहा— भिक्षुओ! मै अनुमति दता हूँ बीमार भिक्षु को जूता पहन कर गाव मे प्रवेश करने की।[९१] जो भिक्षु पूर्ण निरोग होने पर भी छाता धारण करता है, उसे तथागत बुद्ध ने पाचित्तिय कहा है।[९२]

इस तरह बुद्ध ने छाता और जूते धारण करने के सम्बन्ध मे विधि और निषेध दोनो बताये है।

दीघनिकाय मे तथागत बुद्ध ने भिक्षुओ के लिए माला, गध-विलेपन, उबटन तथा सजने-सजाने का निषेध किया है।[९३]

८७ विनयपिटक, पृ २७, अनु राहुल साकृत्यायन, प्र महाबोधि सभा, सारनाथ (बनारस)
८८ विनयपिटक, पृ ४१८
८९ विनयपिटक, पृ २०४-२०८
९० विनयपिटक, पृ २११
९१ विनयपिटक, पृ २११
९२ विनयपिटक, पृ ५७
९३ दीघनिकाय, पृ ३

मनुस्मृति,[९४] श्रीमद्भागवत[९५] आदि मे ब्रह्मचारी के लिए गध, माल्य, उबटन, अजन, जूते और छत्र धारण का निषेध किया है। भागवत मे वानप्रस्थ के लिए दातुन करने का भी निषेध है।[९६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन, बौद्ध और वैदिक तीनो परम्पराओ ने श्रमण और सन्यासी के लिए कष्ट सहन करने का विधान एव शरीर-परिकर्म का निषेध किया है। यह सत्य है कि ब्राह्मण परम्परा ने शरीर-शुद्धि पर बल दिया तो जैन परम्परा ने आत्म-शुद्धि पर बल दिया। यहाँ पर सहज जिज्ञासा हो सकती है कि आयुर्वेदिक ग्रन्थो मे जो बाते स्वास्थ्य के लिए आवश्यक मानी हैं उन्हे शास्त्रकार ने अनाचार क्यो कहा है? समाधान है कि श्रमण शरीर से भी आत्म-शुद्धि पर अधिक बल दे। स्वास्थ्यरक्षा से पहले आत्म-रक्षा आवश्यक है "अप्पा हु खलु सयय रक्खियव्वो, सव्विदिएहि सुसमाहिएहिं" श्रमण सब इन्द्रियो के विषयो से निवृत्त कर आत्मा की रक्षा करे। शास्त्रकार ने आत्मरक्षा पर अधिक बल दिया है, जबकि चरक और सुश्रुत ने देहरक्षा पर अधिक बल दिया है। उनका यह स्पष्ट मन्तव्य रहा कि नगररक्षक नगर का ध्यान रखता है, गाडीवान गाडी का ध्यान रखता है, वैसे ही विज्ञ मानव शरीर का पूर्ण ध्यान रखे।[९७]

स्वास्थ्य-रक्षा के लिए चरक ने निम्न नियम आवश्यक बताए है—

सौवीराजन—आखो मे काला सुरमा आजना।

नस्यकर्म—नाक मे तेल डालना।

दन्त-धावन—दतौन करना।

जिह्वानिर्लेखन—जिह्वा के मैल को शलाका मे खुरच कर निकालना।

अभ्यग—तेल का मर्दन करना।

शरीर-परिमार्जन—तौलिए आदि के द्वारा मैल उतारने के लिए शरीर को रगडना, स्नान करना, उबटन लगाना।

गन्धमाल्य-निषेवण—चन्दन, केसर, प्रभृति सुगन्धित द्रव्यो का शरीर पर लेप करना, सुगन्धित फूलो की मालाए धारण करना।

रत्नाभरणधारण—रत्नो से जटित आभूषण धारण करना।

शौचाधान—पैरो को, मलमार्ग (नाक, कान, गुदा, उपस्थ) आदि को प्रतिदिन पुन पुन साफ करना।

सम्प्रसाधन—केश आदि को कटवाना तथा बालो मे कघी करना।

---

९४ मनुस्मृति २।१७७-१७९

९५. अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्त्र्यवलेखामिष मधु।
सुगन्धलेपालकारास्त्यजेयुर्ये धृतव्रता ॥ —भागवत ७।१२।१२

९६ केशरोमनखश्मश्रुमलानि विभृयादत।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकाल स्थण्डिलेशय ॥ —भागवत ११।१८।३

९७ नगरी नगरस्येव, रथस्येव रथी सदा।
स्वशरीरस्य मेधावी, कृत्येष्ववहितो भवेत् ॥ —चरकसहिता, सूत्रस्थान अध्ययन ५।१००

पादत्राणधारण—जूते पहनना।

छत्र धारण—छत्ता धारण करना।

दण्डधारण—दण्ड (छडी) धारण करना।

ये सारे नियम यहाँ अधिकाशत श्रमण के अनाचार मे आ ये है अथवा अन्य आगम-साहित्य मे श्रमणों के लिए निषिद्ध कहे हैं।[९८] इसका यही कारण है कि श्रमणो के लिए शरीर-रक्षा की अपेक्षा संयम-रक्षा प्रधान है। सयम-रक्षा के लिए इन्द्रिय-समाधि आवश्यक है। स्नान आदि कामाग्नि-सन्दीपक हैं, अत भगवान् महावीर ने उन सभी को अनाचार की कोटि मे परिगणित किया है। अनाचारो का उल्लेख अहिंसा, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य की सुरक्षा के लिए हुआ है।

नियुक्तिकार की दृष्टि से दशवैकालिक का तृतीय अध्ययन नौवे पूर्व की तृतीय आचारवस्तु से उद्धृत है।[९९]

महाव्रत : विश्लेषण

चतुर्थ अध्ययन मे षट्जीवनिकाय का निरूपण है। आचारनिरूपण के पश्चात् पृथ्वी, पानी, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस आदि जीवो का विस्तार से निरूपण है। जैनधर्म मे अहिंसा का बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण है। विश्व के अन्य विचारको ने पृथ्वी, पानी, अग्नि आदि मे जहाँ जीव नही माने हैं, वहाँ जैन परम्परा मे उनमे जीव मानकर उनके विविध भेद-प्रभेदो का भी विस्तार से कथन है। श्रमण साधक विश्व मे जितने भी त्रस और स्थावर जीव है उनकी हिंसा से विरत होता है। श्रमण न स्वय हिंसा करता है, न हिंसा करवाता है और न हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करता है। श्रमण हिंसा क्यों नही करता? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा गया है—हिंसा से और दूसरो को नष्ट करने के सकल्प से उस प्राणी को तो पीडा पहुँचती ही है साथ ही स्वय के आत्मगुणो का भी हनन होता है। आत्मा कर्मों से मलिन बनता है। यही कारण है कि प्रश्नव्याकरण मे हिंसा का एक नाम गुणविराधिका मिलता है। श्रमण अहिंसा महाव्रत का पालन करता है। इसकी सक्षिप्त जानकारी प्रस्तुत अध्ययन मे है। सयमी श्रमण तीन करण और तीन योग से सचित पृथ्वी आदि को न स्वय नष्ट करे और न सचित्त पृथ्वी पर बैठे और न सचित्त धूल से सने हुए आसन का उपयोग करे। वह अचित्त भूमि पर आसन आदि को प्रमार्जित कर बैठे। सयमी श्रमण सचित्त जल का भी उपयोग न करे, किन्तु उष्ण जल या अचित्त जल का उपयोग करे। किसी भी प्रकार की अग्नि को साधु स्पर्श न करे और न अग्नि को सुलगावे और न बुझावे। इसी प्रकार श्रमण हवा भी न करे, दूध आदि को फूक से ठडा न करे। श्रमण तृण, वृक्ष, फल, फूल, पत्ते आदि को न तोडे, न काटे और न उस पर बैठे। श्रमण स्थावर जीवो की तरह त्रस प्राणियो की भी हिंसा मन, वचन और काया से न करे। वह जो भी कार्य करे वह विवेकपूर्वक करे। इतना सावधान रहे कि किसी भी प्रकार की हिंसा न हो। सभी प्रकार के जीवो के प्रति सयम रखना अहिंसा है। श्रमण स्व और पर दोनो ही प्रकार की हिंसा से मुक्त होता है। काम, क्रोध, मोह प्रभृति दूषित मनोवृत्तियो के द्वारा आत्मा के स्वगुणो का घात करना स्वहिंसा है और अन्य प्राणियो को कष्ट पहुचाना पर-हिंसा है। श्रमण स्व और पर दोनो ही प्रकार की हिंसा से विरत होता है।

---

९८ सूत्रकृतांग १।९।१२, १३ से १८, २०, २१, २३, २९

९९. अवसेसा निज्जूढा नवमस्स उ तइयवत्थूओ। —नियुक्ति गाथा १७

श्रमण मन, वचन और काय तथा कृत-कारित-अनुमोदन की नव कोटियो सहित असत्य का परित्याग करता है। जिनदासगणी महत्तर के अभिमतानुसार श्रमण को मन, वचन, काया से सत्य पर आरूढ होना चाहिए। यदि मन, वचन और काय मे एकरूपता नही है तो वह मृषावाद है।[१००] जिन शब्दो से दूसरे प्राणियो के अन्तर्हृदय मे व्यथा उत्पन्न होती हो, ऐसे हिंसाकारी और कठोर शब्द भी श्रमण के लिए वर्ज्य हैं और यहाँ तक कि जिस भाषा से हिंसा की सम्भावना हो, ऐसी भाषा का प्रयोग भी वर्जित है। काम, क्रोध, लोभ, भय एव हास्य के वशीभूत होकर —पापकारी, निश्चयकारी, दूसरो क मन को कष्ट देने वाली भाषा, भले ही वह मनोविनोद के लिए ही कही गई हो, श्रमण को नही बोलनी चाहिए। इस प्रकार असत्य और अप्रियकारी भाषा का निषेध किया गया है। अहिंसा के बाद सत्य का उल्लेख है। वह इस बात का द्योतक है कि सत्य अहिंसा पर आधृत है। निश्चयकारी भाषा का निषेध इसलिए किया गया है कि वह अहिंसा और अनेकान्त के परीक्षण-प्रस्तर पर खरी नही उतरती। सत्य का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे भगवान की उपमा से अलकृत किया गया है, और उसे सम्पूर्ण लोक का सारतत्त्व कहा है।[१०१]

अस्तेय श्रमण का तृतीय महाव्रत है। श्रमण बिना स्वामी की आज्ञा के एक तिनका भी ग्रहण नही करता।[१०२] जीवनयापन के लिए आवश्यक वस्तुओ को तब ही ग्रहण करता है जब उसके स्वामी द्वारा वस्तु प्रदान की जाए। अदत्त वस्तु को ग्रहण न करना श्रमण का महाव्रत है। वह मन, वचन, काय और कृत-कारित-अनुमोदन की नवकोटियो सहित अस्तेय महाव्रत का पालन करता है। चौर्यकर्म एक प्रकार से हिंसा ही है। अदत्तादान अनेक दुर्गुणो का जनक है। वह अपयश का कारण और अनार्य कर्म है, इसलिए श्रमण इस महाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करता है।

चतुर्थ महाव्रत ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य के पालन से मानव का अन्तःकरण प्रशस्त, गम्भीर और सुस्थिर होता है। ब्रह्मचर्य के नष्ट होने पर अन्य सभी नियमो और उपनियमो का भी नाश हो जाता है।[१०३] अब्रह्मचर्य आसक्ति और मोह का कारण है, जिससे आत्मा का पतन होता है। वह आत्म-विकास मे बाधक है, इसीलिए श्रमण को सभी प्रकार के अब्रह्म से मुक्त होने का सन्देश दिया गया है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए आन्तरिक और बाह्य दोनो प्रकार की सावधानी बहुत आवश्यक है। जरा सी असावधानी से साधक साधना से च्युत हो सकता है। ब्रह्मचर्य पालन का जहा अत्यधिक महत्त्व बताया गया है वहा उसकी सुरक्षा के लिए कठोर नियमो का भी विधान है। ब्रह्मचर्य उत्तम तप, नियम, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सम्यक्त्व तथा विनय का मूल है।

अपरिग्रह पाचवा महाव्रत है। श्रमण बाह्य और आभ्यन्तर दोनो ही प्रकार के परिग्रह से मुक्त होता है। परिग्रह चाहे अल्प हो या अधिक हो, सचित्त हो या अचित्त हो, वह सभी का त्याग करता है। वह मन, वचन और काया से न परिग्रह रखता है और रखवाता है और न रखने वाले का अनुमोदन करता है। परिग्रह की वृत्ति आन्तरिक लोभ की प्रतीक है। इसीलिए मूर्च्छा या आसक्ति को परिग्रह कहा है। श्रमण को जीवन की आवश्यकता की दृष्टि से कुछ धर्मोपकरण रखने पडते है, जैसे वस्त्र, पात्र, कम्बल रजोहरण आदि।[१०४] श्रमण

१०० निशीथचूर्णि ३०८८
१०१ प्रश्नव्याकरण सूत्र २।२
१०२ दशवैकालिक ६।१४
१०३ प्रश्नव्याकरण ९
१०४ आचाराग १।२।५।९०

वे ही वस्तुए अपने पास मे रखे जिनके द्वारा सयमसाधना म सहायता मिले । श्रमणो को उन उपकरणो पर ममत्व नही रखना चाहिए, क्योंकि ममत्व साधना की प्रगति के लिए बाधक है। आचाराग[१०५] के अनुसार जो पूर्ण स्वस्थ श्रमण है, वह एक वस्त्र से अधिक न रखे । श्रमणियो के लिए चार वस्त्र रखने का विधान है पर श्रमण के वस्त्रो के नाप के सम्बन्ध मे कोई स्पष्ट उल्लेख नही हैं किन्तु श्रमणियों के लिए जो चार वस्त्र का उल्लेख है उनमे एक दो हाथ का, दो तीन हाथ के और एक चार हाथ का होना चाहिए। प्रश्नव्याकरणसूत्र मे श्रमणो के लिए चौदह प्रकार के उपकरणो का विधान है—१ पात्र—जो कि लकड़ी, मिट्टी अथवा तुम्बी का हो सकता है, २ पात्रबन्ध—पात्रो को बाँधने का कपडा, ३ पात्रस्थापना—पात्र रखने का कपड़ा, ४ पात्र-केसरिका —पात्र पोछने का कपडा, ५ पटल—पात्र ढकने का कपडा, ६ रजस्त्राण, ७. गोच्छक, ८-से-१० प्रच्छादक —ओढने की चादर, श्रमण विभिन्न नापो की तीन चादरें रख सकता है इसलिए ये तीन उपकरण माने गये है, ११ रजोहरण, १२ मुखवस्त्रिका, १३. मात्रक और १४. चालपट्ट।[१०६] ये चौदह प्रकार की वस्तुए श्रमणो के लिए आवश्यक मानी गई है। बृहत्कल्पभाष्य[१०७] आदि मे अन्य वस्तुए रखने का भी विधान मिलता है, पर विस्तार भय से हम यहाँ उन सब की चर्चा नही कर रहे हैं। अहिंसा और सयम की वृद्धि के लिए ये उपकरण है, न कि सुख-सुविधा के लिए।

पाँच महाव्रतो के साथ छठा व्रत रात्रिभोजन-परित्याग है। श्रमण सम्पूर्ण रूप से रात्रिभोजन का परित्याग करता है। अहिंसा महाव्रत के लिए व सयमसाधना के लिए रात्रिभोजन का निषेध किया गया है। सूर्य अस्त हो जाने के पश्चात् श्रमण आहार आदि करने की इच्छा मन मे भी न करे । रात्रिभोजन-परित्याग को नित्य तप कहा है। रात्रि मे आहार करने से अनेक सूक्ष्म जीवो की हिंसा की सम्भावना होती है। रात्रिभोजन करने वाला उन सूक्ष्म और त्रस जीवो की हिंसा से अपने आप को बचा नही सकता। इसलिए निर्ग्रन्थ श्रमणो के लिए रात्रिभोजन का निषेध किया गया है।

महाव्रत और यम

ये श्रमण के मूल व्रत, है । अष्टाग योग मे महाव्रतो को यम कहा गया है । आचार्य पतञ्जलि के अनुसार महाव्रत जाति, देश, काल आदि की सीमाओ से मुक्त एक सार्वभौम साधना है ।[१०८] महाव्रतो का पालन सभी क द्वारा निरपेक्ष रूप से किया जा सकता है। वैदिक परम्परा की दृष्टि मे सन्यासी को महाव्रत का सम्यक् प्रकार से पालन करना चाहिए, उसके लिए हिंसाकार्य निषिद्ध है।[१०९] असत्य भाषण और कटु भाषण भी वर्ज्य है।[११०] ब्रह्मचर्य महाव्रत का भी सन्यासी को पूर्णरूप से पालन करना चाहिए । सन्यासी के लिए जल-पात्र, जल छानने का वस्त्र, पादुका, आसन आदि कुछ आवश्यक वस्तुए रखने का विधान है।[१११] धातुपात्र

१०५ आचाराग २।५।१४१ , २।६।१।१५२

१०६ प्रश्नव्याकरणसूत्र १०

१०७ (क) बृहत्कल्पभाष्य, खण्ड ३, २८८३-९२

(ख) हिस्ट्री ऑफ जैन मोनाशिज्म, पृ. २६९-२७७

१०८ जाति-देश-काल समयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम् । —योगदर्शन २।३१

१०९. महाभारत, शान्ति पर्व ९।१९

११०. मनुस्मृति ६।४७-४८

१११ देखिए—धर्मशास्त्र का इतिहास, पाण्डुरग वामन काणे, भाग १, पृ. ४१३

का प्रयोग सन्यासी के लिए निषिद्ध है। आचार्य मनु ने लिखा है—सन्यासी जलपात्र या भिक्षापात्र मिट्टी, लकडी, तुम्बी या बिना छिद्र वाला बास का पात्र रख सकता है।[112] यह सत्य है कि जैन परम्परा मे जितना अहिंसा का सूक्ष्म विश्लेषण है उतना सूक्ष्म विश्लेषण वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे नही हुआ है। वैदिक ऋषियो ने जल, अग्नि, वायु आदि मे जीव नही माना है। यही कारण है जलस्नान को वहाँ अधिक महत्त्व दिया है। पचाग्नि तपने को धर्म माना है, कन्द-मूल के आहार को ऋषियो के लिए श्रेष्ठ आहार स्वीकार किया है। तथापि हिंसा से बचने का उपदेश तो दिया ही गया है। वैदिक ऋषियो ने सत्य बोलने पर बल दिया है। अप्रिय सत्य भी वर्ज्य है। वही सत्य बोलना अधिक श्रेयस्कर है जिससे सभी प्राणियो का हित हो। इसी तरह अन्य व्रतों की तुलना महाव्रतो के साथ वैदिक परम्परा की दृष्टि से की जा सकती है।

महाव्रत और दस शील

जिस प्रकार जैन परम्परा मे महाव्रतो का निरूपण है, वैसा महाव्रतो के नाम से वर्णन बौद्ध परम्परा मे नही है। विनयपिटक महावग्ग मे बौद्ध भिक्षुओ के दस शील का विधान है जो महाव्रतो के साथ मिलते-जुलते हैं। वे दस शील इस प्रकार है—१. प्राणातिपातविरमण, २ अदत्तादानविरमण, ३ कामेसु-मिच्छाचारविरमण, ४ मूसावाद (मृषावाद)-विरमण, ५ सुरा-मेरय-मद्य (मादक द्रव्य)-विरमण, ६ विकाल भोजनविरमण, ७ नृत्य-गीत-वादित्रविरमण, ८. माल्य धारण, गन्धविलेपन-विरमण, ९ उच्चशय्या, महाशय्या-विरमण, १० जातरूप-रजतग्रहण (स्वर्ण-रजतग्रहण)-विरमण।[113] महाव्रत और शील मे भावो की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है। सुत्तनिपात[114] के अनुसार भिक्षु के लिए मन-वचन-काय और कृत, कारित तथा अनुमोदित हिंसा का निषेध किया गया है। विनयपिटक[115] के विधानानुसार भिक्षु के लिए वनस्पति तोडना, भूमि को खोदना निषिद्ध है क्योकि उससे हिंसा होने की सभावना है। बौद्ध परम्परा ने पृथ्वी, पानी आदि मे जीव की कल्पना तो की है पर भिक्षु आदि के लिए सचित्त जल आदि का निषेध नही है, केवल जल छानकर पीने का विधान है। जैन श्रमण की तरह बौद्ध भिक्षुक भी अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति भिक्षावृत्ति के द्वारा करता है। विनयपिटक मे कहा गया है—जो भिक्षु बिना दी हुई वस्तु को लेता है वह श्रमणधर्म से च्युत हो जाता है।[116] सयुक्तनिकाय मे लिखा है यदि भिक्षुक फूल को सूघता है तो भी वह चोरी करता है।[117] बौद्ध भिक्षुक के लिए स्त्री का स्पर्श भी वर्ज्य माना है।[118] आनन्द ने तथागत बुद्ध से प्रश्न किया—भदन्त! हम किस प्रकार स्त्रियो के साथ वर्ताव करें? तथागत ने कहा—उन्हे मत देखो। आनन्द ने पुन जिज्ञासा व्यक्त की—यदि वे दिखाई दे जाए तो हम उनके साथ कैसा व्यवहार करे? तथागत ने कहा—उनके साथ वार्तालाप नही करना चाहिए। आनन्द ने कहा—भदन्त! यदि वार्तालाप का प्रसग उपस्थित हो जाय तो क्या करना चाहिए? बुद्ध ने कहा—उस

---

११२ मनुस्मृति ६।५३-५४
११३ विनयपिटक महावग्ग १।५६
११४ सुत्तनिपात ३७।२७
११५ विनयपिटक, महावग्ग १।७८।२
११६ विनयपिटक, पातिमोक्ख पराजिक धम्म, २
११७ सयुक्त निकाय ९।१४
११८ विनयपिटक, पातिमोक्ख सघादि सेस धम्म, २

समय भिक्षु को अपनी स्मृति को सभाले रखना चाहिए।[११९] भिक्षु का एकान्त स्थान मे भिक्षुणी के साथ बैठना भी अपराध माना गया है।[१२०] बौद्ध भिक्षु के लिए विधान है कि वह स्वय असत्य न बोले, अन्य किसी से असत्य न बुलवावे और न किसी को असत्य बोलने की अनुमति दे।[१२१] बौद्ध भिक्षु सत्यवादी होता है, वह न किसी की चुगली करता है और न कपटपूर्ण वचन ही बोलता है।[१२२] बौद्ध भिक्षु के लिए विधान है—जो वचन सत्य हो, हितकारी हो, उसे बोलना चाहिए।[१२३] जो भिक्षु जानकर असत्य वचन बोलता है, अपमानजनक शब्दो का प्रयोग करता है तो वह प्रायश्चित्त योग्य दोष माना है।[१२४] गृहस्थोचित भाषा बोलना भी बौद्ध भिक्षु के लिए वर्ज्य है।[१२५] बौद्ध भिक्षु के लिए परिग्रह रखना वर्जित माना गया है। भिक्षु को स्वर्ण, रजत आदि धातुओ को ग्रहण नहीं करना चाहिए।[१२६] जीवनयापन के लिए जितने वस्त्र-पात्र अपेक्षित हैं, उनसे अधिक नही रखना चाहिए। यदि वह आवश्यकता से अधिक सग्रह करता है तो दोषी है। बौद्ध भिक्षु तीन चीवर, भिक्षापात्र, पानी छानने के लिए छन्ने से युक्त पात्र आदि सीमित वस्तुएं रख सकता है।[१२७] यहा तक कि भिक्षु के पास जो सामग्री है उसका अधिकारी सघ है। वह उन वस्तुओ का उपयोग कर सकता है पर उनका स्वामी नही है। शेष जो चार शील हैं—मद्यपान, विकाल भोजन, नृत्यगीत, उच्चशय्यावर्जन आदि का महाव्रत के रूप मे उल्लेख नही है पर वे श्रमणो के लिए वर्ज्य हैं।

दस भिक्षुशील और महाव्रतो मे समन्वय की दृष्टि से देखा जाय तो बहुत कुछ समानता है, तथापि जैन श्रमणो की आचारसहिता मे और बौद्धपरम्परा की आचारसंहिता में अन्तर है। बौद्धपरम्परा मे भी दस भिक्षुणीलो के लिए मन-वचन-काया तथा कृत, कारित, अनुमोदित की नव कोटियो का विधान है पर वहाँ औद्देशिक हिंसा से बचने का विधान नही है। जैन श्रमण के लिए यह विधान है कि यदि कोई गृहस्थ साधु के निमित्त हिंसा करता है और यदि श्रमण को यह ज्ञात हो जाय तो वह आहार आदि ग्रहण नही करता। जैन श्रमण के निमित्त भिक्षा तैयार की हुई हो या आमत्रण दिया गया हो तो वह किसी भी प्रकार का आमत्रण स्वीकार नही करता। बुद्ध, अपने लिए प्राणीवध कर जो मास तैयार किया होता उसे निषिद्ध मानते थे पर सामान्य भोजन के सम्बन्ध मे, चाहे वह भोजन औद्देशिक हो, वे स्वीकार करते थे। वे भोजन आदि के लिए दिया गया आमत्रण भी स्वीकार करते थे। इसका मूल कारण है अग्नि, पानी आदि मे बौद्धपरम्परा ने जैनपरम्परा की तरह जीव नही माने हैं। इसलिए सामान्य भोजन मे औद्देशक दृष्टि से होने वाली हिंसा की ओर उनका ध्यान ही नही गया। बौद्धपरम्परा मे दस शीलो का विधान होने पर भी उन शीलो के पालन मे बौद्ध भिक्षु

---

११९ दीघनिकाय २।३

१२० विनयपिटक, पातिमोक्ख पाचित्तिय धम्म, ३०

१२१ सुत्तनिपात, २६।२२

१२२ सुत्तनिपात ५३।७, ९

१२३ मज्झिमनिकाय, अभयराजसुत्त

१२४ विनयपिटक, पातिमोक्ख पाचित्तिय धम्म १-२

१२५ संयुक्तनिकाय ४२।११

१२६. विनयपिटक, महावग्ग १।५६, चूल्लवग्ग १२।१, पातिमोक्ख-निसग्ग पाचित्तिय १८

१२७ बुद्धिज्म इट्स कनेक्शन विद ब्राह्मणिज्म एण्ड हिन्दूज्म, पृ. ८१-८२

—मोनियर विलियम्स चौखम्बा, वाराणसी १९६४ ई.

और भिक्षुणिया उतनी सजग नही रही जितनी जैन परम्परा के श्रमण और श्रमणिया सजग रही। आज भी जैन श्रमण-श्रमणियो के द्वारा महाव्रतो का पालन जागरूकता के साथ किया जाता है जबकि बौद्ध और वैदिक परम्परा उनके प्रति बहुत ही उपेक्षाशील हो गई है। नियमो के पालन की शिथिलता ने ही तथागत बुद्ध के बाद बौद्ध भिक्षु सघ मे विकृतिया पैदा कर दी।

महाव्रतो के वर्णन के पश्चात् प्रस्तुत अध्ययन मे विवेक-युक्त प्रवृत्ति पर बल दिया है। जिस कार्य मे विवेक का आलोक जगमगा रहा है, वह कार्य कर्मबन्धन का कारण नही और जिस कार्य मे विवेक का अभाव है, उस कार्य से कर्मबन्धन होता है। जैसे प्राचीन युग मे योद्धागण रणक्षेत्र मे जब जाते थे तब शरीर पर कवच धारण कर लेते थे। कवच धारण करने से शरीर पर तीक्ष्ण बाणो का कोई असर नही होता, कवच से टकराकर बाण नीचे गिर जाते, वैसे ही विवेक के कवच को धारण कर साधक जीवन के क्षेत्र मे प्रवृत्ति करता है। उस पर कर्मबन्धन के बाण नही लगते। विवेकी साधक सभी जीवो के प्रति समभाव रखता है, उसमे 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की भव्य भावना अगडाइयाँ लेती है। इसलिए वह किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार से पीडा नही पहुचाता। इस अध्ययन मे इस बात पर भी बल दिया गया है कि पहले ज्ञान है उसके पश्चात् चारित्र है। ज्ञान के अभाव मे चारित्र सम्यक् नही होता। पहले जीवो का ज्ञान होना चाहिए, जिसे षड्जीवनिकाय का परिज्ञान है, वही जीवो के प्रति दया रख सकेगा। जिसे यह परिज्ञान ही नही है—जीव क्या है, अजीव क्या है, वह जीवो की रक्षा किस प्रकार कर सकेगा? इसीलिए मुक्ति का आरोहक्रम जानने के लिए इस अध्ययन मे बहुत ही उपयोगी सामग्री दी गई है। जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्मप्रज्ञप्ति, चारित्रधर्म, चरण और धर्म ये छहो षड्जीवनिकाय के पर्यायवाची है।[१२८] निर्युक्तिकार भद्रबाहु के अभिमतानुसार यह अध्ययन आत्मप्रवादपूर्व मे उदधृत है।[१२९]

एषणा : विश्लेषण

पाचवे अध्ययन का नाम पिण्डैषणा है। पिण्ड शब्द 'पिंडी सघाते' धातु से निर्मित है। चाहे सजातीय पदार्थ हो या विजातीय, उस ठोस पदार्थ का एक स्थान पर इकट्ठा हो जाना पिण्ड कहलाता है। पिण्ड शब्द तरल और ठोस दोनो के लिए व्यवहृत हुआ है। आचाराग मे पानी की एषणा के लिए पिण्डैषणा शब्द का प्रयोग हुआ है।[१३०] सक्षेप मे यदि कहा जाय तो अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य, इन सभी की एषणा के लिए पिण्डैषणा शब्द का व्यवहार हुआ है।[१३१] दोषरहित शुद्ध व प्रासुक आहार आदि की एषणा करने का नाम पिण्डैषणा है। पिण्डैषणा का विवेचन आचारचूला मे विस्तार से हुआ है। उसी का सक्षेप मे निरूपण इस अध्ययन मे है। स्थानागसूत्र मे पिण्डैषणा के सात प्रकार बताए है—१ ससृष्टा—देय वस्तु से लिप्त हाथ या कडछी आदि से देने पर भिक्षा ग्रहण करना, २. असससृष्ट—दय वस्तु से अलिप्त हाथ या कडछी आदि से भिक्षा देने पर ग्रहण करना, ३ उदधृता—अपने प्रयोजन के लिए राधने के पात्र से दूसरे पात्र मे निकाला हुआ आहार ग्रहण करना, ४ अल्पलेपा—अल्पलेप वाली यानी चना, बादाम, पिस्ते, द्राक्षा आदि रूखी वस्तुए लेना, ५ अवगृहीता—खाने के लिए थाली मे परोसा हुआ आहार लेना, ६ प्रगृहीता—परोसने के लिए कडछी या

१२८ जीवाजीवाभिगमो, आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
तत्तो चरित्तधम्मो, चरणे धम्मे अ एगट्ठा॥ —दशवैकालिक निर्युक्ति ४।२३३

१२९ आयप्पवायपुव्वा निव्वूढा होइ धम्मपन्नत्ती॥ —दशवैकालिक नि० १।१६

१३० आचाराग

१३१ पिण्डनिर्युक्ति, गाथा ६

चम्मच आदि से निकाला हुआ आहार लेना या खाने वाले व्यक्ति के द्वारा अपने हाथ से कवल उठाया गया हो पर खाया न गया हो, उसे ग्रहण करना, ७. उज्झितधर्मा—जो भोजन अमनोज्ञ होने के कारण परित्याग करने योग्य है, उसे लेना।[१३२]

भिक्षा : ग्रहणविधि—प्रस्तुत अध्ययन मे बताया है कि श्रमण आहार के लिए जाए तो गृहस्थ के घर मे प्रवेश करके शुद्ध आहार की गवेषणा करे। वह यह जानने का प्रयास करे कि यह आहार शुद्ध और निर्दोष है या नही ?[१३३] इस आहार को लेने से पश्चात्कर्म आदि दोष तो नही लगेंगे ? यदि आहार अतिथि आदि के लिए बनाया गया हो तो उसे लेने पर गृहस्थ को दोबारा तैयार करना पडेगा या गृहस्थ को ऐसा अनुभव होगा कि मेहमान के लिए भोजन बनाया और मुनि बीच मे ही आ टपके। उनके मन मे नफरत की भावना हो सकती है, अत वह आहार भी ग्रहण नही करना चाहिए। किसी गर्भवती महिला के लिए बनाया गया हो—वह खा रही हो और उसको अन्तराय लगे वह आहार भी श्रमण ग्रहण न करे।[१३४] गरीब और भिखारियो के लिए तैयार किया हुआ आहार भिक्षु के लिए अकल्पनीय है।[१३५] दो साझीदारो का आहार हो और दोनो की पूर्ण सहमति न हो तो वह आहार भी भिक्षु ग्रहण न करे।[१३६] इस तरह भिक्षु प्राप्त आहार की आगम के अनुसार एषणा करे। वह भिक्षा न मिलने पर निराश नही होता। वह यह नही सोचता कि यह कैसा गाव है, जहाँ भिक्षा भी उपलब्ध नही हो रही है ! प्रत्युत वह सोचता है कि अच्छा हुआ, आज मुझे तपस्या का सुनहरा अवसर अनायास प्राप्त हो गया। भगवान् महावीर ने कहा है कि श्रमण को ऐसी भिक्षा लेनी चाहिए जो नवकोटि परिशुद्ध हो अर्थात् पूर्ण रूप से अहिंसक हो। भिक्षु भोजन के लिए न स्वय जीव-हिसा करे और न करवाए तथा न हिंसा करते हुए का अनुमोदन करे। न वह स्वय अन्न पकाए, न पकवाए और न पकाते हुए का अनुमोदन करे तथा न स्वय मोल ले, न लिवाए और न लेने वाले का अनुमोदन करे।[१३७]

श्रमण को जो कुछ भी प्राप्त होता है, वह भिक्षा से ही प्राप्त होता है। इसीलिए कहा है—"सव्व से जाइय होई णत्थि किंचि अजाइय।"[१३८] भिक्षु को सभी कुछ मागने से मिलता है, उसके पास ऐसी कोई वस्तु नही होती जो अयाचित हो। याचना परीषह है। क्योकि दूसरो के सामने हाथ पसारना सरल नही है, अहिंसा के पालक श्रमण को वैसा करना पडता है किन्तु उसकी भिक्षा पूर्ण निर्दोष होती है। वह भिक्षा के दोषों को टालता है। आगम मे भिक्षा के निम्न दोष बताये है—उद्गम और उत्पादना के सोलह-सोलह और एषणा के दस, ये सभी मिलाकर बयालीस दोष होते है। पाँच दोष परिभोगैषणा के हैं। जो दोष गृहस्थ के द्वारा लगते हैं, वे दोष उद्गम दोष कहलाते है, ये दोष आहार की उत्पत्ति सम्बन्धी है। साधु के द्वारा लगने वाले दोष उत्पादना के दोष कहलाते है। आहार की याचना करते समय ये दोष लगते है। साधु और गृहस्थ दोनो के द्वारा जो

१३२ (क) आयारचूला १।१४१-१४७ (ख) स्थानाग ७।५४५ वृत्ति, पत्र ३८६
(ग) प्रवचनसारोद्धार गाथा ७३९-७४२
१३३ दशवैकालिक ५।१।२७, ५।१।५६
१३४. वही ५।१।२५
१३५ वही ५।१।३९
१३६ वही ५।१।४७
१३७ णवकोडि परिसुद्धेभिक्खे पण्णत्ते । —स्थानाग ९।३
१३८ उत्तराध्ययन २।२८

दोष लगते हैं, वे एषणा के दोष कहलाते हैं। ये दोष विधिपूर्वक आहार न लेने और विधिपूर्वक आहार न देने तथा शुद्धाशुद्ध की छानबीन न करने से उत्पन्न होते है। भोजन करते समय भोजन की सराहना और निन्दा आदि करने से जो दोष पैदा होते है वे परिभोगैषणा दोष कहलाते है। आगमसाहित्य मे ये सैतालीस दोष यत्र-तत्र वर्णित हैं, जैसे --स्थानाग के नौवे स्थान मे आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्रजात, अध्यवतरक, पूतिकर्म, कृतकृत्य, प्रामित्य, आच्छेद्य, अनिसृष्ट और अभ्याहृत ये दोष बताए है।[१३९] निशीथसूत्र मे धातृपिण्ड, दूतीपिण्ड, निमित्तपिण्ड, आजीवापण्ड, वनीपकपिण्ड, चिकित्सापिण्ड, कोपपिण्ड, मानपिण्ड, मायापिण्ड, लोभपिण्ड, विद्यापिण्ड, मत्रपिण्ड, चूर्णपिण्ड, योगपिण्ड और और पूर्व-पश्चात-सस्तव ये बतलाये है।[१४०] आचार-चूला मे परिवर्तन का उल्लेख है।[१४१] भगवती मे अगार, धूम, सयोजना, प्राभृतिका और प्रमाणातिरेक दोष मिलते हैं।[१४२] प्रश्नव्याकरण मे मूल कर्म का उल्लेख है। दशवैकालिक मे उद्भिन्न, मालापहृत, अध्यवतर, शङ्कित, अक्षित, निक्षिप्त, पिहित, सहृत्र, दायक, उन्मिश्र, अपरिणत, लिप्त और छर्दित ये दोष आए है।[१४३] उत्तराध्ययन मे कारणातिक्रान्त दोष का उल्लेख है।[१४४]

श्रमणाचार : एक अध्ययन

छठे अध्ययन मे महाचारकथा का निरूपण है। तृतीय अध्ययन मे क्षुल्लक आचारकथा का वर्णन था। उस अध्ययन की अपेक्षा यह अध्ययन विस्तृत होने से महाचारकथा है। तृतीय अध्ययन मे अनाचारो की एक सूची दी गई है किन्तु इस अध्ययन मे विविध दृष्टियो से अनाचारो पर चिन्तन किया गया है। तृतीय अध्ययन की रचना श्रमणो को अनाचारो से बचाने के लिए सकेतसूची के रूप मे की गई है, तो इस अध्ययन मे साधक के अन्तर्मानस मे उद्बुद्ध हुए विविध प्रश्नो के समाधान हेतु दोषो से बचने का निदश है। दूसरे शब्दो मे यो कह सकते है कि तृतीय अध्ययन मे अनाचारो का सामान्य निरूपण है तो इस अध्ययन मे विशेष निरूपण है। यत्र-तत्र उत्सर्ग और अपवाद की भी चर्चा की गई है। उत्सर्ग मे जो बाते निषिद्ध कही गई है, अपवाद म वे परिस्थितिवश ग्रहण भी की जाती है। इस प्रकार इस अध्ययन मे सहेतुक निरूपण हुआ है।

आध्यात्मिक साधना की परिपूर्णता के लिए श्रद्धा और ज्ञान, ये दोनो पर्याप्त नही है किन्तु उसके लिए आचरण भी आवश्यक है। बिना सम्यक आचरण के आध्यात्मिक परिपूर्णता नही आती। सम्यक् आचरण के पूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आवश्यक है। सम्यग्दर्शन का अर्थ श्रद्धा है और सम्यग्ज्ञान अर्थ-तत्त्व का साक्षात्कार है, श्रद्धा और ज्ञान की परिपूर्णता जैन दृष्टि से तेरहवे गुणस्थाव मे हो जाती है किन्तु सम्यक्चारित्र की पूर्णता न होने से मोक्ष प्राप्त नही होता। चौदहवे गुणस्थान मे सम्यक्चारित्र की पूर्णता होती है तो उसी क्षण आत्मा मुक्त हो जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक पूर्णता की दिशा मे उठाया गया कदम, अन्तिम चरण है। सम्यग्दर्शन परिकल्पना है, सम्यग्ज्ञान प्रयोग विधि है और सम्यकचारित्र

---

१३९ स्थानाग ९।६२
१४० निशीथ, उद्देशक १२
१४१. आचारचूला १।२१
१४२. भगवती ७।१
१४३ दशवैकालिक, अध्ययन ५
१४४. उत्तराध्यय २६।३३

प्रयोग है। तीनो के संयोग से सत्य का पूर्ण साक्षात्कार होता है। ज्ञान का सार आचरण है और आचरण का सार निर्वाण या परमार्थ को उपलब्धि है।

छठे अध्ययन का अपर नाम 'धर्मार्थकाम' मिलता है। मूर्धन्य मनीषियो की कल्पना है कि इस अध्ययन की चौथी गाथा मे 'हृदि धमत्थकामाण' शब्द का प्रयोग हुआ है, इस कारण इस अध्ययन का नाम धर्मार्थकाम हो गया है। यहाँ पर धर्म से अभिप्राय मोक्ष है। श्रमण मोक्ष की कामना करता है। इसलिए श्रमण का विशेषण धर्मार्थकाम है। श्रमण का आचार-गोचर अत्यधिक कठोर होता है। उस कठोर आचार का प्रतिपादन प्रस्तुत अध्ययन मे हुआ है, इसलिए सम्भव है इसी कारण इस अध्ययन का नाम धर्मार्थकाम रखा हो।[१४४]

इस अध्ययन मे स्पष्ट शब्दो मे लिखा है, जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण हैं उन्हे मुनि सयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते और उनका उपयोग करते है। सब जीवो के त्राता ज्ञातपुत्र महावीर ने वस्त्र आदि को परिग्रह नही कहा है। मूर्च्छा परिग्रह है, ऐसा महर्षि ने कहा। श्रमणो के वस्त्रो के सम्बन्ध मे दो परम्पराए रही हैं—दिगम्बर परम्परा की दृष्टि से श्रमण वस्त्र धारण नही कर सकता तो श्वेताम्बर परम्परा की दृष्टि मे श्रमण वस्त्र को धारण कर सकता है। आचारचूला मे श्रमण को एक वस्त्र सहित, दो वस्त्र सहित आदि कहा है।[१४६] उत्तराध्ययन मे श्रमण की सचेल और अचेल इन दोनो अवस्थाओ का वर्णन है।[१४७] आचाराग मे जिनकल्पी श्रमणो के लिए शीतऋतु व्यतीत हो जाने पर अचेल रहने का भी विधान है।[१४८] प्रशमरतिप्रकरण मे आचार्य उमास्वाति ने धर्म-देहरक्षा के निमित्त अनुज्ञात पिण्ड, शैया आदि के साथ वस्त्रैषणा का भी उल्लेख किया है।[१४९] उन्होने उसी ग्रन्थ मे श्रमणो के लिए कौनसी वस्तु कल्पनीय है और कौनसी वस्तु अकल्पनीय है, इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए वस्त्र का उलेख किया है।[१५०] तत्त्वार्थभाष्य मे एषणासमिति के प्रसग मे वस्त्र का उल्लेख किया है।[१५१] इस प्रकार श्वेताम्बरसाहित्य मे अनेक स्थलो पर वस्त्र का विधान श्रमणो के लिए प्राप्त है। आगमसाहित्य मे सचेलता और अचेलता दोनो प्रकार के विधान मिलते है। अब प्रश्न यह है —श्रमण निर्ग्रन्थ अपरिग्रही होता है तो फिर वह वस्त्र किस प्रकार रख सकता है? भडोपकरण को भी परिग्रह माना गया है।[१५२] पर आचार्य शय्यम्भव ने कहा—"जो आवश्यक वस्त्र-पात्र सयम साधना के

१४५ धम्मस्स फल मोक्खो, सासयमउल सिव अणावाह।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मत्थकाम त्ति॥ —दशवैकालिक नि. २६५

१४६ जे निग्गथे तरुणे जुगव बलव अप्पायके थिरसघयणे से एग वत्थ धारिज्जा नो बीय। —आयार-चूला ५।२

१४७ एगयाऽचेलए होई, सचेले आवि एगया।
एय धम्महिय नच्चा, नाणी नो परिदेवए॥ —उत्तराध्ययन २।१३

१४८ उवाइक्कते खलु हेमते गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नाइ वत्थाइ परिट्ठविज्जा, अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले। —आचाराग ८।५०-५३

१४९. पिण्ड शय्या वस्त्रैषणादि पात्रैषणादि यच्चान्यत्।
कल्प्याकल्प्य सद्धर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम्॥ —प्रशमरतिप्रकरण १३८

१५०. किंचिच्छुद्ध कल्प्यमकल्प्य स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम्।
पिण्ड. शय्या वस्त्र पात्र वा भैषजाद्य वा॥ —प्रशमरतिप्रकरण १४५

१५२ अन्नपानरजोहरणपात्रचीवरादीना धर्मसाधनानामाश्रयस्य च उद्गमोत्पादनैषणादोष वर्जनम्—एषणा समिति। —तत्त्वार्थभाष्य ९।५

लिए हैं वे परिग्रह नही हैं, क्योकि उन वस्त्र-पात्रो मे श्रमण की मूर्च्छा नही होती है। वे तो सयम और लज्जा के लिऐ धारण किए जाते हैं। वे वस्त्र-पात्र सयम-साधना मे उपकारी होते है, इसलिये वे धर्मोपकरण है।" इस प्रकार परिग्रह की बहुत ही सटीक परिभाषा प्रस्तुत अध्ययन मे दी गई है।[१५३]

वाणी-विवेक : एक विश्लेषण

सातवे अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। जैनधर्म ने वाणी के विवेक पर अत्यधिक बल दिया है। मौन रहना वचनगुप्ति है। विवेकपूर्वक वाणी का प्रयोग करना भाषासमिति है। श्रमण असत्य, कर्कश, अहितकारी एव हिंसाकारी भाषा का प्रयोग नही कर सकता। वह स्त्रीविकथा, राजदेशविकथा, चोरविकथा, भोजनविकथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति, का परिहार करता है।[१५४] वह अशुभप्रवृत्तियो मे जाते हुए वचन का निरोध कर वचनगुप्ति का पालन करता है।[१५५] मुनि प्रमाण, नय, निक्षेप से युक्त अपेक्षा दृष्टि से हित, मित, मधुर तथा सत्य भाषा बोलता है।[१५६]

श्रमण साधना की उच्च भूमि पर अवस्थित है अत उसे अपनी वाणी पर बहुत ही नियत्रण और सावधानी रखनी होती है। श्रमण सावद्य और अनवद्य भाषा का विवेक रखकर बोलता है। इस प्रकार वचन-समिति का लाभ वक्ता और श्रोता दोनो को मिलता है। प्रस्तुत अध्ययन मे श्रमण को किस प्रकार की भाषा बोलनी चाहिए और किस प्रकार की भाषा नही बोलनी चाहिए, इस सम्बन्ध मे चिन्तन करते हुए कहा गया है कि श्रमण असत्य भाषा का प्रयोग न करे और सत्यासत्य यानी मिश्रभाषा का भी प्रयोग न करे, क्योकि असत्य और मिश्र भाषा सावद्य होती है। सावद्यभाषा से कर्मबन्ध होता है। जिस श्रमण को सावद्य और अनवद्य का विवेक नही है, उसके लिए मौन रहना ही अच्छा है। आचारागसूत्र मे मुनि के लिए मौन का विधान है—'मुणी मोण समादाय धुणे कम्मसरीरग'—मुनि मौन-सयम को स्वीकार कर कर्मबन्धनो का क्षय करता है। सत्य और असत्यामृषा अर्थात व्यवहार भाषा का प्रयोग यदि निरवद्य है तो उस भाषा का प्रयोग श्रमण कर सकता है। वस्तु के यथार्थ स्वरूप को बताने वाली भाषा सत्य होने पर भी यदि किसी के दिल मे दर्द पैदा करती है तो वह भाषा श्रमण को नही बोलनी चाहिए। जैसे अन्धे को अन्धा कहना, काने को काना कहना। सत्य होने पर भी वह अवक्तव्य है। बोलने के पूर्व साधक को सोचना चाहिए कि वह क्या बोल रहा है? विज्ञ बोलने से पूर्व सोचता है तो मूर्ख बोलने के बाद मे सोचता है। एक बार जो अपशब्द मुँह से निकल जाते है, उनके बाद केवल पश्चात्ताप हाथ लगता है। वाणी के असयम ने ही महाभारत का युद्ध करवाया, जिसमे भारत की विशिष्ट विभूतियाँ नष्ट हो गईं। इस प्रकार वाणी का प्रयोग आचार का प्रमुख अग होने के कारण उस पर सूक्ष्म चितन इस अध्ययन मे किया गया है। विवेकहीन वाणी और विवेकहीन मौन दोनो पर ही निर्युक्तिकार भद्रबाहु ने चिन्तन किया है। जिस श्रमण मे बोलने का विवेक है, भाषासमिति का पूर्ण परिज्ञान है वह बोलता हुआ भी मौनी है और अविवेकपूर्वक जो मौन रखता है, उसका मौन वाणी तक तो सीमित रहता है पर अन्तर्मानस मे विकृत भावनाए पनप रही हो तो वह मौन सच्चा मौन नही है। उदाहरण के रूप मे कोई श्रमण रुग्ण है, गुरुजन रात्रि मे शिष्य को आवाज देते हैं। यदि शिष्य सोचे कि इस

---

१५३ तिविहे परिग्गहे प त —कम्मपरिग्गहे, सरीरपरिग्गहे, बाहिरभडमत्तपरिग्गहे। —स्थानाग ३।९५
१५४-१५६ दशवैकालिक

समय बोले तो सेवा के लिए उठना पडेगा, अत: मौन रख लूं। इस प्रकार सोच कर वह उत्तर नही देता है तो वह मौन सही मौन नही है। अत साधक को हर दृष्टि से चिन्तनपूर्वक बोलना चाहिए, उसकी वाणी पर विवेक का अंकुश हो। धम्मपद मे कहा है कि जो भिक्षु वाणी मे सयत है, मितभाषी है तथा विनीत है वही धर्म और अर्थ को प्रकाशित करता है, उसका भाषण मधुर होता है।[१५७] सुत्तनिपात मे उल्लेख है कि भिक्षु को अविवेकपूर्ण वचन नही बोलना चाहिए। वह विवेकपूर्ण वचन का ही प्रयोग करे। आचार्य मनु ने लिखा है मुनि को सदैव सत्य ही बोलना चाहिए।[१५८] महाभारत शान्तिपर्व मे वचन-विवेक पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[१५९]

इन्द्रियसंयम : एक चिन्तन

प्रस्तुत अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व से उद्धृत है।[१६०] आठवे अध्ययन का नाम आचारप्रणिधि है। आचार एक विराट् निधि है। जिस साधक को यह अपूर्व निधि प्राप्त हो जाती है, उसके जीवन का कायाकल्प हो जाता है। उसका प्रत्येक व्यवहार अन्य साधको की अपेक्षा पृथक् हो जाता है उसका चलना बैठना, उठना सभी विवेकयुक्त होता है। वह इन्द्रियरुपी अश्वो को सन्मार्ग की ओर ले जाता है। उसकी मन-वचन-कर्म और इन्द्रियां उच्छृखल नही होती। वह शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श मे समभाव धारण करता है। राग-द्वेष के वशीभूत होकर कर्मबन्धन नही करता है--इन्द्रियो पर वह नियन्त्रण करता है। इन्द्रिय-सयम श्रवण-जीवन का अनिवार्य कर्त्तव्य है। यदि श्रमण इन्द्रियो पर सयम नही रखेगा तो श्रमणजीवन मे प्रगति नही कर सकेगा। प्राय इन्द्रियसुखो की प्राप्ति के लिए ही व्यक्ति पतित आचरण करता है। इन्द्रियसयम का अर्थ है—इन्द्रियो को अपने विषयो के ग्रहण से रोकना एव गृहीत विषय मे राग-द्वेष न करना। हमारे अन्तर्मानस मे इन्द्रियो के विषयो के प्रति जो आकर्षण उत्पन्न होता है उनका नियमन किया जाए।[१६१] श्रमण अपनी पाँचो इन्द्रियो को सयम मे रखे और जहाँ भी सयममार्ग मे पतन की सभावना हो वहाँ उन विषयो पर सयम करे। जैसे सकट समुपस्थित होने पर कछुआ अपने अगो का समाहरण कर लेता है वैसे ही श्रमण इन्द्रियो की प्रवृत्तियो का समाहरण करे।[१६२] बौद्ध श्रमणो के लिए भी इन्द्रियसयम आवश्यक माना है। धम्मपद मे तथागत बुद्ध ने कहा—नेत्रो का सयम उत्तम है, कानो का सयम उत्तम है, घ्राण और रसना का सयम भी उत्तम है, शरीर, वचन, और मन का सयम भी उत्तम है, जो भिक्षु सर्वत्र सभी इन्द्रियो का सयम रखता है वह दु खो से मुक्त हो जाता है।[१६३] स्थितप्रज्ञ का लक्षण बतलाते हुए श्रीकृष्ण ने वीर अर्जुन को कहा—जिसकी इन्द्रियाँ वशीभूत है वही स्थितप्रज्ञ है।[१६४] इस प्रकार भारतीय परम्परा मे चाहे श्रमण हो, चाहे सन्यासी हो उसके लिए इन्द्रिय-सयम आवश्यक है।[१६५]

---

१५७ धम्ममद, ३६३
१५८. मनुस्मृति, ६।४६
१५९. महाभारत, शान्तिपर्व, १०९।१५-१९
१६० सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धी उ। — दशवैकालिक निर्युक्ति, १७
१६१ आचाराग, २।१५।१।१८०
१६२. सूत्रकृतांग, १।८।१।१६
१६३ धम्मपद, ३६०-३६१
१६४ श्रीमद्भगवद्गीता, २।६१
१६५ वही, २।५९, ६४

कषाय : एक विश्लेषण

श्रमण को इन्द्रियनिग्रह के साथ कषायनिग्रह भी आवश्यक है। कषाय शब्द क्रोध, मान, माया, लोभ का सग्राहक है। यह जैन पारिभाषिक शब्द है। कष और आय इन दो शब्दो के मेल से कषाय शब्द निर्मित हुआ है। 'कष' का अर्थ—ससार, कर्म या जन्म-मरण है और आय का अर्थ लाभ है। जिससे प्राणी कर्मों से बाधा जाता है अथवा जिसमे जीव पुन-पुन जन्म-मरण के चक्र मे पडता है वह कषाय है।[१६६] स्थानांगसूत्र के अनुसार पापकर्म के दो स्थान है—राग और द्वेष। राग माया और लोभ रूप है तथा द्वेष क्रोध और मानरूप है।[१६७] आचार्य जिनभद्र क्षमाश्रमण ने अपने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ विशेषावश्यकभाष्य मे नयो के आधार से राग-द्वेष का कषायो के साथ क्या सम्बन्ध है, इस पर चिन्तन किया है। सग्रहनय की दृष्टि से क्रोध और मान ये दोनो द्वेष रूप हैं। माया और लोभ ये दोनो राग रूप है। इसका कारण यह है कि क्रोध और मान मे दूसरे के प्रति अहित की भावना सन्निहित है। व्यवहारनय की दृष्टि मे क्रोध, मान और माया ये तीनो द्वेष के अन्तर्गत आते है। माया मे भी दूसरे का अहित हो, इस प्रकार की विचारधारा रहती है। लोभ एकाकी राग मे है, क्योकि उसमे ममत्व भाव है। ऋजुसूत्रनय की दृष्टि से केवल क्रोध ही द्वेष रूप है। मान-माया-लोभ ये तीनो कषाय न रागप्रेरित है और न द्वेषप्रेरित। वे जब राग से उत्प्रेरित होते है तो राग रूप हैं और जब द्वेष से प्रेरित होते हैं तो द्वेष रूप है।[१६८] चारो कषाय राग-द्वेषात्मक पक्षो की आवेगात्मक अभिव्यक्तियाँ हैं।

क्रोध एक उत्तेजक आवेग है जिससे विचारक्षमता और तर्कशक्ति प्राय शिथिल हो जाती है। भगवतीसूत्र मे क्रोध के द्रव्यक्रोध और भावक्रोध ये दो भेद किए हैं।[१६९] द्रव्यक्रोध से शारीरिक चेष्टाओ मे परिवर्तन आता है और भावक्रोध से मानसिक अवस्था मे परिवर्तन आता है। क्रोध का अनुभूत्यात्मक पक्ष भावक्रोध है और क्रोध का अभिव्यक्त्यात्मक पक्ष द्रव्यक्रोध है। क्रोध का आवेग सभी मे एक सदृश नही होता, वह तीव्र और मद होता है, तीव्रतम क्रोध अनतानुबन्धी क्रोध कहलाता है। तीव्रवर क्रोध अप्रत्याख्यानी क्रोध के नाम से विश्रुत है। तीव्र क्रोध प्रत्याख्यानी क्रोध की सज्ञा से पुकारा जाता है और अल्प क्रोध सज्वलन क्रोध के रूप मे पहचाना जाता है।

मान कषाय का दूसरा प्रकार है। मानव मे स्वाभिमान की मूल प्रवृत्ति है। जब वह प्रवृत्ति दम्भ और प्रदर्शन का रूप ग्रहण करती है तब मानव के अन्त करण मे मान की वृत्ति समुत्पन्न होती है। अहकारी मानव अपनी अहवृत्ति का सम्पोषण करता रहता है। अह के कारण वह अपने-आप को महान् और दूसरे को हीन समझता है। प्राय जाति, कुल, बल, ऐश्वर्य, बुद्धि, ज्ञान, सौन्दर्य, अधिकार आदि पर अहकार आता है। इन्हे आगम की भाषा मे मद भी कहा गया है। अहभाव की तीव्रता और मन्दता के आधार पर मान कषाय के भी चार प्रकार होते हैं—तीव्रतम मान अनन्तानुबन्धी मान, तीव्रतर मान अप्रत्याख्यानी मान, तीव्र मान प्रत्याख्यानी मान, अल्प मान सज्वलन के नाम से जाने और पहचाने जाते हैं।

---

१६६ अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड ३, पृ ३९५

१६७ स्थानाग २।२

१६८ विशेषावश्यकभाष्य २६६८-२६७१

१६९ भगवतीसूत्र १२।५।२

कपटाचार माया कषाय है, माया जीवन की विकृति है। मायावी का जीवन निराला होता है। वह 'विषकुम्भ पयोमुखम्' होता है। माया कषाय के भी तीव्रता और मदता की दृष्टि से पूर्ववत् चार प्रकार होते हैं।

लोभ मोहनीय कर्म के उदय से चित्त मे उत्पन्न होने वाली तृष्णा व लालसा है। लोभ दुर्गुणो की जड है। ज्यो-ज्यो लाभ होता है त्यो-त्यो लोभ बढता चला जाता है। अनन्त आकाश का कही ओर-छोर नही, वैसे ही लोभ भी अछोर है। लोभ कषाय के भी तीव्रता और मदता के आधार पर पूर्ववत् चार प्रकार होते है। इस प्रकार कषाय के सोलह प्रकार होते है। कषाय को चाण्डालचौकडी भी कहा गया है। कषाय की तीव्रता अर्थात् अनन्तानुबन्धी कषाय के फलस्वरूप जीव अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता है, वह सम्यग्दृष्टि नही बन सकता। अप्रत्याख्यानी कषाय मे श्रावक धर्म स्वीकार नही कर सकता। अप्रत्याख्यानी कषाय आशिक चारित्र को नष्ट कर देता है। प्रत्याख्यानी कषाय की विद्यमानता मे साधुत्व प्राप्त नही होता। ये तीनो प्रकार के कषाय विशुद्ध निष्ठा को और चारित्र धर्म को नष्ट करते हैं। सज्वलन कषाय मे पूर्ण वीतरागता की उपलब्धि नही होती। इसलिए आत्महित चाहने वाला साधक पाप की वृद्धि करने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ —इन चारो दोषो को पूर्णतया छोड दे।[170] ये चारो दोष सद्गुणो को नाश करने वाले हैं। क्रोध से प्रीति का, मान से विनय का, माया से मित्रता का और लोभ से सभी सद्गुणो का नाश होता है।[171] योगशास्त्र म आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है—मान विनय, श्रुत, शील का घातक है, विवेकरूपी नेत्रो को नष्ट कर मानव को अन्धा बना देता है। जब क्रोध उत्पन्न होता है तो सर्वप्रथम उसी मानव को जलाता है जिसमे वह उत्पन्न हुआ है। माया अविद्या और असत्य को उत्पन्न करती है। वह शीलरूपी लहलहाते हुए वृक्ष को नष्ट करने मे कुल्हाडी के सदृश है। लोभ से समस्त दोष उत्पन्न होते हैं। वह सद्गुणो को निगलने वाला राक्षस है और जितने भी दु ख हैं उनका वह मूल है।[172] प्रश्न यह है कि कषाय को किस प्रकार जीता जाए? इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य शय्यम्भव ने लिखा है—शान्ति से क्रोध को, मृदुता से मान को, सरलता से माया को और सन्तोष से लोभ को जीतना चाहिये।[173] आचार्य कुन्दकुन्द[174] तथा आचार्य हेमचन्द्र[175] ने भी शय्यम्भव का ही अनुसरण किया है तथा बौद्ध ग्रन्थ धम्मपद[176] मे भी यही स्वर झकृत हुआ है कि अक्रोध से क्रोध को, साधुता से असाधुता को जीतें और कृपणता को दान से, मिथ्याभाषण को सत्य मे पराजित करे। महाभारतकार व्यास ने भी इसी सत्य की अपने शब्दो मे पुनरावृत्ति की है।[177] कषाय वस्तुत आत्म-विकास मे अत्यधिक बाधक तत्त्व है। कषाय के नष्ट होने पर ही भव-परम्परा का अन्त होता है। कषायो से मुक्त होना ही सही दृष्टि से मुक्ति है।

१७० दशवैकालिक ८।३७
१७१ वही ८।३८
१७२ योगशास्त्र ४।१०।१८
१७३ दशवैकालिक ८।३९
१७४ नियमसार ११५
१७५ योगशास्त्र ४।२३
१७६ धम्मपद २२३
१७७ महाभारत, उद्योगपर्व ३९।४२

जैन परम्परा मे जिस प्रकार कषायवृत्ति त्याज्य मानी गई है उसी प्रकार बौद्ध परम्परा मे भी कषाय-वृत्ति को हेय माना है। तथागत बुद्ध ने साधको को सम्बोधित करते हुए कहा—क्रोध का परित्याग करो, अभिमान को छोड दो, समस्त सयोजनों को तोड दो, जो पुरुष नाम तथा रूप मे आसक्त नही होता अर्थात् उनका लोभ नहीं करता, जो अकिंचन है उस पर क्लेशों का आक्रमण नही होता। जो समुत्पन्न होते हुए क्रोध को उसी तरह निग्रह कर लेता है जैसे सारथी अश्व को, वही सच्चा सारथी है। शेष तो मात्र लगाम पकडने वाले है।[१७८] जो क्रोध करता है वह वैरी है तथा जो मायावी है उस व्यक्ति को वृषल (नीच) जानो।[१७९] सुत्तनिपात मे बुद्ध ने स्पष्ट शब्दो मे कहा—जो मानव जाति, धन और गोत्र का अभिमान करता है और अपने बन्धुओ का अपमान करता है वह उसी के पराभव का कारण है।[१८०] मायावी मरकर नरक मे उत्पन्न होता है और दुर्गति को प्राप्त करता है।[१८१] इस प्रकार बौद्धधर्म मे कषाय या अशुभ वृत्तियो के परिहार पर बल दिया है। बौद्ध-दर्शन की भाति कषाय-निरोध का सकेत वैदिकदर्शन मे भी प्राप्त है। छान्दोग्योपनिषद् मे कषाय शब्द राग-द्वेष के अर्थ मे प्रयुक्त है।[१८२] महाभारत मे कषाय शब्द अशुभ मनोवृत्तियो के अर्थ मे आया है। वहा पर इस बात पर प्रकाश डाला है कि मानव जीवन के तीन सोपान हैं—ब्रह्मचर्य-आश्रम, गृहस्थ-आश्रम और वानप्रस्थ-आश्रम। इन तीन आश्रमो मे कषाय को पराजित कर फिर सन्यास-आश्रम का अनुसरण करे।[१८३] श्री मद्-भगवद्गीता मे कषाय के अर्थ मे ही आसुरी वृत्ति का उल्लेख है। दम्भ, दर्प, मान, क्रोध आदि आसुरी सपदा है।[१८४] अहकारी मानव बल, दर्प, काम, क्रोध के अधीन होकर अपने और दूसरो के शरीर मे अवस्थित परमात्मा से विद्वेष करने वाले होते है।[१८५] काम, क्रोध और लोभ ये नरक के द्वार हैं, अत इन तीनो द्वारो का त्याग कर देना चाहिए और जो इनको त्याग कर कल्याणमार्ग का अनुसरण करता है वह परमगति को प्राप्त करता है। इस प्रकार हम देखते हैं वैदिक-परम्परा के ग्रन्थो मे भी क्रोध, मान आदि आवेगो को आध्यात्मिक विकास मे बाधक माना है। यह आवेग सामाजिक सम्बन्धो मे भी कटुता उत्पन्न करते है। सामाजिक और आध्यात्मिक दृष्टि से इनका परिहार आवश्यक है। जितना-जितना कषायो का आवेग कम होगा उतनी ही साधना मे स्थिरता और परिपक्वता आयेगी। इसलिए आठवे अध्ययन मे कहा गया है—श्रमण को कषाय का निग्रह कर मन का सुप्रणिधान करना चाहिए। इस अध्ययन मे इस बात पर बल दिया गया है कि श्रमण इन्द्रिय और मन का अप्रशस्त प्रयोग न करे, वह प्रशस्त प्रयोग करे। यह शिक्षा ही इस अध्ययन की अन्तरात्मा है। इसीलिए निर्युक्तिकार की दृष्टि से 'आचारप्रणिधि' नाम का भी यही हेतु है।[१८६]

---

१७८ धम्मपद २२१-२२२
१७९ सुत्तनिपात ६।१४
१८० सुत्तनिपात ७।१
१८१ सुत्तनिपात ४०।१३।१
१८२ छान्दोग्य-उपनिषद् ७।२६।२
१८३ महाभारत, शान्तिपर्व २४४।३
१८४. श्रीमद्भगवद्गीता १६।४
१८५ वही १६।१८
१८६ तम्हा उ अप्पसत्थ, पणिहाण उज्झिऊण समणेण।
पणिहाणमि पसत्थे, भणिओ 'आयारपणिहि' त्ति ॥ —दश. निर्युक्ति ३०८

'प्रणिधि' शब्द का प्रयोग कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र मे अनेक बार किया है। वहाँ गूढ़ पुरुष-प्रणिधि, राग-प्रणिधि, दूत-प्रणिधि आदि प्रणिधि पद वाले कितने ही प्रकरण हैं। अर्थशास्त्र के व्याख्याकार ने प्रणिधि का अर्थ कार्य मे लगाना तथा व्यापार किया है। प्रस्तुत आगम मे जो प्रणिधि शब्द का प्रयोग हुआ है वह साधक को आचार मे प्रवृत्त करना या आचार मे सलग्न करना है। इस अध्ययन मे कषायविजय, निद्राविजय, अट्टहास-विजय के लिए सुन्दर सकेत किए गए है। आत्मगवेषी साधको के लिए सयम और स्वाध्याय मे सतत सलग्न रहने की प्रबल प्रेरणा दी गई है। जो सयम और स्वाध्याय मे रत रहते हैं वे स्व-पर का रक्षण करने मे उसी प्रकार समर्थ होते है जैसे आयुधो से सज्जित वीर सैनिक सेना से घिर जाने पर भी अपनी और दूसरो की रक्षा कर लेता है।[१८७]

विनय : एक विश्लेषण

नौवे अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। विनय तप है और तप धर्म है। अत साधक को विनय धारण करना चाहिए।[१८८] विनय का सम्बन्ध हृदय से है। जिसका हृदय कोमल होता है वह गुरुजनो का विनय करता है। अहकार पत्थर की तरह कठोर होता है, वह टूट सकता है पर झुक नही सकता। जिसका हृदय नम्र है, मुलायम है, उसकी वाणी और आचरण सभी मे कोमलता की मधुर सुवास होती है। विनय आत्मा का ऐसा गुण है, जिससे आत्मा सरल, शुद्ध और निर्मल बनता है। विनय शब्द का प्रयोग आगम-साहित्य मे अनेक स्थलो पर हुआ है। कही पर विनय नम्रता के अर्थ मे व्यवहृत हुआ है तो कही पर आचार और उसकी विविध धाराओ के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जैन परम्परा मे विनय शब्द बहुत ही व्यापक अर्थ को लिए हुए है। श्रमण भगवान् महावीर के समय एक सम्प्रदाय था जो विनयप्रधान था।[१८९] वह बिना किसी भेदभाव के सबका विनय करता था। चाहे श्रमण मिले, चाहे ब्राह्मण मिले, चाहे गृहस्थ मिले, चाहे राजा मिले या रक मिले, चाहे हाथी मिले या घोडा मिले, चाहे कूकर मिले या शूकर मिले, सब का विनय करते रहना ही उसका सिद्धान्त था।[१९०] इस मत के वशिष्ठ, पाराशर, जतुकर्म, वाल्मीकि, रोमहर्षिणी, सत्यदत्त, व्यास, तेलापुत्र, इन्द्रदत्त आदि बत्तीस आचार्य थे जो विनयवाद का प्रचार करते थे।[१९१] पर जैनधर्म वैनयिक नही है, उसने आचार को प्रधानता दी है। ज्ञाताधर्मकथा मे सुदर्शन नामक श्रेष्ठी ने थावच्चापुत्र अणगार से जिज्ञासा प्रस्तुत की—आपके धर्म और दर्शन का मूल क्या है? थावच्चापुत्र अणगार ने चिन्तन की गहराई मे डुबकी लगाकर कहा—सुदर्शन! हमारे धर्म और दर्शन का मूल विनय है और वह विनय अगार और अनगार विनय के रूप मे है। अगार और अनगार के जो व्रत और महाव्रत है उनको धारण करना ही अगार-अनगार विनय है।[१९२] इस अध्ययन मे विनय-समाधि का निरूपण है तो उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन का नाम विनयश्रुत दिया गया है।

---

१८७ दशवैकालिक, ८।६१

१८८ विणओ वि तवो तवो वि धम्मो तम्हा विणओ पउजियव्वो। —प्रश्नव्याकरण, संवरद्वार ३।५

१८९ सूत्रकृताग १।१२।१

१९० प्रवचनसारोद्धार सटीक, उत्तरार्द्ध, पत्र ३४४

१९१ (क) तत्त्वार्थराजवार्तिक ८।१, पृष्ठ ५६२
(ख) उत्तराध्ययन बृहद्वृत्ति, प ४४४

१९२ ज्ञातासूत्र ५

यह सहज जिज्ञासा हो सकती है कि विनय को तप क्यो कहा गया है ? सद्गुरुओ के साथ नम्रतापूर्ण व्यवहार करना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है। फिर ऐसी क्या विशेषता है जो उसे तप की कोटि मे परिगणित किया गया है ? उत्तर मे निवेदन है कि विनय शब्द जैन साहित्य मे तीन अर्थों मे व्यवहृत हुआ है—

१. विनय—अनुशासन,
२ विनय—आत्मसयम—सदाचार,
३ विनय—नम्रता—सद्व्यवहार।

उत्तराध्ययन के प्रथम अध्ययन मे जो विनय का विश्लेषण हुआ है वहाँ विनय अनुशासन के अर्थ मे आया है। सद्गुरुओ की आज्ञा का पालन करना, उनकी भावनाओ को लक्ष्य मे रखकर कार्य करना, गुरुजन शिष्य के हित के लिए कभी कठोर शब्दो मे हित-शिक्षा प्रदान करे, उपालम्भ भी दे तो शिष्य का कर्त्तव्य है कि वह गुरु की बात को बहुत ही ध्यानपूर्वक सुने और उसका अच्छी तरह से पालन करे। 'फरुस पि अणुसासण'[१९३] अनुशासन चाहे कितना भी तेजतर्रार क्यो न हो, शिष्य सदा यही सोचे कि गुरुजन मेरे हित के लिए यह आदेश दे रहे हैं, इसलिए मुझे गुरुजनो के हितकारी, लाभकारी आदेश का पालन करना चाहिए,[१९४] उनके आदेश की अवहेलना करना और अनुशासन पर क्रोध करना, मेरा कर्त्तव्य नही है।[१९५]

विनय का दूसरा अर्थ आत्मसयम है। उत्तराध्ययन मे 'अप्पा चेव दमेयव्वो'—आत्मा का दमन करना चाहिए, जो आत्मा का दमन करता है, वह सर्वत्र सुखी होता है। विवेकी साधक सयम और तप के द्वारा अपने आप पर नियत्रण करता है। जो आत्मा विनीत होता है, वह आत्मसयम कर सकता है, वही व्यक्ति गुरुजनो के अनुशासन को भी मान सकता है, क्योकि उसके मन मे गुरुजनो के प्रति अनन्त आस्था होती है। वह प्रतिपल, प्रतिक्षण यही सोचता है कि गुरुजन जो भी मुझे कहते है, वह मेरे हित के लिए है मेरे सुधार के लिए है। कितना गुरुजनो का मुझ पर स्नेह है कि जिसके कारण वे मुझे शिक्षा प्रदान करते है। शिष्य गुरुजनो के समक्ष विनीत मुद्रा मे बैठता है, गुरुजनो के समक्ष कम बोलता है या मौन रहता है। गुरुजनो का विनय कर उन्हे सदा प्रसन्न रखता है और ज्ञान-आराधना मे लीन रहता है। विनीत व्यक्ति अपने सद्गुणो के कारण आदर का पात्र बनता है। विनय ऐसा वशीकरण मत्र है जिससे सभी सद्गुण खिचे चले आते है। अविनीत व्यक्ति सटे हुए कानो वाली कुतिया सदृश है, जो दर-दर ठोकरे खाती है, अपमानित होती है। लोग उससे घृणा करते हैं। वैसे ही अविनीत व्यक्ति सदा अपमानित होता है। इस तरह विनय के द्वारा आत्मसयम तथा शील-सदाचार की भी पावन प्रेरणा दी गई है।

विनय का तृतीय अर्थ नम्रता और सद्व्यवहार है। विनीत व्यक्ति गुरुजनो के समक्ष बहुत ही नम्र होकर रहता है। वह उन्हे नमस्कार करता है तथा अञ्जलिबद्ध होकर तथा कुछ झुककर खडा रहता है। उसके प्रत्येक व्यवहार मे विवेकयुक्त नम्रता रहती है। वह न गुरुओ के आसन से बहुत दूर बैठता है, न सटकर बैठता है। वह इस मुद्रा मे बैठता है जिसमे अहकार न झलके। वह गुरुओ की आशातना नही करता। इस प्रकार वह नम्रतापूर्ण सद्व्यवहार करता है।

---

१९३ उत्तराध्ययन १।२९
१९४ उत्तराध्ययन १।२७
१९५ उत्तराध्ययन १।९

आचार्य नेमिचन्द्र के प्रवचनसारोद्धार ग्रन्थ पर आचार्य सिद्धसेनसूरि ने एक वृत्ति लिखी है। उसमे उन्होने लिखा है—क्लेश समुत्पन्न करने वाले आठ कर्मशत्रुओ को जो दूर करता है—वह विनय है—'विनयति क्लेशकारकमष्टप्रकार कर्म इति विनय'। विनय से अष्टकर्म नष्ट होते हैं। चार गति का अन्त कर वह साधक मोक्ष को प्राप्त करता है। विनय सद्गुणो का आधार है। जो विनीत होता है उसके चारो ओर सम्पत्ति मडराती है और अविनीत के चारो ओर विपत्ति। भगवती,[१९६] स्थानाग,[१९७] औपपातिक[१९८] मे विनय के सात प्रकार बताए है—१ ज्ञानविनय, २. दर्शनविनय, ३ चारित्रविनय, ४ मनविनय, ५ वचनविनय, ६ कायविनय ७ लोकोपचारविनय। ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि को विनय कहा गया है, क्योकि उनके द्वारा कर्मपुदगलो का विनयन यानी विनाश होता है। विनय का अर्थ यदि हम भक्ति और बहुमान करे तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि के प्रति भक्ति और बहुमान प्रदर्शित करना है। जिस समाज और धर्म मे ज्ञान और ज्ञानियो का सम्मान और बहुमान होता है, वह धर्म और समाज आगे बढता है। ज्ञानी धर्म और समाज के नेत्र हैं। ज्ञानी के प्रति विनीत होने से धर्म और समाज मे ज्ञान के प्रति आकर्षण बढ़ता है। इतिहास साक्षी है कि यहूदी जाति विद्वानो का बडा सम्मान करती थी, उन्हे हर प्रकार की सुविधाए प्रदान करती थी, जिसके फलस्वरूप आइन्सटीन जैसा विश्वविश्रुत वैज्ञानिक उस जाति मे पैदा हुआ अनेक मूर्धन्य वैज्ञानिक और लेखक यहूदी जाति की देन है। अमेरिका और रूस मे जो विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति हुई है, उसका मूल कारण भी वहाँ पर वैज्ञानिको और साहित्यकारों का सम्मान रहा है। भारत मे भी राजा गण जब कवियो को उनकी कविताओ पर प्रसन्न होकर लाखो रुपया पुरस्कार-स्वरूप दे देते थे तब कविगण जम कर के साहित्य की उपासना करते थे। गीर्वाण-गिरा का जो साहित्य समृद्ध हुआ उसका मूल कारण विद्वानो का सम्मान था। ज्ञानविनय के पाच भेद औपपातिक मे प्रतिपादित हैं।

दर्शनविनय मे साधक सम्यग्दृष्टि के प्रति विश्वास तथा आदर भाव प्रकट करता है। इस विनय के दो रूप है- -१ शुश्रूषाविनय, २ अनाशातनाविनय। औपपातिक के अनुसार दर्शनविनय के भी अनेक भेद हैं। देव, गुरु, धर्म आदि का अपमान हो, इस प्रकार का व्यवहार नही करना चाहिए। आशातना का अर्थ ज्ञान आदि सद्गुणो की आय - प्राप्ति के मार्ग को अवरुद्ध करना है।[१९९]

अर्हत्, अर्हत्प्ररूपित धर्म, आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, कुल, गण, संघ, क्रियावादी, सम आचार वाले श्रमण, मतिज्ञान आदि पाच ज्ञान के धारक, इन पन्द्रह की आशातना न करना, बहुमान करना आदि पैंतालीस अनाशातनाविनय के भेद प्रतिपादित है। सामायिक आदि पाँच चारित्र और चारित्रवान् के प्रति विनय करना चारित्रविनय है। अप्रशस्त प्रवृत्ति से मन को दूर रखकर मन से प्रशस्त प्रवृत्ति करना मनोविनय है। सावद्य वचन की प्रवृत्ति न करना और वचन की निरवद्य व प्रशस्त प्रवृत्ति करना वचनविनय है। काया की प्रत्येक प्रवृत्ति मे जागरूक रहना, चलना, उठना, बैठना, सोना आदि सभी प्रवृत्तियाँ उपयोगपूर्वक करना प्रशस्त काय-विनय है। लोकव्यवहार की कुशलता जिस विनय से सहज रूप से उपलब्ध होती है वह लोकोपचार विनय है। उसके सात प्रकार है। गुरु आदि के सन्निकट रहना, गुरुजनो की इच्छानुसार कार्य करना, गुरु के कार्य मे सहयोग

१९६ भगवती २५।७
१९७ स्थानागसूत्र, ७।१३०
१९८ औपपातिक, तपवर्णन
१९९. आसातणा णाम नाणादिआयस्स सातणा। —आवश्यकचूर्णि (आचार्य जिनदासगणि)

करना, कृत उपकारो का स्मरण करना, उनके प्रति कृतज्ञ भाव रखकर उनके उपकार से उऋण होने का प्रयास करना, रुग्ण श्रमण के लिए औषधि एव पथ्य की गवेषणा करना, देश एव काल को पहचान कर काम करना, किसी के विरुद्ध आचरण न करना, इस प्रकार विनय की व्यापक पृष्ठभूमि है, जिसका प्रतिपादन इस अध्ययन मे किया गया है। यदि शिष्य अनन्त ज्ञानी हो जाए तो भी गुरु के प्रति उसके अन्तर्मानस मे वही श्रद्धा और भक्ति होनी चाहिए जो पूर्व मे थी। जिन ज्ञानवान् जनो से किंचिन्मात्र भी ज्ञान प्राप्त किया है उनके प्रति सतत विनीत रहना चाहिए। जब शिष्य मे विनय के सस्कार प्रबल होते है तो वह गुरुओ का सहज रूप से स्नेह-पात्र बन जाता है। अविनीत असविभागी होता है और जो असविभागी होता है उसका मोक्ष नही होता।[२००] इस अध्ययन मे चार समाधियो का उल्लेख है—विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तपसमाधि और आचार-समाधि। आचार्य हरिभद्र[२०१] ने समाधि का अर्थ आत्मा का हित, सुख और स्वास्थ्य किया है। विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा आत्मा का हित होता है, इसलिए वह समाधि है। अगस्त्यसिह स्थविर ने समारोपण तथा गुणो के समाधान अर्थात् स्थिरीकरण या स्थापन को समाधि कहा है। उनके अभिमतानुसार विनय, श्रुत, तप और आचार के समारोपण या इनके द्वारा होने वाले गुणो के समाधान को विनयसमाधि, श्रुतसमाधि, तप-समाधि तथा आचारसमाधि कहा है।[२०२] विनय, श्रुत, तप तथा आचार, इनका क्या उद्देश्य है, इसकी सम्यक जानकारी प्रस्तुत अध्ययन मे है। यह अध्ययन नौवे पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत है।[२०३]

भिक्षु : एक चिन्तन

दसवे अध्ययन का नाम सभिक्षु अध्ययन है। जो भिक्षा कर अपना जीवन-यापन करता है, वह भिक्षु कहलाता है। भिक्षा भिखारी भी मागते है, वे दर-दर हाथ और झोली पसारे हुए दीन स्वर मे भीख मागते है। जो उन्हे भिक्षा देता है, उन्हे वे आशीर्वाद प्रदान करते है और नही देने वाले को कटु वचन कहते है, शाप देते है तथा रुष्ट होते है। भिखारी की भिक्षा केवल पेट भरने के लिए होती है। उस भिक्षा मे कोई पवित्र उद्देश्य नही होता और न कोई शास्त्रसम्मत विधिविधान ही होता है। वह भिक्षा अत्यन्त निम्न स्तर की होती है। इस प्रकार की भिक्षा पौरुषघ्नी भिक्षा है।[२०४] वह भिक्षा पुरुषार्थ का नाश कर अकर्मण्य और आलसी बनाती है। ऐसे पुरुषत्वहीन मागखोर व्यक्तियो की सख्या दिन-प्रतिदिन बढ रही है। वे माग कर खाने ही नही, जमा भी करते है और दुर्व्यसनो मे उसका उपयोग करते हैं।

श्रमण अदीनभाव से अपनी श्रमण-मर्यादा और अभिग्रह के अनुकूल जो भिक्षा प्राप्त होती है उसे प्रसन्नता से ग्रहण करता है। भिक्षा मे रूक्ष और नीरस पदार्थ मिलने पर वह रुष्ट नही होता और उत्तम स्वादिष्ट पदार्थ मिलने पर तुष्ट नही होता। भिक्षा मे कुछ भी प्राप्त न हो तो भी वह खिन्न नही होता और मिलने पर हर्षित भी नही होता। वह दोनो ही स्थितियो मे समभाव रखता है। इसलिए श्रमण की भिक्षा

---

२०० असविभागी न हु तस्स मोक्खो। —दशवै ९।२।२२

२०१ समाधान समाधि —परमार्थत आत्मनो हित सुख स्वास्थ्यम्।
—दशवैकालिक हरिभद्रीया वृत्ति, पत्र २५६

२०२ ज विणयसमारोवण विणयेण वा ज गुणाण समाधाण एस विणयसमाधी भवतीति।
—दशवैकालिक अगस्त्यसिह चूर्णि

२०३ दशवैकालिकनिर्युक्ति १८

२०४ अष्टक प्रकरण ५।१

सामान्य भिक्षा न होकर सर्वसम्पत्करी भिक्षा है। सर्वसम्पत्करी[२०५] भिक्षा, देने वाले और लेने वाले दोनो के लिए कल्याणकारी है। जिसमे सवेग, निर्वेद, विवेक, सुशीलससर्ग, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, विनय, शांति मार्दव, आर्जव, तितिक्षा, आराधना, आवश्यक शुद्धि प्रभृति सद्गुणो का साम्राज्य हो वह भिक्षु है।

सूत्रकृतागसूत्र में भिक्षु की परिभाषा इस प्रकार है—जो निरभिमान, विनीत, पापमल को धोने वाला, दान्त, बन्धनमुक्त होने योग्य, निर्ममत्व, विविध प्रकार के परीषहो और उपसर्गों से अपराजित, अध्यात्मयोगी, विशुद्ध, चारित्रसम्पन्न, सावधान, स्थितात्मा, यशस्वी, विवेकशील तथा परदत्त भोजी है, वह भिक्षु है।[२०६] जो कर्मों का भेदन करता है वह भिक्षु कहलाता है। भिक्षु के भी द्रव्यभिक्षु और भावभिक्षु ये दो प्रकार है। द्रव्यभिक्षु माँग कर खाने के साथ ही त्रस, स्थावर जीवो की हिसा करता है, सचित्त भोजी है, स्वय पका कर खाता है, सभी प्रकार की सावद्य प्रवृत्ति करता है, सचय करके रखता है, परिग्रही है। भावभिक्षु वह है जो पूर्ण रूप से अहिसक है, सचित्तत्यागी है, तीन करण, तीन योग से सावद्य प्रवृत्ति का परित्यागी है आगम मे वर्णित भिक्षु के जितने भी सदगुण है, उन्हे धारण करता है।

भिक्षु की गौरव-गरिमा अतीत काल से ही चली आई है। जैन, बौद्ध और वैदिक—तीनो ही परम्पराओ मे भिक्षु शीर्षस्थ स्थान पर आसीन रहा है। वैदिक परम्परा मे सन्यासी पूज्य रहा है, उसे दो हाथो वाला साक्षात् परमेश्वर माना है—'द्विभुज परमेश्वर'। बौद्ध परम्परा मे भी भिक्षु का महत्त्व कम नही रहा है, भिक्षु धर्म-सघ का अधिनायक रहा है। जैन परम्परा मे भी भिक्षु को परम-पूज्य स्थान प्राप्त है। भिक्षु का जीवन सदगुणो का पुञ्ज होता है, वह समाज, राष्ट्र के लिए प्रकाशस्तम्भ की तरह उपयोगी होता है। वह स्वकल्याण के साथ ही परकल्याण मे लगा रहता है। धम्मपद मे भिक्षु के अनेक लक्षण बताए गये हैं, जो प्रस्तुत अध्ययन मे बताए गए लक्षणो से मिलते-जुलते हैं। विश्व के अनेक मूर्धन्य मनीषियो ने भिक्षु की विभिन्न परिभाषाए की है। सभी परिभाषाओ का सार सक्षेप मे यह है कि भिक्षु का जीवन सामान्य मानव के जीवन से अलग-थलग होता है। वह विकार और वासनाओ से एव राग-द्वेष से ऊपर उठा हुआ होता है। उसके जीवन मे हजारो सद्गुण होते है। वह सद्गुणो से जन-जन के मन को आकर्षित करता है। वह स्वय तिरता है और दूसरो को तारने का प्रयास करता है। भगवान् महावीर स्वय भिक्षु थे। जब कोई अपरिचित व्यक्ति उनसे पूछता कि आप कौन हैं तो सक्षेप मे वे यही कहते कि मैं भिक्षु हूँ। भिक्षु के श्रमण, निर्ग्रन्थ, मुनि, साधु आदि पर्यायवाची शब्द हैं। भिक्षुचर्या की दृष्टि से इस अध्ययन का बहुत ही महत्त्व है। श्रमण जीवन की महिमा उसके त्याग और वैराग्य युक्त जीवन मे रही हुई है।

रति : विश्लेषण

दशवैकालिक के दस अध्ययनो के पश्चात् दो चूलिकाए हैं। चूलिकाओ के सम्बन्ध मे हम पूर्व पृष्ठो मे लिख चुके है। प्रथम चूलिका 'रतिवाक्या' के नाम से विश्रुत है। रति मोहनीयकर्म की अट्ठाईस प्रकृतियो मे से एक प्रकृति है, जो नोकषाय के अन्तर्गत है। जैन मनीषियो ने 'नो' शब्द को साहचर्य के अर्थ मे ग्रहण किया है। क्रोध, मान, माया, लोभ ये प्रधान कषाय है। प्रधान कषायो के सहचारी भाव अथवा उनकी सहयोगी

---

२०५ सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा।
वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता। —अष्टक प्रकरण ५।१

२०६ सूत्रकृताग १।१६।३

मनोवृत्तियां नोकषाय कहलाती है [२०७] पाश्चात्य विचारक फ्रायड ने कामवासना को प्रमुख मूल वृत्ति माना है और भय आदि को प्रमुख आवेग माना है। जैनदर्शन की दृष्टि से कामभावना सहकारी कषाय है या उप-आवेग है, जो कषाय की अपेक्षा कम तीव्र है। जिन मनोभावों के कारण कषाय उत्पन्न होते है, वे नोकषाय हैं। इन्हे उपकषाय भी कहते हैं। ये भी व्यक्ति के जीवन को बहुत प्रभावित करते है। नोकषाय व्यक्ति के आन्तरिक गुणो को उतना प्रत्यक्षत प्रभावित नही करते जितना शारीरिक और मानसिक स्थिति को करते हैं। जबकि कषाय शारीरिक और मानसिक स्थिति को प्रभावित करने के साथ ही सम्यक् दृष्टिकोण को, आत्मनियन्त्रण आदि को प्रभावित करते है, जिससे साधक न तो सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकता है और न आचार को। रति का अर्थ है अभीष्ट पदार्थों पर प्रीतिभाव या इन्द्रियविषयो मे चित्त की अभिरतता। रति के कारण ही आसक्ति और लोभ की भावनाए प्रबल होती है।[२०८]

असयम मे सहज आकर्षण होता है पर त्याग और सयम मे सहज आकर्षण नही होता। इन्द्रिय-वासनाओ की परितृप्ति मे जो सुखानुभूति प्रतीत होती है वह सुखानुभूति इन्द्रिय-विषयों के विरोध मे नही होती। इसका मूल कारण है—चारित्रमोहनीय कर्म की प्रबलता। जब मोह के परमाणु सक्रिय होते है तब भोग मे आनन्द की अनुभूति होती है। जिस व्यक्ति को सर्प का जहर चढ़ता है, उसे नीम के पत्ते भी मधुर लगते है। जिनमे मोह के जहर की प्रबलता है, उन्हे भोग प्रिय लगते है। जिनमे चारित्र-मोह की अल्पता है, जो निर्मोही है, उन्हे भोग प्रिय नही लगते और न वे सुखकर ही प्रतीत होते है। भोग मे सुख आदि की अनुभूति का आधार चारित्रमोहनीयकर्म है।

मोह एक भयकर रोग के सदृश है, जो एक बार के उपचार से नही मिटता। उसके लिए सतत उपचार और सावधानी की आवश्यकता है। जरा सी असावधानी रोग को उभार देती है। मोह का उभार न हो और साधक मोह से विचलित न हो, इस दृष्टि से प्रस्तुत चूलिका अध्ययन का निर्माण हुआ है। आचार्य हरिभद्र ने लिखा है कि इस चूलिका मे जो अठारह स्थान प्रतिपादित है, वे उसी प्रकार है—जैसे घोडे के लिए लगाम, हाथी के लिए अकुश, नौका के लिए पताका है। इस अध्ययन के वाक्य साधक के अन्तर्मानस मे सयम के प्रति रति समुत्पन्न करते हैं, जिसके कारण इस अध्ययन का नाम रतिवाक्या रखा गया है।[२०९]

इस अध्ययन मे साधक को साधना मे स्थिर करने हेतु अठारह सूत्र दिए है। वे सूत्र साधक को साधना मे स्थिर कर सकते है। गृहस्थाश्रम मे विविध प्रकार की कठिनाइया है, उन कठिनाइयो को पार करना सहज नही है। मानव कामभोगो मे आसक्त होता है और सोचता है कि इनमे सच्चा सुख रहा हुआ है, पर वे काम-भोग अल्पकालीन और साररहित हैं। उस क्षणिक सुख के पीछे दु ख की काली निशा रही हुई है। सयम के विराट् आनन्द को छोडकर यदि कोई साधक पुन गृहस्थाश्रम को प्राप्त करने की इच्छा करता है तो वह वमन कर पुन उसे चाटने के सदृश है। सयमी जीवन का आनन्द स्वर्ग के रगीन सुखो की तरह है, जबकि असयमी जीवन का कष्ट नरक की दारुण वेदना की तरह है। गृहस्थाश्रम मे अनेक क्लेश है, जबकि श्रमण जीवन क्लेश-रहित है। इस प्रकार इस अध्ययन मे विविध दृष्टियो से सयमी जीवन का महत्त्व प्रतिपादित है। वैदिक परम्परा

---

२०७ अभिधानराजेन्द्रकोष, खण्ड ४, पृष्ठ २१६१

२०८ (क) अभिधानराजेन्द्रकोष खण्ड ६, पृ. ४६७

(ख) यदुदयाद्विषयादिष्वौत्सुक्य सा रति। —सर्वार्थसिद्धि ८-९

२०९ दशवैकालिक हरिभद्रीया वृत्ति, पत्र २८०

के ग्रन्थो मे गृहस्थाश्रम को महत्त्व दिया गया है। आपस्तभ धर्मसूत्र मे गृहस्थाश्रम को सर्वश्रेष्ठ आश्रम कहा है। मनुस्मृति मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान करने वाला गृहस्थ ही सर्वश्रेष्ठ है।[२१०] वही तीन आश्रमो का पालन करता है। महाभारत मे भी गृही के आश्रम को ज्येष्ठ कहा है।[२११] किन्तु श्रमण-सस्कृति मे श्रमण का महत्त्व है। वहाँ पर आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध मे कोई चिन्तन नही है। यदि कोई साधक गृहस्थाश्रम मे रहता भी है तो उसके अन्तर्मानस मे यह विचार सदा रहते हैं कि कब मैं श्रमण बनू, वह दिन कब आयेगा, जब मैं श्रमण धर्म को स्वीकार कर अपने जीवन को पावन बनाऊगा। उत्तराध्ययनसूत्र मे छद्मवेशधारी इन्द्र और नमि राजर्षि का मधुर सवाद है। इन्द्र ने राजर्षि से कहा— आप यज्ञ करे, श्रमण-ब्राह्मणो को भोजन करायें, उदार मन से दान दें और उसके पश्चात् श्रमण बनें। प्रत्युत्तर मे राजर्षि ने कहा—जो मानव प्रतिमास दस लाख गाये दान मे देता है, उसके लिए भी सयम श्रेष्ठ है अर्थात् दस लाख गायो के दान से भी श्रमणधर्म का पालन करना अधिक श्रेष्ठ है। उसी श्रमण जीवन की महत्ता का यहाँ चित्रण है। इसलिए गृहवास बन्धन स्वरूप है और सयम मोक्ष का पर्याय बताया गया है।[२१२] जो साधक दृढ़प्रतिज्ञ होगा वह देह का परित्याग कर देगा किन्तु धर्म का परित्याग नही करेगा। महावायु का तीव्र प्रभाव भी क्या सुमेरु पर्वत को विचलित कर सकता है? नही! वैसे ही साधक भी विचलित नही होता। वह तीन गुप्तियो से गुप्त होकर जिनवाणी का आश्रय ग्रहण करता है।

गुप्ति एक विवेचन

जैन परम्परा मे तीन गुप्तियो का विधान है। गुप्ति शब्द गोपन अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, जिसका तात्पर्य है- खाच लेना, दूर कर लेना, मन-वचन-काया को अशुभ प्रवृत्तियो से हटा लेना। गुप्ति शब्द का दूसरा अर्थ ढकने वाला या रक्षाकवच है। अर्थात् आत्मा की अशुभ प्रवृत्तियो से रक्षा करना गुप्ति है। गुप्तिया तीन हैं— मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, कायगुप्ति। मन को अप्रशस्त, कुत्सित और अशुभ विचारो से दूर रखना, सरम्भ समारम्भ और आरम्भ की हिसक प्रवृत्तियो मे जाते हुए मन को रोकना मनोगुप्ति है।[२१३] असत्य, कर्कश, अहितकारी एव हिसाकारी भाषा का प्रयोग नही करना, स्त्रीकथा, राजकथा, चोरकथा, भोजनकथा आदि वचन की अशुभ प्रवृत्ति और असत्य वचन का परिहार करना वचनगुप्ति है।[२१४] उत्तराध्ययन के अनुसार श्रमण अशुभ प्रवृत्तियो मे जाते हुए वचन का निरोध करे।[२१५] श्रमण उठने, बैठने, लेटने, नाली आदि लाघने तथा पाचो इन्द्रियो की प्रवृत्ति मे नियमन करे।[२१६] दूसरे शब्दो मे कहा जाए तो बन्धन, छेदन, मारण, आकुचन, प्रसारण प्रभृति शारीरिक क्रियाओ से निवृत्ति कायगुप्ति है।[२१७] जैन परम्परा की तरह बौद्ध परम्परा के सुत्तनिपात ग्रन्थ मे भी गुप्ति शब्द का प्रयोग हुआ है।[२१८] तथागत बुद्ध ने बौद्ध भिक्षुओ को आदेश दिया कि वे मन, वचन

---

२१० मनुस्मृति ६।८९

२११ ज्येष्ठाश्रमो गृही। —महाभारत, शान्तिपर्व, २३।५

२१२ बधे गिहवासे। मोक्खे परियाए॥ —दशवैकालिक चूलिका प्रथम, १२

२१३ उत्तराध्ययन २४।२

२१४. नियमसार ६७

२१५. उत्तराध्ययन २४।२३

२१६ उत्तराध्ययन २४।२४, २५

२१७ नियमसार ६८

२१८ सुत्तनिपात ४।३

और शरीर की क्रियाओ का नियमन करें। तथागत बुद्ध ने अगुत्तरनिकाय मे तीन शुचि भावो का वर्णन किया है—शरीर की शुचिता, वाणी की शुचिता और मन की शुचिता। उन्होने कहा—भिक्षुओ! जो व्यक्ति प्राणीहिंसा से विरत रहता है, तस्कर कृत्य से विरत रहता है, कामभोग सम्बन्धी मिथ्याचार से विरत रहता है, यह शरीर की शुचिता है। भिक्षुओ! जो व्यक्ति असत्य भाषण से विरत रहता है, चुगली करने से विरत रहता है, व्यर्थ वार्तालाप से विरत रहता है, वह वाणी की शुचिता है। भिक्षुओ! जो व्यक्ति निर्लोभ होता है, अक्रोधी होता है, सम्यगदृष्टि होता है, वह मन की शुचिता है।[२१९] इस तरह तथागत बुद्ध ने श्रमण साधको के लिए मन, वचन और शरीर की अप्रशस्त प्रवृत्तियो को रोकने का सन्देश दिया है।[२२०] इसी प्रकार गुप्ति के ही अर्थ मे वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे त्रिदण्डी शब्द व्यवहृत हुआ है। दक्षस्मृति मे दक्ष ने कहा—केवल बांस की दण्डी धारण करने से कोई सन्यासी या त्रिदण्डी परिव्राजक नही हो जाता। त्रिदडी परिव्राजक वही है जो अपने पास आध्यात्मिक दण्ड रखता हो।[२२१] आध्यात्मिक दण्ड से यहाँ तात्पर्य मन, वचन और शरीर की क्रियाओ का नियत्रण है। चाहे श्रमण हो, चाहे सन्यासी हो, उनके लिए यह आवश्यक है कि वे मन-वचन-काया की अप्रशस्त प्रवृत्तियो पर नियत्रण करे। बौद्ध और वैदिक परम्परा की अपेक्षा जैन परम्परा ने इस पर अधिक बल दिया है, जैन श्रमणो के लिए महाव्रत का जहाँ मूलगुण के रूप मे विधान है वहाँ समिति और गुप्ति का उत्तरगुण के रूप मे विधान किया गया है, जिनका पालन जैन श्रमण के लिए अनिवार्य माना गया है।

इस प्रकार मोह-माया से मुक्त होकर श्रमण को अधिक से अधिक साधना मे सुस्थिर होने की प्रबल प्रेरणा इस चूलिका द्वारा दी गई है। 'चइज्ज देह न हु धम्मसासण'—शरीर का परित्याग कर दे किन्तु धर्म-शासन को न छोडे—यह है इस चूलिका का सक्षेप सार।

द्वितीय चूलिका का नाम 'विविक्तचर्या' है। इसमे श्रमण की चर्या, गुणो और नियमो का प्रतिपादन किया गया है। इसमे अन्धानुसरण का विरोध किया गया है। आधुनिक युग मे प्रत्येक प्रश्न बहुमत के आधार पर निर्णीत होते हैं, पर बहुमत का निर्णय सही ही हो, यह नही कहा जा सकता। बहुमत प्राय मूर्खों का होता है, ससार मे सम्यगदृष्टि की अपेक्षा मिथ्यात्वियो की सख्या अधिक है, ज्ञानियो की अपेक्षा अज्ञानी अधिक है, त्यागियो की अपेक्षा भोगियो का प्राधान्य है, इसलिए साधना के क्षेत्र मे बहुमत और अल्पमत का प्रश्न महत्त्व का नही है। वहाँ महत्त्व है सत्य की अन्वेषणा और उपलब्धि का। उस सत्य की उपलब्धि के साधन हैं—चर्या, गुण और नियम। श्रमण आचार मे पराक्रम करे, वह गृहवास का परित्याग करे। सदा एक स्थान पर न रहे और न ऐसे स्थान पर रहे जहाँ रहने से उसकी साधना मे बाधा उपस्थित होती हो। वह एकान्त स्थान जहाँ स्त्री-पुरुष-नपुसक-पशु आदि न हो, वहाँ पर रह कर साधना करे। चर्या का अर्थ मूल व उत्तर गुण रूप चारित्र है और गुण का अर्थ है—चारित्र की रक्षा के लिए भव्य भावनाएँ। नियम का अर्थ है—प्रतिमा आदि अभिग्रह, भिक्षु की बारह प्रतिमाए नियम के अन्तर्गत ही है, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि भी नियम हैं। जो इनका अच्छी तरह से पालन करता है वह प्रतिबुद्ध-जीवी कहलाता है। वह अनुस्रोतगामी नही किन्तु प्रतिस्रोतगामी होता है। अनुस्रोत मे मुर्दे बहा करते है तो प्रतिस्रोत मे जीवित व्यक्ति तैरा करते हैं। साधक

---

२१९ अगुत्तरनिकाय ३।११८

२२०. अगुत्तरनिकाय ३।१२०

२२१ दक्षस्मृति ७।२७-३१

इन्द्रिय और मन के विषयो के प्रवाह मे नही बहता। श्रमण मद्य और मास का अभोजी होता है। मास बौद्ध भिक्षु ग्रहण करते थे पर जैन श्रमणो के लिए उसका पूर्ण रूप से निषेध किया गया है। मास और मदिरा का उपयोग करने वाले को नरकगामी बताया है। साथ ही श्रमणो के लिए दूध-दही आदि विकृतिया प्रतिदिन खाने का निषेध किया गया है।

कायोत्सर्ग : एक चिन्तन

श्रमण के लिए पुन-पुन कायोत्सर्ग करने का विधान है। कायोत्सर्ग मे शरीर के प्रति ममत्व का त्याग किया जाता है। साधक एकान्त-शान्त स्थान मे शरीर से निस्पृह होकर खम्भे की तरह सीधा खडा हो जाता है, शरीर को न अकड कर रखता है और न झुका कर ही। दोनो बाहो को घुटनो की ओर लम्बा करके प्रशस्त ध्यान मे निमग्न हो जाता है। चाहे उपसर्ग और परीषह आयें, उनको वह शान्त भाव से सहन करता है। साधक उस समय न ससार के बाह्य पदार्थों मे रहता है, न शरीर मे रहता है, वह सब ओर से सिमट कर आत्मस्वरूप मे लीन हो जाता है। कायोत्सर्ग अन्तर्मुख होने की एक पवित्र साधना है। वह उस समय राग-द्वेष से ऊपर उठ कर नि सग और अनासक्त होकर शरीर की मोह-माया का परित्याग करता है। कायोत्सर्ग का उद्देश्य है शरीर के ममत्व को कम करना। कायोत्सर्ग मे साधक यह चिन्तन करता है—यह शरीर अन्य है तथा मैं अन्य हू, मैं अजर-अमर चैतन्य रूप हू, मै अविनाशी हू, यह शरीर क्षण-भगुर है, इस मिट्टी के पिण्ड मे आसक्त बनकर मै कर्तव्य से पराड्मुख क्यो बनू? शरीर मेरा वाहन है, मैं इस वाहन पर सवार होकर जीवनयात्रा का लम्बा पथ तय करू। यदि यह शरीर मुझ पर सवार हो जाएगा तो कितनी अभद्र बात होगी! इस प्रकार कायोत्सर्ग मे शरीर के ममत्वत्याग का अभ्यास किया जाता है। आवश्यकनिर्युक्ति मे आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—चाहे कोई भक्ति-भाव से चन्दन लगाए, चाहे कोई द्वेषवश बसूले से छीले, चाहे जीवन रहे, चाहे इसी क्षण मृत्यु आ जाए, परन्तु जो साधक देह मे आसक्ति नही रखता है, सभी स्थितियो मे समचेतना रखता है, वस्तुत उसी का कायोत्सर्ग सिद्ध होता है।[२२२]

कायोत्सर्ग के द्रव्य और भाव ये दो प्रकार है। द्रव्य कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर की चेष्टाओ का निरोध करके एक स्थान पर निश्चल और निस्पद जिन-मुद्रा मे खडे रहना और भाव कायोत्सर्ग है—आर्त और रौद्र दुर्ध्यानो का परित्याग कर धर्म और शुक्ल ध्यान मे रमण करना, आत्मा के विशुद्ध स्वरूप की ओर गमन करना।[२२३] इसी भाव कायोत्सर्ग पर बल देते हुए शास्त्रकार ने कहा—कायोत्सर्ग सभी दु खो का क्षय करने वाला है।[२२४] भाव के साथ द्रव्य का कायोत्सर्ग भी आवश्यक है। द्रव्य और भाव कायोत्सर्ग के स्वरूप को समझाने के लिए कायोत्सर्ग के प्रकारान्तर से चार रूप बताए है—

१ उत्थित-उत्थित—जब कायोत्सर्ग के लिए साधक खडा होता है, तब द्रव्य के साथ भाव से भी खडा होता है। इस कायोत्सर्ग मे प्रसुप्त आत्मा जागृत होकर कर्मों को नष्ट करने के लिए खडा हो जाता है। यह उत्कृष्ट कायोत्सर्ग है।

२ उत्थित-निविष्ट—जो साधक अयोग्य है, वह शरीर से तो कायोत्सर्ग के लिए खडा हो जाता है पर भावो मे विशुद्धि न होने से उसकी आत्मा बैठी रहती है।

२२२ वासी—चदणकप्पो, जो मरणे जीविए य समसण्णो।
देहे य अपडिबद्धो, काउस्सग्गो हवइ तस्स ॥ —आवश्यकनिर्युक्ति गाथा १५४८

२२३ सो पुण काउस्सग्गो दव्वतो भावतो य भवति, दव्वतो कायचेट्ठानिरोहो, भावतो काउस्सग्गो झाण। —आवश्यकचूर्णि

२२४ काउस्सग्ग तओ कुज्जा, सव्वदुक्खविमोक्खण। —उत्तराध्ययन २६।४९

३. उपविष्ट-उत्थित—जो साधक रुग्ण है, तपस्वी है या वृद्ध है, वह शारीरिक असुविधा के कारण खडा नही हो पाता, वह बैठ कर ही धर्मध्यान मे लीन होता है। वह शरीर से बैठा है किन्तु आत्मा से खडा है।

४. उपविष्ट-निविष्ट—जो आलसी साधक कायोत्सर्ग करने के लिए खडा न होकर बैठा रहता है और कायोत्सर्ग मे उसके अन्तर्मानस मे आर्त्त और रौद्र ध्यान चलता रहता है, वह तन से भी बैठा हुआ और भावना से भी। यह कायोत्सर्ग न होकर कायोत्सर्ग का दिखावा है।

चूलिका के अन्त मे साधक को यह उपदेश दिया गया है कि वह आत्मरक्षा का सतत ध्यान रखे। आत्मा की रक्षा के लिए देह का रक्षण आवश्यक है। वह देहरक्षण सयम है। आत्मा के सद्गुणो का हनन कर जो देहरक्षण किया जाता है वह साधक को इष्ट नही होता, अत सतत आत्मरक्षा की प्रेरणा दी गई है। दशवैकालिक मे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक यही शिक्षा विविध प्रकार से व्यक्त की गई है। बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी होना ही आत्मरक्षा है।

तुलनात्मक अध्ययन

भारतीय सस्कृति मे जैन, बौद्ध और वैदिक इन तीनो धाराओ का अद्भुत सम्मिश्रण है। ये तीनो धाराए भारत की पुण्य-धरा पर पनपी है। इन तीनो धाराओ मे परस्पर अनेक बातो मे समानता रही है तो अनेक बातो मे भिन्नता भी रही है। तीनो धाराओ के विशिष्ट साधको की अनेक अनुभूतिया समान थी तो अनेक अनुभूतिया परस्पर विरुद्ध भी थी। कितनी ही अनुभूतियो का परस्पर विनिमय भी हुआ है। एक ही धरती से जन्म लेने के कारण तथा परस्पर साथ रहने के कारण एक के चिन्तन का दूसरे पर प्रभाव पडना स्वाभाविक था, किन्तु यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि कौन सा समुदाय किसका कितना ऋणी है? सत्य की जो सहज अनुभूति है उसने जो अभिव्यक्ति का रूप ग्रहण किया, वह प्राय कभी शब्दो मे और कभी अर्थ मे एक सदृश रहा है। उसी को हम यहाँ तुलनात्मक अध्ययन की अभिधा प्रदान कर रहे है। इसका यह अभिप्राय कदापि नही कि एक दूसरे ने विचार और शब्दो को एक दूसरे से चुराया है। 'सौ सयाना एक मता' के अनुसार सौ समझदारो का एक ही मत होता है—सत्य को व्यक्त करने मे समान भाव और भाषा का होना स्वाभाविक है।

दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की प्रथम गाथा है—

धम्मो मगलमुक्किट्ठ अहिसा सजमो तवो।
देवा वि त नमसति जस्स धम्मे सया मणो॥

धर्म उत्कृष्ट मगल है, अहिसा, सयम और तप धर्म के लक्षण है, जिसका मन सदा धर्म मे रमा रहता है, उसे देव भी नमस्कार करते है।

इस गाथा की तुलना करे—धम्मपद (धम्मट्ठवग्गो १९।६) के इस श्लोक मे—

यम्हि सच्च च धम्मो च अहिंसा सयमो दमो।
स वे वन्तमलो धीरो सो थेरो ति पवुच्चति॥

जिसमे सत्य, धर्म, अहिंसा, सयम और दम है, वह मलरहित धीर भिक्षु स्थविर कहलाता है।

दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन की दूसरी गाथा की तुलना धम्मपद (पुप्फवग्गो ४।६) से की जा सकती है—

जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियइ रस।
न य पुप्फ किलामेइ सो य पीणेइ अप्पय॥

—दशवैकालिक १।२

जिस प्रकार भ्रमर द्रुम-पुष्पो से थोडा-थोडा रस पीता है, किसी भी पुष्प को पीड़ा उत्पन्न नही करता और अपने को भी तृप्त कर लेता है।

तुलना करे—

यथापि भमरो पुप्फ वण्णगन्ध अहेठय।
पलेति रसमादाय एव गामे मुनी चरे॥

—धम्मपद (पुप्फवग्गो ४।६)

जैसे फूल या फूल के वर्ण या गन्ध को बिना हानि पहुचाए भ्रमर रस को लेकर चल देता है, उसी प्रकार मुनि गाव मे विचरण करे।

मधुकर-वृत्ति की अभिव्यक्ति महाभारत मे भी इस प्रकार हुई है—

यथा मधु समादत्ते रक्षन् पुष्पाणि षट्पद।
तद्वदर्थान् मनुष्येभ्य आदद्यादविहिंसया॥

—महाभारत ३४।१७

जैसे भौरा फूलो की रक्षा करता हुआ ही उनका मधु ग्रहण करता है उसी प्रकार राजा भी प्रजाजनो को कष्ट दिए बिना ही कर के रूप मे उनसे धन ग्रहण करे।

दशवैकालिक के द्वितीय अध्ययन की प्रथम गाथा है—

कह नु कुज्जा सामण्ण जो कामे न निवारए।
पए पए विसीयतो सकप्पस्स वस गओ॥

वह कैसे श्रामण्य का पालन करेगा जो काम (विषय-राग) का निवारण नही करता, जो सकल्प के वशीभूत होकर पग-पग पर विषादग्रस्त होता है।

इसी प्रकार के भाव बौद्ध परम्परा के ग्रन्थ सयुत्तनिकाय के निम्न श्लोक मे परिलक्षित होते है—

दुक्कर दुत्तितिक्खञ्च अव्यत्तेन हि सामञ्ञ।
बहूहि तत्थ सम्बाधा यत्थ बालो विसीदतीति।
कतिह चरेय्य सामञ्ञ, चित्त चे न निवारए।
पदे पदे विसीदेय्य सकप्पान वसानुगो॥

—सयुत्तनिकाय १।१७

कितने दिनो तक वह श्रमण भाव को पालन कर सकेगा, यदि उसका चित्त वश मे नही हो तो, जो इच्छाओं के आधीन रहता है वह कदम-कदम पर फिसल जाता है।

दशवैकालिक के द्वितीय अध्ययन का सातवा श्लोक इस प्रकार है—

धिरत्थु ते जसोकामी जो त जीवियकारणा ।
वन्त इच्छसि आवेउ सेय ते मरण भवे ।।

हे यश·कामिन् ! धिक्कार है तुझे ! जो तू क्षणभगुर जीवन के लिए वमी हुई वस्तु को पीने की इच्छा करता है । इससे तो तेरा मरना श्रेय है ।

तुलना कीजिए—

धिरत्थु त विस वन्त, यमह जीवितकारणा ।
वन्त पच्चावमिस्सामि, मतम्मे जीविता वर ।।

—विसवन्त जातक ६९, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ४०४

धिक्कार है उस जीवन को, जिस जीवन की रक्षा के लिए एक बार उगल कर मै फिर निगलू । ऐसे जीवन से मरना अच्छा है ।

दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन की दूसरी और तीसरी गाथा निम्नानुसार है—

उद्देसिय कीयगड नियागमभिहडाणि य ।
राइभत्ते सिणाणे य गधमल्ले य वीयणे ।।
सन्निही गिहिमत्ते य रायपिडे किमिच्छए ।
सबाहणा दतपहोयणा य सपुच्छणा देहपलोयणा य ।।

निर्ग्रन्थ के निमित्त बनाया गया, खरीदा गया, आदरपूर्वक निमन्त्रित कर दिया जाने वाला, निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया हुआ भोजन, रात्रिभोजन, स्नान, गध द्रव्य का विलेपन, माला पहनना, पखा झलना, खाद्य वस्तु का सग्रह करना, रात वासी रखना, गृहस्थ के पात्र मे भोजन करना, मूर्धाभिषिक्त राजा के घर से भिक्षा ग्रहण करना, अगमर्दन करना, दात पखारना, गृहस्थ की कुशल पूछना, दर्पण निहारना—ये कार्य निर्ग्रन्थ श्रमण के लिए वर्ज्य है ।

उपरोक्त गाथा की तुलना श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध के अध्ययन १८ के श्लोक ३ से कर सकते हैं—

केश-रोम-नख-श्मश्रु-मलानि बिभृयादत ।
न धावेदप्सु मज्जेत त्रिकाल स्थण्डिलेशय ।। ११।१८।३

केश, रोएँ, नख और मूँछ-दाढी रूप शरीर के मल को हटावे नही । दातुन न करे । जल मे घुसकर त्रिकाल स्नान न करे और धरती पर ही पडा रहे । यह विधान वानप्रस्थो के लिए है ।

इसी प्रकार दशवैकालिक के तीसरे अध्ययन की नवम गाथा की तुलना भागवत के सातवे स्कन्ध के बारहवे अध्याय के बारहवे श्लोक से कीजिए—

धूवणेति वमणे य, वत्थीकम्म विरेयणे ।
अजणे दतवण य, गायब्भग विभूसराणे ।।

—दशवैकालिक ३।९

धूम्र-पान की नलिका रखना, रोग की सभावना से बचने के लिए, रूप-बल आदि को बनाए रखने के लिए वमन करना, वस्तिकर्म (अपान मार्ग से तैल आदि चढाना), विरेचन करना, आखो मे अजन आँजना, दातो को दतौन से घिसना, शरीर मे तैल आदि की मालिश, शरीर को आभूषणादि से अलकृत करना आदि श्रमण के लिए वर्ज्य हैं।

अञ्जनाभ्यञ्जनोन्मर्दस्नपनवलेखामिषं मधु।
स्रग्गन्धलेपालकारास्त्यजेयुर्ये धृतव्रता ॥
—भागवत ७।१२।१२

जो ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करें, उन्हे चाहिये कि वे सुरमा या तेल न लगावे। उबटन न मलें। स्त्रियो के चित्र न बनावे। मास और मद्य से कोई सम्बन्ध न रक्खें। फूलो के हार, इत्र-फुलेल, चन्दन और आभूषणो का त्याग कर दे। यह विधान ब्रह्मचारी के लिए है।

दशवैकालिक के तीसर अध्ययन की बारहवी गाथा और मनुस्मृति के छठे अध्ययन के तेवीसवे श्लोक की समानता देखिए—

आयावयति गिम्हेसु, हेमतेसु अवाउडा।
वासासु पडिसलीणा, सजया सुसमाहिया ॥
—दशवैकालिक ३।१२

सुसमाहित निर्ग्रन्थ ग्रीष्म मे सूर्य की आतापना लेते है, हेमन्त मे खुले बदन रहते हैं और वर्षा मे प्रतिसलीन होते हैं—एक स्थान मे रहते है।

ग्रीष्मे पञ्चतापास्तु स्याद्वर्षास्वभ्रावकाशिक।
आर्द्रवासास्तु हेमन्ते, क्रमशो वर्धयस्तप ॥
—मनुस्मृति अ. ६, श्लोक २३

ग्रीष्म मे पचाग्नि से तपे, वर्षा मे खुले मैदान मे रहे और हेमन्त मे भीगे वस्त्र पहन कर क्रमश तपस्या की वृद्धि करे। यह विधान वानप्रस्थाश्रम को धारण करने वाले साधक के लिए है।

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की सातवी गाथा है—

कह चरे कह चिट्ठे कहमासे कह सए।
कह भुजतो भासतो पावकम्म न बधई ॥

कैसे चले ? कैसे खड़ा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए ? कैसे बोले ? जिससे पाप-कर्म का बन्ध न हो।

श्रीमद्भगवद्गीता मे स्थितप्रज्ञ के विषय मे पूछा गया है। उपरोक्त गाथा की इस श्लोक से तुलना कीजिए—

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव !
स्थितधी: किं प्रभाषेत, किमासीत व्रजेत किम् ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २, श्लोक ५४

हे केशव ! समाधि मे स्थित स्थितप्रज्ञ के क्या लक्षण है ? और स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है ? कैसे बैठता है ? कैसे चलता है ?

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की आठवी गाथा है —

जय चरे जय चिट्ठे, जयमासे जय सए।
जय भु जन्तो भासन्तो, पावकम्म न बधई ॥

जो यतना से चलता है, यतना से ठहरता है और यतना से सोता है, यतना से भोजन करता है, यतना से भाषण करता है, वह पापकर्म का बधन नही करता।

इतिवुत्तक मे भी यही स्वर प्रतिध्वनित हुआ है—

यत चरे, यत तिट्ठे यत अच्छे यत सये।
यत सम्मिञ्जये भिक्खू यतमेन पसारए ॥ —इतिवुत्तक १२

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की नौवी गाथा इस प्रकार है—

सव्वभूयप्पभूयस्स सम्म भुयाइ पासओ।
पिहियासवस्स दतस्स पावकम्म न बधई ॥

जो सब जीवो को आत्मवत मानता है, जो सब जीवो को सम्यक्-दृष्टि से देखता है, जो आस्रव का निरोध कर चुका है और जो दान्त है, उसे पापकर्म का बन्धन नही होता।

इस गाथा की तुलना गीता के निम्न श्लोक से की जा सकती है —

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा, कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥

—गीता अध्याय ५, श्लोक ७

योग से सम्पन्न जितेन्द्रिय और विशुद्ध अन्त करण वाला एव सम्पूर्ण प्राणियो को आत्मा के समान अनुभव करने वाला निष्काम कर्मयोगी कर्म करता हुआ भी लिप्त नही होता।

दशवैकालिक के चतुर्थ अध्ययन की दसवी गाथा है—

पढम नाण तओ दया एव चिट्ठइ सव्वसजए।
अन्नाणी किं काही किं वा वा नाहिइ छेय-पावग ॥

पहले ज्ञान फिर दया—इस प्रकार सब मुनि स्थित होते है। अज्ञानी क्या करेगा ? वह कैसे जानेगा कि क्या श्रेय है और क्या पाप है ?

इसी प्रकार के भाव गीता के चतुर्थ अध्यायन के अडतीसवे श्लोक मे आए है—

न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते।
तत्समय योगसंसिद्ध कालेनात्मनि विन्दति ॥

—गीता ४।३८

इस ससार मे ज्ञान के समान पवित्र करने वाला नि.सदेह कुछ भी नही है। उस ज्ञान को कितनेक काल से अपने आप समस्व बुद्धिरूप योग के द्वारा अच्छी प्रकार शुद्धान्त करण हुआ पुरुष आत्मा मे अनुभव करता है।

दशवैकालिक के पांचवे अध्ययन के द्वितीय उद्देशक की चौथी गाथा है—

कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकाल च विवज्जेत्ता, काले कालं समायरे॥

भिक्षु समय पर भिक्षा के लिए निकले और समय पर लौट आए। अकाल को वर्जकर जो कार्य जिस समय करने का हो, उसे उसी समय करे।

इस गाथा की निम्न से तुलना करे—

काले निक्खमणा साधु, नाकाले साधु निक्खमो।
अकाले नहि निक्खम्म, एककपि बहूजनो॥
—कौशिक जातक २२६

साधु काल से निकले, बिना काल के नही निकले। अकाल मे तो निकलना ही नही चाहिये, चाहे अकेला हो या बहुतो के साथ हो।

दशवैकालिक के छटठे अध्ययन की दसवी गाथा है—

सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउ न मरिज्जिउ।
तम्हा पाणवह घोर, निग्गथा वज्जयति ण॥

सभी जीव जीना चाहते हैं, मरना कोई भी नही चाहता, इसलिए प्राणिवध घोर पाप का कारण है अत निर्ग्रन्थ उसका परिहार करते हैं।

यही स्वर सयुत्तनिकाय मे इस रूप मे झकृत हुआ है—

सब्बा दिसा अनुपरिगम्म चेतसा, नेवज्झगा पियतरमत्तना क्वचि।
एव पियो पुथु अत्ता परेस, तस्मा न हिंसे परमत्तकामो॥
—सयुत्तनिकाय १।३।८

दशवैकालिक के आठवे अध्ययन मे क्रोध को शान्त करने का उपाय बताते हुए कहा है—

'उवसमेण हणे कोह'—उपशम से क्रोध का हनन करो।
—दशवैकालिक ८।३८

तुलना कीजिए 'धम्मपद' क्रोध वर्ग के निम्न पद से—

'अक्कोधेन जिने कोध'—अक्रोध से क्रोध को जीतो।
—धम्मपद, क्रोधवर्ग, ३

दशवैकालिक के नौवे अध्ययन के प्रथम उद्देशक की प्रथम गाथा मे बताया है कि जो शिष्य कषाय व प्रमाद के वशीभूत होकर गुरु के सन्निकट शिक्षा ग्रहण नही करता, उसका अविनय उसके लिए घातक होता है—

थभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणय न सिक्खे।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो फल व कीयस्स वहाय होइ ॥ —दशवैकालिक ९।१।१

जो मुनि गर्व, क्रोध, माया या प्रमादवश गुरु के समीप विनय की शिक्षा नही लेता वही (विनय की अशिक्षा) उसके विनाश के लिए होती है। जैसे कीचक (बास) का फल उसके विनाश के लिए होता है, अर्थात्— हवा से शब्द करते हुए बास को कीचक कहते हैं, वह फल लगने पर सूख जाता है।

धम्मपद मे यही उपमा इस प्रकार आई है—

यो सासन अरहत अरियान धम्मजीविन।
पटिक्कोसति दुम्मेधो दिट्ठि निस्साय पापिक ॥
फलानि कट्ठकस्सेव अत्तयञ्ञा फुल्लति ॥ —धम्मपद १२।८

जो दुर्बुद्धि मनुष्य पापमयी दृष्टि का आश्रय लेकर अरहन्तो तथा धर्मनिष्ठ आर्य पुरुषो के शासन की अवहेलना करता है, वह आत्मघात के लिए बास के फल की तरह प्रफुल्लित होता है।

दशवैकालिक के दसवें अध्ययन की आठवी गाथा मे भिक्षु के जीवन की परिभाषा इस प्रकार दी है—

तहेव असण पाणग वा विविह खाइमसाइम लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा त न निहे न निहावए जे स भिक्खू ॥
—दशवैकालिक १०।८

पूर्वोक्त विधि से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर, यह कल या परसो काम आएगा, इस विचार से जो न सन्निधि (सचय) करता है और न कराता है वह भिक्षु है।

सुत्तनिपात मे यही बात इस रूप मे झकृत हुई है- -

अन्नानमथो पानान, खादनीयानमथोऽपि वत्थान।
लद्धा न सन्निधि कयिरा, न च परित्तसेतानि अलभमानो ॥ —सुत्तनिपात ५२-१०

दशवैकालिक सूत्र के दशवें अध्ययन की दसवी गाथा मे भिक्षु की जीवनचर्या का महत्त्व बताते हुए कहा है—

न य वुग्गहिय कह कहेज्जा न य कुप्पे निहुइदिए पसते।
सजमधुवजोगजुत्ते उवसते अविहेडए जे स भिक्खू ॥ —दशवैकालिक १०।१०

जो कलहकारी कथा नही करता, जो कोप नही करता, जिसकी इन्द्रिया अनुद्धत हैं, जो प्रशान्त है, जो सयम मे ध्रुवयोगी है, जो उपशान्त है, जो दूसरो को तिरस्कृत नही करता— वह भिक्षु है।

भिक्षु को शिक्षा देते हुए सुत्तनिपात मे प्राय यही शब्द कहे गए हैं—(सुत्तनिपात, तुवटक सुत्त ५२।१६)

न च कत्थिता सिया भिक्खू, न च वाचं पयुत भासेय्य।
पागब्भिय न सिक्खेय्य, कथ विग्गाहिक न कथयेय्य ॥

भिक्षु धर्मरत्न ने चतुर्थ चरण का अर्थ लिखा है—कलह की बात न करे। धर्मानन्द कौसम्बी ने अर्थ किया कि भिक्षु को वाद-विवाद मे नही पडना चाहिए।

दशवैकालिक के दसवे अध्ययन की ग्यारहवी गाथा मे भिक्षु की परिभाषा इस प्रकार की गई है—

जो सहइ हु गामकंटए अक्कोसपहारतज्जणाओ य।
भयभेरवसद्दसप्पहासे समसुहदुक्खसहे य जे स भिक्खु॥ —दशवैकालिक १०।११

जो काटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयो, आक्रोश-वचनो, प्रहारो, तर्जनाओ और बेताल आदि के अत्यन्त भयानक शब्दयुक्त अट्टहासो को सहन करता है तथा सुख और दु.ख को समभावपूर्वक सहन करता है—वह भिक्षु है।

सुत्तनिपात की निम्न गाथाओं से तुलना करें—

भिक्खुनो विजिगुच्छतो, भजतो रित्तमासन।
रुक्खमूल सुसान वा, पब्बतान गुहासु वा॥
उच्चावचेसु सयनेसु कीवन्तो तत्थ भेरवा।
येहि भिक्खु न वेधेय्य निग्घोसे सयनासने॥ —सुत्तनिपात ५४।४-५

दशवैकालिक के दसवे अध्ययन की १५ वी गाथा है—

हत्थसजए पायसजए वायसजए सजइदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा सुत्तत्थ च वियाणई जे स भिक्खू॥ —दशवैकालिक १०।१५

जो हाथो से सयत है, पैरो से सयत है, वाणी से सयत है, इन्द्रियो से सयत है, अध्यात्म मे रत है, भली-भाति समाधिस्थ है और जो सूत्र और अर्थ को यथार्थ रूप से जानता है—वह भिक्षु है।

धम्मपद मे भिक्षु के लक्षण निम्न गाथा मे आए हैं—

चक्खुना सवरो साधु साधु सोतेन सवरो।
घाणेन सवरो साधु साधु जिह्वाय सवरो॥
कायेन सवरो साधु साधु वाचाय सवरो।
मनसा सवरो साधु साधु सब्बत्थ सवरो॥
सब्बत्थ सवुतो भिक्खु सब्बदुक्खा पमुच्चति। —धम्मपद २५।१-२-३
हत्थसयतो पादसयतो वाचाय सयतुत्तमो।
अज्झत्तरतो समाहितो, एको सन्तुसितो तमाहु भिक्खु॥

इस प्रकार दशवैकालिकसूत्र मे आयी हुई गाथाएँ कही पर भावो की दृष्टि से तो कही विषय की दृष्टि से और कही पर भाषा की दृष्टि से वैदिक और बौद्ध परम्परा के ग्रन्थो के साथ समानता रखती हैं। कितनी ही गाथाएँ आचाराग चूलिका के साथ विषय और शब्दो की दृष्टि से अत्यधिक साम्य रखती हैं। उनका कोई एक ही स्रोत होना चाहिए। इसके अतिरिक्त दशवैकालिक की अनेक गाथाए अन्य जैनागमो मे आई हुई गाथाओ के साथ मिलती हैं। पर हमने विस्तारभय से उनकी तुलना नही दी है। समन्वय की दृष्टि से जब हम गहराई से अवगाहन करते है तो ज्ञात होता है—अनन्त सत्य को व्यक्त करने मे चिन्तको का अनेक विषयो मे एकमत रहा है।

व्याख्यासाहित्य

दशवैकालिक पर आज तक जितना भी व्याख्यासाहित्य लिखा गया है, उस साहित्य को छह भागो मे विभक्त किया जा सकता है—निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, सस्कृतटीका, लोकभाषा मे टब्बा और आधुनिक शैली से

सपादन। निर्युक्ति प्राकृत भाषा मे पद्य-बद्ध टीकाएँ है, जिनमे मूल ग्रन्थ के प्रत्येक पद की व्याख्या न करके मुख्य रूप से पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या की गई है। निर्युक्ति की व्याख्याशैली निक्षेप पद्धति पर आधृत है। एक पद के जितने भी अर्थ होते है उन्हे बताकर जो अर्थ ग्राह्य है उसकी व्याख्या की गई है और साथ ही अप्रस्तुत का निरसन भी किया गया है। यो कह सकते है—सूत्र और अर्थ का निश्चित सम्बन्ध बताने वाली व्याख्या निर्युक्ति है।[२२५] सुप्रसिद्ध जर्मन विद्वान शर्पेन्टियर ने लिखा है —निर्युक्तिया अपने प्रधान भाग के केवल इन्डेक्स का काम करती है, ये सभी विस्तारयुक्त घटनावलियो का सक्षेप मे उल्लेख करती हैं।[२२६] डॉ घाटके ने निर्युक्तियो को तीन विभागो मे विभक्त किया है -[२२७]

(१) मूल-निर्युक्तिया - जिन निर्युक्तियो पर काल का कुछ भी प्रभाव नही पडा और उनमे अन्य कुछ भी मिश्रण नही हुआ, जैसे —आचाराग और सूत्रकृताग की निर्युक्तिया।

(२) जिनमे मूलभाष्यो का सम्मिश्रण हो गया है तथापि वे व्यवच्छेद्य हो, जैसे— दशवैकालिक और आवश्यक सूत्र की निर्युक्तिया।

(३) वे निर्युक्तिया, जिन्हे आजकल भाष्य या वृहद् भाष्य कहते हैं। जिनमे मूल और भाष्य का इतना अधिक सम्मिश्रण हो गया है कि उन दोनो को पृथक्-पृथक् नही किया जा सकता, जैसे निशीथ आदि की निर्युक्तिया।

प्रस्तुत विभाग वर्तमान मे जो निर्युक्तिसाहित्य प्राप्त है, उसके आधार पर किया गया है।

जैसे यास्क महर्षि ने वैदिक पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या के लिए निघण्टु भाष्य रूप निरुक्त लिखा, उसी प्रकार जैन पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या के लिए आचार्य भद्रबाहु ने निर्युक्तिया लिखी। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का समय विक्रम सवत् ५६२ के लगभग है और निर्युक्तियो का समय ५०० से ६०० (वि स) के मध्य का है। दस आगमो पर निर्युक्तिया लिखी गई, उनमे एक निर्युक्ति दशवैकालिक पर भी है। डॉ घाटके के अभिमतानुसार ओघनिर्युक्ति और पिण्डनिर्युक्ति क्रमश दशवैकालिकनिर्युक्ति और आवश्यक-निर्युक्ति की उपशाखाएँ है। पर डॉ घाटके की बात से सुप्रसिद्ध टीकाकार आचार्य मलयगिरि सहमत नही है। उनके मतव्यानुसार पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक अश है। यह बात उन्होने पिण्डनिर्युक्ति की टीका मे स्पष्ट की है। आचार्य मलयगिरि दशवैकालिकनिर्युक्ति को चतुर्दशपूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृति मानते हैं, किन्तु पिण्डैषणा नामक पाचवे अध्ययन पर वह निर्युक्ति बहुत ही विस्तृत हो गई, जिसमे पिण्डनिर्युक्ति को स्वतत्र निर्युक्ति के रूप मे स्थान दिया गया। इससे यह स्पष्ट है कि पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का ही एक विभाग है। आचार्य मलयगिरि ने इस सम्बन्ध मे अपना तर्क दिया है पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिक-निर्युक्ति के अर्न्तगत होने के कारण ही इस ग्रन्थ के आदि मे नमस्कार नही किया गया है और दशवैकालिक-निर्युक्ति के मूल के आदि मे निर्युक्तिकार ने नमस्कारपूर्वक ग्रन्थ को प्रारम्भ किया है।[२२८]

---

२२५. सूत्रार्थयो परस्पर नियोजन सम्बन्धन निर्युक्ति। —आवश्यकनिर्युक्ति, गा ८३

२२६ उत्तराध्ययन की भूमिका, पृ० ५०-५१

227 Indian Historical Quarterly, Vol 12 P 270

२२८ दशवैकालिकस्य च निर्युक्तिश्चतुर्दशपूर्वविदा भद्रबाहुस्वामिना कृता, तत्र पिण्डैषणाभिधपञ्चमाध्ययन निर्युक्तिरति—प्रभूतग्रन्थत्वात् पृथक शास्त्रान्तरमिव व्यवस्थापिता तस्याश्च पिण्डनिर्युक्तिरिति नामकृत अतएव चादावत्र नमस्कारोऽपि न कृतो दशवैकालिकनिर्युक्त्यन्तरगतत्वेन शेषा तु निर्युक्तिर्दशवैकालिक-निर्युक्तिरिति स्थापिता।

गहराई से चिन्तन करने पर ज्ञात होता है कि आचार्य मलयगिरि का तर्क अधिक वजनदार नही है। केवल नमस्कार न करने के कारण ही पिण्डनिर्युक्ति दशवैकालिकनिर्युक्ति का एक अश है, यह कथन उपयुक्त नहीं है। ऐतिहासिक दृष्टि से चिन्तन करने पर स्पष्ट होता है कि नमस्कार करने की परम्परा बहुत प्राचीन नही है। छेदसूत्र और मूलसूत्रो का प्रारम्भ भी नमस्कार-पूर्वक नही हुआ है। टीकाकारो ने खीचतान कर आदि, मध्य और अन्त मगल की सयोजना की। मगल-वाक्यो की परम्परा विक्रम की तीसरी शती के पश्चात् की है। विश्व की दृष्टि से दोनो मे समानता है किन्तु पिण्डनिर्युक्ति भद्रबाहु की रचना है, यह उल्लेख आचार्य मलयगिरि के अतिरिक्त अन्यत्र कही पर भी नही मिलता।

दशवैकालिकनिर्युक्ति मे सर्वप्रथम दश शब्द का प्रयोग दस अध्ययन की दृष्टि से हुआ है और काल का प्रयोग इसलिए हुआ है कि इसकी रचना उस समय पूर्ण हुई जब पौरुषी व्यतीत हो चुकी थी, अपराह्न का समय हो चुका था। प्रथम अध्ययन का नाम 'द्रुमपुष्पिका' है। इसमे धर्म की प्रशसा करते हुए उसके लौकिक और लोकोत्तर ये दो भेद बताये हैं। लौकिकधर्म के ग्रामधर्म, देशधर्म, राजधर्म प्रभृति अनेक भेद किये हैं। लोकोत्तर धर्म के श्रुतधर्म और चारित्रधर्म ये दो विभाग है। श्रुतधर्म स्वाध्याय रूप है और चारित्रधर्म श्रमणधर्म रूप है। अहिंसा, सयम और तप की सुन्दर परिभाषा दी गई है। प्रतिज्ञा, हेतु, विभक्ति, विपक्ष, प्रतिबोध, दृष्टान्त, आशका, तत्प्रतिषेध, निगमन इन दस अवयवो से प्रथम अध्ययन का परीक्षण किया गया है।[२२९]

द्वितीय अध्ययन के प्रारम्भ मे श्रामण्य-पूर्वक की निक्षेप पद्धति से व्याख्या है। श्रामण्य का निक्षेप चार प्रकार से किया गया है—१. नामश्रमण, २ स्थापनाश्रमण, ३ द्रव्यश्रमण और ४ भावश्रमण।

भावश्रमण की सक्षेप मे और सारगर्भित व्याख्या की गई है।[२३०] श्रमण के प्रव्रजित, अनगार, पाषडी, चरक, तापस, भिक्षु, परिव्राजक, श्रमण, सयत, मुक्त, तीर्ण, त्राता, द्रव्यमुनि, क्षान्तदान्त, विरत, रूक्ष, तीरार्थी, ये पर्यायवाची हैं। पूर्वक के निक्षेप की दृष्टि मे तेरह प्रकार हैं—१ नाम, २ स्थापना, ३ द्रव्य, ४ क्षेत्र, ५ काल, ६ दिक, ७ तापक्षेत्र, ८ प्रज्ञापक, ९ पूर्व, १० वस्तु, ११ प्राभृत, १२ अति प्राभृत, १३ भाव। उसके पश्चात् काम पर भी निक्षेप दृष्टि से चिन्तन किया है। भाव-काम के इच्छा-काम और मदन-काम ये दो प्रकार हैं। इच्छा-काम प्रशस्त और अप्रशस्त, दो प्रकार का होता है। मदन-काम का अर्थ—वेद का उपयोग, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुसकवेद आदि का विपाक अनुभव। प्रस्तुत अध्ययन मे मदन-काम का निरूपण है।[२३१] इस प्रकार इस अध्ययन मे पद की भी निक्षेप दृष्टि से व्याख्या है।[२३२]

तृतीय अध्ययन मे क्षुल्लक अर्थात् लघु आचारकथा का अधिकार है। क्षुल्लक, आचार और कथा इन तीनो का निक्षेप दृष्टि से चिन्तन है। क्षुल्लक का नाम, स्थापना, द्रव्य और क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव इन आठ भेदो की दृष्टि से चिन्तन किया गया है। आचार का निक्षेपदृष्टि से चिन्तन करते हुए नामन, धावन, वासन, शिक्षापान आदि को द्रव्याचार कहा है और दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य को भावाचार कहा है।

२२९ दशवैकालिक गाथा १३७-१४८
२३०. ,, गाथा १५२-१५७
२३१ ,, गाथा १६१-१६३
२३२ ,, गाथा १६६-१७७

कथा के अर्थ, काम, धर्म और मिश्र ये चार भेद किए गए हैं और उनके अवान्तर भेद भी किए गए हैं। श्रमण क्षेत्र, काल, पुरुष, सामर्थ्य प्रभृति को लक्ष्य में रखकर ही अनवद्य कथा करे।[२३३]

चतुर्थ अध्ययन में षट्जीवनिकाय का निरूपण है। इसमें एक, छह, जीव, निकाय और शास्त्र का निक्षेप-दृष्टि से चिन्तन किया गया है। जीव के लक्षणों का प्रतिपादन करते हुए बताया है—आदान, परिभोग, योग उपयोग, कषाय, लेश्या, आण, अपान, इन्द्रिय, बन्धु, उदय, निर्जरा, चित्त, चेतना, संज्ञा, विज्ञान, धारण, बुद्धि, ईहा, मति, वितर्क से जीव को पहचान सकते है।[२३४] शस्त्र के द्रव्य और भाव रूप से दो प्रकार बताए हैं। द्रव्यशस्त्र स्वकाय, परकाय और उभयकायरूप होता है तथा भावशस्त्र असंयमरूप होता है।[२३५]

पंचम अध्ययन भिक्षा-विशुद्धि से सम्बन्धित है। पिण्डैषणा में पिण्ड तथा एषणा—ये दो पद हैं, इन पर निक्षेपपूर्वक चिन्तन किया गया है। गुड, ओदन आदि द्रव्यपिण्ड हैं और क्रोध, मान, माया, लोभ, ये भाव-पिण्ड हैं। द्रव्यैषणा सचित्त, अचित्त और मिश्र के रूप में तीन प्रकार की है। भावैषणा प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार की है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि प्रशस्त भावैषणा है और क्रोध आदि अप्रशस्त भावैषणा है। प्रस्तुत अध्ययन में द्रव्यैषणा का ही वर्णन किया गया है, क्योंकि भिक्षा-विशुद्धि से तप और संयम का पोषण होता है।[२३६]

छठे अध्ययन में बृहद् आचारकथा का प्रतिपादन है। महत् का नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, प्रधान, प्रतीत्य और भाव इन आठ भेदों से चिन्तन किया है। धान्य और रत्न के चौबीस-चौबीस प्रकार बताए गए है।[२३७]

सप्तम अध्ययन का नाम वाक्यशुद्धि है। वाक्य, वचन, गिरा, सरस्वती, भारती, गो, वाक् भाषा, प्रज्ञापनी, देशनी, वाग्योग, योग ये सभी एकार्थक शब्द है। जनपद आदि के भेद से सत्यभाषा दस प्रकार की होती है। क्रोध आदि के भेद से मृषाभाषा भी दस प्रकार की होती है। उत्पन्न होने के प्रकार से मिश्रभाषा अनेक प्रकार की है और असत्यामृषा आमन्त्रणी आदि के भेद से अनेक प्रकार की है। शुद्धि के भी नाम आदि चार निक्षेप हैं। भावशुद्धि तद्भाव, आदेशभाव और प्राधान्यभाव रूप से तीन प्रकार की है।[२३८]

अष्टम अध्ययन आचारप्रणिधि है। प्रणिधि द्रव्यप्रणिधि और भावप्रणिधि रूप से दो प्रकार की है। निधान आदि द्रव्यप्रणिधि है। इन्द्रियप्रणिधि और नोइन्द्रियप्रणिधि ये भावप्रणिधि है, जो प्रशस्त और अप्रशस्त रूप से दो प्रकार की है।[२३९]

नवम अध्ययन का नाम विनयसमाधि है। भावविनय के लोकोपचार, अर्थनिमित्त, कामहेतु, भय, निमित्त और मोक्षनिमित्त, ये पाँच भेद किए गए है। मोक्षनिमित्तक विनय के दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और उपचार सम्बन्धी पाँच भेद किये गए हैं।[२४०]

---

२३३ दशवैकालिक गाथा १८८-२१५
२३४ ,, गाथा २२३-२२४
२३५. ,, गाथा २३१
२३६. ,, गाथा २३४-२४४
२३७ ,, गाथा २५०-२६२
२३८ ,, गाथा २६९-२७०, २७३-२७६, २८६
२३९ ,, गाथा २९३-२९४
२४० ,, गाथा ३०९-३२२

दसवें अध्ययन का नाम सभिक्षु है। प्रथम नाम, क्षेत्र आदि निक्षेप की दृष्टि से 'स' पर चिन्तन किया है। उसके पश्चात् 'भिक्षु' का निक्षेप की दृष्टि से विचार किया है। भिक्षु के तीर्ण, तायी, द्रव्य, व्रती, क्षान्त, दान्त, विरत, मुनि, तापस, प्रज्ञापक, ऋजु, भिक्षु, बुद्ध, यति, विद्वान्, प्रव्रजित, अनगार, पाखण्डी, चरक, ब्राह्मण, परिव्राजक, श्रमण, निर्ग्रन्थ, सयत, मुक्त, साधु, रूक्ष, तीरार्थी आदि पर्यायवाची दिये हैं। पूर्व मे श्रमण के जो पर्यायवाची शब्द दिये गये हैं उनमे भी इनमे के कुछ शब्द आ गये हैं।[२४१]

चूलिका का निक्षेप द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप से चार प्रकार का है। यहाँ पर भावचूला अभिप्रेत है, जो क्षायोपशमिक है। रति का निक्षेप भी चार प्रकार का है। जो रतिकर्म के उदय के कारण होती है—वह भाव-रति है, वह धर्म के प्रति रतिकारक और अधर्म के प्रति अरतिकारक है। इस प्रकार दशवैकालिकनिर्युक्ति की तीन सौ इकहत्तर गाथाओ मे अनेक लौकिक और धार्मिक कथाओ एव सूक्तियो के द्वारा सूत्रार्थ को स्पष्ट किया गया है। हिंगुशिव, गन्धर्विका, सुभद्रा, मृगावती, नलदाम और गोविन्दवाचक आदि की कथाओ का संक्षेप मे नामोल्लेख हुआ है। सम्राट् कूणिक ने गणधर गौतम से जिज्ञासा प्रस्तुत की—भगवन्! चक्रवर्ती मर कर कहाँ उत्पन्न होते है? समाधान दिया गया—सयम ग्रहण न करें तो सातवे नरक मे। पुन जिज्ञासा प्रस्तुत हुई—भगवन्! मैं कहाँ पर उत्पन्न होऊँगा? गौतम ने समाधान दिया—छठे नरक मे। प्रश्नोत्तर के रूप मे कही-कही पर तार्किक शैली के भी दर्शन होते है।

भाष्य

निर्युक्तियो की व्याख्याशैली बहुत ही सक्षिप्त और गूढ थी। निर्युक्तियो का मुख्य लक्ष्य पारिभाषिक शब्दो की व्याख्या करना था। निर्युक्तियो के गुरु गम्भीर रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए कुछ विस्तार से प्राकृत भाषा मे जो पद्यात्मक व्याख्याए लिखी गई, वे भाष्य के नाम से विश्रुत हैं। भाष्यो मे अनेक प्राचीन अनुश्रुतिया, लौकिक कथाएँ और परम्परागत श्रमणो के आचार-विचार और गतिविधियो का प्रतिपादन किया गया है। दशवैकालिक पर जो भाष्य प्राप्त है, उसमे कुल ६३ गाथाए है। दशवैकालिकचूर्णि मे भाष्य का उल्लेख नही है, आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्ति मे भाष्य और भाष्यकार का अनेक स्थलो पर उल्लेख किया है[२४२], भाष्यकार के नाम का उल्लेख नही किया और न अन्य किसी विज्ञ ने ही इस सम्बन्ध मे सूचन किया है।[२४३] जिन गाथाओ को आचार्य हरिभद्र ने भाष्यगत माना है, वे गाथाए चूर्णि मे भी है। इससे यह स्पष्ट है कि भाष्यकार चूर्णिकार से पूर्ववर्ती हैं। इसमे हेतु, विशुद्धि, प्रत्यक्ष, परोक्ष, मूलगुणो व उत्तरगुणो का प्रतिपादन किया गया है। अनेक प्रमाण देकर जीव की ससिद्धि की गई है। दशवैकालिकभाष्य दशवैकालिकनिर्युक्ति की अपेक्षा बहुत ही सक्षिप्त है।

चूर्णि

आगमो पर निर्युक्ति और भाष्य के पश्चात् शुद्ध प्राकृत मे और सस्कृत मिश्रित प्राकृत मे गद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी गईं। वे चूर्णि के रूप मे विश्रुत हैं। चूर्णिकार के रूप मे जिनदासगणी महत्तर का नाम अत्यन्त

---

२४१ दशवैकालिक, गाथा ३४५-३४७

२४२. (क) भाष्यकृता पुनरुपन्यस्त इति। —दशवै. हारिभद्रीय टीका, प. ६४
(ख) आह च भाष्यकार। —दशवै हारिभद्रीय टीका, प १२०
(ग) व्यासार्थस्तु भाष्यादवसेय। —दशवै हा टी, प. १२८

२४३ तामेव निर्युक्तिगाथा लेशतो व्याचिख्यासुराह भाष्यकार।—एतदपि नित्यत्वादिप्रसाधकमिति निर्युक्तिगाथायामनुपन्यस्तमप्युक्त सूक्ष्मधिया भाष्यकारेणेति गाथार्थ। —दशवै हारि टीका, पत्र १३२

गौरव के साथ लिया जा सकता है। उनके द्वारा लिखित सात आगमो पर चूर्णियां प्राप्त हैं। उनमें एक चूर्णि दशवैकालिक पर भी है। दशवैकालिक पर दूसरी चूर्णि अगस्त्यसिंह स्थविर की है। आगमप्रभाकर पुण्यविजयजी महाराज ने उसे सपादित कर प्रकाशित किया है। उनके अभिमतानुसार अगस्त्यसिंह स्थविर द्वारा रचित चूर्णि का रचनाकाल विक्रम की तीसरी शताब्दी के आस-पास है।[२४४] अगस्त्यसिंह कोटिगणीय वज्रस्वामी की शाखा के एक स्थविर थे, उनके गुरु का नाम ऋषिगुप्त था। इस प्रकार दशवैकालिक पर दो चूर्णिया प्राप्त हैं—एक जिनदासगणी महत्तर की, दूसरी अगस्त्यसिंह स्थविर की। अगस्त्यसिंह ने अपनी वृत्ति को चूर्णि की सज्ञा प्रदान की है—"चुण्णिसमासवयणेण दसकालिय परिसमत्त।"

अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्णि मे सभी महत्त्वपूर्ण शब्दो की व्याख्या की है। इस व्याख्या के लिए उन्होंने विभाषा[२४५] शब्द का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य मे सूत्र-मूल और विभाषा-व्याख्या के ये दो प्रकार है। विभाषा का मुख्य लक्षण है—शब्दो के जो अनेक अर्थ होते है, उन सभी अर्थों को बताकर, प्रस्तुत मे जो अर्थ उपयुक्त हो उसका निर्देश करना। प्रस्तुत चूर्णि मे यह पद्धति अपनाने के कारण इसे 'विभाषा' कहा गया है, जो सर्वथा उचित है।

चूर्णिसाहित्य की यह सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है कि अनेक दृष्टान्तो व कथाओ के माध्यम से मूल विषय को स्पष्ट किया जाता है। अगस्त्यसिंह स्थविर ने अपनी चूर्णि मे अनेक ग्रन्थो के अवतरण दिए है जो उनकी बहुश्रुतता को व्यक्त करते हैं।

मूल आगमसाहित्य मे श्रद्धा की प्रमुखता थी। निर्युक्तिसाहित्य मे अनुमानविद्या या तर्कविद्या को स्थान मिला। उसका विशदीकरण प्रस्तुत चूर्णि मे हुआ है। उनके पश्चात् आचार्य अकलक आदि ने इस विषय को आगे बढाया है। अगस्त्यसिंह के सामने दशवैकालिक की अनेक वृत्तिया थी, सम्भव है, वे वृत्तिया या व्याख्याए मौखिक रही हो, इसलिए उपदेश शब्द का प्रयोग लेखक ने किया है। 'भद्दियायरि ओवएस' और 'दत्तिलायरि ओवएस' की उन्होने कई बार चर्चा की है। यह सत्य है कि दशवैकालिक की वृत्तिया प्राचीनकाल से ही प्रारम्भ हो चुकी थी। आचार्य अपराजित जो यापनीय थे, उन्होने दशवैकालिक की विजयोदया नामक टीका लिखी थी।[२४६] पर यह टीका स्थविर अगस्त्यसिंह के समक्ष नही थी। अगस्त्यसिंह ने अपनी चूर्णि म अनेक मतभेद या व्याख्यान्तरो का भी उल्लेख किया है।[२४७]

ध्यान का सामान्य लक्षण "एगग्ग चिन्ता-निरोहो झाण" की व्याख्या मे कहा है कि एक आलम्बन की चिन्ता करना, यह छद्मस्थ का ध्यान है। योग का निरोध केवली का ध्यान है, क्योकि केवली को चिन्ता नही होती।

ज्ञानावरण का स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि प्राकृतभाषानिबद्ध सूत्र का सस्कृत रूपान्तर नही करना चाहिए क्योकि व्यञ्जन मे विसवाद करने पर अर्थ-विसवाद होता है।

---

२४४ बृहत्कल्पभाष्य, भाग ६, आमुख पृ. ४

२४५ विभाषा शब्द का अर्थ देखें—'शाकटायन-व्याकरण', प्रस्तावना पृ ६९। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

२४६ दशवैकालिकटीकाया श्री विजयोदयाया प्रपञ्चिता उद्गमादिदोषा इति नेह प्रतन्यते ॥

— भगवती आराधना टीका, विजयोदया गाथा ११९५

२४७ दशवै अगस्त्यसिंहचूर्णि, २-२९, ३-५, १६-९, २५-५, ६४-४, ७८-२९, ८१-३४, १००-२५, आदि।

'रात्रिभोजनविरमणव्रत' को मूलगुण माना जाय या उत्तरगुण ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा है कि यह उत्तरगुण ही है किन्तु मूलगुण की रक्षा का हेतु होने से मूलगुण के साथ कहा गया है। वस्त्रपात्रादि सयम और लज्जा के लिए रखे जाते हैं अत वे परिग्रह नही हैं। मूर्च्छा ही परिग्रह है। चोलपट्टकादि का भी उल्लेख है।

धर्म की व्यावहारिकता का समर्थन करते हुए कहा है--अनन्तज्ञानी भी गुरु की उपासना अवश्य करे (९।१।११)।

'देहदुक्ख महाफल' की व्याख्या मे कहा है 'दुक्ख एव साहिज्जमाण मोक्खपज्जवसाणफलत्तेण महाफल।' बौद्धदर्शन ने चित्त को ही नियत्रण मे लेना आवश्यक माना तो उसका निराकरण करते हुए कहा—'काय का भी नियत्रण आवश्यक है।'

दार्शनिक विषयो की चर्चाएँ भी यत्र-तत्र हुई है। प्रस्तुत चूर्णि मे तत्त्वार्थसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, व्यवहारभाष्य, कल्पभाष्य आदि ग्रन्थो का भी उल्लेख हुआ है।

दशवैकालिक चूर्णि (जिनदास)

चूर्णि-साहित्य के निर्माताओ मे जिनदासगणी महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। जिनदासगणी महत्तर के जीवनवृत्त के सम्बन्ध मे विशेष सामग्री अनुपलब्ध है। विज्ञो का अभिमत है कि चूर्णिकार जिनदासगणी महत्तर भाष्यकार जिनभद्र क्षमाश्रमण के पश्चात् और आचार्य हरिभद्र के पहले हुए है। क्योकि भाष्य की अनेक गाथाओ का उपयोग चूर्णियो मे हुआ है। आचार्य हरिभद्र ने अपनी वृत्तियो मे चूर्णियो का उपयोग किया है। आचार्य जिनदासगणी का समय विक्रम सवत ६५० स ७५० के मध्य होना चाहिए। नदीचूर्णि के उपसहार मे उसका रचनासमय शक सवत् ५९८ अर्थात् विक्रम सवत् ७३३ है—इससे भी यही सिद्ध होता है। आचार्य जिनदासगणी महत्तर की दशवैकालिकनिर्युक्ति के आधार पर दशवैकालिक-चूर्णि लिखी गई है। यह चूर्णि सस्कृतमिश्रित प्राकृत भाषा मे रचित है, किन्तु सस्कृत कम और प्राकृत अधिक है। प्रथम अध्ययन मे एक्क, काल, द्रुम, धर्म आदि पदो का निक्षेपदृष्टि से चिन्तन किया है। आचार्य शय्यम्भव का जीवनवृत्त भी दिया है। दस प्रकार के श्रमण धर्म, अनुमान के विविध अवयव आदि पर प्रकाश डाला है। द्वितीय अध्ययन मे श्रमण के स्वरूप पर चिन्तन करते हुए- पूर्व, काम, पद, आदि पदो पर विचार किया गया है। तृतीय अध्ययन मे दृढधृतिक के आचार का प्रतिपादन है। उसमे महत्, क्षुल्लक, आचार - दर्शनाचार, ज्ञानाचार, तपाचार, वीर्याचार, अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, मिश्रकथा, अनाचीर्ण आदि का भी विश्लेषण किया गया है।

चतुर्थ अध्ययन मे जीव, अजीव, चारित्र, यतना, उपदेश, धर्मफल आदि का परिचय दिया है। पञ्चम अध्ययन मे श्रमण के उत्तरगुण—पिण्डस्वरूप, भक्तपानैषणा, गमनविधि, गोचरविधि, पानकविधि, परिष्ठापनविधि, भोजनविधि, आदि पर विचार किया गया है। षष्ठ अध्ययन मे धर्म, अर्थ, काम, व्रतषट्क, कायषट्क आदि का प्रतिपादन है। इसमे आचार्य का सस्कृतभाषा के व्याकरण पर प्रभुत्व दृष्टिगोचर होता है। सप्तम अध्ययन मे भाषा सम्बन्धी विवेचना है। अष्टम अध्ययन मे इन्द्रियादि प्रणिधियो पर विचार किया है। नौवे अध्ययन मे लोकोपचार विनय, अर्थविनय, कामविनय, भयविनय, मोक्षविनय की व्याख्या है। दशम अध्ययन मे भिक्षु के गुणो का उत्कीर्तन किया है। चूलिकाओ मे रति, अरति, विहारविधि, गृहिवैयावृत्य का निषेध, अनिकेतवास प्रभृत्ति विषयो से सम्बन्धित विवेचना है। चूर्णि मे तरगवती, ओघनिर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति आदि ग्रन्थो का नामनिर्देश भी किया गया है।

प्रस्तुत चूर्णि मे अनेक कथाएँ दी गई है, जो बहुत ही रोचक तथा विषय को स्पष्ट करने वाली हैं। उदाहरण के रूप मे हम यहाँ एक-दो कथाएँ दे रहे हैं—

प्रवचन का उड्डाह होने पर किस प्रकार प्रवचन की रक्षा की जाए ? इसे समझाने के लिए हिंगुशिव नामक वानव्यन्तर की कथा है। एक माली पुष्पो को लेकर जा रहा था। उसी समय उसे शौच की हाजत हो गई। उसने रास्ते मे ही शौच कर उस अशुचि पर पुष्प डाल दिए। राहगीरो ने पूछा—यहाँ पर पुष्प क्यो डाल रखे हैं ? उत्तर मे माली ने कहा—मुझे प्रेतबाधा हो गई थी। यह हिंगुशिव नामक वानव्यन्तर है।

इसी प्रकार यदि कभी प्रमादवश प्रवचन की हँसी का प्रसग उपस्थित हो जाय तो उसकी बुद्धिमानी से रक्षा करें।

एक लोककथा बुद्धि के चमत्कार को उजागर कर रही है—

एक व्यक्ति ककडियो से गाडी भरकर नगर मे बेचने के लिए जा रहा था। उसे मार्ग मे एक धूर्त मिला, उसने कहा—मैं तुम्हारी ये गाडी भर ककडियाँ खा लू तो मुझे क्या पुरस्कार दोगे ? ककडी वाले ने कहा—मैं तुम्हे इतना बडा लड्डू दू गा जो नगरद्वार मे से निकल न सके। धूर्त ने बहुत सारे गवाह बुला लिए और उसने थोडी-थोडी सभी ककडियां खाकर पुन गाडी मे रख दी और लगा लड्डू मागने। ककडी वाले ने कहा—शर्त के अनुसार तुमने ककडिया खाई ही कहाँ है ? धर्त ने कहा—यदि ऐसी बात है तो ककडियाँ बेचकर देखो।

ककडियो की गाडी को देखकर बहुत सारे व्यक्ति ककडिया खरीदने को आ गये। पर ककडियो को देखकर उन्होने कहा—खाई हुई ककडिया बेचने के लिए क्यो लेकर आए हो ?

अन्त मे धूर्त और ककडी वाला दोनो न्याय कराने हेतु न्यायाधीश के पास पहुचे। ककडी वाला हार गया और धूर्त जित गया। उसने पुन लड्डू मागा। ककडी वाले ने उसे लड्डू के बदले मे बहुत सारा पुरस्कार देना चाहा पर वह लड्डू लेने के लिए ही अडा रहा। नगर के द्वार मे बडा लड्डू बनाना कोई हँसी-खेल नही था। ककडी वाले को परेशान देखकर एक दूसर धूर्त ने उसे एकान्त मे ले जाकर उपाय बताया कि एक नन्हा सा लड्डू बनाकर उसे नगर द्वार पर रख देना और कहना- 'लड्डू ! दरवाजे मे बाहर निकल आओ।' पर लड्डू निकलेगा नही, फिर तुम वह लड्डू उसे यह कहकर दे देना कि यह लड्डू द्वार मे से नही निकल रहा है।

इस प्रकार अनेक कथाए प्रस्तुत चूर्णि मे विषय को स्पष्ट करने के लिए दी गई हैं।

टीकाएं

चूर्णि साहित्य के पश्चात सस्कृतभाषा मे टीकाओ का निर्माण हुआ। टीकायुग जैन साहित्य के इतिहास मे स्वर्णिम युग के रूप मे विश्रुत है। निर्युक्तिसाहित्य मे आगमो के शब्दो की व्याख्या और व्युत्पत्ति है। भाष्यसाहित्य मे आगमो के गम्भीर भावो का विवेचन है। चूर्णिसाहित्य मे निगूढ भावो को लोककथाओ तथा ऐतिहासिक वृत्तो के आधार से समझाने का प्रयास है तो टीकासाहित्य मे आगमो का दार्शनिक दृष्टि से विश्लेषण है। टीकाकारो ने प्राचीन निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णि साहित्य का अपनी टीकाओ मे प्रयोग किया ही है और साथ ही नये हेतुओ का भी उपयोग किया है। टीकाएँ सक्षिप्त और विस्तृत दोनों प्रकार की हैं। टीकाओ के

विविध नामों का प्रयोग भी आचार्यों ने किया है, जैसे—टीका, वृत्ति, विवृत्ति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, दीपिका, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पणक, पर्याय, स्तवक, पीठिका, अक्षरार्द्ध।

इन टीकाओं में केवल आगमिक तत्त्वों पर ही विवेचन नहीं हुआ अपितु उस युग की सामाजिक, सांस्कृतिक और भौगोलिक परिस्थितियों का भी इनसे सम्यक् परिज्ञान हो जाता है। संस्कृत टीकाकारों में आचार्य हरिभद्र का नाम सर्वप्रथम है। वे संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। उनका सत्ता-समय विक्रम संवत् ७५७ से ८२८ है। प्रभावकचरित के अनुसार उनके दीक्षागुरु आचार्य जिनभट थे किन्तु स्वयं आचार्य हरिभद्र ने उनका गच्छपति गुरु के रूप में उल्लेख किया है और जिनदत्त को दीक्षागुरु माना है।[२४८] याकिनी महत्तरा उनकी धर्ममाता थीं, उनका कुल विद्याधर था। उन्होंने अनेक आगमों पर टीकाएं लिखी हैं, वर्तमान में ये आगमटीकाएं प्रकाशित हो चुकी हैं—नन्दीवृत्ति, अनुयोगद्वारवृत्ति, प्रज्ञापनाप्रदेशव्याख्या, आवश्यकवृत्ति और दशवैकालिकवृत्ति।

दशवैकालिकवृत्ति के निर्माण का मूल आधार दशवैकालिकनिर्युक्ति है। शिष्यबोधिनीवृत्ति या बृहद्वृत्ति ये दो नाम इस वृत्ति के उपलब्ध हैं। वृत्ति के प्रारम्भ में दशवैकालिक का निर्माण कैसे हुआ? इस प्रश्न के समाधान में आचार्य शय्यम्भव का जीवनवृत्त दिया है। तप के वर्णन में आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल ध्यान का निरूपण किया गया है। अनेक प्रकार के श्रोता होते हैं, उनकी दृष्टि से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण विभिन्न अवयवों की उपयोगिता, उनके दोषों की शुद्धि का प्रतिपादन किया है।

द्वितीय अध्ययन की वृत्ति में श्रमण, पूर्व, काम, पद आदि शब्दों पर चिन्तन करते हुए तीन योग, तीन करण, चार संज्ञा, पांच इन्द्रिय, पांच स्थावर, दस श्रमणधर्म, अठारह शीलांगसहस्र का निरूपण किया गया है।

तृतीय अध्ययन की वृत्ति में महत्, क्षुल्लक पदों की व्याख्या है। पांच आचार, चार कथाओं का उदाहरण सहित विवेचन है।

चतुर्थ अध्ययन की वृत्ति में जीव के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है। पांच महाव्रत, छठा रात्रि-भोजनविरमणव्रत, श्रमणधर्म की दुर्लभता का चित्रण है। पञ्चम अध्ययन की वृत्ति में आहारविषयक विवेचन है। छठे अध्ययन की वृत्ति में व्रतषट्क, कायषट्क, अकल्प, गृहिभाजन, पर्यङ्क, निषद्या, स्नान और शोभा-वर्जन, इन अष्टादश स्थानों का निरूपण है, जिनके परिज्ञान से ही श्रमण अपने आचार का निर्दोष पालन कर सकता है। सातवें अध्ययन की व्याख्या में भाषाशुद्धि पर चिन्तन किया है। आठवें अध्ययन की व्याख्या में आचार में प्रणिधि की प्रक्रिया और उसके फल पर प्रकाश डाला है। नौवें अध्ययन में विनय के विविध प्रकार और उससे होने वाले फल का प्रतिपादन किया है। दसवें अध्ययन की वृत्ति में सुभिक्षु का स्वरूप बताया है। चूलिकाओं में भी धर्म के रतिजनक, अरतिजनक कारणों पर प्रकाश डाला गया है।

प्रस्तुत वृत्ति में अनेक प्राकृतकथानक व प्राकृत संस्कृत भाषा के उद्धरण भी आये हैं। दार्शनिक चिन्तन भी यत्र-तत्र मुखरित हुआ है। आचार्य हरिभद्र संविग्न-पाक्षिक थे। वह काल चैत्यवास के उत्कर्ष का काल था। चैत्यवासी और संविग्न-पक्ष में परस्पर संघर्ष की स्थिति थी। चैत्यवासियों के पास पुस्तकों का संग्रह था।

---

२४८ सितांबराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनी-महत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य। —आवश्यकनिर्युक्ति टीका का अन्त

सविग्न-पक्ष के पास प्राय. पुस्तको का अभाव था। चैत्यवासी उनको पुस्तके नही देते थे। वे तो सविग्न-पक्ष को मिटाने पर तुले हुए थे, यही कारण है कि आचार्य हरिभद्र को अपनी वृत्ति लिखते समय अगस्त्यसिंह चूर्णि आदि उपलब्ध न हुई हो। यदि उपलब्ध हुई होती तो वे उसका अवश्य ही सकेत करते।

आचार्य हरिभद्र के पश्चात् अपराजितसूरि ने दशवैकालिक पर एक वृत्ति लिखी, जो वृत्ति 'विजयोदया' नाम से प्रसिद्ध है। अपराजितसूरि यापनीय सघ के थे। इनका समय विक्रम की आठवी शताब्दी है। उन्होने अपने द्वारा रचित आराधना की टीका मे इस बात का उल्लेख किया है। यह टीका उपलब्ध नही है। आचार्य हरिभद्र की टीका का अनुसरण करके तिलकाचार्य ने भी एक टीका लिखी है। इनका समय १३ वी-१४ वी शताब्दी है। माणिक्यशेखर ने दशवैकालिक पर निर्युक्तिदीपिका लिखी है। माणिक्यशेखर का समय पन्द्रहवी शताब्दी है। समयसुन्दर ने दशवैकालिक पर दीपिका लिखी है। इनका समय विक्रम सवत् १६११ से १६८१ तक है। विनयहस ने दशवैकालिक पर वृत्ति लिखी है, इनका समय विक्रम सवत् १५७३ है। रामचन्द्रसूरि ने दशवैकालिक पर वार्तिक लिखा है, इनका समय विक्रम स० १६७८ है। इसी प्रकार शान्तिदेवसूरि, सोम-विमलसूरि, राजचन्द्र, पारसचन्द्र, ज्ञानसागर प्रभृति मनीषियो ने भी दशवैकालिक पर टीकाएँ लिखी हैं। पायचन्द्रसूरि और धर्मसिंह मुनि, जिनका समय विक्रम की १८ वी शताब्दी है, ने गुजराती-राजस्थानी मिश्रित भाषा मे टब्बा लिखा। टब्बे मे टीकाओ की तरह नया चिन्तन और स्पष्टीकरण नही है। इस प्रकार समय-समय पर दशवैकालिक पर आचार्यों ने विराट् व्याख्या साहित्य लिखा है। पर यह सत्य है कि अगस्त्यसिंह स्थविर विरचित चूर्णि, जिनदासगणी महत्तर विरचित चूर्णि और आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित वृत्ति इन तीनो का व्याख्यासाहित्य मे विशिष्ट स्थान है। परवर्ती विज्ञो ने अपनी वृत्तियो मे इनके मौलिक चिन्तन का उपयोग किया है। टब्बे के पश्चात् अनुवाद युग का प्रारम्भ हुआ। आचार्य अमोलकऋषिजी ने दशवैकालिक का हिन्दी अनुवाद लिखा। उसके बाद अनेक विज्ञो के हिन्दी अनुवाद प्रकाश मे आए। इसी तरह गुजराती और अग्रेजी भाषा मे भी अनुवाद हुए तथा आचार्य आत्माराम जी महाराज ने दशवैकालिक पर हिन्दी मे विस्तृत टीका लिखी। यह टीका मूल के अर्थ को स्पष्ट करने मे सक्षम है। अनुसधान-युग मे आचार्य तुलसी के नेतृत्व मे मुनि श्री नथमल जी ने "दसवेआलिय" ग्रन्थ तैयार किया, जिसमे मूल पाठ के साथ विषय को स्पष्ट करने के लिए शोधप्रधान टिप्पण दिए गये हैं। इस प्रकार अतीत मे वर्तमान तक दशवैकालिक पर व्याख्याएँ और विवेचन लिखा गया है, जो इस आगम की लोकप्रियता का ज्वलन्त उदाहरण है।

प्राचीन युग मे मुद्रण का अभाव था इसलिए ताडपत्र या कागज पर आगमो का लेखन होता रहा। मुद्रण युग प्रारम्भ होने पर आगमो का मुद्रण प्रारम्भ हुआ। सर्व प्रथम सन् १९०० मे हरिभद्र और समयसुन्दर की वृत्ति के साथ दशवैकालिक का प्रकाशन भीमसी माणेक बम्बई ने किया। उसके पश्चात् सन् १९०५ मे दशवैकालिक दीपिका का प्रकाशन हीरालाल हसराज (जामनगर) ने किया। सन् १९१५ मे समयसुन्दर विहित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन हीरालाल हसराज (जामनगर) ने करवाया। सन् १९११ मे समय-सुन्दर विहित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन जिनयश सूरि ग्रन्थमाला खम्भात से हुआ। सन् १९१८ मे भद्रबाहुकृत निर्युक्ति तथा हारिभद्रीया वृत्ति के साथ दशवैकालिक का प्रकाशन देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार बम्बई ने किया। निर्युक्ति तथा हारिभद्रीयावृत्ति के साथ विक्रम सवत् १९९९ मे मनसुखलाल हीरालाल बम्बई ने दशवैकालिक का एक सस्करण प्रकाशित किया। दशवैकालिक का भद्रबाहु निर्युक्ति सहित प्रकाशन आग्ल भाषा मे E Leumann द्वारा ZDMG से प्रकाशित करवाया गया (Vol 46, PP 581-663)। सन् १९३३ मे जिनदासकृत चूर्णि का प्रकाशन ऋषभदेवजी केसरीमलजी जैन श्वेताम्बर सस्था रतलाम से

हुआ। सन् १९४० में सस्कृत टीका के साथ संपादक आचार्य हस्तीमलजी महाराज ने जो दशवैकालिका का सस्करण तैयार किया वह मोतीलाल बालचन्द मूथा सतारा के द्वारा प्रकाशित हुआ। सन् १९५४ मे सुमति साधु विरचित वृत्ति सहित दशवैकालिक का प्रकाशन देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार सूरत से हुआ। निर्युक्ति, अगस्त्यसिंह चूर्णि का सर्वप्रथम प्रकाशन सन् १९७३ मे पुण्यविजय जी म द्वारा सपादित होकर प्राकृत ग्रन्थ परिषद् वाराणसी द्वारा किया गया।

विक्रम सवत् १९८९ मे आचार्य आत्मारामजी कृत हिन्दी टीका सहित दशवैकालिका का सस्करण ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जौहरी महेन्द्रगढ (पटियाला) ने प्रकाशित किया। उसी का द्वितीय सस्करण विक्रम सवत् २००३ मे जैनशास्त्रमाला कार्यालय लाहौर से हुआ। सन् १९५७ और १९६० मे आचार्य घासीलाल जी म विरचित सस्कृतव्याख्या और उसका हिन्दी और गुजराती अनुवाद जैनशास्त्रोद्धार समिति राजकोट से हुआ। वीर सवत् २४४६ मे आचार्य अमोलक ऋषि जी ने हिन्दी अनुवाद सहित दशवैकालिक का एक सस्करण प्रकाशित किया। वि स २००० मे मुनि अमरचद्र पजाबी सपादित दशवैकालिक का सस्करण विलायतीराम अग्रवाल माच्छीवाडा द्वारा प्रकाशित हुआ और सवत् २००२ मे घेवरचद जी बांडिया द्वारा सम्पादित सस्करण सेठिया जैन पारमार्थिक सस्था बीकानेर द्वारा और बाठिया द्वारा ही सपादित दशवैकालिक का एक सस्करण सवत् २०२० मे साधुमार्गी जैन सस्कृति रक्षक सघ सैलाना से प्रकाशित हुआ। सन् १९३६ मे हिन्दी अनुवाद सहित मुनि सौभाग्यचन्द्र सन्तबाल ने सपादित किया, वह सस्करण श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फ्रेस बम्बई ने प्रकाशित करवाया।

मूल टिप्पण सहित दशवैकालिक का एक अभिनव सस्करण मुनि नथमल जी द्वारा सपादित वि संवत् २०२० मे जैन श्वेताम्बर तेरापथी सभा पोर्चुगीज चर्च स्ट्रीट, कलकत्ता से और उसी का द्वितीय सस्करण सन् १९७४ मे जैन विश्व भारती लाडनूं से प्रकाशित हुआ। सन् १९३९ में दशवैकालिक का गुजराती छायानुवाद गोपालदास जीवाभाई पटेल ने तैयार किया, वह जैन साहित्य प्रकाशन समिति अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ। इसी तरह दशवैकालिक का अग्रेजी अनुवाद जो W Schubring द्वारा किया गया, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। सन् १९३७ मे पी एल वैद्य पूना ने भी दशवैकालिक का आग्ल अनुवाद कर उसे प्रकाशित किया है।

दशवैकालिक का मूल पाठ सन् १९१२, सन् १९२४ मे जीवराज घेलाभाई दोशी अहमदाबाद तथा सन् १९३० मे उम्मेदचद रायचद अहमदाबाद, सन् १९३८ मे हीरालाल हसराज जामनगर, वि स २०१० मे शान्तिलाल वनमाली सेठ ब्यावर, सन् १९७४ मे श्री तारक गुरु जैन ग्रन्थालय उदयपुर तथा अन्य अनेक स्थलो से दशवैकालिक के मूल सस्करण छपे हैं। श्री पुण्यविजयजी द्वारा सपादित और श्री महावीर जैन विद्यालय बम्बई से सन् १९७७ मे प्रकाशित सस्करण सभी मूल सस्करणो से अधिक महत्त्वपूर्ण है। इस सस्करण मे प्राचीनतम प्रतियो के आधार से अनेक शोधप्रधान पाठान्तर दिए गए है, जो शोधार्थियो के लिए बहुत ही उपयोगी है। पाठ शुद्ध है।

स्थानकवासी समाज एक प्रबुद्ध और क्रान्तिकारी समाज है। उसने समय-समय पर विविध स्थानो से आगमो का प्रकाशन किया तथापि आधुनिक दृष्टि से आगमो के सर्वजनोपयोगी सस्करण का अभाव खटक रहा था। उस अभाव की पूर्ति का सकल्प मेरे श्रद्धेय सद्गुरुवर्य राजस्थानकेसरी अध्यात्मयोगी पूज्य उपाध्याय श्री पुष्करमुनि जी म के स्नेह-साथी व सहपाठी श्रमण सघ के युवाचार्य श्री मिश्रीमल जी मधुकर मुनि जी ने किया। युवाचार्य श्री ने इस महाकार्य को शीघ्र सम्पन्न करने हेतु सम्पादकमण्डल का गठन किया और साथ

ही विविध मनीषियो को सम्पादन, विवेचन करने के लिए उत्प्रेरित किया। परिणामस्वरूप सन् १९८३ तक अनेक आगम शानदार ढंग से प्रकाशित हुए। अत्यन्त द्रुतगति से आगमो के प्रकाशन कार्य को देखकर मनीषीगण आश्चर्यान्वित हो गए। पर किसे पता था कि युवाचार्य श्री का स्वप्न उनके जीवनकाल मे साकार नही हो पायेगा। नवबर १९८३ को नासिक मे हृदय-गति रुक जाने से यकायक उनका स्वर्गवास हो गया। उनकी प्रबल प्रेरणा थी कि दशवैकालिक के अभिनव सस्करण का सपादन मेरी ज्येष्ठ भगिनी परमविदुषी महासतीजी श्री पुष्पवतीजी करे। बहिन जी महाराज को भी सम्पादन-कार्य मे पूजनीया मातेश्वरी महाराज के स्वर्गवास से व्यवधान उपस्थित हुआ जिसके कारण न चाहते हुए भी इस कार्य मे काफी विलम्ब हो गया। युवाचार्य श्री इस आगम के सम्पादनकार्य को नही देख सके।

दशवैकालिक का मूल पाठ प्राचीन प्रतियो के आधार से विशुद्ध रूप से देने का प्रयास किया गया है। मूल पाठ के साथ हिन्दी मे भावानुवाद भी दिया गया है। आगमो के गम्भीर रहस्यो को स्पष्ट करने के लिए सक्षेप मे विवेचन भी लिखा है। विवेचन मे निर्युक्ति, चूर्णि, टीका और अन्यान्य आगमो का उपयोग किया गया है। यह विवेचन सारगर्भित, सरल और सरस हुआ है। कई अज्ञात तथ्यो को इस विवेचन मे उद्घाटित किया गया है। अनुवाद और विवेचन की भाषा सरल, सुबोध और सरस है। शैली चित्ताकर्षक और मोहक है। बहिन जी महाराज की विलक्षण प्रतिभा का यत्र-तत्र सदर्शन होता है। यद्यपि उन्होने आगम का सम्पादनकार्य सर्वप्रथम किया है तदपि वे इस कार्य मे पूर्ण सफल रही है। यह विवेचन हर दृष्टि से मौलिक है। मुझे आशा ही नही अपितु दृढ विश्वास है कि इस सस्करण का सर्वत्र समादर होगा, क्योकि इसकी सम्पादन शैली आधुनिकतम है और गुरु गम्भीर रहस्यो को स्पष्ट करने वाली है। ग्रन्थ मे अनेक परिशिष्ट भी दिए गए है, विशिष्ट शब्दो का अर्थ भी दिया गया है, जिससे यह सस्करण शोधार्थियों के लिए भी परम उपयोगी सिद्ध होगा।

मै दशवैकालिक पर बहुत ही विस्तार से लिखना चाहता था पर समयाभाव व ग्रन्थाभाव के कारण चाहते हुए भी नही लिख सका, पर सक्षेप मे दशवैकालिक के सम्बन्ध मे लिख चुका हू और इतना लिखना आवश्यक भी था।

जैन-भवन
लोहामण्डी, आगरा-२
(उत्तरप्रदेश)
अक्षय तृतीया
दि ४-५-८४

-देवेन्द्रमुनि शास्त्री

विषयानुक्रम

दशवैकालिकसूत्र : परिचय ३

प्रथम अध्ययन : द्रुमपुष्पिका

प्राथमिक ६
मगलाचरण ८
श्रमणधर्म-भिक्षाचरी और मधुकर-वृत्ति १७
श्रमणधर्मपालक भिक्षाजीवी साधुओ के गुण २३

द्वितीय अध्ययन : श्रामण्यपूर्वक

प्राथमिक २५
कामनिवारण के अभाव मे श्रामण्यपालन असभव २७
अत्यागी और त्यागी का लक्षण ३२
काम-भोग निवारण के उपाय ३५
काम-पराजित रथनेमि को सयम मे स्थिरता का राजीमती का उपदेश ३९
राजीमती के सुभाषित का परिणाम ४४
समस्त साधको के लिये प्रेरणा ४४

तृतीय अध्ययन : क्षुल्लकाचार-कथा

प्राथमिक ४७
निर्ग्रन्थ महर्षियो के लिये अनाचीर्ण ५३
अनाचीर्णों के नाम ५५
निर्ग्रन्थो के लिये पूर्वोक्त अनाचीर्ण अनाचरणीय ६९
निर्ग्रन्थो का विशिष्ट आचार ७०
शुद्ध श्रमणाचार-पालन का फल ७३

चतुर्थ अध्ययन : षड्जीवनिका

प्राथमिक ७६
षड्जीवनिकाय : नाम, स्वरूप और प्रकार ७९
षड्जीवनिकाय पर अश्रद्धा-श्रद्धा के परिणाम ९३
दण्डसमारम्भ के त्याग का उपदेश और शिष्य द्वारा स्वीकार ९६
शिष्य द्वारा सरात्रिभोजनविरमण पच महाव्रतो का स्वीकार १००
अहिंसा महाव्रत के संदर्भ मे : षट्काय-विराधना से विरति ११४
अयतना से पापकर्म का बन्ध और यतना से अबन्ध १२५
जीवादि तत्त्वो के ज्ञान का महत्त्व १३१
आत्मशुद्धि द्वारा विकास का आरोहक्रम १३६
सुगति की दुर्लभता और सुलभता १४२
षड्जीवनिकाय-विराधना न करने का उपदेश १४५

पंचम अध्ययन : पिण्डैषणा

प्राथमिक १४६
गोचरी (भिक्षाचर्या) के लिये गमनविधि १५०

ब्रह्मचर्य व्रत रक्षार्थ . वेश्यालयादि के निकट से गमन-निषेध १५६
भिक्षाचर्या के समय शरीरादि चेष्टा-विवेक १५८
गृह-प्रवेश-विधि-निषेध १६१
आहार-ग्रहण-विधि-निषेध १६८
अनिसृष्ट-आहार-ग्रहणनिषेध और नि सृष्ट ग्रहणविधान १७६
गर्भवती एव स्तनपायिनी नारी से भोजन लेने का निषेध-विधान १७७
शकित और उद्भिन्न दोषयुक्त आहार-ग्रहणनिषेध १८०
दानार्थ-प्राकृत आदि आहार-ग्रहण का निषेध १८१
औद्देशिकादि दोषयुक्त आहार-ग्रहणनिषेध १८३
वनस्पति-जल-अग्नि पर निक्षिप्त आहार-ग्रहणनिषेध १८४
अस्थिर शिलादि-सक्रमण करके गमन-निषेध और कारण १८९
'मालापहृत' दोषयुक्त आहार अग्राह्य १९०
आमक वनस्पति ग्रहण-निषेध १९१
सचित्तरज से लिप्त वस्तु भी अग्राह्य १९१
बहु-उज्झितधर्मा फल आदि के ग्रहण का निषेध १९२
पान-ग्रहण-निषेध-विधान १९४
भोजन करने की अपवादिक विधि १९६
साधु-साध्वियो के आहार करने की सामान्य विधि १९९
मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता और दोनो की सुगति २०५
पात्र मे गृहीत समग्र भोजन-सेवन का निर्देश २०६
पर्याप्त आहार न मिलने पर पुन आहार-गवेषणा-विधि २०६
यथाकालचर्या करने का विधान २०६
भिक्षार्थ गमनादि मे यतना-निर्देश २०९
सचित्त, अनिर्वृत्त, आमक एव अशस्त्र-परिणत के ग्रहण का निषेध २१२
सामुदानिक भिक्षा का विधान २१७
दीनता, स्तुति एव कोप आदि का निषेध २१८
स्वादलोलुप और मायावी साधु की दुर्वृत्ति का चित्रण और दुष्परिणाम २२१
मद्यपान स्तैन्यवृद्धि आदि तज्जनित दोष एव दुष्परिणाम २२२

षष्ठ अध्ययन : धर्मार्थकामाऽध्ययन (महाचार-कथा)

प्राथमिक २२९
राजा आदि द्वारा निर्ग्रन्थो के विषय मे जिज्ञासा २३१
आचार्य द्वारा निर्ग्रन्थाचार की दुश्चरता और अठारह स्थानो का निरूपण २३३
प्रथम आचारस्थान अहिंसा २३६
द्वितीय आचारस्थान सत्य (मृषावादविरमण) २३७
तृतीय आचारस्थान अदत्तादान-निषेध (अचौर्य) २३८
चतुर्थ आचारस्थान ब्रह्मचर्य (अब्रह्मचर्य-सेवन-निषेध) २३९
पचम आचारस्थान . अपरिग्रह (सर्वपरिग्रह-विरमण) २४१

छठा आचारस्थान रात्रिभोजन-विरमणव्रत २४४
सातवें से बारहवें तक आचारस्थान . षड्जीव-निकाय-सयम २४७
तेरहवा आचारस्थान . प्रथम उत्तरगुण अकल्प्य-वर्णन २५१
चौदहवा आचारस्थान गृहस्थ के भोजन मे परिभोगनिषेध २५३
पन्द्रहवां आचारस्थान पर्यंक आदि पर सोने-बैठने का निषेध २५५
सोलहवा आचारस्थान गृहनिषद्या-वर्जन २५६
सत्तरहवां आचारस्थान स्नान-वर्जन २५८
अठारहवा आचारस्थान विभूषात्याग २५९
आचारनिष्ठा निर्मलता एव निर्मोहता आदि का सुफल २६१

सप्तम अध्ययन : वाक्यशुद्धि

प्राथमिक २६४
चार प्रकार की भाषायें और वक्तव्य-अवक्तव्य-निर्देश २६६
कालादिविषयक निश्चयकारी भाषा-निर्देश २६९
सत्य किन्तु पीडाकारी कठोर भाषा का निषेध २७१
भाषा सबन्धी अन्य विधि-निषेध २७३
पचेन्द्रिय प्राणियो के विषय मे बोलने का निषेध-विधान २७५
वृक्षो एव वनस्पतियो के विषय मे अवाच्य एव वाच्य का निर्देश २७७
सखडि एव नदी के विषय मे निषिद्ध तथा विहित वचन २८१
परकृत सावद्य व्यापार के सम्बन्ध मे सावद्यवचन निषेध २८३
असाधु और साधु कहने का निषेध २८७
जय-पराजय प्रकृतिप्रकोपादि एव मिथ्यावाद के प्ररूपण का निषेध २८७
भाषाशुद्धि का अभ्यास अनिवार्य २९०
भाषाशुद्धि की फलश्रुति २९२

अष्टम अध्ययन : आहार-प्रणिधि

प्राथमिक २९३
आचार-प्रणिधि की प्राप्ति के पश्चात् कर्तव्य-निर्देश की प्रतिज्ञा २९५
अष्टविध सूक्ष्म जीवो की यतना का निर्देश २९९
प्रतिलेखन परिष्ठापन एव सर्वक्रियाओ मे यतना का निर्देश ३०१
दृष्ट, श्रुत और अनुभूत के कथन मे विवेक-निर्देश ३०३
रसनेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के विषयो मे समत्वसाधना का निर्देश ३०५
क्षुधा, तृषा आदि परीषहो को समभाव से सहने का उपदेश ३०७
रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध ३०७
क्रोध-लोभ-मान-मद-माया-प्रमादादि का निषेध ३०८
वीर्याचार की आराधना के विविध पहलू ३११
कषाय से हानि और इनके त्याग की प्रेरणा ३१२
रत्नाधिको के प्रति विनय और तप-सयम मे पराक्रम की प्रेरणा ३१५
प्रमादरहित होकर ज्ञानाचार मे सलग्न रहने की प्रेरणा ३१७
गुरु की पर्युपासना करने की विधि ३२०
स्व-पर-अहितकर भाषा-निषेध ३२१
ब्रह्मचर्य गुप्ति के विविध अगो के पालन का निर्देश ३२४
प्रव्रज्याकालिक श्रद्धा अन्त तक सुरक्षित रखे ३२९
आचारप्रणिधि का फल ३२९

नवम अध्ययन : विनयसमाधि

प्राथमिक ३३३

(क) प्रथम उद्देशक

अविनीत साधक द्वारा की गई गुरु-आशातना के दुष्परिणाम ३३६
गुरु (आचार्य) के प्रति विविध रूपो मे विनय का प्रयोग ३४०
गुरु (आचार्य) की महिमा ३४२
गुरु की आराधना का निर्देश और फल ३४२

(ख) द्वितीय उद्देशक

वृक्ष की उपमा से विनय के माहात्म्य और फल का निरूपण ३४६
अविनीत और सुविनीत के दोष-गुण तथा कुफल-सुफल का निरूपण ३४७
लौकिक विनय की तरह लोकोत्तर विनय की अनिवार्यता ३४९
गुरुविनय करने की विधि ३५१
अविनीत और विनीत को सम्पत्ति, मुक्ति आदि की अप्राप्ति एव प्राप्ति का निरूपण ३५४

(ग) तृतीय उद्देशक

विनीत साधक की पूज्यता ३५७
विनीत साधक को क्रमश मुक्ति की उपलब्धि ३६३

(घ) चतुर्थ उद्देशक

विनयसमाधि और उसके चार स्थान ३६५
विनयसमाधि के चार प्रकार ३६६
श्रुतसमाधि के प्रकार ३६७
आचारसमाधि के चार प्रकार ३७०
चतुर्विध-समाधि-फल-निरूपण ३७१

दशवाँ अध्ययन : स-भिक्षु

सद्भिक्षु षट्काय रक्षक एव पचमहाव्रती आदि सद्गुण सम्पन्न ३७५
सद्भिक्षु श्रमणचर्या मे सदा जागरूक ३७७
सद्भिक्षु आक्रोशादि परीषह-भय-कष्टसहिष्णु ३८१

प्रथम चूलिका : रतिवाक्या

प्राथमिक ३९१
सयम मे शिथिल साधक के लिये अठारह आलोचनीय स्थान ३९३
उत्प्रव्रजित के पश्चात्ताप के विविध विकल्प ३९७
सयमभ्रष्ट गृहवासिजनो की दुर्दशा विभिन्न दृष्टियो से ४०१
श्रमणजीवन मे दृढता के लिए प्रेरणासूत्र ४०५

द्वितीय चूलिका : विविक्तचर्या

प्राथमिक ४०८
चूलिका-प्रारभप्रतिज्ञा, रचयिता और श्रवणलाभ ४१०
सामान्यजनो से पृथक् चर्या के रूप मे विविक्तचर्यानिर्देश ४१०
भिक्षा, विहार और निवास आदि के रूप मे एकान्त और पवित्र विविक्तचर्या ४१३
एकान्त आत्मविचारणा के रूप मे विविक्तचर्या ४१७

प्रथम परिशिष्ट

दशवैकालिकसूत्र का सूत्रानुक्रम ४२१

द्वितीय परिशिष्ट

कथा, दृष्टान्त, उदाहरण ४३०

तृतीय परिशिष्ट

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची ४४१

सिरिसेज्जंभवथेरविरइय

दसवेयालियसुत्तं

श्रीशय्यंभवाचार्यस्थविर-विरचित

दशवैकालिकसूत्र

दशवैयालियसुत्तं : दशवैकालिकसूत्र

परिचय

☐ वर्त्तमान मे श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार आगमसाहित्य अग, उपाग, मूल और छेद इन चार विभागो मे विभक्त है। मूल-विभाग मे दशवैकालिकसूत्र का द्वितीय स्थान माना जाता है।

☐ नन्दीसूत्र के वर्णनानुसार समस्त आगमो के दो विभाग है—(१) अग-प्रविष्ट और (२) अग-बाह्य। अगबाह्य के भी दो प्रकार हैं- १ कालिक और २ उत्कालिक। दशवैकालिकसूत्र की गणना अगबाह्य के अन्तर्गत उत्कालिक सूत्रो मे है।[1]

☐ निर्युक्तिकार के अनुसार यह शास्त्र दश विकालो (सन्ध्या-कालो) मे दश अध्ययनो के रूप में कहा गया, इस कारण इसका नाम भी 'दशवैकालिक' रखा गया।[2]

☐ 'दशवैकालिक' मूलसूत्र क्यो माना गया? इस सम्बन्ध मे विद्वानो मे मतभेद है। जर्मन विद्वान् 'शार्पेटियर' का मत है -इन (उत्तराध्ययन आदि चार सूत्रो) मे 'Mahavir's own words' (भगवान् महावीर के स्वय के वचन) है, इसलिए इन्हे मूल सज्ञा मिली। डा शूब्रिग (Dr Walthere Schubring) का कहना है--'साधु-जीवन के मूल मे जिन यम-नियमादि के आचरण की आवश्यकता है, उस (मूलाचार) के लिए उपदिष्ट होने से, ये मूलसूत्र कहलाए होगे। प्रो गेरीनो (Prof Guerinot) की मान्यता है कि 'ये मौलिक (Original) ग्रन्थ है, इन पर अनेक टीकाएँ, चूर्णियाँ, दीपिका, निर्युक्ति आदि लिखी गई है, इस दृष्टि से (टीकाओ आदि की अपेक्षा से) इन आगमो को 'मूलसूत्र' कहने की प्रथा प्रचलित हुई होगी।

हमारी दृष्टि मे इन चारो शास्त्रो की मूलसज्ञा के पीछे यह विचार है कि चारो सूत्रो मे जैनसाधना के मूल- मोक्ष के चार अगो- सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का मौलिक एव सक्षिप्त सारभूत वर्णन होने से इनका नाम 'मूलसूत्र' पडा हो, ऐसा प्रतीत होता है, क्योकि नन्दीसूत्र मे सम्यग्ज्ञान का, 'अनुयोगद्वार' मे सम्यग्-दर्शन का, दशवैकालिक मे सम्यक्चारित्र का और उत्तराध्ययन मे इन तीनो के सहित सम्यक्तप का मुख्य रूप से वर्णन है। कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने परिशिष्ट पर्व मे दशवैकालिकसूत्र को

---

१. नन्दीसूत्र

२ 'वेयालियाए ठविया, तम्हा दसकालिय नाम।' दशवै निर्युक्ति

३ दशवैकालिक (मुनि नथमलजी) की प्रस्तावना, पृ १७-१८

जैनधर्म का तत्त्वबोध समझाने वाला पवित्र ग्रन्थ बताया है।[४] जो भी हो, इन चारो मूलसूत्रो मे जैनदर्शन के मौलिक सिद्धान्तो और जैन जीवन का रहस्य सक्षेप मे समझाया गया है; किन्तु इसकी मूल सज्ञा आचार्य हेमचन्द्र (१२वी शताब्दी) के बाद मे प्रचलित हुई है।[५]

☐ **रचयिता**—निर्युक्तिकार के मतानुसार—दशवैकालिकसूत्र की रचना शय्यभव नाम के आचार्य ने की है।'[६] इस सम्बन्ध मे प्रचलित अनुश्रुति यह है कि राजगृहनिवासी दिग्गज विद्वान् यज्ञ-परायण ब्राह्मण श्रीशय्यभव श्रीजम्बूस्वामी के पट्टधर श्रीप्रभवस्वामी के उपदेश से विरक्त होकर मुनि बन गए और प्रभवस्वामी के उत्तराधिकारी पट्टधर आचार्य हुए। जिस समय शय्यभव मुनि बने थे, उस समय उनकी धर्मपत्नी गर्भवती थी। उनके दीक्षित होने के बाद पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम 'मनक' रखा गया। सम्भवत १०-११ वर्ष की उम्र मे 'मनक' अपनी माता से पूछ कर चम्पानगरी मे अपने पिता—शय्यभवाचार्य से मिला। उनके सत्सग से विरक्त होकर वह भी दीक्षित हो गया। आचार्य शय्यभव ने ज्ञानबल से देखा कि मनक (शिष्य) की आयु केवल छह महीने शेष रही है। अत मनक श्रमण को शीघ्र चारित्राराधना कराने हेतु शय्यभवाचार्य ने पूर्वश्रुत मे से उद्धृत करके दशवैकालिकसूत्र की रचना की। इस शास्त्र के अध्ययन से मनक श्रमण ने छह महीने मे अपना कार्य सिद्ध कर लिया।[७]

☐ **प्रामाणिकता**—दशवैकालिकसूत्र के रचयिता श्रीशय्यभवाचार्य, भगवान् महावीर के पश्चात् प्रभवस्वामी से लेकर स्थूलभद्र तक हुए ६ श्रुतकेवलियो मे से द्वितीय श्रुतकेवली और चतुर्दश-पूर्वधारी थे, इसीलिए नन्दीसूत्र मे इसे अगबाह्य एव सम्यक् श्रुत मे परिगणित किया है। इसके अतिरिक्त इसके छठे अध्ययन की आठवी गाथा मे **'महावीरेण देसिअं'** तथा इक्कीसवी गाथा मे **'नायपुत्तेण ताइणा'** आदि जो पद उपलब्ध होते है, उनसे भी इस सूत्र के वीरवचना-नुसार होने से इसकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है। महानिशीथ-सूत्र मे अकित भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा गौतम स्वामीजी को दिये गए वक्तव्य से भी इस सूत्र की प्रामाणिकता पूर्णतया स्पष्ट होती है।[८]

☐ **दश अध्ययनो में प्रतिपाद्य विषय**—प्रस्तुत दशवैकालिक मे १० अध्ययन है। इसके अन्त मे दो चूलिकाएँ हैं। दश अध्ययनो मे (१) प्रथम अध्ययन मे धर्म की प्रशसा, फल और भ्रमर के साथ भिक्षाजीवी साधु की सुन्दर तुलना की गई है। (२) द्वितीय अध्ययन मे कामविजय के सन्दर्भ मे राजीमती और रथनेमि का सवाद देकर श्रमणजीवन मे धीरता और स्थिरता का उपदेश

---

४ .. In Hemacandra's Parisistaparvan 5 81 FF in accordance with earlier models should ascribe the orgin of the Dasaveyaliya Sutta to an intention to condense the essence of the sacred Lore into an anthology. —दशवै (सतबालजी), प्रस्तावना

५. दशवै (आचार्य आत्मारामजी) —प्रस्तावना ११

६ 'निज्जूढ किर सेज्जभवेन दसकालिय तेण।' —भद्रबाहुनिर्युक्ति गा १२

७ दशवै (आचार्य आत्मारामजी), प्रस्तावना, पृ ४

८ (क) महानिशीथ, अ ५ दुष्षमारक प्रकरण। (ख) अथ प्रभव प्रभु। शय्यभवो यशोभद्र सम्भूतविजयस्तत। भद्रबाहु स्थूलभद्र श्रुतकेवलिनो हि षट्। —अभिधानचिन्तामणि, देवाधिदेवकाण्ड

दिया गया है। (३) तृतीय अध्ययन मे साधुजीवन की आचारसहिता बताई गई है। (४) चतुर्थ अध्ययन मे षट्जीवनिकाय की रक्षा, पचमहाव्रतप्रतिज्ञाविधि तथा सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय से आत्मा के पूर्ण विकासक्रम का वर्णन है (५) पचम अध्ययन मे शुद्ध भिक्षाचर्या के विधि-विधानो का निरूपण है (६) छठे अध्ययन मे अठारह स्थानो का निरूपण साध्वाचार के सन्दर्भ मे किया गया है। (७) सातवे अध्ययन मे भाषा-विवेक का प्रतिपादन है (८) आठवे अध्ययन मे विविध पहलुओ से साध्वाचार का प्रतिपादन है। (९) नौवे अध्ययन के चारो उद्देशको में विनय के महत्त्व एव फल आदि का सागोपाग वर्णन है। (१०) दशवे अध्ययन मे आदर्श भावभिक्षु के लक्षण बताए गए हैं। इसके पश्चात् प्रथम रतिवाक्यचूलिका मे बाह्य तथा आन्तरिक कठिनाइयो के कारण सयमी जीवन छोड कर गृहस्थ हो जाने वाले साधु की अधम एव क्लिष्ट मनोदशा का वर्णन है। द्वितीय विविक्तचर्या चूलिका मे साधुत्व की विविध साधनाओ के विषय मे सुन्दर मार्गदर्शन दिया गया है।[९]

□

---

९ (क) दशवै. (सतबालजी) प्रस्तावना, पृ. २५-२६
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी) प्रस्तावना, पृ ८

दसवेयालियसुत्तं : दशवैकालिकसूत्र

पढमं दुमपुप्फियऽज्झयणं : प्रथम द्रुमपुष्पिकाऽध्ययन

प्राथमिक

- ☐ यह दशवैकालिकसूत्र का प्रथम द्रुमपुष्पिका अध्ययन है ।
- ☐ इसमे धर्म का लक्षण, उसकी उत्कृष्ट मगलमयता और धर्म का फल तथा भिक्षाजीवी साधु के जीवन मे मधुकर स्वभाववत् उस धर्म की आचरणीयता का प्रतिपादन किया है ।
- ☐ आत्मा का पूर्ण विकास, आत्मा पर आए हुए कर्मरूप आवरणो से सर्वथा मुक्ति, राग-द्वेष, मोह, कषाय आदि वैभाविक भावो से सर्वथा रहित होकर आत्मा के निजगुणो या स्व-स्वभाव मे सर्वथा रमण ही मोक्ष है । यही मुमुक्षु आत्माओ का अन्तिम साध्य है ।
- ☐ मोक्षप्राप्ति का साधन धर्म है, जो आत्मा को अपने स्वभाव, निजगुण अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र मे धारण करके रखता है । सम्यक्चारित्र, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानपूर्वक होने से प्रस्तुत मे चारित्रधर्म का ही और उसमे भी अहिसा, सयम, तप प्रधान चारित्रधर्म का ग्रहण किया गया है ।
- ☐ यद्यपि मोक्ष परममगल होता है, किन्तु यहाँ उसकी उपलब्धि के साधन - धर्म को परममगल कहा गया है ।
- ☐ धर्म की महिमा प्रकट करने के बाद प्रथम गाथा के उत्तरार्द्ध मे धर्म का आनुषगिक फल विश्ववन्दनीयत्व एव विश्वपूज्यत्व बताया गया है, यद्यपि शुद्धधर्म का साधक किसी भी लौकिक फल की आकाक्षा नही रखता । उसकी गति-मति सदैव मोक्ष की ओर अग्रसर होती है, इसीलिए वह धर्म का मन-वचन-काया से शुद्ध रूप मे आचरण करता है ।
- ☐ धर्म की साधना करते समय तन, मन, वचन, तीनो का साहचर्य रहता है । शरीर आहार से ही टिक सकता है, किन्तु आहार आरम्भ के बिना निष्पन्न नही होता । ऐसी विकट परिस्थिति मे साधक के सामने उलझन है कि वह अहिसा का त्रिकरण-त्रियोग मे कैसे पालन करे ? कैसे सयमधर्म को अक्षुण्ण रखे ? और कैसे तपश्चरण करे ? इसी समस्या का समाधान इस अध्ययन की शेष चार गाथाओ मे दिया गया है ।
- ☐ समाधान भ्रमर की द्रुम-पुष्पिकावृत्ति के रूप मे 'उपमा' के माध्यम मे दिया गया है ।
- ☐ जैसे मधुकर के लिए स्वाभाविक रूप मे निष्पन्न आहारप्राप्ति के आधार द्रुमपुष्प ही है, वैसे ही निर्ग्रन्थ भिक्षाजीवी श्रमण के लिए आहारप्राप्ति का आधार गृहस्थो के घरो मे सहज-

निष्पन्न भोजन होता है। माधुकरीवृत्ति का मूल केन्द्र द्रुमपुष्प है, उसके बिना वह निभ नही सकती। इसलिए समग्र माधुकरीवृत्ति का विशिष्ट प्रतिनिधित्व करने वाला शब्द 'द्रुमपुष्पिका' है। अतएव इस अध्ययन का नाम 'द्रुमपुष्पिका' रखा गया है।

☐ माधुकरीवृत्ति से साधु की भिक्षावृत्ति की उपमा के निष्कर्षसूत्र—

(क) भ्रमर फूलो से सहज-निष्पन्न रस ग्रहण करता है, वैसे ही श्रमण भी गृहस्थो के घरो से अपने स्वय के लिए नही निष्पन्न, प्रासुक एषणीय आहार पानी ले।

(ख) भ्रमर फूलो को हानि पहुँचाए विना थोडा-थोडा रस पीता है, वैसे ही श्रमण गृहस्थ दाता को तकलीफ न हो, इस विचार से अनेक घरो से थोडा-थोडा आहार ग्रहण करे।

(ग) भ्रमर अपने उदरनिर्वाह के लिए किसी प्रकार का आरम्भ-समारम्भ या जीवो का उपमर्दन नही करता, वैसे ही भिक्षाजीवी साधु भी अनवद्यजीवी हो, किसी पचन-पाचन का आरम्भ या उपमर्दन न करे।

(घ) भ्रमर उतना ही रस ग्रहण करता है, जितना उदरपूर्ति के लिए आवश्यक होता है, वह अगले दिन के लिए कुछ भी सग्रह करके नही रखता, वैसे ही श्रमण अपनी सयमयात्रा के लिए जितना आवश्यक हो, उतना ही ले, सचय न करे।

(ड) भ्रमर किसी एक ही वृक्ष या फूल से रस ग्रहण नही करता, किन्तु अनेक वृक्षो और फूलो से रस ग्रहण करता है, वैसे ही भिक्षाजीवी साधु किसी एक ही (नियत) गाँव, नगर, घर या व्यक्ति से प्रतिबद्ध, आसक्त या आश्रित न होकर, समभाव से सहजभाव से उच्च-नीच-मध्यम कुल, गाँव, घर या व्यक्ति से सामुदानिक भिक्षा से आहार ग्रहण करे।

☐ इस प्रकार इस अध्ययन का मुख्य प्रतिपाद्य है—उत्कृष्टमगलरूप अहिंसा-सयम-तप प्रधानधर्म के आचरण की माधुकरीवृत्ति के माध्यम से सम्भावना। भिक्षु किसी को भी पीडा न देकर अहिंसा की, थोडे-से आहार मे निर्वाह करके सयम की तथा न मिलने या कम मिलने पर यथालाभ सतोष या इच्छानिरोध तप की सभावना को चरितार्थ कर बताता है।

☐

पढमं अज्झयणं : प्रथम अध्ययन

दुमपुप्फिया : द्रुमपुष्पिका

१. धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,[1] अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति जस्स धम्मे सया मणो ॥१॥

[१] धर्म उत्कृष्ट (सर्वोत्तम) मगल है । उस धर्म का लक्षण है--अहिसा, सयम और तप । जिसका मन सदा धर्म मे लीन रहता है उसे देव भी नमस्कार करते है ।

विवेचन— अन्य धर्म और उत्कृष्टमगलरूप प्रस्तुत धर्म—'धृञ् धारणे' धातु से धर्म शब्द निष्पन्न होता है । धर्म का अर्थ निर्वचन की दृष्टि से होता है—धारण करना । ससार मे धारण करने वाले अनेक पदार्थ है । उन सबको धर्म नही कहा जा सकता । इसलिए जैनाचार्यो ने धर्म के मुख्यतया दो प्रकार बताए है—द्रव्यधर्म और भावधर्म ।[2]

द्रव्यधर्म के अस्तिकायधर्म, इन्द्रियधर्म आदि अनेक भेद है । उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, ये अवस्थाए द्रव्यो को धारण करके रखती है, अथवा द्रव्य के जो पर्याय है, वे द्रव्यधर्म कहलाते है । यथा—गति मे सहायक होना, स्थिति मे सहायक होना, अवकाश देने मे सहायक होना, पूर्ति करने तथा गलने सडने के स्वभाव से सम्पन्न होना तथा जानने-देखने के उपयोग के स्वभाव से युक्त होना, ये पाच अपने-अपने अस्तित्व या स्वभाव को स्थिर (धारण करके) रखने की क्षमता वाले है । इसलिए 'अस्तिकायधर्म' कहलाते है । तथा पाचो इन्द्रिया अपने-अपने स्वभाव (विषय) मे प्रचरण (सचार) करके अपने-अपने स्वभाव (विषय) को धारण करती है, इस कारण इस द्रव्यधर्म को इन्द्रिय-धर्म या प्रचारधर्म कहा जाता है । इसी प्रकार गम्यागम्य, भक्ष्य-अभक्ष्य, पेय-अपेय आदि की कुल-परम्परागत प्रथाओ या परम्पराओ के निर्देशक, गम्यधर्म, अपने-अपने देश के वस्त्राभूषण, खानपान या रहनसहन के रीतिरिवाज जो उस-उस देश के लोगो को एक सस्कृति मे स्थिर (धारण करके) रखते हैं, वे देशधर्म है । अथवा करादि की व्यवस्था या दण्डादि का विधान, जो नागरिको को या अर्थव्यवस्था को सुव्यवस्थित रखता है, वह राजधर्म है, इसी प्रकार जो गणो को परस्पर एक सूत्र मे बाध कर रखता है, वह गणधर्म कहलाता है । ये सब द्रव्यधर्म के अन्तर्गत बताए है ।[3]

---

१ सभी सूत्र प्रतियो मे तथा मुनिपुण्यविजयजी सम्पादित 'दसवेयालियसुत्त' मे 'मुक्कट्ठ' पाठ है । अगस्त्यसिंहचूर्णि और वृद्धिविवरण मे 'मुक्कट्ठ' और 'मुक्किट्ठ' दोनो पाठ मिलते है । वर्तमान मे प्रचलित पाठ 'मुक्किट्ठ' है । इसलिए यहाँ 'मुक्किट्ठ' पाठ ही रक्खा है । —स

२ अभिधान रा कोष भा ४, पृ २६६७

३ (क) निर्युक्तिगाथा ४०-४२

ये सब लौकिक द्रव्यधर्म सावद्य है। कुप्रावचनिकधर्म भी द्रव्यधर्म कहलाते है। ये धर्म आदेय एव उत्कृष्टमगलरूप नही होते।

[३]ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म, सघधर्म, गणधर्म, कुलधर्म, पाषण्डधर्म (व्रतधर्म) एव अस्तिकायधर्म आदि कथचित् मगलरूप और उपादेय तभी हो सकते है, जब ये श्रुत-चारित्रधर्मरूप भावधर्म को पुष्ट करते हो, आत्मशुद्धि में सहायक बनते हो। भावधर्म का लक्षण है—जो आत्मा को स्वभाव मे स्थिर रखता है। आत्मा के स्वभाव या स्वगुण है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र। ये ही आत्मा को स्वभाव मे धारण करके रखते है, इन्ही से आत्मा स्वसुख[४] आदि मे स्थिर रह सकता है।[५]

आवश्यकचूर्णिकार श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को भावधर्म कहते है। व्यवहारधर्म, जो भावधर्म की ओर ले जाता है वह भी श्रुत-चारित्रधर्म का परिपोषक हो तो मगलरूप हो सकता है।[७] आचार्य हरिभद्र ने व्यवहारधर्म का लक्षण षोडशक प्रकरण मे कहा है—जिससे आत्मा के निकटवर्ती धर्मपालन-सहायक चित्त की शुद्धि हो और शरीर के आश्रित होने वाली क्रियाओ से उसकी पुष्टि हो। उन्होने बताया कि राग-द्वेष-मोहादि मलो या विकारो के दूर होने से चित्तशुद्धि होती है और शरीरादि के सत्क्रिया करने से पुण्यवृद्धि होती है। इस प्रकार ज्ञानावरणीयादि (घाती) पापकर्मों का क्षय होने से चित्तशुद्धि और आगमानुसार अहिसादिपरिपोषक क्रिया करने मे पुण्यवृद्धि होगी, चारित्रगुणो की भी वृद्धि होगी। इन दोनो से परम्परा से परामुक्ति होगी।[८]

उत्कृष्टमगलरूप धर्म का लक्षण—शास्त्रकार ने धर्म की भावात्मक परिभाषा या लक्षण अहिसा सयम एव तपरूप की है, पश्चाद्वर्ती विद्वान् आचार्यों ने शाब्दिक दृष्टि से भी इसकी परिभाषा एव लक्षण बताये है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने उक्त धर्म का लक्षण बताया है—"जो नरक तिर्यञ्च योनि, कुमानुष और अधमदेवत्वरूप दुर्गति मे जाते हुए जीवो को धारण करके रखता है, उन्हे शुभ स्थान (मोक्ष या उच्चदेव लोक) मे पहुँचाता या स्थिर करता है, उसे धर्म कहा जाता है।"[९] आशय यह है कि जो आत्मा को पतन की ओर जाने से रोकता है और उत्थान या विकास के पथ पर ले जाता है, वह पुण्य कर्मों की वृद्धि के कारण या तो जीव को उच्च देवत्व मे स्थापित करता है या सर्वथा कर्मक्षय के कारण मोक्षपद की प्राप्ति कराता है, वही धर्म उत्कृष्ट मगल रूप होता है।

---

३ (ख) "कुप्रावचनिक उच्यते—असावपि सावद्यप्रायो लौकिककल्प एव" —हारि वृत्ति पत्र २२
(ग) "वज्जो णाम गरहिओ, सह वज्जेण सावज्जो भवइ।।" —जि चूर्णि, पृ १७

४ "दसविहे धम्मे पन्नत्ते, त०—गामधम्मे नगरधम्मे रट्ठधम्मे पासडधम्मे कुलधम्मे गणधम्मे सघधम्मे सुयधम्मे चरित्तधम्मे अत्थिकायधम्मे य।" —स्थानाग स्थान० १०

५ (क) ससारदु खत सत्त्वान् यो धरत्युत्तमे सुखे। सद्दृष्टि-ज्ञान-वृत्तानि धर्म धर्मेश्वरा विदु।
—रत्नकरण्डकश्रावकाचार श्लोक २-३
(ख) 'सम्यग्दर्शनादिके कर्मक्षयकारणे आत्मरूपे' —सूत्रकृताग श्रु २ अ ९ टीका

६ भावम्मि होइ दुविहो, सुयधम्मो खलु चरित्तधम्मो य।
सुयधम्मो सज्झातो, चरित्तधम्मो समणधम्मो।। —आव० चूर्णि

७ षोडशक ३ विव श्लोक २, ३, ४

८ दशवै हारि वृत्ति

९ दशवै हारि वृत्ति

प्रस्तुत में चारित्रधर्म ही उत्कृष्टमंगलरूप से अभीष्ट—यद्यपि पहले बताए हुए अन्य लोकोत्तर धर्म भी मगलरूप ही है, परन्तु यहाँ उत्कृष्ट मगलरूप भावधर्म और उसमे भी विशेषत सर्वविरति रूप चारित्रधर्म रूप ही अभीष्ट है।

कहा जा सकता है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीनो[१०] अथवा श्रुतधर्म और चारित्रधर्म ये दोनों मिल कर मोक्षप्राप्ति के कारण होने से उत्कृष्टमगल रूप है, फिर चारित्र-धर्म या सम्यक् चारित्र को ही यहाँ उत्कृष्ट मगल के रूप मे ग्रहण क्यो किया गया ? इसका समाधान यह है कि सवर और निर्जरा रूप चारित्रधर्म कर्मो का सर्वथा क्षय (मोक्ष प्राप्त) करने के लिए अनिवार्य है, और जब सम्यक्चारित्र आएगा, तो उससे पूर्व सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का आना अनिवार्य है। इसीलिए यहाँ चारित्रधर्म को ही उत्कृष्ट मगल के रूप मे ग्रहण किया गय ाहै।[११]

अहिंसा-संयम-तप रूप चारित्रधर्म: उत्कृष्टमंगलरूप—चारित्रधर्म का लक्षण आचार्य जिन-दास महत्तर तथा अन्य आचार्यो ने कहा है—असयम से निवृत्ति और सयम मे प्रवृत्ति।[१२] इसी कारण यहाँ अहिसा, सयम और तप इन तीनो को चारित्रधर्म मे निर्दिष्ट किया गया है। यो तो चारित्र मे पाच महाव्रत, पाच समिति और तीन गुप्ति आदि माने जाते है। परन्तु इन सबका समावेश अहिसा और सयम मे हो जाता है। आचार्य जिनदास महत्तर कहते है कि अहिसा के ग्रहण से पाचो महाव्रत गृहीत हो जाते है। सयम और तप भी अहिसा-भगवती के दो चरण है।[१३] अहिसा भगवती की सम्यक् उपासना भी तभी हो सकती है, जब नवीन कर्मो के आगमन (आश्रव) का निरोध (सवर) और कर्मों की निर्जरा (तपस्या) की जाए। यही कारण है कि यहाँ अहिंसा के साथ, उसके पालन मे सहायक सयम और तप को उत्कृष्टमगलमय माना गया है।[१४]

मगल : स्वरूप, प्रकार और उत्कृष्टमंगल—'मगल' शब्द भारतीय सस्कृति मे इतना अधिक प्रचलित है कि आस्तिक और नास्तिक प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को निर्विघ्नरूप मे पूर्ण करने, सफल करने तथा यशस्वी बनाने हेतु उसके प्रारम्भ मे मगल करता है। इस दृष्टि से मगल का निर्वचन कई प्रकार से किया गया है। आचार्य हरिभद्रसूरि ने मगल का निर्वचन किया है—जिससे हित होता हो, कल्याण सिद्ध होता हो, वह मगल है। एक आचार्य ने मगल का अर्थ किया है—जो मग अर्थात् सुख को लाता है वह मगल है।[१५] ससार मे निर्विघ्न कार्यसिद्धि, अपने हित (स्वार्थ) के लिए एव

---

१०. सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्ग। —तत्त्वार्थसूत्र अ १, सू १

११ "नादसणिस्स नाण, नाणेण विणा न हुति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाण॥" —उत्तराध्ययन अ २८, गा ३०

१२ (क) असजमाउ नियत्ती, सजमम्मि य पवित्ती। —जि चू, पृ १७
(ख) असजमे नियत्ति च सजमे पवित्ति च जाण चारित्त॥

१३ अहिंसागहणे पचमहव्वयाणि गहियाणि भवति, सजमो पुण तीसे चेव अहिंसाए।

१४ 'अहिंसातवसजमलक्खणे धम्मे ठिओ तस्स एस निद्देसोत्ति।' —जि चू, पृ १५

१५ (क) मग्यते हितमनेनेति मगल, मग्यतेऽधिगम्यते साध्यते इति।' —हारि वृत्ति, पत्र ३
(ख) मग सुख लातीति मगलम्। —नन्दीसूत्र मलयवृत्ति

सुख के लिए सामान्य जनता मे पूर्ण कलश, स्वस्तिक, दही, अक्षत, शखध्वनि गीत, ग्रहशान्तिअनुष्ठान आदि मगल माने जाते है। इस दृष्टि से पाच प्रकार के मगल माने गये है—(१) **शुद्धमंगल**—पुत्रादि के जन्म पर गाये जाने वाले मगलगीत, (२) **अशुद्धमंगल**—नूतन गृह आदि निर्माण के समय किया जाने वाला मगल अनुष्ठान, (३) **चमत्कारमंगल**—विवाहादि अवसरो पर गाये जाने वाले गीत, या मगल द्रव्यो का उपयोग, (४) **क्षीणमगल**—धनादि की प्राप्ति, और (५) **सदामंगल**—धर्म-पालन।[१६] मगल के इन पाच प्रकारो को जैनाचार्यो ने दो कोटियो मे विभक्त किया है—द्रव्यमगल और भावमगल। उपर्युक्त पाच मगलो मे प्रथम के चार मगल द्रव्यमगल है। और लोकोत्तर धर्म भावमगल है। द्रव्यमगल लौकिक दृष्टि से मगल है, ज्ञानी इन्हे मगल नही मानते, क्योकि इनसे आत्मा का कोई हित या कल्याण सिद्ध नही होता। लौकिक मगलो मे अनित्यता तथा अमगल की भी सम्भावना है, किन्तु धर्म रूप मगल मे अमगल की कोई सम्भावना नही। वह सदैव मगलमय बना रहता है और पालन करने वाले को भी वह मगलमय रखता है। धर्म इसलिए भी ऐकान्तिक और आत्यन्तिक मगल है, कि वह धर्म जन्ममरणरूप दु ख के बन्धनो को काटने वाला तथा मुक्ति प्रदान करने वाला है। इसलिए वह उत्कृष्ट-अनुत्तर मगल है।[१७]

गहराई से विचार किया जाय तो धर्म को उत्कृष्ट मगल इसलिए भी माना गया कि पूर्वोक्त चारो लौकिक मगलो की प्राप्ति भी धर्ममगल (धर्मपालन) से पुण्यवृद्धि होने के कारण ही सम्भव है। उक्त मागलिक पदार्थ भी धर्ममगल के फल के रूप बताए गये है।[१८] समस्त मागलिक पदार्थों का प्रदाता या उत्पादक भी धर्ममगल ही है। वह अनुत्तर मगल है, उससे बढकर कोई उत्कृष्ट मगल नही है।[१९]

अहिंसा · स्वरूप, व्यापकता और महिमा— व्युत्पत्ति की दृष्टि से अहिसा का दो प्रकार से अर्थ किया जाता है—जो हिसा न हो, किन्तु हिसा का विरोधी या प्रतिपक्षी भाव हो, वह अहिसा है। अर्थात् प्राणातिपात न करना या प्राणातिपात से विरति अहिसा है।[२०] यह अहिसा का निषेधात्मक

---

१६ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म) पृ ४
(ख) दशवै (गुजराती अनु) पृ ४

१७ (क) 'दव्वे भावेऽवि अ मगलाइ, दव्वम्मि पुण्णकलसाई।
धम्मो उ भावमगलमेत्तो सिद्धित्ति काऊण ॥' —निर्युक्ति गाथा ४४
(ख) दव्वमगल अणेगतिक अणच्चतिय च भवति, भावमगल पुण एगतिय अच्चतिय च भवइ।
—जि चूर्णि, पृ १९
(ग) अयमेव चोत्कृष्ट-प्रधान मगल, ऐकान्तिकत्वादात्यन्तिकत्वाच्च, न पूर्णकलशादि, तस्य नैकान्तिक-त्वादनात्यन्तिकत्वाच्च। —हरि वृत्ति, पत्र २४

१८ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ५

१९ 'उक्किट्ठ णाम अणुत्तर, ण तओ अण्ण उक्किट्ठयरति।' —जिन चूर्णि, पृ १५

२० (क) 'हिसाए पडिवक्खो होइ अहिसऽजीवाइवाओत्ति।' —निर्युक्ति गाथा ४५
(ख) 'अहिसा नाम पाणातिवायविरती।' —जिनदास चूर्णि, पृ. १५
(ग) 'न हिंसा-अहिसा।' —दशवै दीपिका, टीका पृ १

अर्थ है। अहिंसा का दूसरा अर्थ विधेयात्मक भी है। विधेयात्मक दृष्टि से अहिंसा का अर्थ होता है—जीवदया, प्राणियो के प्राणो की रक्षा, समता (प्राणियो के प्रति समभाव), आत्मौपम्य भाव, शुद्ध प्रेम, अनुकम्पा, सर्वभूतमैत्री, करुणा आदि। विधेयात्मक अहिंसा का पालन आत्मौपम्य (आत्मवत् भाव) से होता है।[२१]

शास्त्र मे बताया है—जैसे मुझे दु ख अप्रिय है, वैसे ही समस्त जीवो को भी अप्रिय है।[२२] अथवा जैसे मुझे सुख प्रिय है, वैसे ही सब जीवो को है, ऐसा जानकर, अथवा जैसे मैं जीना चाहता हू, वैसे ही सभी जीव जीना चाहते हैं, कोई भी मरना नही चाहता। अत मुझे किसी भी प्राणी को पीडा नही पहुचानी चाहिए। इसी प्रकार निषेधात्मक अहिसा के पीछे परदु खानुभूति के साथ आत्मानुभूति की जो भव्य भावना है वह भी अहिसा है।[२३] यह (अहिसा) धर्म ध्रुव, नित्य, शाश्वत और जिनोपदिष्ट है।

हिंसा : स्वरूप और प्रकार—अहिंसा को हिंसा का प्रतिपक्षी बताया गया है, इसलिए जैन शास्त्रीय दृष्टि से हिसा का स्वरूप समझ लेना भी आवश्यक है। आचार्य जिनदास महत्तर ने हिसा का अर्थ किया है—'दुष्प्रयुक्त' (दुष्ट) मन, वचन एव काया के योगो से प्राणियो का जो प्राण-हनन किया जाता है, वह हिंसा है। निष्कर्ष यह है कि किसी भी प्रकार के प्रमादवश, अनुपयुक्त या दुष्प्रयुक्त मन-वचन-काया के योगो मे किसी भी प्राणी के प्राणो को किसी भी प्रकार से हानि पहुचाना हिंसा है।[२४]

हिंसा तीन प्रकार की है—(१) द्रव्यहिंसा, (२) भावहिंसा और (३) उभयहिंसा।

१. **द्रव्यहिंसा**—आत्मा के परिणाम शुद्ध होने पर भी अकस्मात् अनुपयोगवश अनिच्छा से ही किसी जीव को पीडा हो जाना या प्राणो की हानि हो जाना **द्रव्यहिंसा** है। जैसे—समितिगुप्तिधारक पचमहाव्रती साधु के द्वारा विहारादि के समय या चलते-फिरते, बैठते-उठते आदि क्रियाएँ करते समय किसी भी जीव को पीडा न पहुचाने, तथा सब जीवो की रक्षा करने की भावना होते हुए भी अकस्मात् अनुपयोगवश द्वीन्द्रिय आदि लघुकाय जीव का पैर के नीचे आकर मर जाना या प्राणभग हो जाना **द्रव्यहिंसा** है। यह हिसा औपचारिक है, इसमे भावहिंसा नही है।

२. **भावहिंसा**—किसी प्राणी को प्राणो से रहित करने की कामना, भावना या इच्छारूप आत्मा का अविशुद्ध परिणाम भावहिंसा है। इसमे जीव केवल दुष्ट भावो मे प्राणियो के घात की इच्छा

---

२१ (क) अहिंसा = जीवदया, प्राणातिपात-विरति। —दी टीका, पृ १
(ख) अहिंसाऽपि भावरूपैव, तेन प्राणिरक्षणमप्यहिंसाशब्दार्थ सिध्यति।
—दशवै आचारमणिमजूषा टीका, भा १, पृ ३
(ग) अप्पसम मन्निज्ज छप्पिकाए। —उत्तरा अ ६
(घ) दशवै (गुजराती अनु) पृ ४

२२ 'जह मम ण पिय दुक्ख जाणिय एमेव सव्वजीवाण। सव्वे जीवा सुहसाया दुहप्पडिकूला सव्वेसिं जीविय पिय। जाणित्तु पत्तेयं साय।'—आचाराग

२३. सूत्रकृताग २।१।१५

२४ जिन चूर्णि, पृ २०

करता है, किन्तु किसी कारणवश घात नही कर पाता ।[२५] अत वहाँ द्रव्यहिसारहित केवल भावहिंसा होती है । जैसे—चावल के दाने जितने छोटे शरीर वाला तदुलमत्स्य एक बडे मगरमच्छ की भौहो पर बैठा-बैठा सोचता है यह मगरमच्छ कितना आलसी है ! इतने जलजन्तु आते है, उन्हे यो ही जाने देता है । अगर इसके जितना बडा मेरा शरीर होता तो मैं एक को भी नही जाने देता, सबको निगल जाता । इस प्रकार की हिसक भावना के कारण अन्तर्मुहूर्त मात्र मे ही वह मर कर सातवे नरक का मेहमान बन जाता है ।[२६] यह भावहिंसा का भयकर परिणाम है ।

३. **उभयहिंसा**—अशुद्ध परिणामो से जीव का घात करना उभयहिंसा है । जैसे कोई शिकारी मृग को मारने की भावना से वाण चलाता है, उससे उसके प्राणो का नाश हो जाता है । इस हिंसा मे आत्मा के अशुद्ध (दुष्ट) परिणाम और प्राणो का नाश दोनो पाए जाते हैं ।[२७]

अहिंसकक्रिया—इस प्रकार शुद्ध प्रेम, दया एव अनुकम्पा तथा मैत्रीभाव रख कर उपयोग-पूर्वक किसी भी प्राणी को दु ख पहुचाने की भावना किये बिना शारीरिक, मानसिक या वाचिक क्रिया करना, वास्तव मे अहिंसक-क्रिया है । ऐसी अहिंसा का आराधक केवल अहिसक ही नही होता, अपितु सभी प्रकार की हिसाओ का प्रबल विरोधी भी होता है ।[२८]

सयम : स्वरूप, प्रकार और भेद—सावद्य योग से सम्यक् प्रकार मे निवृत्त होना सयम है । आचार्य जिनदास महत्तर के अनुसार सयम का अर्थ उपरम है । अर्थात्—रागद्वेष से रहित होकर एकीभाव—समभाव मे स्थित होना सयम है । आचार्य हरिभद्रसूरि ने सयम का अर्थ किया है—हिंसा आदि पाच आश्रवद्वारो से विरति करना सयम है । हिंसा आदि पाच आश्रवो से विरति, कषाय-विजय, पचेन्द्रियनिग्रह, मन-वचन-काया के दण्ड मे विरति या गुप्ति (विरति) तथा पाच समितियो का पालन, ये सब यहा सयम शब्द मे समाविष्ट है ।[२९]

सयम के मुख्य तीन प्रकार हैं—(१) कायिक सयम, (२) वाचिक सयम और (३) मानसिक सयम । शरीर से सम्बन्धित पदार्थों की आवश्यकताएँ यथाशक्ति घटाना कायिक सयम है, वाणी को कुमार्ग से हटा कर सुमार्ग मे प्रवृत्त करना वाचिक सयम है और मन को दुर्विकल्पो से हटा कर

२५ दशवै आ म मजूषा व्याख्या, भाग १ पृ ८।९

२६ (क) तदुलवेयालिय । (ख) दशवैका आचारमणि मजूषा, भा १, पृ १०

२७ दशवै आचारमणिमजूषा व्याख्या, भा १, पृ ११

२८ दशवै (गुजराती अनुवाद—सतबालजी) पृ ४

(क) सयम —सयमन = सम्यगुपरमण सावद्ययोगादिति सयम । —दशवै आचा म मजूषा, भा १, पृ ११

(ख) सजमो नाम उपरमो, रागद्दोसविरहियएगीभावे भवइ त्ति ।

(ग) आश्रवद्वारोपरम सयम । —हारि वृत्ति, पत्र

२९ (क) दसवेयालिय (सम्पादक—मुनि नथमलजी), पृ ८

(ख) सयम प्रकारान्तर से १७ भेद—

'पचासवाद्विरमण पचेन्द्रियनिग्रह कषायजय' ।
दण्डत्रयविरतिश्चेति सयम सप्तदशभेद ॥'

सुव्यवस्थित सुनियन्त्रित रखना प्रशस्त चिन्तन मे व्यापृत रखना मानसिक सयम है ।[३०] प्रकारान्तर से सयम के १७ भेद भी हैं जो प्रसिद्ध है ।[३१]

अहिसा का सम्यक्तया पालन करने के लिए सयम के इन १७ भेदो का परिज्ञान आवश्यक है । अभिप्राय यह है कि अहिसा धर्म के सम्यक्-परिपालन के लिए प्रत्येक कार्य को करते समय सयम के इन भेदो को ध्यान मे रख कर इतनी सावधानी (यतना एव विवेक) से प्रवृत्ति करना चाहिए कि किसी भी जीव के द्रव्य या भाव प्राणो की, अथवा स्वय की आत्मा की विराधना न हो ।[३२]

अहिसा और सयम की अभिन्नता--अहिसा को भगवान् महावीर ने व्रतो मे सर्वश्रेष्ठ बताया है । उन्होने परिपूर्ण या निपुण अहिसा का उपदेश समस्त प्राणियो के प्रति सयम के अर्थ मे दिया है ।[३३] इस दृष्टि से सर्व जीवो के प्रति सयम अहिसा है और हिसा आदि आश्रवो से विरति सयम है । इस प्रकार जो अहिसा है वही सयम है ।

प्रश्न होता है– जब अहिसा ही सयम है, तब सयम का पृथक् उल्लेख क्यो किया गया ?

आचार्य हरिभद्रसूरि ने इसका समाधान करते हुए कहा--अहिसा का अर्थ है--सर्वथा प्राणातिपात-विरमण आदि पाच महाव्रत और सयम है--उनकी रक्षा के लिए यथावश्यक नियमोपनियमो का पालन । इस दृष्टि से सयम, अहिंसा को टिकाने के लिए आवश्यक है, उसका अहिसा पर उपग्रहकारित्व है ।[३४]

तप : स्वरूप, प्रकार और विश्लेषण—जो ज्ञानावरणीय आदि आठ प्रकार की कर्मग्रन्थि को तपाता है, जलाता है, नाश करता है, वह तप है ।[३५] प्राचीन आचार्यों ने तप का एक लक्षण किया है– वासना या इच्छा का निरोध करना । मलिन चित्तवृत्ति की शुद्धि के लिए आन्तरिक एव बाह्य-क्रियाएँ करना तपश्चर्या है ।[३६] बाह्य या आभ्यन्तर जितने भी तप है, उनका आचरण इहलौकिक तथा पारलौकिक कामना, कामना या वासना से रहित होकर केवल निर्जरा (कर्मक्षय द्वारा आत्म-शुद्धि) की दृष्टि से करना ही धर्म है ।[३६]

तप के मुख्य दो भेद हैं--बाह्य और आभ्यन्तर ।

---

३० दशवैकालिक (गुजराती अनुवाद –सतबालजी), पृ ४

३१ दशवैकालिक (आचारमणिमजूषा व्याख्या) भा १, पृ १२ से १६ तक

३२ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ५

३३ दश अ ६ गा ९

३४ हारि वृत्ति, पत्र २६

३५ (क) तवोनाम तावयति अट्ठविह कम्मगठिं नासेति त्ति वुत्त भवइ ।--जिन चूर्णि, पृ १५
(ख) तपति ज्ञानावरणीयाद्यष्टविध कर्म दहतीति तप ।—दशवै आ मणि म, भाग १, पृ ६७

३६ (क) 'इच्छानिरोधस्तप' (ख) दशवै (आ आत्मा), पृ ६ —दशवै (गु अनु सतबालजी), पृ ४

बाह्यतप के ६ भेद हैं—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) भिक्षाचर्या (अथवा वृत्तिपरिसख्यान), (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश और (६) प्रतिसलीनता (अथवा विविक्तशयनासन)।[३७]

१. **अनशन**—चतुर्विध या त्रिविध आहार का एक दिन, अधिक दिन या जीवनभर के लिए परित्याग करना। २. **ऊनोदरी**—आहार, उपकरण आदि की मात्रा मे कमी करना, क्रोधादि कषायो को घटाना। ३. **भिक्षाचर्या**—(साधुओ की अपेक्षा) विशुद्ध भिक्षा के लिए पर्यटन करना (गृहस्थो की अपेक्षा) द्रव्यो अथवा उपयोग्य पदार्थों की प्रतिदिन गणना का नियम रखना **वृत्तिपरिसख्यान** है। ४. **रसपरित्याग**—आयम्बिल, निविग्गइ आदि तप के माध्यम से दूध, दही, घी, तेल, मीठा आदि रसो का त्याग करना, स्वादवृत्ति पर विजय प्राप्त करना। ५. **कायक्लेश**—शीत, उष्ण आदि को सहन करना, धर्म पालन के लिए केशलोच, पैदलविहार आदि कष्टो को सहना, वीरासन आदि उत्कट आसनो से शरीर को सतुलित एव स्थिर रखना। ६. **प्रतिसलीनता**—इन्द्रियो के शब्द आदि विषयो मे रागद्वेष न करना, स्त्री-पशु-नपुसक-रहित विविक्त स्थान मे निवास करना, उदय में आए हुए क्रोधादि को विफल करना और अनुदीर्ण क्रोध आदि का निरोध करना, अकुशल मन आदि को नियत्रित करके कुशल मन आदि को प्रवृत्त करना।[३८]

आभ्यन्तर तप के ६ भेद है—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैयावृत्य, (४) स्वाध्याय, (५) ध्यान और (६) व्युत्सर्ग।

१. **प्रायश्चित्त**—साधनामय जीवन मे लगे हुए अतिचारो या दोषो की विशुद्धि करने के लिए प्रतिक्रमण, आलोचना, निन्दना, गर्हणा आदि करके प्रायश्चित्त ग्रहण करना। २. **विनय**—देव गुरु और धर्म तथा ज्ञानादि के प्रति विनय करना, श्रद्धा, भक्ति-बहुमान आदि करना। ३. **वैयावृत्य**—आचार्य आदि १० प्रकार के साधको तथा साधर्मी एव सघ की शुद्ध आहार पानी आदि से सेवा करना। ४. **स्वाध्याय**—वाचना, पृच्छा, अनुप्रेक्षा (चिन्तन), परिवर्तना, और धर्मकथा (व्याख्यान आदि) के द्वारा श्रुतज्ञान की आराधना करना। ५. **ध्यान**—आर्त्त और रौद्र ध्यान का परित्याग करके धर्मध्यान एव शुक्लध्यान द्वारा मन को एकाग्र करना, चित्त को तन्मय करना। ६. **व्युत्सर्ग**—काया आदि के व्यापार का एव शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ, उपकरणो के ममत्व का त्याग करना, कषाय-आदि का व्युत्सर्जन करना।[३९]

---

३७ (क) अणसमूणणोयरिया भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो सलीणया य बज्झो तवो होइ॥ —उत्तरा. अ ३०, गा ८
(ख) अनशनाऽवमौदर्य-वृत्तिपरिसख्यान-रसपरित्याग-विविक्तशय्यासन-कायक्लेशा बाह्य तप।
—तत्त्वार्थ अ ९

३८ दशवै. (आ म मजूषा टीका) भा. १, पृ ६७-६८

३९ (क) पायच्छित्त विणओ वेयावच्च तहेव सज्झाओ।
झाण च विउस्सग्गो, एसो अब्भितरो तवो॥ —उत्तरा अ ३०, गा ३९
(ख) दशवै. (आचारमणिमजूषा टीका) भा. १, पृ. ६९-७०

अहिंसा से स्व-पर का हित है, सबको शान्ति मिलती है, इसलिए अहिंसा धर्म है। सयम से दुष्प्रवृत्तियाँ रुकती है, तृष्णा मन्द हो जाती है, सयमी पुरुषो के सयम-पालन से अनेक दु खितो को आश्वासन मिलता है, राष्ट्र मे शान्ति का प्रचार होता है, इसलिए सयम धर्म है। तप से अन्त करण शुद्धि होती है, इसलिए तप धर्म है।[४०]

धर्म और अहिंसादि के पृथक्-पृथक् उल्लेख का कारण यह है कि धर्म शब्द अनेक अर्थों मे प्रयुक्त होता है, जैसा कि पहले बताया गया था। लौकिक धर्म अहिंसादि से युक्त नही होते, इसलिए कही ये धर्म भी उत्कृष्ट मगल रूप न समझे जाएँ, इस दृष्टि से उत्कृष्ट मगल रूप श्रमणधर्म को इनसे पृथक् करने हेतु अहिंसा, सयम और तप का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है। इसका फलितार्थ यह है कि जो धर्म अहिंसा, सयम और तप रूप है, वही उत्कृष्ट मगल है, शेष गम्यादि धर्म नही।[४१]

धर्म का माहात्म्य और फल—धर्म का माहात्म्य अपार है। 'तदुलवैचारिक' नामक ग्रन्थ मे धर्म का माहात्म्य बताते हुए कहा गया है—'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरणात्मक धर्म त्राणरूप है, शरणरूप है, धर्म सुगति रूप है, धर्म ससारगर्त्त मे पडने वाले के लिए प्रतिष्ठान (आधार) रूप है। सम्यक् प्रकार से आचरित धर्म अजर-अमर स्थान को प्राप्त कराता है। आचरित धर्म उसके पालक के प्रति जनसमुदाय द्वारा यहाँ और परलोक मे भी प्रीति उत्पन्न करने वाला है, वह कीर्ति दिलाने वाला है, तेजस्वी बनाता है, यशस्वी बनाता है, प्रशसनीय एव रमणीय बनाता है, अभय बनाता है, और निर्वृतिकर (शान्तिप्रद) है, सर्वकर्मक्षय करने वाला है। सम्यक् प्रकार से आचरित धर्म के प्रभाव से मनुष्य महर्द्धिक देवो मे उत्पन्न होकर अनुपम रूप, भोगोपभोग-सामग्री और ऋद्धि प्राप्त करता है, तथा या तो वह केवलज्ञान प्राप्त करता है, अथवा मति, श्रुत, अवधि और मन पर्यव, इन चार या तीन ज्ञानो को प्राप्त करता है। धर्मनिष्ठ व्यक्ति देवेन्द्रपद प्राप्त करता है, अथवा राज्य के समस्त (सप्त) अगो सहित चक्रवर्ती पद एव अभीष्ट भोगसामग्री प्राप्त करता है या वह निर्वाण प्राप्त करता है।[४२]

प्रस्तुत गाथा के उत्तरार्द्ध मे यह बताया गया है कि जिसका मन सदैव धर्म मे लीन एव तन्मय रहता है, उस धर्मात्मा की महिमा देवो से भी अधिक होती है। साधारण लोग, यहाँ तक कि राजा-महाराजा एव चक्रवर्ती आदि तो उसका अनुग्रह पाने के लिए उसकी वन्दना, नमन, सेवा-प्रतिष्ठा आदि करते ही है, लोकपूज्य तथा महाऋद्धि-द्युति-ऐश्वर्य-सम्पन्न देव एव देवेन्द्र भी उसकी वन्दना, पर्युपासना, स्तुति आदि करने मे अपना अहोभाग्य एव कल्याण समझते है। धर्मिष्ठ पुरुष का जीवन और व्यक्तित्व ही इतना महान् आकर्षक और तेजस्वी होता है कि वह विश्ववन्द्य बन जाता है।[४३] यद्यपि धर्मात्मा पुरुष को धर्म के सम्यक् आचरण से आत्मा की विशुद्धि एव विकास के साथ-साथ असाधारण सासारिक पूजा-प्रतिष्ठा, मान-सम्मान आदि आनुषगिक फल के रूप मे स्वत प्राप्त होते है, परन्तु धर्मिष्ठ व्यक्ति धर्म-पालन के आनुषगिक फलस्वरूप प्राप्त होने वाली ऐसी सासारिक

४० दशवै (गुजराती अनुवाद सतबालजी), पृ ४
४१ जिनदासचूर्णि, पृ ३८
४२ 'तदुलवेयालिय'
४३ दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ७

ऋद्धि, सिद्धि या लब्धि की प्राप्ति या अन्य किसी सासारिक उपलब्धि के लिए धर्माचरण न करे, केवल निर्जरा (आत्मशुद्धि) या अर्हन्तो द्वारा उपदिष्ट मोक्ष के हेतु से ही धर्माचरण करे; ऐसी तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा है।[४४]

श्रमणधर्म भिक्षाचरी और मधुकर-वृत्ति

२. जहा दुमस्स पुप्फेसु भमरो आवियई रसं।
न य पुप्फं किलामेइ, सो य पीणेइ अप्पयं॥

३. एमेए समणा मुत्ता, जे लोए संति साहुणो।
विहंगमा व पुप्फेसु, दाण-भत्तेसणे रया॥

४. वय च वित्तिं लब्भामो, न य कोइ उवहम्मइ।
अहागडेसु रीयंते, पुप्फेसु भमरा जहा॥

[२] जिस प्रकार भ्रमर, वृक्षो के पुष्पों मे से थोडा-थोडा रस पीता है तथा (किसी भी) पुष्प को पीडा नही पहुँचाता (म्लान नही करता), और वह अपने आपको (भी) तृप्त कर लेता है॥ २॥

[३] उसी प्रकार लोक मे जो (बाह्य-आभ्यन्तर-परिग्रह से या राग-द्वेष के ग्रन्थि-बन्धन से) मुक्त, श्रमण साधु है, वे दान-भक्त (दाता द्वारा दिये जाने वाले निर्दोष आहार) की एषणा (भिक्षा) मे रत रहते हैं, जैसे भौरे फूलो मे॥ ३॥

[४] हम इस ढग से वृत्ति (=भिक्षा) प्राप्त करेंगे, (जिससे) किसी जीव का उपहनन (उपमर्दन) न हो, (क्योकि) जिस प्रकार भ्रमर अनायास (अकस्मात्) प्राप्त, फूलो पर चले जाते हैं, (उसी प्रकार) श्रमण भी यथाकृत-गृहस्थो के द्वारा अपने लिए सहजभाव से बनाए हुए, आहार के लिए, उन घरो मे भिक्षा के लिए जाते हैं॥ ४॥

विवेचन—भ्रमरवृत्ति और साधु की भिक्षावृत्ति—प्रस्तुत तीन गाथाओ (२ से ४ तक) मे भ्रमरवृत्ति से साधु की भिक्षावृत्ति की तुलना की गई है।

अहिंसा, श्रमणधर्म और जीवननिर्वाह—प्रश्न होता है कि श्रमणधर्म या चारित्रधर्म का पालन या आचरण शरीर से होता है और शरीर के निर्वाह के लिए आहार की आवश्यकता रहती है, आहार पृथ्वीकायादि षड्जीवनिकाय के आरम्भ के विना निष्पन्न नही हो सकता। अगर साधु आरम्भ मे पडता है तो श्रमणधर्म का पालन नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे साधु अपने अहिंसाधर्म पर कैसे स्थिर रह सकता है?

इस समस्या के समाधान के हेतु इन गाथाओ मे भ्रमर का दृष्टान्त देकर साधुओ के लिए निर्दोष भिक्षावृत्ति द्वारा आहार ग्रहण करने और जीवन-निर्वाह करने की विधि बताई गई है। इस

---

४४ दशवै अ ९, उ ४, सू ५-६

प्रकार की एषणापूर्वक निर्दोष भिक्षाचर्या से साधु के श्रमणधर्म (चारित्र) पालन मे कोई आच नही आ सकती। [४५]

भ्रमरवृत्ति—प्रस्तुत द्वितीय गाथा मे भ्रमर की स्वाभाविक वृत्ति का उल्लेख किया गया है। भौरा अपने जीवन-निर्वाह के लिए मडराता हुआ किसी वृक्ष या लता, पौधे आदि के फूलो पर जाकर बैठता है, और उनका समूचा रस नही, किन्तु थोडा-थोडा रस मर्यादा-पूर्वक पीता है। ऐसा करके वह उन फूलो को हानि नही पहुँचाता, और वह स्वय की तृप्ति कर लेता है।[४६] इसीलिए इस गाथा मे **'दुमस्स पुप्फेसु'** मे बहुवचनात्मक पद और **'ण य पुप्फं किलामेइ'** मे एकवचनात्मक पद ग्रहण किया गया है। 'दुमेसु' इस बहुवचनात्मक पद से प्रकट किया गया है कि भौरा एक फूल पर ही नही, अनेक फूलो पर जा कर रस चूसने के लिए बैठता है। इसी प्रकार साधु भी एक ही घर से नही, अनेक घरो से आहार ग्रहण करे। तथा 'पुप्फ' इस एकवचनात्मक पद से यह आशय निकलता है कि वह किसी एक घर को भी हानि नही पहुँचाता। [४७]

भिक्षाचरी की प्रक्रिया द्वारा अहिसा, सयम और तप इन तीनो से युक्त श्रमणधर्म का भलीभाति पालन कर लेता है। साधु की निर्दोष भिक्षावृत्ति मे इन तीनो धर्मांगो का भलीभाति पालन हो जाता है, क्योकि अपने निमित्त से किसी भी जीव को पीडा न पहुँचाना **अहिसा** है। भिक्षाचर्या मे साधु अपने लिए स्वय आहार बना या बनवा कर किसी प्रकार से जीवो की हिसा (आरम्भ) नही करता और न किसी गृहस्थ के द्वारा उसके स्वय के लिए बनाये हुए आहार मे से बलात् लेता है, स्वेच्छा भावना से जो देता है, उसी मे से थोडा-सा लेता है, जिससे दाता गृहस्थ को भी किसी प्रकार का कष्ट नही होता। इसी प्रकार दूसरो को पीडा न पहुँचे, इस तरह से थोडे-से आहार से अपना जीवन निर्वाह कर लेना **सयम** है। साधु भिक्षाचरी करते समय अनेक घरो से थोडा-थोडा लेकर मर्यादित आहार से अपना निर्वाह कर लेता है। भिक्षाचरी करते समय पर्याप्त आहार न मिला या अपने नियमानुसार निर्दोष आहार बिलकुल न मिला, तो सतोष करके उपवास करके अपनी इच्छा का निरोध कर लेता है, तो अनायास ही **तप** हो जाता है। इस प्रकार साधुजीवन मे भिक्षाचर्या द्वारा स्वाभाविक रूप से स्व (श्रमण) धर्म का निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो से पालन हो जाता है।[४८]

भ्रमर और भिक्षु मे अन्तर—यहाँ जो भ्रमर का दृष्टान्त दिया गया है, वह देशोपमा है, सर्वोपमा नही। भ्रमर मे जो अनियतवृत्तिता का गुण है, उसी को लक्ष्य मे रख कर शास्त्रकार ने भ्रमर का दृष्टान्त दिया है।[४९]

---

४५ (क) दशवै (आचारमणि-मजूषा टीका) भा १, पृ ८५
(ख) दशवै (आ श्री आत्मारामजी म) पृ ८

४६. दशवै (आचारमणि-मजूषा टीका) भा १, पृ. ८६

४७ दशवै (आचारमणि-मजूषा टीका) भा १, पृ ८६-८७

४८. दशवै. (गुजराती अनुवाद, सतबालजी) पृ ५

४९. (क) दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म) पृ १०
(ख) दशवै. निर्युक्ति गा १००-१०१

भ्रमण और भिक्षाजीवी साधु मे भिक्षु की यह विशेषता है कि भ्रमर तो वृक्ष के पुष्प चाहे या न चाहे, तो भी उनमे से रस चूस लेते हैं, किन्तु भिक्षु तो, गृहस्थ अपने आहारादि मे से प्रसन्नता से, स्वेच्छा से दे, तभी ग्रहण करते है ।[५०]

'आवियइ' आदि पदों का फलितार्थ—**आवियइ**—थोडा-थोडा पीता है, अथवा मर्यादा (प्रमाण) पूर्वक पीता है । फलितार्थ यह है कि जिस प्रकार पुष्पो से रस ग्रहण करते समय भ्रमर मर्यादा से काम लेता है, उसी प्रकार भिक्षु भी गृहस्थो मे भिक्षा ग्रहण करते समय मर्यादा से काम ले । अर्थात् थोडा-थोडा ग्रहण करे, जिससे बाद मे गृहस्थ को दूसरी बार बनाने की तकलीफ न पडे । **'न य पुप्फं किलामेइ'**—भ्रमर की वृत्ति यह है कि वह पुष्प या पुष्प के वर्ण-गन्ध को हानि न पहुँचाये, अथवा फूल को मुर्झाए बिना रस ग्रहण कर ले । इसी प्रकार भिक्षु भी किसी को हानि न पहुचाये, डराये-धमकाए या टीकाटिप्पणी करके खिन्न किये बिना, जो दाता प्रसन्न मन से जितना दे, उतना ही लेकर सन्तुष्ट हो ।[५१]

समणा, मुत्ता, संति-साहुणो आदि पदों के विभिन्न विशेष अर्थ—**'समणा' : चार रूप, चार अर्थ**—(१) **श्रमण**—जो (धर्मपालन मे या रत्नत्रयरूप मोक्षमार्ग मे) श्रम—पुरुषार्थ करते है, अथवा जो कर्मक्षयार्थ श्रम—तप करते है; (२) **शमन**—जो कषायो और नोकषायो का शमन करते है, इन्द्रियो को शान्त-दान्त रखते है, (३) **समण**—जो अपने समान समस्त जीवो के प्रति सम (आत्मवत्) रहते है । अथवा समस्त जीवो के प्रति न तो राग रखते है, न द्वेष, मध्यस्थ हैं, वे भी समन है । (४) **सुमनस्** अथवा **समनस्**—जिसका मन शुभ है, सबका हितचिन्तक है, वह सुमना है, अथवा जिसका मन पाप से रहित है, जो शुभ मन से युक्त है, स्वजन-परजन या सम्मान-अपमान आदि मे जो 'सम' है, वह समना है ।[५२]

मुत्ता : दो अर्थ—(१) **मुक्ताः**—बाह्य और आभ्यन्तर परिग्रह से अथवा राग-द्वेष, मोह, आसक्ति एव घृणा से मुक्त— निर्ग्रन्थ या मुक्त - निर्लोभता के गुण से युक्त ।

---

५० दशवै (गुजराती अनुवाद, सतबालजी) पृ ५

५१ हारि वृत्ति, पत्र ३२-३३

५२ (क) श्राम्यन्तीति श्रमणा , तदस्यन्तीत्यर्थ । —हा. वृ. पत्र ६८

(ख) शमयन्ति कषाय-नोकषायरूपानलमिति शमना । —दश आचार म म भा १, पृ ९२

(ग) जह मम न पिय दुक्ख जाणिय एमेव सव्वजीवाण । न हणइ न हणावेइ य सममणई तेण सो समणो ॥
नत्थि य से कोइ वेसो, पिओ व सव्वेसु चेव जीवेसु । एएण होइ समणो, एसो अन्नो वि पज्जाओ ॥
तो समणो जइ सुमणो भावेण य जइ न होई पावमणो । सयणे य जणे य समो, समो य माणावमाणेसु ॥
—निर्युक्ति गाथा १५४, १५५, १५६

(घ) सह मनसा शोभनेन निदान-परिणाम-लक्षण-पापरहितेन च चेतसा वर्तत इति समनस ॥
—स्थानागटीका, पृ २६८

संति साहुणो : दो रूप—(१) **शान्ति-साधवः**—शान्ति-ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूप गुणविशिष्ट शान्ति की, सिद्धि की, उपशम, निर्वाण या अकुतोभय की या हिंसाविरति की साधना करने वाले।[५३] (२) **अथवा सन्ति साधवः**—(क) साधु हैं, साधु—जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र के योग से अपवर्ग या निर्वाण की साधना करते हैं, वे साधु हैं।[५४]

लोए : दो अर्थ—(१) लोक मे अर्थात् जैनशास्त्रीय दृष्टि से अढाई द्वीप-प्रमाण मनुष्यलोक में। यह अर्थ यहाँ इसलिए सगत है कि मनुष्य सिर्फ अढाई द्वीप मे ही उत्पन्न होते है, रहते है। (२) लोक में अर्थात्—भौगोलिक दृष्टि स वर्तमान जगत् मे।[५५]

'विहंगमा व पुप्फेसु' रहस्यार्थ—यहाँ 'भ्रमर' के बदले 'विहगम' शब्द का उल्लेख विशेष अर्थ को द्योतित करने के लिए है। 'विहगम' का अर्थ है—आकाश मे भ्रमण-शील भ्रमर। जिस प्रकार भ्रमर स्वय उडता हुआ अकस्मात् स्वाभाविकरूप से किसी वृक्ष के फूलो पर पहुँच जाता है, वह वृक्ष या फूल भ्रमर के पास नही आता, उसी प्रकार साधु को भी आकाशी वृत्ति से भिक्षा के लिए स्वय भ्रमण करते हुए स्वाभाविक रूप से उच्च-नीच-मध्यम, किसी भी कुल या घर मे पहुँचना चाहिए, वह घर या गृहस्थ दाता भिक्षु के पास भिक्षा लेकर नही आए। यह इन पदो का रहस्यार्थ है।[५६]

'समणा' के तीन विशेषण क्यो ?—प्रस्तुत गाथा मे 'समणा' पद दे देने से ही काम चल सकता था, फिर यहाँ समणा, मुत्ता, सति-साहुणो इन तीन विशेषणो के देने का क्या अभिप्राय है ? आचार्य हरिभद्र इसका समाधान करते हुए कहते है— लोक मे ५ प्रकार के श्रमण प्रसिद्ध है—(१) निर्ग्रन्थ, (२) शाक्य, (३) तापस, (४) गैरिक और (५) आजीवक। यहां शेष चार प्रकार के श्रमणो का निराकरण करके केवल निर्ग्रन्थ एव मोक्षसाधक या पचमहाव्रतपालक श्रमण विशेष की भिक्षावृत्ति बताने के लिए उपर्युक्त तीन विशेषण दिये गए है।[५७]

---

५३ (क) 'मुक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेन।' —हारि टीका, पृ ६८
(ख) शान्ति नाम ज्ञानदर्शनचारित्राणि अभिधीयन्ते तामेव गुणविशिष्टा शान्ति साधयन्तीति साधव, अहवा सति अकुओभय भण्णइ। - जि चूर्णि पृ ६६
(ग) सति विज्जति खेत्ततरेसु वि एव धम्मताकहणत्थ। अहवा सति-सिद्धि साधेति सतिसाधव। उवसमो वा सति, त साहेति सतिसाहवो। णेव्वाणसाहणेण साधव।
(घ) "सति निव्वाणमाहिय।"—सूत्रकृताग १।११।११
(ङ) उड्ढ अहे य तिरिय, जे केइ तस-थावरा।
सव्वत्थ विरति विज्जा, सति "॥ —सूत्र कृ. १।११।११.

५४ साधयन्ति सम्यग्दर्शनादियोगैरपवर्गमिति साधव। —हारि वृत्ति, पत्र ७९

५५ दशवै (आचार्य आत्मारामजी म) पृ. १२

५६. दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ ९४

५७ (क) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ ९४
(ख) 'निग्गथ-सक्क-तावस गेरुय-आजीव पचहा समणा।' —हारि वृत्ति, पत्र ६८

भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ श्रमण की भिक्षावृत्ति और मधुकरवृत्ति में अन्तर—प्रश्न होता है, निर्ग्रन्थ श्रमण सर्वथा अपरिग्रही, कचन-कामिनी का त्यागी होता है, इसी प्रकार भ्रमर भी बाहर से अपने पास कुछ भी नही रखता, ऐसी स्थिति मे जैसे भ्रमर सीधा ही फूलो के पास पहुँच कर वे (फूल) चाहे या न चाहे, उनका रस चूस लेता है, क्या इसी तरह निर्ग्रन्थ साधु भी अन्य-तीर्थी तापसो की तरह वृक्षो के फल, कन्द-मूल आदि तोड कर ग्रहण एव सेवन करे ?

शास्त्रकार कहते है---निर्ग्रन्थ श्रमण कदापि ऐसा नही कर सकता, क्योकि ऐसा करने से उसके दो महाव्रत भग होते है—वृक्ष, फल, मूल आदि सजीव होते है, उन्हे तोडने और खाने से उनकी हिसा होती है, अत साधु का प्रथम अहिसा महाव्रत भग होता है। दूसरे, वृक्षो के फल आदि को किसी के बिना दिये ग्रहण करने मे तीसरा अदत्तादानविरमण (अचौर्य) महाव्रत भग होता है। ऐसी स्थिति मे क्या श्रमण गृहस्थो से आटा, दाल आदि माग कर लाए और स्वय आहार पकाए या पकवाए ? इसका समाधान यह है कि अहिसा महाव्रती श्रमण ऐसा नही कर सकता, क्योकि पचन-पाचन आदि क्रियाओ—आरम्भो मे सचित्त अग्नि और जल के जीवो का हनन होगा। इसी प्रकार वह आहार-सामग्री खरीद कर या खरीदवा कर भी नही ले सकता, क्योकि अपरिग्रही और अहिंसक साधु के लिए यह वर्जित है। तब फिर वह अपनी उदरपूर्ति कैसे करे ? इस प्रश्न का समाधान तृतीय गाथा के अन्तिम चरण मे किया गया है—**दाण-भत्तेसणे रया**। ये शब्द निर्ग्रन्थ श्रमण की भिक्षावृत्ति के मूलमत्र है, और ये ही मधुकरवृत्ति से भिक्षावृत्ति की विशेषता को द्योतित करते है। इनका अर्थ है—भिक्षु गृहस्थो द्वारा प्रदत्त, (प्रासुक) भक्त (भोजन) की एषणा मे तत्पर रहे। इसका फलितार्थ यह है कि निर्ग्रन्थ भिक्षु अदत्तादान (चोरी) से बचने के लिए दाता द्वारा स्वेच्छा से प्रसन्नतापूर्वक दिया हुआ आहार आदि ग्रहण करे। बिना दिया हुआ न ले। अर्थात् दाता के घर मे स्वप्रयोजन के लिए बनाया हुआ, वह भी प्रासुक (अचित्त) हो, भिक्षा ग्रहण के किसी नियम के विरुद्ध न हो, ग्रहण-योग्य निर्दोष आहार-पानी हो तो ग्रहण करे।[५८] इस प्रकार की गवेषणा और ग्रहणैषणापूर्वक भिक्षा ग्रहण करने से श्रमण अपने अहिंसा, अपरिग्रह और अचौर्य, तीनो महाव्रतो को अक्षुण्ण रख सकेगा।

एषणा : परिभाषा और प्रकार—साधु को भिक्षाटन के समय प्रासुक, ग्राह्य, कल्पनीय एव एषणीय आहारादि की खोज, प्राप्ति और उसके उपभोग के समय जो विवेक रखना होता है, उसे ही एषणा अथवा एषणासमिति कहते है। उत्तराध्ययन आदि शास्त्रो मे एषणा के तीन प्रकार बताए गए है—**(१) गवेषणा**—भिक्षाचरी के लिए निकलने पर साधु को आहार के ग्राह्य-अग्राह्य, या कल्पनीय-

---

५८ (क) दाणेत्ति दत्तगिण्हण भत्ते भज सेव फासुगेण्हणया।
एसणतिगमि निरया उवसहारस्स सुद्धि इमा॥ —निर्युक्ति गा १२३

(ख) 'दानग्रहणाद् दत्त गृह्णन्ति, नादत्तम्, भक्तग्रहणेन तदपि भक्त प्रासुक, न पुनराधाकर्मादि।"
—हारि. वृत्ति, पत्र ६३

(ग) 'दात्रा दानाय आनीतस्य भक्तस्य एषणे।' —तिलकाचार्यवृत्ति

(घ) दशवै (गु अनु सतबाल) पृ ५, दशवै (मुनि नथमलजी) पृ ११

(ङ) अवि भमर महुयरिगणा अविदिन्न आवियति कुसुमरस। समणा पुण भगवतो नादिन्न भोत्तुमिच्छन्ति।
—दश. निर्युक्ति गा. १२४

अकल्पनीय के निर्णय के लिए जिन नियमो का पालन करना है, अथवा जिन १६ उद्गम और १६ उत्पादन के दोषो से बचना है, उसे 'गवेषणा कहते है, (२) **ग्रहणैषणा**—भिक्षाजीवी निर्ग्रन्थ साधु को भिक्षा ग्रहण करते समय जिन १० एषणा-दोषो से बचना है या जिन-जिन नियमो का पालन करना है, उसे ग्रहणैषणा कहते है, और (३) **परिभोगैषणा**—भिक्षा मे प्राप्त आहारादि का उपभोग (सेवन) करते समय जिन मण्डल के ५ दोषो से बचना है, उसे परिभोगैषणा या ग्रासैषणा कहते है। प्रस्तुत तृतीय गाथा मे 'एषणा मे रत' होने का विशेषार्थ है—भिक्षा की शोध, ग्रहण और परिभोग सम्बन्धी तीनो एषणाओ के ४७ दोषो से रहित शुद्ध भिक्षा की एषणा मे तत्पर रहना, पूर्ण उपयोग के साथ सर्वदोषो से रहित गवेषणा आदि मे रत रहना।[५९]

प्रतिज्ञा का उच्चारण—गुरु शिष्य के समक्ष अपनी दृढ प्रतिज्ञा को दोहराते हुए कहते हैं—"हम इस तरह से वृत्ति-भिक्षा प्राप्त करेंगे, कि किसी जीव का उपहनन (वध) न हो, अथवा किसी भी दाता को दु ख न हो। इस प्रतिज्ञा के पालन के लिए भिक्षु यथाकृत आहार लेते है, जैसे भ्रमर पुष्पो से रस।"[६०]

भिक्षा : स्वरूप, प्रकार और अधिकार—वैसे तो कई भिक्षुक (भिखारी) भी भीख मागते रहते हैं, और निर्ग्रन्थ श्रमण भी भिक्षाचर्या करते है, परन्तु इन दोनो की वृत्ति एव कोटि मे अन्तर है। भिक्षुक दीनता की भाषा मे, याचना करके या गृहस्थ के मन मे दया पैदा करके भीख मागता है और निर्ग्रन्थ श्रमण न तो दीनता प्रदर्शित करता है, और न ही याचना करता है,[६१] उसकी इस प्रकार की माग या बाध्य करके किसी से भिक्षा लेने की वृत्ति नही होती, न ही वह जाति, कुल आदि बता कर या प्रकारान्तर से दया उत्पन्न करके भिक्षा लेता है। उसकी भिक्षा अमीरी भिक्षा है। उसकी त्यागवृत्ति से स्वय आकर्षित होकर गृहस्थ अपने लिए बने हुए आहार मे से उसे देता है। इसीलिए आचार्य हरिभद्रसूरि ने श्रमण निर्ग्रन्थो की भिक्षा को **सर्वसपत्करी** कहा है। दीन, हीन, अनाथ और

---

५९ (क) इरिया-भासेसणादाणे उच्चारे समिति इय।
गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणा य जा।
आहारोवहि-सेज्जाए एए तिन्नि विसोहए॥
उग्गमुप्पायण पढमे बीए सोहेज्ज एसण।
परिभोगम्मि चउक्क, विसोहेज्ज जय जई॥ —उत्तराध्ययन अ २४, गा. २, ११, १२

(ख) "एसणतिगमि निरया।" - निर्युक्ति गा १२३

(ग) 'एसणाग्रहणेन गवेषणादित्रय-परिग्रह।' —हारि वृत्ति, पत्र ६८

(घ) 'एसणे इति-गवेसण-गहण-घासेसणा सूइता।' —अगस्त्य चूर्णि

६० जह दुमगणा उ तह नगरजणवया पयणपायणसहावा।
जह भमरा तह मुणिणो, नवरि अदत्त न भुजति॥
कुसुमे सहावफुल्ले आहारति भमरा जह तहा उ।
भत्त सहावसिद्ध समण-सुविहिया गवेसति। निर्युक्ति गा ९९, १०६, ११३, १२७, १२८, १२९

६१ 'अदीणे वित्तिमेसिज्जा'—उत्तरा

अपाहिजो को दी जाने वाली भिक्षा (भीख) **'दीनवृत्ति'** कहलाती है, और पाच आस्रवो का सेवन करने वाले, पचेन्द्रियविषयासक्त, प्रमाद मे निरन्तर रत, सन्तानो को उत्पन्न करने और पालने-पोसने मे व्यस्त, भोगपरायण, आलसी, एव निकम्मे लोगो को दी जाने वाली भिक्षा **'पौरुषघ्नी'** कहलाती है। क्योकि इससे उनमे पुरुषार्थहीनता आती है।[६२]

श्रमणधर्म-पालक भिक्षाजीवी साधुओ के गुण

५. महुकारसमा बुद्धा जे भवति अणिस्सिया।
नाणापिंडरया दता, तेण वुच्चति साहुणो॥
त्तिबेमि।

॥ पढमं दुमपुप्फियज्झयण समत्तं ॥ १ ॥

[५] जो बुद्ध (तत्त्वज्ञ) पुरुष मधुकर के समान अनिश्रित है, नाना पिण्डो मे रत है और दान्त है, वे अपने इन्ही गुणो के कारण साधु कहलाते है। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—साधुता के गुणो की पहिचान- प्रस्तुत ५वी गाथा मे साधुता की वास्तविक पहिचान के लिए मुख्य चार गुणो का प्रतिपादन किया गया है—(१) बुद्ध, (२) मधुकरवत् अनिश्रित, (३) नानापिण्डरत और (४) दान्त।

चारो गुणो की व्याख्या—(१) **बुद्धा**—प्रबुद्ध, जागृत, तत्त्वज्ञ अथवा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-विवेकी।[६३] (२) **महुकारसमा अणिस्सिया · मधुकरसम अनिश्रित · चार अर्थ**—(क) जैसे मधुकर किसी फूल पर आश्रित नही होता, वह विभिन्न पुष्पो से रस लेता रहता है, कभी किसी पुष्प पर जाता है, कभी किसी पुष्प पर। इसी प्रकार श्रमण भी किसी एक घर या ग्राम के आश्रित न हो। (ख) जैसे मधुकर की वृत्ति अनियत होती है, वह किस पुष्प पर रस लेने जाएगा, यह पहले से कुछ भी नियत या निश्चित नही होता, इसी प्रकार भिक्षाजीवी साधु भी पहले से किसी घर का कुछ भी निश्चित करके नही जाता, अनायास ही अनियत वृत्ति से कही भी भिक्षा के लिए पहुँच जाता है, (ग) भ्रमर जैसे किसी एक पुष्प मे आसक्त या निर्भर नही होता इसी प्रकार श्रमण भी किसी खाद्य पदार्थ, घर या गाव-नगर मे आसक्त नही होता। (घ) वह किसी निवासस्थान, कुटुम्ब, जाति, वर्ग आदि से प्रतिबद्ध न हो।[६४] (३) **नाणापिंडरया—नानापिण्डरता : पाच अर्थ**—(क) साधु अनेक घरो से ग्रहण किये हुए (थोडे-थोडे) पिण्ड=आहार मे रत (प्रसन्न) (ख) विविध प्रकार का अन्त, प्रान्त, नीरस या तुच्छ आहार ग्रहण करने मे रुचि वाले हो, (ग) उक्खित्तचरिया आदि भिक्षाटन की नाना विधियो से भ्रमण करते हुए प्राप्त पिण्ड (आहार) मे सन्तुष्ट रहे, (घ) कहाँ, किससे, किस

---

६२ (क) हरिभद्रीय अष्टक (ख) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ ९५-९६

६३ (क) दशवै (सतबालजी) पृ ६, (ख) दशवै (आ आत्मा) पृ १६,
(ग) दश (आचार म म) भा १, पृ १०३

६४ (क) दशवै (मु नथमलजी) पृ १३, (ख) दश (आचार म म) भा १, पृ १०३, (ग) दश (सतबालजी) पृ ६, (घ) दशवै (आ आत्मारामजी) पृ. १६, (ड) "अणिस्सिया णाम अपडिबद्धा"। —जि चू, पृ-६८

प्रकार से अथवा कैसा भोजन मिले तो मै लूँगा, इस प्रकार के अभिग्रहपूर्वक प्राप्त आहार मे सन्तुष्ट अनुरक्त रहे। (ङ) आहार की गवेषणा मे नाना प्रकार के वृत्तिसक्षेप से प्राप्त पिण्ड मे रत रहे।[६५]

(४) **दंता=दान्ता : पांच अर्थ**—(क) इन्द्रियो और मन के विकारो को दमन करने वाला, (ख) इन्द्रियो को दमन (नियत्रित) करने वाला, (ग) सयम और तप से आत्मा को दमन करने वाला, (घ) क्रोध, मान, माया, लोभ इत्यादि अध्यात्मदोषो के दमन करने मे तत्पर और (ङ) जो आत्मा से आत्मा का दमन करता है।

तेण वुच्चति साहुणो आशय—इस उपसहारात्मक वाक्य का आशय यह है कि इस अध्ययन मे अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्षरूप मे उल्लिखित महत्त्वपूर्ण गुणो से युक्त जो साधक है, वे इन्ही गुणो के कारण साधु कहलाते है।

॥ दशवैकालिकसूत्र · प्रथम द्रुमपुष्पिका अध्ययन समाप्त ॥

---

६५. नाना अनेकप्रकारोऽभिग्रहविशेषात् प्रतिगृहमल्पाल्पग्रहणाच्च पिण्ड-आहारपिण्ड, नाना चासौ पिण्डश्च नानापिण्ड, अन्तप्रान्तादिर्वा तस्मिन् रता—अनुद्वेगवन्त। —हारि वृत्ति, पत्र ७३

बिइयं अज्झयणं : द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वगं : श्रामण्य-पूर्वक

प्राथमिक

- दशवैकालिकसूत्र का यह द्वितीय श्रामण्यपूर्वक नामक अध्ययन है ।
- श्रामण्य का अर्थ है—श्रमणत्व अथवा श्रमणधर्म । श्रामण्य से पूर्व को 'श्रामण्यपूर्वक' कहते हैं ।
- श्रामण्य से पूर्व क्या होता है ? ऐसी कौन-सी साधना है जिसके विना श्रामण्य नहीं होता ? जैसे दूध के विना दही नही हो सकता, तिल के विना तेल नही हो सकता, बीज के विना वृक्ष नही हो सकता, वैसे ही कामनिवारण के विना श्रामण्य नही हो सकता । इसी तथ्य को दृष्टि मे रख कर शास्त्रकार ने, जिसके विना श्रामण्य नही हो सकता, इस अध्ययन मे उसकी चर्चा होने से, इसका नाम 'श्रामण्यपूर्वक' रखा है ।[1]
- टीकाकार के मतानुसार—'श्रामण्य का मूल बीज धृति (धर्म) है । अत इस अध्ययन मे 'धृति' का निरूपण है । कहा भी है—जिसमे धृति होती है, उसके तप होता है, जिसके तप होता है, उसको सुगति सुलभ है । जो धृतिहीन है, निश्चय ही उनके लिए तप दुर्लभ है ।"[2]
- शास्त्रकार मूल मे काम-निवारण को श्रामण्य का बीज बताते है । वही समग्र अध्ययन का मूल स्वर है । तात्पर्य यह है कि श्रमणधर्म का पालन करने से पूर्व कामराग का निवारण आवश्यक है ।
- आगे की गाथाओ मे बताया गया है कि जो सासारिक विषयभोगो या उत्तमोत्तम भोग्य पदार्थों का बाहर से त्याग कर देता है, या परवश होने के कारण उन पदार्थों का उपभोग नही कर पाता वह श्रमणत्वपालक या त्यागी नही । जो स्वेच्छा से, अन्तर से उन्हे त्याग देता है, वही त्यागी एव श्रमणत्व का अधिकारी है ।
- यहाँ 'काम' मुख्यतया मदन काम (मोहभाव) के अर्थ मे लिया गया है । इसीलिए आगे कामराग-निवारण के ठोस उपाय बतलाये गये है । कामनिवारण का उपाय करने पर भी मन नियत्रण से बाहर हो जाए तो काया की सुकुमारता छोडकर धैर्यपूर्वक आतापना आदि कठोर तपस्या करके उसका निवारण करे ।

१ दशवै (मुनि नथमलजी) पृ १७

२ जस्स धिई तस्स तवो, जस्स तवो तस्स सुग्गई सुलभा ।
जे अधिइमंत पुरिसा तवोऽपि खलु दुल्लहो तेसिं ॥—हारि वृत्ति,

- काम और श्रामण्य दोनो मे कैसे टक्कर होती है ? और कामनिवारण का उपाय धैर्यपूर्वक न करने पर बडे से बडा साधक भी काम के आगे कैसे पराजित हो जाता है ? इस तथ्य को भली-भांति समझाने के लिए शास्त्रकार ने कामपराजित रथनेमि और श्रामण्य पर सुदृढ राजीमती का ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत किया है ।
- राजीमती का प्रसग इस प्रकार है—भगवान् अरिष्टनेमि ने उत्कट वैराग्यपूर्वक एक हजार साधको के साथ भागवती दीक्षा अगीकार कर ली । बाद मे राजीमती ने भी प्रबल वैराग्य-पूर्वक सात सौ सहचरियो के साथ प्रव्रज्या अगीकार की । एक बार रैवतक पर्वत पर विराजमान भ नेमिनाथ को वन्दना करने साध्वी राजीमती जा रही थी । मार्ग मे बहुत तेज वृष्टि हो जाने से उनके सारे वस्त्र भीग गए । एक गुफा को निरापद एव एकान्त निर्जन स्थान समझ कर वे वहाँ अपने सब वस्त्र उतार कर सुखाने लगी । उसी गुफा मे ध्यानस्थ रहे हुए रथनेमि (नेमि-नाथ भगवान् के छोटे भाई) की दृष्टि राजीमती के रूपयौवनसम्पन्न शरीर पर पडी । उनकी कामवासना भडक उठी । उन्हे अपने श्रमणत्व का भान नही रहा । वह साध्वी राजीमती से कामभोग की प्रार्थना करने लगे । इस पर राजीमती एकदम चौक कर सभल गई । उसने अपने शरीर पर वस्त्र लपेटे और रथनेमि को जो वचन कहे, उन्हे सुनकर वे पुन आत्मस्थ एव सयम मे सुस्थिर हुए । राजीमती ने रथनेमि को जो प्रबल प्रेरक उपदेश दिया, वह गाथा ६ से ९ तक चार गाथाओ मे वर्णित है । उत्तराध्ययनसूत्र के २२वे अध्ययन मे विस्तार से अकित है ।[3]
- उपसहार मे कहा गया है कि साधको को भी मोहोदयवश सयम से विचलित होने का प्रसग आने पर इसी प्रकार अपने ऊपर अकुश लगाकर श्रमणत्व मे स्थिर हो जाना चाहिए ।

□□

३. देखिये, उत्तराध्ययन सूत्र का २२वाँ अध्ययन ।

बिइयं अज्झायणं : द्वितीय अध्ययन

सामण्णपुव्वगं : श्रामण्य-पूर्वक

कामनिवारण के अभाव में श्रामण्यपालन असंभव

६. कहं नु कुज्जा सामण्ण, जो कामे न निवारए ।
पए पए विसीयतो, सकप्पस्स वसं गओ ।।

[६] जो व्यक्ति काम (-भोगो) का निवारण नही कर पाता, वह सकल्प के वशीभूत होकर पद-पद पर विषाद पाता हुआ श्रामण्य का कैसे पालन कर सकता है ?*

विवेचन—श्रामण्यपालन-योग्यता की पहली कसौटी—प्रस्तुत अध्ययन की प्रथम गाथा मे कामनिवारण के अभाव मे सकल्प-विकल्पो के थपेडो से आहत एव विषादग्रस्त व्यक्ति के लिए श्रमण-भाव का पालन अशक्य बताया गया है ।

श्रामण्यपालन का अन्तस्तल— श्रामण्य का यहाँ व्यापक अर्थ है—श्रमणभाव, शमनभाव, समभाव, एव सममनोभाव । समण शब्द के चार रूप और उनके व्यापक अर्थों पर पिछले अध्ययन मे प्रकाश डाला गया है । इस दृष्टि से श्रामण्य के भी व्यापक रूप और उनके अर्थों पर विचार करे तो श्रामण्य-पालन के हार्द को पकड सकेगे । जो व्यक्ति तप-सयम मे या रत्नत्रयरूप मोक्ष मार्ग मे स्वय पुरुषार्थ (श्रमणभाव) नही करता, देवी-देवो या किसी अन्य शक्ति के आगे दीनतापूर्वक सासारिक कामभोगो की याचना करता है, साथ ही कषायो तथा नोकषायो का शमन (शमनभाव) नही करता, तथा आर्त्त-रौद्र ध्यान करता है, एव इष्ट-अनिष्ट विषयो के प्रति समभाव नही रख पाता, पुनश्च जो विषय-कषायो के चक्कर मे पडकर अपने मन को प्रतिक्षण पापमय (अशुभ) बनाए रखता है, शुभ मन (सुमन) नही रख पाता, अर्थात्—जो श्रामण्य-पालन नही कर पाता, वह श्रमण भाव आदि के अभाव मे उपर्युक्त दृष्टियो मे कामनिवारण नही कर सकेगा । वह विविध प्रकार के विकल्पो की उधेड बुन मे अहर्निश दु खी एव सतप्त होता रहता है । ऐसा व्यक्ति श्रामण्य का आनन्द, मोक्षमार्ग का या आत्मा का स्वाधीन सुख प्राप्त नही कर सकता । यहाँ कामनिवारण और श्रामण्य-पालन का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध बताया है । अर्थात्—कामनिवारण के अभाव मे श्रामण्यपालन नही हो सकता, और श्रामण्यपालन के अभाव मे कामनिवारण नही हो सकता । इसलिए शास्त्रकार ने गाथा के प्रारम्भ मे ही कहा है—**'कह नु कुज्जा सामण्ण ।'**

---

* **तुलना कीजिए**—दुक्कर दुत्तितिखञ्च अव्यत्तेन हि सामञ्ञ । बहूहि तत्थ सम्बाधा, यत्थ बालो विसीदतीति । कतिह चरेय्य सामञ्ञ, चित्त चे न निवारये । पदे पदे विसीदेय्य सकप्पान वसानुगो ति ।। १।१७

—सयुत्तनिकाय १।२।७, पृ ८

अर्थ—श्रामण्य अव्यक्त होने से दुष्कर, दुस्तितिक्ष्य (दु सह) लगता है और जब उसके पालन मे बहुत बाधाएँ आती है तो बाल (अज्ञानी) जन अत्यन्त विषाद पाते है । जो व्यक्ति अपने चित्त को कामभोगो से निवारित नही कर सकता, वह कितने दिनो तक श्रमणभाव को पालेगा ! क्योकि यह व्यक्ति सकल्पो के वशीभूत होकर पद-पद खेदखिन्न होता रहेगा ।

प्रकारान्तर से श्रामण्यपालन के अभाव मे—श्रामण्य का अर्थ श्रमणधर्म करते है तो क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, सयम, तप, त्याग, आकिचन्य और ब्रह्मचर्य इन दशविध श्रमणधर्मो का समावेश श्रामण्य शब्द मे हो जाता है। ऐसी स्थिति मे **'कह नु कुज्जा सामण्ण'** का तात्पर्य होगा—जो व्यक्ति कामेच्छा का निवारण नही कर सकता, वह दशविध श्रमण-धर्म का पालन कैसे कर सकता है ? कामभोगो की लालसा से मन सुखसुविधाशील और शरीर सुकुमार बन जाएगा तो परीषहो एव उपसर्गों को सहने, उसमे अपकारियो के प्रति भी क्षमाशील रहने की क्षमता (क्षमा) नही रहेगी, मृदुता और सरलता की अपेक्षा कामभोगलालसा के साथ उनकी पूर्ति करने हेतु कठोरता और वक्रता (कुटिलता) आ जाएगी। वह अपने कामलालसाजन्य दोषो को छिपाने का प्रयत्न करेगा। शौच भाव—अन्तर्बाह्य पवित्रता भी कामभोगो की लालसा के कारण व्यक्ति सुरक्षित नही रख सकेगा। गदी वासना और मलिन कामना व्यक्ति की पवित्रता को समाप्त कर देगी। सत्याचरण से भी कामभोगपरायण व्यक्ति दूर होता जाता है। सयम का आचरण तो इच्छाओ पर स्वैच्छिक दमन या नियमन मागता है, वह काम-कामी मे कैसे होगा ? तपश्चर्या भी इच्छानिरोध से ही सम्भव है, वह काम-कामी व्यक्ति मे आनी कठिन है। त्यागभावना से तो वह दूरातिदूर होता जाता है, विषयो की प्राप्ति के तथा अर्थजनित लोभ के वश व्यक्ति अकिचनता (स्वैच्छिक गरीबी) को नही अपना सकता। ऐसा व्यक्ति अधिकाधिक विषयसुखप्राप्ति के लिए अधिकाधिक अर्थ जुटाने मे सलग्न रहेगा। कामुक अथवा कामी व्यक्ति ब्रह्मचर्य का पालन स्वप्न मे भी नही करना चाहता। इस प्रकार कामनिवारण के अभाव मे श्रामण्य (दशविध श्रमणधर्म) का पालन व्यक्ति के लिए कथमपि सभव नही है।

काम · दो रूप : दो प्रकार—निर्युक्तिकार के अनुसार काम के दो मुख्य रूप है—द्रव्यकाम और भावकाम।[1] विषयासक्त मनुष्यो द्वारा काम्य (इच्छित) —इष्ट शब्द रूप, रस, गन्ध और स्पर्श को काम कहते है। जो मोहोदय के हेतुभूत द्रव्य है, अर्थात्—मोहनीय कर्म के उत्तेजक अथवा उत्पादक (जिनके सेवन से मोह उत्पन्न होता है ऐसे) द्रव्य है, वे **द्रव्यकाम** है।[2] तात्पर्य यह कि मनोरम रूप, स्त्रियो के हासविलास या हावभाव कटाक्ष आदि, अगलावण्य, उत्तम शय्या, आभूषण, आदि कामोत्तेजक द्रव्य **द्रव्यकाम** कहलाते है।[3]

भावकाम—दो प्रकार के है—इच्छाकाम और मदनकाम।[4] चित्त की अभिलाषा, आकाक्षा-

---

१ " दव्वकामा भावकामा य।" —निर्युक्ति गा १६१

२ (क) ते इट्ठा सद्दरसरूवगन्धफासा कामिज्जमाणा विसयपसत्तेहि कामा भवति।
(ख) शब्दरसरूपगन्धस्पर्शा मोहोदयाभिभूते सत्त्वै। —जिन चूर्णि, पृ ७५
काम्यन्ते इति कामा। —हारि टीका, पृ ८५

३ (क) जाणिय मोहोदयकारणाणि वियडमासादीणि दव्वाणि तेहि अब्भवहरिएहि सद्दादिणो विसया उद्दिजति एते दव्वकामा। —जिन. चूर्णि, पृ ७५
(ख) मोहोदयकारीणि च यानि द्रव्याणि सथारक विकटमासादीनि तान्यपि मदनकामाख्य-भावकर्महेतुत्वात द्रव्यकामा इति। —हारि वृत्ति, पत्र ८५

४ दुविहा य भावकामा—इच्छाकामा मयणकामा। —निर्युक्ति गा. १६२

रूप काम को इच्छाकाम कहते हैं।[५] इच्छा दो प्रकार की होती है—प्रशस्त और अप्रशस्त।[६] धर्म और मोक्ष से सम्बन्धित इच्छा प्रशस्त है, जबकि युद्ध, कलह, राज्य या विनाश आदि की इच्छा अप्रशस्त है।[७] मदनकाम कहते हैं—वेदोपयोग को।[८] जैसे—स्त्री के द्वारा स्त्रीवेदोदय के कारण पुरुष की अभिलाषा करना, पुरुष द्वारा पुरुषवेदोदय के कारण स्त्री की अभिलाषा करना, तथा नपुसकवेद के उदय के कारण नपुसक द्वारा स्त्री-पुरुष दोनो की अभिलाषा करना तथा विषयभोग मे प्रवृत्ति करना मदनकाम है।[९] निर्युक्तिकार कहते है—"विषयसुख मे आसक्त एव कामराग मे प्रतिबद्ध जाव को काम, धर्म से गिराते हैं। पण्डित लोग काम को एक प्रकार का रोग कहते है। जो जीव कामो की प्रार्थना (अभिलाषा) करते हैं, वे अवश्य ही रोगो की प्रार्थना करते हैं।[१०] वास्तव मे 'काम' यहाँ केवल मदनकाम से ही सम्बन्धित नही, अपितु इच्छाकाम और मदनकाम दोनो का द्योतक है और श्रमणत्व पालन करने की शर्त के रूप मे अप्रशस्त इच्छाकाम और मदनकाम, इन दोनो का समानरूप से निवारण करना आवश्यक है।

काम का मूल और परिणाम—प्रस्तुत गाथा मे काम को श्रामण्य का विरोधी क्यो बताया गया है, इसके उत्तर मे शास्त्रकार गाथा के उत्तरार्द्ध मे कहते है—**"पए पए विसीयतो संकप्पस्स वसं गओ।"** फलितार्थ यह है कि काम का मूल सकल्प है।† अर्थात् सकल्पा-विकल्पो से काम पैदा होता है। अगस्त्यसिंहचूर्णि मे एक श्लोक उद्धृत किया गया है—

काम ! जानामि ते रूपं संकल्पात् किल जायसे।
न त्वा संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि।*

अर्थात्—'हे काम ! मै तुझे जानता हू। तू सकल्प से पैदा होता है। मै तेरा सकल्प ही नही करू गा, तो तू मेरे मन मे उत्पन्न नही हो सकेगा। तात्पर्य यह है—जब व्यक्ति काम का सकल्प करता है—अर्थात् मन मे नाना प्रकार के कामभोगो या कामोत्तेजक मोहक पदार्थो की वासना, तृष्णा या

---

५ तत्रैषणमिच्छा, सैव चित्ताभिलाषरूपत्वात्कामा इतीच्छाकामा।' —हारि वृत्ति, पत्र ८५

६ इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य । —निर्युक्ति गा. १६३

७ तत्थ पसत्था इच्छा, जहा—धम्म कामयति, मोक्ख कामयति, अपसत्था इच्छा—रज्ज वा कामयति, जुद्ध वा कामयति, एवमादि इच्छाकामा। —जिन चूर्णि, पृ ७६

८ मयणमि वेय-उवओगो। —निर्युक्ति गाथा १६३

९ (क) जहा इत्थी इत्थिवेदेण पुरिस पत्थेइ, पुरिसोवि इत्थि एवमादी। —जिन चूर्णि, पृ ७६
(ख) मदयतीति मदन —चित्रो मोहोदय स एव कामप्रवृत्ति—
हेतुत्वात् मदनकामा।" —हारि वृत्ति, पृ ८५-८६

१० विसयसुहेसु पसत्त, अबुहजण कामरागपडिबद्ध ।
उक्कामयति जीव, धम्माओ, तेण ते कामा ।
अन्न पि से नाम कामा रोगत्ति पडिया बिति ।
कामे पत्थेमाणो, रोगे पत्थेइ खलु जतू ॥ —निर्युक्ति गाथा १६४-१६५

† सकप्पोत्ति वा छदोत्ति वा कामज्झवसायो। —जिनदास चूर्णि, पृ ७८

* दशवै अगस्त्यसिंह चूर्णि, पृ ४१

इच्छाओ का मेला लगा लेता है, उन काम्य पदार्थों को पाने का अध्यवसाय करता है, उन्ही के चिन्तन मे डूबता-उतराता रहता है, तब कहा जाता है कि वह काम-सकल्पो के वशीभूत (अधीन हो गया। उसका परिणाम यह आता है—जब काम-सकल्प पूरे नही होते या सकल्पपूर्ति मे कोई रुकावट आती है या कोई विरोध करने लगता है, अथवा इन्द्रियक्षीणता आदि विवशताओ के कारण काम का या काम्यपदार्थो का उपभोग नही कर पाता, तब वह क्रोध करता है, मन मे सक्लेश करता है, झु झलाता है, शोक और खेद करता है, विलाप करता है, दूसरो को मारने-पीटने, या नष्ट करने पर उतारू हो जाता है। इस प्रकार की आर्त्त-रौद्रध्यान की स्थिति मे वह पद-पद पर विषादमग्न हो जाता है। पद-पद पर विषाद ही सकल्प-विकल्पो का परिणाम है।*

भगवद्गीता मे भी काम के सकल्प से अध पतन एव सर्वनाश का क्रम दिया है—कहा है—"जो व्यक्ति मन से विषयो का स्मरण-चिन्तन करता है, उसकी आसक्ति उन विषयो मे हो जाती है। आसक्ति से उन विषयो को पाने की कामना (काम) पैदा होती है। काम्य पूर्ति मे विघ्न पडने से क्रोध होता है। क्रोध से अविवेक अर्थात्—मूढभाव उत्पन्न होता है। सम्मोह (मूढभाव) से स्मृति भ्रान्त हो जाती है। स्मृति के भ्रमित-भ्रष्ट हो जाने से बुद्धि (ज्ञान—विवेक की शक्ति) नष्ट हो जाती है और बुद्धिनाश से मनुष्य का सर्वनाश यानी श्रेय साधन (या श्रमणभाव) से सर्वथा अध पतन हो जाता है।"+

विषादग्रस्तता : स्वरूप, लक्षण और कारण—सयम, और धर्म के प्रति अरति, अरुचि या खिन्नता की भावना उत्पन्न होना विषाद है।

जब साधक पर क्षुधा, तृषा, शर्दी, गर्मी, डास, मच्छर, वस्त्र की कमी, अलाभ (आहारादि की अप्राप्ति), शय्या या वसति (आवासस्थान) अच्छी न मिलना, इत्यादि परीषह, उपसर्ग, कष्ट, या वेदना के समय मन मे सयम के प्रति अरुचि या खिन्नता उत्पन्न होती है, तब—"इससे बेहतर है, पुन गृहस्थवास मे चले जाना," इस प्रकार सोचता है, एकान्त मे या समूह मे स्त्रियो का रूप-लावण्य अथवा अनुराग देखकर मन मे त्याग का अनुताप होता है, उग्रविहार, पैदल भ्रमण, भिक्षाचर्या, एक स्थान मे बैठना (निषद्या) अथवा निवास करना, आक्रोश (किसी के द्वारा कठोर वचन कहे जाने), वध (मार-पीट), रोग, घास या तृण का कठोर स्पर्श, शरीर पर मैल जम जाना, एकान्तवास का भय, दूसरो का सत्कार-पुरस्कार होते देख स्वय मे सत्कार-पुरस्कार की लालसा, प्रज्ञा और ज्ञान न होने की स्थिति से उत्पन्न हीनभावना, ग्लानि, दृष्टि सम्यक् या स्पष्ट न होने से विषयो मे रमण या सुखसुविधा, आरामतलबी को अच्छा समझना, आदि परीषहो के उपस्थित होने पर साधक विचलित हो जाता है, मन मे आचारभ्रष्ट होने के उतार-चढाव आते रहते है, अपने प्रति, समाज, सघ, गुरु आदि निमित्तो के प्रति रोष, झु झलाहट, अभक्ति-अश्रद्धा उत्पन्न होती है, क्रोधादि कषायो

---

* दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म) पृ २०

+ ध्यायतो विषयान् पु स, सगस्तेषूपजायते।
सगात् सजायते काम, कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद् भवति सम्मोह, सम्मोहात् स्मृतिविभ्रम।
स्मृतिभ्र शात् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥ —भगवद्गीता अ २, श्लो ६२-६३

मे उग्रता आ जाती है, भोगी लोगो की देखा-देखी या ईर्ष्यावश मन मे इन्द्रियविषयो के प्रति गाढ अनुराग पैदा हो जाता है, ये सब विषादग्रस्तता के लक्षण हैं।*

विषादग्रस्तता के उद्गमस्थल—स्पर्शन आदि इन्द्रियो के विषय (अर्थात्--इन्द्रिय विषयो के देखने, सुनने, सूघने, चखने एव छूने) से, क्रोध आदि कषायो के निमित से, क्षुधा आदि परीषहो से, वेदना (बेचैनी या असुखानुभूति) से तथा देव-मनुष्य-तिर्यञ्चकृत उपसर्ग से विषादग्रस्तता के अपराध का उद्गम होता है। अर्थात्—ये अपराध-पद है—विषाद-उत्पन्न होने के। ये ऐसे विकारस्थल है, जहाँ कच्चे साधक के पद-पद पर स्खलित एव विचलित होने की सम्भावना है।[११]

विषादग्रस्तता का उदाहरण—कामसकल्पो के वशीभूत होने वाला व्यक्ति किस प्रकार बात-बात मे सुखसुविधावादी, सुकुमार कायर एव शिथिल होकर विषादग्रस्त हो जाता है? इसे समझाने के लिए वृत्तिकार एक उदाहरण देते है—कोकण देश मे एक वृद्ध पुरुष अपने पुत्र के साथ प्रव्रजित हुआ। युवक शिष्य अभी कामभोगो के रस से बिलकुल विरक्त नही हुआ था, किन्तु वृद्ध को वह अत्यन्त प्रिय था। एक दिन शिष्य कहने लगा—"गुरुजी! जूतो के बिना मुझ से नही चला जाता, पैर छिल जाते है।" अनुकम्पावश वृद्ध पुरुष ने उसे जूते पहनने की छूट दे दी। फिर एक दिन कहने लगा--"ठड से पैर के तलवे फट जाते है।" वृद्ध ने मौजे पहनने की छूट दे दी। एक दिन बोला—"धूप मे मेरा मस्तक अत्यन्त तप जाता है।" वृद्ध गुरु ने उसे वस्त्र से सिर ढँकने की आज्ञा दे दी। इस पर भी एक दिन शिष्य बोला—"गुरुजी! अब तो मेरे लिए भिक्षा के अर्थ घूमना कठिन है।" वृद्ध गुरु शिष्यमोहवश उसे वही भोजन लाकर देने लगे। एक दिन शिष्य बोला—"गुरुजी! अब मुझसे भूमि पर शयन नही किया जाता।" गुरु ने उसे बिछौने पर सोने की आज्ञा दे दी। एक दिन लोच करने मे असमर्थता प्रकट की तो गुरु ने क्षुरमुण्डन करने की छूट दे दी। एक दिन बोला—बिना नहाए रहा नही जाता तो गुरु ने प्रासुक पानी से स्नान करने की आज्ञा दी। इस प्रकार ज्यो-ज्यो शिष्य माग करता गया, वृद्ध उसे मोहवश छूट देता गया। एक दिन शिष्य बोला—"गुरुजी! अब मुझ से बिना स्त्री के रहा नही जाता।" गुरु ने उसे दुर्वृत्तिशील एव अयोग्य जान कर अपने आश्रय से दूर कर दिया। इस प्रकार जो साधक इच्छाओ और कामनाओ के वशीभूत होकर उनके पीछे दौडता है, वह पद-पद पर अपने श्रमणभाव से शिथिल, भ्रष्ट और विचलित होकर शीघ्र ही अपना सर्वनाश कर लेता है।[१२]

फलितार्थ—प्रस्तुत गाथा का फलितार्थ यह है कि जो साधक श्रामण्य (श्रमणभाव, प्रशमभाव या समभाव) का पालन करना चाहता है, उसे समग्र कामभोगो की वाञ्छा, लालसा एव स्पृहा का

---

* दशवै (मुनि नथमलजी) के आधार पर, पृ. २३

११. इंदियविसय-कसाया परीसहा वेयणा य उवसग्गा।
एए अवराहपया जत्थ विसीयति दुम्मेहा॥ --निर्युक्ति, गा. १७५

१२ हारि. वृत्ति, प ७९

त्याग करना आवश्यक है। गीता की भाषा मे देखिए "जो पुरुष समस्त काम-भोगो का त्याग करके नि स्पृह, निरहकार और ममत्वरहित होकर विचरण करता है, वही शान्ति प्राप्त करता है।"[१३]

कई साधक बाह्यरूप से काम्य-भोग्य पदार्थों का त्याग कर देते है, किन्तु उनको पाने की कामना मन मे सजोए रहते है। रोगादि कारणो से काम्य पदार्थों का उपभोग नही कर सकते, वे व्यक्ति भी श्रमणत्व एव त्यागवृत्ति से दूर है। यही विश्लेषण अगली दो गाथाओ मे देखिये—

अत्यागी और त्यागी का लक्षण

७ वत्थ-गधमलंकार इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुजति, न से चाइत्ति वुच्चइ ॥२॥*

८. जे य कंते पिए भोए, लद्धे विप्पिट्ठिं कुव्वइ।
साहीणे चयई भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ॥३॥

[७] जो (व्यक्ति) परवश (या रोगादिग्रस्त) होने के कारण वस्त्र, गध, अलकार, स्त्रियो, शय्याओ और आसनादि का उपभोग नही करते, (वास्तव में) वे त्यागी नही कहलाते ॥२॥

[८] त्यागी वही कहलाता है, जो कान्त (कमनीय-चित्ताकर्षक) और प्रिय (अभीष्ट) भोग उपलब्ध होने पर भी (उनकी ओर से) पीठ फेर लेता है और स्वाधीन (स्वतन्त्र) रूप मे प्राप्त भोगो का (स्वेच्छा से) त्याग करता है ॥३॥

विवेचन —बाह्यत्यागी और आदर्शत्यागी का अन्तर—प्रस्तुत दो गाथाओ मे बाह्यत्यागी और आदर्शत्यागी का अन्तर स्पष्ट रूप से समझाया गया है।

बाह्यत्यागी आदर्शत्यागी नहीं—प्रश्न होता है, किसी व्यक्ति ने घरबार, कुटुम्ब-परिवार, धन, जन तथा सुन्दर वस्त्राभूषण, शयानासनादि एव कामिनियो का त्याग कर दिया है, वह अनगार बन चुका है, भिक्षावृत्ति से मर्यादित आहार-पानी, वस्त्रपात्रादि ग्रहण करता है, किन्तु उपर्युक्त साधन स्वाधीन न होने (परवश होने) के कारण न मिलने की स्थिति मे उनका उपभोग नही कर पाता, अथवा जो पदार्थ पास मे नही है, या जिन पर अपना वश नही है, अथवा उपर्युक्त पदार्थ मिलने पर भी रोगादि कारणो से उनका उपभोग नही कर सकता, क्या वह त्यागी नही है? शास्त्रकार कहते है—उसे त्यागी नही कहा जा सकता, क्योकि त्यागी वह होता है, जो अन्त करण से परित्याग करता है। जो काम्य वस्तुओ का केवल अपनी परवशता (अस्वस्थता आदि) के कारण सेवन नही करता, उसे त्यागी कैसे कहा जाएगा? क्योकि वह चाहे काम्य पदार्थों का उपभोग न करता हो, किन्तु, उसके मन

---

१३ विहाय कामान् य सर्वान्, पुमाश्चरति नि स्पृह।
निर्ममो निरहकार स शान्तिमधिगच्छति ॥—गीता अ. २, श्लोक ७१

* इसके आशय की तुलना कीजिए—
कर्मेन्द्रियाणि सयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचार स उच्यते ॥—गीता अ. ३, श्लो ६

मे काम्य-भोग्य पदार्थों का उपभोग करने की लालसा तो विद्यमान है। तात्पर्य यह है कि ऐसे बाह्यत्यागी द्रव्यलिंगी के अन्तर मे इच्छा रूप भूख जगी हुई है। वह मन ही मन सोचता है कि "मुझे भी सुन्दर वस्त्राभूषण मिले तो मै भी पहनूँ, मैं भी सुगन्धित पदार्थों का उपभोग करूँ, मै भी सुखशय्याओ पर शयन करूँ, या नाना देश की सुन्दरियो के साथ विहरण करूँ, नाना प्रकार के सुन्दर गुदगुदे आसन मुझे भी मिले तो उनका उपभोग करूँ।" ऐसी स्थिति मे पदार्थों का त्याग कर देने से वे पदार्थ तो उसे मिलेंगे नही, किन्तु उनकी लालसा बनी रहेगी और जब-तब उनके निमित्त से सकल्प-विकल्प, आर्त्त-रौद्र ध्यान होते रहेगे।[१४] शास्त्रकार ने ऐसे व्यक्ति को आदर्शत्यागी न मानने का प्रबल कारण बताया है **'अच्छदा'**। इसके मुख्य अर्थ दो है—(१) जो साधु स्वाधीन न होने से—परवश होने से विषय-भोगो को नही भोगता, (२) जो पदार्थ पास मे नही है, अथवा जिन पदार्थों पर वश नही है। इस विषय मे चूर्णि एव टीका मे एक उदाहरण दिया गया है—चन्द्रगुप्त के अमात्य चाणक्य के प्रति द्वेषशील तथा नन्द के अमात्य सुबन्धु को मृत्यु के भय से अकाम रहने पर भी साधु नही कहा जा सकता, उसी प्रकार विवशता के कारण विषयभोगो को न भोगने से कोई सच्चा त्यागी नही कहला सकता।[१५]

कान्त एव प्रिय मे अन्तर– स्थूल दृष्टि मे देखने पर कान्त और प्रिय दोनो शब्द एकार्थक प्रतीत होते है, परन्तु दोनो के अर्थ मे अन्तर है। अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार 'कान्त' का अर्थ—सहज सुन्दर और प्रिय का अर्थ—अभिप्रायकृत सुन्दर होता है। जिनदास महत्तर-चूर्णि मे 'कान्त' का अर्थ—रमणीय और 'प्रिय' का अर्थ –'इष्ट' किया गया है। इस विषय मे यहा चतुर्भगी बन सकती है– (१) एक वस्तु कान्त होती है, पर प्रिय नही, (२) एक वस्तु प्रिय होती है, कान्त नही, (३) एक वस्तु कान्त भी होती है, प्रिय भी, और (४) एक वस्तु न प्रिय होती है, न कान्त। तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति को कान्तवस्तु मे कान्तबुद्धि उत्पन्न होती है, जबकि किसी व्यक्ति को अकान्तवस्तु मे भी कान्तबुद्धि उत्पन्न होती है। एक वस्तु, एक व्यक्ति के लिए कान्त होती है, वही वस्तु दूसरे के लिए अकान्त होती है। जैसे –नीम मनुष्य के लिए कडवा होने मे कान्त नही होता, किन्तु अमुक रोगी अथवा ऊँट के लिए कान्त होता है। क्रोध, असहिष्णुता, अकृतज्ञता एव मिथ्याभिनिवेश आदि कारणो से व्यक्ति को गुणसम्पन्न वस्तु भी अगुणयुक्त लगती है। अविद्यमान दोषदर्शन के कारण कान्त मे भी अकान्तबुद्धि हो जाती है। एक माता को अपना पुत्र कालाकलूटा और बेडौल (अकान्त) होने पर भी मोहवश कान्त लगता है, इसी प्रकार एक सुन्दर सुरूप सुडौल व्यक्ति कान्त होने पर भी कलहकारी और क्रूर होने के कारण अप्रिय लगता है। अत जो कान्त हो, वह प्रिय हो ही, ऐसा कोई नियम नही है। यही दोनो विशेषणो मे अन्तर है।[१६]

---

१४ हारि वृत्ति, पत्र ९१

१५ एते वस्त्रादय परिभोगा केचिच्छन्दा न भुजते, नाऽसौ परित्याग। —जि चू, पृ ८१

१६ (क) कत इति सामन्न प्रिय इति अभिप्रायकत। —अ चूर्णि, पृ ४३
(ख) कमनीया कान्ता शोभना इत्यर्थ, प्रिया नाम इट्ठा। —जि चूर्णि, पृ ८२
(ग) स्थानाग, स्था ४।६२१

भोए : व्यापक अर्थ—इन्द्रियो के विषय स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द का आसेवन भोग कहलाता है। काम, भोग का पूर्ववर्ती है। पहले काम (विषय की कामना) होती है फिर भोग होता है। इस कारण काम और भोग दोनो शब्द एकार्थक-से बने हुए है। भगवतीसूत्र आदि आगमो मे काम और भोग का सूक्ष्म अन्तर बताया गया है। वहाँ रूप और शब्द को 'काम' तथा स्पर्श, रस और गन्ध को 'भोग' कहा गया है।[१७] यहाँ व्यावहारिक स्थूल दृष्टि से सभी विषयो के आसेवन को 'भोग' कह दिया गया है।

विपिट्ठिकुव्वई दो रूप . अनेक अर्थ—(१) **विपृष्ठीकरोति**—विविध—अनेक प्रकार की शुभ भावना आदि से भोगो को पीठ पीछे करता है, उनको ओर पीठ कर लेता है, उनसे मुँह मोड लेता है, या उनका परित्याग करता है। (२) (लब्धान्) **अपि पृष्ठीकुर्यात्**—भोग उपलब्ध होने पर भी, उनकी ओर पीठ कर लेता है।[१८]

साहीणे चयइ भोए · दो व्याख्या—(१) चूर्णि के अनुसार स्वाधीन अर्थात्—स्वस्थ और भोगसमर्थ। उन्मत्त, रोगी और प्रोषित आदि पराधीन है। अत अपनी परवशता के कारण वे भोगो का सेवन नही कर पाते, इसलिए यह उनका त्याग नही है। (२) हरिभद्रसूरि के मतानुसार किसी बन्धन मे बद्ध होने से नही, वियोगी होने मे नही, परवश होने से नही, किन्तु स्वाधीन होते हुए भी उपलब्ध भोगो का त्याग करता है, वह त्यागी है। इसका फलितार्थ यह है कि जिसे विविध प्रकार के भोग प्राप्त है, उन्हे भोगने मे भी समर्थ (स्वाधीन) है, वह यदि अनेक प्रकार की शुभ भावनाओ, आदि से उनका परित्याग कर देता है, तो वह सच्चा त्यागी है।[१९]

स्वाधीन भोगो को त्यागने वाले धनी और निर्धन भी—स्वाधीन भोगो को परित्याग करने वालो मे वैभवशाली भरतचक्री, जम्बूकुमार आदि का उल्लेख किया गया है, ऐसी स्थिति मे क्या धनिकावस्था मे भोगो के परित्यागी ही त्यागी कहलाएँगे? निर्धनावस्था मे घरबार आदि सब कुछ त्याग कर प्रव्रजित होने वाले तथा अहिंसादि पच महाव्रतो से युक्त होकर श्रामण्य का सम्यक् परिपालन करने वाले त्यागी नही है? आचार्य ने एक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए सुन्दर समाधान दिया है—एक लकडहारा सुधर्मास्वामी के पास दीक्षित हुआ। भिक्षा के लिए जब वह नवदीक्षित मुनि घूमता तो लोग ताना मारते कि सुधर्मास्वामी ने भी अच्छा दीन-हीन जगली मनुष्य मूडा है। नवदीक्षित ने क्षुब्ध होकर आचार्यश्री से अन्यत्र चलने के लिए कहा। आचार्य सुधर्मास्वामी ने

---

१७. (क) भोगा-सद्दादयो विसया। —जि चू, पृ ८२
(ख) भगवती ७।७, (ग) नदी. २७, गा ७७

१८. (क) तओ भोगाओ विविहेहिं सपण्णा विपट्ठीओ उ कुव्वइ परिचयइत्ति वुत्त भवइ, अहवा विप्पट्ठि कुव्वतित्ति दूरओ विवज्जयती, अहवा विपट्ठिति, पच्छओ कुव्वइ, ण मग्गओ। —जि चू, पृ ८३
(ख) विविध-अनेकै प्रकारै शुभभावनादिभि पृष्ठत करोति-परित्यजति। —हारि वृत्ति, पृ ९२

१९. (क) स च न बन्धनबद्ध न प्रोषितो वा, किन्तु स्वाधीन -अपरायत्त। —हारि वृत्ति, पृ. ९२
(ख) साहीणो नाम कल्लसरीरो, भोगसमत्थोत्ति वुत्त भवइ, न उम्मत्तो रोगिओ पवसिओवा।
—जि चू, पृ ८३

अभयकुमार से यह बात कही तो अभयकुमार के द्वारा कारण पूछे जाने पर नवदीक्षित की सारी बात कह दी। अभयकुमार ने कहा[२०] आप विराजे। मै नागरिको को युक्ति से समझा दू गा। आचार्य श्री नवदीक्षित के साथ वही विराजे। दूसरे दिन अभयकुमार ने एक सार्वजनिक स्थान पर तीन रत्नकोटि की ढेरी लगवाई और घोषणा कराई—"जो व्यक्ति, सचित्त अग्नि, पानी और स्त्री, इन तीनो को आजीवन छोड देगा, उसे अभयकुमार ये तीन रत्नकोटि देगे।" लोगो ने घोषणा सुनी तो कहा—"इन तीनो के बिना, तीन रत्नकोटियो से क्या प्रयोजन?" अभयकुमार ने यह सुनकर सबको करारा उत्तर दिया—"जिस व्यक्ति ने इन तीनो चीजो को जीवन भर के लिए छोड दिया है, उसने तीन रत्नकोटि का परित्याग किया है। फिर ऐसा क्यो कहते हो कि दीन-हीन जगली लकड-हारा प्रव्रजित हुआ है।" लोगो ने एक स्वर से अभयकुमार की बात स्वीकार की और क्षमा माग कर चले गए। आचार्य कहते है—अग्नि, जल और स्त्री, इन तीन चीजो को जीवनभर के लिए छोड कर प्रव्रज्या लेने वाला धनहीन व्यक्ति भी सयम मे सुस्थिर होने पर त्यागी कहलाएगा।[२१]

निष्कर्ष यह है कि धनी हो या निर्धन, जो व्यक्ति वैराग्यपूर्वक मनोरम एव दिव्यभोगो का स्वेच्छा से त्याग कर देता है, फिर उनका मन मे भी विचार नही करता, वही त्यागी है।

काम-भोगनिवारण के उपाय

९ समाए पेहाए परिव्वयंतो, सिया मणो निस्सरई बहिद्धा।
न सा मह, नो वि अहपि तीसे, इच्चेव ताओ विणएज्ज राग ॥४॥

१०. आयावयाही चय सोगुमल्ल, कामे कमाहि कमिय खु दुक्ख।
छिदाहि दोस, विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि सपराए ॥५॥

[९] समभाव की प्रेक्षा से विचरते हुए (साधु का) मन कदाचित् (सयम से) बाहर निकल जाए, तो 'वह (स्त्री या कोई काम्य वस्तु) मेरी नही है, और न मै ही उसका हूँ' इस प्रकार का विचार करके उस (स्त्री या अन्य काम्य वस्तु) पर से (उसके प्रति होने वाले) राग को हटा ले।

[१०] (गुरु शिष्य से कहते है—) 'आतापना ले (या अपने को अच्छी तरह से तपा), सुकुमारता का त्याग कर। कामभोगो (विषयवासना) का अतिक्रम कर। (इससे) दु ख अवश्यमेव (स्वत) अतिक्रान्त होगा। (साथ ही) द्वेषभाव का छेदन कर, रागभाव को दूर कर। ऐसा करने से तू ससार (इह-परलोक) मे सुखी हो जाएगा।

विवेचन—आन्तरिक एव बाह्य उपाय द्वारा कामनिवारण—प्रस्तुत दो गाथाओ (४-५) मे कामरागनिवारण के आन्तरिक और बाह्य दोनो उपाय बतलाए है।

समाए पेहाए परिव्वयतो : दो रूप : तीन अर्थ और तात्पर्य—(१) समया प्रेक्षया परिव्रजत.—चूर्णि और टीका के अनुसार अपने और दूसरे को समप्रेक्षा (समदृष्टि, समभावना,

---

२० हारि वृत्ति, पृ ९३

२१ (क) अग चूर्णि, पृ ४३ (ख) जिन चूर्णि, पृ ८४ (ग) हारि वृत्ति, पत्र ९३

आत्मौपम्यभाव) से देख कर विचरण करते हुए, (२) **प्रसग-सगत अर्थ**—रूप और कुरूप मे, या इष्ट और अनिष्ट मे समभाव रखते हुए—राग-द्वेष भाव न करते हुए अथवा समदृष्टिपूर्वक अर्थात् प्रशस्त ध्यानपूर्वक विचार करता हुआ (मन) (३) अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार—**समया प्रेक्षया परिव्रजत** : सम अर्थात्—सयम, उसके लिए प्रेक्षा (अनुप्रेक्षा-चिन्तन) पूर्वक विचरण[२२] करते हुए (साधक का)। **सिया** स्यात्—कदाचित्, भावार्थ यह है कि प्रशस्तध्यान मे या समदृष्टि से विचरण करते हुए भी हठात् मोहनीयकर्म के उदय से।[२३] **मणो निस्सरई बहिद्धा . भावार्थ**—मन (सयम से) बाहर निकल जाय। भावार्थ यह है कि श्रमण के मन के रहने का स्थान वस्तुत सयम होता है। अत कदाचित् मोहकर्मोदयवश भुक्तभोगी का पूर्वक्रीडा आदि के अनुस्मरण से तथा अभुक्तभोगी का मन कुतूहल आदि वश सयमरूपी गृह से बाहर निकल जाए, यानी मन नियत्रण मे न रहे।[२४]

समूचे वाक्य का तात्पर्य—यह कि श्रमण का साम्यदृष्टि या समभाव के चिन्तन मे रहा हुआ मन कदाचित् मोहनीय कर्मोदयवश सयमरूपी घर से बाहर निकलने लगे, तो क्या कर्त्तव्य है? इसे समझाने के लिए वृत्तिकार एक रूपक प्रस्तुत करते है। सक्षेप मे वह इस प्रकार है- एक दासी पानी का घडा लेकर उपस्थानशाला के निकट से निकली। वही खेल रहे राजपुत्र ने ककड फेंक कर घडे मे छेद कर दिया। दासी ने निरुपाय होकर तुरन्त ही गीली मिट्टी से घडे के छेद को बद कर दिया। इसी प्रकार सयमरूपी उपवन मे रमण करते हुए यदि अशुभभाव सयमी के हृदय-घट मे छेद करने लगे तो उसे प्रशस्तपरिणाम रूप मिट्टी द्वारा उस अशुभ भाव जन्य छिद्र को चारित्र-जल के रक्षणार्थ शीघ्र ही बद कर देना चाहिए।[२५]

मोहत्याग का उपाय : प्रशस्त परिणाम—शास्त्रकार इस प्रशस्त परिणाम के रूप मे भेदचिन्तन प्रस्तुत करते है- **न सा मह नो वि अहपि तीसे**। इसका सामान्य अर्थ तो मूल मे दिया ही है, व्यापक अर्थ इस प्रकार होता है—वह (स्त्री या आत्मा से भिन्न परभावात्मक वस्तु मेरी नही है, न ही मै उसका हूँ। तलवार और म्यान की तरह आत्मा और देह को या देह से सम्बन्धित प्रत्येक सजीव-निर्जीव वस्तु को भिन्न-भिन्न मानना ही भेदविज्ञान का तत्त्वचिन्तन है।

इस स्त्रीपरक भेदचिन्तन को सुगमता से समझाने के लिए चूर्णि मे एक उदाहरण दिया गया है। उसका साराश इस प्रकार है—एक वणिक्पुत्र ने अपनी पत्नी से विरक्त होकर दीक्षा ग्रहण की। फिर वह इस प्रकार रटन करता रहता—"वह मेरी नही है, और न ही मैं उसका हूँ।' यो रटन

---

२२ (क) 'समा णाम परमप्पाण सम पासइ, णा विसम, पहा णाम चिन्ता भण्णइ।' —जिन चू, पृ ८४
(ख) समया—आत्मपरतुल्यया प्रेक्ष्यतेऽनयेति प्रेक्षा-दृष्टिस्तया प्रेक्षया दृष्ट्या। — हरि टी, पत्र ९३
(ग) अहवा समाय' समो—सजमो, तदत्थ पेहा-प्रेक्षा। — अग चूर्णि, पृ ४४

२३ (क) सिय सद्दो आसकावादी, 'जति' एतम्मि अत्थे वट्टति। —अग चूर्णि, पृ ४४
(ख) 'स्यात्'—कदाचिदचिन्त्यत्वात् कर्मगते। —हरि वृत्ति, पत्र ९४
(ग) 'पमत्थेहि झाणठाणेहि वट्ट नस्स मोहणीयस्स कम्मस्स उदएण।' —जिन चूर्णि, पृ. ८४

२४. बहिद्धा-बहिर्धा-बहि -भुक्तभोगिन पूर्वक्रीडितानुस्मरणादिना, अभुक्तभोगिनस्तु कुतूहलादिना मन — अन्तकरण, नि सरति = निर्गच्छति, बहिर्धा = सयमगहाद् बहिरित्यर्थ। —हारि. वृत्ति, पत्र ९४

२५. हारि वृत्ति, पत्र ९४

करते-करते एक दिन उसके मन मे पूर्व-भोग-स्मरणवश चिन्तन हुआ--"वह मेरी है, मै भी उसका हूँ। वह मुझ मे अनुरक्त है, फिर मैने उसका व्यर्थ ही त्याग किया।" इस प्रकार सोच कर वह उस गाँव मे पहुँचा, जहाँ उसकी भूतपूर्व पत्नी थी। उसने अपने भूतपूर्व पति को गाँव मे आया देख पहचान लिया, परन्तु वह (साधक) अपनी भूतपूर्व पत्नी को पहचान न सका। अत उसने पूछा—'अमुक की पत्नी मर गई या जीवित है?' सयम से विचलित उक्त साधक का विचार था कि यदि वह जीवित होगी तो प्रव्रज्या छोड दूगा, अन्यथा नही। स्त्री ने अनुमान लगाया कि मेरे प्रति मोहवश इन्होने दीक्षा छोड दी तो हम दोनो ससार-परिभ्रमण करेगे। ऐसा सोच कर वह बोली---"वह तो दूसरे के साथ चली गई है।" उसकी चिन्तन-दिशा मुडी, मोह के बादल फटे, सोचने लगा– जिस स्त्री को मै कामदृष्टि से देखता था, वह मेरी नही है, न ही मै उसका हूँ। यह जो मत्र मुझे सिखलाया गया था, वह ठीक है। तात्पर्य यह है कि जब मेरा उससे कुछ सम्बन्ध ही नही, तब फिर उस पर मेरा राग (मोह) करना व्यर्थ है। इस प्रकार परमसवेग उत्पन्न हो जाने मे वह पुन सयम मे स्थिर हो गया।[२६]

'इच्चेव ताओ विणएज्ज राग' . तात्पर्य– कदाचित् स्त्री या उस परवस्तु के प्रति मोहोदयवश कामराग, स्नेहराग या दृष्टिराग, इन तीनो मे से किसी भी प्रकार का राग जागृत हो जाए तो, उसे इस (पूर्वोक्त) प्रकार से दूर करे, उसका दमन करे, मन का निग्रह करे। अर्थात्—सयमी सयम मे विषाद-प्राप्त आत्मा को इस प्रकार से चिन्तनमत्र से पुन सयम मे प्रतिष्ठित करे।[२७]

सयमनिर्गत मन से कामरागनिवारण की बाह्यविधि—प्रस्तुत (५वी) गाथा मे रागनिवारण के अथवा पाचो इन्द्रियो एव मन पर विजय पाने के, या भावसमाधि प्राप्त करने के चार बाह्य उपाय बताए है—(१) आतापना, (२) सौकुमार्यत्याग, (३) द्वेष का उच्छेद, (४) राग का अपनयन। स्थानागसूत्र मे मदनकाम (मैथुन) सज्ञा की उत्पत्ति चार कारणो से बताई गई है--(१) मास-रक्त के उपचय (वृद्धि) से, (२) मोहनीय कर्म के उदय से, (३) तद्विषयक काम-विषय की मति से, और (४) काम के लिए उपयोग (बार-बार चिन्तन-मनन, स्मरण आदि) से।[२८] मैथुनसज्ञा की उत्पत्ति के उपर्युक्त चारो कारणो से बचने के चार बाह्य उपाय है।

आयावयाही कायबलनिग्रह का प्रथम उपाय : व्यापक अर्थ—चूर्णिकार का कथन है कि (सयमनिर्गत) मन का निग्रह उपचित शरीर के कारण नही होता, अत उसके लिए सर्वप्रथम कायबल-निग्रह के उपाय बताए गए है। अर्थात्—मास और रक्त को घटाने का सर्वप्रथम उपाय बताया गया है- **आयावयाही। आयावयाही : दो अर्थ**---(१) अपने को तपा, अर्थात् तप कर। 'आतापन'

---

२६ (क) दशवै हारि वृत्ति, पत्र ९४
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ २३
(ग) अय ममेति मत्रोऽय मोहस्य जगदान्ध्यकृत्।
अयमेव हि नञ्पूर्व , प्रतिमत्रोऽपि मोहिजित्॥ मोहत्यागाष्टकम्

२७ (क) दशवै (मुनि नथमलजी), पृ २८ (ख) दशवै (आचार्यश्री आ.), पृ २३

२८ चउहि ठाणेहि मेहुणसण्णा समुप्पजति, त —चितमससोणिययाए, मोहणिज्जस्स कम्मस्स उदएण, मतीए, तदट्ठोवयोगेण। ---स्थानाग, स्था ४।५८१

शब्द केवल आतापना लेने (धूप मे तपने) के अर्थ मे ही नही, किन्तु उसमे अनशन, ऊनोदरी आदि बारह प्रकार के तप भी समाविष्ट है, जो कायबलनिग्रह के द्वारा कामविजय मे सहायक है।[२९] (२) आतापना ले। सर्दी-गर्मी की तितिक्षा, अथवा शीतकाल मे आवरणरहित होकर शीत सहन करना ग्रीष्मकाल मे सूर्याभिमुख होकर गर्मी सहन करना आदि सब आतापना है।[३०]

सौकुमार्य-त्याग · कायबलनिग्रह का द्वितीय उपाय—प्राकृत भाषा मे सोउमल्ल, सोअमल्ल, सोगमल्ल, सोगुमल्ल ये चारो रूप बनते है, सस्कृत मे इसका रूपान्तर होता है—सौकुमार्य। जो सुकुमार (आरामतलब, सुखशील, सुविधाभोगी, आलसी या अत्यधिक शयनशील और परिश्रम से जी चुराने वाला) होता है, उसे काम सताता है, विषयभोगेच्छा पीडित करती है। और वह स्त्रियो का काम्य हो जाता है। इसलिए कायबलनिग्रह के द्वितीय उपाय के रूप मे शास्त्रकार कहते है—'चय सोगुमल्ल, अर्थात् सौकुमार्य का त्याग कर।[३१]

छिंदाहि दोस, विणएज्ज रागं : लक्षण और भावार्थ—द्वेष के यहाँ दो लक्षण अभिप्रेत है—(१) सयम के प्रति अरति, घृणा या अरुचि, और (२) अनिष्ट विषयो के प्रति घृणा। इसी प्रकार राग के भी यहाँ दो लक्षण अभिप्रेत है—(१) असयम के प्रति रति और (२) इष्ट विषयो के प्रति प्रीति, आसक्ति, अनुराग अथवा मोह। तात्पर्य यह है कि अनिष्ट विषयो के प्रति द्वेष का छेदन और इष्ट विषयो के प्रति राग का अपनयन करना चाहिए। राग और द्वेष, ये दोनो कर्मबन्धन के बीज—मूलकारण है। जहाँ कामराग होगा, वहाँ अमनोज्ञ (विषयो) के प्रति द्वेष भी होगा।[३२]

कामविजय : दु.खविजय का कारण—राग और द्वेष दोनो काम की उत्पत्ति के मूल कारण है। जब साधक इष्ट-अनिष्ट या मनोज्ञ-अमनोज्ञ आदि समस्त पर-वस्तुओ के प्रति राग-द्वेष को त्याग देता है, तो काम के महासागर को लाघ जाता है—पार कर जाता है और काम के महासागर को पार करना ही वास्तव मे दु खो के (जन्म-मरण के महादु खरूप ससार के) सागर को पार कर जाना है। इसीलिए कहा गया है—काम-भोगो को अतिक्रान्त कर, तो दु ख अवश्य ही अतिक्रान्त होगा।[३३]

एव सुही होहिसि सपराए : तात्पर्य और विभिन्न अर्थ—'एव' शब्द यहाँ पूर्वोक्त तथ्यो का सूचक है। अर्थात्—कामनिवारण के बाह्य कारणो के रूप मे बताए हुए आतापनादि तप एव

---

२९ (क) सो य न सक्कइ उवचियसरीरेण णिग्गहेतु तम्हा कायबलनिग्गहे इम सुत्त भण्णइ।
(ख) णग्गग्गहणे तज्जाइयाण गहण ति, न केवल आयावयाहि—ऊणोदरियमवि करेहि।
—जिन चूर्णि, पृ ८५।८६

३० दशवै (मुनि नथमलजी), पृ २९

३१ (क) सुकुमालस्स कामेहिं इच्छा भवइ, कमणिज्जो य स्त्रीणा भवति सुकुमाल, सुकुमाल-भावो सोकमल्ल।
—जिन चूर्णि, पृ ८६
(ख) सौकुमार्यात कामेच्छा प्रवर्तते, योषिता य प्रार्थनीयो भवति। —हा टी, पृ ९५

३२ ते य कामा सद्दादयो विसया तेसु अणिट्ठेसु दोसो छिदियव्वो। इट्ठेसु वट्ट तो अस्सो इव अप्पा विणयियव्वो।
—जिन चूर्णि, पृ. ८६

३३ दशवै (मु नथमलजी), पृ ३०

सुकुमारता-त्याग का और अन्तरग कारण के रूप मे रागद्वेष के त्याग का आसेवन करने से जब साधक काम-महासागर का अतिक्रमण कर लेगा, तब वह ससार मे सुखी हो जाएगा।[३४] 'सम्पराए' का रूपान्तर होता है—सम्पराये। 'सम्पराय' शब्द के चार अर्थ होते है—ससार, परलोक, उत्तरकाल-भविष्य और सग्राम। इन चारो अर्थो के अनुसार इस वाक्य का अर्थ और आशय क्रमश इस प्रकार होगा—(१) 'ससार मे सुखी होगा', अर्थात् ससार दु खो से परिपूर्ण है, परन्तु यदि तू कामनिवारण करके एव दु खो पर विजय प्राप्त करके चित्तसमाधि प्राप्त करने के पूर्वोक्त उपाय करता रहेगा तो मुक्ति पाने के पूर्व ससार मे भी सुखी रहेगा। (२-३) परलोक मे या भविष्य मे सुखी होगा, इसका तात्पर्य यह है कि जब तक मुक्ति नही मिलती, तब तक प्राणी को विभिन्न गतियो-योनियो मे जन्ममरण करना पडता है परन्तु हे कामविजयी साधक! तू इन जन्म-जन्मान्तरो (सम्पराय—परलोक या भविष्य) मे देवगति और मनुष्यगति को प्राप्त करता हुआ उनमे सुखी रहेगा। (४) सग्राम मे सुखी होगा। अर्थात्—ऐसा (पूर्वोक्त रूप से) भेद चिन्तन करके इष्टानिष्ट मे या सुख-दु ख मे सम रहने वाला स्थितप्रज्ञ साधक परीषह-उपसर्गरूप सग्राम मे सुखी—प्रसन्न रह सकेगा।[३५]

भगवद्गीता मे भी कहा है—जिसका मन दु खो मे अनुद्विग्न और सुखो मे स्पृहारहित रहता है, उस प्रसन्नचेता स्थितप्रज्ञ व्यक्ति के चित्त की प्रसन्नता मे सभी दु ख नष्ट हो जाते है।[३६] निष्कर्ष यह है कि अगर तू इन कामनिवारणोपायो को करता रहेगा, रागद्वेष त्याग कर मध्यस्थभाव प्राप्त करेगा, तो परीषहसग्राम मे विजयी बन कर सुखी हो जाएगा।

कामपराजित रथनेमि को संयम में स्थिरता का, राजीमती का उपदेश

११. पक्खदे जलिय जोइ धूमकेउ दुरासयं।
नेच्छति वंतय भोत्तुं कुले जाया अगंधणे ॥६॥

---

३४ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ २५

(ख) तुलना कीजिए—आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठ समुद्रमाप प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥
—भगवद्गीता अ २, श्लो ७०

३५ (क) 'सम्पराओ=ससारो।'—अगस्त्य. चूर्णि, पृ ४५

(ख) सम्पर ईयते इति सम्पराय परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजन. साधनविशेष।—कठोपनिषद् शाकरभाष्य १।२।६

(ग) सम्पराये वि दुक्खबहुले देवमणुस्सेसु सुही भविस्ससि। —अग. चू., पृ. ४५

(घ) यावदपवर्ग न प्राप्स्यति तावत् सुखी भविष्यसि। —हारि. वृ., पत्र ९५

(ङ) युद्ध वा सपरायो बावीसपरीसहोवसग्ग-जुद्धलद्धविजयो परमसुही भविस्ससि। —अ चूर्णि, पृ. ४५

(च) सम्पराये—परीसहोपसग्गसग्राम इत्यन्ये। —हारि वृत्ति, पत्र ९५

(छ) जुत भण्णइ, जया रागदोसेसु मज्झत्थो भविस्ससि तओ जियपरीसहसपराओ सुही भविस्ससि त्ति।
—जिन. चूर्णि, पृ. ८६

३६ भगवद्गीता अ २, श्लो ५५, ५६,

१२. धिरत्थु तेऽजसोकामी, जो त जीवियकारणा ।
वत इच्छसि आवेउ, सेयं ते मरण भवे ।।७।।

१३. अह च भोगरायस्स, त च सि अधगवण्हिणो ।
मा कुले गधणा होमो सयम निहुओ चर ।।८।।

१४ जइ त काहिसि भावं, जा जा दिच्छसि नारिओ ।
वायाविद्धो व्व हडो, अट्ठिअप्पा भविस्ससि ।।९।।

[११] (राजीमती रथनेमि से–) "अगन्धनकुल मे उत्पन्न सर्प प्रज्वलित दु सह अग्नि (ज्योति) मे कूद (प्रवेश कर) जाते है, (किन्तु जीने के लिए) वमन किये हुए विष को वापिस चूसने की इच्छा नही करते ।।६।।"

[१२] हे अपयश के कामी ! तुझे धिक्कार है !, जो तू असयमी (अथवा क्षणभगुर) जीवन के लिये वमन किये हुए (पदार्थ) को (वापिस) पीना चाहता है। इस (प्रकार के जीवन) मे तो सयमपूर्वक तेरा मर जाना ही श्रेयस्कर है ।।७।।

[१३] मै (राजीमती) भोजराज (उग्रसेन) की पुत्री हूँ, और तू (रथनेमि) अन्धकवृष्णि (समुद्रविजय) का पुत्र है। (उत्तम) कुल मे (उत्पन्न हम दोनो) गन्धन कुलोत्पन्न सर्प के समान न हो। (अत) तू निभृत (स्थिरचित्त) हो कर सयम का पालन (आचरण) कर ।।८।।

[१४] तू जिन-जिन नारियो को देखेगा, उनके प्रति यदि इस प्रकार रागभाव करेगा तो वायु से आहत (अबद्धमूल) हड नामक (जलीय वनस्पति) की तरह अस्थिरात्मा हो जाएगा ।।९।।

विवेचन—प्रस्तुत चार गाथाओ (११ से १४ तक) मे सयम से अस्थिर होते हुए रथनेमि को सयम मे स्थिरता के लिये साध्वी राजीमति द्वारा दिया गया प्रबल प्रेरक उपदेश है।

अगन्धनकुल के सर्प का दृष्टान्तबोध—सर्प की दो जातियाँ होती है—गन्धन और अगन्धन। गन्धन जाति के सर्प मत्रादि के बल मे आकर्षित किये जाने पर विवश होकर उगले हुए विष को मुंह लगाकर वापिस चूस लेते है, अगन्धन जाति के सर्प प्राण गवाना पसद करते है, किन्तु उगले विष को वापिस नही पीते। इस दृष्टान्त के द्वारा राजीमति रथनेमि से यह कहना चाहती है कि अगन्धनकुल का सर्प जिस किसी को डस लेता है, मत्रबल से आकृष्ट किये जाने पर आता है, किन्तु उगला हुआ विष वापस नही चूसता, भले ही उसे धधकती हुई आग मे कूद कर मर जाना पडे। इसी प्रकार हे रथनेमि ! तुम्हे भी अगन्धन-सर्प की तरह वमन किये हुए काम-भोगो को पुन अपनाना कथमपि श्रेयस्कर नही है। साथ ही इस गाथा द्वारा यह भी सूचित कर दिया है कि तुम्हे यह सोचना चाहिए कि अविरत और धर्मज्ञान-हीन तिर्यञ्च अगन्धन सर्प भी केवल कुल का अवलम्बन लेकर अपने प्राण होमने को तैयार हो जाता है, किन्तु उगले हुए विष को पुन पीने जैसा घृणित काम नही करता। हम तो मनुष्य है, उच्चकुलीन है, धर्मज्ञ है, फिर भला, क्या हमे कुल और जाति की आन-मानमर्यादा

को तिलाजलि देकर स्वाभिमान का त्याग करके परित्यक्त एव दारुणदु खमूलक विषयभोगो का पुन: कायरतापूर्वक सेवन करना चाहिए ?[३७]

धूमकेउं, दुरासयं जोइं, 'जलियं' : 'दुरासय' के दो अर्थ हैं—(१) जिसका सयोग सहन करना दुष्कर हो, वह दुरासद, (२) चूर्णि के अनुसार—दहनसमर्थ। 'धूमकेतु' शब्द ज्योति (अग्नि) का पर्यायवाची है, उसका शब्दश अर्थ होता है—धूम ही जिसका केतु (चिह्न) हो, ज्योति उल्कादिरूप भी होती है, इसलिए विशेष रूप से 'प्रज्वलित अग्नि' को सूचित करने के लिए 'धूमकेतु' विशेषण दिया है, अर्थात्—जिससे धू आ निकल रहा है, वह अग्नि (प्रज्वलित ज्योति)। धूमकेउ आदि तीनो 'ज्योइ' के विशेषण हैं। इनका परस्पर विशेषण-विशेष्य सम्बन्ध है।[३८]

उपालम्भात्मक उपदेश—प्रस्तुत ७वी गाथा मे राजीमती ने रथनेमि को उपालम्भपूर्वक समझाया है। इसमे राजीमती द्वारा धिक्कार, अपयशकामी तथा असयमी जीवन जीने के लिए वमन किये हुए भोगो को पुन सेवन करने की अपेक्षा मरण की श्रेयस्करता का प्रतिपादन किया गया है।

जसोगामी : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **अयशस्कामिन्**—हे अपयश की कामना करने वाले ! (२) **अयशस्कामिन्**—यश अर्थात् सयम, अयश अर्थात्—असयम। हे असयम के कामी ! (३) **यशस्कामिन्**—हे यश की चाह वाले ! अथवा हे कामी ! तुम्हारे यश को धिक्कार है ! भावार्थ यह है—हे यश की चाह वाले ! तुम यश चाहते हो और तुम्हारा विचार इतना नीच है ! इसलिए तुम्हे धिक्कार है ![३९]

'जो त जीवियकारणा' : दो फलितार्थ—(१) जिनदास महत्तरकृत चूर्णि के अनुसार—कुशाग्र पर स्थित जलबिन्दु के समान क्षणभगुर जीवन के लिए, (२) हरिभद्रसूरिकृत टीका के अनुसार—असयमी जीवन के लिए।[४०]

'सेयं ते मरणं भवे' : तात्पर्य—(१) मरण श्रेयस्कर इसलिए माना गया कि अकार्य सेवन से व्रतो का भग होता है, इसको अपेक्षा व्रतो की रक्षा करता हुआ साधक यदि मरण-शरण हो जाता

---

३७ (क) अगस्त्य-चूर्णि, पृ ४५ (ख) जिन चूर्णि, पृ ८७ (ग) हारि वृत्ति, पृ ९५
(घ) दशवै (मु नथमलजी) पृ ३२ (ङ) दशवै (आ आत्मारामजी म) पृ २६

३८ (क) दुरासद—दु खेनासाद्यतेऽभिभूयते इति दुरासदस्त, दुरभिभवमित्यर्थ ।—हा वृ, पृ ९५
(ख) दुरासयो नाम डहणसमत्थत्तण, दुक्ख तस्स सजोगो सहिज्जइ दुरासओ, तेण ।—जि. चू, पृ ८७
(ग) जोती अग्गी भण्णइ, धूमो तस्सेव परियाओ, केऊ उस्सओ चिध वा सो धूमे केतू जस्स भवई धूमकेऊ ।
—जिन. चूर्णि, पृ. ८७
(घ) अग्निं धूमकेतु धूमचिह्न धूमध्वज, नोल्कादिरूपम् । —हारि वृत्ति, पत्र ९५

३९ (क) जिनदास चूर्णि, पृ ८८ (ख) हारि वृत्ति, पत्र ९६ (ग) यश शब्देन सयमोऽभिधीयते ।
हारि वृत्ति, पत्र ९६ (घ) दशवै (आचार्य आत्मारामजी म), पृ २८

४० (क) "जो तुम इमस्स कुसग्गजलबिंदुचचलस्स जीवियस्स अट्ठाए ।"—जि चू., पृ ८८
(ख) 'जीवितकारणात् = असयमजीवितहेतो ।' —हारि. वृत्ति, पत्र ९६

है तो वह 'आत्मघाती' नही, अपितु 'व्रतरक्षक' कहलाता है। (२) भूखा मनुष्य चाहे कष्ट पा ले, परन्तु वह धिक्कारा नहीं जाता, किन्तु वमन किये हुए को खाने वाला धिक्कारा जाता है, घृणा का पात्र बनता है। इसी प्रकार जो व्यक्ति शीलभग करने की अपेक्षा मृत्यु को अगीकार कर लेता है, वह एक बार ही मृत्यु का कष्ट महसूस करता है, किन्तु अपने गौरव तथा श्रमणधर्म की रक्षा कर लेता है, परन्तु जो परित्यक्त (वान्त) भोगो का पुन उपभोग करता है, वह अनेक बार धिक्कारा जाकर बार-बार मृत्यु तुल्य अपमान अनुभव करता है। अत. कहा गया कि—"मर्यादा का अतिक्रमण करने की अपेक्षा तो मरना श्रेयस्कर है।'[४१]

'अह च भोगरायस्स० इत्यादि पाठ : दो अभिप्राय—प्रस्तुत ८वी गाथा मे राजीमती ने अपने और रथनेमि के कुलो की उच्चता का परिचय देकर अकुलीन व्यक्ति का-सा अकार्य न करने की प्रबल प्रेरणा देते हुए रथनेमि को सयम मे स्थिर होने का उपदेश दिया है। **'भोगरायस्स'** पद के **'भोगराजस्य'** और **'भोजराजस्य'** इन दोनो का षष्ठयन्तपद मे रूपान्तर डॉ जेकोबी ने सूचित किया है। किसी का मानना है—'भोगरायस्स और अधकवण्हिणो' ये दोनो पद कुल के वाचक हैं।[४२] दूसरा मत है—इन दोनो षष्ठयन्त पदो का सम्बन्ध किसके साथ है ? इसका स्पष्ट उल्लेख नही है, इसलिए उपर्युक्त मतानुसार कुल शब्दो का दोनो जगह अध्याहार किया जाता है। दूसरे मतानुसार दोनो षष्ठयन्त पदो का सम्बन्ध क्रमश 'पुत्री' और 'पुत्र' शब्द से है, इनका भी अध्याहार किया गया है।

इन पदो द्वारा कुल की निर्मलता एव विशुद्धता अथवा उच्चता या प्रधानता की ओर रथनेमि का ध्यान खीचा गया है, क्योकि शुद्ध कुलीन व्यक्ति प्राय अकृत्य मे प्रवृत्त नही होते। वे कष्टो के सामने दृढतापूर्वक डटे रहते है। वे स्वाभाविक रूप से धीर होते हैं। इसीलिए राजीमती ने कहा—

'मा कुले गंधणा होमो'—अर्थात्—"हम दोनो ही महाकुल मे उत्पन्न हुए है। जिस प्रकार गन्धन सर्प वमन किये हुए विष को पुन पी लेता है, उसी प्रकार हम भी परित्यक्त भोगो का पुन उपभोग करने वाले न हो।"[४३]

'निहुओ' : अर्थ और अभिप्राय—यहाँ 'निभृत' पद का अर्थ है,—निश्चल चित्त वाला, अव्याक्षिप्तचित्त। जिसका चित्त निश्चल या स्थिर होता है, वही सर्वदु खनिवारक सयम के विधि-

---

४१. (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ २८
(ख) दशवै जि. चू., ८७ (ग) हारि वृत्ति, पत्र ९६
(घ) दशवै. (मुनि नथमलजी), पृ ३२-३३

४२ (क) दशवै. (सत बालजी), पृ ११
(ख) "तुम च तस्स तारिसस्स अधगवण्हिणो कुले पसूओ समुद्दविजयस्स पुत्तो।" —जिन चूर्णि, पृ ८८
(ग) हारि. वृत्ति, पृ ९७, उत्तराध्ययन शान्त्याचार्य वृत्ति, अ. २२।४३
(घ) दशवै (आचार्य आत्मा), पृ २९
(ङ) दशवै (मुनि नथमलजी), पृ ३३

४३. (क) दशवै (डॉ. जेकोबी), (आचार्य आत्मा) पृ २९, अर्धमागधी गुजराती कोष, पृ. १२, ५९६

विधान या क्रियाकलाप का यथावत् पालन कर सकता है। व्याक्षिप्तचित्त वाला पुरुष धैर्यच्युत होकर सयम की विराधना कर बैठता है। इसलिए यहाँ 'निभृत' (निहुओ) पद दिया गया है।[४४]

'हड' वनस्पति की तरह अस्थिरात्मा हो जाएगा—प्रस्तुत ९वी गाथा मे राजीमती ने सयम में स्थिरचित्त होकर रमण न करने वाले साधको की अस्थिरतर दशा का निरूपण हड वनस्पति से तुलना करके किया है।

'जा जा दिच्छसि नारीओ' आदि : तात्पर्य—इस वाक्य का तात्पर्य यह है कि यह वसुन्धरा नाना स्त्रीरत्नो से परिपूर्ण है। यत्र-तत्र अनेक नारियाँ दृष्टिगोचर होगी। यदि तुम उन कामिनियो को देख कर उनके प्रति अभिलाषा या अनुरक्ति करने लगोगे तो याद रखो, जिस प्रकार अबद्धमूल हड नामक समुद्रीय वनस्पति वायु के एक हलके-से स्पर्श से इधर से उधर बहने लगती है, उसी प्रकार तुम भी सयम में अबद्धमूल (अस्थिर) होने से ससार-समुद्र में प्रमादरूपी पवन से प्रेरित होकर चतुर्गत्यात्मक ससार मे इधर से उधर भटकते रहोगे। अथवा संयम मे अबद्धमूल होने से श्रमणगुणों से शून्य होकर सयम मे अस्थिरात्मा केवल द्रव्यलिंगधारी हो जाओगे।[४५]

निष्कर्ष यह है कि जब साधक का मन विषयो की ओर आकृष्ट हो जाता है, तब वह एकाग्रता से हटकर अस्थिर एवं डावाडोल हो जाता है। यों तो ससार के सभी इष्ट पदार्थ मन की चचलता को बढाने वाले हैं, परन्तु स्त्री उन सबमे प्रबल है; मोह और राग की उत्तेजक है। सुन्दर ललना के प्रति अनुराग और असुन्दर के प्रति घृणा-अरुचि। यहा तो चचलता या विषादमग्नता है।[४६]

हड : अनेक अर्थ—(१) हड—अबद्धमूल वनस्पतिविशेष, (२) समुद्रतटीय अबद्धमूल वनस्पति, जिसके सिर पर अधिक भार होता है। समुद्रतट पर हवा का अधिक जोर होने से उसका पौधा उखड कर समुद्र मे गिर कर वहाँ इधर-उधर डोलता रहता है। (३) वनस्पतिविशेष, जो द्रह, तालाब आदि मे होती है, उसका मूल छिन्न होता है। (४) **हट**—जलकुभिका या जिसकी जड जमीन से न लगी हुई हो ऐसा तृणविशेष। (५) उदक में उत्पन्न वनस्पति। अथवा (६) साधारण शरीर बादर वनस्पतिकायिक हढ नामक जीव।[४७]

---

४४ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ३०

४५ (क) दशवै (मुनि नथमलजी), पृ ३५

(ख) सकलदु खक्षयनिबन्धनेषु सयमगुणेष्वबद्धमूलत्वात् ससारसागरे प्रमादपवनप्रेरित इतश्चेतश्च पर्यटिष्यसीति। —हारि वृत्ति, पत्र ९७

(ग) हढो वातेण य आइद्धोइओ-इओ य निज्जइ, तहा तुमपि एव करेंतो सजमे अबद्धमूलो समणगुणपरिहीणो केवल द्रव्यलिंगधारी भविस्ससि। —जिन चूर्णि, पृ ८९

४६. दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ३०

४७ (क) अबद्धमूल वनस्पतिविशेष

(ख) दशवै (जीवराज छेलाभाई), पत्र ६

(ग) हढो णाम वणस्सइविसेसो, सो दहतलागादिसु छिण्णमूलो भवति। —जिन चूर्णि, पृ ८९

(घ) हट. जलकुम्भिका, अभूमिलग्नमूलस्तृणविशेषः। —सुश्रुत (सूत्रस्थान) ४४।७ पादटिप्पणी

(ङ) प्रज्ञापना १।४५, १।४३; सूत्रकृ २।३।५४

राजीमती के सुभाषित का परिणाम

१५. तीसे सो वयणं सोच्चा, संजयाए सुभासियं ।
अंकुसेण जहा नागो, धम्मे संपडिवाइओ ।। १० ।।

[१५] उस सयती (सयमिनी राजीमती) के सुभाषित वचनो को सुन कर वह (रथनेमि) धर्म मे उसी प्रकार स्थिर हो गया जिस प्रकार अकुश से नाग (हाथी) हो जाता है ।

विवेचन—राजीमती के सुभाषित वचनो का प्रभाव—प्रस्तुत १०वी गाथा मे राजीमती के पूर्वोक्त प्रेरणादायक सुभाषित वचनो का रथनेमि के मन-मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव पडा, उसी का यहाँ प्रतिपादन है ।

सुभासियं: सुभाषितः दो विशेषार्थ—(१) सवेग—वैराग्य उत्पन्न करने के कारणभूत सुभाषित (अच्छे कहे हुए), ससार भय से उद्विग्न करने वाले सुभाषित ।[४८]

संपडिवाइओ: दो रूप—सम्प्रतिपादित, अर्थात्—सम्यक् रूप से श्रमणधर्म के प्रति गतिशील हो गया । (२) **सम्प्रति पातित**—सम्यक्रूप मे पुन सयम धर्म मे व्यवस्थित (सुस्थिर) हो गया ।[४९]

जिस प्रकार अकुश मे मदोन्मत्त हाथी का मद उतर जाता है उसी प्रकार राजीमतीरूपी महावत के वचनरूपी अकुश से रथनेमिरूपी हाथी का विषयवासनारूपी काममद उतर गया और वे जिनोक्त सयमधर्म मे सुस्थित अथवा प्रवृत्त हो गए ।

उपदेश की सफलता—एक सुसयमिनी साध्वी के वचनो की सफलता इस बात को सूचित करती है कि स्वय श्रमणभाव एव कामनिवारण मे दृढ चारित्रसम्पन्न आत्मा का प्रभाव अवश्य होता है ।

धैर्यशाली हाथी के समान, धैर्यशाली कुलीन साधक—हाथी जिस प्रकार स्वभाव से ही धैर्यवान् होता है, इसलिए इशारे मे वश मे हो जाता है । कुलीन एव धैर्यवान् रथनेमि ने भी राजीमती जैसी एक सुसयमिनी की शिक्षा को शीघ्र और नम्रतापूर्वक स्वीकार कर लिया ।[५०]

समस्त साधकों के लिए प्रेरणा

१६. एवं करेंति सबुद्धा, पडिया पवियक्खणा ।
विणियट्टंति भोगेसु, जहा से पुरिसोत्तमो ।। ११ ।।
— त्ति बेमि ।।

।। बिइयं सामण्णपुव्वगऽज्झयणं समत्त ।।

---

४८ (क) "सुभाषित सवेगनिबन्धनम् ।" —हारि वृत्ति, पत्र ९७
(ख) "ससारभउव्वेगकरेहिं वयणेहिं ।" —जिन चूर्णि, पृ ९१

४९ (क) दशवै (आचार्य आत्मारामजी), पृ ३०
(ख) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका), भा १, पृ १४७

५० वही (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ३१

अर्थ—[१६] सम्बुद्ध, प्रविचक्षण और पण्डित ऐसा ही करते हैं । वे भोगों से उसी प्रकार निवृत्त (विरत) हो जाते हैं, जिस प्रकार वह पुरुषोत्तम रथनेमि हुए ॥११॥

विवेचन—प्रस्तुत उपसहारात्मक अन्तिम गाथा मे सम्बुद्ध, पण्डित एव विचक्षण साधको को पुरुषोत्तम रथनेमि की तरह कामभोगो से विरत होने की प्रेरणा दी गई है ।

सम्बुद्धा, 'पंडिया' एवं 'पवियक्खणा' मे अन्तर—प्रश्न होता है कि **'सम्बुद्धा, पंडिया और पवियक्खणा'** ये तीनो शब्द एकार्थक प्रतीत होते हैं, फिर इन तीनो को प्रस्तुत गाथा मे अकित क्यो किया गया ? क्या एक शब्द से काम नही चल सकता था ? इसका समाधान आचार्य हरिभद्रसूरि ने इस प्रकार किया है—यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने पर तीनो समानार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु ये विभिन्न अपेक्षाओ से अलग-अलग अर्थों को द्योतित करते है । यथा—जो सम्यग्-दर्शनसहित बुद्धिमान् होता है, वह सम्बुद्ध कहलाता है । अर्थात्—सम्यक्दर्शन की प्रधानता से साधक सम्बुद्ध होता है अथवा विषयो के स्वभाव को जानने वाला सम्बुद्ध होता है । पण्डित का अर्थ है—सम्यग्ज्ञानसम्पन्न । अत सम्यग्ज्ञान की प्रधानता से साधक पण्डित कहलाता है । प्रविचक्षण का अर्थ है—सम्यक्चारित्र-सम्पन्न, अथवा पापभीरु --ससारभय से उद्विग्न । सम्यक्चारित्र की प्रधानता से साधक प्रविचक्षण कहलाता है । शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रय को जो धारण करता है वह कामभोगो से उसी प्रकार निवृत्त हो जाता है, जिस प्रकार पुरुषोत्तम रथनेमि हो गए थे ।[५१]

संयमविचलित को पुरुषोत्तम क्यो ?—प्रश्न होता है—विरक्तभाव से दीक्षित होने पर भी राजीमती को देखकर उनके प्रति सराग भाव से श्री रथनेमि का चित्त चलायमान हो गया और वे सयम से चलित होकर राजीमती से विषयभोगो की याचना करने लगे । फिर उन्हे पुरुषोत्तम क्यो कहा गया ? इसका समाधान यह है कि मन मे विषयभोगो की अभिलाषा उत्पन्न होने पर कापुरुष तदनुरूप दुष्प्रवृत्ति करने लगता है, परन्तु पुरुषार्थी पुरुष कदाचित् मोहकर्मोदयवश विषयभोगो की अभिलाषा उत्पन्न हो जाए और उसे किसी का सदुपदेश मिल जाए तो वह पापभीरु अपनी गिरती हुई आत्मा को पुन सयमधर्म मे सुस्थिर कर लेता है । उसे पाप से वापस मोड़ लेता है । रथनेमि का चित्तरूपी वृक्ष विषयभोग-दावानलजन्य सन्ताप से सतप्त हो गया था, किन्तु तत्काल वैराग्य-रस की वर्षा करने वाले राजीमती के वचन-मेघ से सीचे जाने पर शीघ्र ही सयमरूपी अमृत के रसास्वादन मे तत्पर हो गया । अत अपनी गिरती हुई आत्मा को पुन स्थिर कर रथनेमि ने जो प्रबल पुरुषार्थ दिखलाया तथा एकान्तस्थान मे विषयभोग का प्रबल सान्निध्य रहने पर भी राजीमती की शिक्षा से इन्द्रियनिग्रह करके विषयो को विषतुल्य समझ कर तुरन्त उनको त्याग दिया, और वे प्रायश्चित्तपूर्वक

---

५१ (क) पडिया णाम चत्ताण भोगाण पडियाइणे जे दोसा परिजाणति पडिया । —जि. चू , पृ ९२
(ख) पण्डिता -सम्यग्ज्ञानवन्त । —हा टी., पत्र ९९
(ग) सबुद्धा बुद्धिमन्तो सम्यग्दर्शनसाहचर्येण दर्शनैकीभावेन वा बुद्धा-सम्बुद्धा-सम्यग्दृष्टय , विदितविषय-स्वभावा । —हा. टी., पत्र ९९
(घ) प्रविचक्षणा -चरणपरिणामवन्त अवद्यभीरव । —हा टी , पत्र ९९
(ङ) वज्जभीसणा णाम ससारभयुविग्गा, थोवमवि पाव णेच्छति । —जि. चू , पृ ९२
(च) दशवै (आ आ), पृ. ३२

अपने श्रामण्यधर्म मे दृढ हो गये । उग्र तपश्चरण एव सयम-पालन किया। इसी कारण उन्हे 'पुरुषोत्तम' कहा गया ।[५२]

सर्वोत्तम पुरुष तो वह है, जो चाहे जैसी विकट एव मोहक परिस्थिति मे भी विचलित न हो, किन्तु वह भी पुरुषोत्तम है जो प्रमादवश एक बार डिग जाने पर भी सोच-समझ कर सयमधर्म के नियमो-व्रतो मे पुन सुस्थिर हो जाए । अन्त मे वे अनुत्तर सिद्धिगति को प्राप्त हुए ।[५३]

साराश यह है—कदाचित् मोहोदयवश किसी साधक के मन में विषयभोगो का विकल्प पैदा हो जाए तो वह स्वाध्याय, सदुपदेश या ज्ञानबल से या शुभ भावनाओ से रथनेमि के पथ का अनुसरण करे ।

॥ द्वितीय : श्रामण्यपूर्वक अध्ययन समाप्त ॥

---

५२ (क) दशवै (मुनि नथमलजी), पृ ३६
(ख) आचार्य श्री आत्मारामजी सम्पादित, पृ ३२-३३

५३. (क) आचारमणि म टीका, भा १, पृ १५०
(ख) उत्तराध्ययन, अ २२।४७-४८

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

खुड्डियायारकहा : क्षुल्लिकाचार-कथा

प्राथमिक

☐ दशवैकालिक सूत्र का यह तीसरा अध्ययन है। इसका नाम 'क्षुल्लिकाचारकथा' अथवा 'क्षुल्लकाचारकथा' है।

☐ इस अध्ययन मे अनाचीर्णों (साधु के लिए अनाचरणीय विषयो) का निषेध करके आचार (साध्वाचार अथवा साधुवर्ग के लिए आचरणीय) का प्रतिपादन किया गया है। इसलिए इसका नाम आचार-कथा है। इसी शास्त्र के छठे अध्ययन—'महाचारकथा' मे वर्णित विस्तृत आचार की अपेक्षा इस अध्ययन मे आचार का सक्षिप्त निरूपण है। इसलिए इसका नाम 'क्षुल्लिकाचार-कथा' अथवा 'क्षुल्लकाचारकथा' रखा गया है। 'क्षुल्लिक' शब्द का अर्थ—क्षुद्र-छोटा या अल्प है। अल्प 'महान्' की अपेक्षा रखता है। इसी कारण 'महाचार' की अपेक्षा अल्प या छोटा होने के कारण इसका नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' पडा। एक प्रकार से यह साधुसस्था की आचारसहिता है।[1]

☐ भारतीय सस्कृति मे आचार का बहुत अधिक महत्त्व है। चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव, माण्डलिक या राजा-महाराजा, धनाढ्य अथवा मत्री आदि जब भी त्यागी या साधु-सन्यासीवर्ग के चरणो मे दर्शन-वन्दन या उपासना के लिए पहुँचता था, तो सर्वप्रथम उनके आचार-विचार की पृच्छा करता था—**'कहं मे आयार-गोयरो'**[2] यह वाक्य इसका प्रमाण है। इसीलिए **'आचारः प्रथमो धर्मः'** कह कर आचार को पहला धर्म माना, क्योकि धर्म का कोरा ज्ञान कर लेना या ज्ञान बघार देना ही पर्याप्त नही, आचार ही कर्ममुक्ति का मार्ग है। इसलिए आचारागसूत्र के निर्युक्तिकार ने कहा—समस्त तीर्थकर तीर्थप्रवर्त्तन के प्रारम्भ मे सर्वप्रथम 'आचार' का ही उपदेश करते हैं।[3] क्योकि आचार ही परम और चरम कल्याण का साधकतम हेतु माना गया है।[4] अगो (द्वादशागी या सकल वाङ्मय) का सार एव आधार आचार है, आचार ही मोक्ष का प्रधान हेतु है।[5]

---

१. एएसि महंताण पडिवक्खे खुड्डया होति। —निर्युक्ति गा १७८

२ 'रायाणो रायमच्चा य ··कह मे आयारगोयरो ?' —दशवै अ ६, गा २

३ 'सव्वेसि आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए।' —निर्युक्ति गाथा

४. 'आचारशास्त्र सुविनिश्चित यथा। जगाद वीरो जगतो हिताय॥' —शीलाकाचार्य आचा वृत्ति

५ अंगाण किं सारो ? आयारो। —आचा निर्युक्ति

☐ जिसकी आत्मा सयम मे सुस्थित होती है,[६] धर्म मे जिसकी धृति होती है, अहिसा, सयम और तपरूप धर्म जिसके जीवन मे रम जाता है, वही आचार को निभाता है और अनाचार से अपने आपको बचाता है। सयम में स्थिरता, अहिसादि रूप धर्म मे धृति और आचार का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।[७]

☐ आचार और अनाचार की परिभाषा शास्त्रीय दृष्टि से इस प्रकार होती है—जो अनुष्ठान या प्रवृत्ति मोक्ष के लिए हो, या जो आचरण या व्यवहार अहिसादि-धर्म से सम्मत एव शास्त्रविहित हो, वह आचार है। आचार का प्रतिपक्षी या आचार के विपरीत जो हो वह अनाचार है।

☐ शास्त्रो मे आचरणीय वस्तु पाच बताई हैं—१ ज्ञान, २. दर्शन, ३ चारित्र, ४ तप और ५ वीर्य। इसलिए आचार के ५ प्रकार बनते है—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार। इसलिए आचार-अनाचार का लक्षण यह भी हो सकता है कि जो अनुष्ठान, आचरण या व्यवहार ज्ञानादि पचविध आचारो के अनुकल हो वह आचार या आचीर्ण है, और जो इनसे प्रतिकूल हो, वह अनाचार या अनाचीर्ण है। आचार धर्म या कर्त्तव्य है, जब कि अनाचार, अधर्म या अकर्त्तव्य है। अनाचार का अर्थ होता है—निषिद्ध आचरण या कर्म, परिज्ञापूर्वक प्रत्याख्यातव्य कर्म।[८]

☐ शास्त्रकार ने **'तेसिमेयमणाइण्णं'** (महर्षियो के लिए ये अनाचीर्ण है) कह कर सख्यानिर्देश के बिना अनाचारो का उल्लेख किया है। वृत्ति तथा दोनो चूर्णियो मे भी सख्या का निर्देश नही है। हाँ, दीपिका मे अनाचारो की ५४ सख्या का उल्लेख अवश्य है। वर्त्तमान मे अनाचारो की परम्परागत-मान्य सख्या ५२ है। कही-कही अनाचारो की सख्या ५३ भी बताई गई है। किन्तु सख्या का भेद तत्त्वत कोई भेद नही है। ५३ की परम्परा वाले 'राजपिण्ड' और 'किमिच्छक' को एक मानते हैं, और ५२ की परम्परा वाले 'आसन्दी' तथा पर्यंक को और गात्राभ्यग तथा विभूषण को एक-एक अनाचीर्ण मानते है।[९]

☐ अगस्त्यसिह स्थविर ने 'औद्देशिक' से लेकर 'विभूषण' तक की प्रवृत्तियो को अनाचार मानने के कारणो का निर्देश भी किया है।

६ सजमे सुट्ठिअप्पाण तेसिमेयणाइण्ण। —दशवै मूलपाठ, अ ३, गा १

७ (क) धम्मे धितिमतो आयारसुट्ठितस्स फलोवदरिसणोवसहारे। —अग चूर्णि, पृ ४९
(ख) तस्यात्मा सयतो यो हि, सदाचारे रत सदा। स एव धृतिमान्, धर्मस्तस्यैव च जिनोदित।
—हारि वृत्ति, पत्र १००

८ दसण-नाग-चरित्ते तव-आयारे य वीरियायारे।
एसो भावायारो पचविहो होइ नायव्वो॥ —निर्युक्ति गा १८१

९ सर्वमेतत् पूर्वोक्त-चतुपचाशद् भेदभिन्नमौद्देशिकादिक यदनन्तरमुक्त तत्सर्वमनाचरितम् उक्तम्। —वही, पृ ७

☐ नीचे हम अनाचारो को सुगमता से समझने के लिए कारण निर्देशपूर्वक एक तालिका दे रहे है।[११]

क्रम	नाम	अर्थ	अनाचार का कारण
१	औद्देशिक	साधु के निमित्त बना आहार आदि लेना	जीववध
२	क्रीतकृत	साधु के निमित्त खरीदा हुआ आहार लेना	अधिकरण
३	नित्याग्र	निमन्त्रित होकर नित्य आहार लेना	भोजन-समारम्भ मुनि के लिए
४	अभिहृत	सामने लाया हुआ आहार लेना	षट्जीवनिकाय का वध
५	रात्रिभोजन		जीववध
६	स्नान		विभूषा एव उत्प्लावन
७	गन्धविलेपन	सुगन्धित पदार्थों का लेप करना	विभूषा तथा आरम्भ
८	माल्यधारण	माला आदि धारण करना	पुष्पादि के जीवो की हिसा
९	बीजन	पखे आदि से हवा लेना	वायुकायिक सपातिम जीववध
१०	सन्निधि	खाद्य-पेय आदि वस्तुओ को सचित करके रखना	चीटी आदि जीवो की हानि
११	गृहि-अमत्र	गृहस्थ के बर्तन मे भोजन करना	अप्कायिक जीववध, गुम हो जाने पर आपत्ति
१२	राजपिण्ड	अभिषिक्त राजा के लिये बना आहार लेना	भीड के कारण विराधना तथा गरिष्ठ भोजन से एषणा-घात
१३	किमिच्छक	क्या चाहिए ? पूछ कर दिया हुआ आहारादि लेना	निमित्त दोष
१४	सबाधन	शरीरमर्दन, पगचपी आदि कराना	सूत्र और अर्थ की हानि
१५	दतप्रधावन	दातो को धोना	विभूषा

११ (क) दशवै. (आचार्य आत्मारामजी म), पृ ३४ से ५२ तक
(ख) अगस्त्य चूर्णि, पृ ६२-६३

क्रम	नाम	अर्थ	अनाचार का कारण
१६	सम्पृच्छन	गृहस्थो से सावद्य प्रश्न करना, पूछताछ करना	पाप का अनुमोदन
१७.	देहप्रलोकन	दर्पण आदि मे मुख शरीरादि देखना	विभूषा, अहकार, ब्रह्मचर्यविघात
१८.	अष्टापद	शतरज खेलना	अदत्त का ग्रहण, लोकापवाद
१९	नालिका	एक प्रकार का जूआ खेलना	,, ,, ,, ,,
२०	छत्रधारण	छाता लगाकर चलना	अहकार, लोकापवाद
२१	चिकित्सा	सावद्य उपचार कराना	हिंसा, सूत्र और अर्थ की हानि
२२	उपानह पहनना	जूते, मौजे, खडाऊँ आदि पहनना	गर्व, आरम्भ आदि
२३	अग्निसमारम्भ	आग जलाना, तापना आदि	जीवहिंसा
२४	शय्यातरपिण्ड	वसतिदाता का आहार लेना	एषणादोष
२५	आसन्दी का उपयोग	लचीली स्प्रिगदार कुर्सी आदि का उपयोग करना	छिद्रस्थ जीवो की विराधना की सम्भावना
२६	पर्यंक का उपयोग	पलग, ढोलिया, स्प्रिगदार ढीले खाट आदि का उपयोग	छिद्रस्थ जीवो की विराधना तथा ब्रह्मचर्यभग की सम्भावना
२७	गृहिनिषद्या	गृहस्थ के घर मे बैठना, गृहान्तर मे (अकारण) बैठना	ब्रह्मचर्य मे आशका आदि दोष
२८	गात्रउद्वर्तना	शरीर पर पीठी, उबटन आदि लगाना, मालिश आदि कराना	विभूषा
२९	गृहि-वैयावृत्य	गृहस्थो की शारीरिक सेवा	अधिकरण, आसक्ति
३०	आजीववृत्तिता	शिल्प आदि से आजीविका करना	आसक्ति, परिग्रह
३१	तप्तानिर्वृतभोजित्व	पूर्णत शस्त्रअपरिणत (अनिर्वृत) आहार-पानी लेना	जीवहिंसा
३२	आतुरस्मरण या आतुर-शरण	रुग्ण होने पर पूर्व कुटुम्बियो का या पूर्वभुक्त-भोगो का स्मरण या चिकित्सालय की शरण लेना	दीक्षा त्याग की सम्भावना, सयम से विचलितता

क्रम	नाम	अर्थ	अनाचार का कारण
३३.	सचित्त मूलक	मूली लेना	सचित्त वनस्पति ग्रहण करने से वनस्पतिकायिक जीवो का वध होता है
३४	सचित्त शृंगबेर	सचित्त अदरक लेना	,, ,, ,, ,, ,, ,,
३५	सचित्त इक्षुखण्ड	इक्षुखण्ड, कन्द, मूल, फल, फूल, पत्ते, बीज आदि सचित्त लेना या तोडना, उपभोग करना	,, ,, ,, ,, ,, ,,
३६	सचित्त कन्द		,, ,, ,, ,, , ,,
३७	सचित्त मूल	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,, ,,
३८	सचित्त फल	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,, ,,
३९	सचित्त बीज	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,	,, ,, ,, ,, ,, ,,
४०	सचित्त सौवर्चल लवण	सचित्त सैचल नमक	पृथ्वीकायिक जीववध
४१	सचित्त सैंधव लवण	सैंधा नोन	,, ,,
४२	सचित्त लवण	साधारण नमक	,, ,,
४३	सचित्त रूमा लवण	रोमा नमक	,, ,,
४४	सचित्त समुद्री लवण	समुद्री नमक	,, ,,
४५	सचित्त पांशुक्षार लवण	सचित्त खार वाला नमक	,, ,,
४६	सचित्त कृष्ण लवण	सचित्त काला नमक	,, ,,
४७	धमनेत्र	धूप करना, धूआ करना, धूम्रपान करना	अग्निकाय समारम्भ, विभूषा
४८	वमन	कै करना	अत्यधिक मात्रा मे भोजन करने से असंयम
४९	बस्तिकर्म	एनिमा वगैरह लेना	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
५०	विरेचन	जुलाब, रेचन लेना	,, ,, ,, ,, ,, ,, ,,
५१	अजन	आँखो मे सुरमा, काजल आदि लगाना	परोक्ष हिंसा

क्रम	नाम	अर्थ	अनाचार का कारण
५२	दन्तवन	दतौन की लकडी से दातुन करना	वनस्पतिकायवध
५३	गात्राभ्यग	शरीर पर तेल आदि की मालिश करना	विभूषा, शरीरपुष्टि से ब्रह्मचर्यबाधा
५४	विभूषा	शृ गार प्रसाधन करना, साजसज्जा वस्त्राभूषण	विभूषा

इसके अतिरिक्त सूत्रकृताग (श्रु १, अ ९,) मे धावक (वस्त्रादि धोना) रयण (रगना) आदि कुछ अनाचार बताये है। इससे सिद्ध होता है, अनाचारो की यह सख्या अन्तिम नही, उदाहरण स्वरूप है। अन्य अनेक अनाचार भी हो सकते हैं। उत्सर्ग विधि से जितने भी अग्राह्य, अभोग्य अनाचरणीय अकरणीय कार्य बताए है, वे सब अनाचार या अनाचीर्ण है।[१२]

□□

१२ (क) सूत्रकृताग १, ९।१२, १४, १६, १७, १८, २०, २९
(ख) दशवै अ ६, गा ५९

तइयं अज्झयणं : तृतीय अध्ययन

खुड्डियायारकहा : क्षुल्लिकाचार-कथा

निर्ग्रन्थ महर्षियों के लिए अनाचीर्ण

१७. संजमे सुट्ठिअप्पाण विप्पमुक्काण ताइणं ।
तेसिमेयमणाइण्ण निग्गंथाण महेसिण ॥१॥

[१७] जिनकी आत्मा संयम मे सुस्थित (सुस्थिर) है, जो (बाह्य-आभ्यन्तर-परिग्रह से) विमुक्त है; (तथा) जो (स्व-पर-आत्मा के) त्राता है, उन निर्ग्रन्थ महर्षियो के लिए ये (निम्न-लिखित) अनाचीर्ण (–अनाचरणीय, अकल्प्य, अग्राह्य या असेव्य) है ॥१॥

विवेचन—ये अनाचीर्ण किनके लिए ?—प्रस्तुत प्रथम गाथा मे उन महर्षियो के लिए ये अनाचरणीय (अनाचार) बताए गए है, जो संयम मे सुस्थित है, परिग्रहमुक्त है, स्वपरत्राता है और निर्ग्रन्थ है ।

ये विशेषण परस्पर हेतु-हेतुमद्भावक्रिया से युक्त— आशय यह है कि यदि निर्ग्रन्थ साधुवर्ग (साधु-साध्वी) की आत्माएँ संयम मे सुस्थिर होगी तो वे सर्व (सासारिक) संयोगो, सगो या साधनो मे मुक्त हो सकेगी । जो साधु-साध्वी सासारिक (बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह-) बन्धनो से मुक्त होगे, वे ही स्व-पर के रक्षक हो सकेगे और जो स्वपर के रक्षक होगे, वे ही महर्षिपद के योग्य हो सकेगे ।[1]

संजमे सुट्ठि-अप्पाण · भावार्थ— जिनकी आत्मा संयम (१७ प्रकार के संयम अथवा पचास्रव-विरमण, पचेन्द्रिय निग्रह, चार कषाय-विजय एव दण्डत्रयत्यागरूप संयम) मे भलीभाँति स्थिर है ।[2]

विप्पमुक्काण . विप्रमुक्त—विविध प्रकार से—तीन करण तीन योग के सर्वभगो से, प्रकर्षरूप से –तीव्रभाव से । बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित (मुक्त), अथवा सर्वसयोगो- बन्धनो से मुक्त, या सर्वसग-परित्यागी (माता-पिता आदि कुटुम्ब तथा परिजनो की आसक्ति से रहित अथवा शरीरादि के ममत्व से रहित) ।[3]

---

१ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ३५

२ (क) शोभनेन प्रकारेण आगमनीत्या स्थित आत्मा येषा ते सुस्थितात्मान । —हारि वृत्ति, पत्र ११६
(ख) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका), भा १, पृ १५३

३ (क) विविध अनेकै प्रकारै -प्रकर्षेण-भावसार मुक्ता परित्यक्ता बाह्याभ्यन्तरेण ग्रन्थेनेति विप्रमुक्ता ।
—हारि वृत्ति, पत्र ११६
(ख) विप्पमुक्काण-अब्भितर-बाहिर-गथ-बधण विविहप्पगारमुक्काण विप्पमुक्काण ।—अगस्त्य चूर्णि, पृ ५९
(ग) 'संजोगा विप्पमुक्कस्स ' —उत्तरा अ, १।१
(घ) 'सव्वओ विप्पमुक्कस्स ' ।' 'सव्वसगविनिम्मुक्के ।' —उत्तरा, अ. ९।१६, १८।५३

'ताइणं' . तीन रूप—(१) **त्रायिणाम्**—जो शत्रु से अपनी और दूसरो की रक्षा करते है, (२) आत्मा को दुर्गति से बचाने के लिए रक्षणशील (३) सदुपदेश से दूसरो की आत्मा की रक्षा करने वाले, उन्हे दुर्गति से बचाने वाले। (४) जीवो को आत्मवत् मानते हुए जो उनकी हिसा से विरत है, वे। (५) **त्रातृणाम्**—त्राता-सुसाधु। (६) **तायिनाम्**—सुदृष्ट मार्गो की देशना देकर शिष्यो की रक्षा करने वाले, (७) तय गतौ धातु से, तायी—मोक्ष के प्रति गमनशील।[४]

निग्गथाण : व्याख्या—(१) जैनमुनियो के लिए आगमिक और प्राचीनतम शब्द निर्ग्रन्थ है, (२) ग्रन्थ—बाह्याभ्यन्तर परिग्रह, से सर्वथा मुक्त। (३) जो अष्टविध कर्म, मिथ्यात्व, अविरति, एव दुष्ट मन-वचन-काययोग है, उन पर विजय पाने के लिए निश्छल रूप से सम्यक् प्रयत्न करता है, वह निर्ग्रन्थ है। (४) जो एकाकी (राग-द्वेषरहित होने से), बुद्ध, सच्छिन्नस्रोत, सुसयत, सुसमित, सुसमाहित, सुसामायिक, आत्मप्रवादज्ञाता, विद्वान् बाह्य आभ्यन्तर दोनो ओर से छिन्नस्रोत, धर्मार्थी, धर्मवेत्ता, नियागप्रतिपन्न (मोक्ष के प्रति प्रस्थित) साम्याचारी, दान्त, बन्धनमुक्त होने योग्य और ममत्वरहित (निर्मम) है, वह निर्ग्रन्थ कहलाता है।[५]

महेसिण · दो रूप : दो अर्थ—(१) महर्षि—महान् ऋषि, (२) महैषी—महान् मोक्ष की एषणा करने वाला।[६]

निर्ग्रन्थ-महर्षियो के लिए ये अनाचरणीय क्यो ?—ये कार्य निर्ग्रन्थ महर्षियो के लिए अयोग्य या अनाचरणीय क्यो है ? इसका उत्तर प्रस्तुत गाथा मे निर्ग्रन्थ के लिए प्रयुक्त महर्षि, सयम मे सुस्थित, विप्रमुक्त और त्रायी विशेषणो मे है। निर्ग्रन्थ के महान् (मोक्ष) की खोज मे रत रहते है, वे महाव्रती और सर्व सयम मे सुस्थित एव विप्रमुक्त होते है, वह त्रायी —अहिसक होते है। ज्ञानाचारादि पचाचारो मे ही अहोरात्र लीन रहते है, तथा (स्त्री साधिका पुरुषकथा से) स्त्रीकथा, देशकथा,

---

४ (क) शत्रो परमत्मान च त्रायत इति त्रातार। —जि चूर्णि, पृ. १११
(ख) आत्मान त्रातु शीलमस्येति त्रायी जन्तूना सदुपदेशदानतस्त्राणकरणशीलो वा त्रायी।
—सूत्र १४।१६ वृत्ति, पत्र २४७
(ग) तायते, त्रायते वा रक्षति दुर्गतेरात्मानम्, एकेन्द्रियादिप्राणिनो वाऽवश्यमिति तायी त्रायी वति।
—उत्तरा ८।४ टीका पृ २०१
(घ) 'पाणे य नाईवाएज्जा से समिएत्ति वुच्चई ताई।' —उत्तरा ८।९
(ड) त्रातृभि साधुभि। — हा टी प २०१।
ताय सूदृष्टमार्गोक्ति सुपरिज्ञानदेशनया विनेयपालयितेत्यर्थ। —हा टी प २६२
(च) तायी = मोक्ष प्रति गमनशील। —सूत्र २।६।२४ टीका, प ३९६

५ (क) दशवै (मु नथ), पृ ४९
(ख) ग्रन्थ कर्माष्टविध मिथ्यात्वाविरतिदुष्टयोगाश्च। तज्जयहेतोरशठ सयतते य स निर्ग्रन्थ।
—प्रशमरति श्लो १४२
(ग) एत्थ वि णिग्गथे णिग्गथेति वुच्चे। — सू १।६६।६

६ (क) महान्तश्च ते ऋषयश्च महर्षय यतय। —हा. टी पृ ११६
(ख) महानिति मोक्षस्त एसति महेसिणो। —अ. चू पृ ५९

भक्तकथा, राज्यकथा तथा मोहकथा, विप्रलापकथा और मृदुकारुणिककथा आदि विकथाओ से दूर रहते हैं।[७] आगे की गाथाओ में बताए गए कार्य सावद्य, आरम्भजनक और हिंसाबहुल हैं, निर्ग्रन्थ सयमी के जीवन से विपरीत है, गृहस्थो द्वारा आचरित हैं। भूतकाल मे निर्ग्रन्थ महर्षियो ने कभी उनका आचरण नही किया। इन सब कारणो से मुक्ति की कामना से उत्कट साधना मे प्रवृत्त निर्ग्रन्थो के लिए ये अनाचीर्ण हैं।[८]

अनाचीर्णों के नाम

१८. उद्देसिय १ कीयगडं २ नियाग ३ अभिहडाणि ४ य।
राइभत्ते ५, सिणाणे ६ य, गंधमल्ले ७-८ य बीयणे ९ ॥ २ ॥

१९. सन्निही १० गिहिमत्ते ११ य रायपिंडे किमिच्छए १२।*
सबाहणा १३, दंतपहोयणा १४ य, संपुच्छणा १५ देहपलोयणा १६ य ॥ ३ ॥

२०. अट्ठावए १७ य नाली य १८ छत्तस्स य धारणट्ठाए १९।
तेगिच्छं २० पाहणापाए २१, समारंभं च जोइणो २२ ॥ ४ ॥

२१. सेज्जायरपिंडं च २३, आसदी २४ पलियंकए २५।
गिहंतरनिसेज्जा य २६, गायस्सुव्वट्टणाणि २७ य ॥ ५ ॥

२२. गिहिणो वेयावडिय २८, जा य आजीववत्तिया २९।
तत्तानिव्वुडभोइत्त ३०, आउरस्सणाणि ३१ य ॥ ६ ॥

२३. मूलए ३२, सिंगबेरे य ३३, उच्छुखडे अणिव्वुडे ३४।
कदे ३५ मूले ३६ सच्चित्ते फले ३७ बीए य आमए ३८ ॥ ७ ॥

२४. सोवच्चले ३९ सिंधवे लोणे ४० रोमालोणे य आमए ४१।
सामुद्दे ४२, पसुखारे ४३ य, कालालोणे य आमए ४४ ॥ ८ ॥

२५. धूवणेत्ति ४५ वमणे ४६ य, वत्थीकम्म ४७ विरेयणे ४८।
अंजणे ४९, दतवणे ५० य, गायब्भग ५१ विभूसणे ५२ ॥ ९ ॥

अर्थ— [१८] १. **औद्देशिक** (निर्ग्रन्थ के निमित्त से बनाया गया), २. **क्रीत—कृत**—(साधु के निमित्त खरीदा हुआ) ३. **नित्याग्र**—(सम्मानपूर्वक निमत्रित करके नित्य दिया जाने वाला), ४. **अभिहृत**—(निर्ग्रन्थ के लिये सम्मुख लाया गया भोजन) ५. **रात्रिभक्त**—(रात्रिभोजन करना),

---

७ (क) जि चू, पृ १११ (ख) दशवै (आ आत्मा), पृ ३५

८ तेसिं पुव्वनिद्दिट्ठाण बहिब्भतरगथविप्पमुक्काण आयपरोभयतातीण एय नाम ज उवरि एयमि अज्झयणे भण्णिहिति, त पच्चक्ख दरिसेति। —जि चूर्णि, पृ १११

* यहाँ **'रायपिंड'** और **'किमिच्छए'** दोनो पदो को एक माना गया है। —स

६ स्नान ७ गन्ध (सुगन्धित द्रव्य को सूघना या लेपन करना) ८ माल्य (माला पहनना) ९ वीजन (—पखा झलना) ॥ २ ॥

[१९] १०. **सन्निधि**—(खाद्य आदि पदार्थों को सचित करके रखना), ११. **गृहि-अमत्र** (गृहस्थ के बर्तन मे भोजन करना), १२-१ **राजपिण्ड** (मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से भिक्षा लेना, १२-२ **किमिच्छक** ('क्या चाहते हो ?' इस प्रकार पूछ-पूछ कर दिया जाने वाला भोजनादि ग्रहण करना), १३. **सम्बाधन**— (अगमर्दन, पगचपी आदि करना), १४ **दंतप्रधावन**—(दातो को धोना, साफ करना), १५ **सम्पृच्छना** (गृहस्थो से कुशल आदि पूछना, सावद्य प्रश्न करना), १६. **देह-प्रलोकन** (दर्पण आदि मे अपने शरीर तथा अगोपागो को देखना) ॥ ३ ॥

[२०] १७ **अष्टापद** (शतरज खेलना), १८. **नालिका** (नालिका से पासा फेंक कर जुआ खेलना), १९. **छत्रधारण** -(बिना प्रयोजन के छत्रधारण करना), २०. **चिकित्सा कर्म** -(गृहस्थो की चिकित्सा करना अथवा रोगनिवारणार्थ सावद्य चिकित्सा करना-कराना), २१. **उपानत्** (पैरो मे जूते, मोजे, बूट या खडाऊँ पहनना) तथा २२ **ज्योति-समारम्भ** (अग्नि प्रज्वलित करना) ॥ ४ ॥

[२१] २३. **शय्यातरपिण्ड** -(स्थानदाता के यहाँ से आहार लेना), २४ **आसन्दी**- (बेत की या अन्य किसी प्रकार की छिद्र वाली लचीली कुर्सी या आराम कुर्सी अथवा खाट, मांचे आदि पर बैठना), २५. **पर्यंक** (पलग, ढोलया या स्प्रिगदार नख आदि पर बैठना, सोना), २६ **गृहान्तर-निषद्या** -(भिक्षादि करते समय गृहस्थ के घर मे या दो घरो के बीच मे बैठना) और २७. **गात्र-उद्वर्तन** (शरीर पर उबटन, पीठी आदि लगाना ॥ ५ ॥

[२२] २८. **गृहि-वैयावृत्य** (गृहस्थ की सेवा-शुश्रूषा करना या गृहस्थ से शारीरिक सेवा लेना) २९ **आजीववृत्तिता**—(शिल्प, जाति, कुल, गण और कर्म का अवलम्बन लेकर आजीविका करना या भिक्षा लेना) ३०. **तप्ताऽनिर्वृतभोजित्व** (जो आहारपानी अग्नि मे अर्धपक्व या अशस्त्र-परिणत हो, उसका उपभोग करना) ३१. **आतुरस्मरण** —(आतुरदशा मे पूर्वभुक्त भोगो या पूर्वपरिचित परिजनो का स्मरण करना) ॥ ६ ॥

[२३] ३२ **अनिर्वृतमूलक** (अपक्व सचित्त मूली), ३३. **(अनिर्वृत) शृङ्गबेर** (अदरख), ३४. **(अनिर्वृत्त) इक्षुखण्ड**—(सजीव ईख के टुकडे लेना), ३५ **सचित्त कन्द** (सजीव कन्द), ३६. **(सचित्त) मूल** (सजीव मूल या जडी लेना या खाना) ३७ **आमक फल** (कच्चा फल), ३८ **(आमक) बीज** (अपक्व बीज लेना व खाना) ॥ ७ ॥

[२४] ३९ **आमक सौवर्चल**—(अपक्व-अशस्त्रपरिणत सेचल नमक) ४० सैन्धव-लवण (अपक्व सेधानमक), ४१. रुमा लवण (अपक्व रुमा नामक नमक), ४२. सामुद्र (अपक्व समुद्री नमक), ४३ पाशु-क्षार (अपक्व ऊषरभूमि का नमक या खार), ४४ काल-लवण अपक्व काला नमक लेना व खाना ॥ ८ ॥

[२५] ४५ **धूमनेत्र अथवा धूपन**— (धूम्रपान करना या धूम्रपान की नलिका या हुक्का आदि रखना, अथवा वस्त्र, स्थान आदि को धूप देना), ४६ वमन (औषध आदि लेकर वमन- कै करना), ४७ बस्तिकर्म (गुह्यस्थान द्वारा तेल, गुटिका या एनिमा आदि से मलशोधन करना),

४८. विरेचन (बिना कारण औषध आदि द्वारा जुलाब लेना), ४९ अजन (आँखो मे अजन—सुरमा या काजल आदि आँजना या लगाना), ५० दतवन—दातुन करना, अथवा दातो को मिस्सी आदि लगाकर रगना), ५१. गात्राभ्यग—(शरीर पर तेल आदि की मालिश करना), और ५२ विभूषण (शरीर की वस्त्राभूषण आदि से साजसज्जा—विभूषा करना) ।। ९ ।।

विवेचन—औद्देशिक आदि ५२ अनाचरित—प्रस्तुत ८ गाथाओ (२ से लेकर ९ गा तक) मे 'औद्देशिक' से लेकर 'विभूषण' तक साधु-साध्वियो के लिए अनाचरणीय, अग्राह्य, असेव्य ५२ अनाचीर्णों का उल्लेख किया गया है ।

औद्देशिक आदि शब्दों की व्याख्या—**औद्देशिक**—निर्ग्रन्थ साधु साध्वी को अथवा परिव्राजक श्रमण, निर्ग्रन्थ, तापस आदि सभी को दान देने के उद्देश्य से बनाया गया भोजन, पानी, वस्तु या मकान आदि औद्देशिक कहलाता है । इस प्रकार का उद्दिष्ट भोजनादि निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियो के लिए अग्राह्य और असेव्य होता है ।[८]

क्रीतकृत : दो अर्थ—(चूर्णि के अनुसार—जो वस्तु खरीद कर दी जाए, (२) वृत्ति के अनुसार—जो वस्तु साधु के लिए खरीदी गई हो, वह क्रीत और जो खरीदी हुई वस्तु से कृत—बनी हुई हो, वह क्रीतकृत । क्रीतकृत दोष साधु के लिए उसमे होने वाली हिसा की दृष्टि से वर्जनीय है ।[९]

नियाग-दोष : कहाँ और कहाँ नहीं ?—वैसे तो आचाराग, सूत्रकृताग, उत्तराध्ययन आदि मे नियाग शब्द का प्रयोग मोक्ष, सयम या मोक्षमार्ग अर्थ मे हुआ है, परन्तु अनाचार के प्रकरण मे नियाग एक प्रकार का आहार-ग्रहण से सम्बन्धित दोष है, जिसका चूर्णियो और टीका मे अर्थ किया गया है—आदरपूर्वक निमत्रित होकर किसी एक नियत घर से प्रतिबद्ध होकर प्रतिदिन भिक्षा लेना । जैसे—किसी भावुक भक्त ने साधु से कहा—'भगवन् ! आप मेरे यहाँ प्रतिदिन भिक्षा लेने का अनुग्रह करना' इसे स्वीकार कर भिक्षु उस भिक्षा को ग्रहण करता है, वहाँ नियाग-नित्यपिण्ड दोष है । निमत्रण मे साधु को आहार अवश्य देने की बात होने से स्थापना, आधाकर्म, क्रीत और प्रामित्य (उधार लेना), न्यौता देने वाले गृहस्थ के प्रति रागभाव, न देने वाले के प्रति द्वेषभाव आदि दोषो की सम्भावना होने से नियाग को दोष बताया है । निशीथसूत्र मे 'नियाग' के बदले 'नित्यअग्रपिण्ड' (णितिय अग्गपिण्ड) का प्रायश्चित्त बताया है । वहाँ आमत्रण और प्रेरणापूर्वक वादा करके जो नित्य अग्र (सर्वप्रथम दिया जाने वाला) पिण्ड लिया जाता है, वह अग्राह्य एव प्रायश्चित्तयोग्य दोष है, किन्तु सहज भाव से भिक्षा मे प्राप्त भोजन नित्य लिया जाए तो नित्यपिण्ड दोष नही माना जाता । नियाग का अनाचार प्रकरण मे शब्दश अर्थ होता है- नि+याग, अर्थात् जहाँ यज—दान

---

८ (क) "उद्दिस्स कज्जइ त उद्देसिय साधुनिमित्ति आरम्भोत्ति वुत्त भवति ।" —जिन. चू., पृ १११
(ख) उद्देसियति उद्देशन साध्वाद्याश्रित्य दानारम्भस्येत्युद्देशस्तत्र भवमौद्देशिकम् । —हारिवृत्ति, पत्र ११६

९ (क) कीतकड-ज किणिऊण दिज्जति । —अगस्त्य चूर्णि, पृ ६०
(ख) क्रयण क्रीत, भावे निष्ठाप्रत्यय । साध्वादिनिमित्तमिति गम्यते तेन कृत क्रीतकृतम् ।
—हारि वृत्ति, पत्र ११६

निश्चित हो, वहाँ नियाग दोष है। णियाग (नियाग) का णीयग्ग (नित्याग्र) रूपान्तर भी मिलता है।[१०]

अभिहृत · विशेष अर्थ—साधु के निमित्त, उसे देने के लिए गृहस्थ द्वारा अपने गाँव, घर आदि से उसके सम्मुख लाई हुई वस्तुएँ लेना। इसमे आरम्भादि दोषो की सभावना है।[११]

रात्रिभक्त—(१) पहले दिन, दिन मे लाकर दूसरे दिन, दिन मे खाना, (२) दिन मे लाकर रात्रि मे खाना, (३) रात्रि मे लाकर दिन मे खाना और (४) रात्रि मे लाकर रात्रि मे खाना। ये चारो ही विकल्प रात्रिभोजन दोष के अन्तर्गत होने से वर्जनीय है।[१२]

स्नान · दो प्रकार—(१) देशस्नान और (२) सर्वस्नान। दोनो ही तरह के स्नान अहिंसा की दृष्टि से वर्जित है।[१३]

गन्ध-माल्य - गन्ध— इत्र आदि सुगन्धित पदार्थ और माल्य—पुष्पमाला। गन्ध और माल्य दोनो शब्दो का यहाँ पृथक्-पृथक् प्रयोग है। पृथ्वीकाय, वनस्पतिकाय आदि जीवो की हिंसा, विभूषा और परिग्रह आदि की दृष्टि से वर्जित और अनाचरणीय है।[१४]

बीजन · व्याख्या—व्यजन—पखा, ताडवृन्त, व्यजन मयूर पख आदि किसी से भी हवा करना, हवा लेना या ओदनादि को ठडा करने के लिए हवा करना व्यजन दोष है। ऐसा करने से सचित्त वायुकायिक जीव मारे जाते हैं, सपातिम जीवो का हनन होता है।[१५]

सन्निधि : व्याख्या—सन्निधि का अर्थ है— सचय सग्रह करना। खाद्य वस्तुएँ तथा औषध-भैषज्य आदि का लेशमात्र या लेपमात्र भी सचय न करे, ऐसी शास्त्राज्ञा है। यहाँ तक कि भयकर, दु साध्य रोगातक उपस्थित होने पर भी औषधादि का सग्रह करना वर्जित है, सग्रह करने मे गृद्धि या लोभवृत्ति बढती है।[१६]

---

१० (क) नियाग नाम नियत्ति वुत्त भवइ, न तु यदा आयरेण आमतिओ भवइ। जि चू पृ १११
(ख) नियाग-प्रतिणियत ज निब्बधकरण, ण तु ज अहासमावत्तीए दिणेदिणे भिक्खागहण।
—अ चू, पृ ६०
(ग) नियाणमित्यामत्रितस्य पिण्डस्य ग्रहण नित्य, न तु अनामत्रितस्य। हा व प ११६
(घ) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ६७

११ (क) "अभिहड—ज अभिमुहाणीत उवस्सए आणेऊण दिण्ण।" —अगस्त्य चूर्णि, पृ ६०
(ख) "स्वग्रामादे साधुनिमित्तमभिमुखमानीतमभ्याहृतम्।" हारि वृत्ति, पत्र ११६

१२ अगस्त्य चूर्णि, पृ ६०

१३ जिन चू, पृ ११२

१४. जिन चूर्णि, पृ ११२

१५. जिन चूर्णि, पृ ११२

१६ (क) सन्निहिं च न कुव्वेजा लेवमायाए (अणुमाय पि) सजए।' — उत्तरा ६।१५, दशवै ८।२४
(ख) प्रश्नव्याकरण २।५

गृहि-अमत्र—गृहस्थ के बर्तन मे भोजन या पान करना या उसका उपयोग करना अनाचीर्ण इसलिए है कि गृहस्थ बाद मे उन बर्त्तनो को सचित्त पानी से धोए तो उसमे जल का आरम्भ होगा, जल यत्र-तत्र गिरा देने से अयतना होगी, जीवहिसा होगी। इसलिए गृहस्थो के बर्तन मे भोजन-पान करने वाले को आचार-भ्रष्ट कहा है। दूसरे, गृहस्थ के बर्तन धातु के होते है, खो जाने या चुराये जाने पर उसकी क्षतिपूर्ति करना साधु के लिए कठिन होता है।[१७]

राजपिण्ड किमिच्छक : दो या एक अनाचारो व्याख्या—मूर्धाभिषिक्त राजा के यहाँ से आहार लेने मे अनाचीर्ण इसलिए बताया है कि अनेक राजा अव्रती तथा मासाहारी होते है। उनके यहाँ भक्ष्याभक्ष्य का विवेक प्राय नही होता। दूसरे, राजपिण्ड अत्यन्त गरिष्ठ होता है, इस दृष्टि से मुनि के रसलोलुप तथा सयमभ्रष्ट होने का खतरा है। 'किमिच्छक' का अर्थ है—जिन दानशालाओ आदि मे 'तुम कौन हो ?, क्या चाहते हो ?' इत्यादि पूछ कर आहार दिया जाता है, उसे ग्रहण करना अनाचीर्ण है, क्योकि एक तो उसमे उद्दिष्ट दोष लगता है, दूसरे भिक्षा के दोषो से बचने की सम्भावना नही रहती। दोनो चूर्णियो के अनुसार—राजपिण्ड और किमिच्छक, ये दो अनाचार न होकर, एक अनाचार है। राजा याचक को, वह जो चाहता है, देता है, वहाँ किमिच्छक—राजपिण्ड नामक अनाचार है। निशीथचूर्णि मे बताया है कि सेनापति, अमात्य, पुरोहित, श्रेष्ठी और सार्थवाहसहित जो राजा राज्यभोग करता है, उसका पिण्ड ग्रहण और उपभोग करने से चातुर्मासिक प्रायश्चित्त आता है।[१८]

सबाधन : सवाहन : अर्थ और प्रकार—इसका अर्थ है—मर्दन। यानी शरीर दाबना या दबवाना ये दोनो ही रागवर्द्धक है। इसके चार प्रकार है—अस्थि (हड्डी), मास, त्वचा और रोम, इन चारो को सुखप्रद या आनन्दप्रद।[१९]

सम्पृच्छना दो रूप : पांच अर्थ—(१)सम्पृच्छा—(क) गृहस्थ से अपने अगोपागो की सुन्दरता के बारे मे पूछना, (ख) गृहस्थो से सावद्य—आरम्भ सम्बन्धी प्रश्न पूछना अथवा गृहस्थो से कुशल क्षेम पूछना, (ग) रोगी से तुम कैसे हो, कैसे नही ? इत्यादि कुशल प्रश्न पूछना, (घ) अमुक ने यह कार्य किया या नही ? यह दूसरे व्यक्ति (गृहस्थ) से पुछवाना, (२) सम्प्रोञ्छक या सम्प्रोञ्छणा—(च) शरीर पर गिरी हुई रज को पोछना या पोछवाना। इसे सावद्य, असत्य, विभूषा, आदि का पोषक होने से अनाचार कहा गया है।[२०]

---

१७ (क) 'परमत्ते अन्नपाण ण भु जे कयाइ वि।' —सूत्र १।९।२० (ख) दशवै अ ६।५२

१८ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ ३९

(ख) "मुद्धाभिसित्तस्स रण्णो भिक्खा रायपिडो। **रायपिडे-किमिच्छए**-राया जो ज इच्छति तस्स त देति-एस रायपिडो किमिच्छनो। तेहि णियत्तणत्थ—एसणारक्खणाय एतेमि अणातिण्णो।"—अगस्त्यचूर्णि, पृ ६०

(ग) जे भिक्खु रायपिडे गेण्हति गेण्हत वा (भु जति भुजत वा) सातिज्जति।

(घ) दशवै (मु नथमलजी), पृ १८ —निशीथ ९।१-२

१९ सवाहणा नाम चउव्विहा भवति, त० अट्ठिसुहा मससुहा तयासुहा रोमसुहा। —जि. चू, पृ ११३

२० (क) 'सपुच्छणा नाम अप्पणो अगावयवाणि आपुच्छमाणो पर पुच्छइ। —जि चू, पृ ११३

(ख) अहवा गिहीण सावज्जारम्भा कता पुच्छति। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ६०

(ग) गृहस्थगृहे कुशलादिप्रच्छन। —सू १।९।२१ टीका

(घ) अण्णे ग्लान पुच्छति—किं ते वट्टति। —सू १।९।२१ चूर्णि

(ङ) सपुच्छण णाम किं तत्कृत, न कृत वा पुच्छावेति। —सू १।९।२१ चू

(च) सपु छगो—कहिंचि अगे रय पडित पु छति लूहेति। —अ. चू, पृ ६०

देहप्रलोकन : विशेषार्थ—दर्पण, पात्र, पानी, तेल, मधु, घृत, मणि, खड्ग एव राब आदि मे अपना चेहरा आदि देखना देह-प्रलोकन है, निशीथ मे निर्ग्रन्थ के ऐसा करने पर प्रायश्चित्त का विधान है।[२१]

अट्ठावए : दो रूप : तीन अर्थ—(१) अष्टापद—(१) द्यूत, अथवा विशेष प्रकार का द्यूत-शतरज (२) अर्थपद—(क) गृहस्थ के आश्रित अर्थनीति आदि के विषय मे बताना, अथवा गृहस्थ को सुभिक्ष-दुर्भिक्ष आदि के विषय मे भविष्यकथन करना अथवा सूत्रकृताग के अनुसार- -प्राणि-हिंसाजनक शास्त्र या कौटिलीय अर्थशास्त्र आदि या द्यूत-क्रीडाविशेष का नाम अष्टापद है, उसे सिखाना अनाचार है।

नालिका—द्यूत का ही एक विशेष प्रकार, जिसमे पासो को नालिका द्वारा डालकर जुआ खेला जाता है।[२२]

छत्रधारण—(निष्प्रयोजन) वर्षा आतप, महिमा, शोभा (बडप्पन)—प्रदर्शन आदि कारणो से छत्र (छाता) धारण करना अनाचार है, किन्तु स्थविरकल्पी साधु के लिए प्रगाढ रोग आदि की अवस्था मे या स्थविर (वृद्ध-अशक्त एव ग्लान) के लिए छत्र-धारण करना अनाचार नही, यह अपवाद है।[२३]

चैकित्स्य—अर्थात् व्याधि का प्रतीकार। उत्तराध्ययन, आचाराग, सूत्रकृताग, प्रश्नव्याकरण आदि शास्त्रो का मुख्य स्वर निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियो के लिए चिकित्सा न करने, कराने तथा चिकित्सा का अभिनन्दन तक न करने का रहा है। परन्तु प्रश्न यह उठता है कि श्रमणोपासक के लिए बारहव व्रत मे साधु को औषध-भैषज्य से भी प्रतिलाभित करने का विधान है। यदि चिकित्सा करना-कराना अनाचीर्ण है तो यत्र-तत्र निर्ग्रन्थो के ओषधोपचार एव रोगशमन की चर्चा मिलती है, उसके साथ इसकी सगति कैसे होगी? अत परम्परागत अर्थ इस प्रकार किया गया कि जिनकल्पी मुनि के लिए तो चिकित्सा कराना निषिद्ध है, किन्तु स्थविरकल्पी के लिए विधिपूर्वक निरवद्य उपचारो से

---

२१ (क) हारि वृत्ति, पृ ११७ (ख) निशीथ, १३।३१ से ३८ गा

२२ (क) अष्टापद द्यूतम्, अर्थपद वा गृहस्थमधिकृत्य नीत्यादिविषयम्। —हा वृत्ति, पृ ११७
(ख) "अट्ठावय न सिक्खिज्जा"। —सूत्र कृ टीका १।९।१७, पत्र १८१
(ग) निशीथभाष्य गा ४२८
(घ) हा टी, पृ ११७

२३ (क) आतपादिनिवारणाय छत्र तदेतत्सर्व कर्मोपादानकारणत्वेन ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत्। —सूत्र १।९।१८ टीका
(ख) छत्रस्य लोकप्रसिद्धस्य च धारणमात्मान पर वा प्रति अनर्थाय इति आगाढग्लानाद्यालम्बन मुक्त्वा अनाचरितम्। —हा टी, पत्र ११७
(ग) 'अकारणे धारिउ न कप्पइ, कारणेण पुण कप्पति'। —जि चूर्णि, पृ ११३
(घ) 'थेराण थेरभूमिपत्ताण कप्पइ दडए वा भडए वा छत्तए वा।' —व्यवहार ८।५

चिकित्सा करना-कराना निषिद्ध नही, किन्तु कन्दमूल, फल, फूल, बीज हरित वनस्पति-छाल आदि का उच्छेदन करके उसे पका करके मुनि की सावद्य चिकित्सा करनी-करानी नही चाहिए। इस दृष्टि से सावद्य चिकित्सा करना-कराना ही अनाचार है।[२४]

इसके अतिरिक्त शरीर को बलवान् एव पुष्ट बनाने के लिए घृतपानादि आहारविशेष करना या रसायन आदि सेवन करना भी अनाचीर्ण है। सूत्रकृताग मे इसका सर्वथा निषेध किया गया है। चैकित्स्य का एक अर्थ—वैद्यकवृत्ति—गृहस्थो की चिकित्सा करना भी है, जो कि अनाचरणीय है।[२५]

उपानत् धारण : चार अर्थ—पादुका, पादरक्षिका, पादत्राण अथवा पैरो के मोजे। निष्कर्ष यह है कि काष्ठ या चमडे आदि के जूते धारण करना साधु के लिए सर्वथा अनाचरणीय है, जिनदास महत्तर एव हरिभद्रसूरि के अनुसार शरीर की अस्वस्थ अवस्था मे पैरो के या चक्षुओ के दुर्बल होने पर या आपत्काल मे जूते (चमडे या काष्ठ के सिवाय) धारण किये जा सकते है।[२६]

ज्योति-समारम्भ—ज्योति- अग्नि, उसका समारम्भ करना अनाचीर्ण है, क्योकि अग्नि को उत्तराध्ययनसूत्र मे अत्यन्त प्राणिनाशक, सर्वत्र फैलने वाली, अति तीक्ष्ण, प्राणियो के लिए आघात-जनक एव पापकारी शस्त्र कहा गया है। इसलिए अग्नि के आरम्भ को दुर्गतिवर्धक दोष मान कर उसका यावज्जीवन के लिए साधुवर्ग त्याग करे। अग्निसमारम्भ मे अग्नि के अन्तर्गत उसके समस्त रूप—अगार, मुर्मुर, अर्चि, ज्वाला, अलात (मशाल), शुद्ध अग्नि और उल्का आदि सभी आ जाते है। प्रकारान्तर से अग्नि से आहारादि पकाना-पकवाना, अग्नि जलाना-जलवाना, प्रकाश

---

२४ (क) तेगिच्छ—रोगपडिकम्म। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ६१
(ख) चैकित्स्य—व्याधिप्रतिक्रियारूपमनाचरितम्। —हारि वृत्ति, पत्र ११७
(ग) देखिये उत्तराध्ययनसूत्र मे चिकित्सा न करने-कराने का विधान। —अ २-३२-३३
अ १९। गा ७५-७६,७८,७९, उत्तरा १५-८
(घ) आचा ९-४-१ मूल तथा टीका, पत्र २८४
(ङ) सूत्रकृताग १-९-१५ टीका (च) उपासकदशाग १-५
(छ) प्रश्न स ५ (ज) भगवती शतक १५, पृ ३९३-३९४

२५ (क) येन घृतपानादिना आहारविशेषेण रसायनक्रियया वा अशून सन् आ—समन्तात् शूनीभवति—बलवानुपजायते तदाऽऽशूनीत्युच्यते॥ —सूत्रकृ
(ख) "मत मूल विविह वेज्जचिन्त त परिन्नाय परिव्वए स भिक्खू।" —उत्त १५-८
(ग) "जे भिक्खू तेगिच्छापिड भु जइ, भु जत का सातिज्जति।" —निशीथ १३-६९

२६ (क) उपानही काष्ठपादुके—सूत्र टीका १-९-१८, पत्र १८१
(ख) 'पादरक्षिकाम्'— भगवती २-१ टीका, (ग) उवाहणा पादत्राणम्। —अग चूर्णि, पृ ६१
(घ) "तथोपानही पादयोरनाचरिते, पादयोरिति साभिप्रायक, न त्वापत्कल्पपरिहारार्थमुपग्रहधारणेन।" —हारि वृत्ति, पत्र ११७
(ङ) " दुब्बलपाओ चक्खुदुब्बलो वा उवाहणाओ आविधेज्जा ण दोसो भवइ त्ति। असमत्थेण पओयणे उप्पण्णे पाएसु कायव्वा, ण उण सेसकाल।" —जि चू, पृ ११३

करना, बुझाना आदि भी ज्योति समारम्भ अनाचार के अन्तर्गत है, इनसे अग्निकायिक जीवो की हिंसा होती है।[२७]

शय्यातरपिण्ड . (सेज्जायरपिंड) तीन रूप : अर्थ एवं व्याख्या—(१) **शय्यातर**—श्रमणवर्ग को शय्या देकर भवसमुद्र तरनेवाला, (२) **शय्याधर**—शय्या (वसति) का धारक (मालिक) और (३) **शय्याकर**—शय्या (उपाश्रय, स्थानक आदि) को बनाने वाला। 'शय्यातर' शब्द वर्तमान मे प्रचलित है, उसका पिण्ड-आहार इसलिए वर्जित एव अनाचीर्ण बताया गया कि उस पर साधु को स्थान प्रदान करने के उपरात आहारादि देने का भी बोझ न हो जाए तथा उसकी साधुओ के प्रति अश्रद्धा अभक्ति न हो जाए। शय्यातर का आहार लेने से वह भक्तिवश साधु के लिए बनाकर दोषयुक्त आहार भी दे सकता है। अत यह उद्गमशुद्धि आदि की दृष्टि से भी वर्जनीय है। शय्यातर किसे और कब से माना जाए ? इस विषय मे निशीथभाष्य मे विभिन्न आचार्यो के मतो का सकलन किया गया है, यथा— (१) उपाश्रय, स्थान या मकान का स्वामी या स्वामी की अनुपस्थिति मे उसके द्वारा सदिष्ट मकान का सरक्षक। (२) उपाश्रय की आज्ञा देते ही शय्यातर हो जाता है, (३) गृह-स्वामी के मकान के अवग्रह मे प्रविष्ट होने पर (४) आगन मे प्रवेश करने पर, (५) प्रायोग्य तृण (घास) ढेला आदि की आज्ञा लेने पर, (६) उपाश्रय (स्थानक) मे प्रविष्ट होने पर, (७) पात्र-विशेष के लेने तथा कुलस्थापना करने (अपने गच्छ [कुल] के किसी साधु को ठहराने) पर, (८) स्वाध्याय प्रारम्भ करने पर, (९) उपयोग सहित भिक्षाचरी के लिए निकल जाने पर, (१०) उक्त स्थानक मे भोजन प्रारम्भ करने पर, (११) पात्र आदि भडोपकरण उपाश्रय (स्थान) मे रखने पर, (१२) दैवसिक आवश्यक (प्रतिक्रमण) कर लेने पर, (१३) रात्रि का पहला प्रहर बीत जाने पर, (१४) रात्रि का द्वितीय प्रहर व्यतीत होने पर, (१५) रात्रि का तीसरा प्रहर बीत जाने पर अथवा (१६) रात्रि का चौथा प्रहर (उस मकान मे) बीतने पर शय्यातर होता है। भाष्य-कार के मतानुसार साधुवर्ग रात मे जिस उपाश्रय मे सोए और अन्तिम आवश्यक प्रतिक्रमण क्रिया कर ले, उस मकान का स्वामी शय्यातर है। शय्यातर के यहाँ से अशन, पान, खादिम, स्वादिम, वस्त्र, पात्र आदि अग्राह्य होते है, लेकिन उसके यहाँ से तृण (घास), राख, बाजोट, पट्टा, पटिया आदि लिये जा सकते है।

---

२७ (क) 'जोई अग्गी, तस्स ज समारभण।' अग. चूर्णि, पृ ६१

(ख) दशवै ६-३२-३३

(ग) उत्तरा ३५-१२

(घ) "पयण-पयावण-जलावण-विद्धसणेहि अगणि ।" —प्रश्नव्या आस्रव १-३

२८ (क) 'शय्या वसति (आश्रय) तया तरति ससारमिति शय्यातर —साधुवसतिदाता तत्पिण्ड।'

—हारि वृत्ति, पत्र ११७

(ख) जम्हा सेज्ज पडमाणिं छज्ज-लेप्पमादीहिं धरेति तम्हा सेज्जाधरो, अहवा सेज्जादाणपाहण्णतो अप्पाण नरकादिसु पडत धरेति त्ति सेज्जाधरो। जम्हा सो सिज्ज करेति, तम्हा सो सिज्जाकरो भण्णति। सेज्जाए सरक्खण सगोवण जेण तरति काउ, तेण सेज्जातरो। —निशीथभाष्य २।४५-४६

(ग) सेज्जातरो प्रभू वा, पभुसदिट्ठो होति कातव्वो। —निशीथभाष्य गा ११४४

(घ) निशीथभाष्य गा ११४६-४७ (ङ) निशीथभाष्य गा ११४८,११५१,११५४

आसंदी : विशेष अर्थ—आसदी एक प्रकार का बैठने का आसन, अथवा बैठने योग्य माची, खटिया या पीढी, बेत की कुर्सी को भी आसदी कहते है। आसदी पर बैठना इसलिए वर्जित है कि इस पर बैठने से प्रतिलेखनादि होना कठिन है। असयम होने की सम्भावना है।

पर्यंक –जो सोने के काम मे आए उसे पर्यक कहते है। आसन्दी, पलग, खाट, मच, आशालक, निषद्या आदि का प्रतिलेखन होना अत्यन्त कठिन है, क्योकि इनमे गम्भीर छिद्र होते है। इनमे प्राणियो का प्रतिलेखन करना सम्भव नही होता है। अत सर्वज्ञो के वचन को मानने वाला न इन पर बैठे, न ही इन पर सोए।[२९]

गृहान्तरनिषद्या— चूर्णि और टीका मे इसका अर्थ किया है- घर मे अथवा दो घरो के अन्तर (मध्य) मे बैठना। उत्तराध्ययन, सूत्रकृताग आदि मे गृहान्तर का अर्थ किया है—परगृह (स्वगृह—उपाश्रय या स्थानक से भिन्न परगृह- यानी गृहस्थ का घर), दशवैकालिक के पाचवें अध्ययन मे कहा गया है—'गोचराग्र मे प्रविष्ट मुनि कही न बैठे। यहाँ 'कही' का अर्थ किया है—'किसी घर, देवालय, सभा, प्याऊ आदि मे।' बृहत्कल्पभाष्य मे गृहान्तर के दो प्रकार बताए हैं—सद्भाव गृहान्तर (दो घरो का मध्य) और असद्भावगृहान्तर (एक ही घर का मध्य)। निष्कर्ष यह है कि गोचरी करते समय किसी गृहस्थ के घर मे या सभा, प्रपा आदि परगृह मे या दो घरो के मध्य मे (वृद्ध, रुग्ण, या तपस्वी के अतिरिक्त) मुनि का बैठना अनाचार है। अनाचार बताने का कारण यह है कि इससे ब्रह्मचर्य पर विपत्ति आती है, प्राणियो का वध होता है, दीन भिक्षार्थियो को बाधा पहुँचती है, गृहस्थो को क्रोध उत्पन्न होता है और कुशील की वृद्धि होती है।[३०]

गात्र-समुद्वर्तन –इसका अर्थ प्रसिद्ध है। दशवैकालिक मे ही छठे अध्ययन मे कहा गया है—"सयमी साधु चूर्ण, कल्क, लोध्र आदि सुगन्धित पदार्थो का अपने शरीर के उबटन (पीठी आदि) के

---

२९ (क) 'आसन्दीत्यासनविशेष।' —सूत्र कृ टीका १।९।२१, प १८२
(ख) आसन्दिकामुपवेशनयोग्या मचिकाम्। —सू. टीका १।४।२।१५, पत्र १८२
(ग) "स्याद्वेत्रासनमासन्दी।" —अभिधानचिन्तामणि ३।३४८
(घ) पर्यकशयनविशेष। – सू १।९।२१ टीका
(ङ) दशवै ६।५४-५६
(च) आसदीपलियके त विज्ज परिजाणिया। —सू १।९।२१

३० (क) गृहमेव गृहान्तरम् (गृहस्यान्तर्मध्ये), गृहयोर्वा मध्ये (अपान्तराल) तत्र उपवेशन। (निषद्या वा आसन वा) सयमविराधनाभयात् परिहरेत्। —हारि वृत्ति, पृ ११७, सू १।९।२१, टीका प १२८
(ख) गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्व कत्थइ—घरे वा देवकुले वा सभाए वा पवाए वा एवमादि। —जि चू, पृ १९५
(ग) साधुभिक्षादिनिमित्त ग्रामादौ प्रविष्ट सन् परो—गृहस्थस्तस्य गृह-परगृह, तत्र न निषीदेत् - नोपविशेत्। —सू १।९।२९, टीका, पत्र १८४
(घ) मध्य (गृहान्तर) द्विधा—सद्भावमध्यमसद्भावमध्यम्। सदभावमध्य नाम - यत्र गृहपतिर्गृहस्य पार्श्वेन गम्यते आगम्यते वा छिण्डिकया।

लिए कदापि सेवन नही करते, क्योकि शरीरविभूषा सावद्यबहुल है । इससे गाढ कर्मबन्धन होता है ।[३१]

गिहिणो वेयावडियं : दो रूप (१) गृहस्थ-वैयापृत्य—(१) गृहस्थ का व्यापार करना, (२) उनके उपकार के लिए उनके कर्म (कृषि व्यापार आदि) को स्वय करना, (३) असयम का अनुमोदन करने वाला गृहस्थ का प्रीतिजनक उपकार करना, (४) गृहस्थो के साथ अन्न-पानादि का सविभाग करना, (५) गृहस्थो का आदर करने मे प्रवृत्त होना, (२) **गृहस्थ-वैयावृत्य**—(६) गृहस्थ की शारीरिक सेवा-शुश्रूषा करना, (७) अथवा गृहस्थ को दूसरे के यहाँ से आहार-पानी, दवा आदि लाकर देना, (८) या गृहस्थ से शारीरिक सेवा लेना ।[३२]

आजीववृत्तिता · स्वरूप, प्रकार एवं व्याख्या— आजीव शब्द का अर्थ है- आजीविका के साधन या उपाय और वृत्तिता का अर्थ है—उनके आधार पर वृत्ति (आहारादि भिक्षा) प्राप्त करना आजीववृत्तिता है । स्थानाग तथा दशवैकालिकचूर्णि आदि के अनुसार आजीव के ५ और व्यवहार-भाष्य के अनुसार ७ प्रकार है । यथा—जाति, कुल, गण, कर्म और शिल्प तथा तप और श्रुत । इन ७ प्रकार के आजीवो मे से किसी भी आजीव का आश्रय लेकर आजीविका (भिक्षा या आहारादि) प्राप्त करना आजीववृत्तिता नामक अनाचार है । जाति आदि का कथन दो प्रकार से होता है—स्पष्ट शब्दो मे, अथवा प्रकारान्तर से प्रकट करके । दोनो ही प्रकार से जाति आदि का कथन करना आजीववृत्तिता नामक अनाचरित है । यथा—मै अमुक जाति (ब्राह्मण आदि जाति या मातृपक्ष) का हूँ, अथवा मै अमुक कुल (उग्र, भोग आदि कुल या पितृपक्ष) का रहा हूँ, या गणादि गण या अमुक गच्छ, सघ या सघाटक का हूँ, या मैं अमुक कर्म (कृषि, वाणिज्य आदि) अथवा अमुक शिल्प (बुनाई, सिलाई, आभूषण घडाई, लुहारी आदि) मे बहुत कुशल था, अथवा मै बहुत बडा तपस्वी या बहुश्रुत (ज्ञानी) हूँ, अथवा मै अमुक लिंग –वेष वाला –साधु हूँ । इस प्रकार जाति आदि के सहारे आजीविका या आहारादि भिक्षा प्राप्त करना आजीववृत्तिता है ।[३३] सूत्रकृताग मे तो यहाँ तक बताया

---

३१. (क) दशवै ६।६४-६७
(ख) गात सरीर तस्स उव्वट्टण अब्भगणुव्वलणाईणि । अ चू, पृ ६१

३२ (क) गृहस्थस्य वैयावृत्त्यम् । —हारि वृत्ति, प ११७
(ख) "गिहीण वेयावडिय ज तेसि उपकारे वट्टति ।" – अगस्त्य चूर्णि, पृ ६१
(ग) ' ज गिहीण अण्णपाणादीहि विसूरताण विसविभागकरण एय वेयावडिय भण्णइ, वेयावडिय नाम तथाऽदरकरण, तेसि वा पीतिजणण ।' – जिनदास चूर्णि, पृ ११४, ३७३
(घ) ' गृहस्थ प्रति अन्नादिसम्पादनम्,' 'गृहिणो-गृहस्थस्य वैयावृत्त्य गृहिभावोपकाराय तत्कर्मसु आत्मनो व्यावृत्तभाव न कुर्यात् ।' —हारि वृत्ति, पत्र ११७, २८१
(ड) 'व्यावृत्त —परिचारक , तस्य कर्म वैयावृत्त्य—परिचर्या ।'

३३ (क) 'आजीव-आजीविकाम्-आत्मवर्त्तनोपायाम ।' —सू कृ १।१३।१२ टीका, पत्र २३७
(ख) 'जाति-कुल-गण-कम्मे सिप्पे आजीवणा उ पचविहा ।' —अ. चू, पृ ६१
(ग) जाति कुले गणे वा, कम्मे सिप्पे तवे सुए चेव ।
सत्तविह आजीव, उपजीवइ जो कुसीलो उ ॥ —व्यवहारभाष्य, प २५३

गया है कि जो भिक्षु अकिंचन और रूक्षजीवी है, उसको गौरव (सम्मान) प्रिय, अथवा प्रशसाकामी होना—आजीव है। (आजीववृत्तिक) भिक्षु इस तत्त्व को नही समझता हुआ, पुन पुन. भवभ्रमण करता है।" व्यवहारभाष्य मे आजीव से जीने वाले भिक्षु को कुशील कहा गया है तथा यह उत्पादना के १० दोषो मे से एक है। निशीथभाष्य मे आजीववृत्तिता से प्राप्त आहार का सेवन करने वाले को आज्ञाभग, अनावस्था, मिथ्यात्व, और विराधना का भागी बताया है। आजीववृत्ति से जीने वाला साधु जिह्वालोलुप बन जाता है। वह मुधाजीवी नही रहता। उसमे दीनवृत्ति आ जाती है।[३४]

तप्तानिर्वृत भोजित्व . विश्लेषण—तप्त और अनिर्वृत ये दोनो विशेषण मिश्र जल तथा वनस्पति के लिए यहाँ प्रयुक्त है। जो जल गर्म (तप्त) होने के बाद अमुक समयावधि के बाद ठडा होने से सचित्त हो जाता है, उसे तप्तानिर्वृत जल कहते है। अगस्त्यसिंहचूर्णि के अनुसार ग्रीष्मकाल मे एक अहोरात्र के पश्चात् तथा हेमन्त और वर्षा ऋतु मे पूर्वाह्न मे गर्म किया हुआ जल अपराह्न मे सचित्त हो जाता है। तप्तानिर्वृत जल का एक अर्थ यह भी है कि जो जल गर्म तो हुआ हो, किन्तु पूर्णमात्रा मे अर्थात्—तीन बार उबाल आया हुआ (त्रिदण्डोद्वृत्त) न हो वह तप्तानिर्वृत जल है। इस शास्त्र मे तप्तप्रासुक जल लेने की आज्ञा है। जल और वनस्पति सचित्त होते है, वे शस्त्रपरिणत होने या अग्नि मे उबलने पर अचित्त हो जाते है। किन्तु जल और वनस्पति, यथेष्ट मात्रा मे उबाले हुए न हो तो उस स्थिति मे 'मिश्र' (कुछ सचित्त—कुछ अचित्त) रहते है। इस प्रकार के पदार्थों को तप्तानिर्वृत कहते है। तप्तानिर्वृत के साथ 'भोजत्व' शब्द है, इसलिए इसका सम्बन्ध 'भक्त और पान' दोनो से है। कुछ अनाज (धान्य) जो थोडी मात्रा मे, कही भुने हुए हो, कही नही, वे भी 'तप्तानिर्वृत' भोजन है।[३५]

(घ) 'आजीववृत्तिता जात्याद्याजीवनेनात्मपालनेत्यर्थ इय चानाचरिता।' —हा टी, पत्र ११७

(ङ) जाति ब्राह्मणादि अथवा मातु समुत्था जाति, कुल-- उग्रादि, अथवा पितृसमुत्थ कुलम्। कर्म-कृष्यादि, अन्ये त्वाहु -अनाचार्योपदिष्ट कर्म, शिल्प-तूर्णन-सीवनप्रभृति, आचार्योपदिष्ट तु शिल्पमिति। गण -मल्लादिवृन्दम्। —पिण्डनिर्युक्ति ४३८ टीका

(च) लिंग—साधुलिंग तदाजीवति, ज्ञानादिशून्यस्तेन जीविका कल्पयतीत्यर्थ।
—स्था ५।७१, टीका, प २८९

(छ) मल्लगणादिभ्यो गणेभ्यो गणविद्याकुशलत्व कथयति। तपस उपजीवना, क्षपकोऽहमिति जनेभ्य कथयति। श्रुतोपजीवना-बहुश्रुतोऽहमिति। —व्यवहारभाष्य २५३ टीका

(ज) सा चाजीवना द्विधा-सूचया, असूचया च। तत्रा सूचा वचन भगिविशेषेण कथनम् असूचा-स्फुटवचनेन।

३४ (क) सूत्रकृ १।१३।१२ (ख) उत्तरा १५।१६ (ग) आवश्यकसूत्र (घ) निशीशभाष्य गा ४४१०

३५. (क) तत्त पाणीय त पुणो सीतलीभूतमनिव्वुड भण्णइ त च ण गिण्हे, रत्तिपज्जुसिय (अहोरत्तेण) सचित्तीभवइ, हेमन्तवासासु पुव्वण्हे कय अवरण्हे सचिलीभवति, एव सचित्त जो भु जइ सो तत्तानिव्वुडभोई भवइ, हेमन्तवासासु पुव्वण्हे कय अवरण्हे सचिलोभवति, एव सचित्त जो भु जइ सो तत्तानिव्वुडभोई भवइ। —जिन चूणि, पृ ११४

(ख) 'जाव णातीव अगणिपरिणत त तत्त-अपरिणिव्वुड।' अहवा तत्तमवि तिण्णिवारे अणुव्वत्त अणिव्वुड।
—अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ६१

(ग) तप्ताऽनिर्वृतभोजित्व—तप्त च तदनिर्वृत च-अत्रिदण्डोद्वृत्त चेति विग्रह। उदकमिति विशेषणाऽन्यथानुपपत्त्या गम्यते, तद्भोजित्व-मिश्रसचित्तोदकभोजित्वमित्यर्थ। —हा. टी, पृ. ११७

आउरस्सरणाणि : दो रूप : पांच अर्थ—(१) **आतुरस्मरणानि**—(१) क्षुधादि से पीडित होने पर पूर्वभुक्त वस्तुओ का स्मरण करना, (२) पूर्वभुक्त कामक्रीडा का स्मरण करना, (३) रोगातुर होने पर माता-पिता आदि का स्मरण करना, (२) **आतुरशरणानि**—(४) शत्रुओ द्वारा पीड़ित या भयभीत गृहस्थ को शरण (उपाश्रय में स्थान) देना, (५) रुग्ण होने पर स्वय आतुरालय (आरोग्यशाला, हॉस्पिटल) में प्रविष्ट (भर्ती) होना। शत्रुओ से अभिभूत को शरण देना अनाचार इसलिए है कि जो साधु स्थान (आश्रय) देता है, उसे अधिकरण दोष होता है। साथ ही, उसके शत्रु के मन मे प्रद्वेष उत्पन्न होता है। आरोग्यशाला मे प्रविष्ट होना साधु के लिए अकल्पनीय होने से अनाचार है।[३६]

अनिर्वृत, सचित्त और आमक मे अन्तर—यो तो तीनो शब्द एकार्थक है, किन्तु प्रक्रिया का अन्तर है। जिस वस्तु पर शस्त्रादि का प्रयोग तो हुआ है, पर जो प्रासुक (जीवरहित) नही हो पाई हो, वह अनिर्वृत है। जिस पर शस्त्रादि का प्रयोग ही नही हुआ है, अर्थात् जो वस्तु मूलत ही सजीव है वह सचित्त है। आमक का अर्थ है—कच्चा, अपरिणत—अपरिपक्व अर्थात् जो फलादि सूर्य की धूप, वायु आदि से पके नही है, वे आमक (सजीव) हैं। तीनो शब्द सामान्यत सजीवता के द्योतक है।

इक्षुखण्ड : अनिर्वृत कब ?—जिस ईख मे दो पोर मौजूद हो, वह इक्षुखण्ड या गडेरी सचित्त ही रहता है, ऐसा चूर्णिद्वय और टीका का मत है।[३७]

कंद, मूल, बीज : विशेषार्थ—कद का अर्थ है शक्करकद। सूरण आदि का ऊपरी भाग यानि कन्दिल जड, और मूल का अर्थ है—इन्ही की सामान्य जड। जहाँ 'मूल-कन्द' शब्द का प्रयोग हो, वहाँ वह वृक्ष की जड और उसके ऊपर के भाग का द्योतक समझना चाहिए। बीज का अर्थ—गेहू, जो, तिल आदि है जो उगने योग्य हो।[३८]

---

३६ (क) 'आतुरस्मरणानि आतुरशरणानि वा।' — हारि टीका, पृ ११७, ११८
(ख) 'क्षुधाद्यातुराणा पूर्वोपभुक्तस्मरणाणि।' —वही, टीका, पृ ११७
(ग) छुहादीहिं परीसहेहिं आउरेण सीतोदकादि-पुव्वभुत्तसरण। — अगस्त्य, चूर्णि, पृ ६१
(घ) 'पूर्वक्रीडितस्मरणम।' —सू कृ १।९।२१
(ङ) आतुरस्य रोगपीडितस्य स्मरण हा तात ! हा मात ! इत्यादिरूपम्।
—उत्तरा. १५।८ नेमि टीका पृ २१७
(च) सत्तूहिं अभिभूतस्स सरण देइ, सरण नाम उवस्सए ठाण ति वुत्त भवइ। —जिन चूर्णि, पृ ११४
(छ) आतुरशरणानि वा दोषातुराश्रयदानानि। —हारि टीका प ११८
(ज) 'अहवा सरण आरोग्गसाला, तत्थ पवेसो गिलाणस्स (मुणिस्स)।' —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ६१
(झ) 'तत्थ अधिकरणदोसा, पदोस वा ते सत्तू जाएज्जा।' —अ चूर्णि, पृ ६१
(ञ) 'तत्थ न कप्पइ गिलाणस्य पविसिउ, एतमवि तेसिं अणाइण्ण।' —जिन चूर्णि, पृ ११४

३७. (क) अणिव्वुड 'पुण जीव-अप्पिजढ, 'आमग अपरिणत, सच्चित्त।' —अगस्त्य चूर्णि, पृ ६२
(ख) 'उच्छुखडमवि दोसु पोरेसु वट्टमाणेसु अणिव्वुड भवइ।' —जिन चूर्णि

३८. (क) 'कन्दो वज्रकन्दादि, मूल च सट्टामूलादि।' —हारि टीका, पत्र ११८
(ख) 'बीजा गोधूमतिलादिणो।' —जिन चूर्णि, पृ. ११५

सौवर्चल आदि लवण—यहाँ ६ प्रकार के लवण सचित्त हो तो अग्राह्य बताए है—(१) सौवर्चल, (२) सैन्धव, (३) रोमा, (४) सामुद्र, (५) पाशुक्षार और (६) कालालवण। **सौवर्चल**—सेचल नमक। अगस्त्य चूर्णि के अनुसार उत्तरापथ के एक पर्वत की खान से निकलता था, वह सौवर्चल लवण है। सम्भव है इसे 'लाहौरी नमक' कहते हो। **सैन्धव**—सेधा नमक, सिन्धु देश के पर्वत की खान से पैदा होने वाला नमक। आचार्य हेमचन्द्र इसे (सिन्धु) नदी में उत्पन्न होने वाला तथा हरिभद्रसूरि साभर का नमक मानते है।[३९]

रोमालवण : अर्थ—रूमा देश मे होने वाला, रूमाभव, साभर का नमक या रूमा अर्थात् लवण की खान मे उत्पन्न होने वाला। **सामुद्रलवण**—समुद्र के पानी को क्यारियो मे भर कर जमाया जाने वाला नमक सामुद्रलवण, साभर का लवण। **पांशुखार**—ऊपर जमीन से निकाला हुआ या खारी मिट्टी से निकाला हुआ क्षार नमक। **कालालवण**—चूर्णि के अनुसार—कृष्ण नमक, सैन्धव-पर्वत के बीच-बीच खानो मे होने वाला अथवा दक्षिण समुद्र के निकट होने वाला।[४०]

धूवणेत्ति : तीन रूप : तीन अर्थ—(१)**धूमनेत्र**—मस्तिष्कपीडा का रोग न हो, इस दृष्टि से धूम्रपान करना, (२) **धूमवर्त्ति**—धूमपानार्थ उपयुक्त होने वाली वर्त्ति (शलाका) रखना, उस वर्त्तिका का एक पार्श्व घी आदि स्नेह से चुपड कर धूमनेत्र पर लगाया जाता था, और दूसरे पार्श्व पर आग लगाई जाती थी। यह धूमपान खासी आदि को मिटाने के लिए वर्त्तिका द्वारा किया जाता था। (३) **धूपन-रोग**—शोक आदि से बचने के लिए या मानसिक आह्लाद के लिए धूप का प्रयोग करना अथवा अपने वस्त्र, शरीर या मकान को धूप से सुवासित करना। ये सब अनाचीर्ण है।[४१]

३९ (क) 'उत्तरापहे पव्वतस्स लवणखाणीसु सभवति।' —जिन चूर्णि, पृ ६२
(ख) सोवच्चल नाम सेधवलोणपव्वयस्स अतरतरेसु लोणखाणीओ भवति।' —जिन चूर्णि, पृ ११५
(ग) सेंधव सेधवलोणपव्वते सभवति। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ६२
(घ) 'सेधव तु नदीभवम्।' —अभि चि ४।७
(ङ) (सेधव) लवण च साभरिलवणम्। —हारि वृत्ति, पत्र ११८

४० (क) 'रुमालोण रुमाविसए भवइ।'' —जि चू, पृ ११५
(ख) 'रुमा लवणखानि स्यात्।' —अभिधानचिन्तामणि, ४-७
(ग) सामुद्दलोण समुद्दपाणीय, त खड्डीए निग्गतूण रिणभूमिए आरिज्जमाण लोण भवइ।' —जि चू पृ ११५ (घ) 'साभरीलोण सामुद्द' —अ चू, पृ ६२
(ङ) 'पाशुखारश्च ऊषरलवण।' —हारि टी, पत्र ११८ (च) 'तस्सेव सेन्धवपव्वयस्स अतरतरेसु काललोणखाणीओ भवति।' —जिन. चू., पृ. ११५ (छ) 'काललवण सौवर्चलमेवागन्ध्र दक्षिण-समुद्रसमीपे भवति इत्याह।' —चरक. सू. २७-२९६, पाद टि १

४१. (क) धूम पिबति—"मा शिररोगातिणो भविस्सति आरोगपडिकम्म। अहवा धूमणेत्ति धूमपानसलाका, धूवेति अप्पाण वत्थाणि वा। —अग. चू, पृ. ६२ (ख) चरक, सूत्र, ५-२३
(ग) तथा नो शरीरस्स स्वीयवस्त्राणा वा धूपन कुर्यात्, नाऽपि कासाद्यपनयनार्थं त धूम योगवर्तिनिष्पादि-तमापिबेदिति। —सू २-९-१५ टीका, पत्र २९९

विरेचन के तीन प्रयोग : वमन, वस्तिकर्म और विरेचन—वमन—ऊर्ध्वविरेक है, वस्तिकर्म मध्यविरेक है और विरेचन अधोविरेक। **वमन**—मदनफल आदि के प्रयोग से आहार को बाहर निकालना, पौष्टिक औषधिसेवन के पूर्व वमन करना आदि। **वस्तिकर्म**—वस्ति—चर्मनली, (वर्तमान में रबर-नली) के द्वारा कटिवात, अर्शरोग आदि को मिटाने के लिए अपानद्वार से तेल आदि चढाना। **विरेचन**—जुलाब लेकर मल निकालना। ये तीनो आरोग्यप्रतिकर्म हैं। अत प्रायश्चित्तसूत्र के अनुसार अरोगप्रतिकर्म की दृष्टि से तथा रूप, बल आदि को बनाए रखने की दृष्टि से वमनादि करना अनाचीर्ण एव निषिद्ध कहा गया है।[४२]

दंतवणे : दो रूप · तीन अर्थ—(१) **दन्तवन**—दातो को वन यानी वनस्पति या वृक्षजन्य काष्ठ से साफ करना, (२) मजन आदि से दातो को साफ (पावन) करना। (३) **दन्तवर्ण**—दांतों को मिस्सी आदि लगा कर रगना, दाँतो को विभूषित करना।[४३]

गात्राभ्यंग : विलेवण—शरीर का तेल, घृत, वसा, चर्बी अथवा नवनीत से मालिश या मर्दन करना, भिक्षु के लिए प्रायश्चित्तयोग्य अनाचरणीय कर्म है, ऐसा निशीथसूत्र का विधान है।[४४]

विभूसणे : विभूषा—शरीर को वस्त्र, आभूषण आदि से मण्डित करना, केश-प्रसाधन करना, दाढी, मूछ, नख आदि को शृगार की दृष्टि से काटना, शरीर की साज-सज्जा करना आदि विभूषा है। विभूषा ब्रह्मचर्य के लिए घातक है। इसी शास्त्र मे विभूषा को १८ वां वर्ज्यस्थान तथा आत्मगवेषी पुरुष के लिए तालपुट विष कहा है। उत्तराध्ययन मे नौवी ब्रह्मचर्यगुप्ति के सन्दर्भ मे कहा गया है कि विभूषा करने वाला साधु स्त्रीजन द्वारा प्रार्थनीक हो जाता है। स्त्रियो द्वारा अभिलषित होने से उसके ब्रह्मचर्य में शंका, कांक्षा, विचिकित्सा उत्पन्न

---

४२ (क) वमन मदनफलादिना। —हा. टी., पत्र ११८
(ख) वमन ऊर्ध्वविरेक। —सू कृ. १-९-१२ टीका पत्र १८०
(ग) वत्थी-णिरोहाददाणत्थ चम्ममयो णालियाउत्तो कीरति, तेण कम्म—अपाणाण सिणेहाददाण वत्थिकम्म। —अ. चू., पृ. ६२
(घ) कडिवाय-अरिस-विणासणत्थ च अपाणद्वारेण वत्थिणा तेल्लादिप्पदाण वत्थिकम्म।
—निशीथ भाष्य, गा ४३३०, चूर्णि पृ ३९२
(ङ) वस्तिकर्म—पुटकेन अधिष्ठाने स्नेहदानम्। —हारि. वृत्ति, पत्र ११८
(च) विरेयण फलायादीहि सोधण। —अ चू, पृ ६२
(छ) विरेचन—निरूहात्मकमधोविरेको। —सू १-९-१२, टी १८०
(ज) 'एतानि आरोग्गपडिकम्माणि रूव-बलत्थमणातिण्ण।' —अगस्त्य-चूर्णि, पृ. ६२
(झ) प्रायश्चित्तयोग्य—वण्ण-सर-रूव-मेहा, वग-वलीपलित-णासट्ठा वा।
दीहाउ-सट्ठता वा, थूल-किसट्ठा व त कुज्जा॥ —निशीथ भाष्य, गा. ४३३१

४३. (क) दन्ता पूयन्ते—पवित्रीक्रियन्ते वेन काष्ठेन तद्दन्तपावनम्। —प्रवचन. ४-२१०, टीका प. ५१
(ख) दन्तप्रक्षालनम् चांगुल्यादिना क्षालनम्। —हारि. टीका, पत्र ३१७
(ग) दतमणं—दसणाण (विभूसा) —अगस्त्य-चूर्णि, पृ. ६२

४४. निशीथ ३-२४

हो जाती है और अन्त मे या तो उसका ब्रह्मचर्य भग्न हो जाता है या वह उन्माद को प्राप्त हो जाता है, दीर्घव्याधिग्रस्त हो जाता है अथवा वह सर्वज्ञप्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। अतः ब्रह्मचारी के लिए विभूषात्याग अनिवार्य है। विभूषानुवर्ती भिक्षु चिकने कर्म बाधता है, जिसके कारण वह दुरुत्तर घोर ससारसागर मे गिर जाता है।[४५]

निर्ग्रन्थों के लिए पूर्वोक्त अनाचीर्ण अनाचरणीय

२६. सव्वमेयमणाइण्णं निग्गंथाण महेसिणं।
संजमम्मि य जुत्ताणं लहुभूय विहारिणं ॥१०॥

[२६] 'जो सयम (और तप) मे तल्लीन (उद्युक्त) है, वायु की तरह लघुभूत होकर विहार (विचरण) करते हैं, तथा जो निर्ग्रन्थ महर्षि हैं, उनके लिए ये सब अनाचीर्ण (अनाचरणीय) है।' ॥ १० ॥

विवेचन—ये सब अनाचीर्ण क्यों और किन के लिए?—प्रस्तुत गाथा में पूर्वोक्त ५२ अनाचारो का उपसहार करते हुए शास्त्रकार ने विशेष रूप से प्रतिपादित किया है कि ये सब अनाचीर्ण किन के लिए और क्यो है?

चार अर्हताओं से युक्त श्रमणवरो के लिए ये अनाचीर्ण—(१) सयम में युक्त, (२) लघुभूत विहारी, (३) निर्ग्रन्थ और (४) महर्षि या महैषी। इन चार अर्हताओ से युक्त श्रमणों के लिए ये आजीवन अनाचरणीय हैं। क्योकि ये सयम के विघातक हैं।

विशेष बात यह कि पूर्वोक्त ५२ अनाचीर्णों मे से कई अनाचीर्ण ऐसे भी है, जिन्हे सद्गृहस्थ भी वर्जित समझते है और उनसे दूर रहते है, तब फिर जिनका तप-सयम उच्च एव उज्ज्वल है, वे महर्षि इन अनाचीर्णों से सर्वथा दूर रहे, इसमे आश्चर्य ही क्या?[४६]

संजमम्मि य जुत्ताण—सयम मे उद्युक्त—तत्पर या तल्लीन।[४७]

लघुभूतविहारी—(१) वायु की तरह अप्रतिबद्ध विहारी—द्रव्य (उपकरणो) से भी हल्के एव भाव (कषाय) से भी हल्के होकर विचरण करने वाले, (२) मोक्ष के लिए विहार करने वाले, सयम मे विचरण करने वाले।[४८]

---

४५ उत्तराध्ययन, अ १६-११

४६ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. ४७

४७. (क) हारि. वृत्ति, पत्र ११८
(ख) युक्त इत्युच्यते योगी युक्त समाहित।—गीता शाकरभाष्य ६-८, पृ १७७

४८ (क) "लघुभूतो—वायु, ततश्च वायुभूतोऽप्रतिबद्धतया विहारो येषा ते लघुभूतविहारिण।"
—हारि वृत्ति, पत्र ११८
(ख) "लघुभूतो मोक्ष सयमो वा, त गन्तु शीलमस्येति लघुभूतगामी।"
—आचा. ३-४९, शीलाक वृत्ति, पत्र १४८

निर्ग्रन्थों का विशिष्ट आचार

२७. पंचासव-परिन्नाया, तिगुत्ता छसु संजया ।
पंचनिग्गहणा धीरा, निग्गथा उज्जुदंसिणो ॥११॥

२८. आयावयंति गिम्हेसु, हेमंतेसु अवाउडा ।
वासासु पडिसंलीणा, संजया सुसमाहिया ॥१२॥

२९. परीसह-रिऊ-दंता, धुयमोहा जिइंदिया ।
सव्वदुक्खप्पहीणट्ठा पक्कमंति महेसिणो ॥१३॥

[२७] (वे पूर्वोक्त) निर्ग्रन्थ पाच आश्रवो को भलीभाति जान कर उनका परित्याग करने वाले, तीन गुप्तियो से गुप्त, षड्जीवनिकाय के प्रति सयमशील, पाच इन्द्रियो का निग्रह करने वाले, धीर और ऋजुदर्शी होते है ॥ ११ ॥

[२८] (वे) सुसमाहित सयमी (निर्ग्रन्थ) ग्रीष्मऋतु मे (सूर्य की) आतापना लेते हैं, हेमन्त-ऋतु मे अपावृत (खुले वदन) हो जाते है, और वर्षाऋतु मे प्रतिसलीन हो जाते हैं ॥ १२ ॥

[२९] (वे) महर्षि परीषहरूपी रिपुओ का दमन करते हैं, मोह (मोहनीय कर्म) को प्रकम्पित कर देते है और जितेन्द्रिय (होकर) समस्त दु खो को नष्ट करने के लिए पराक्रम करते है ॥ १३ ॥

विवेचन—अनाचीर्णत्यागी निर्ग्रन्थों की १४ आचार-अर्हताएँ—प्रस्तुत तीन गाथाओ (११-१२-१३) मे पूर्वोक्त अनाचीर्णत्यागी निर्ग्रन्थ महर्षियो की आचार-अर्हताएँ प्रस्तुत की है। तात्पर्य यह है—जिनका आचार इतना कठोर होगा, जिन निर्ग्रन्थो की ऐसी कठोर आचारचर्या (प्रणाली) होगी, वे ही अनाचीर्णो से सर्वथा दूर रहने मे सक्षम होगे। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पंचाश्रव-परिज्ञाता—जिनसे आत्मा मे कर्मो का आगमन होता है, वे आश्रव कहलाते है। वे आश्रव मुख्यतया पाच है—हिसा, असत्य, अदत्तादान, मैथुन और परिग्रह। ये पाच आश्रव (आश्रव-द्वार) है। वैसे आगमो मे कर्मो के आश्रव (आगमन) के पाच कारण बताए हैं—(१) मिथ्यात्व, (२) अविरति, (३) प्रमाद, (४) कषाय और (५) योग। आश्रव के कारण होने से इन्हे भी आश्रव कहा जाता है। 'परिज्ञा' शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। उसके दो प्रकार है—'ज्ञपरिज्ञा' और 'प्रत्याख्यानपरिज्ञा।' जो पचाश्रव के विषय मे दोनो परिज्ञाओ से युक्त हैं वे ही पचाश्रवपरिज्ञाता हो सकते है। ज्ञपरिज्ञा से पाचो आश्रवो का स्वरूप भलीभाति जाना जाता है, और प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनका परित्याग किया जाता है। तात्पर्य यह है कि जो पाचो आश्रवो को अच्छी तरह जान कर उन्हे त्याग चुका है, या उनका निरोध कर चुका है, वही पचाश्रवपरिज्ञाता होता है। जो केवल आश्रवो को जानता है, और जानते हुए भी उनका आचरण करता है, वह पचाश्रव-परिज्ञाता नही, अपितु बालकवत् अज्ञानी है।[४९]

---

४९ जिनदास चूर्णि, पृ ११६

'त्रिगुप्त'—मन, वचन और काया, इन तीनो की विषय-कषायो या पापो से रक्षा (गुप्ति) करना, क्रमशः मनगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति है। जिसकी आत्मा इन तीन गुप्तियो से रक्षित (गुप्त—निगृहीत) है, वह 'त्रिगुप्त' है।[५०]

'छसु संजया'—पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय तथा त्रसकाय मे ससार के समस्त प्राणी अन्तर्गत है। जो साधक इन षड्जीवनिकायो के प्रति मन-वचन-काय से सम्यक् प्रकार से यत (यतनाशील) है, सयमी है, वह सयत है।[५१]

पंचनिग्गहणा—इन्द्रियाँ पाँच है—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय, इन पाचो इन्द्रियो का दमन करने वाले साधक 'पचेन्द्रियनिग्रही' कहलाते हैं।[५२]

धीरा : तीन अर्थ—(१) जो बुद्धि से सुशोभित (राजित) हैं, वे धीर हैं, अर्थात्—जिनकी प्रज्ञा स्थिर है, (२) जो धैर्यगुण से युक्त है और (३) जो शूरवीर (सयम मे पराक्रम करने मे वीर) है।[५३]

उज्जुदसिणो : ऋजुदर्शी : पांच अर्थ—(१) जिनदास महत्तर के अनुसार जो केवल ऋजु—सयम को देखते (ध्यान रखते) है, (२) जो स्वपर के प्रति ऋजुदर्शी—समदर्शी है, अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार—(३) ऋजुदर्शी—रागद्वेषपक्षरहित—(समत्वदर्शी) (४) अविग्रहगति-दर्शी, अथवा (५) मोक्षमार्ग-दर्शी। तात्पर्य यह है कि जो मोक्ष के सीधे-सरल मार्गरूप सयम को ही उपादेयरूप से देखते है, एकमात्र सयम से प्रतिबद्ध है, वे ऋजुदर्शी है।[५४]

निर्ग्रन्थो की ऋतुचर्या—ऋतुएँ मुख्यतया तीन है—ग्रीष्म, शीत (हेमन्त) और वर्षा। श्रमण निर्ग्रन्थो की इन तीनो ऋतुओ की चर्या तपश्चरण एव सयम से युक्त होती है। अगस्त्यचूर्णि मे बताया है कि ग्रीष्मऋतु मे श्रमण को स्थान, मौन एव वीरासनादि विविध तप करना चाहिए, विशेषत एक पैर से खडे होकर सूर्य के सम्मुख मुख करके खडे-खडे आतापना लेनी चाहिए। जिनदास महत्तर ने 'ऊर्ध्वबाहु होकर उकडू आसन से आतापना लेने का अभिप्राय व्यक्त किया है।

---

५०. (क) 'मण-वयण-कायजोगनिग्गहपरा। —अ चू, पृ. ६३
(ख) त्रिगुप्ता —मनोवाक्कायगुप्तिभि गुप्ता। —हारि वृत्ति, पत्र ११८

५१ (क) छसु पुढविकायादिसु त्रिकरण-एकभावेण जता-सजता। —अ. चू, पृ ६३
(ख) षट्सु जीवनिकायेषु पृथिव्यादिषु सामस्त्येन यता। —हारि वृत्ति, पत्र ११९

५२ 'सोतादीणि पच इदियाणि णिगिण्हति। — अगस्त्य चूर्णि, पृ ६३

५३ (क) 'धीरा बुद्धिमन्त स्थिरा वा।' —हारि वृत्ति, पत्र ११९
(ख) 'धीरा णाम धीरत्ति वा सूरेत्ति वा एगट्ठा।'

५४ (क) उज्जू-सजमो तमेव एग पासतीति तेण उज्जुदसिणो। अहवा उज्जुत्ति सम भण्णइ, सममप्पाण पर च पासतीति उज्जुदसिणो। —जिन चूर्णि, पृ ११६
(ख) ' उज्जू—रागदोसपक्खविरहिता, अविग्गहगती वा उज्जू—मोक्खमग्गो त पस्सतीति उज्जुदसिणो।' —अग चूर्णि, पृ ६३।
(ग) ऋजुदर्शिनः—सयमप्रतिबद्धा। —हा टी., पृ ११९

जो वैसा न कर सके, वे अन्य तप करे। हेमन्तऋतु (शीतकाल) मे अपावृत अर्थात्—प्रावरण (चादर) से रहित होकर अग्नि तथा निर्वात स्थान के आश्रय से दूर रह कर तपोवीर्यसम्पन्न श्रमण प्रतिमास्थित होने चाहिए तथा वर्षाऋतु मे स्नेह—सूक्ष्मजल के स्पर्श से बचने के लिए, वह पवनरहित आवासस्थान मे रहे, ग्रामानुग्राम विचरण न करे। तथा उन्हे अपनी इन्द्रियो और मन को आत्मा मे सलीन करके एक स्थान मे स्थित होकर तपोविशेष मे उद्यम करना चाहिए।[५५]

सुसमाहित संयत—जो सयमी साधु-साध्वी अपने सिद्धान्तो के प्रति भलीभाति समाधान-प्राप्त हैं, अथवा मन मे सुनिश्चित है, वे सुसमाहित हैं, अथवा जिनका मन समाधि (अर्थात्—रत्नत्रय में अथवा श्रुत, विनय, आचार और तप रूप चार प्रकार की समाधि मे) अचल है।[५६]

परीषहरिपुदान्त—मोक्षमार्ग से विचलित या भ्रष्ट न होने तथा कर्मनिर्जरा के लिए जिनका समभाव से सहन करना आवश्यक है, उन्हे परीषह कहते है। वे क्षुधा, पिपासा, शीत, उष्ण आदि बाईस हैं। उन्हे रिपु (शत्रु) इसलिए कहा गया है कि वे दुर्दम है। उनके सम्पर्क से साधक के मोक्षमार्ग से च्युत होने की सभावना रहती है। किन्तु निर्ग्रन्थ इन परीषह-रिपुओ को भलीभाति जीत लेता है।[५७]

धुतमोह—मोह का अर्थ टीकाकार ने अज्ञान किया है, किन्तु मोह का अर्थ मोहनीय कर्म या मोह (आसक्ति) भी होता है। धुतमोहा का अर्थ है—जिन्होने मोह को प्रकम्पित कर दिया है, मोह की जडे हिला दी है। उसे विक्षिप्त या पराजित कर दिया है।[५८]

सव्वदुक्खपहीणट्ठा—दु ख ससार मे ही है, मोक्ष मे नही। इसीलिए जन्म-मरणरूप ससार को दु खमय बताया गया है। उन समस्त शारीरिक, मानसिक दु खो के निवारण या विनाश के लिए महर्षि (अनन्तसुखमय मोक्ष के लिए) पराक्रम करते है। उत्तराध्ययन सूत्र मे बताया है—

---

५५. (क) अगस्त्यचूर्णि, पृ. ६३
(ख) जिनदास चूर्णि, पृ. ११६
(ग) हारि टीका, पत्र ११९
(घ) अगस्त्यचूर्णि, पृ ६३
(ङ) 'सदा इदिय—णोइद्विय पडिसलीणा, विसेसेण सिणेहसघट्टपरिहरणत्थ निवालतणगता वासासु पडिसलीणा ण गामाणुगाम दुतिज्जति।" —अ चू पृ ६३
(च) वासासु पडिसलीणा नाम (एक) आश्रयस्थिता इत्यर्थ। तवविसेसेसु उज्जमति, नो गामनगराइसु विहरति। —जिन चू, पृ ११६

५६ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ ५०
(ख) दशवै. (आचारमणिमजूषा) भा १, पृ १८९

५७ 'मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा।' —तत्त्वार्थसूत्र ९-८, उत्तरा अ २

५८ (क) 'धुतमोहा' विक्षिप्तमोहा इत्यर्थ। मोह अज्ञानम्। —हारि टीका, पत्र ११९
(ख) मोहो—मोहणीयमण्णाण वा। —अगस्त्य चू, पृ ६४
(ग) धुयमोहा नाम जितमोहत्ति वुत्त भवइ। —जिन चूर्णि, पृ ११७
(घ) 'जो विहुणइ कम्माइ भावधुय त वियाणाहि' —आचाराग निर्युक्ति, गा. २५१

जन्म, जरा, रोग, मृत्यु आदि दु:ख है। यह ससार ही दु खरूप है, जहाँ प्राणी क्लेश पाते है।[५९] उत्तराध्ययनसूत्र मे ही बताया है कि 'कर्म ही जन्म-मरण का मूल है, और जन्म-मरण ही दु ख है।'[६०] इस वाक्य का तात्पर्य यह हुआ कि जितेन्द्रिय महर्षि जन्म-मरण के दु खो, अर्थात् उनके निमित्त-भूत कर्मों के क्षय के लिए पुरुषार्थ करते है। कर्मों का क्षय होने से समस्त दु:ख स्वत. ही क्षीण हो जाते है।[६१]

शुद्ध श्रमणाचार-पालन का फल

३०. **दुक्कराइ करेत्ता णं, दुस्सहाइं सहेत्तु य।**
केइत्थ देवलोएसु, केइ सिज्झंति नीरया ॥ १४ ॥

३१. **खवेत्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।**
सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता, ताइणो परिनिव्वुडा ॥ १५ ॥
—त्ति बेमि ॥

॥ खुड्डियायारकहा : तइयं अज्झयण समत्तं ॥

[३०] दुष्कर (अनाचीर्णों का त्याग एव आतापना आदि क्रियाओ) का आचरण करके तथा दु सह (परीषहो और उपसर्गों) को सहन कर, उन (निर्ग्रन्थो) मे से कई देवलोक में जाते है और कई नीरज (कर्मरज से रहित) होकर सिद्ध हो जाते है ॥१४॥

[३१] (देवलोक से क्रमश) सिद्धिमार्ग को प्राप्त, (स्व-पर के) त्राता (वे निर्ग्रन्थ) सयम और तप के द्वारा पूर्व—(सचित) कर्मों का क्षय करके परिनिर्वृत्त (मुक्त) हो जाते है ॥१५॥
—ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—दुष्कर और दु:सह आचरण का परिणाम—प्रस्तुत दो गाथाओ (१४-१५) मे पूर्वोक्त अनाचीर्णों का त्याग एव कठोर आचार का परिपालन करने वाले निर्ग्रन्थो को प्राप्त होने वाले अनन्तरागत और परम्परागत फल का निरूपण किया गया है।

दुक्कराइं करेत्ता—आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार—औद्देशिक आदि पूर्वोक्त अनाचीर्णों का त्याग आदि दुष्कर है, उसे करके। उत्तराध्ययनसूत्र मे इसका विशद निरूपण है कि श्रमण निर्ग्रन्थ के लिए क्या-क्या दुष्कर है ?'[६१]

दुस्सहाइं सहेत्तु—अगस्त्यचूर्णि के अनुसार ग्रीष्मऋतु मे आतापना आदि श्रमणो के पूर्वोक्त आचार दु सह है, उनको समभावपूर्वक सहन करके। जिनदास महत्तर के अनुसार—आतापना,

---

५९ जम्म दुक्खं जरा दुक्ख रोगा य मरणाणि य।
अहो दुक्खो हु ससारे जत्थ कीसति जतवो ॥ —उत्तरा अ. १९-१५

६०. कम्म च जाई-मरणस्स मूल, दुक्ख च जाई-मरण वयति। —उत्तरा ३२।७

६१ 'दुष्कराणि कृत्वा औद्देशिकादि—(अनाचीर्णादि) त्यागादीनि।' —हारि वृत्ति पत्र ११९

अकड़ूयन, आक्रोश, तर्जना, ताडना आदि का सहन करना दु सह है। तात्पर्य यह है कि श्रमण जीवन मे जो अनेक दु सह परीषह और दु सह्य उपसर्ग आते है, उन्हे समभावपूर्वक सहन करे। दु सह परीषहों और उपसर्गों के प्राप्त होने पर जो साधक क्षुब्ध एव खिन्न होकर रोते-बिलखते दीनतापूर्वक सहन करते हैं, वे कर्मक्षय नही कर पाते, किन्तु जो उन्हे शान्तभाव से समभावपूर्वक किसी निमित्त को दोष न देते हुए सहन कर लेते हैं, वे पूर्वकृत कर्मों को क्षीण कर देते है।[६२]

दो परिणाम - पूर्वोक्त आचरण से कई निर्ग्रन्थ श्रमण, जिनके कर्मक्षय करने शेष रह गए हैं, वे पूर्वकृत शुभकर्मो के फलस्वरूप देवलोक मे जाते है, किन्तु कई श्रमण, जो **नीरजस्क**, अर्थात्—आठो ही प्रकार के कर्मों से सर्वथा मुक्त हो जाते है, वे उसके फलस्वरूप सिद्ध-बुद्ध-मुक्त हो जाते हैं। मासारिक जीवो की आत्मा मे कर्मपुद्गलो की रज, कुप्पी मे काजल की तरह ठूस-ठूस कर भरी हुई होती है, उसे पूर्ण रूप से सर्वथा बाहर निकालने (अष्टविधकर्म का अत्यन्तिक क्षय करने) पर आत्मा नीरज या **नीरजस्क** हो जाती है।[६३]

ताइणो सिद्धिमग्गमणुप्पत्ता—जो साधक इसी भाव मे मोक्ष नही पाते, वे देवलोक मे उत्पन्न होते है। वहाँ का आयुष्य पूर्ण करके अवशिष्ट कर्मो का क्षय करने हेतु मनुष्यभव मे उत्पन्न होते है, जहाँ उन्हे इस प्रकार का उत्तम सुयोग मिलता है कि वे ससार से विरक्त होकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्ष (सिद्धि) मार्ग को क्रमश प्राप्त कर लेते है। निर्ग्रन्थ मुनि होकर षट्काय के त्राता (रक्षक) बन जाते है। यही इन विशेषणो का आशय है।[६४]

सयम और तप द्वारा कर्मक्षय क्यो और कैसे?—जब षट्काय के रक्षक, निर्ग्रन्थ मुनि मोक्षमार्ग पर आरूढ होते हैं, तब उनका उद्देश्य पूर्वसचित कर्मों का क्षय करना और नये आते हुए कर्मो को रोकना ही रह जाता है। क्योकि सर्वथा कर्मक्षय किये बिना वे नीरजस्क और मुक्त नही हो सकते। कर्मक्षय करने के दो ही अमोघ उपाय है—सयम और तप। सयम से नये कर्मों का आश्रव रुक जाता है, अर्थात्—सयम—सवर नूतन कर्मों के आश्रव (आगमन) को रोक देना है और तप पूर्वसचित कर्मों को नष्ट कर देता है।

सयम और तप के द्वारा असख्य भवो मे सचित कर्म कैसे नष्ट हो जाते है? यह तथ्य उत्तराध्ययन मे एक रूपक द्वारा समझाया गया है। जैसे किसी बडे तालाब मे पानी के आने के मार्ग को रोक देने पर, तथा पूर्वसचित जल को उलीचने से और सूर्य का ताप लगने से वह जल क्रमश सूख जाता है, उसी प्रकार पापकर्मों के आश्रव (आगमन) सयम (सवर) से रुक जाने पर बारह प्रकार के सम्यक् तप से सयमी पुरुष के भी करोडो भवो मे सचित कर्म निर्जीर्ण (क्षीण) हो जाते है।

---

६२ (क) 'आयावयति गिम्हेसु' एवमादीणि दुस्सहादीणि (सहेत्तुय) —अगस्त्य चूर्णि पृ ६४
(ख) आतापना—अकड़ूयनाक्रोश-तर्जना-ताडनाधिसहनादीनि, दूसहाइ सहिउ। —जिन चू पृ ११७
(ग) 'परीसहा दुव्विसहा अणेगे सगामसीसे इव नागराया।' —उत्तराध्ययन अ २१।१७-१८

६३ 'णीरया नाम अट्ठ (विह) कम्मपगडी-विमुक्का भण्णति।' —जिन. चूर्णि, पृ ११७

६४. सिद्धिमग्ग दरिसण-नाण-चरित्तमत अणुप्पत्ता। —अ चू. पृ. ६४

तात्पर्य यह है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-तपश्चरणरूप सिद्धिमार्ग पर आरूढ़ निर्ग्रन्थ श्रमण की आत्मा सयम और तप की साधना से क्रमश सर्वथा विशुद्ध—सर्वकर्मनिर्मुक्त हो जाती है।

परिनिव्वुडा—परिनिर्वृत्त होते है—जन्म, जरा, मरण, रोग आदि से सर्वथा मुक्त होते हैं, भवधारण करने मे सहायक अघाति और घाति सर्वकर्मो का सब प्रकार से क्षय करके जन्ममरणादि मे रहित हो जाते है, सर्वथा निर्वाण (सिद्धि—मुक्ति) को प्राप्त होते है।

॥ तृतीय : क्षुल्लिकाचारकथा अध्ययन समाप्त ॥ □

चउत्थं अज्झायणं : चतुर्थ अध्ययन

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

प्राथमिक

- यह दशवैकालिक सूत्र का चतुर्थ अध्ययन है। इसका नाम 'षड्जीवनिका' अथवा 'षड्जीवनिकाया' है। इसका दूसरा नाम 'धर्मप्रज्ञप्ति' भी है,[1] जिसका उल्लेख प्रारम्भ मे ही शास्त्रकार ने किया है। निर्युक्तिकार के मतानुसार यह अध्ययन आत्मप्रवाद (सप्तम) पूर्व से उद्धृत किया गया है।[2]
- यह अध्ययन गद्य और पद्य दोनो मे ग्रथित है। इसका गद्यविभाग प्रारम्भ मे प्रश्नोत्तररूप मे निबद्ध है।
- इस अध्ययन के प्रारम्भ में समग्र विश्व के छह प्रकार (निकाय) के जीवो के स्वरूप और प्रकार का वर्णन होने से इसका नाम 'षड्जीवनिका' या 'षड्जीवनिकाया' रखा गया है। निर्युक्तिकार के अनुसार जीवाजीवाभिगम, आचार, धर्मप्रज्ञप्ति, चारित्रधर्म, चरण और धर्म ये छहो शब्द 'षड्जीवनिका' के पर्यायवाची है।[3]
- परन्तु इससे आगे का वर्णन स्पष्टत श्रुतधर्म और चारित्रधर्म को अथवा सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म को व्यक्त करता है, इसलिए इसका दूसरा नाम 'धर्मप्रज्ञप्ति' भी रखा गया है। वस्तुतः इस अध्ययन का 'धर्मप्रज्ञप्ति' नाम समग्र-अध्ययनस्पर्शी है और वह उचित भी है।
- उसी के अन्तर्गत 'श्रुतधर्म' या सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान मे 'षड्जीवनिकाय' का समावेश हो जाता है।
- यह एक सैद्धान्तिक तथ्य है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना अथवा श्रुतधर्म के बिना चारित्र सम्यक् नही होता, सम्यक्चारित्र के बिना मोक्ष नही हो सकता।[4]

---

१. (क) दशवै (आचारमणिमञ्जूषा टीका) भा १, पृ १९८
   (ख) " अज्झयण धम्मपन्नत्ती।" अ. ४, सू १
२. 'आयप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ धम्मपन्नत्ती।' दशवै निर्युक्ति १।१६
३. जीवाजीवाभिगमो आयारो चेव धम्मपन्नत्ती।
   ततो चरित्तधम्मो चरणे धम्मे य एगट्ठा ॥—दशवै निर्युक्ति ४।२३३
४. नादसणिस्स नाण, नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
   अगुणिस्स णत्थि मोक्खो, नत्थि अमुक्खस्स निव्वाण ॥ उत्तरा अ २८ गा. ३०

☐ स्थानागसूत्र में १० प्रकार के मिथ्यात्व का निरूपण है—जीव को अजीव, अजीव को जीव, धर्म (संवर-निर्जरारूप) को अधर्म और अधर्म को धर्म, साधु को असाधु और असाधु को साधु, अष्टविध कर्मों से मुक्त को अमुक्त और अमुक्त को मुक्त आदि जाने-माने और श्रद्धे तो मिथ्यात्व है। तत्त्वार्थसूत्र मे सम्यग्दर्शन का लक्षण भी यही बताया गया है—जीवादि तत्त्वो पर यथार्थ श्रद्धान करना।[५] तत्त्व नौ हैं—जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आश्रव, सवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। इन नौ तत्त्वो का मुख्य सम्बन्ध जीव से है। जीव न हो तो पुण्य-पाप आदि से लेकर मोक्ष तक के जानने मानने आदि का कोई प्रयोजन नही है। अजीव का ज्ञान तथा अजीवतत्त्व का श्रद्धान जीव से उसे पृथक् करने तथा जीव या जीवतत्त्व को निश्चित करने के लिए आवश्यक है।

☐ इसी दृष्टि से प्रस्तुत अध्ययन मे नौवें सूत्र तक सर्वप्रथम विश्व के समग्र जीवो को छह निकायो मे विभक्त करके उनका स्वरूप, उनकी चेतना, उनके सुख-दु.ख सवेदन, उनके प्रकार आदि का सक्षिप्त वर्णन किया गया है। यद्यपि पृथ्वीकाय आदि पाच प्रकार के एकेन्द्रिय (स्थावर) जीव लोकप्रसिद्ध नही है और साधारण छद्मस्थ साधक चर्मचक्षुओ से उनकी सजीवता का प्रत्यक्ष दर्शन नही कर सकता, तथापि सर्वज्ञ वीतराग तीर्थकर भगवन्तो के वचन पर श्रद्धा रख कर उनमे जीवत्व मानना, तथा युक्तियो एव तर्कों से उनमे जीवत्व जानना सम्यग्दृष्टि साधक का कर्त्तव्य है, जिससे कि वह अहिंसादि महाव्रतो का सम्यक् पालन कर सके। इसके लिए आगे इसी अध्ययन मे कोष्ठकान्तर्गत १२ गाथाए जिनप्रज्ञप्त पृथ्वीकायादि षड्जीवनिकायो के जीवत्व (चैतन्य) के अस्तित्व की श्रद्धा करने वाले साधक को ही उपस्थापन के योग्य मानने के विषय मे दी गई है।[६]

☐ यद्यपि इस अध्ययन मे अजीव का साक्षात् वर्णन नही है, तथाऽपि **'अन्नत्थ सत्थपरिणएणं'** आदि वाक्यो द्वारा तथा जीव-अजीव को न जानने वाला सयम को कैसे जान सकता है? इत्यादि गाथाओ द्वारा जीव-अजीव का यथार्थ ज्ञान तथा श्रद्धान अनिवार्य माना गया है।[७]

☐ दसवे से १७वे सूत्र तक अहिंसादि चारित्रधर्म के पालन की प्रतिज्ञा का निरूपण है। हिंसा-अहिंसा का, सत्य-असत्य का, चौर्य-अचौर्य का, ब्रह्मचर्य-अब्रह्मचर्य का तथा परिग्रह-अपरिग्रह का आचरण जीव और अजीव के निमित्त से होता है, इसलिए जीव-अजीव का निरूपण करने के पश्चात् अहिंसादि चारित्रधर्म के स्वीकार का निरूपण है।

☐ तत्पश्चात् १८वे से २३वे सूत्र तक पूर्वोक्त जीवो की यतना (अहिंसामहाव्रत से सम्बन्धित) का वर्णन है। फिर २४वी से ३२वी गाथा तक मे यतना से पापकर्म के अबन्ध और अयतना से बन्ध का वर्णन है।

---

५ (क) दसविहे मिच्छत्ते पन्नत्ते तं. धम्मे अधम्मसन्ना, जीवे अजीवसन्ना ।"—स्थानाग, स्था. १०
(ख) 'तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।'—तत्त्वार्थसूत्र अ. १. सू. २

६ पुढवीक्काइए जीवे सद्दहती जो जिणेहि पण्णत्ते। अभिगतपुण्णपावो से हु उवट्ठावणे जोग्गो ॥७॥
—दश. मू. पा., पृ. ७

७. "जीवाजीवे अयाणतो कह सो नाहीइ सजम?" दश मू. पा., अ. ४-३५, पृ. १६

- उसके बाद ३३वी गाथा से ३८वी गाथा तक जीव-अजीव आदि से लेकर मोक्ष तत्त्व तक के सम्यग्ज्ञान-विज्ञान का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध और महत्त्व बताया गया है। फिर ३९वी गाथा से ४८वी गाथा तक भोगो से निर्वेद से लेकर सिद्ध (मुक्त) होने तक की धर्मसाधना का निरूपण है।
- अन्तिम गाथाओ मे धर्माराधना के फल का दिग्दर्शन कराया गया है।[८]
- नवदीक्षित साधु या साध्वी के लिए जीव से मोक्ष तत्त्व तक हेय-ज्ञेय-उपादेय तत्त्वो की सम्यक् ज्ञान-दर्शन एव चारित्र की दृष्टि से सम्यक् आराधना का निष्कर्ष इस अध्ययन मे दे दिया गया है। साथ ही मोक्षमार्ग के अधिकारी साधक को इस मार्ग की आराधना करने की सागोपाग विधि इसमे बता दी गई है। सिद्धि के आरोहक्रम को जानने की दृष्टि से यह अध्ययन अतीव उपयोगी है। □

---

८ जीवाजीवाहिगमो चरित्तधम्मो तहेव जयणा य।
उवएसो धम्मफल छज्जीवणियाइ अहिगारा॥ —दश. नि. ४-२१६

चउत्थं अज्झयणं : चतुर्थ अध्ययन

छज्जीवणिया : षड्जीवनिका

षड्जीवनिकाय : नाम, स्वरूप और प्रकार

३२. सुयं मे आउसं[1] तेण भगवया एवमक्खायं—इह खलु छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेण पवेइया सुयक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउं अज्झयण धम्मपन्नत्ती ॥१॥

३३. "कयरा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेणं कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपण्णत्ता सेय मे अहिज्जिउ अज्झयणं धम्मपन्नत्ती ?" ॥२॥

३४. इमा खलु सा छज्जीवणिया नामज्झयणं समणेणं भगवया महावीरेण कासवेणं पवेइया सुयक्खाया सुपण्णत्ता सेयं मे अहिज्जिउ अज्झयणं धम्मपन्नती । त जहा—पुढविकाइया १, आउकाइया २, तेउकाइया ३, वाउकाइया ४, वणस्सइकाइया ५, तसकाइया ६ ॥३॥

३५ पुढवि चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा[1] पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥४॥

३६. आउ चित्तमतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण ॥५॥

३७. तेउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥६॥

३८. वाउ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥७॥

३९ वणस्सइ चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं, तं जहा—अग्गबीया मूलबीया पोरबीया खंधबीया बीयरुहा सम्मुच्छिमा तणलया वणस्सइकाइया सबीया, चित्तमंतमक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएणं ॥८॥

४०. से[2] जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा, तं जहा—अंडया पोयजा जराउया रसया संसेइमा सम्मुच्छिमा उब्भिया उववाइया जेसि केसिंचि पाणाणं अभिक्कंतं पडिक्कंतं सकुचियं पसारियं रुयं भंत तसियं पलाइयं, आगइ-गइ-विन्नाया, जे य कीड-पयगा, जा य कुंथु-पिवीलिया, सव्वे बेइंदिया, सव्वे तेइंदिया, सव्वे चउरिदिया, सव्वे पंचिंदिया, सव्वे तिरिक्खजोणिया, सव्वे नेरइया, सव्वे मणुया, सव्वे देवा, सव्वे पाणा परमाहम्मिया । एसो खलु छट्ठो जीवनिकाओ तसकाओत्ति पवुच्चइ ॥९॥

---

१ पाठान्तर—'अणेगे जीवा'

२. वृद्ध विवरण मे अधिक पाठ—"तसा चित्तमता अक्खाया अणेगजीवा पुढो सत्ता अन्नत्थ सत्थपरिणएण ।"

—दशवै. मूलपाठ टिप्पणयुक्त, पृ. ७

[३२] (सुधर्मस्वामी अपने सुशिष्य जम्बूस्वामी से) हे आयुष्मन् ! (जम्बू !) मैंने सुना है, उन भगवान् ने इस प्रकार कहा—इस (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) मे निश्चित ही (षट्काय के जीवो का निरूपण करने वाला) षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सुआख्यात और सुप्रज्ञप्त है। (इस) धर्मप्रज्ञप्ति (जिसमें धर्म की प्ररूपणा है) अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है ॥१॥

[३३ प्र] वह षड्जीवनिकाय नामक अध्ययन कौन-सा है, जो काश्यप-गोत्रीय श्रमण भगवान् द्वारा प्रवेदित है, सु-आख्यात और सुप्रज्ञप्त है, जिस धर्मप्रज्ञप्ति-अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है ? ॥२॥

[३४ उ] वह 'षड्जीवनिकाय' नामक अध्ययन, जो काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्रवेदित, सु-आख्यात और सुप्रज्ञप्त है, (और) जिस धर्मप्रज्ञप्ति-अध्ययन का पठन मेरे लिए श्रेयस्कर है, यह है, जैसे कि—पृथ्वीकायिक (जीव), अप्कायिक (जीव), तेजस्कायिक (जीव), वायुकायिक (जीव) वनस्पतिकायिक (जीव) और त्रसकायिक जीव ॥३॥

[३५] शस्त्र-परिणत के सिवाय पृथ्वी सचित्त (चित्तवती) कही गई है, वह अनेक जीवो और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाली है ॥४॥

[३६] शस्त्र-परिणत को छोड कर अप्काय (जल) सचित्त (सजीव) कहा गया है, वह अनेक जीवो और पृथक्-पृथक् सत्त्वो वाला है ॥५॥

[३७] शस्त्र-परिणमन हुए बिना अग्निकाय सचेतन (सजीव) कहा गया है। वह अनेक जीवो और पृथक्-पृथक् सत्त्वो से सम्पन्न होता है ॥६॥

[३८] शस्त्र-परिणत के सिवाय वायुकाय सचेतन कहा गया है। वह अनेक जीवो और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व) वाला है ॥७॥

[३९] शस्त्र-परिणत के सिवाय वनस्पति चित्तवती (सजीव) कही गई है। वह अनेक जीवो और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक के पृथक्-पृथक् अस्तित्व) वाली है। उसके प्रकार ये है—अग्रबीज, मूलबीज, पर्वबीज, स्कन्धबीज, बीजरुह, सम्मूर्छिम तृण और लता। शस्त्र-परिणत के सिवाय (ये) वनस्पतिकायिक जीव बीज-पर्यन्त सचेतन कहे गए है। वे अनेक जीव है और पृथक् सत्त्वो (प्रत्येक जीव स्वतन्त्र अस्तित्व) वाले है ॥८॥

[४०] (स्थावरकाय के) अनन्तर ये जो अनेक प्रकार के बहुत—से त्रस प्राणी है, वे इस प्रकार है—अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, सस्वेदज, सम्मूर्च्छिम, उद्भिज्ज (और) औपपातिक। जिन किन्ही प्राणियो मे अभिक्रमण (सम्मुख जाना), प्रतिक्रमण (पीछे लौटना), सकुचित होना (सिकुडना), प्रसारित होना (फैलना, पसरना), शब्द (आवाज) करना, भ्रमण करना (इधर-उधर गमन करना), त्रस्त (भयभीत) होना (घबराना), भागना (पलायित होना, दौडना)—आदि क्रियाएँ स्वत: प्रेरित) हो, तथा जो आगति और गति के विज्ञाता हो, (वे सब त्रस हैं।)

जो कीट और पतगे हैं, तथा जो कुन्थु और पिपीलिका (चीटियाँ आदि) हैं, वे सब द्वीन्द्रिय (स्पर्शन और रसन, इन दो इन्द्रियो वाले जीव), सब त्रीन्द्रिय (स्पर्शन, रसन और घ्राण इन तीन इन्द्रियो वाले जीव), समस्त चतुरिन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण और चक्षु, इन चार इन्द्रियो वाले जीव) तथा समस्त पचेन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र, इन पाच इन्द्रियों वाले जीव, यथा—) समस्त तिर्यञ्चयोनिक, समस्त नारक, समस्त मनुष्य, समस्त देव और समस्त प्राणी परम सुख-स्वभाव वाले हैं। यह छठा जीवनिकाय त्रसकाय कहलाता है ॥ ९ ॥

विवेचन—धर्मप्रज्ञप्ति का प्ररूपण—प्रस्तुत धर्मप्रज्ञप्ति, जो कि षड्जीव-निकाय अध्ययन का ही दूसरा नाम है भ महावीर के द्वारा प्रवेदित सु-आख्यात और सुप्रज्ञप्त है, यह प्रस्तुत अध्ययन के प्रारम्भ में कहा गया है। किन्तु 'आयुष्मन्' सम्बोधन के द्वारा कौन किससे कह रहा है? और किसने किस भगवान् से सुना है? यह भी यहाँ स्पष्ट नही है। हरिभद्रसूरि तथा चूर्णिकार जिनदास महत्तर का इस विषय मे स्पष्टीकरण यह है कि 'आयुष्मन्!' सम्बोधन गणधर श्रीसुधर्मास्वामी के द्वारा अपने प्रिय सुशिष्य जम्बूस्वामी के लिए किया गया है। तथा 'मैंने सुना है' का अभिप्राय है—सुधर्मास्वामी ने सुना है। उन भगवान् ने ऐसा कहा है, इसका स्पष्टीकरण किया गया है कि भगवान् महावीर ने ऐसा कहा है। परन्तु इसको आगे के पाठ के साथ सगति नही बैठती कि भगवान् ही अपने मुह से यह कहे कि काश्यपगोत्रीय श्रमण भगवान् महावीर ने ऐसा प्रवेदित किया, कहा आदि। अत जैसे उत्तराध्ययन के १६वे अध्ययन मे **'थेरेहिं भगवंतेहिं'** कह कर स्थविर भगवन्तो को उसका प्ररूपक माना गया, इसी प्रकार यहाँ प्रथम बार आया हुआ 'भगवान्' शब्द भ महावीर का द्योतक न होकर शास्त्रकार के किसी प्रज्ञापक आचार्य या स्थविर भगवान् का द्योतक प्रतीत होता है। अर्थात् मैने उन (अपने प्रज्ञापक आचार्य) भगवान् से ऐसा सुना है। यही आशय सगत बैठता है।[1]

आउसं तेण भगवया : चार रूप, अर्थ और व्याख्या—**(आउसं तेण)** (१) **आयुष्मन्! तेन भगवता**—हे आयुष्मन् जम्बू! उन प्रज्ञापक आचार्य भगवान् ने। (२) **(आउसतेण भगवया) आयुष्मता भगवता**—आयुष्मान् (चिरजीवी) भगवान् ने। (३) **आवसंतेण (आवसता मया)** = गुरुकुल (गुरुचरणो) मे रहते हुए मैने (सुना)। (४) **आमुसतेण (आमृशता मया)**—मस्तक से चरणो का स्पर्श (आमर्श) करते हुए (मैंने सुना)।[2]

'आयुष्मन्' सम्बोधन का रहस्य—जिसकी अधिक आयु हो उसे आयुष्मान् कहते है। 'आउस' या 'आउसो' शब्द द्वारा शिष्य को आमन्त्रित (सम्बोधित) करने की पद्धति जैन-बौद्ध आगमो में यत्र-

---

१ (क) तेन भगवता वर्धमानस्वामिना। हारि टी, पृ १३६
(ख) भावसमण-भावभगवत महावीरग्गहणनिमित्त पुणो गहण कय। —जि. चू, पृ १३१।
(ग) दशवै. (मुनि नथमलजी), पृ १२०

२ (क) 'आउसतेण' भगवत एव विशेषणम्। आयुष्मता भगवता चिरजीविनेत्यर्थ। अथवा जीवता साक्षादेव। —हारि टी, पत्र १३७
(ख) श्रुत मया गुरुकुलसमीपावस्थितेन तृतीयो विकल्प'। —जिन. चू, पृ. १३१
(ग) सुय मया एयमज्झयण आमुसतेण-भगवत पादौ आमृशता। —वही, पृ १३१

तत्र दृष्टिगोचर होती है। यहाँ शका उपस्थित होती है कि शिष्य को सम्बोधित करने के लिए यही शब्द क्यों चुना गया? जिनदास महत्तर इसका समाधान इस प्रकार करते हैं—देश, कुल, शील आदि से सम्बन्धित समस्त गुणो मे विशिष्टतम गुण दीर्घायुष्कता है। जो शिष्य दीर्घायु होता है, वह पहले स्वय ज्ञान प्राप्त करके बाद मे अन्य भव्यजनो को ज्ञान दे सकता है, इस प्रकार शासनपरम्परा अविच्छिन्न चलती है। अत 'आयुष्मान्' शब्द का विशिष्ट अर्थ है—उत्तम देश, कुल, शील आदि समस्त गुणो से समन्वित प्रधान दीर्घायु गुण वाला। प्रधानगुण (दीर्घायुष्कत्व) निष्पन्न आमन्त्रण-वचन का एक आशय यह भी है कि गुणी शिष्य को आगमरहस्य देना चाहिए, अगुणी को नही। कहा भी है—"जिस प्रकार कच्चे घडे से भरा हुआ पानी उस घडे को ही विनष्ट कर देता है, वैसे ही गुणरहित शिष्य (पात्र) मे उडेला हुआ सिद्धान्तरहस्य रूपी जल, उस अल्पाधार को ही विनष्ट कर देता है।"[३]

'आयुष्मान् भगवान्' कहने का आशय—जिनदास महत्तर ने इसका आशय स्पष्ट किया है कि सुधर्मास्वामी कहते हैं—मैंने आयुसहित भगवान् से अर्थात्—तीर्थकर भगवान् के (जीवित रहते) उनसे सुना है।

कासवेणं समणेणं भगवया महावीरेण : व्याख्या काश्यप : दो—अर्थ (१) भगवान् महावीर का गोत्र काश्यप होने के कारण वे काश्यप के अपत्य (सतान) **काश्यप** कहलाए, (२) काश्य कहते है—इक्षुरस को, उसका पान करने वाले को 'काश्यप' कहते है। भगवान् ऋषभदेव इक्षुरस का पान करने के कारण काश्यप कहलाए। उनके गोत्र मे उत्पन्न होने के कारण भगवान् महावीर भी काश्यप कहलाए। अथवा भगवान् ऋषभ के धर्मवशज या विद्यावशज होने के कारण भी चौवीसवे तीर्थकर भ महावीर 'काश्यप' कहलाए।[४]

समण—तीन अर्थ—सहज समत्वादिगुणसम्पन्न होने से वे समन (समण) कहलाए, तपस्या मे दीर्घकाल तक पुरुषार्थ (श्रम) करने के कारण 'श्रमण' (दीर्घतपस्वी) कहलाए, तथा विषय-कषायो का शमन करने के कारण 'शमन' कहलाए।[५]

---

३ (क) अनेन गुणाश्च देशकुलशीलादिका अन्वाख्याता भवन्ति, दीर्घायुष्कत्व च सर्वेषा गुणाना प्रति विशिष्टतम, कह? जम्हा दिग्घायू सीसो त नाण अन्नेसि पि भवियाण दाहिति। तम्रो अवोच्छित्ती सासणस्स कया भविस्सइ, तम्हा आउसतग्गहण कयति। —जिन चूर्णि, पृ १३१

(ख) प्रधानगुणनिष्पन्नेनामत्रणवचसा गुणवते शिष्यायागमरहस्य देय, नागुणवते, इत्याह। उक्त च— **'आमे घडे निहत्त ०'** —हारि वृत्ति, पृ १३७

४. (क) काश्यप गोत्त कुल यस्य सोऽय काश्यपगोत्तो। —जिन चूर्णि, पृ १३२

(ख) कास-उच्छू, तस्य विकारो—काश्य रस, सो जस्स पाण सो कासवो उसभसामी, तस्स जे गोत्तजाता ते कासवा, तेण वद्धमाणसामी कासवो। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ७३

५. (क) सहसमुहए समणे —आचा०, चूर्णि, १५-१६

(ख) श्राम्यति तपस्यतीति श्रमण —दशवै हारि वृत्ति, अ १

(ग) शमयति विषयकषायादीन् इति शमन।

भगवान् : व्याख्या—'भग' शब्द ६ अर्थों में प्रयुक्त होता है—(१) समग्र ऐश्वर्य, (२) रूप, (३) यश, (४) श्री, (५) धर्म और (६) प्रयत्न। जिसमे ऐश्वर्य आदि समग्ररूप में होते है, वह 'भगवान्' कहलाता है।[६]

महावीर : व्याख्या—भयकर भय, भैरव तथा प्रधान अचेलकत्व आदि कठोर परीषहो को सहन करने के कारण देवो ने भगवान् का नाम 'महावीर' रखा। यश और गुणो (को अर्जित करने) मे महान् वीर होने से भगवान् को 'महावीर' कहते है। कषायादि महान् आन्तरिक शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के कारण भी भगवान् महाविक्रान्त—महावीर कहलाए। कहा भी है—'जो कर्मों को विदीर्ण करता है, तपश्चर्या से सुशोभित है, तपोवीर्य से युक्त होता है, इस कारण वह 'वीर' कहलाता है।[७] इन गुणो को अर्जित करने मे वे महान् वीर थे, इसलिए महावीर कहलाए।

'पवेइया, सुयक्खाया, सुपन्नत्ता' : तीनों विशेषणो का विशेषार्थ—प्रवेदित : तीन अर्थ—(१) सम्यक् प्रकार से विज्ञात किया—जाना हुआ, (२) केवलज्ञान के आलोक मे स्वय भलीभाति वेदित—जाना हुआ; (३) विविध रूप से अनेक प्रकार से कथित।

सुआख्यात—(१) सम्यक् प्रकार से कहा, (२) देव, मनुष्य और असुरो की परिषद् मे सम्यक् प्रकार से (षड्जीवनिका अध्ययन) कहा।

सुप्रज्ञप्त : दो अर्थ—(१) जिस प्रकार प्ररूपित किया गया, उसी प्रकार आचरित भी किया गया है, अतएव सुप्रज्ञप्त है। जो उपदिष्ट तो हो पर आचरित न हो, वह सुप्रज्ञप्त नही कहलाता। (२) सम्यक् प्रकार से प्रज्ञप्त, अर्थात् जिस प्रकार कहा गया, इसी प्रकार सुष्ठु—सूक्ष्म दोषो के परिहारपूर्वक प्रकर्षरूप से—सम्यक् आसेवित किया गया। यहाँ ज्ञप् धातु आसेवन अर्थ मे प्रयुक्त है। षड्जीवनिका के इन तीनो विशेषणो का सयुक्त अर्थ हुआ—श्रमण भ महावीर ने षड्जीवनिका को सम्यक् प्रकार से जाना, उसका उपदेश किया और जैसा उपदेश किया, वैसा स्वय आचरण भी किया।[८]

---

६ (क) ऐश्वर्यस्य समग्रस्य रूपस्य यशस श्रिय ।
धर्मस्याथ प्रयत्नस्य षण्णा भग इतीङ्गना ॥
(ख) भगशब्देन ऐश्वर्य-रूप-यश -श्री-धर्म-प्रयत्ना अभिधीयन्ते, ते यस्य सन्ति स भगवान्।
—जिन चूर्णि, पृ १३१

७ (क) भीम भय-भेरव उराले अचेलय परीसह सहइ त्ति कट्टु देवेहि से नाम कय समणे भगव महावीरे।
—आचा चूर्णि, पृ १५-१६
(ख) कषायादिशत्रुजयान्महाविक्रान्तो महावीर । —हारि. वृत्ति, पत्र १३७
(ग) विदारयति यत्कर्म तपसा च विराजते, तपोवीर्येण युक्तश्च तस्माद् वीर इति स्मृत । —हा टी, १६७

८ (क) 'स्वयमेव केवलालोकेन प्रकर्षेण वेदिता-विज्ञातेत्यर्थ ।' —हारि वृत्ति, पत्र १३७
(ख) प्रवेदिता नाम विविहमनेकप्रकार कथितेत्युक्त भवति। —जिन चूर्णि, पृ १३२
(ग) सोभणेण पगारेण अक्खाता सुट्ठु वा अक्खाया। —जिन चूर्णि, पृ १३२
(घ) 'सदेवमनुष्यासुराणां पर्षदि सुष्ठु आख्याता स्वाख्याता। हारि. वृत्ति, पत्र १३७
(ङ) 'जहेव पन्नविया तहेव आइण्णावि।' —जिनदास चूर्णि, पृ. १३२

धम्मपण्णत्ती : धर्मप्रज्ञप्ति : अर्थ—जिससे श्रुत-चारित्ररूप धर्म अथवा सम्यग्दर्शनादिरत्नत्रय-रूप धर्म जाना जाए अथवा जिसमे धर्म का प्रज्ञपन किया गया हो, वह धर्मप्रज्ञप्ति अध्ययन है।[९]

अहिज्जिउं—अध्ययन करना—पढना, पाठ करना, सुनना और चिन्तन करना—स्मरण करना।[१०]

'मे' शब्द का आशय—प्रस्तुत मे 'मे' शब्द अपनी आत्मा के लिए, स्वय के लिए प्रयुक्त हुआ है। इस अर्थ के अनुसार इस वाक्य का अनुवाद होगा—'इस धर्मप्रज्ञप्ति-अध्ययन का पठन मेरे—आत्मा के लिए श्रेयस्कर है।[११]

पृथ्वीकायिक से त्रसकायिक तक : लक्षण, अर्थ प्रकार तथा सचेतनतासिद्धि (१) पृथ्वी-कायिक—काठिन्य आदि लक्षणो से जानी जाने वाली पृथ्वी ही जिनका शरीर (काय) होता है, वे पृथ्वीकाय या पृथ्वीकायिक कहलाते है। मिट्टी, मुरड, खडी, गेरू, हीगलू, हिरमच, लवण, पत्थर, बालू, सोना, चादी, अभ्रक, रत्न, हीरा, पन्ना आदि पृथ्वीकायिक जीवो के प्रकार है। केवलज्ञान-रूपी आलोक से लोक-अलोक को प्रत्यक्ष जानने वाले भगवान् ने पृथ्वी को सचेतन (सजीव) कहा है। पृथ्वी की सचेतनता सिद्धि के लिए आगमप्रमाण के अतिरिक्त अनुमानप्रमाण भी है—(१) पृथ्वी सचेतन है, क्योकि खोदी हुई खान आदि की मिट्टी सजातीय अवयवो से स्वयमेव भर जाती है। जो सजातीय अवयवो से भर जाता है, वह सचेतन होता है। जैसे—चेतनायुक्त मानवशरीर। जीवित मानवशरीर मे घाव हो जाता है, तब वह उसी तरह के अवयवो से स्वय भर जाता है, उसी प्रकार खोदी हुई खान आदि की पृथ्वी उसी प्रकार के अवयवो से भर जाती है और पूर्ववत् हो जाती है। इसलिए पृथ्वी सचेतन (सजीव) है।

(२) पृथ्वी सचित्त है, क्योकि उसमे प्रतिदिन घर्षण और उपचय दृष्टिगोचर होता है, जैसे—पैर का तलुआ। पैर का तलुआ घिस जाने के बाद पुन भर जाता है, वैसे ही पृथ्वी भी घिस जाने के बाद फिर भर जाती है, इसलिए वह सजीव है।

(३) विद्रुम (मूगा) पाषाण आदि-रूप पृथ्वी सजीव (सचित्त) है क्योकि कठिन होने पर भी उसमे वृद्धि देखी जाती है, जैसे—जीवित प्राणी के शरीर की हड्डी। अर्थात्—जीवित प्राणी के शरीर की हड्डी आदि कठोर होने पर भी बढती है, इसलिए सचेतन है, उसी प्रकार विद्रुम, शिला आदि रूप पृथ्वी मे काठिन्य होने पर भी वृद्धि आदि गुण प्रत्यक्ष दिखाई देते है, इससे सिद्ध है कि पृथ्वी सचित्त (सजीव) है।[१२]

---

९ 'धम्मे पण्णविज्जए जाए सा धम्मपण्णत्ती अज्झयणविसेसो। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ७३

१०. 'अध्येतुमिति पठितु श्रोतु भावयितुम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १३८

११ (क) 'मे इति अत्तणो निद्देसे।' —जिन चूर्णि, पृ. १३२
(ख) ममेत्यात्मनिर्देश। —हा वृत्ति, पत्र १३८

१२ (क) पृथ्वी काठिन्यादिलक्षणा प्रतीता, सैव काय शरीर येषा ते पृथिवीकाया पृथ्वीकाया एव पृथिवीकायिका.। —हारि. वृत्ति, पत्र १३८
(ख) दशवै, (आचारमणिमजूषा टीका,) भा १, पृ २०६ से २०८

अप्कायिकजीव— जल ही जिनका काय अर्थात् शरीर है, उन्हे अप्काय या अप्कायिक कहते हैं। शुद्धोदक, ओस, हरतनु, महिका (धूवर), ठार, हिम, ओला, आदि सब अप्काय (सचित्त जल) के प्रकार हैं। पार्थिव और आकाशीय दोनो प्रकार के जलो को केवलज्ञानी वीतराग प्रभु ने सचित कहा है। आगम प्रमाण के अतिरिक्ति अनुमान प्रमाण से भी जल की सचेतनता सिद्ध होती है—(१) भूमिगत जल सचेतन है, क्योकि खोदी हुई भूमि मे सजातीय—स्वभाव वाला जल उत्पन्न होता है, जैसे—मेढक। भूमि को खोदने से जैसे मेढक निकलता है, जो सचेतन होता है, उसी प्रकार पानी भी निकलता है, अतएव वह भी सचेतन है। आकाशीय जल भी सचित है, क्योकि मेघादि विकार होने पर जल स्वय ही गिरने लगता है, जैसे—मछली आदि।[13] वैज्ञानिको ने माइक्रोस्कोप यत्र आदि से वर्तमान युग मे पानी की एक बून्द मे हजारो त्रस जीव रहे हुए है, यह सिद्ध कर दिया है।

तेजस्कायिक जीव—अग्नि (तेज) उष्ण लक्षण वाली प्रसिद्ध है। वही जिनका काय—शरीर हो, उन जीवो को तेजस्काय या तेजस्कायिक कहते है। उनके अनेक प्रकार है—अग्नि, अगारे, मुर्मुर (चिनगारी), अर्चि, ज्वाला, उल्कापात, विद्युत् आदि। तेजस्काय को भी भगवान् ने सजीव कहा है, इसलिए आगमप्रमाण से तेजस्काय मे सचेतनता सिद्ध होती है। अनुमान प्रमाण से भी इसकी सचेतनता सिद्ध होती है—(१) तेजस्काय सजीव है, क्योकि ईन्धन आदि आहार देने से उसकी वृद्धि और न देने से उसकी हानि (मन्दता) होती है, जैसे—जीवित मनुष्य का शरीर। अर्थात्—जीवित मनुष्य का शरीर आहार देने से बढता और न देने से घटता है, अत वह सचेतन है। इसी प्रकार तेजस्काय (अग्निकाय) भी ईन्धन देने से बढता और न देने से घटता है, इसलिए वह भी सचित्त है। (२) अगार आदि की प्रकाशशक्ति जीव के सयोग से ही उत्पन्न होती है, क्योकि वह देहस्थ है। जो-जो देहस्थ प्रकाश होता है, वह-वह आत्मा के सयोग के निमित्त से होता है। जैसे—जुगनू के शरीर का प्रकाश। जुगनू के शरीर मे प्रकाश तभी तक रहता है, जब तक उसके साथ आत्मा का सयोग रहता है। इसी प्रकार अगार आदि का प्रकाश भी तभी तक रहता है, जब तक उसमे आत्मा रहे।[14]

वायुकायिक जीव—भगवान् ने अपने केवलज्ञानालोक मे देखकर वायुकाय को सचित्त कहा है, इसलिए आगमप्रमाण से वायुकाय की सजीवता सिद्ध है। अनुमान-प्रमाण से भी देखिये—(१) वायु सचेतन है, क्योकि वह दूसरे की प्रेरणा के बिना अनियतरूप से तिर्यग्गमन करता है, जैसे मृग। मृग अन्य की प्रेरणा के विना ही तिर्यग् गमन करता है, अत वह सजीव है, इसी प्रकार वायु

---

१३ (क) आपो-द्रवा प्रतीता एव, ता एव काय शरीर येषा ते अप्काया अप्काया एव अप्कायिका।
—हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) दशवै. (आचारमणिमजूषा टीका) भा. ९, पृ २०९

१४. (क) 'तेज' उष्णलक्षण प्रतीत, तदेव कायः-शरीर येषा ते तेजस्काया, तेजस्काया एव तेजस्कायिका'।'
—हारि. वृत्ति, पत्र १३८

(ख) दशवैकालिक (आचारमणिमजूषा टीका) भा. १, पृ. २१२-२१३

भी अन्य से प्रेरित हुए विना तिर्यग्गमन करता है, इसलिए वह सचेतन है। इस प्रकार अनुमानप्रमाण से भी वायुकाय की सचेतता सिद्ध होती है।[१५]

वायु चलनधर्मा प्रसिद्ध है। वही जिनका काय-शरीर है, वे जीव वायुकाय या वायुकायिक कहलाते हैं। इनके उत्कलिकावायु, मण्डलिकावायु, घनवायु, तनुवायु गु जावायु, शुद्धवायु, सवर्त्तकवायु आदि प्रकार है।[१६]

वनस्पतिकायिक जीव—वनस्पति लता आदि के रूप मे प्रसिद्ध है। वही (वनस्पति ही) जिनका काय—शरीर है, वे जीव वनस्पतिकाय या वनस्पतिकायिक कहलाते है। बीज, अकुर, तृण, कपास, गुल्म, गुच्छ, वृक्ष, शाक, हरित, लता, पत्र, पुष्प, फल, मूल, कन्द, स्कन्ध आदि वनस्पतिकायिक जीवो के प्रकार है। वनस्पतिकाय की सजीवता सर्वज्ञ आप्तपुरुषो के वचनो से (आगम प्रमाण से) सिद्ध है। अनुमान प्रमाण से भी इसकी सजीवता देखिये—वनस्पति सचित्त है, क्योकि उसमे बाल्य, यौवन, वृद्धत्व आदि अवस्थाएँ, तथा छेदन-भेदन करने से म्लानता आदि सचेतन के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं, जैसे—जीवित मानवशरीर। जैसे—जीवित मानव का शरीर, बाल्यादि अवस्थाओ तथा छेदन-भेदन आदि करने से म्लानता आदि के कारण सचेतन है, वैसे वनस्पतिकाय भी सचेतन है। वर्तमान युग मे जीवज्ञानशास्त्री प्रो जगदीशचन्द्र बोस ने प्रयोग करके वनस्पति की सजीवता सिद्ध कर दी है।[१७]

त्रसकायिक जीव—त्रसनशील को त्रस कहते है, अथवा जो स्वत प्रेरित (स्वतत्ररूप से) गमनागमन करता हो, वह त्रस कहलाता है : त्रस ही जिनका काय हो, अथवा जिनमे द्वीन्द्रिय से लेकर पचेन्द्रिय तक हो या जिनमे छह द्रव्यप्राणो से लेकर १० प्राणो तक हो, वे त्रसकाय या त्रसकायिक कहलाते है। कृमि, शख, कुन्थु, चीटी, मक्खी, मच्छर, भौरा, आदि तथा मनुष्य, तिर्यञ्च (पशु, पक्षी आदि), देव और नारक जीव[१८] त्रसकायिक है।

त्रस जीवो की सचेतनता आबालप्रसिद्ध एव प्रत्यक्षसिद्ध है। आगम प्रमाण से भी सिद्ध है। यहाँ भी **'से जे पुण इमे अणेगे'** कहकर त्रसकाय का प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होना सिद्ध किया है। जो द्वीन्द्रिय आदि के भेद से अनेक प्रकार के, एक-एक जाति मे बहुत-से, अथवा भिन्न-भिन्न योनि वाले, आतप (धूप, गर्मी) आदि मे पीडित होने पर त्रास (उद्वेग) पाने वाले अथवा स्वत.प्रेरणा से छायादार शीतल और निर्भयस्थान मे चले जाने वाले, एव व्यक्त चेतनावान् जीव है, वे त्रस कहलाते हैं।[१९] कही-कही पृथ्वीकाय आदि के सूत्रोक्त क्रम का कारण भी स्पष्ट किया गया है।[२०]

---

१५ दशवैकालिक आचारमणिमजूषा टीका, भा १, पृ २१५

१६ (क) वायुश्चलनधर्मा प्रतीत एव, स एव काय —शरीर येषा ते वायुकाया, वायुकाया एव वायुकायिका। —हारि वृत्ति, पत्र १३८

(ख) दशवै (मुनिनथमलजी), पृ १२३, (ग) प्रज्ञापना, पद १

१७. दशवै आचारमणिमजूषा टीका, भा. १, पृ. २१७

१८. हारि वृत्ति, पत्र १३८

१९. दशवैकालिक, आचारमणिमजूषा टीका भाग १, पृ २२२

२० दशवैकालिक (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ ६१

चित्तमंतं, चित्तमत्तं : तीन रूप, तीन अर्थ—(१) **चित्तवत्**—चित्त का अर्थ है—जीव या चैतन्य। जिसमें चेतना या चैतन्य हो, उसे चित्तवत् कहते हैं।[२१] तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकाय आदि पाच स्थावर जीवनिकायो मे चेतना होती है; वे चैतन्यवान्—सजीव कहे गए है। (२) **चित्तमात्रं**—मात्र शब्द के दो अर्थ होते हैं—स्तोक (अल्प) और परिमाण। प्रस्तुत प्रसग में मात्र शब्द स्तोक-वाचक है। तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकाय आदि पाच जीवनिकायो (स्थावरो) मे चैतन्य स्तोक—अल्प विकसित होता है। उनकी चेतना अव्यक्त होती है, त्रस जीववत् उच्छ्वास, नि श्वास, निमेष गति-प्रगति आदि चेतना के व्यक्त चिह्न इनमे नही होते हैं। अथवा (३) **चित्तमत्तं**—मत्त का अर्थ—मूर्च्छित भी है। जिस प्रकार मद्यपान, सर्पदश आदि चित्तविघात के कारणो से अभिभूत मनुष्य का चित्त मत्त—मूर्च्छित हो जाता है, वैसे ही ज्ञानावरणीय एव मोहनीय कर्म के प्रबल उदय से पृथ्वीकाय आदि एकेन्द्रिय जीवो का चित्त (चैतन्य) सदैव मूर्च्छित-सा रहता है।[२२] अर्थात्—एकेन्द्रियो मे चैतन्य सबसे जघन्य होता है। एकेन्द्रिय से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असज्ञी पचेन्द्रिय तिर्यञ्च व सम्मूर्च्छिम मनुष्य, गर्भजतिर्यञ्च, गर्भजमनुष्य, वाणव्यन्तर देव, भवनवासी देव, ज्योतिष्क देव, और वैमानिक देव (कल्पोपपन्न, कल्पातीत, ग्रैवेयक और अनुत्तरौपपातिक देव) के चैतन्य का विकास उत्तरोत्तर अधिक होता है।[२३]

अक्खाया . तात्पर्य—यहाँ 'अक्खाया' शब्द प्रयोग करने का तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकाय आदि चैतन्यवान् (सजीव) है, यह मै (सुधर्मास्वामी) नही कह रहा हूँ, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी भगवान् ने कहा है।[२४]

अणेगजीवा पुढोसत्ता : व्याख्या—अनेकजीवा का अर्थ है—पृथ्वीकायादि प्रत्येक काय के अनेक-अनेक जीव है, एक जीव नही है। जैसे वैदिक मतानुसार वेदो के पृथिवी देवता, आपो

---

२१ (क) प्रचलित मूलपाठ 'चित्तमत' है, किन्तु हरिभद्रसूरि, जिनदास महत्तर आदि ने पाठान्तर माना है—'पाठान्तर वा पुढवी चित्तमत्तमक्खाया, इत्यादि। —हारि वृत्ति, पत्र १३८

(ख) चित्त जीवलक्षण तदस्यस्तीति चित्तवत् चित्तवतो वा, सजीवेत्यर्थ। —हारि वृत्ति, पत्र १३८

२२ (क) "मत्तासद्दो दोसु अत्थेसु वट्टइ, त—थोवे वा परिमाणे वा।" —जिन चूर्णि, पृ १३५

(ख) 'अत्र मात्र शब्द स्तोकवाची, यथा सर्षपत्रिभागमात्रमिति।' ततश्च चित्तमात्रा—स्तोकचित्ता इत्यर्थ। —हारि वृत्ति, पृ १३८

(ग) 'चित्तमात्रमेव तेषा पृथ्वीकायिना जीवितलक्षण, न पुनरुच्छ्वासादीनि विद्यते।" —जिनदास. चूर्णि, पृ १३६

(घ) अहवा चित्त मत्त (मुच्छिय) एतेसिं ते चित्तमत्ता। जहा पुरिसस्स मज्जपाण-विसोवयोग-सप्पावराह-हिप्पूरभक्खण-मुच्छादीहिं चेतोविघातकारणेहिं जुगपदभिभूतस्स चित्त मत्त, एव पुढविक्कातियाण। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ७४

२३ (क) प्रबलमोहोदयात् सर्वजघन्य चैतन्यमेकेन्द्रियाणाम्। —हारि वृत्ति, पत्र १३८

(ख) सव्वजहण्ण चित्त एगिंदियाण ततो विसुद्धतर बेइंदियाण जाव सव्वुक्कस अणुत्तरोववातियाण देवाण। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ७४

२४. दशवै. आचार म. म. टीका भा. १, पृ २०५

देवता' इत्यादि सूक्तो को प्रमाण मान कर पृथ्वी आदि को एक-एक माना गया है, इस प्रकार जैनदर्शन नही मानता।[२५] इसीलिए यहाँ पृथ्वी आदि प्रत्येक स्थावर को अनेकजीव कहा गया है। अर्थात्—उनमें जीव या आत्मा एक नही, किन्तु सख्या की दृष्टि से असख्यात और अनन्त है। शास्त्रीय दृष्टि से वनस्पति के सिवाय शेष पाच जीवनिकायो मे से प्रत्येक मे असख्यात जीव है, वनस्पतिकाय मे अनन्त जीव है। यहाँ 'असख्य' और 'अनन्त' दोनो के लिए 'अनेक' शब्द का प्रयोग किया गया है। अर्थात्—मिट्टी के कण, जलबिन्दु, अग्नि की चिनगारी और वायु मे और प्रत्येक वनस्पति मे असख्यजीव तथा साधारण वनस्पति में अनन्त जीव पिण्डित या समुदित होते है। इन सबका एक शरीर दृष्टिगोचर नही होता, इनके शरीरो का पिण्ड ही हमे चक्षुगोचर होता है।[२६]

कई वेदान्त-दार्शनिक सब में एक ही आत्मा मानते हैं। उनका अभिमत है—जैसे—चन्द्रमा एक होने पर भी विभिन्न जल पात्रो मे भिन्न-भिन्न दिखाई देता है, इसी तरह एक ही भूतात्मा (जीव) प्रत्येक भूत मे पृथक्-पृथक् दिखाई देता है। शास्त्रकार ने इस मत का निराकरण करते हुए कहा है—**'पुढोसत्ता'**—पृथ्वीकाय आदि प्रत्येक में अनेक जीव है, और वे एकात्मा नही, किन्तु उनकी पृथक्-पृथक् सत्ता है—स्वतत्र अस्तित्व है। अथवा वे पृथक्भूत सत्त्व (आत्माए) है। इनके पृथक्भूत सत्त्व होने का प्रमाण जिनदास महत्तर ने प्रस्तुत किया है कि यदि उन्हे शिला आदि पर पीसा जाए तो कुछ पिसते हैं, कुछ नही पिसते। इस दृष्टि से उनका पृथक् सत्त्व (अस्तित्व या आत्मत्व) सिद्ध होता है। शास्त्रो मे बताया गया है कि इन (स्थावर जीवो) की अवगाहना इतनी सूक्ष्म होती है कि अगुल के असख्यातवे भाग मात्र को अवगाहन करके अनेक जीव समा जाते है।[२७]

वनस्पतिकाय के विभिन्न रूप—प्रस्तुत मे वनस्पतिकाय के विभिन्न रूप बतलाए है, उनका विश्लेषण इस प्रकार है—वनस्पति के ये पृथक्-पृथक् रूप उत्पत्ति की भिन्नता के आधार पर बताए गए है। उनके उत्पादक भाग या उत्पत्ति के मूल को 'बीज' सज्ञा दी गई है। ये भिन्न-भिन्न होते है, इसलिए इनके अलग-अलग नाम रखे गए है। जैसे—**अग्रबीज**—जिनके बीज अग्रभाग मे होते है वे कोरटक आदि अग्रबीज कहलाते है। **मूलबीज**—जिनका मूल ही बीज हो, वे कमलकन्द आदि मूलबीज कहलाते हैं। **पर्वबीज**—पोर (गाठ) या पर्व ही उनका बीज हो वे पर्वबीज कहलाते है, जैसे

---

२५ (क) इय च 'अनेकजीवा' अनेके जीवा यस्या साऽनेकजीवा, न पुनरेकजीवा, यथा वैदिकाना पृथिवी देवता, आपो देवतेत्येवमादिवचन-प्रामाण्यादिति। — हारि वृत्ति, पत्र १३८

२६ (क) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ २०७

(ख) 'असखेज्जाण पुण पुढविजीवाण सरीराणि सहिताणि (समुदिताणि) चक्खुविसयमागच्छति।'

—जिनदास चूर्णि, पृ. १३६

२७ (क) अनेकजीवाऽपि कैश्चिदेकभूतात्माऽपेक्षयेष्यत एव, यथाहुरेक—'एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित। एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्॥ 'अत आह— 'पृथक्सत्त्वा।' पृथक्भूता सत्त्वा-आत्मानो यस्या सा पृथक्सत्त्वा। —हारि वृत्ति, पत्र १३८

(ख) 'अगुलासंख्येयभागमात्रावगाहनया पारमार्थिकयाऽनेकजीवसमाश्रितेति भाव.।'

(ग) पुढो सत्ता नाम पुढविकम्मोदएण सिलेसेण वट्टिया वट्टी पिहप्पिह चउवत्थियत्ति वुत्त भवइ।

—जिन. चूर्णि, पृ. १३६

ईख आदि। **स्कन्धबीज**—स्कन्ध (थुड) ही जिनका बीज हो, वे स्कन्धबीज कहलाते है। जैसे बड, पीपल, थूहर, कपित्थ (कैथ) आदि। **बीजरुह**—बीज से उगने वाली वनस्पति या जिसके बीज मे ही बीज रहे वह वनस्पति बीजरुह कहलाती है। जैसे—चावल, गेहूँ आदि।[२८]

सम्मूर्च्छिम—जो प्रसिद्ध बीज के बिना, केवल पृथ्वी, वर्षा (वृष्टिजल) आदि कारणो से दग्धभूमि मे भी उत्पन्न हो जाती है, ऐसी पद्मिनी, तृण आदि को सम्मूर्च्छिमवनस्पति कहते हैं। **तृण**:—घासमात्र को तृण कहते हैं। तृण शब्द के द्वारा दूब, काश, नागरमोथा, कुश, दर्भ, उशीर आदि सभी प्रकार के तृणो का ग्रहण किया गया है। **लता**—पृथ्वी पर या किसी बडे पेड पर लिपट कर उसके सहारे से ऊपर फैल जाने वाली वनस्पति को लता कहते है, इसे बेल, वल्लरी आदि भी कहते है। लता शब्द के द्वारा चपा, जाई, जूही, वासन्ती आदि सभी प्रकार की लताओ का ग्रहण किया गया है। यहाँ तक सभी प्रकार की वनस्पतियो का दिग्दर्शन कराया गया है।[२९]

वणस्सइकाइया सबीया : तात्पर्य—प्रस्तुत सूत्र मे दूसरी बार 'वनस्पतिकायिक' का उल्लेख किया गया है, वह ऊपर बताये गए वनस्पति भेदो के अतिरिक्त सूक्ष्म, बादर आदि, तथा बीजपर्यन्त वनस्पति के दस प्रकारो का ग्रहण करने के लिए किया गया है, इसीलिए **'वणस्सइकाइया'** के साथ **'सबीया'** विशेषण दिया गया है। यही कारण है कि 'सबीया' का अर्थ—'बीजयुक्त वनस्पति' न करके (मूल से लेकर) बीजपर्यन्त किया है। अर्थात्—सबीज शब्द से यहाँ—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज, वनस्पति के इन दसो भेदो का ग्रहण हो जाता है।[३०]

पच स्थावरो का उपयोग और अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा—यहाँ एक ज्वलन्त प्रश्न उपस्थित होता है कि जब पृथ्वी आदि पाचो जीवनिकाय, जीवो के पिण्डरूप है, तब अहिंसामहाव्रती साधु-साध्वी पृथ्वी पर गमनागमन, शयन, उच्चार-प्रस्रवण, आदि क्रियाओ मे पृथ्वी की हिंसा होने से ये क्रियाए कैसे कर सकेगे? जीवो के पिण्डरूप जल का उपयोग कैसे कर सकेगे? अग्नि-सयोग से निष्पन्न उष्ण आहार-पानी का उपयोग कैसे कर सकेगे? अगसचालन, श्वासोच्छ्वास आदि क्रियाओ मे वायु का सेवन कैसे कर सकेगे? और शाकभाजी, पक्के फल, घास आदि के रूप मे वनस्पति का

---

२८ (क) अग्र बीज येषा ते अग्रबीजा —कोरण्टकादय। मूल बीज येषा ते मूलबीजा-उत्पलकन्दादय। पर्व बीज येषा ते पर्वबीजा—इक्ष्वादय। स्कन्धो बीज येषा ते स्कन्धबीजा —शल्लक्यादय। बीजाद्रोहन्तीति बीजरुहा-शाल्यादय। —हारि वृत्ति, पत्र १३८-१३९

२९ (क) 'सम्मूर्च्छन्तीति सम्मूर्च्छिमा —प्रसिद्धबीजाभावेन पृथिवी-वर्षादि-समुद्भवास्तृणादय। न चैते न सम्भवन्ति, दग्धभूमावपि सम्भवात्।" —हारि वृत्ति, पृ १४०

(ख) 'पउमिणिमादी उदगपुढवि-सिणेह-समुच्छणा समुच्छिमा।' —अग चूर्णि, पृ ७५

(ग) तत्थ तणग्गहणेण तणभेया गहिया। लतागहणेण लताभेदा गहिया। —जिन चूर्णि, पृ. १३८

३० (क) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ २२०

(ख) सबीयग्गहणेण एतस्स चेव वणस्सइकाइयस्स बीयपज्जवसाणा दस भेदा गहिया भवति, तजहा—

मूले कदे खधे तया य साले तहप्पवाले य।
पत्ते पुप्फे य फले बीए दसमे य नायव्वा॥ —जिन चूर्णि, पृ १३८

उपयोग भी कैसे कर सकेंगे ? और इनका उपयोग किये बिना उसका जीवन कैसे टिक सकेगा तथा सयम का पालन कैसे हो सकेगा ? इन्ही ज्वलन्त प्रश्नो को अन्यतीर्थिक लोग आक्षेपरूप मे प्रस्तुत करते हैं,—"जल मे जन्तु है, स्थल मे जन्तु है, पर्वत के शिखर पर जन्तु है, यह सारा लोक जन्तुसमूह से व्याप्त है, ऐसी स्थिति मे भिक्षु कैसे अहिसक रह सकेगा ?"[३१]

इन्ही प्रश्नो का समाधान करने के लिए शास्त्रकार ने प्रत्येक स्थावर जीवनिकाय का परिचय देने के साथ-साथ एक पक्ति अकित कर दी है—**'अन्नत्थ सत्थपरिणएण'**। इसका शाब्दिक अनुवाद होगा –शस्त्रपरिणत (पृथ्वी आदि) को छोड कर—वर्जन कर, या शस्त्रपरिणत के सिवाय, किन्तु इसका भावानुवाद होगा—शस्त्रपरिणत होने से पूर्व। तात्पर्य यह है कि जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति शस्त्रपरिणत—शस्त्र के द्वारा खण्डित-विदारित—जीवच्युत हो जाएगी, उसके अचित्त (जीवरहित-प्रासुक) हो जाने से, उनका उपयोग करने मे साधु-साध्वी को हिसा नही लगेगी, और सयम का सम्यक् प्रकार से पालन करते हुए जीवननिर्वाह भी हो जाएगा।[३२]

'शस्त्र-परिणत' की व्याख्या—जिससे प्राणियो का घात हो, उसे शस्त्र कहते है। वह शस्त्र दो प्रकार का है—द्रव्यशस्त्र और भावशस्त्र। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और वनस्पति के प्रति मन के दुष्ट परिणाम करना भावशस्त्र है। द्रव्यशस्त्र तीन प्रकार के है—'स्वकायशस्त्र, परकायशस्त्र और उभयकायशस्त्र। इन तीनो मे से किसी भी द्रव्यशस्त्र से पृथ्वी आदि परिणत हो जाए तो वह अचित्त हो जाती है।

शस्त्र-परिणत पृथ्वीकाय—अपने से भिन्न वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाली पृथ्वी (मिट्टी आदि) ही पृथ्वीकाय के जीवो के लिए स्वकायशस्त्र है। जल, अग्नि, पवन, सूर्यताप, पैरो से रोदना आदि पृथ्वीकायिक जीवो के लिए परकायशस्त्र है। इन परकायशस्त्रो से मिट्टी के जीवो का घात हो जाने से वे अचित्त हो जाते है। स्वकाय (मिट्टी) और परकाय (जल आदि) दोनो सयुक्तरूप मे घातक हो तो उन्हे उभयकायशस्त्र कहा जाता है। जैसे—काली मिट्टी जल मे मिलने पर जल और सफेद मिट्टी दोनो के लिए शस्त्र हो जाती है। इस प्रकार शस्त्रपरिणत पृथ्वी जीवरहित होने से अचित्त होती है। उस पर आहार विहारादि क्रियाए करने से साधु-साध्वियो के अहिंसा महाव्रत की क्षति नही होती।[३३]

---

३१. (क) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ २०८ से २१३ तक
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. ६३
(ग) जले जन्तु स्थले जन्तु, जन्तु पर्वतमस्तके।
जन्तुमालाकुले लोके, कथ भिक्षुरहिंसक ॥ —प्रमेयकमलमार्त्तण्ड मे उद्धृत

३२ (क) अण्णत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टति। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ७४
(ख) अन्यत्र शस्त्रपरिणताया -शस्त्रपरिणता पृथिवी विहाय—परित्यज्य अन्या चित्तवत्याख्यातेत्यर्थ।
—हारि वृत्ति, पत्र १३८-१३९
(ग) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ६३
(घ) दशवै. (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ २०९, २१२

३३. (क) दशवैकालिक निर्युक्ति गा २३१, हारि वृत्ति पत्र १३९, जिन. चूर्णि, पृ. १३७
(ख) दशवै (आ आत्मारामजी म), पृ. ६३, दशवै. (मुनि नथमलजी), पृ १२४
(ग) दशवैकालिक (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ. २०८

शस्त्रपरिणत अप्काय—इसी प्रकार तालाब आदि के जल के लिए कुए आदि का जल स्वकायशस्त्र है परन्तु ऐसा जल शस्त्रपरिणत होने पर भी व्यवहार से अशुद्ध होने के कारण ग्राह्य नही है। जल, द्राक्षा, लवग, चावल, आटा, चूना आदि वस्तुए परकायशस्त्र हैं। एक स्थान (कुए) के जल के साथ तालाब आदि (अन्य स्थान) का जल और अग्नि, चावल, आटा, चूना, मिट्टी आदि मिलने पर उभयकाय शस्त्र है। जल का वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श बदल जाना उसका शस्त्रपरिणत हो जाना है। इस प्रकार का शस्त्रपरिणत जल या अग्निशस्त्र परिणत उष्ण जल अचित्त अथवा प्रासुक हो जाता है, जो अहिसक साधुवर्ग के लिए ग्राह्य है।

शस्त्रपरिणत तेजस्काय—तेजस्काय के शस्त्र ये है—कडे की अग्नि के लिए तृण की अग्नि स्वकायशस्त्र है, परन्तु ऐसी स्वकायशस्त्रपरिणत अग्नि व्यवहार से अशुद्ध होने के कारण तथा भगवदाज्ञा न होने से साधुवर्ग के लिए ग्राह्य नही है। जल, मिट्टी आदि अग्नि के लिए परकायशस्त्र है। उष्णजल आदि उभयकायशस्त्र है। गर्म खिचड़ी, भात आदि उष्ण आहार, साग, दाल, चावलो का माड आदि उष्ण पान, आग मे तपी हुई ईंट, बाल आदि शस्त्रपरिणत अचित्त अग्निकाययुक्त हैं। ये सब अग्नि के सयोग से निष्पन्न होते है, इसलिए इनमे अचित्त अग्निकाय शब्द की प्रवृत्ति होती है। साधुवर्ग के लिए ऐसे शस्त्रपरिणत अचित्त अग्निकाय से युक्त आहारादि ग्राह्य होते हैं।

शस्त्रपरिणत वायुकाय—पूर्व आदि दिशा के वायु के लिए, पश्चिम आदि दिशा का वायु-स्पर्श स्वकायशस्त्र है, अग्नि आदि परकायशस्त्र है और उभयकायशस्त्र अग्नि, सूर्यताप आदि से तपा हुआ वायु है।

शस्त्रपरिणत वनस्पतिकाय—अमुक वनस्पति के लिए लकडी, सूखी घास, आदि स्वकायशस्त्र है, लोह, पत्थर, अग्नि, सूर्यताप, उष्ण या शस्त्रपरिणत जल आदि वनस्पति के लिए परकायशस्त्र है। फरसा (कुल्हाडी), दात्र (दराती) आदि उभयकायशस्त्र है। जो शस्त्रपरिणत वनस्पति है, वह एषणीय और कल्पनीय हो तो दाता के द्वारा दिये जाने पर साधु-साध्वी के लिए ग्राह्य है।[३४]

निष्कर्ष यह है कि पृथ्वीकाय आदि पाचो स्थावर जीवनिकायो के शस्त्रपरिणत हो जाने पर जीवच्युत हो जाने से पृथ्वी आदि पाचो का उपयोग समिति, एषणा और यतना से शुद्ध होने पर पूर्वोक्त (अमुक) मर्यादा मे साधु-साध्वी के द्वारा किया जा सकता है। इससे उनके अहिसाव्रत और सयम मे कोई आंच नही आती।

त्रसजीव : स्वरूप, प्रकार और व्याख्या—प्रस्तुत मे त्रसजीवो के लिए तीन विशेषण प्रयुक्त किये गए है—**अणेगे, बहवे, पाणा**। इनका आशय यह है—त्रसजीवो के द्वीन्द्रिय आदि अनेक भेद है और उन द्वीन्द्रिय आदि प्रत्येक कोटि के त्रसजीव के जाति, कुलकोटि, योनि इत्यादि की अपेक्षा से लाखो भेद है। इसलिए उन द्वीन्द्रियादि अनेक भेदो के पुन बहुत से अर्थात् सख्यात भेद है। इस

---

३४ (क) दशवैकालिक (आचारमणिमंजूषा टीका) भा. १, पृ. २०९ से २१८ तक
(ख) वायुकाय की शस्त्रपरिणति के लिए देखिये—भगवती सूत्र शतक २, उ. १ वायु-अधिकार।

दृष्टि से 'अणेगे' और 'बहवे' इन दो विशेषणो का प्रयोग किया गया। इनमे श्वासोच्छ्वास आदि प्राण विद्यमान होते हैं, इसलिए 'पाणा' (प्राणी) विशेषण प्रयुक्त किया गया है।[३५]

त्रस के प्रकार—त्रस दो प्रकार के होते है—गतित्रस और लब्धित्रस। जिन जीवो मे अभिप्रायपूर्वक गति करने की शक्ति होती है, वे लब्धित्रस कहलाते है और जिन जीवों की गति अभिप्रायपूर्वक नही होती, केवल गतिमात्र होती है, वे गतित्रस कहलाते है। स्थानागसूत्र में तीन प्रकार के त्रस बताए हैं, उनमे अग्नि और वायु को गतित्रस और द्वीन्द्रियादि उदार त्रस प्राणियो को लब्धित्रस कहा गया है। प्रस्तुत सूत्र मे लब्धित्रस के लक्षण बताए है।[३६]

त्रस के लक्षण—शास्त्रकार ने मूल मे ही **'अभिक्कंतं'** पद से लेकर **'आगइ-गइ-विन्नाया'** पद तक त्रसजीवो के लक्षण बतलाए है। तात्पर्य यह है कि त्रसजीवो का यह स्वभाव होता है कि वे स्वत प्रेरणा से सम्मुख आते है, पीछे भी हट जाते है, कई त्रसजीव अपने शरीर को सिकोड लेते है, कई फैला देते है। कई त्रसजीव आपत्ति या कष्ट आ पडने पर अथवा अमुक प्रयोजनवश जोर-जोर से चिल्लाते है, आवाज करते हैं, भौकते है, गर्जते या गुर्राते या चिघाडते है। भयभीत होने पर इधर-उधर स्वय प्रेरणा से भागदौड भी करते है। कुत्ते आदि कई पशु भूल-भटक गए हो, दूर चले गए हो तो भी लौट कर अपने मालिक के यहाँ आ जाते है। कई पशुओ मे यह विशिष्ट ज्ञान होता है कि हम अमुक जगह जा रहे हैं या अमुक जगह से आये है। यदि उन्हे कोई जबरन पीछे हटाता या आगे भगाता है तो वे यह जानते हैं कि हमे पीछे हटाया या आगे भगाया जा रहा है। ओघसज्ञावश कई त्रस धूप से छाया मे और छाया से अरुचि होने पर धूप मे स्वत चले जाते है।[३७]

उत्पत्ति की दृष्टि से त्रसजीवों के प्रकार—शास्त्रकार ने मूल मे अण्डज आदि कई प्रकार त्रसजीवो की उत्पत्ति की अपेक्षा से दिये है। उनका अर्थ इस प्रकार है—(१) **अण्डज**—अण्डे से पैदा होने वाले मोर, कबूतर आदि (२) **पोतज**—जिन पर कोई आवरण लिपटा हुआ नही होता, जो सीधे शिशुरूप मे माता के गर्भ से उत्पन्न होते है। जैसे हाथी, चर्मजलौका आदि। (३) **जरायुज** - जरायु का अर्थ गर्भवेष्टन या झिल्ली होता है जो शिशु को आवृत किये रहती है। गर्भ से जरायुवेष्टित दशा मे निकलने वाले जरायुज होते है, जैसे—गाय, भैस, मनुष्य आदि।[३८] (४) **रसज**—दूध, दही, घी, मट्ठा

---

३५. (क) 'अणेगा'—अनेकभेदा बेइदियादतो। 'वहवे' इति बहुभेदा जाति-कुलकोडि-जोणीपमुहसतसहस्सेहि पुणरवि सखेज्जा। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ७७

(ख) अणेगे नाम एक्कमि चेव जातिभेदे असखेज्जा जीवा। —जिन चूर्णि, पृ १३९

(ग) 'प्राणा—उच्छ्वासादय एषा विद्यन्त इति प्राणिन।' —हारि वृत्ति, पत्र १४१

३६ (क) दशवै (मुनि नथमलजी), पृ १२८ (ख) तिविहा तसा प. त.—तेउकाइया वाउकाइया उराला तसा पाणा। —स्थानाग, स्थान ३।३२६

३७. दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ ६७

३८. (क) अडसभवा अडजा जहा—हसमयूरायिणो। —जिन. चूर्णि, पृ १३९

(ख) पोता एव जायन्त इति पोतजा ते च हस्तीवल्गुली-चर्मजलौकादय। हा. टी, पृ. १४१

(ग) जरायुवेष्टिता जायन्ते इति जरायुजा,—गो-महिष्यजाविकमनुष्यादय। —वही, पृ १४१

आदि तरल पदार्थ रस कहलाते हैं। उनके विकृत हो जाने पर उनमे उत्पन्न होने वाले छोटे-छोटे जीव 'रजस' कहलाते है। (५) **संस्वेदज**—पसीने के निमित्त से उत्पन्न होने वाले जीव संस्वेदज होते हैं, जैसे जू, खटमल आदि। सम्मूर्च्छिम-शीत, उष्ण आदि बाहरी कारणो के सयोग से या इधर-उधर के आसपास के परमाणुओ या वातावरण से मातृ-पितृ सयोग के विना ही पैदा हो जाते हैं, वे सम्मूर्च्छिम या सम्मूर्च्छिनज कहलाते हैं। सम्मूर्च्छिन कहते है—घना होने, बढ़ने या फैलने की क्रिया को। जो जीव गर्भ के विना ही उत्पन्न होते, बढते और फैलते हैं, वे सम्मूर्च्छिनज कहलाते हैं, जैसे टिड्डी, पतगा, चीटी, मक्खी आदि। (६) **उद्भिज्ज**—पृथ्वी को फोड (भेद) कर जो जीव पैदा होते हैं, वे उद्भिज्ज कहलाते है, जैसे—पतगा, खजरीट या शलभ आदि। (७) **औपपातिक**—गर्भ और सम्मूर्च्छन से भिन्न देवो और नारको के जन्म को उपपात कहते है, उससे उत्पन्न होने वाले देव और नारक औपपातिक कहलाते है। देव शय्या मे और नारक कुम्भी मे स्वय उत्पन्न होते हैं। उपपात का अर्थ होता है—अकस्मात् घटित होने वाला—अचानक आ पडने वाला। देव और नारक जीव एक ही मुहूर्त्त मे पूर्ण युवा बन जाते हैं, इसलिए अकस्मात् उत्पन्न होने के कारण इन्हे औपपातिक कहा जाता है।[३९]

सव्वे पाणा परमाहम्मिया : विश्लेषण—इस पक्ति का शब्दश. अर्थ होता है—सभी प्राणी परम-धार्मिक है। किन्तु धार्मिक शब्द तो अहिंसादि धर्मों के पालन करने वाले के अर्थ में रूढ है, अत यहाँ टीकाकार और चूर्णिकार इसका अभिप्रायार्थ स्पष्ट करते है—धर्म का अर्थ यहाँ स्वभाव है। परम अर्थात् सुख जिनका धर्म-स्वभाव है, वे परम-धार्मिक है। अर्थात्—समस्त प्राणी सुखाभिलाषी है, सुखशील है। यहाँ 'परमा' शब्द मे 'अत समृद्धयादौ वा' इस हैमसूत्र से 'म' कार दीर्घ हुआ है।[४०]

षड्जीवनिकाय पर अश्रद्धा-श्रद्धा के परिणाम

[पुढविक्कातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणा जोग्गो ॥ १ ॥

आउक्कातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ॥ २ ॥

३९ (क) रसाज्जाता रसजा —तक्रारनालदधितीमनादिषु पायुकृम्याकृतयो अतिसूक्ष्मा भवति।
—हारि वृत्ति, पत्र १४१

(ख) सस्वेदाज्जाता इति सस्वेदजा—मत्कुण-यूका-शतपदिकादय। —वही, पत्र १४१

(ग) सम्मूर्च्छनाज्जाता सम्मूर्च्छनजा —शलभ-पिपीलिका-मक्षिका-शालूकादय। —वही, पत्र १४१

(घ) उब्भियानाम भूमिं भेत्तूण पखालया सत्ता उप्पज्जति। —जिन चू, पृ. १४०
उद्भेदाज्जन्म येषा ते उद्भेदा अथवा उद्भेदनमुद्भित् उद्भिज्जन्म येषा ते उद्भिज्जा —पतग-खजरीट-पारिप्लवादय। —हारि वृत्ति पत्र १४१

(ङ) उपपाताज्जाता उपपातजा, अथवा उपपाते भवा औपपातिका—देवा नारकश्च।
—हारि. वृत्ति, पत्र १४१

४० (क) **'सव्वे पाणा परमाहम्मिया'**—परम पहाण, त च सुह। अपरम ऊण, त पुण दुख। धम्मो सभावो। परमो धम्मो जेसिं ते परमधम्मिता। यदुक्तम्-सुखस्वभावा। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ७७

(ख) सुखधर्माण —सुखाभिलाषिण इत्यर्थ। —हारि. वृत्ति, पत्र १४२

तेउक्कातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहिं पण्णत्ते ।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ।। ३ ।।

वाउक्कातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ।। ४ ।।

वणस्सतिकातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ।। ५ ।।

तसकातिए जीवे ण सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अणभिगत-पुण्ण-पावो ण सो उट्ठावणाजोग्गो ।। ६ ।।

पुढविक्कातिए जीवे सद्दहती, जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ।। ७ ।।

आउक्कातिए जीवे सद्दहती जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ।। ८ ।।

तेउक्कातिए जीवे सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ।। ९ ।।

वाउक्कातिय जीवे सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ।। १० ।।

वणस्सतिकातिए जीवे सद्दहति जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ।। ११ ।।

तसकातिए जीवे सद्दहती जो जिणेहि पण्णत्ते ।
अभिगत-पुण्ण-पावो सो हु उवट्ठावणे जोग्गो ।। १२ ।।*]

[जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित पृथ्वीकायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा नही करता, वह पुण्य-पाप से अनभिज्ञ होने के कारण (महाव्रतो के) उपस्थापन (आरोहण) के योग्य नही होता ।।१।।

जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित अप्कायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा नही करता, वह पुण्य-पाप से अनभिज्ञ होने के कारण उपस्थापन के योग्य नही होता ।।२।।

जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित तेजस्कायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा नही करता, वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य नही होता ।।३।।

---

* कोष्ठक के अन्तर्गत अंकित ये १२ गाथाएँ कई आचार्य सूत्र (मूल) रूप मे मानते हैं, कई इन गाथाओ को प्राचीनवृत्तिगत मानते हैं, ऐसा अगस्त्यसिंह स्थविर का मत है ।—स.

जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित वायुकायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा नही करता, वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य नही होता ।।४।।

जो जिनेन्द्रों द्वारा प्ररूपित वनस्पतिकायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा नहीं करता, वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने से उपस्थापन के योग्य नही होता ।।५।।

जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित त्रसकायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा नही करता, वह पुण्य-पाप से अनभिगत होने के कारण उपस्थापन (महाव्रतारोहण) के योग्य नही होता ।।६।।

जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित पृथ्वीकायिक जीव (के अस्तित्व) मे श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थान के योग्य होता है ।।७।।

जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित अप्कायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है ।।८।।

जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित तेजस्कायिक जीवो (के अस्तित्व) में श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है ।।९।।

जो जिनेन्द्रो द्वारा प्ररूपित वायुकायिक जीवों (के अस्तित्व) मे श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है ।।१०।।

जो जिनवरो द्वारा प्ररूपित वनस्पतिकायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन के योग्य होता है ।।११।।

जो जिनवरो द्वारा प्ररूपित त्रसकायिक जीवो (के अस्तित्व) मे श्रद्धा करता है, वही पुण्य-पाप से अभिगत होने के कारण उपस्थापन (महाव्रतारोहण) के योग्य होता है ।।१२।।

विवेचन—षड्जीवनिकाय के ज्ञान-दर्शन से सम्पन्न ही उपस्थापनार्ह—इससे पूर्व षड्जीवनिकायो का वर्णन, शिष्य को विश्व के समग्र जीवो का ज्ञान कराने के लिए है। प्रस्तुत १२ गाथाएँ, जो कोष्ठकान्तर्गत है, समग्र जीवो के अस्तित्व मे विश्वास (श्रद्धान) के लिए है।

जीवो के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धालु व्यक्ति पुण्य-पाप से अनभिज्ञ होता है। वह एकेन्द्रिय (पच स्थावर) जीवो के अस्तित्व मे शकाशील या अनजान होता है। इस प्रकार जीवो के अस्तित्व के प्रति अश्रद्धालु साधक प्राणातिपात आदि के रूप मे जो सूक्ष्म दण्ड है, उनका भी परित्याग नहीं कर सकता। अत वह महाव्रतोपस्थापन के योग्य नही होता। महाव्रतो की उपस्थापना (महाव्रत-स्वीकार प्रतिज्ञा) से पूर्व षड्जीवनिकायो (जीवो) के सम्यग्ज्ञान और उनमे सम्यक् श्रद्धान की कितनी आवश्यकता है ? इसे बताने के लिए जिनदास महत्तर तथा आचार्य हरिभद्र तीन दृष्टान्त प्रस्तुत करते हैं—(१) जैसे मलिन वस्त्र पर सुन्दर रग नही चढता, स्वच्छ वस्त्र पर ही सुन्दर रग चढता है, वैसे ही जिसे जीवो का ज्ञान और उनके अस्तित्व मे श्रद्धान (विश्वास) नही होता, उन पर अहिंसादि महाव्रतो का सुन्दर रग नही चढ सकता, अर्थात्—वे महाव्रतोपस्थापन के अयोग्य होते है। परन्तु जिन्हे जीवो का ज्ञान तथा उनके अस्तित्व में श्रद्धान होता है, उन्ही पर महाव्रतो का सुन्दर रग चढ सकता है, अर्थात् वे महाव्रतोपस्थापन के योग्य होते हैं। उन्ही के महाव्रत सुन्दर और सुस्थिर होते हैं। (२) जिस प्रकार प्रासाद-निर्माण के पूर्व जमीन को स्वच्छ और समतल कर देने से भवन स्थिर और सुन्दर

होता है, अस्वच्छ व विषम भूमि पर प्रासाद असुन्दर और अस्थिर होता है, इसी तरह मिथ्यात्वरूपी कूडे कर्कट को साफ किये बिना साधक की जीवन-भूमि पर महाव्रतरूपी प्रासाद की स्थापना कर देने से वह स्थिर और सुन्दर नही होता। (३) जिस प्रकार रुग्ण व्यक्ति को औषध देने से पूर्व उसे वमन-विरेचन करा देने से औषध लागू पड जाती है, उसी प्रकार जीवो के प्रति अश्रद्धा का वमन-विरेचन करा देने से उनमे प्रगाढ व शुद्ध विश्वास होने पर महाव्रतारोहण किया जाता है, तो उसके महाव्रत स्थिर एव शुद्ध रहते है।❀

दण्डसमारम्भ के त्याग का उपदेश और शिष्य द्वारा स्वीकार

[४१] इच्चेसिं छण्हं जीवनिकायाणं नेव सयं दंडं समारंभेज्जा, नेवऽन्नेहिं दंडं समारंभावेज्जा, दंडं समारंभंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, × करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि, तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ १० ॥+

अर्थ—[१] (समस्त प्राणी सुख के अभिलाषी है) "इसलिए इन छह जीवनिकायो के प्रति स्वय दण्ड-समारम्भ न करे, दूसरो से दण्ड-समारम्भ न करावे और दण्डसमारम्भ करने वाले अन्य का अनुमोदन भी न करे।"

(शिष्य द्वारा स्वीकार—) (भते! मै) यावज्जीवन के लिए तीन करण एव तीन योग से (मन-वचन-काया से दण्डसमारम्भ) न (स्वय) करू गा, न (दूसरो से) कराऊगा और (दण्डसमारम्भ) करने वाले दूसरे प्राणी का अनुमोदन भी नही करू गा।

भते! मैं उस (अतीत मे किये हुए) दण्डसमारम्भ से प्रतिक्रमण करता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और व्युत्सर्ग करता हूँ ॥ १० ॥

विवेचन—प्रस्तुत ४१वे सूत्र के पूर्वार्द्ध मे दण्डसमारम्भ के त्रिविध-त्रिविध त्याग का गुरु द्वारा शिष्य को उपदेश किया गया है तथा उत्तरार्द्ध मे शिष्य द्वारा उस त्याग को विधिपूर्वक स्वीकार करने का प्रतिपादन है।

दण्डसमारम्भ : विशिष्ट अर्थ—दण्ड और समारम्भ दोनो जैन शास्त्र के पारिभाषिक शब्द है। राजनीतिशास्त्र मे 'दण्ड' शब्द अपराधी को सजा देने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, वह सजा शरीरिक, मानसिक, आर्थिक और सामाजिक कई प्रकार की हो सकती है। धर्मशास्त्र मे सघीय व्यवस्था या व्रत-नियमो का भग या अतिक्रमण करने वाले साधक को भी तप, दीक्षाछेद अथवा साधिक बहिष्कार के रूप मे दण्ड दिया जाता है। परन्तु यहाँ 'दण्ड' शब्द इनसे भिन्न अर्थों मे प्रयुक्त है।

❀ (क) जिनदास चूर्णि, पृ. १४३-१४४
(ख) हारि वृत्ति, पत्र १४५

× पाठान्तर—करत पि।

\+ **'इच्चेसिं'** से लेकर **'न समणुजाणेज्जा'** तक का पाठ विधायक 'भगवद्वचन' या 'गुरुवचन' है। उससे आगे का **'अप्पाण वोसिरामि'** तक के पाठ मे शिष्य द्वारा दण्डसमारम्भत्याग का स्वीकार है।—सं

अगस्त्यसिंह स्थविर के अनुसार 'दण्ड' का अर्थ—किसी भी प्राणी के शरीरादि का निग्रह (दमन) करना है। हरिभद्रसूरि और जिनदास महत्तर के अनुसार दण्ड का अर्थ—सघट्टन, परितापन आदि है। वस्तुत: मूलपाठ से ध्वनित होने वाला अर्थ बहुत ही व्यापक है—मन-वचन-काया की कोई भी प्रवृत्ति, जो दूसरे प्राणी के लिए सतापदायक या दु खोत्पादक हो, वह सब दण्ड है।' दण्ड का सम्बन्ध यहाँ केवल हिंसा से ही नही है, अपितु असत्य, चौर्य, अब्रह्मचर्य एवं परिग्रह से भी है।

कौटिल्य ने दण्ड के तीन अर्थ किये है—वध, परिक्लेश और अर्थहरण। वध मे ताडन, तर्जन, प्राणहरण, बन्धन आदि हिंसाजनक व्यापार आ जाते हैं। अर्थहरण मे धन या किसी पदार्थ का हरण, चोरी एव परिग्रह आ जाते है। तथा परिक्लेश मे हिंसा आदि पाचों ही प्रकार से दूसरे को दु:ख पहुँचाया जाता है। यद्यपि ये सभी दण्डय प्रवृत्तियाँ दूसरो के लिए परितापजनक होने से हिंसा के दायरे मे आ जाती है और असत्य, चोरी आदि भी दूसरो के लिए दु खोत्पादक होने से एक प्रकार से हिंसा के ही अन्तर्गत है। यहाँ समारम्भ का अर्थ है— करना या प्रवृत्त होना।[४१]

'इति' शब्द : पांच अर्थों मे—प्रस्तुत सूत्र (४१) मे प्रारम्भ में 'इच्चेसि' शब्द के अन्तर्गत 'इति' शब्द पाच अर्थो मे व्यवहृत होता है—(१) हेतु-(यथा—वर्षा हो रही है, इस कारण दौड रहा है), (२) ऐसा या इस प्रकार (यथा—उसे अविनीत, ऐसा कहते हैं, अथवा इस प्रकार महावीर ने कहा), (३) सम्बोधन—(यथा—धम्मएति=हे धार्मिक!), (४) परिसमाप्ति—(इति भगवइसुत्त सम्मत्त) और (५) उपप्रदर्शन (पूर्व वृत्तान्त या पुरावृत्त को बताने के लिए, यथा—इच्चेए पचविहे-ववहारे- -ये पूर्वोक्त पाच प्रकार के व्यवहार हैं।) प्रस्तुत सूत्र मे 'इति' शब्द 'हेतु' अथवा 'उपप्रदर्शन' के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है। जैसे कि इससे पूर्व कहा गया था कि समस्त प्राणी सुखाभिकांक्षी हैं, इसलिए अथवा इस प्रकार पूर्वोक्त षड्जीवनिकायो के प्रति।[४२]

प्रतिज्ञासूत्रो की व्याख्या—(१) जावज्जीवाए—जीवनपर्यन्त, दण्डप्रत्याख्यान अथवा महाव्रतो की प्रतिज्ञा यावज्जीवन—जीवनभर के लिए होती है। **(२) तिविहं तिविहेण**—आगम की भाषा मे इन्हे तीन करण और तीन योग कहा जाता है। तिविह को तीन करण—कृत, कारित और अनुमोदित तथा तिविहेण को तीन योग—मन, वचन और काया का व्यापार (प्रवृत्ति या कर्म) कहा जाता है। जब कोई भी दण्ड या हिंसा आदि पाप स्वय किया जाता है, तो उसे 'कृत' कहते है, दूसरो से कराया जाता है तो उसे कारित कहते हैं और करने वाले को अच्छा कहना या उसका समर्थन करना

---

४१ (क) 'दडो सरीरादिनिग्गहो।' —अगस्त्य. चूर्णि., पृ ७८
(ख) 'दडो सघट्टण-परितावणादि।' —जि चूर्णि, पृ १४२
(ग) 'वध परिक्लेशोऽर्थहरण दण्ड इति।' —कौटिलीय अर्थशास्त्र, २।१०।२८

४२ (क) इतिसद्दो अणेगेसु अत्थेसु वट्टइ, त.—'आमतणे परिसमत्तीए उवप्पदरिसणे य।
—जिन. चूर्णि, पृ. १४२
(ख) ' हेतौ, एवमत्थो इति, ' आद्यर्थे ' परिसमाप्तौ, ' प्रकारे ।' —अ चू, पृ ७८
(ग) इच्चेसि इत्यादि—सर्वे प्राणिन परमधर्माण इत्यनेन हेतुना। —हारि वृत्ति, पत्र १४३
(घ) इह इतिसद्दो उवप्पदरिसणे दट्ठव्वो ' (यथा—) चे एते 'जीवाभिगमस्स छभेया भणिया।'
—जि चू, पृ. १४२

अनुमोदन कहलाता है। कृत, कारित और अनुमोदन ये तीनो दण्ड-समारम्भ क्रियाए हैं, इसलिए जितना भी किया, कराया या अनुमोदन किया जाता है, वह मन, वचन और काया के माध्यम से किया जाता है। मन, वचन और शरीर, ये तीनो एक दृष्टि से साधन = करण भी कहे जा सकते है। प्रस्तुत मे निष्कर्ष यह है कि दण्डसमारम्भ के मन, वचन और काया से कृत, कारित और अनुमोदन के भेद से ९ विकल्प (भग) हो जाते हैं—(१) दण्डसमारम्भ मन से करना, कराना, और अनुमोदन करना (२) दण्डसमारम्भ वचन से करना, कराना और अनुमोदन करना। (३) दण्डसमारम्भ काया से करना, कराना और अनुमोदन करना। प्रस्तुत मूलपाठ मे पहले कृत, कारित और अनुमोदन से दण्डसमारम्भ कराने का निषेध किया गया है, किन्तु उसके साथ मन से, वचन से और काया से शब्द नही जोडे गये है, किन्तु बाद मे **'तिविहं तिविहेण'** पदो का सकेत करके **'मणेणं वायाए काएण'** एव **'न करेमि, न कारवेमि, करंतं पि अन्नं न समणुजाणामि'** का उल्लेख करके शास्त्रकार ने इसे स्पष्ट कर दिया है।[४३]

दण्ड शब्द को हिसाप्रयोजक मानकर अगस्त्य चूर्णि मे हिसा के आधार पर इन नौ भगो का स्पष्टीकरण किया है—(१) मन से दण्डसमारम्भ करता है—स्वय मारने का सोचता है कि इसे कैसे मारू ? मन से दण्डसमारम्भ कराना, जैसे—वह इसे मार डाले, ऐसा मन मे सोचना। मन से अनुमोदन—कोई किसी को मार रहा हो, उस समय मन ही मन राजी (सन्तुष्ट) होना, इसी तरह वचन से हिसा करना—जैसे इस प्रकार का वचन बोलना—जिसमे दूसरा कोई मर जाए। किसी को मारने का आदेश देना वचन से हिसा कराना है। इसी प्रकार 'अच्छा मारा' यो कहना, वचन से हिसा का अनुमोदन करना है। स्वय किसी को मारे—यह काया से स्वय हिसा करना है, किसी को मारने का हाथ आदि से सकेत करना काया से हिसा कराना है, और कोई किसी को मार रहा हो, उसकी शारीरिक चेष्टाओ से प्रशसात्मक प्रदर्शन करना—हिसा का काया से अनुमोदन है।

'तस्स० पडिक्कमामि, निंदामि गरिहामि०'—अकरणीय कार्य का प्रत्याख्यान (परित्याग) करने की जैनपद्धति का क्रम इस प्रकार है—(१) अतीत का प्रतिक्रमण, (२) वर्त्तमानकाल का सवर और (३) भविष्यत्काल का प्रत्याख्यान। इस दृष्टि से यहाँ 'तस्स' शब्द दिया है, वह 'देहलीदीपक-न्याय' से **'निंदामि गरिहामि'** के साथ भी सम्बन्धित है। अर्थात्—प्रतिक्रमण का अर्थ है—पापकर्मों से निवृत्त होना। तात्पर्य यह है कि गतकाल मे जो दण्डसमारम्भ मैने किये है उनसे निवृत्त होता—वापस लौटता—हूँ। 'निन्दामि' का अर्थ है—निन्दा करता हूँ। यह निन्दा किसी दूसरे की नही, स्वय की निन्दा है, जो पश्चात्तापपूर्वक, आत्मालोचनपूर्वक स्वय की जाती है। 'गर्हामि' का अर्थ है—गर्हा—घृणा करता हूँ। अर्थात्—जो भी पाप या दण्डसमारम्भ मुझसे हुए है, उनसे घृणा करता हूँ।

निन्दा और गर्हा मे अन्तर—निन्दा आत्मसाक्षिकी होती है और गर्हा (जुगुप्सा) परसाक्षिकी। (२) अगस्त्य चूर्णि के अनुसार—पहले जो अपराध या पाप अज्ञानवश किये हो, उनकी निन्दा यानी कुत्सा करना। गर्हा का अर्थ है—उन दोषो-अपराधो को गुरुजनो या सभा के समक्ष

---

४३ (क) दशवै. अगस्त्य, चूर्णि, पृ ७८ (ख) दशवै जिन चूर्णि, पृ १४२-१४३
(ग) तिस्रो विधा-विधानानि कृतादिरूपा अस्येति त्रिविध-दण्ड इति गम्यते तम्। त्रिविधेन-करणेन मनसा वचसा कायेन। —हारि. टी, प १४३। (घ) अ चू, पृ. ७८

प्रकट करना (३) जिनदास महत्तर के अनुसार—निन्दा (आत्मनिन्दा) है—पहले जो अज्ञानभाव से दोष या अपराध किया हो, उसके सम्बन्ध में पश्चात्तापपूर्वक हृदय मे दाह का अनुभव करना, जैसे—मैने बहुत बुरा किया, बुरा कराया, बुरे का अनुमोदन किया इत्यादि। और गर्हा है—वर्तमान और अनागत काल मे उस अपराध को न करने के लिए अभ्युद्यत होना।[४४]

अप्पाणं वोसिरामि : तात्पर्य—इसका शब्दश अर्थ है—आत्मा का व्युत्सर्ग—त्याग करता हूँ। परन्तु आत्मा अपने आप में त्याज्य कैसे हो सकती है, उसकी अतीत और वर्तमान की असत् (सावद्य) प्रवृत्तियाँ या पापरूप आत्मा ही त्याज्य होती है, साधना की दृष्टि से हिसा आदि सावद्य प्रवृत्तियाँ त्याज्य होती है, जिनसे आत्मा को कर्मबन्धन होता है। अत **'अप्पाणं वोसिरामि'** का भावार्थ होगा मै अतीतकाल मे दण्ड-प्रवृत्त (सावद्य या पापयुक्त प्रवृत्ति मे प्रवृत्त) आत्मा (आत्मपरिणति) का त्याग (व्युत्सर्ग) करता हूँ।[४५]

प्रश्न हो सकता है कि 'देहलीदीपकन्याय' से यहाँ अतीतकालीन पाप (दण्ड) युक्त आत्मा का ही प्रतिक्रमण यावत् व्युत्सर्ग किया जाता है, वर्तमान दण्ड (पाप) का सवर और भविष्यत्कालीन पाप (दण्ड) का प्रत्याख्यान इससे नही होता। इसका समाधान आचार्य हरिभद्र करते हैं कि न करेमि (न करोमि) इत्यादि से वर्तमान के सवर और भविष्यत् के प्रत्याख्यान की भी सिद्धि हो जाती है।[४६]

---

४४ (क) 'योऽसौ त्रिकालविषयो दण्डस्तस्य सम्बन्धिनमतीतमवयव प्रतिक्रामामि, न वर्तमानमनागत वा, अतीत्यस्यैव प्रतिक्रमणात्, प्रत्युत्पन्नस्य सवरणादनागतस्य प्रत्याख्यानादिति 'प्रतिक्रामामीति भूताद्दण्डान्निवर्ते ऽहमित्युक्त भवति।'

(ख) निन्दामि गर्हामीति—अत्राऽऽत्मसाक्षिकी निन्दा, परसाक्षिकी गर्हा—जुगुप्सेत्युच्यते।
—हारि. वृत्ति, पत्र १४४

(ग) "ज पुव्वमण्णाणेण कत तस्स णिंदामि, णिंदि कुत्सायाम् इति कुत्सामि, गर्ह परिभाषणे इति पगासीकरेमि।" —अगस्त्यचूर्णि, पृ ७८

(घ) ज पुण पुव्वि अन्नाणभावेण कय त णिंदामि वा—'हा! दुट्ठु कय, हा! दुट्ठु कारिय, अणुमय हा दुट्ठु। अतो अतो डज्झइ, हियय पच्छाणुतावेण। 'गरिहामि' णाम तिविह तीताणागत-वट्टमाणेसु कालेसु अकरणयाए अब्भुट्ठेमि। —जिनदास चूर्णि, पृ १४३

४५ (क) दशवै. (मुनि नथमलजी), पृ. १३४

(ख) आत्मान—अतीतदण्डकारिणमगलाध्य व्युत्सृजामि इति। विविधार्थो विशेषार्थो वा विशब्द उच्छब्दो भृशार्थः सृजामि—त्यजामि। ततश्च विविध विशेषेण वा भृश त्यजामि—व्युत्सृजामीति।
—हारि वृत्ति, पत्र १४४

(ग) दशवै. (आ. आत्मारामजी), पृ ७० (घ) दशवै (आचारमणिमजूषा) भा. १, पृ २३३

४६. (क) आह-यद्येवमतीतदण्डप्रतिक्रमणमात्रमस्यैदम्पर्यं, न प्रत्युत्पन्नसवरणमनागत-प्रत्याख्यान चेति, नैतदेव, न करोमीत्यादिना तदुभयसिद्धेरिति। —हारि वृत्ति., पत्र १४४

(ख) दशवै. (आचारमणिमजूषा) भा. १, पृ. २३३ (ग) दशवै. (आ. आत्मारामजी म.), पृ. ७०

तात्पर्य—यह है कि **'तस्स भंते वोसिरामि'** इत्यादि शब्दो से, शिष्य दण्डसमारम्भ न करने की प्रतिज्ञा ग्रहण करने के बाद जो दृढीकरण की भावना करता है, वह अभिव्यक्त होती है।[४७]

फलितार्थ—साधक महाव्रत (चारित्र) उपस्थापन के योग्य तभी होता है, जब वह षड्जीव-निकाय को पहले सम्यक् प्रकार से जान ले, उनके अस्तित्व के विषय मे उसे दृढ श्रद्धा-विश्वास हो जाए और उसकी प्रतीति के लिए वह गुरु द्वारा उपदिष्ट षड्जीव-निकायो के प्रति दण्डसमारम्भ का मन-वचन-काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदितरूप से विधिवत् त्याग कर दे।[४८]

शिष्य द्वारा सरात्रिभोजनविरमण पंचमहाव्रतों का स्वीकार

[४२] पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमण। सव्वं भते ! पाणाइवायं पच्चक्खामि, से सुहुमं वा, बायरं वा, तसं वा, थावरं वा,× नेव सयं पाणे अइवाएज्जा, नेवऽन्नेहिं पाणे अइवायावेज्जा, पाणे अइवायंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण, मणेणं, वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंत□ पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भते ! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाण वोसिरामि।

पढमे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओपाणाइवायाओ वेरमणं ॥ ११ ॥

[४३] अहावरे दोच्चे भंते ! महव्वए मुसावायाओ वेरमण। सव्वं भंते ! मुसावाय पच्चक्खामि, से कोहा वा, लोहा वा, भया वा, हासा वा।❀ नेव सय मुस वएज्जा, नेवऽन्नेहि मुस वायावेज्जा, मुसं वयंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेण, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते ! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाण वोसिरामि।

दोच्चे भंते ! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मुसावायाओ वेरमण ॥ १२ ॥

[४४] अहावरे तच्चे भंते ! महव्वए अदिन्नादाणाओ वेरमण। सव्व भंते ! अदिन्नादाण पच्चक्खामि, से गामे वा नगरे वा, रन्ने वा, अप्पं वा, बहु वा, अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा, अचित्तमंतं वा।+ नेव सयं अदिन्नं गेण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं अदिन्न गेण्हावेज्जा, अदिन्नं गेण्हंते वि अन्ने

---

४७ दशवै (मूलपाठ टिप्पणयुक्त), पृ ९

४८ पढियाए सत्थपरिण्णाए दसकालिए छज्जीवणिकाए वा कहियाए अत्थओ अभिगयाए सम परिक्खिऊण-परिहरइ छज्जीवणियाए भणवयणकाएहिं कयकारावियाणुमइभेदेण, तओ ठाविज्जइ ॥—हारि टीका, पत्र १४५

× अधिकपाठ—"से त पाणातिवाते चतुव्विहे, त -दव्वतो, खेत्ततो, कालतो भावतो। दव्वतो—छसु जीवनिकाएसु, खेत्ततो—सव्वलोगे, कालतो—दिया व राओ वा, भावतो—रागेण वा दोसेण वा। "

□ पाठान्तर—**'करेंतपि'** के बदले 'करतपि' पाठान्तर भी मिलता है।

❀ "से त मुसावाते चउव्विहे, त —दव्वतो ४। दव्वतो—सव्वदव्वेसु, खेत्ततो—लोगे वा अलोगे वा, कालतो—दिया वा रातो वा, भावतो—कोहेण वा, लोहेण वा, भएण वा, हासेण वा।"

+ "से त अदिण्णादाणे चतुव्विहे पण्णत्ते, त दव्वतो ४। दव्वतो—अप्प वा, बहु वा, अणु वा, थूल वा, चित्तमत वा अचित्तमत वा। खेत्ततो—गामे वा, नगरे वा, अरण्णे वा, कालतो—दिया वा, रातो वा; भावतो—अप्पग्घे वा महग्घे वा। ' ' " —अगस्त्य चूर्णि

न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि। तच्चे भंते! महव्वए उवट्ठिओ मि सव्वाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं ॥ १३ ॥

[४५] अहावरे चउत्थे भंते! महव्वए मेहुणाओ वेरमण। सव्वं भंते! मेहुणं पच्चक्खामि, से दिव्वं वा, माणुस्सं वा, तिरिक्खजोणियं वा*। नेव सयं मेहुणं सेवेज्जा, नेवऽन्नेहिं मेहुणं सेवावेज्जा, मेहुणं सेवंते वि अन्ने न समणुजाणेजा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि। चउत्थे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ मेहुणाओ वेरमणं ॥ १४ ॥

[४६] अहावरे पंचमे भंते! महव्वए परिग्गहाओ वेरमण। सव्वं भंते! परिग्गहं पच्चक्खामि,□ से अप्पं वा, बहुं वा अणुं वा, थूलं वा, चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा। नेव सयं परिग्गहं परिगेण्हेज्जा, नेवऽन्नेहिं परिग्गह परिगेण्हावेज्जा, परिग्गह परिगेण्हंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं, मणेण वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि। पंचमे भंते! महव्वए उवट्ठिओमि सव्वाओ परिग्गहाओ वेरमणं ॥ १५ ॥

[४७] अहावरे छट्ठे भंते! वए राईभोयणाओ वेरमणं। सव्वं भंते! राईभोयण पच्चक्खामि, से असण वा, पाणं वा, खाइम वा, साइम वा।× नेव सय राइ भुंजेज्जा, नेवऽन्नेहिं राइं भुंजावेज्जा, राइ भुंजंते वि अन्ने न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए, तिविहं तिविहेणं, मणेण वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्न न समणुजाणामि।

तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि। छट्ठे भंते! वए उवट्ठिओमि सव्वाओ राईभोयणाओ वेरमणं ॥ १६ ॥

---

* अधिकपाठ—"से त मेहुणे चउव्विहे पण्णत्ते, त —दव्वतो रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु, खेत्ततो—उड्ढलोए वा, अहोलोए वा, तिरियलोए वा, कालतो—दिया वा, रातो वा, भावतो—रागेण वा दोसेण वा।"
—अग चूर्णि

□ से गामे वा, नगरे वा, अरण्णे वा। से य परिग्गहे चउव्विहे पण्णत्ते, त.' दव्वतो, खेत्ततो, कालतो, भावतो। दव्वतो—सव्वदव्वेहिं, खेत्ततो—सव्वलोए, कालतो—दिया वा रायो वा, भावतो—अप्पग्घे वा महग्घे वा ॥ —अगस्त्य. चूर्णि

× से त रातीभोयणे चतुव्विहे पण्णत्ते, त —दव्वतो खेत्ततो कालतो भावतो। दव्वतो—असणे वा पाणे वा खादिमे वा सादिमे वा, खेत्ततो—समयखेत्ते, कालतो—राती, भावतो—तित्ते वा कडुए वा, कसाए वा, अंबिले वा महुरे वा लवणे वा। —अगस्त्य चूर्णि।

[४८] इच्चेइयाइं पंचमहव्वयाइं राईभोयणवेरमणछट्ठाइं अत्तहियट्ठयाए* उवसंपज्जित्ताणं विहरामि ॥ १७ ॥

[४२] भते ! पहले महाव्रत मे प्राणातिपात (जीवहिंसा) से विरमण (निवृत्ति) करना होता है। हे भदन्त ! मै सर्व प्रकार के प्राणातिपात का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ। सूक्ष्म या बादर (स्थूल), त्रस या स्थावर, जो भी प्राणी है, उनके प्राणो का अतिपात (घात) न करना, दूसरो से प्राणातिपात न कराना, (और) प्राणातिपात करने वालो का अनुमोदन न करना, (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मैं) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से करता हूँ। (अर्थात्) मै मन से, वचन से और काया से (प्राणातिपात) स्वय नही करू गा, न दूसरो से कराऊँगा और अन्य किसी करने वाले का अनुमोदन नही करूँगा।

भते ! मैं उस (अतीत मे किये हुए प्राणातिपात) मे निवृत्त (विरत) होता हूँ, (आत्मसाक्षी से उनकी) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (प्राणातिपात मे या पापकारी कर्म से युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भते ! मैं प्रथम महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हुआ हूँ। जिसमे सर्वप्रकार के प्राणातिपात से विरत होना होता है ॥११॥

[४३] भते ! (प्रथम महाव्रत के अनन्तर) द्वितीय महाव्रत में मृषावाद के विरमण होता है। भते ! मैं सब (प्रकार के) मृषावाद का प्रत्याख्यान (त्याग) करता हूँ। क्रोध से, लोभ से, भय से या हास्य से, स्वय असत्य (मृषा) न बोलना, दूसरो से असत्य नही बुलवाना और दूसरे असत्य बोलने वालो का अनुमोदन न करना, (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मै) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से करता हूँ। (अर्थात्) मै मन से, वचन से, काया से (मृषावाद) स्वय नही करू गा, न (दूसरो से) कराऊँगा और न अन्य किसी करने वाले का अनुमोदन करू गा।

भते ! मैं उस (अतीत के मृषावाद) से निवृत्त होता हूँ, (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी) से गर्हा करता हूँ और (मृषावाद से युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भते ! मै द्वितीय महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित हुआ हूँ, (जिसमे) सर्व-मृषावाद से विरत होना होता है ॥१२॥

[४४] भते ! (मृषावादविरमण नामक द्वितीय महाव्रत के पश्चात्) तृतीय महाव्रत मे अदत्तादान से विरति होती है। भते ! मै सब प्रकार के अदत्तादान का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि—गाँव मे, नगर मे या अरण्य मे, (कही भी) अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त (सजीव) हो या अचित्त (निर्जीव), (किसी भी) अदत्त वस्तु का स्वय ग्रहण न करना, दूसरो से अदत्त वस्तु का ग्रहण न कराना और अदत्त वस्तु का ग्रहण करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन न करना; यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से; (इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता हूँ।) (अर्थात्—) मैं मन से, वचन से, काया से स्वय (अदत्त वस्तु को ग्रहण) नही करू गा, न ही दूसरो से कराऊँगा और अदत्तवस्तु-) ग्रहण करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन भी नही करू गा।

---

* पाठान्तर—'अत्तहिअट्ठाए।'

भते ! मैं उस (अतीत के अदत्तादान) से निवृत्त होता हूँ। (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (अदत्तादान से युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भंते ! मैं तृतीय महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित हुआ हूँ, (जिसमे) सर्व-अदत्तादान से विरत होना होता है ॥१३॥

[४५] इसके (अदत्तादान-विरमण के) पश्चात् चतुर्थ महाव्रत मे मैथुन से निवृत्त होना होता है। मैं सब प्रकार के मैथुन का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि देव-सम्बन्धी, मनुष्य-सम्बन्धी, अथवा तिर्यञ्च-सम्बन्धी मैथुन का स्वय सेवन न करना, दूसरो से मैथुन सेवन न कराना और अन्य मैथुन-सेवन करने वालो का अनुमोदन न करना, (मै इस प्रकार की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से (करता हूँ।) (अर्थात्) मैं मन से, वचन से, काया से (स्वय मैथुन-सेवन) न करू गा, (दूसरो से मैथुन-सेवन) नही कराऊगा और न ही (मैथुन-सेवन करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करू गा।

भते ! मै इससे (अतीत के मैथुन-सेवन से) निवृत्त होता हूँ। (आत्मसाक्षी से उसकी) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (मैथुनसेवनयुक्त सावद्य) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भते ! मै चतुर्थ महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हुआ हूँ, जिसमे सब प्रकार के मैथुन-सेवन से विरत होना होता है ॥१४॥

[४६] इसके (चतुर्थ महाव्रत के) पश्चात् पचम महाव्रत मे परिग्रह से विरत होना होता है। "भते ! मै सब प्रकार के परिग्रह का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि—गाँव मे, नगर मे या अरण्य मे (कही भी), अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, सचित्त या अचित्त—(किसी भी) परिग्रह का परिग्रहण स्वय न करे, दूसरो से परिग्रह का परिग्रहण नही कराए, और न ही परिग्रहण करने वाले अन्य किन्ही का अनुमोदन करे, (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मैं) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से (करता हूँ।) (अर्थात्—) मै मन से, वचन से, काया से (परिग्रह-ग्रहण) नही करू गा, न (दूसरो से परिग्रह-ग्रहण) कराऊँगा, और न (परिग्रह-ग्रहण) करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करू गा।"

भते ! मै उससे (अतीत के परिग्रह) से निवृत्त होता हूँ, उसकी (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (परिग्रह-युक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भते ! मैं पचम-महाव्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हूँ, (जिसमे) सब प्रकार के परिग्रह से विरत होना होता है ॥१५॥

[४७] भते ! इसके (पचम महाव्रत के) अनन्तर छठे व्रत मे रात्रिभोजन से निवृत्त होना होता है।

भते ! मै सब प्रकार के रात्रिभोजन का प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे कि—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य (किसी भी वस्तु) का रात्रि मे स्वय उपभोग न करे, दूसरो को रात्रि मे उपभोग न कराए और न रात्रि मे उपभोग करने वाले अन्य किन्ही का अनुमोदन करे, (इस प्रकार की प्रतिज्ञा मै) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से (करता हूँ।) (अर्थात्—) मैं मन से, वचन से, काया

मे, स्वय (रात्रिभोजन) नही करूगा, न (दूसरो से रात्रिभोजन) कराऊगा और न (रात्रिभोजन करने वाले अन्य किसी का) अनुमोदन करूगा।

भते ! मैं उससे (अतीत के रात्रिभोजन से) निवृत्त होता हूँ, (आत्मसाक्षी से उनकी) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और (रात्रिभोजनयुक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ।

भते ! मैं छठे व्रत (-पालन) के लिए उपस्थित (उद्यत) हुआ हूँ, जिसमे सब प्रकार के रात्रि-भोजन से विरत होना होता है ॥१६॥

[४८] इस प्रकार मै इन (अहिसादि) पाच महाव्रतो और रात्रिभोजन-विरमण रूप छठे व्रत को आत्महित के लिए अगीकार करके विचरण करता हूँ ॥१७॥

विवेचन—सामान्य दण्डसमारम्भ-त्याग के बाद विशेष दण्डसमारम्भ-त्याग—इसके पूर्व के अनुच्छेद मे शिष्य द्वारा सार्वत्रिक एव सार्वकालिक सामान्य दण्ड-समारम्भ प्रत्याख्यान की प्रतिज्ञा का उल्लेख है और उसके बाद प्रस्तुत ७ सूत्रो (४२ मे ४८ तक) मे विशेष रूप से दण्डसमारम्भ का प्रत्याख्यान। इन विशिष्ट दण्ड-समारम्भो से दूसरे जीवो को परिताप होता है। अत इन ७ सूत्रो मे अहिसादि पाच महाव्रतो और छठे रात्रि-भोजनत्याग रूप व्रत की शिष्य द्वारा की जाने वाली प्रतिज्ञा का निरूपण है।[४९]

महाव्रत और रात्रिभोजनविरमणव्रत मे अन्तर—यहाँ प्राणातिपातविरमण आदि को महाव्रत और रात्रिभोजनविरमण को व्रत कहा गया है। किन्तु यहाँ व्रत शब्द अणुव्रत और महाव्रत दोनो से भिन्न है, क्योकि अणुव्रत और महाव्रत ये दोनो मूलगुण है, किन्तु रात्रिभोजनविरमणव्रत मूलगुण नही है। व्रतशब्द का यह प्रयोग सामान्यविरति या नियम के अर्थ मे है।[५०]

महाव्रत : क्या, क्यो और कैसे ?—मूलगुण अहिसादि पाच है। इन्ही की महाव्रत सज्ञा है। व्रतशब्द साधारण है। इसके दो भेद आशिक विरति (देशविरति) और सर्वविरति के आधार पर किये गए हैं—अणुव्रत और महाव्रत। ये दो शब्द सापेक्ष है, तथा विरति की अपूर्णता और पूर्णता की अपेक्षा से प्रयुक्त होते है। अर्थात्—मूल मे अकित पाठ के अनुसार मन-वचन-काया से प्राणाति-पातादि न करना, न कराना और न अनुमोदन करना, यो नौ कोटि प्रत्याख्यानो से महाव्रत पूर्णविरति रूप होते है, जबकि अणुव्रत मे इनमे से कुछ विकल्प (छूटे—रियायते) रख कर शेष प्राणातिपात आदि का त्याग किया जाता है। इस प्रकार अपूर्ण विरति अणुव्रत कहलाती है और पूर्ण विरति महाव्रत। व्रत के निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनो रूप होते है। इस प्रकार (१) अणुव्रतो की अपेक्षा महान् (विशाल) होने के कारण ये (अहिंसादि पाचो) महाव्रत कहलाते है। (२) दूसरा कारण है—ससार के सर्वोच्च महाध्येय—मोक्ष के अतिनिकट के साधक होने से ये महाव्रत कहलाते हैं। (३) इन व्रतो को धारण करने वाली आत्मा अतिमहान् एव उच्च हो जाती है, इन्द्र एव चक्रवर्ती आदि उसको

---

४९ अय च आत्मप्रतिपत्स्यर्थो दण्डनिक्षेप सामान्यविशेषरूप इति, सामान्येनोक्तलक्षण एव, स तु विशेषत पचमहाव्रतरूपतयाऽप्यगीकर्त्तव्य इति महाव्रतान्याह। —हारि. वृत्ति, पत्र १४४

५०. दशवै (मुनि नथमलजी), पृ १३६

मस्तक झुकाते हैं, इसलिए भी ये महाव्रत कहलाते हैं।[५१] (४) अथवा इन्हें चक्रवर्ती, राजा, महाराजा अथवा तीव्रवैराग्य सम्पन्न महान् वीर व्यक्ति (स्त्री-पुरुष) धारण कर सकते हैं, इनका पालन कर सकते है, इस कारण भी ये महाव्रत कहलाते हैं, (५) ये सकलरूप से अंगीकार किये जाते है, विकल-रूप से नही, तथा इनमे हिंसादि पाच पापो का जो त्याग किया जाता है, वह समग्र द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से किया जाता है, इस कारण भी इन्हें महाव्रत कहा गया है।[५२]

महाव्रत : सर्वविरमणरूप—पाचो ही महाव्रतों के मूलपाठ मे **'सव्वं'** या **'सव्वाओ'** शब्द निहित है, जिसका तात्पर्य है—सभी प्रकार के (समस्त) प्राणातिपात आदि से विरतिरूप ये पाचों महाव्रत है। तत्पश्चात् प्रत्येक महाव्रत की प्रतिज्ञा के पाठ मे सर्वशब्द का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। जैसे कि—सर्वप्राणातिपातविरमण महाव्रत मे **'से सुहुमं वा बायरं वा'** इत्यादि कहा गया है। तत्पश्चात् इसी सर्वशब्द के सन्दर्भ मे तीनकरण, तीनयोग मे (कृत, कारित, अनुमोदनरूप से, मन-वचन-काया से) प्राणातिपात आदि पाचो पापो के सर्वथा प्रत्याख्यान का उल्लेख किया गया है। पाचो महाव्रतो के प्रतिज्ञा-पाठ मे उक्त सर्वप्राणातिपात आदि का तात्पर्य है—मै मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदनरूप प्राणातिपात, मृषावाद, आदि का आचरण नही करूगा, मैं पूर्वोक्त सभी प्रकार के प्राणातिपात, मृषावाद आदि का प्रत्याख्यान करता हूँ। त्रिकरण-त्रियोग का स्पष्टीकरण पहले किया जा चुका है। अर्थात्— साध्वी या साधु महाव्रतो की प्रतिज्ञा के समय कहता है—श्रमणोपासक की तरह प्रत्येक व्रत मे कुछ छूट रखकर मैं स्थूलरूप से प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान नही करता, अपितु सर्व प्रकार के प्राणातिपात आदि का प्रत्याख्यान करता हूँ। **सर्व का अर्थ है**—निरवशेष। महाव्रतो मे किसी भी प्रकार की छूट या रियायत नही रहती। **विरमण का अर्थ है**—सम्यग्ज्ञान और सम्यक्श्रद्धापूर्वक प्राणातिपात आदि पापो से सर्वथा निवर्तन—निवृत्ति करना।[५३] प्रत्येक महाव्रत के साथ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से हिंसादि पापो से विरत होने का विधान भी 'सर्वविरमण' के अन्तर्गत आता है।

प्रत्याख्यान : प्रतिज्ञा का प्राण—प्रत्येक महाव्रत की प्रतिज्ञा के प्रारम्भ मे **'पच्चक्खामि'** शब्द आता है। 'प्रत्याख्यान' का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ इस प्रकार होता है—प्रत्याख्यान मे तीन शब्द

---

५१. (क) 'एभ्यो हिंसादिभ्य एकदेशविरतिरणुव्रत, सर्वतो विरतिर्महाव्रतम्।' —तत्त्वार्थ. ७।२ भाष्य
(ख) तत्त्वार्थ ७।१ भाष्य सिद्धसेनीया टीका,
(ग) 'अकरण निवृत्तिरुपरमो विरतिरित्यनर्थान्तरम्।' —तत्त्वार्थ ७।२
(घ) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ७२-७३

५२ (क) महच्च तद्व्रत महाव्रत, महत्त्व चास्य श्रावकसम्बन्ध्यणुव्रतापेक्षयेति। —हारि. वृत्ति, पत्र १४४
(ख) 'सकले महति वते महव्वते।' —अगस्त्य चूर्णि, पृ ८०
(ग) जम्हा य भगवतो साधवो तिविह तिविहेण पच्चक्खायंति, तम्हा तेसिं महव्वयाणि भवंति, सावयाण पुण तिविह दुविह पच्चक्खायमाणाण देसविरईए खुड्डुलगाणि वयाणि भवंति। —जिनदास. चूर्णि, पृ. १४६

५३ (क) सर्वमिति निरवशेषं, न तु परिस्थूरमेव। —हारि वृत्ति, पत्र १४४
(ख) 'विरमण नाम सम्यग्ज्ञान-श्रद्धानपूर्वक सर्वथा निवर्त्तनम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र १४४
(ग) दशवैकालिक (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. ७३

हैं—प्रति+आ+ख्यान। प्रति शब्द (उपसर्ग) प्रतिषेध-निषेध अर्थ मे, आ—अभिमुख अर्थ में, और 'ख्या' धातु कथन अर्थ मे है। इन तीनो शब्दो का मिलकर प्रत्याख्यान का अर्थ हुआ—प्रतिषेध (प्रतीप)—अभिमुख कथन करना, प्रत्येक महाव्रत के पाठ मे जब 'प्रत्याख्यामि' शब्द आता है तो उसका अर्थ हो जाता है—प्रत्याख्यान करता हूँ। जैसे—मै अहिसामहाव्रत के प्रतीप (हिसा) प्राणातिपात के प्रतिषेध के अभिमुख कथन करता हूँ। अर्थात्—मै प्राणातिपात न करने के लिए वचनबद्ध या प्रतिज्ञाबद्ध हो रहा हूँ। अथवा 'पच्चक्खामि' शब्द का सस्कृतरूप 'प्रत्याचक्षे' होता है—तब इसका स्पष्टार्थ होता है—"मैं सवृतात्मा सम्प्रति (इस समय) भविष्य मे हिसादि पाप के प्रतिषेध के लिए आदरपूर्वक (श्रद्धा-भक्तिपूर्वक) अभिधान (कथन) करता हूँ।" निष्कर्ष यह है कि प्रत्याख्यान महाव्रतो की प्रतिज्ञा का प्राण है, जिसके द्वारा सवृतात्मा साधक गुरु के समक्ष वर्तमान मे उपस्थित होकर भविष्य मे किसी प्रकार का पाप न करने के लिए प्रत्याख्यान करता है, वचनबद्ध होता है। यही मे उसके महाव्रतारोपण का श्रीगणेश होता है। उसी प्रत्याख्यान (वचनबद्धता) को साधु या साध्वी द्वारा गुरु या गुरुणी के समक्ष **'पडिक्कमामि, निंदामि, गरहामि, अप्पाण वोसिरामि'** के रूप में विस्तृतरूप से दोहराया जाता है। इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।[५४]

भते : तीन रूप एवं उद्देश्य—वृत्तिकार के अनुसार इस शब्द के तीन रूप होते है—भदन्त, भवान्त और भयान्त। भदन्त का अर्थ है—जिसके अन्तस् (हृदय) मे शिष्य का एकमात्र कल्याण निहित है। भवान्त का अर्थ भव—ससार का अन्त कराने वाला तथा भयान्त का भावार्थ है—जन्म-मरणादि दु खो के भय का अन्त कराने वाला। 'भते' शब्द शास्त्रो मे यत्र-तत्र गुरु या भगवान् को आमन्त्रित (सम्बोधित) करने के लिए प्रयुक्त होता है। महाव्रतस्वीकार गुरु की साक्षी मे ही उचित होता है, इसलिए शिष्य गुरु को सम्बोधित करके प्रतिज्ञाबद्ध होने का निवेदन करता है। चूर्णिकार का मत है कि गणधरो ने भगवान् से अर्थ (प्रतिज्ञावस्तु)[५५] सुनकर व्रत अगीकार करते समय **'तस्स भंते०'** इत्यादि उद्गार प्रकट किये। तभी से लेकर आज भी व्रतग्रहण करते समय शिष्य द्वारा गुरु को आमत्रण करने के लिए 'भते' शब्द का प्रयोग होता आ रहा है।

अहिंसा महाव्रत को प्राथमिकता देने के कारण—प्रश्न होता है—अहिसा महाव्रत को ही प्राथमिकता क्यो दी गई है? अन्य व्रतो (महाव्रतो) को नही? यहाँ अहिसा महाव्रत को प्राथमिकता देने के पाच कारण प्रस्तुत किये जाते है—(१) **'पढमे भते, महव्वए०'** पाठ मे 'प्रथम' शब्द सापेक्ष है, मृषावाद विरमण आदि की अपेक्षा से इसे प्रथम कहा गया है। (२) सूत्रक्रम के

---

५४ (क) प्रत्याख्यामीति-मतिशब्द प्रतिषेधे, आडाभिमुख्ये, ख्या-प्रकथने, प्रतीपमभिमुख ख्यापन (प्राणातिपातस्य) करोमि प्रत्याख्यामीति, अथवा प्रत्याचक्षे-सवृतात्मा साम्प्रतमनागतप्रतिषेधस्य आदरेणाभिधान करोमीत्यर्थ। —हारि वृत्ति, पत्र १४४-१४५

(ख) 'सपइकाल सवरियप्पणो अणागते अकरणनिमित्त पच्चक्खाण।' —जिन चूर्णि पृ १४६

५५. (क) भदन्तेति गुरोरामत्रणम् भदन्त भवान्त भयान्त इति साधारणा श्रुति। एतच्च गुरुसाक्षिक्येव व्रतप्रतिपत्ति साध्वीति ज्ञापनार्थम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १४४

(ख) 'भते! इति भगवतो आमत्रण।' —अ. चू, पृ ७८

(ग) गणहरा भगवतो सकासे अत्थ सोऊण वतपडिवत्तीए एवमाहु-तस्स भते०। तहा जे वि इसम्मि काले ते वि वताइ पडिवज्जमाणा एव भणति—तस्स भते.। —अ. चू., पृ. ७८

अनुसार भी सर्वप्राणातिपातविरमण महाव्रत को प्रथम स्थान दिया गया है। (३) चूर्णिद्वय के अनुसार—अहिंसा मूलव्रत है, अथवा प्रधान मूलगुण है, क्योंकि 'अहिंसा परमधर्म' है। शेष महाव्रत इसी (अहिंसा) के अर्थ (प्रयोजन) मे विशेषता लाने वाले हैं, अथवा शेष महाव्रत उत्तर गुण हैं, क्योंकि वे अहिंसा के ही अनुपालन के लिए प्ररूपित हैं। (४) पाचो महाव्रतो मे अहिंसा ही प्रधान है, शेष सत्य आदि महाव्रत, धान्य की रक्षा के लिए खेत के चारो ओर लगाई गई बाड़ के समान अहिंसा महाव्रत की रक्षा के लिए होने से उसी के अगभूत हैं। कहा भी है—

'सभी जिनवरो ने एक प्राणातिपात-विरमण को ही मुख्य व्रत कहा है, शेष (मृषावाद-विरमणादि) व्रत उसी की रक्षा के लिए है।'

सब पापो मे मुख्य पाप हिंसा ही है, इसलिए उसकी निवृत्ति करने वाला अहिंसा महाव्रत भी सब मे प्रधान है। एक आचार्य ने कहा है—असत्यवचन आदि सभी आत्मा के परिणामो की हिंसा के कारण होने से एक प्रकार से हिंसारूप ही है। (अत हिंसा मे विरतिरूप अहिंसा महाव्रत ही मुख्य है।) मृषावादविरमण आदि शेष महाव्रतो का कथन केवल शिष्यो को स्पष्टतया समझाने के लिए किया गया है। इन सब कारणो से अहिंसा महाव्रत को प्राथमिकता दी गई है।[५६]

प्राणातिपात-विरमण : व्याख्या—प्राणातिपात का अर्थ है—प्राणी के दस प्राणो मे से किसी भी प्राण का अतिपात—वियोग –विसयोग करना। शास्त्र मे दस प्राण कहे गए हैं—"श्रोत्रेन्द्रिय-बलप्राण, चक्षुरिन्द्रियबलप्राण, घ्राणेन्द्रियबलप्राण, रसनेन्द्रियबलप्राण, स्पर्शेन्द्रियबलप्राण, मनोबलप्राण, वचनबलप्राण, कायबलप्राण, श्वासोच्छ्वासबलप्राण और आयुष्यबलप्राण।" इन दस प्राणो का वियोग करना हिंसा है। अथवा प्राणातिपात का अर्थ है—जीवो को किसी प्रकार का दु ख (कष्ट) पहुँचाना। प्राणातिपात के बदले यहाँ जीवातिपात न कहने का एक कारण यह है कि केवल जीवो को मारना ही अतिपात (हिंसा) नही है, किन्तु उनके प्राणो को किसी प्रकार का दु ख पहुँचाना भी हिंसा है। दूसरा कारण यह है कि जीव (आत्मा) का अतिपात (नाश) होता ही नही है, वह तो सदा नित्य है, अविनाशी है। अतिपात (वियोग या नाश) केवल प्राणो का होता है और प्राणो

---

५६ (क) पढम ति नाम सेसाणि मुसावादादीणि पडुच्च एत पढम भण्णइ। —जिन चूर्णि., पृ १४४

(ख) सूत्रक्रमप्रामाण्यात् प्राणातिपातविरमण प्रथमम्। —हारि वृत्ति, पत्र १४४

(ग) महाव्वतादौ पाणातिवाताओ वेरमण पहाणो मूलगुण इति, जेण 'अहिंसा परमो धम्मो', सेसाणि महव्वताणि एतस्सेव अत्थविसेसगाणीति तदणतर। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ८२

(घ) ' 'एत मूलवय, अहिंसा परमो धम्मोत्ति, सेसाणि पुण महव्वयाणि उत्तरगुणा, एतस्य चेव अणुपालणत्थ परूवियाणि। —जिन. चूर्णि. पृ १४७

(ङ) दशवै. (आचारमणिमजूषाटीका) भा १ पृ २३८
'एग चिव इत्थ वय निदिट्ठ जिणवरेहिं सव्वेहिं। पाणाइवायविरमणमवसेसा तस्स रक्खट्ठा॥'

(च) आत्मपरिणामहिंसनहेतुत्वात् सर्वमेव हिंसैतत्। अनृतवचनादि केवलमुदाहृत शिष्यबोधाय॥
—दशवै (आ. आत्मारामजी म) पृ. ७३

के वियोग से ही जीव को अत्यन्त दुःख उत्पन्न होता है, इसीलिए 'प्राणातिपात' शब्द का ग्रहण किया गया है। इसी कारण प्रथम महाव्रत का नाम प्राणातिपात-विरमण रखा गया है।[५७]

सर्व-प्राणातिपात—प्रस्तुत पाठ में सभी प्रकार के प्राणातिपात के सर्वथा त्याग (प्रत्याख्यान) का कथन है। उसमें सर्वप्रथम प्राणियो के ४ मुख्य प्रकार दिये गये है—सूक्ष्म, बादर, त्रस और स्थावर। **सूक्ष्म** वे जीव हैं, जिनके शरीर की अवगाहना अत्यन्त अल्प होती है, और **बादर** (स्थूल) वे जीव है, जिनके शरीर की अवगाहना बडी होती है। सूक्ष्मनामकर्म के उदय के कारण जो जीव अत्यन्त सूक्ष्म है, उसे यहाँ ग्रहण नही किया गया है। क्योकि ऐसे सूक्ष्म जीव की काया द्वारा हिसा सभव नही है। स्थूल दृष्टि[५८] से सूक्ष्म या स्थूल अवगाहना वाले जीवो को ही यहाँ सूक्ष्म या बादर कहा गया है।

त्रस और स्थावर—ऊपर जो सूक्ष्म और बादर जीव कहे गये हैं, उनमे से प्रत्येक के दो-दो भेद होते है—त्रस और स्थावर। जो त्रास या उद्वेग पाते हैं वे त्रस है, जो स्थान से विचलित नही होते—एक स्थान पर ही अवस्थित रहते है, वे स्थावर कहलाते है। कुथु आदि सूक्ष्म त्रस है, और गाय, बैल आदि बादर त्रस है, वनस्पति आदि सूक्ष्म स्थावर है, और पृथ्वी आदि बादर स्थावर हैं।[५९]

प्राणातिपात किन साधनो से और किस-किस प्रकार से?—सर्वप्राणातिपात के सन्दर्भ मे ही यहाँ बताया गया है कि प्राणातिपात मन, वचन और शरीर, इन तीन साधनो (योगों) से, तथा कृत, कारित और अनुमोदन से होता है। इन सब प्रकारो से होने वाले प्राणातिपातो से नवदीक्षित साधु-साध्वी विरत होने के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं।[६०] इस विषय की व्याख्या पूर्वपृष्ठो मे की जा चुकी है।

---

५७. (क) 'पचेन्द्रियाणि त्रिविध बल च, उच्छ्वास-नि श्वासमथान्यदायु ।
प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषा वियोजीकरण तु हिसा ॥'
(ख) प्राणा इन्द्रियादयस्तेषामतिपात प्राणातिपात जीवस्य महादु खोत्पादन, न तु जीवातिपात एव ।
—हारि वृत्ति, पत्र १४४

५८ (क) सुहुम अतीव अप्पसरीर त वा, वात रातीति वातरो महासरीरो ते वा। —अ चू, पृ ८१
(ख) सुहुम नाम ज सरीरावगाहणाए सुट्ठु अप्पमिति, बादर नाम थूल भण्णइ। —जि चू पृ १४६
(ग) अत्र सूक्ष्मोऽल्प परिगृह्यते, न तु सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूक्ष्म, तस्य कायेन व्यापादनासभवात्।
—हारि. टीका, पत्र १४५

५९ (क) तस वा—'त्रसी उद्वेजने' त्रस्यतीति त्रस, त वा, 'थावरो' जो थाणातो ण विचलति त वा। सव्वे पगारा ण हतव्वा। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ८१
(ख) "तत्थ जे ते सुहुमा बादरा य ते दुविहा, त तसा य थावरा वा। तत्थ तसतीति तसा, जे एगमि ठाणे अवट्ठिया चिट्ठ ति ते थावरा भण्णति।" —जिन. चूर्णि, पृ. १४६-१४७
(ग) "सूक्ष्मत्रस कुन्थ्वादि स्थावरो वनस्पत्यादि, बादरस्त्रसो गवादि, स्थावर पृथिव्यादि।"
—हारि वृत्ति, पत्र १४५

६० तिविह ति—मणो-वयण-कायातो, तिविहेण ति—करण-कारावण-अणुमोयणाणि। —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ७८

द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्राणातिपात का त्याग—इसके अतिरिक्त सर्वप्राणातिपात-विरमण मे द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से प्राणातिपात का विचार करके उनसे विरत होना आवश्यक है। द्रव्यदृष्टि से प्राणातिपात का विषय षड्जीवनिकाय है, अर्थात्—हिंसा छह प्रकार (निकाय) के सूक्ष्म एव बादर जीवों की होती है। क्षेत्रदृष्टि से प्राणातिपात का विषय समग्र लोक है, क्योकि समग्र लोक में ही जीव हैं, अत प्राणातिपात लोक मे ही सम्भव है। काल को दृष्टि से प्राणातिपात का विषय सर्वकाल है, क्योकि दिन हो या रात, सब समय सूक्ष्म बादर जीवो की हिंसा हो सकती है तथा भावो की दृष्टि से हिंसा का हेतु राग और द्वेष है। जैसे—मासादि या शरीर आदि के लिए रागवश तथा शत्रु आदि को द्वेषवश मारा जाता है।

इसके अतिरिक्त द्रव्यहिंसा-भावहिंसा आदि अनेक विकल्प हिंसा के हैं। निष्कर्ष यह है कि शिष्य गुरु के समक्ष प्रतिज्ञाबद्ध होता है कि मै (उपर्युक्त) सभी प्रकार से प्राणातिपात से निवृत्त होता हूँ।[६१]

मृषावाद . प्रकार, कारण और विरमण—मृषावाद का विशेष रूप से अर्थ होता है—मन से असत्य सोचना, वचन से असत्य बोलना और काया से असत्य आचरण करना, असत्य लिखना, असत्य चेष्टा करना। इसी दृष्टि से मृषावाद (असत्य) चार प्रकार का होता है—(१) सद्भाव-प्रतिषेध, (२) असद्भाव-उद्भावन, (३) अर्थान्तर और (४) गर्हा।

(१) **सद्भावप्रतिषेध**—जो विद्यमान है, उसका निषेध करना। जैसे आत्मा नही है, पुण्य या पाप नही है, बन्ध-मोक्ष नही है, इत्यादि।

(२) **असद्भाव-उद्भावन**—अविद्यमान (असद्भूत) वस्तु का अस्तित्व कहना अथवा जो नही है या जैसा नही है, उसके विषय मे कहना कि यह वैसा है। जैसे आत्मा के सर्वगत—सर्वव्यापक न होने पर भी उसे वैसा कहना अथवा आत्मा को श्यामाकतन्दुल के बराबर कहना, इत्यादि।

(३) **अर्थान्तर**—किसी वस्तु को अन्य रूप मे बताना अथवा पदार्थ का स्वरूप विपरीत बताना। जैसे गाय को घोडा और घोडे को हाथी कहना।

(४) **गर्हा**—जिसके बोलने से दूसरो के प्रति घृणा एव द्वेष उत्पन्न होने से उनका हृदय दु खित होता है। जैसे काने को काना, नपु सक को हीजडा, चोर को 'चोर!' इत्यादि कहना।[६२]

मृषावाद के कारण—असत्य बोलने, लिखने या असत्याचरण करने के चार मुख्य कारण बताए गए है—क्रोध से, लोभ से, भय से और हास्य से। वास्तव मे मनुष्य क्रोध आदि चार कषायो

---

६१. (क) इयाणि एस एव पाणाइवाओ चउव्विहो सवित्थरो भण्णइ, त —दव्वओ, खेत्तओ, कालओ, भावओ। दव्वओ दोसेण वितिय मारेइ। —जिन चूर्णि, पृ. १४७

(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ६४

६२ तत्थ मुसावाओ चउव्विहो, त.—सब्भावपडिसेहो, असब्भूयुब्भावण, अत्थतर, गरहा। तत्थ सब्भावपडिसेहो णाम जहा—णत्थि जीवो, णत्थि पुण्ण पाव, णत्थि बधो, णत्थि मोक्खो एवमादी। असब्भूयुब्भावण नाम जहा अत्थि जीवो सव्ववावी, सामाग-तदुलमेत्तो वा एवमादी। पयत्थतर नाम जो गाधि भणइ एसो अस्सोत्ति। गरहा णाम—तहेव काण काणित्ति, एवमादी। —जिनदास चूर्णि, पृ. १४८

के प्रवाह मे बह कर असत्य बोलता, लिखता या आचरता है, किन्तु यह निश्चित समझना चाहिए कि असत्य के ये चार कारण तो उपलक्षणमात्र है। क्रोध के ग्रहण द्वारा मान (अहकार, दर्प या गर्व अथवा मद) को भी ग्रहण कर लिया गया है। लोभ के ग्रहण से माया का भी ग्रहण हो जाता है। कपट, छल, धोखाधडी, झूठ-फरेब, पैशुन्य, मक्कारी, वचना, ठगी, परनिन्दा आदि सब माया के दायरे मे है। भय और हास्य के ग्रहण से राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान आदि का ग्रहण हो जाता है। इस तरह मृषावाद अनेक कारणो से बोला, लिखा तथा आचरित किया जाता है। यही बात अन्य पापो के सम्बन्ध मे समझ लेनी चाहिए।[६३]

द्रव्यादि की अपेक्षा से मृषावाद—मृषावादविरमण महाव्रती को चार दृष्टियो से इसका विचार करना चाहिए—द्रव्यत, क्षेत्रत., कालतः और भावत.। **द्रव्यदृष्टि से** मृषावाद का बिषय सर्वद्रव्य है, क्योकि सजीव, निर्जीव सभी द्रव्यो के विषय मे असत्य बोला जाता है। **क्षेत्रदृष्टि से** मृषावाद का विषय लोक और अलोक दोनो हो सकते है। **कालदृष्टि से** इसका विषय दिन और रात (सर्वकाल) है। **भावदृष्टि से**—मृषावाद के हेतु—क्रोध, लोभ, भय, हास्य आदि कई विकारभाव या विभाव हो सकते है।[६४]

सर्वमृषावादविरमण : सत्य महाव्रत के लिए—जब साधु-साध्वी प्रतिज्ञाबद्ध हो, तब मृषावाद के इन प्रकारो तथा चार प्रकार की भाषाओ (सत्यभाषा, असत्यभाषा, मिश्रभाषा, व्यवहारभाषा), १० प्रकार के सत्य (जनपदसत्य आदि) एव काया, भाषा तथा भावो की ऋजुता और अविसवादी योग (मन-वचन-काया) इत्यादि का ध्यान रखते हुए पूर्ववत् मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदित रूप से मृषावाद के यावज्जीव-प्रत्याख्यान के लिए गुरु के समक्ष विधिवत् प्रतिज्ञाबद्ध होना चाहिए।

अदत्तादान : स्वरूप और विविधरूप—बिना दिया हुआ लेने (चोरी, अपहरण, लूटपाट आदि) की बुद्धि से, दूसरे के स्वामित्व या अधिकार के या दूसरे के द्वारा परिगृहीत या अपरिगृहीत तृण, काष्ठ आदि किसी भी द्रव्य या भाव (विचार) का ग्रहण करना, उसे अपने अधिकार या स्वामित्व मे ले लेना अदत्तादान है।[६५] इसका उग्ररूप चौर्य या चोरी डकैती लूट आदि है। सब प्रकार के अदत्तादान से विरत होने के लिए साध्वी या साधु प्रतिज्ञाबद्ध होते है। उस समय अदत्तादान के विविध रूपो का ध्यान रखना आवश्यक है, यह मूलपाठ मे बतलाया गया है—गाँव मे, नगर मे या अरण्य मे, किसी भी जगह, किसी भी क्षेत्रविशेष मे अदत्तादान नही करना चाहिए।

अल्प या बहुत—अल्प के दो प्रकार है—(१) जो मूल्य की दृष्टि से अल्प मूल्य का पदार्थ हो, जैसे एक कौडी। अथवा परिमाण को दृष्टि से अल्प हो, जैसे एक एरण्डकाष्ठ। बहुत के दो प्रकार—(१) जो मूल्य की दृष्टि से बहुमूल्य हो, जैसे हीरा आदि। (२) अथवा परिमाण या सख्या की दृष्टि से बहुत परिमाण या सख्या की वस्तु हो।

---

६३ कोहग्गहणेण माणस्स वि गहण कय, लोभगहणेण माया गहिया, भय-हासगहणेण पेज्ज-दोस-कलह-अब्भक्खाणाइणो गहिया। —जिनदास चूर्णि, पृ १४८

६४ जिन चूर्णि, पृ. १४८

६५ जिन चूर्णि, पृ. १४९

अणु (सूक्ष्म) एवं स्थूल—सूक्ष्म (छोटी)—जैसे एरण्ड की पत्ती या काष्ठ की चिरपट या तिनका आदि। स्थूल—जैसे सोने का टुकडा या रत्न आदि।

सचित्त एवं अचित्त—पदार्थ तीन प्रकार के है—सचित्त, अचित्त और मिश्र।[६६] सचित्त, जैसे मनुष्यादि, अचित्त जैसे कार्षापण आदि, मिश्र जैसे वस्त्र-आभूषणो से सुसज्जित मनुष्य।

सर्व-अदत्तादानविरमण : विश्लेषण—प्रस्तुत मे अदत्तादान के प्रकार बताए हैं, वैसे ही द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से भी अदत्तादान का विचार कर लेना चाहिए—**द्रव्यदृष्टि से**—अदत्तादान का विषय अल्प, बहुत, सूक्ष्म, स्थूल, सचित्त, अचित्त, आदि द्रव्य अदत्तादान के विषय हैं। **क्षेत्रदृष्टि से** इसका विषय ग्राम, नगर, अरण्य आदि स्थान हैं। **कालदृष्टि से** इसका विषय दिन और रात्रि आदि सर्वकाल हैं। **भावदृष्टि से** अल्पमूल्य, बहुमूल्य पदार्थ है, अथवा लोभ, मोह, आदि भाव है। इसी तरह पाच प्रकार के अदत्त हैं—देव-अदत्त (देव का या देवाधिदेव तीर्थंकर की आज्ञा से बाह्य), गुरु-अदत्त, राजा-अदत्त, गृहपति-अदत्त और साधर्मि-अदत्त। इन पाच प्रकार के अदत्त मे से किसी भी प्रकार का अदत्त मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदितरूप से लेना अदत्तादान है। उससे विरत होकर गुरुदेव के समक्ष प्रतिज्ञाबद्ध होना सर्व-अदत्तादान-विरमण महाव्रत का स्वीकार है।[६७]

सर्व-मैथुनविरमण : विश्लेषण— केवल रतिकर्म का नाम ही मैथुन नही है, अपितु रति-भाव या रागभाव पूर्वक जीव की जितनी भी चेष्टाएँ है, वे सभी मैथुन है। इसीलिए शास्त्रकारो ने मैथुन के अनेक भेद किये है। चित्त मे रतिभाव-कामभाव उत्पन्न करने वाले अनेक कारण हैं। उनमे से दो मुख्य है—रूप और रूपसहित द्रव्य। रूप के दो अर्थ है—(१) निर्जीव वस्तुओ का सौन्दर्य (जैसे मृत शरीर या प्रतिमा आदि) को देख कर, अथवा (२) आभूषणरहित सौन्दर्य को देख कर। रूपसहित द्रव्य के भी दो अर्थ है—(१) स्त्री आदि सजीव वस्तु के सौन्दर्य आदि को देख कर। इसके मुख्य तीन प्रकार है—देवागना सम्बन्धी मैथुन (दिव्य), मनुष्य से सम्बन्धित मैथुन (मानुषिक) और पशु-पक्षी आदि तिर्यञ्च के साथ मैथुन (तिर्यञ्चसम्बन्धी)। अथवा (२) आभूषणसहित सौन्दर्य को देखकर होने वाला रूपसहगत मैथुन।[६८] इस प्रकार **द्रव्यदृष्टि से**—पूर्वोक्त सचेतन, अचेतन सभी द्रव्य मैथुन के विषय है। **क्षेत्रदृष्टि से**—मैथुन का विषय तीनो लोक (ऊर्ध्वलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक) है, **कालदृष्टि से**—उसका विषय दिन और रात्रि आदि सर्वकाल हैं, और **भावदृष्टि से**—मैथुन का हेतु राग (कामराग, दृष्टिराग, स्नेहराग) और द्वेष है। इसी प्रकार काम (मैथुनभाव) की उत्पत्ति की

६६ 'अप्प परिमाणतो मुल्लतो वा, परिमाणतो जहा—एगा सुवण्णागु जा मुल्लतो कवड्डियामुल्ल वत्थु। बहु परिमाणतो वा मुल्लतो वा। परिमाणतो सहस्सपमाण, मुल्लतो एक वेरुलित। अण्णु -मूलगपत्तादी अथवा कट्ठ कलिच वा एवमादी, थूल सुवण्णखोडी वेरुलिया वा उवगरण। —जिन चूर्णि, पृ १४९

६७ जिनदास चूर्णि, पृ १४९

६८ (क) दव्वतो रूवेसु वा रूवसहगतेसु वा दव्वेसु, रूव-पडिमामयसरीरादि, रूवसहगत सजीव।
—अगस्त्य. चूर्णि, पृ ८४

(ख) रूवसहगय तिविह भवति, त —दिव्व माणुस तिरिक्खजोणिय ति।
अहवा रूव भूसणवज्जिय, सहगय भूसणेण सह। —जिन. चूर्णि, पृ. १५०

दृष्टि से ब्रह्मचर्य की नौ बाड से विपरीत प्रवृत्ति करना है, अथवा स्मरण, कीर्त्तन, क्रीडा, प्रेक्षण, एकान्त भाषण, सकल्प, अध्यवसाय एव क्रियानिष्पत्ति, ये आठ मैथुनाग भी हैं। इन सब मैथुनों से मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदनरूप से यावज्जीवन के लिए विरत होना सर्व-मैथुन-विरमण का स्वरूप है। साधु और साध्वी को अपनी-अपनी जाति के अनुसार विजातीय के प्रति सर्वमैथुन का प्रत्याख्यान ग्रहण करना और यावज्जावन ब्रह्मचर्य महाव्रत के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होकर पालन करना आवश्यक है।[६९]

सर्व-परिग्रह-विरमण विश्लेषण—सचित्त-अचित्त तथा विद्यमान या अविद्यमान, स्वाधीन या अस्वाधीन पदार्थों के प्रति मूर्च्छाभाव को परिग्रह कहते हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से परिग्रह के दो प्रकार हैं। धन, धान्य, क्षेत्र (खेत या खुला स्थान), वास्तु (मकान), हिरण्य, सुवर्ण, दासी-दास, द्विपद-चतुष्पद, एव कुप्य आदि बाह्य-परिग्रह है। चार कषाय, नौ नोकषाय, मिथ्यात्व आदि आभ्यन्तर परिग्रह है। परिग्रह के तीन भेद भी शास्त्र मे बताये गए है—(१) शरीर, (२) कर्म और उपधि। फिर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से परिग्रह के चार प्रकार भी चूर्णिकार ने सूचित किये है—**द्रव्यदृष्टि से**—अल्प या बहुत, सूक्ष्म या स्थूल, बहुमूल्य-अल्पमूल्य, सचित्त (शिष्य-शिष्या आदि), अचित्त आदि सर्वद्रव्य परिग्रह (मूर्च्छाभाव) का विषय है। **क्षेत्रदृष्टि से**—समग्र लोक उसका विषय है। **कालदृष्टि से**—दिन और रात उसका विषय है और **भावदृष्टि से**—अल्पमूल्य और बहुमूल्य वस्तु के प्रति आसक्ति, मूर्च्छा, राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि भाव उसके विषय है। इस प्रकार समग्र परिग्रह[७०] से मन-वचन-काया मे, कृत-कारित-अनुमोदनरूप से सर्वथा विरत होना सर्वपरिग्रहविरमण का स्वरूप है। साधु या साध्वी को गुरु या गुरुणी के समक्ष अपरिग्रह नामक पचम महाव्रत के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होते समय सर्व-परिग्रह से विरत होना आवश्यक है। उसके पास जो भी सयम पालन के लिए आवश्यक वस्त्र-पात्रादि उपकरण या शरीरादि रहे, उन्हे भी ममता-मूर्च्छारहित होकर रखना या उनका उपयोग करना है।

छठा रात्रिभोजनविरमण व्रत : एक चिन्तन—रात्रिभोजन को इसी शास्त्र के तृतीय अध्ययन मे अनाचीर्ण तथा छठे अध्ययन मे उल्लिखित छह व्रतो (वयछक्क) मे तथा उत्तराध्ययन मे रात्रिभोजनत्याग को कठोर आचारगुणो मे से एक गुण बताया गया है, तथा इस अध्ययन मे पाच विरमणो को महाव्रत और सर्वरात्रिभोजनविरमण को 'व्रत' कहा गया है। यद्यपि रात्रिभोजनत्याग को महाव्रतो की तरह ही दुष्कर माना गया है, रात्रिभोजनविरमण को साधु-साध्वियो के लिए अनिवार्य और निरपवाद माना गया है। ऐसी स्थिति मे प्रथम के पाच विरमणो को महाव्रत कहने और रात्रिभोजनविरमण को व्रत कहने मे आचरण की दृष्टि से कोई अन्तर नही पडता। तथापि साधु-

---

६९ (क) जिनदास चूर्णि, पृ १५०
(ख) स्मरण, कीर्त्तन केलि, प्रेक्षण गुह्यभाषणम्।
सकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ॥
एतन्मैथुनमष्टागम्।

७० (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म)
(ख) जिनदास चूर्णि, पृ १५१

साध्वियो के लिए प्रथम पाच व्रतो को प्रधान गुणो की दृष्टि से महाव्रत और सर्वरात्रिभोजनविरमण-व्रत को उत्तर (सहकारी) गुणरूप मान कर उसे मूलगुणो से पृथक् समझाने हेतु केवल 'व्रत' सज्ञा दी है। यद्यपि मैथुन-सेवन करने वाले के समान ही रात्रिभोजन करने वाला भी अनुद्घातिक प्रायश्चित्त का भागी होता है, इस दृष्टि से रात्रिभोजनत्याग का पालन उतना ही अनिवार्य माना है, जितना कि अन्य महाव्रतो का। रात्रि मे भोजन करना, आलोकितपान-भोजन और ईर्यासमिति (भिक्षाटन के लिए देख कर चलने) के पालन मे बाधक है, जो कि अहिसा महाव्रत की भावनाएँ है, तथा रात्रि मे आहार का सग्रह (भोजन को सचित) रखना (सन्निधि) अपरिग्रह की मर्यादा में बाधक है। इन्ही सब कारणो से रात्रिभोजन का निषेध किया गया है और रात्रिभोजनत्याग को अगस्त्यसिंह चूर्णि मे मूलगुणो की रक्षा का हेतु बताया गया है। यही कारण है कि रात्रिभोजनविरमण को मूलगुणो के साथ[७१] प्रतिपादित किया गया है। जिनदास महत्तर के मतानुसार—प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर का साधुवर्ग क्रमश ऋजुजड और वक्रजड होता है, इसलिए वे रात्रिभोजनविरमण व्रत का, महाव्रतो की तरह पालन करे, इस दृष्टि से इसे महाव्रतो के साथ बताया गया है। मध्यवर्ती तीर्थंकरो का साधु-वर्ग ऋजुप्राज्ञ होने से वह रात्रिभोजन को सरलता से छोड सकता है, इस दृष्टि से रात्रिभोजन-विरमण व्रत को[७२] उत्तर गुण माना है। सर्वरात्रिभोजनविरमण व्रत के पालन के लिए प्रतिज्ञाबद्ध होने से पूर्व साधु-साध्वी वर्ग को इसका चार दृष्टियो से विचार करना आवश्यक है—**द्रव्यदृष्टि से**—रात्रिभोजन का विषय अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आदि वस्तु-समूह है। **अशन**—उस वस्तु को कहते है, जिसका क्षुधानिवारण के लिए भोजन किया जाए, जैसे—चावल, रोटी आदि। **पान**—उसे कहते है जो पिया जाए, जैसे—द्राक्षा का पानी, सतरे या मौसम्बी का रस, आम्ररस, इक्षुरस व अन्य सभी प्रकार के पेय आदि। **खाद्य**—उसे कहते है, जो खाया जाए, जैसे—मोदक, खजूर, सूखे मेवे, पके फल आदि। **स्वाद्य**—उसे कहते है, जिसका मुखशुद्धि के या मुह का जायका ठीक रखने के लिए उपयोग किया जाए, जैसे—सौफ, इलायची, सोठ आदि। **क्षेत्रदृष्टि से**—उसका विषय मनुष्यलोक है। **कालदृष्टि से**- उसका विषय रात्रि है, और **भावदृष्टि से**—(पूर्वोक्त) चतुर्भग उसका हेतु है। शेष 'तीन करण, तीन योग से, यावज्जीव' रात्रिभोजनत्याग की व्याख्या पहले की जा चुकी है।[७३]

व्रत-ग्रहण-पालन : केवल आत्महितार्थ—प्रतिज्ञा का यह ('अत्तहियट्ठयाए') सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इससे स्पष्ट है कि साधु-साध्वी वर्ग पूर्वोक्त महाव्रतो का रात्रिभोजनविरमण व्रत को इहलौकिक-पारलौकिक सुख के लिए, प्रसिद्धि, प्रतिष्ठा, प्रशसा या यशकीर्ति के लिए अथवा किसी अन्य भौतिक लाभ के लिए अगीकार या पालन नही करता, न किसी दैवी, मानुषी या भागवती शक्ति को प्रसन्न करने की दृष्टि से ऐसा करता है, अपितु आत्महित के लिए ही इन महाव्रतो को स्वीकार

---

७१ किं रातीभोयण मूलगुण उत्तरगुण ? उत्तरगुण एवाय। तहावि सव्वमूलगुणरक्खाहेतुत्ति मूलगुणसम्भूत पढिज्जति। —अगस्त्यचूर्णि, पृ ८६

७२ पुरिमजिणकाले पुरिसा उज्जुजडा, पच्छिमजिणकाले पुरिसा वकजडा, अतोनिमित्त महव्वयाण उपरि ठविय, जेण त महव्वयमिव मन्न ता ण पिल्लेहिति, मज्झिमगाणं पुण एय उत्तरगुणेसु कहिय, किं कारण ? जेण ते उज्जुपण्णत्तणेण सुह चेव परिहरति। —जिन चूर्णि, पृ. १५३

७३ असिज्जइ खुहितेहि ज तमसण जहा—कूरो एवमादीति, पिज्जतीति पाण, जहा—मुद्दियापाणग एवमाइ, खज्जतीति खादिम, जहा—मोदगो एवमादि, सादिज्जति सादिम, जहा—सु ठिगुलादि। —जि. चू, १५२

और पालन करना चाहिए। आत्महित का अर्थ मोक्ष (कर्ममुक्ति) है। इसमे कर्म, जन्म-मरणरूप ससार आदि से मुक्ति, आत्मशुद्धि अथवा आत्मकल्याण या उत्कृष्ट मगलमय धर्म-पालन से आत्म-रक्षा आदि का समावेश हो जाता है। आत्महित के विपरीत अन्य किसी उपर्युक्त भौतिक या लौकिक हेतु से व्रत ग्रहण करने पर व्रत का अभाव हो जाता है, आत्महित से बढकर कोई स्वाधीन सुख नही है। इसीलिए भगवान् ने इहलौकिक-पारलौकिक सुखाभिलाषा, समृद्धि या भोगाकाक्षा के हेतु आचार का स्वीकार या पालन करने की अनुज्ञा नही दी।[७४]

उवसंपज्जित्ताणं विहरामि : भावार्थ—**उपसम्पद्य का अर्थ है**—स्वीकार करके। इसका भावार्थ यह है कि गुरु के समीप, सुसाधु (शिष्य) की विधि के अनुसार इन (महाव्रतो तथा रात्रिभोजन-विरमण व्रत) को ग्रहण करके विहरण-विचरण करूगा। वृत्तिकार के अनुसार ऐसा न करने पर अगीकृत व्रतो का भी अभाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि गुरुचरणो मे व्रतो का आरोहण करके उनका सम्यक् अनुपालन करता हुआ मैं अप्रतिबद्ध रूप से अभ्युद्गत विहारपूर्वक ग्राम, नगर, पट्टन आदि मे विचरण करूगा। अगस्त्यचूर्णि मे इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार किया है—अथवा 'भगवान् से गणधर पाच महाव्रतो के अर्थ को सुन कर ऐसा कहते है कि हम इन्हे ग्रहण करके विहार करेगे।'

अहिंसा महाव्रत के सन्दर्भ में : षट्काय-विराधना से विरति

[४९] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा, राओ वा, एगओ वा, परिसागओ वा, सुत्ते वा, जागरमाणे वा, से पुढवि वा भित्ति वा सिल वा लेलुं वा ससरक्खं वा कायं ससरक्खं वा वत्थ हत्थेण व पाएण वा कट्ठेण वा कलिचेण वा अगुलियाए वा सलागाए वा सलागहत्थेण वा नाऽऽलिहेज्जा, न विलिहेज्जा, न घट्टेज्जा, न भिदेज्जा, अन्न नाऽऽलिहावेज्जा, न विलिहावेज्जा, न घट्टावेज्जा, न भिदावेज्जा, अन्न आलिहत वा, विलिहत वा, घट्टतं वा, भिदंतं वा, न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविह तिविहेणं, मणेणं वायाए काएण, न करेमि न कारवेमि, करेंतं + पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ १८ ॥

[५०] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा राओ वा एगओ वा परिसागओ वा सुत्ते वा जागरमाणे वा, से उदगं वा ओसं वा हिमं वा महियं वा करगं वा हरतणुगं वा सुद्धोदगं वा, उदओल्लं वा कायं उदओल्लं वा वत्थ, ससिणिद्ध □ वा काय, ससिणिद्धं वा वत्थं, नाऽऽमुसेज्जा, न संफुसेज्जा, न आवीलेज्जा, न पवीलेज्जा, न अक्खोडेज्जा, न पक्खो-

---

७४ (क) अत्तहियट्ठताए—अप्पणो हित—जो धम्मो मगलमिति भणित तदट्ठ। —अगस्त्यचूर्णि, पृ ८६
(ख) आत्महितो—मोक्षस्तदर्थं, अन्येनान्यार्थ तत्त्वतो व्रताभावमाह, तदभिलाषानुमत्या हिंसादावनुमत्यादि भावात्। —हारि वृत्ति, पत्र १५०

पाठान्तर—+ करत।
□ ससणिद्ध।

डेज्जा, न आयावेज्जा, न पयावेज्जा; अन्नं नाऽऽमुसावेज्जा, न संफुसावेज्जा, न आवीलावेज्जा, न पवीलावेज्जा; नक्खोडावेज्जा, न पक्खोडावेज्जा; न आयावेज्जा, न पयावेज्जा; अन्नं आमुसंतं वा, संफुसंतं वा, आवीलंतं वा, पवीलंतं वा, अक्खोडंतं वा, पक्खोडंतं वा, आयावंतं वा, पयावंतं वा,× न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाण वोसिरामि ॥ १९ ॥

[५१] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिया वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा; से अगणिं वा इंगालं वा अच्चिं वा जालं वा, अलायं वा सुद्धागणिं वा उक्कं वा; न उंजेज्जा, न घट्टेज्जा, न उज्जालेज्जा, [न पज्जालेज्जा], न निव्वावेज्जा, अन्नं न उंजावेज्जा, न घट्टावेज्जा, न उज्जालावेज्जा, [न पज्जालावेज्जा], न निव्वावेज्जा, अन्नं उंजंतं वा, घट्टंतं वा, उज्जालंतं वा, [पज्जालंतं वा], निव्वावंतं वा न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं, न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्न न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ २० ॥

[५२] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा, सजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे; दिया वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा; से सिएण वा, विहुयणेण वा, तालियंटेण वा, पत्तेण वा, पत्तभंगेण वा, साहाए वा साहाभंगेण वा, पिहुणेण वा, पिहुणहत्थेण वा, चेलेण वा, चेलकण्णेण वा, हत्थेण वा, मुहेण वा; अप्पणो वा कायं, बाहिरं वावि पोग्गलं; न फूमेज्जा, न वीएज्जा; अन्नं न फूमावेज्जा न वीयावेज्जा, अन्न फूमतं वा, वीयंतं वा न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएण, न करेमि, न कारवेमि, करेंत पि अन्नं न समणुजाणामि। तस्स भंते! पडिक्कमामि निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि ॥ २१ ॥

[५३] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा, से बीएसु वा, बीयपइट्ठेसु वा, रूढेसु वा, रूढपइट्ठेसु वा, जाएसु वा जायपइट्ठेसु वा, हरिएसु वा हरियपइट्ठेसु वा, छिन्नेसु वा छिन्न-पइट्ठेसु वा, सचित्तेसु वा सचित्तकोलपडिनिस्सिएसु वा; न गच्छेज्जा, न चिट्ठेज्जा न निसीएज्जा, न तुयट्ठेज्जा; अन्नं न गच्छावेज्जा, न चिट्ठावेज्जा, न निसीयावेज्जा, न तुयट्टावेज्जा, अन्नं गच्छंतं वा, चिट्ठंतं वा, निसीयंतं वा, तुयट्टंतं वा, न समणुजाणेज्जा। जावज्जीवाए तिविहं तिविहेणं, मणेणं वायाए काएणं,

---

× अक्खोडेत वा, पक्खोडेंत वा, आयावेत वा पयावेंत वा।

—दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ, टिप्पण), पृ. ११-१२

[ ] इस प्रकार के कोष्ठक के अन्तर्गत पाठ अधिक है। —स

न करेमि, न कारवेमि, करेंतं पि अन्नं न समणुजाणामि । तस्स भंते ! पडिक्कमामि, निंदामि गरहामि अप्पाणं वोसिरामि ।। २२ ।।

[५४] से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-विरय-पडिहय-पच्चक्खाय-पावकम्मे, दिया वा, राओ वा, एगओ वा परिसागओ वा, सुत्ते वा जागरमाणे वा, से कीडं वा, पयंगं वा, कुंथुं वा, पिवीलियं वा; हत्थंसि वा, पायंसि वा, बाहुंसि वा- ऊरुंसि वा, उदरंसि वा, सीससि वा, वत्थंसि वा, पडिग्गहंसि वा, कंबलंसि वा, पायपुंछणंसि वा, रयहरणंसि वा, गोच्छगंसि वा, उडगंसि वा दंडगंसि वा, पीढगंसि वा, फलगंसि वा, सेज्जंसि वा, संथारगंसि वा, अन्नयरंसि वा, तहप्पगारे उवगरणजाए तओ संजयामेव पडिलेहिय पडिलेहिय पमज्जिय पमज्जिय एगंतमवणेज्जा,* नो णं संघायमावज्जेज्जा ।। २३ ।।

[४९] (पाच महाव्रतों को धारण करने वाला) वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि सयत है, विरत है, जो पापकर्मों का निरोध और प्रत्याख्यान कर चुका है, दिन मे या रात मे, एकाकी (या एकान्त मे) हो या परिषद् मे, सोते अथवा जागते, पृथ्वी को, भित्ति (नदी तट की मिट्टी) को, शिला को, ढेले (या पत्थर) को, सचित रज से संसृष्ट काय, या सचित्त रज से ससृष्ट वस्त्र को, हाथ से, पैर से, काष्ठ मे, अथवा काष्ठ के खण्ड (टुकडे) से, अगुलि से, लोहे की सलाई (शलाका) से, शलाका-समूह (अथवा सलाई की नोक) से, न आलेखन करे, न विलेखन करे, न घट्टन करे, और न भेदन करे, दूसरे से न आलेखन कराए, न विलेखन कराए, न घट्टन कराए और न भेदन कराए, तथा आलेखन, विलेखन, घट्टन और भेदन करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन न करे, (भते ! मै पृथ्वी-काय की पूर्वोक्त प्रकार की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए, तीन करण तीन योग से (करता हूँ ।) (अर्थात्—) मै (स्वय पृथ्वीकाय-विराधना) नही करूगा, न दूसरो से कराऊँगा और न पृथ्वीकाय-विराधना करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करूँगा ।

भते ! मैं उस (अतीत की पृथ्वीकाय-विराधना) से निवृत्त होता हूँ, उसकी (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ, (उक्त) आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ।। १८ ।।

[५०] वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, जो कि सयत है, विरत है, तथा जिसने पापकर्मो का निरोध (प्रतिहत) और प्रत्याख्यान किया है, दिन मे अथवा रात मे, एकाकी (या एकान्त मे) हो या परिषद् में, सोते या जागते, उदक (कुए आदि के सचित्त जल) को, ओस को, हिम (बर्फ) को, धुअर को, ओले को, भूमि को भेद कर निकले हुए जलकण को, शुद्ध उदक (अन्तरिक्ष-जल) को, अथवा जल से भीगे हुए शरीर को, या जल से भीगे हुए वस्त्र को, जल से स्निग्ध शरीर को अथवा जल से स्निग्ध वस्त्र को न (आमर्श) एक बार थोडा-सा स्पर्श करे न बार-बार अथवा अधिक सस्पर्श करे, न आपीडन (थोडा-सा या एक बार भी पीडन) करे, या न प्रपीडन करे (बारबार या अधिक पीडन करे), अथवा न आस्फोटन करे (एक बार या थोडा-सा भी झटकाए) और न प्रस्फोटन करे (बार-बार या अधिक झटकाए), अथवा न आतापन करे (एक बार या थोडा-सा भी

* पाठान्तर—"अवक्कमेज्जा ।"

आग मे तपाए) और न प्रतापन करे (बार-बार या अधिक तपाए), (इसी प्रकार) दूसरो से न आमर्श कराए, (और) न संस्पर्श कराए अथवा न आपीडन कराए (और) न प्रपीडन कराए, अथवा न आस्फोटन कराए (और) न प्रस्फोटन कराए, अथवा न आतापन कराए (और) न प्रतापन कराए, (एव) न आमर्श, सस्पर्श, आपीडन, प्रपीडन, आस्फोटन, प्रस्फोटन, आतापन या प्रतापन करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करे। (भते ! मै अप्काय-विराधना से विरत होने की ऐसी प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए, तीन करण-तीन योग से, (करता हूँ।) (अर्थात्—) मै मन से, वचन से, काया से, (अप्काय की पूर्वोक्त प्रकार से विराधना) स्वय नही करू गा, (दूसरो से) नही कराऊगा और करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन भी नही करू गा।

भते ! मै उस (अतीत की अप्काय-विराधना) से निवृत्त होता हूँ उसकी निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥ १९ ॥

[५१] सयत, विरत, प्रतिहत और प्रत्याख्यात-पापकर्मा वह भिक्षु या भिक्षुणी, दिन में या रात मे, अकेले (या एकान्त) मे या परिषद् मे, सोते या जागते, अग्नि को, अगारे को, मुर्मुर (बकरी आदि की मीगनो की आग) को, अर्चि (टूटी हुई अग्नि-ज्वाला) को, ज्वाला को अथवा अलात को, शुद्ध अग्नि को, अथवा उल्का को, न उत्सिचन करे (लकडी आदि देकर सुलगाए), न घट्टन करे, न उज्ज्वालन करे, [न प्रज्वालन करे], और न निर्वापन करे (बुझाए), (तथा) न दूसरो से उत्सेचन कराए, न घट्टन कराए, न उज्ज्वालन कराए, (न प्रज्वालन कराए), और न निर्वापन कराए (बुझवाए), एव न उत्सेचन करने, घट्टन करने, उज्ज्वालन करने, (प्रज्जालन करने) और निर्वापन करने वाले अन्य किसी का अनुमोदन करे, (भते ! मै इस प्रकार अग्निकाय की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए, तीन करण, तीन योग से (करता हूँ)। (अर्थात्—) मैं मन से, वचन से और काया से (अग्निसमारम्भ) नही करू गा, न दूसरो से (अग्निसमारम्भ) कराऊगा, और न (अग्नि-समारम्भ) करने वाले का अनुमोदन करू गा।

भते ! मैं उस (अतीत की अग्नि-विराधना) से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ और उस आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥ २० ॥

[५२] सयत, विरत, प्रतिहत और प्रत्याख्यातपापकर्मा, वह भिक्षु अथवा भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, अकेले (एकान्त) मे या परिषद् मे, सोते या जागते, श्वेत चामर से, या पखे से, अथवा ताड के पत्तो से बने हुए पखे से, पत्र (किसी भी पत्ते या कागज आदि के पतरे) से, शाखा से, अथवा शाखा के टूटे हुए खण्ड से, अथवा मोर की पाख से, मोरपिच्छी से, अथवा वस्त्र से या वस्त्र के पल्ले से, अपने हाथ से या मुँह से, अपने शरीर को अथवा किसी बाह्य पुद्गल को (स्वय) फू क न दे, (पखे आदि से) हवा न करे, दूसरो से फू क न दिलाए, न ही हवा कराए तथा फू क मारने वाले या हवा करने वाले अन्य किसी का भी अनुमोदन न करे। (भते ! वायुकाय की इस प्रकार की विराधना से निरत होने की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से (करता हू।) अर्थात्—मै (पूर्वोक्त वायुकाय-विराधना) मन से, वचन से और काया से, स्वय नही करू गा, न दूसरो से कराऊगा और करने वाले अन्य किसी का भी अनुमोदन नही करू गा।

भते ! मै उस (अतीत मे हुई वायुकाय-विराधना) से निवृत्त होता हूँ, उसकी (आत्मसाक्षी से) निन्दा करता हूँ, (गुरुसाक्षी से) गर्हा करता हूँ और उस आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥ २१ ॥

[५३] सयत, विरत, प्रतिहत और प्रत्याख्यातपापकर्मा, वह भिक्षु या भिक्षुणी; दिन में अथवा रात मे, अकेले (एकान्त) मे हो या परिषद् (समूह) मे हो, सोया हो या जागता हो, बीजो पर अथवा बीजो पर रखे हुए पदार्थों पर, फूटे हुए अकुरो (स्फुटित बीजो) पर अथवा अकुरो पर रखे हुए पदार्थों पर, पत्रसयुक्त अकुरित वनस्पतियो पर अथवा पत्रयुक्त अकुरित वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर, हरित वनस्पतियो पर या हरित वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर, छिन्न (सचित्त) वनस्पतियो पर, अथवा छिन्न-वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर, सचित्त कोल (अण्डो एव घुन) के ससर्ग से युक्त काष्ठ आदि पर, न चले, न खडा रहे, न बैठे और न करवट बदले (या सोए), दूसरो को न चलाए, न खडा करे, न बिठाए और न करवट बदलाए (या सुलाए), न उन चलने वाले, खडे होने वाले, बैठने वाले अथवा करवट बदलने (या सोने) वाले अन्य किसी का भी अनुमोदन करे। (भते ! मैं इस प्रकार वनस्पतिकाय की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा) यावज्जीवन के लिए तीन करण, तीन योग से (करता हूँ।) (अर्थात्—) मन से, वचन से और काया से वनस्पतिकाय की विराधना) नही करूगा, न (दूसरो से) कराऊगा और न ही वनस्पतिकाय की विराधना करने वाले अन्य किसी का भी अनुमोदन करूगा।

भते ! मै उस (अतीत मे हुई वनस्पतिकाय की विराधना) से निवृत्त होता हूँ, उसकी निन्दा करता हूँ, गर्हा करता हूँ, और उस आत्मा का व्युत्सर्ग करता हूँ ॥२२॥

[५४] जो सयत है, विरत है, जिसने पाप-कर्मों का निरोध और प्रत्याख्यान कर दिया है, वह भिक्षु या भिक्षुणी, दिन मे या रात मे, अकेले (एकान्त) मे हो या परिषद् मे हो, सोते या जागते, कीट (कीडे) को, पतगे को, कुथु को अथवा पिपीलिका (चीटी) को हाथ पर, पैर पर, भुजा (बाँह) पर, उरु (साथल या जघा) पर, उदर (पेट) पर, सिर पर, वस्त्र पर, पात्र पर, रजोहरण पर, अथवा गुच्छक (पात्रपोछने के वस्त्र) पर, उडग (प्रस्रवणपात्र—भाजन या स्थण्डिल) पर या दण्डक (डडे या लाठी) पर, अथवा पीठ (पीढे या चौकी) पर, या फलक (पट्टे या तख्त) पर, अथवा शय्या पर, या सस्तारक (बिछौने—सथारिये) पर, अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी उपकरण पर चढ जाने के बाद यतना-पूर्वक (सावधानी से धीमे-धीमे) देख-देख (प्रतिलेखन) कर, (तथा) पोछ-पोछ (प्रमार्जन) कर एकान्त स्थान मे ले जाकर रख दे (या एकान्त स्थान मे पहुँचा दे) उनको एकत्रित करके घात (पीडा या कष्ट) न पहुँचाए ॥२३॥

विवेचन—षड्जीवनिकाय की विराधना की विरति का निर्देश और प्रतिज्ञा—प्रस्तुत ६ सूत्रो (४९ से ५४ तक) मे पृथ्वीकाय से लेकर त्रसकाय तक के जीवो के मुख्य-मुख्य प्रकारो, तथा विभिन्न प्रकार एव साधनो से उनकी विराधना होने की सभावना तथा त्रिकरण-त्रियोग से यावज्जीवन के लिए उनकी विराधना के त्याग का गुरु द्वारा निर्देश किया गया है। इस निर्देश से सहमत शिष्य द्वारा प्रत्येक जीवनिकाय की विराधना से विरत होने की प्रतिज्ञा का निरूपण है। दूसरे शब्दो मे कहे तो चारित्रधर्म का अगीकार (महाव्रत ग्रहण) करने के बाद षट्कायिक जीवो की रक्षा की विधि जान कर प्रतिज्ञाबद्ध होने का निरूपण है। व्रतारोपण के बाद साधु-साध्वी का व्यवहार षड्जीवनिकाय के प्रति कैसा रहना चाहिए ? इसका सागोपाग वर्णन इनमे है।[७५]

---

७५. (क) दशवै (मुनि नथमलजी), पृ १४७ (ख) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ २६५
(ग) दश (आ आत्मा.), पृ १८०

भिक्षु और भिक्षुणी दोनों के लिए समान विशेषण—प्रस्तुत ६ सूत्रो के प्रारम्भ मे जो चार विशेषण प्रयुक्त किये है, वे भिक्षु और भिक्षुणी दोनो के लिए है, भिक्षु उसे कहते है, जो भिक्षणशील या भिक्षाजीवी है, आहारादि प्रत्येक वस्तु याचना या भिक्षा करके लेता है। गेरुआ, भगवाँ या अन्य किसी प्रकार के रग से रगे हुए कपडे पहनने वाले भी भिक्षा माग कर जीवननिर्वाह करते हैं, इसलिए वे भी 'भिक्षु' कहलाने लगेगे, इस आशय से शास्त्रकार ने निर्ग्रन्थ भिक्षु-भिक्षुणी की वास्तविक पहचान के लिए यहाँ सयत, विरत, प्रतिहत-प्रत्याख्यात-पापकर्मा, ये विशेषण दिये है। सन्यासी या गेरुआ वस्त्र वाले साधु आदि स्वामी की आज्ञा के बिना भी जलाशय आदि से अपने हाथो से भी जल ले लेते हैं, तथा जब भिक्षा नही मिलती, तब वे स्वय पचन-पाचनादि करते-कराते है, अथवा कदमूल आदि स्वय उखाडकर ग्रहण तथा उपभोग कर लेते हैं। अत जो भिक्षावृत्ति के सिवाय अन्य वृत्ति को कदापि स्वीकार नही करते, तथा १७ प्रकार के सयम से रत (सयत) है, पचन-पाचनादि—हिंसादि पापकर्मों से विरत हैं, वे ही वास्तव मे भिक्षु-भिक्षुणी है। महाव्रत ग्रहण करने के बाद भिक्षुवर्ग किस स्थिति मे पहुँचता है, उसका सरल सजीव चित्रण इन विशेषणो मे किया गया है।[७६]

संयत—जो १७ प्रकार के सयम मे सम्यक् प्रकार से अवस्थित हो, या जो सब प्रकार से यतनावान् हो। **विरत**—पापो से निवृत्त या बारह प्रकार के तप मे विविध प्रकार से या विशेष रूप से रत। 'पापकर्मा' शब्द प्रतिहत और प्रत्याख्यात इनमे के प्रत्येक[७७] के साथ सम्बन्धित है। **प्रतिहतपापकर्मा**—जिसने ज्ञानावरणादि आठ कर्मो मे से प्रत्येक को हत किया हो वह।[७८] **प्रत्याख्यातपापकर्मा**—जिसने आस्रवद्वार (पापकर्म आने के मार्ग) का निरोध कर लिया हो। निर्ग्रन्थ भिक्षु प्रतिहत-पापकर्मा इसलिए कहलाता है कि वह महाव्रत ग्रहण करने की प्रक्रिया मे अतीत के पापो का प्रतिक्रमण, भविष्य के पापो का प्रत्याख्यान और वर्तमान मे मन-वचन-काया से कृत-कारित-अनुमोदित रूप से पापकर्म न करने की प्रतिज्ञा कर चुका है।[७९]

७६ (क) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ २६८
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म) पृ ९२

७७ (क) 'सजतो एकीभावेण सत्तरसविहे सजमे ट्ठितो।' अगस्त्य. चूर्णि, पृ ८७
(ख) 'सजओ नाम सोभणेण पगारेण सत्तरसविहे, सजमे अविट्ठओ सजतो भवति।' —जिनदासचूर्णि, पृ १५४
(ग) सामस्त्येन यत —सयत। —हारि वृत्ति, पत्र १५२
(घ) 'पावेहिंतो विरतो पडिनियत्तो।' —अग चू, पृ ८७
(ङ) 'अनेकधा द्वादशविधे तपसि रतो विरत।' —हारि वृत्ति, पृ १८२
(च) पावकम्मसद्दो पत्तेय पत्तेय दोसु वि वट्टइ, त 'पडिहयपावकम्मे, पच्चक्खायपावकम्मे य।
—जिन चूर्णि, पृ. १५४

७८ (क) 'तत्थ पडिहयपावकम्मो नाम नाणावरणादीणि अट्ठकम्माणि पत्तेय पत्तेय जेण हयाणि, सो पडिहयपावकम्मो।' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५४
(ख) 'प्रतिहत—स्थितिह्रासतो ग्रन्थिभेदेन।' —हारि. वृत्ति, पत्र १५२

७९ (क) 'पच्चक्खाय-पावकम्मो नाम निरुद्धासवदुवारो भण्णति।' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५४
(ख) 'प्रत्याख्यात हेत्वभावत पुनर्वृद्धयभावेन पाप कर्म ज्ञानावरणीयादि येन स तथाविध।''
(ग) दशवै. (मुनि नथमलजी) पृ १४७ —हारि. वृत्ति, प १५२

प्रत्येक परिस्थिति में साधु अकरणीय कृत्य नहीं करता—कई साधक जब कोई देखता हो या परिषद् मे हो, तब तो बहुत ही फू क-फू क कर चलते है, अपनी क्रिया-पात्रता दिखलाते है, किन्तु जब कोई न देखता हो, या अकेले मे हो, तब वे अपनी त्यागवैराग्य-भावना को ताक मे रख देते है। अन्तर्दृष्टिपरायण साधु-साध्वी सदैव आत्महित की दृष्टि से चलते है। वे गाढ कारणवश कभी अपवाद का सेवन करते है तो भी उनके मन मे पश्चाताप होता है और वे प्रायश्चित्त लेकर आत्म-शुद्धि भी कर लेते है। तात्पर्य यह है कि अध्यात्मरत श्रमण-श्रमणी के लिए दिन हो या रात, एकान्त हो या समूह, शयनावस्था हो या जागरणावस्था[८०] वे हर समय, स्थान एव परिस्थिति मे सतर्क रहते हैं और अकरणीय कृत्य नही करते। पाप एव आत्मपतन से बचते हैं। वे परम (शुद्ध) आत्मा के सान्निध्य मे रहते है। इसीलिए शास्त्रकार ने **'दिया वा राओ वा'** इत्यादि पंक्तियाँ अंकित की हैं, जो प्रत्येक परिस्थिति, समय एव स्थान-विशेष की सूचक हैं।

एगओ वा : आशय—'एगओ' का शब्दशः अर्थ होता है, एकाकी या अकेला, परन्तु इसका वास्तविक अर्थ 'एकान्त मे' है। कई साधु एक साथ हो, किन्तु वहाँ कोई गृहस्थ आदि उपस्थित न हो तो किसी अपेक्षा से उन साधुओ के लिए इसे भी 'एकान्त' कहा जा सकता है।[८१]

पृथ्वीकाय के प्रकार एवं उपयुक्त अर्थ—प्रस्तुत सूत्र मे पृथ्वीकाय के कई प्रकार बताए है। यदि वे सूर्यताप, अग्नि, हवा, पानी या मनुष्य के अगोपागो से बार-बार क्षुण्ण होकर शस्त्रपरिणत न हुए हो तो सचित्त होते है। इनके उपयुक्त अर्थ क्रमश इस प्रकार है—**पुढवि**—पृथ्वी, पाषाण, ढेला आदि से रहित पृथ्वी, **भित्ति**—(१) जिनदास महत्तर और टीकाकार के अनुसार 'नदी' (२) अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार नदी-पर्वतादि की दरार, रेखा या राजि। **शिला**—विशाल पाषाण या विच्छिन्न विशाल पत्थर। **लेलु**—ढेला (मिट्टी का छोटा-सा पिण्ड या पत्थर का छोटा-सा टुकडा)। **ससरक्खं : दो रूप : दो अर्थ (१) ससरक्ष**—राव के समान सूक्ष्म पृथ्वी की रज से युक्त, (२) **सरजस्क**—गमनागमन से अक्षुण्ण अरण्य रजकण जो प्राय सजीव होते है, इसलिए सरजस्क पृथ्वी से सस्पृष्ट शरीर या वस्त्र को सचित्तसस्पृष्ट माना है।[८२]

---

८० दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ २७४

८१ (क) 'सव्वकालितो णियमो त्ति कालविसेसण—दिता वा रातो वा सव्वदा।'
(ख) चेट्ठा अवत्थतरविसेसणत्थमिद-सुत्ते वा जहाभणितनिद्दामोक्खत्थसुत्ते जागरमाणे वा सेस काल।
—अगस्त्यचूर्णि, पृ ८७
(ग) 'कारणिएण वा एगेण।' —जिन चूर्णि, पृ १५४। (घ) दशवै (मुनि नथमलजी) पृ १४८

८२ (क) 'पुढविग्गहणेण पासाणलेट्ठु माईहिं रहियाए पुढवीए गहण।'
(ख) 'भित्ती नाम नदी भण्णइ।' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५४
(ग) 'भित्ति नदीतटी।' —हारि वृत्ति, पत्र १५२
(घ) 'भित्ती नदी-पव्वतादितडी, ततो वा ज अवदलित।' —अगस्त्य चूर्णि, पृ ८७
(ङ) 'सिला नाम विच्छिण्णो जो पहाणो, स सिला।' —जि चू., पृ. १५४
(च) 'विशाल पाषाण।' —हा. वृ, प १५२
(छ) 'लेलू मट्टियापिंडो।' —अ चू पृ ८७, (ज) "लेलु लेट्ठुओ।" —जि चू, पृ. १५४
(झ) 'सरक्खो = सुसण्हो छारसरिसो पुढविरतो, सहसरक्खेण ससरक्खो।' —अग. चूर्णि, पृ १०१
(ञ) 'सह रजसा-अरण्यपाशुलक्षणेन वर्तत इति सरजस्क।' —हारि. वृत्ति, पत्र १५२

पृथ्वीकायविराधना के साधन—काष्ठ, किलिंच आदि को शास्त्रकार ने पृथ्वीकायविराधना के साधन माने हैं। **किलिंचेण : कलिंजेण** . दो अर्थ—किलिंच—बास की खपच्ची को कहते है, कलिज कहते हैं, छोटे-से लकडी के टुकडे को। **सलागहत्थेण : दो अर्थ**—(१) लकडी, ताबा या लोहे का अनगढ या गढा हुआ टुकडा शलाका, उनका हस्त अर्थात् समूह। (२) सलाई की नोक।[८३]

पृथ्वी-विराधना की विभिन्न क्रियाओं का अर्थ—आलेखन, विलेखन : पांच अर्थ—(१) एक बार या थोडा खोदना, बार-बार या अधिक खोदना, (२) एक बार या थोडा कुरेदना, बार-बार या अधिक कुरेदना, (३) लकीर खीचना, (४) विन्यास करना—घिसना अथवा (५) चित्रित करना।

घट्टन—चलाना या हिलाना, सघट्टा (स्पर्श) करना। **भेदन**—भेदन करना, तोडना, विदारण करना, दो-तीन आदि भाग करना।

तात्पर्य यह है कि भिक्षु पृथ्वीकायिक जीवो का किसी भी साधन से, किसी भी अवस्था मे किसी भी स्थान या समय मे मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदित रूप से विराधन नही करता।[८४]

अप्कायिक जीवों के विविध प्रकार और अर्थ—उदक : भूमि के आश्रित या भूमि के स्रोतो मे बहने वाला भौम जल। **ओस**—(१) रात्रि मे, पूर्वाह्न या अपराह्न मे गिरने वाला सूक्ष्म जलकण, या शरद्ऋतु की रात मे मेघ से उत्पन्न स्नेह-विशेष। **महिका**—शिशिरऋतु मे अन्धकारजनक जो तुषार या पाला पडता है, उसे महिका, धूमिका (धू अर, धु ध) या कोहरा कहते है। **करक**—आकाश से वर्षा के साथ गिरने वाले कठिन उदकखण्ड-ओले। **हरतनुक**—(१) जिनदासचूर्णि के अनुसार—भूमि को भेद कर ऊपर उठने वाला जलबिन्दु, जो कि सील वाली जमीन पर रखे बर्तन के नीचे दिखाई देता है, (२) भूमि को भेदन कर तृणाग्र आदि पर विद्यमान औद्भिद जलबिन्दु। **शुद्धोदक**—अन्तरिक्ष

---

८३ (क) 'किलिचो-वसकप्परो।' —निशीथचूर्णि, ४।१०७
(ख) कलिजेण वा-क्षुद्रकाष्ठरूपेण। —हा टी, पत्र १५२
(ग) 'सलागा कट्ठमेव घडितग, अघडितग कट्ठ।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ. ८७
(घ) सलागा घडियाओ तबाईण। —जि चू, पृ १५४
(ङ) 'सलागाहत्थओ बहुयरिआयो, अहवा सलागातो घडिल्लियाओ, तासि सलागाण सघाओ सलागाहत्थो।' —जि चू, पृ १५४
(च) शलाकया-अय शलाकादिरूपया, शलाकाहस्तेन वा-शलाकासघातरूपेण। —हारि वृत्ति, पत्र १५२

८४ (क) 'ईषद् सकृद्वाऽऽलेखन, नितरामनेकशो वा विलेखनम्।' —हा वृ, पत्र १५२
(ख) दशवै (आ आत्मा) पृ ९२
(ग) आलिहण नाम ईसि, विलिहण-विविह लिहण। —जि चू, पृ १५४
(घ) दशवै (आ म. म टीका) भा. १, पृ २७५ (ङ) 'घट्टण सचालण।' —अ. चू, पृ ८७
(च) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ९० (छ) 'भिदण भेदकरण।' —अ. चू, पृ ८७
(ज) भेदो-विदारणम्। —हा टी, प १५२ (झ) भिदण दुहा वा तिहा वा करण—जि चू, पृ १५४

से गिरने वाला पानी। **उदकार्द्र**—उपर्युक्त जलप्रकार के बिन्दुओ से आर्द्र-गीला शरीर या वस्त्र आदि। **सस्निग्ध**—जो स्निग्धता-जलबिन्दुरहित आर्द्रता से युक्त हो।[८५]

संभावित अप्कायिक विराधना की क्रियाएँ : अर्थ—**आमर्श**—थोडा या एक बार स्पर्श। **संस्पर्श**—अधिक या बार-बार स्पर्श। **आपीड़न**—थोडा या एक बार पीलना, दबाना, निचोडना या पीडा देना। **प्रपीडन**—अधिक या बार-बार पीलना, दबाना, निचोडना या पीडा देना। **आस्फोटन**—थोडा या एक बार भटकना, फटकारना, **प्रस्फोटन**—अधिक या बार-बार भटकना या फटकारना। **आतापन**—एक बार या थोडा-सा सुखाना या तपाना। **प्रतापन**—अधिक बार या अधिक सुखाना या तपाना।[८६]

तेजस्काय के प्रकार एवं अर्थ—**अग्नि**—लोहपिण्डानुगत स्पर्शग्राह्य लोहपिण्ड अथवा तेजस्। **अंगार : दो अर्थ** (१) ज्वाला रहित कोयले, (२) लकडी के जलते हुए धूँए से रहित टुकडे। **मुर्मुर**—कडे या छाणे की आग, चोकर या भूसी की अग्नि, राख आदि मे रहे हुए विरल अग्निकण, भोभर—अत्यल्प अग्निकण से युक्त गर्म राख। **अर्चि : तीन अर्थ**—(१) दीपशिखा का अग्रभाग—लौ (२) आकाशानुगत परिच्छिन्न (टूटती हुई) अग्निशिखा, अथवा (३) मूल अग्नि से टूटती हुई ज्वाला। **ज्वाला**—प्रदीप्त अग्नि से सम्बद्ध अग्निशिखा—आग की लपट। **अलात**—**तीन अर्थ**—(१) भट्ठे की अग्नि, (२) अधजली लकडी अथवा (३) मशाल (जलती हुई)। **शुद्ध अग्नि**—काष्ठादिरहित अग्नि। **उल्का**—आकाशीय अग्नि—विद्युत् आदि। तेजोलेश्या या पार्थिव मणि आदि का प्रकाश अचित्त है। शेष सूत्रोक्त अग्नियाँ सचित्त हैं जिनका उपयोग साधु-साध्वी के लिए वर्जित है।[८७]

अग्निकाय-विराधना की क्रियाएँ : अर्थ उत्सेचन . उजन—अग्नि प्रदीप्त करना, सुलगाना या सीचना। **घट्टन**—सजातीय या अन्य पदार्थों से परस्पर घर्षण करना या चालन करना। **उज्ज्वालन-प्रज्ज्वालन**—पखे आदि से हवा देकर अग्नि को प्रज्वलित करना, उसकी अत्यन्त वृद्धि करना। **निर्वाण : निर्वापन**—बुझाना, शान्त करना।[८८]

---

८५ (क) दशवै जिनदासचूर्णि, १५४-१५५ (ख) अगस्त्यचूर्णि, पृ ८७-८८
(ग) हारि वृत्ति, पत्र १५३ (घ) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ९४

८६ (क) आमुसण नाम ईषत्-स्पर्शन अहवा एकवार फरिसण आमुसण। पुणो पुणो सफुसण।—जि चू, पृ १५५
(ख) सकृदीषद् वा पीडनमापीडनमतोऽन्यत् प्रपीडनम्। —हा टी, पृ १५३
(ग) अच्चत्थ पीलण पवीलण। —जि चू, पृ १५५
(घ) 'सकृदीषद् वा स्फोटनमास्फोटनमतोऽन्यत्प्रस्फोटनम्।' —हा टी, पत्र १५३
(ड) 'सकृदीषद्वा तापनमातापन, विपरीत प्रतापनम्।' – वही, पत्र १५३
(च) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ९५

८७. (क) जिनदासचूर्णि, पृ १५६ (ख) अगस्त्यचूर्णि, पृ. ८९ (ग) हारि वृत्ति, पत्र १५४
(घ) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ९९

८८ (क) उज्जनमुत्सेचनम्। (ख) 'घट्टन-सजातीयादिना चालनम्। —हारि वृत्ति, पत्र १५४
(ग) घट्टण परोप्पर उम्मुगाणि घट्टयति, वा अण्णेण तारिसेण दव्वजाएण घट्टयति। —जि चू, पृ १५६
(घ) 'उज्जलण वीयणमाईहि जालाकरण।' —वही पृ १५६
(ड) उज्ज्वालन-व्यजनादिभिर्वृद्धापादनम्।' —हारि वृत्ति, पत्र १५४
(च) 'विज्झवण निव्वावण।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ ८९

वायुकायिक विराधना के साधन—**सित**—श्वेत चामर। निशीथभाष्य मे **'सिएण'** के बदले 'सुप्पे' (शूर्प—सूपडा) का प्रयोग मिलता है। **विधुवन**—व्यजन या पंखा। **तालवृन्त**—ताडपत्र का पखा, जिसके बीच में पकडने के लिए छेद हो और जो दो पुट वाला हो। पत्र, शाखा, शाखाभग आदि प्रसिद्ध हैं। **पेहुण**—मोर का पख, मोरपिच्छ या वैसा ही दूसरा पिच्छ। **पहुण-हस्त**—जिसके हत्था बधा हुआ हो ऐसा मोर की पाखो का गुच्छ या मोरपिच्छी अथवा गृद्धपिच्छी। **चेलकण्ण**—वस्त्र का पल्ला।[८९]

वनस्पतिकायिक जीवो के प्रकार, विराधना और अर्थ—**बीएसु**—बीजो पर, **बीयपइट्ठेसु**—उपर्युक्त बीज वाली वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर। **रूढेसु : दो अर्थ**—(१) अकुर न निकला हो, ऐसे स्फुटित (भूमि फोड कर बाहर निकले हुए) बाजो पर, अथवा (२) बीज फूट कर जो अकुरित हुए हो, उन पर। **रूढपइट्ठेसु**—स्फुटित बीजो पर रखे हुए पदार्थों पर। **जाएसु : विशेषार्थ**—(१) बद्धमूल वनस्पति, (२) स्तम्बीभूत वनस्पति, जो अकुरित हो गई हो, जिसकी पत्तियाँ भूमि पर फैल गई हो। (३) अल्पवृद्धिगत घास। **जायपइसुट्ठेसु**—जो उगकर पत्रादि युक्त हो गई हो, ऐसी जात-वनस्पति पर रखे पदार्थों पर। **छिन्नेसु**—हवा के जोर से टूटे हुए या कुल्हाडी आदि से काट कर वृक्षादि से अलग किये हुए शस्त्र-अपरिणत शाखादि अगो पर। **छिन्नपइट्ठेसु**—कटी हुई आर्द्र वनस्पति पर रखे हुए पदार्थों पर। **हरिएसु**—हरी दूब या अन्य हरियाली पर। **हरियपइट्ठेसु**—हरित पर रखी हुई। वस्तुओ पर। **सचित्तेसु**—सजीव अण्डे आदि से सश्रित वनस्पति पर, **सचित्तकोल-पडिनिस्सिएसु**—सचित्त कोल अर्थात् घुण-काष्ठकीट अथवा दीमक के द्वारा आश्रय लिए हुए काष्ठ या वनस्पति विशेष पर।[९०]

त्रसकायिक जीव विराधना से विरति मे विकलेन्द्रिय का ही उल्लेख क्यों?—प्रश्न होता है कि त्रसकाय के अन्तर्गत तो द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के जीव हैं, फिर यहाँ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति के ही एक-एक दो-दो जीवों का उल्लेख त्रसकाय-विराधना से विरति के प्रसग मे क्यो किया गया? इसका समाधान यह है कि वैसे तो समस्त त्रसकायिक जीवो की किसी भी प्रकार की विराधना हिंसा है और हिंसा का त्रिकरण-त्रियोग से त्याग प्रथम महाव्रत मे आ ही जाता है, इसलिए यहाँ उल्लेख न किया जाता तो भी चलता, किन्तु यहाँ उन जीवो की विशेषरूप से रक्षा एव यतना बताने के लिए यह पाठ दिया गया है। इसमे चारो प्रकार के पचेन्द्रिय जीवो की विराधना से विरति का उल्लेख इसलिए नही किया गया है कि ये जीव तो आँखों से दिखाई देते है, इनकी विराधना साधु-साध्वी अपनी आहार-विहारादि चर्या के समय कर ही नही सकते। किन्तु द्वीन्द्रियादि त्रसजीवो का उल्लेख करना इसलिए आवश्यक था कि साधु-साध्वी के शरीर के अगोपाग, उपकरण

---

८९ (क) 'सित चामरम्।' —हारि वृत्ति, पत्र १५४
(ख) विधुवन-व्यजनम्। —वही, पत्र १५४
(ग) 'तालवृन्त—तदेव मध्यग्रहणच्छिद्रम् द्विपुटम्। (घ) पत्र-पद्मिजीपत्रादि।
(ङ) शाखा-वृक्षडाले, शाखाभग—तदेकदेश। —हारि वृत्ति, पत्र १५४
(च) 'पेहुण मोरपिच्छग वा, अण्ण किंचि वा तारिस पिच्छ।' —जिनदासचूर्णि, पृ. १५६
(छ) पिहुणाहत्थओ मोरिगकुच्चओ, गिद्धपिच्छाणि वा एगओ बद्धाणि। —जि. चू., पृ. १५६
(ज) पेहुणहस्त -तत्समूह।' —हारि वृत्ति, पत्र १५४। (झ) चेलकर्ण.-तदेकदेश।—वही, पत्र १५४

९०. अगस्त्यचूर्णि, पृ ९०

आदि के लेने, रखने, बैठने, चलने-फिरने, सोने, भोजन करने आदि क्रियाओ मे असावधानी से, अविवेक से या प्रतिलेखन-प्रमार्जन न करने से इनकी विराधना होने की सम्भावना है। इसलिए यहाँ द्वीन्द्रियादि त्रसजीवो को एक या दो प्रतीक का नाम लेकर उपलक्षण से समस्त विकलेन्द्रियो का ग्रहण करने का सकेत किया गया है।[९१]

विराधना कहाँ-कहाँ और कैसे सम्भव ?—प्रस्तुत सूत्र के अनुसार पूर्वोक्त हाथ, पैर, भुजा, उरु, उदर, सिर आदि अगोपागो तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोञ्छन, रजोहरण, गोच्छक, दण्ड, पीठ, फलक, शय्या, सस्तारक तथा इसी प्रकार के अन्य (मुखवस्त्रिका, पुस्तक आदि) उपकरणो पर पूर्वोक्त द्वीन्द्रियादि त्रसजीवो के चढ जाने पर विराधना होने की सम्भावना है।[९२]

उपकरण : परिग्रह एवं विशेषार्थ—प्रश्न हो सकता है कि साधु-साध्वी जब पचम महाव्रत मे परिग्रह का सर्वथा त्याग कर चुके होते हैं, तब उपकरणो का रखना कैसे विहित या सगत हो सकता है ? इसका समाधान यह है, कि शास्त्रो मे उपकरणो का सर्वथा त्याग कही नही बताया। हाँ, उनकी मर्यादा अवश्य बताई है। जो भी उपकरणादि धर्मपालन या सयमपालन आदि के उद्देश्य से रखे जाते है, उन पर तनिक भी ममता-मूर्च्छा न रखी जाए तो वे परिग्रह की कोटि मे नही आते, यह इसी शास्त्र मे आगे बताया गया है। वस्तुत उपकरण उसी को कहते है जिसके द्वारा ज्ञान-दर्शन-चारित्र की पूर्णतया आराधना की जा सके, जीवो की रक्षा एव सयम-परिपालना की जा सके।[९३]

पूर्वोक्त त्रसजीवों की यतना के उपाय—पूर्वोक्त त्रसजीव यदि शरीर के किसी अग या किसी उपकरण पर चढ जाएँ तो उनकी रक्षा साधु-साध्वी कैसे करे ? यह ५४वे सूत्र के उपसहार मे बताया गया है। इन शब्दो के विशेष अर्थ इस प्रकार हैं—

संजयामेव : दो अर्थ—(१) यतनापूर्वक, जिससे कि किसी कीट, पतग आदि को पीडा न हो, (२) सयमपूर्वक, सावधानीपूर्वक उस जीव को लेकर जिससे कि उसे चोट न पहुँचे। **पडिलेहिय**—प्रतिलेखन करके, भलीभाति देखभाल कर। **पमज्जिय**—प्रमार्जन कर या पोछ कर। **एगंतमवणिज्जा**—(वहा से हटा कर) एकान्त मे, अर्थात्—ऐसे स्थान मे जहाँ उसका उपघात न हो वहाँ, रख दे या पहुँचा दे। **नो णं संघायमावज्जिज्जा**—'उनको (किसी प्रकार का) सघात न पहुँचाए, यह इस पक्ति का शब्दश. अर्थ है। भावार्थ यह है कि उपकरण आदि पर चढे हुए जीवो को परस्पर इस प्रकार से गात्र स्पर्श कर देना—भिडा देना कि उन्हे पीडा हो, वह सघात कहलाता है। सघात शब्द के आगे 'आदि' शब्द लुप्त होने से उस के अन्तर्गत परितापना, क्लामना, भयभीत करना, हैरान करना, उन्हे इकट्ठा करना, टकराना आदि सभी प्रकार की पीडाओ (घात) का ग्रहण हो जाता है।

---

९१ दसवेयालियसुत्त (मूल-पाठ-टिप्पण), पृ. १४

९२ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १०८

९३ (क) वही, पृ १०८-१०९-११०

(ख) अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारे साधु क्रियोपयोगिनि उपकरणजाते। —हारि वृत्ति, पत्र १५६

(ग) ज पि वत्थ व पाय वा, कबल पायपुच्छण, त पि सजमलज्जट्ठा धारति परिहरति य।
न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा, मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्त महेसिणा।
—दशवै अ ६, गा. १९-२०

निष्कर्ष यह है कि शरीरावयवो या धर्मोपकरणो पर स्थित त्रसजीवो की रक्षा के लिए उन्हे निरुपद्रव स्थान में यतनापूर्वक रख देना चाहिए।[९४]

अयतना से पापकर्म का बन्ध और यतना से अबन्ध

५५. अजयं चरमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२४॥

५६. अजयं चिट्ठमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२५॥

५७. अजयं आसमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२६॥

५८. अजयं सयमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२७॥

५९. अजयं भुंजमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२८॥

६०. अजयं भासमाणो उ, पाण-भूयाइं हिंसई।
बंधई पावयं कम्मं, तं से होइ कडुयं फलं ॥२९॥

६१. प्र. कहं चरे? कहं चिट्ठे? कहमासे? कहं सए?
कहं भुंजंतो भासंतो पावं कम्मं न बधई? ॥३०॥

६२. उ. जयं चरे, जय चिट्ठे, जयमासे, जयं सए।
जय भुंजतो भासंतो, पावं कम्मं न बंधई ॥३१॥+

६३. सव्वभूयऽप्पभूयस्स सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहियासवस्स दतस्स पावं कम्मं न बंधई ॥३२॥

---

९४ अग. चूर्णि पृ ९१, जिन. चूर्णि, पृ. १५८, हारि० वृत्ति, पत्र १५६

\+ तुलना कीजिए—कध चरे कध चिट्ठे कधमासे कध सये।
कध भु जेज्ज भासिज्ज, कध पाव ण बज्झदि ? ॥ १०१२ ॥
जद चरे जद चिट्ठे जदमासे जद सये।
जद भु जेज्ज भासेज्ज, एव पाव ण बज्झई ॥ १०१३ ॥
यत तु चरमाणस्स, दयापेहुस्स भिक्खुणो।
णव ण बज्झदे कम्म पोराण च विधूयदि ॥ १०१४ ॥
—मूलाचार (समयसाराधिकार—१०)

[५५] अयतनापूर्वक गमन करने वाला साधु (या साध्वी) प्राणो (त्रस) और भूतो (स्थावर जीवो) की हिंसा करता है, (उससे) वह (ज्ञानावरणीय आदि) पापकर्म का बन्ध करता है। वह उसके लिए कटु फल वाला होता है ॥ २४ ॥

[५६] अयतनापूर्वक खडा होने वाला साधु (या साध्वी) प्राणो और भूतो की हिंसा करता है, (उससे) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है ॥ २५ ॥

[५७] अयतनापूर्वक बैठने वाला साधक (द्वीन्द्रियादि) त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है, (उससे उसके) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है ॥ २६ ॥

[५८] अयतना से सोने वाला त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है, (उससे) वह पापकर्म का बन्ध करता है, जो उसके लिए कटुक फल-प्रदायक होता है ॥२७॥

[५९] अयतना से भोजन करने वाला व्यक्ति त्रस एव स्थावर जीवो की हिंसा करता है, (जिससे) वह पापकर्म का बन्ध करता है, जो उसके लिए कटु फल देने वाला होता है ॥२८॥

[६०] यतनारहित बोलने वाला त्रस और स्थावर जीवो की हिंसा करता है। (उससे उसके) पापकर्म का बन्ध होता है, जो उसके लिए कटु फल वाला होता है ॥२९॥

[६१ प्र] (साधु या साध्वी) कैसे चले ? कैसे खडा हो ? कैसे बैठे ? कैसे सोए ? कैसे खाए और कैसे बोले ?, जिससे कि पापकर्म का बन्धन हो ? ॥३०॥

[६२ उ] (साधु या साध्वी) यतनापूर्वक चले, यतनापूर्वक खडा हो, यतनापूर्वक बैठे, यतनापूर्वक सोए, यतनापूर्वक खाए और बोले, (तो वह) पापकर्म का बन्ध नही करता ॥३१॥

[६३] जो सर्वभूतात्मभूत (सर्वजीवो को आत्मतुल्य मानता) है, जो सब जीवो को सम्यग्-दृष्टि से देखता है, तथा जो आश्रव का निरोध कर चुका है और दान्त है, उसके पापकर्म का बन्ध नही होता ॥३२॥

विवेचन—अयतना और यतना का परिणाम—प्रस्तुत ९ सूत्रो (५५ से ६२ तक) मे से प्रारम्भ के ६ सूत्रो मे अयतना से गमन करने, खडा होने, सोने, खाने और बोलने का परिणाम पाप (अशुभ) कर्मों का बन्ध तथा कटुफल प्रदायक बताया गया है। तत्पश्चात् ७वी गाथा मे पापकर्मबन्ध न होने के उपाय की जिज्ञासा शिष्य द्वारा प्रकट की गई है, जिसका समाधान ८वी गाथा मे बहुत ही सुन्दर शब्दो मे प्रस्तुत किया गया है और उसी के सन्दर्भ मे ९वी गाथा मे पापकर्म बन्ध से रहित होने की चार अर्हताओ का निरूपण किया गया है।

अयतना-यतना क्या है ?—अयतना और यतना ये दोनो शास्त्रीय पारिभाषिक शब्द है। अयतना का अर्थ है उपयोगशून्यता, असावधानी, अविवेक, अजागृति, अथवा प्रमाद (गफलत)। इसके विपरीत यतना का अर्थ उपयुक्तता, सावधानी, विवेक, जागृति अथवा अप्रमाद है। स्पष्ट शब्दो मे कहे तो प्रत्येक योग्य क्रिया के लिए जिस समिति अथवा शास्त्रीय नियमो तथा आज्ञाओ का साधु-साध्वी के लिए विधान है, उनका उल्लघन करना तद्विषयक अयतना है और इसके विपरीत उनके अनुसार चर्या करना यतना है।[९५]

---

९५ (क) दशवै (सतबालजी) (ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मा), पृ. १११
(ग) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ १५९

गमनविषयक यतना-अयतना—साधु-साध्वियो के लिए गमनागमनविषयक कुछ नियम ये हैं—वह षट्कायिक जीवो को देखता-भालता उपयोगपूर्वक चले, धीरे-धीरे युगप्रमाण (साढ़े तीन हाथ) भूमि को दिन मे देख कर तथा रात्रि में रजोहरण से प्रमार्जन करता हुआ चले, बीज, घास, जल, पृथ्वी, तथा चीटी, कीट आदि त्रस जीवो की यथाशक्य रक्षा करता हुआ, उन्हें बचाता हुआ चले। सरजस्क पैरो से राख, अगारे, गोबर आदि पर न चले, जिस समय वर्षा हो रही हो, धू अर पड रही हो, उस समय न चले, जोर से आँधी चल रही हो, मार्ग अन्धकाराच्छन्न हो गया हो, या कीट, पतगे आदि सम्पातिम प्राणी उड रहे हो, उस समय न चले। वह हिलते हुए तख्ते, पत्थर या ईट आदि पर पैर रख कर कीचड या जल को पार न करे, बिना प्रयोजन इधर-उधर न भटके, साधुचर्याविषयक प्रयोजन होने पर ही उपाश्रय से बाहर निकले, रात्रि मे गमनागमन या विहार न करे, चलते समय ऊपर या नीचे देखता हुआ, बाते करता हुआ, हँसता या दौडता हुआ, दूसरे के कन्धे से कन्धा भिडाता हुआ, धक्कामुक्की करता हुआ न चले। यह गमनविषयक यतना है। इसके विपरीत गमनसम्बन्धी इन तथा ऐसे ही ईर्यासमिति के अन्य नियमो तथा शास्त्रीय आज्ञाओ का उल्लघन करना गमनविषयक अयतना है।[९६]

खड़े होने सम्बन्धी यतना-अयतना—शास्त्र मे ईर्यासमिति के अन्तर्गत ही खडे होने के कुछ नियम साधुवर्ग के लिए बताए है—सचित्त भूमि, हरियाली (हरी घास दूब आदि), वृक्ष, जल, अग्नि, उत्तिग, पनक (काई) या किसी त्रस जीव पर पैर रख कर खडा न हो, पूर्ण सयम से खडा रहे, खडा-खडा इधर-उधर किसी के मकान या खिडकियो तथा किसी स्त्री, अथवा खेल-तमाशे आदि की ओर दृष्टिपात न करे, खडे-खडे हाथ-पैर आदि को असमाधिभाव से न हिलाए-डुलाए, खडे-खडे आखे मटकाना, अगुलियो से या हाथ से किसी की ओर सकेत करना आदि चेष्टाएँ न करे। खडे होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य शास्त्रीय नियमो का पालन करना तथा विवेकपूर्वक योग्य स्थान मे खडा होना यतना है। इसके विपरीत खडे होने सम्बन्धी इन या ऐसे ही अन्य नियमो का उल्लघन करना अयतना है।

बैठने सम्बन्धी यतना-अयतना—साधु के लिए बैठने के कुछ नियम है, जैसे कि—सचित्त भूमि, बर्फ, आसन या किसी त्रस जीव पर या त्रस जीवाश्रित स्थान या काष्ठ आदि पर न बैठे, जगह का या तख्त आदि का प्रमार्जन-प्रतिलेखन किये बिना न बैठे, दरी, गद्दे, पलग, खाट या स्प्रिगदार कुर्सी आदि पर न बैठे, गृहस्थ के घर (अकारण) या दो घरो के बीच की गली मे, रास्ते के बीच मे न बैठे, अकेली स्त्री (साध्वी के लिए अकेले पुरुष) के पास न बैठे, व्यर्थ सावद्य बाते करने के लिए न बैठे, उपयोगपूर्वक बैठे, जहाँ बैठने से अप्रीति उत्पन्न होती हो, ऐसे स्थान मे न बैठे। बैठे-बैठे हाथ-पैर आदि को अनुपयोगपूर्वक पसारना, सिकोडना, हिलाना आदि चेष्टाएँ न करे, बैठने के इन या ऐसे ही अन्य शास्त्रीय नियमो का पालन करना यतना है और इनका उल्लघन करना एतद्-विषयक अयतना है।

शयन-विषयक यतना-अयतना—अप्रतिलेखित तथा अप्रमार्जित भूमि, तख्त, शय्या, शिलापट्ट, घास, चटाई आदि पर न सोये। सारी रात न सोये, न ही अकारण दिन में सोये, सोना-जागना

९६. (क) 'अजय नाम अणुवएसेण, चरमाणो नाम गच्छमाणो।' —जिनदासचूर्णि, पृ १५८
(ख) अयत—अनुपदेशेनासूत्राज्ञया इति क्रिया विशेषणमेतत्। 'अयतमेव चरन् ईर्यासमितिमुल्लघ्य।

नियमित समय पर करे, प्रकामनिद्रालु न हो, शयनकाल मे करवट बदलते, हाथ-पैर सिकोडते-पसारते समय सावधानी रखे, पूजणी से प्रमार्जन करके ही अगसचालन करे, सोने से पूर्व सस्तारक का प्रमार्जन कर ले तथा सागारी अनशन कर ले, सथारा पौरुषी का पाठ करके सोए, मच्छर, खटमल आदि का स्पर्श होने पर पूजणी से उसे धीरे से एक ओर कर दे। दु स्वप्न न आए इसकी जागृति रखे, स्वप्न मे घबराए या बडबडाए नही। इन या ऐसे ही शास्त्रीय नियमो का पालन करना शयनविषयक यतना है, और इनका उल्लघन करना एतद्विषयक अयतना है।[९७]

भोजनविषयक यतना-अयतना—गवेषणा, ग्रहणैषणा एव परिभोगैषणा से सम्बन्धित दोषो का वर्जन करके आहार ग्रहण एव सेवन करे, जैसे—आधाकर्म, औद्देशिक, क्रीत आदि दोषयुक्त आहार न ले, धात्रीकर्म, दूतिकर्म, दैन्य आदि करके आहार न ले, आहार सेवन करते समय पाच मण्डल दोषो का वर्जन करे, सचित्त, अर्द्धपक्व, या सचित्त पर रखे हुए या सचित्त पानी, अग्नि, वनस्पति आदि से सस्पृष्ट आहार न ले, स्वाद के लिए न खाये, शास्त्रोक्त ६ कारणो से सप्रयोजन आहार करे, हित मितभोजी हो, प्रकामभोजी न हो, निर्दोष आहार न मिलने पर या थोडा मिलने पर सन्तोष करे, ६ कारणो से आहार का त्याग करे, सविभाग करके सन्तुष्ट होकर शान्तिपूर्वक आहार करे। जूठन न छोडे, न सग्रह करे। गृहस्थ के घर मे (अकारण) आहार न करे, न गृहस्थ के बर्तन मे भोजन करे, इन और ऐसे ही अन्य शास्त्रीय नियमो का पालन करना भोजनविषयक यतना है। इसके विपरीत, इन नियमो का अतिक्रमण करना एतद्विषयक अयतना है।

भाषासम्बन्धी यतना-अयतना—साधु-साध्वी भाषासमिति से सम्बन्धित नियमो का पालन करे। 'सुवाक्यशुद्धि' नामक अध्ययन मे बताये भाषासम्बन्धी विवेक का पालन करे, सत्यभाषा एव व्यवहारभाषा बोले, असत्य एव मिश्रभाषा न बोले, कर्कश, कठोर, निश्चयकारी, छेदन-भेदनकारी, हिसाकारी, सावद्य, पापकारी वचन न बोले, गाली न दे, अपशब्द न बोले, चुगली न खाए, न परनिन्दा मे प्रवृत्त हो, जिससे दूसरा कुपित हो, दूसरे को आघात पहुचे ऐसी मर्मस्पर्शी या भूतोपघाती भाषा न बोले, न सावद्यानुमोदिनी भाषा बोले, जिस विषय मे न जानता हो उस विषय मे निश्चित बात न कहे, वैर, फूट, मनोमालिन्य, द्वेष, कलह एव सघर्ष पैदा करने वाली भाषा न बोले, सासारिक लोगो के विवाहादिविषयक प्रपच मे न पडे, न ही ज्योतिष् निमित्त या भविष्य के बारे मे कथन करे। इन और ऐसे ही अन्य भाषाविषयक नियमो का पालन करना यतना है और इनका उल्लघन करना अयतना है।[९८]

---

९७ (क) दशवै (आ मणिमजूषा टीका) भा १, पृ २९८
(ख) आसमाणो नाम उवट्ठिओ, सो तत्थ सरीराकु चणादीणि करेइ, हत्थपाए विच्छुभइ तओ सो उवरोधे वट्टइ। —जि चू, पृ १५९
(ग) अजयति आउटेमाणो य ण पडिलेहइ ण पमज्जइ, सव्वराइ सुव्वइ, दिवसाओ वि सुयइ, पगाम निगाम वा सुवइ। —जि चू., पृ १५९
(घ) अयत स्वपन्—असमाहितो दिवा प्रकामशय्यादिना। —हा टी, पृ १५७

९८ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी) पृ १६० (ख) दशवै (आ मणिमजूषा टीका) भा १, पृ २९५
(ग) 'अजत—सुरुसुरादि काकसियालभुत्त एवमादि।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ ९२
(घ) 'अयत भु जानो—निष्प्रयोजन प्रणीत काकशृगालभक्षितादिना वा।' —हा टी, प. १५७
(ङ) 'अयत भाषमाणो—गृहस्थभाषया निष्ठुरमन्तरभाषादिना वा।' —बही, पत्र १५७
(च) अजय गारत्थियभाहि भासइ ढड्ढरेण वेरत्तियासु एवमादिसु॥ —जि चूर्णि, पृ १५९

साधु-साध्वी की प्रत्येक क्रिया यतनापूर्वक हो—जो साधु-साध्वी, चलने, खडा होने, बैठने, सोने, खाने और बोलने आदि की शास्त्रोक्त विधि, उपदेश या आज्ञा के अनुसार नही चलता, इन आज्ञाओ का उल्लघन या लोप करता है, वह अयतनापूर्वक चलने वाला आदि कहा जाता है। यह ध्यान रहे कि साधु को केवल इन्ही ६ क्रियाओ के बारे मे ही नही अपितु साधु-जीवन के लिए आवश्यक भिक्षाचर्या, आहार-गवेषणा, भण्डोपकरण उठाना-रखना, मलमूत्रादि विसर्जन, स्वाध्याय, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण आदि सभी क्रियाओ मे यतनापूर्वक चलना है, अन्यथा उन शास्त्रविहित नियमो का उल्लघन करने वाला भी अयतनाशील कहलाएगा। इसलिए दिन और रात मे होने वाली साधु-साध्वी की सारी चर्या यतनापूर्वक होनी चाहिए। यही इन सूत्रो मे सकेत है।[९९]

अयतना से पापकर्मों का बन्ध क्यों और कैसे ?—पूर्वोक्त गाथाओ मे अयतना से गमनादि क्रिया करने वाले साधु-साध्वी के लिए कहा गया है कि वह जीवो की हिंसा करता है। कोई भी कार्य अनुपयोग से, असावधानीपूर्वक किया जाएगा तो हिंसा ही नही, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य एव परिग्रह आदि पाप भी हो जाएँगे। उनके फलस्वरूप पापकर्मों का बन्ध होना स्वाभाविक है। पापकर्मो के बन्ध का अर्थ है —अत्यन्त चीकने कर्मों का उपचय-सग्रह।[१००]

पाप और उसके कटुफल—पाप चित्तवृत्ति को मलिन बना देता है, आत्महित का नाश करता है, आत्मा को कर्मरज से मलिन कर देता है, नरकादि अधोगति में ले जाता है, प्राणियो के आत्मिक सुख(आनन्द) रस को लूट लेता है, पाप-कर्मबन्ध के कारण जब वे उदय मे आते हैं तब, अत्यन्त कटुफल भोगना पडता है।[१०१]

वस्तुत इन पापकर्मो का फल अत्यन्त दु खप्रद होता है। अयतनाशील प्रमादी के मोह आदि कारणो से पापकर्म का बन्ध होता है जिसका विपाक अतीव दारुण होता है। जिनदासमहत्तर के अनुसार ऐसे प्रमत्त कुदेव, कुमनुष्य आदि कुगतियो-कुयोनियो की प्राप्ति होती है, जहां उसको बोधि(सम्यक्त्व) प्राप्त होना दुर्लभ होता है।[१०२]

पापकर्मबन्ध से रहित होने का उपाय : समस्त क्रियाओं मे यतना—शिष्य की जिज्ञासा सुन कर गुरुदेव ने कहा—'जय चरे०' इत्यादि।

यतनापूर्वक चलने का अर्थ है—ईर्यासमिति से युक्त होकर त्रसादि प्राणियो को देखते हुए उनकी रक्षा करते हुए चलना, पैर ऊँचा उठाकर उपयोगपूर्वक चलना, युगप्रमाण भूमि को देखते हुए

---

९९ (क) 'अयत नाम अनुपदेशेनासूत्राज्ञयेति'। —हा टी, पत्र १५६
(ख) दसवेयालिय (मु नथ), पृ १६०

१०० (क) वही, पृ १६० (ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ९२
(ग) 'पाणा तसा भूता थावरा।' —अ चू, पृ ९१

१०१ (क) दशवै (आचारमणिमजूषा)। —टीका भा १, पृ २९२
(ख) जि चू, पृ १५८

१०२ (क) अशुभफल भवति मोहादिहेतुतया विपाकदारुणमित्यर्थ। —हारि वृत्ति, पत्र १५६
(ख) 'कडुय फल नाम कुदेवत्त-कुमाणुसत्त-निव्वत्तक पमत्तस्स भवइ।' —जि चू, पृ १५९
(ग) ' कडुय फल—कडुगविवाग कुगति-अबोधिलाभनिव्वत्तग।' —अ चू, पृ ९१

शास्त्रीय विधि से चलना। **यतनापूर्वक खड़े होने का अर्थ** है—कछुए की तरह इन्द्रियो का गोपन करके हाथ, पैर आदि का विक्षेप न करते हुए खडे होना। **यतनापूर्वक बैठने का अर्थ** है—हाथ-पैर आदि को बार-बार न फैलाना, न सिकोडना। **यतनापूर्वक सोने का अर्थ** है—करवट आदि बदलते या अगो को पसारते समय निद्रा छोडकर शय्या का प्रतिलेखन-प्रमार्जन करना। रात्रि मे प्रकामशयनशील न होना, समाधिपूर्वक सोना। **यतनापूर्वक खाने का अर्थ** है—शास्त्रोक्त प्रयोजन के लिए निर्दोष अप्रणीत (रसरहित) पानभोजन को अगृद्धिभाव से खाना। **यतनापूर्वक बोलने का अर्थ** है—इसी शास्त्र के वाक्यशुद्धिनामक ७वें अध्ययन मे वर्णित भाषासम्बन्धी नियमो का पालन करना, साधु-साध्वी के योग्य, मृदु एव समयोचित वचन बोलना।[१०३]

पापकर्म के अबन्धक की चार अर्हताएँ : अर्थ—(१) **सर्वभूतात्मभूत**—षड्जीवनिकाय को जो आत्मवत् मानता है, (२) जिसकी दृष्टि सम्यग् हो गई, अर्थात्—जिसकी प्रज्ञा मे यह बात स्थिर हो चुकी है कि जैसा मै हूँ, वैसे ही ससार के सब जीव है। मेरी ही तरह उन्हे वेदना होती है, उन्हे भी मेरी तरह दु ख अप्रिय है, सुख प्रिय है, (३) सर्वभूतात्मभूत साधक ने ऐसी सहज सम्यग्दृष्टि के साथ-साथ हिसादि पाचो आस्रवद्वारो को प्रत्याख्यान द्वारा रोक दिया है, पच महाव्रत ग्रहण करके वह नवीन पापकर्मों को आने नही देता, अर्थात् वह पिहितास्रव हो जाता है, और (४)वह दान्त हो जाता है। अर्थात् पाचो इन्द्रियो के विषय मे रागद्वेष को जीत लेता है, अकुशल मन-वचन-काया का निरोध कर लेता है, क्रोधादि कषायो का निग्रह करके उदय मे आने पर उन्हे[१०४] विफल कर देता है। इन चार अर्हताओ से युक्त साधु या साध्वी पापकर्म का बन्ध नही करते।

जिसकी आत्मा 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' की पवित्र भावना से ओत प्रोत है तथा जो उपर्युक्त सम्यग्दृष्टि आदि गुणो से सम्पन्न है, वह जीव हिसा करता ही नही, उसके हृदय मे स्वाभाविक रूप से अहिंसानिष्ठा होती है। अत वह किसी भी प्राणी को कदापि लेशमात्र भी पीडा नही पहुँचा सकता। यतनापूर्वक गमनादि क्रिया करते हुए कदाचित कोई जीव इसके निमित्त से निष्प्राण हो भी जाए तो भी वह हिसा के पाप से लिप्त नही होता। इसका कारण यह है कि वह मन-वचन-काया से, कृत-कारित-अनुमोदितरूप से सर्वथा प्राणातिपात से विरत हो गया है, वह किसी भी जीव को पीडा पहुँचाने का कामी नही है। चूर्णिकार ने गाथाओ द्वारा इसे समझाया है—जैसे छिद्ररहित नौका मे जल प्रवेश नही कर सकता, भले ही वह अगाध जलराशि पर चल रही हो या ठहरी हुई हो उसी प्रकार आश्रवमुक्त सवृतात्मा निर्ग्रन्थ श्रमण मे, भले ही वह जीवो से व्याप्त लोक मे चल रहा

---

१०३ (क) अ चू, पृ ९२ (ख) जिन चूर्णि, पृ १६० (ग) हारि वृत्ति पत्र १५७
(घ) दशवै (आ आत्मा), पृ ११७

१०४. (क) जिन चूर्णि, पृ १६० (ख) अगस्त्य चूर्णि, पृ ९३ (ग) हारि वृत्ति, पत्र १५७
(घ) दस (मु न), पृ १६३

हो या स्थित हो, पाप प्रवेश नही कर पाता ।[१०५] गीता में भी इससे मिलता-जुलता चिन्तन है ।[१०६]

जीवादि तत्त्वों के ज्ञान का महत्त्व

६४. पढमं नाणं तओ दया, एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही ?, किं वा नाहीइ छेय-पावगं ।।३३।।□

६५. सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं ।
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं छेयं* तं समायरे ।।३४।।

६६. जो जीवे वि न याणति, अजीवे वि न याणति ।
जीवाऽजीवे अयाणंतो, कहं सो नाहीइ संजमं ।।३५।।

६७. जो जीवे वि वियाणेइ, अजीवे वि वियाणति ।
जीवाऽजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ।।३६।।

६८. जया जीवमजीवे य, दो वि एए वियाणई ।
तया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणई ।।३७।।

६९. जया गइं बहुविहं, सव्वजीवाण जाणई ।
तया पुण्ण च पावं च, बंधं मोक्खं च जाणई ।।३८।।

[६४] 'पहले ज्ञान और फिर दया है'—इस प्रकार (क्रम) से सभी सयमी (सयम मे) स्थित होते है । अज्ञानी (बेचारा) क्या करेगा ? वह श्रेय और पाप को क्या जानेगा ! ।।३३।।

---

१०५ (क) सव्वभूतेसु अप्पभूतो, कह ? जहा मम दुक्ख अणिट्ठ इह, एव सव्वजीवाण ति काउ पीडा नो उप्पायइ, एव जो सव्वभूएसु अप्पभूतो, तेण जीवा सम्म उवलद्धा भवति । भणिय च—
"कट्ठेण कटएण व पादे विद्धस्स वेदणा तस्स ।
जा होइ अणेव्वाणी णायव्वा सव्वजीवाण ।।"

(ख) 'पिहियाणि पाणिवधादीणि आसवदाराणि जस्स सो पिहियासवदुवारो तस्स ।'
—जिनदास चूर्णि, पृ. १६०

(ग) 'दतस्स—दतो इदिएहिं णो इदिएहि य । इदियदमो सोइदियपयारनिरोहो वा सद्दातिरागद्दोसणिग्गहो वा, एव सेसेसु वि । णोइदियदमो कोहोदयणिरोहो वा उदयपत्तस्स विफलीकरण वा, एव जाव लोभो । तहा अकुसलमणणिरोहो वा कुसलमणउदीरण वा, एव वाया कातो य । तस्स इदियणोइदियदतस्स पाव कम्म ण बज्झति, पुव्वबद्ध च तवसा खीयति ।" —अगस्त्य चूर्णि, पृ. ९३

(घ) जलमज्झे जहा नावा, सव्वओ निपरिस्सवा । गच्छती चिट्ठमाणा वा, न जल परिगिण्हइ ।।
एव जीवाउले लोगे, साहू सवरियासवो । गच्छतो चिट्ठमाणो वा, पाव नो परिगेण्हइ ।।
—जि. चू., पृ. १५९

१०६. योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रिय । सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।। —गीता ५।७

□ पाठान्तर—सेय-पावग । * सेय ।

[६५] (क्योंकि व्यक्ति) श्रवण करके ही कल्याण को जानता है और श्रवण करके ही पाप को जानता है। कल्याण और पाप—दोनो को सुनकर ही व्यक्ति जान पाता है, (तत्पश्चात् उनमे से) जो श्रेय है, उसका आचरण करता है ।। ३४ ।।

[६६] जो जीवो को भी नही जानता (और) अजीवो को भी नही जानता, जीव और अजीव दोनो को नही जानने वाला वह (साधक) सयम को कैसे जानेगा ? ।। ३५ ।।

[६७] जो जीवो को भी विशेषरूप से जानता है और अजीवो को भी विशेषरूप से जानता है, (इस प्रकार) जीव और अजीव दोनो को विशेषरूप से जानने वाला ही सयम को जान सकेगा ।।३६।।

[६८] जब साधक जीव और अजीव, दोनो को विशेषरूप से जान लेता है, तब वह समस्त जीवो की बहुविध गतियो को भी जान लेता है ।। ३७ ।।

[६९] जब (साधक) सर्वजीवो की बहुविध गतियो को जान लेता है, तब वह पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष को भी जान लेता है ।। ३८ ।।

विवेचन—ज्ञान का स्थान प्रथम क्यो ?—यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के बिना चारित्र सम्यक् नही होता। सम्यग्ज्ञान होगा तो व्यक्ति श्रेय-प्रेय, हितकर-अहितकर तत्त्वो को छाट लेगा, चारित्र के साथ घुल जाने वाली विकृतियो को दूर कर देगा और वास्तविक रूप से सम्यक्चारित्र का पालन करेगा। दूसरी बात यह है कि साधक का जीव-अजीव का विज्ञान जितना सीमित होगा, दया (अहिसा) आदि चारित्र की भावना उतनी ही सकुचित एव मद होगी। जीवो का व्यापक ज्ञान होने से उनके प्रति दयाभाव, मैत्री, आत्मौपम्यभाव उतना ही व्यापक और विकसित होगा। जीवो का व्यापक ज्ञान होने पर उनकी गति-आगति आदि का अन्तर तथा तत्सम्बद्ध पुण्य-पाप का अन्तर समझ मे आएगा, और फिर आत्मविकास को रोकने वाले कर्मबन्ध का भी रहस्य मालूम पडेगा, जिससे साधुवर्ग की जिज्ञासा चतुर्गतिक ससार मे जन्म-मरण के कारणभूत कर्मों के बध को काटने और कर्मावरण दूर करके आत्मा को शुद्ध, बुद्ध, कर्ममुक्त बनाने की होगी। तभी तो वह कर्मबन्धन से मुक्त होने के लिए सम्यक्चारित्र और सम्यक्तप का आचरण करेगा। इस दृष्टि से सम्यग्ज्ञान को प्राथमिकता दी गई है। ज्ञान से जीव के स्वरूप, सरक्षणोपाय और फल का बोध होता है। गीता मे स्पष्टत कहा गया है—ज्ञान के समान कोई भी पवित्र वस्तु इस जगत् मे नही है। ज्ञानरूपी अग्नि सर्वकर्मों को भस्म कर देती है।[१०७] इसीलिए यहाँ कहा गया है—

---

१०७. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ १२१
(ख) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ १६४
(ग) प्रथममादौ, ज्ञान-जीवस्वरूप-सरक्षणोपाय-फलविषय, तत तथाविधज्ञान-समनन्तर दया-सयमस्तदेकान्तोपादेयतया भावतस्तप्रवृत्ते । —हारि वृत्ति, पत्र १५७
(घ) न हि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते ।
ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ! ।। —भगवद्गीता ४।३८

'पढमं नाणं तओ दया ।'—अर्थात्—प्रथम जीवादि का ज्ञान होना चाहिए, तत्पश्चात् उनकी दया । जिससे स्व-पर का बोध हो, उसे ज्ञान कहते हैं ।[१०८] यहाँ दया शब्द से उपलक्षण से समस्त अहिंसात्मक क्रियाओ का ग्रहण होता है ।

सभी संयमी इस सिद्धान्त में स्थित—जो सयत हैं, अर्थात् १७ प्रकार के सयम को धारण किये हुए हैं, उन्हे सर्वजीवो का ज्ञान भी होता है । जिनका जीव-ज्ञान पूर्ण नही होता, उनका सयम भी पूर्ण नही होता । पूर्ण सयम (सर्वभूतसयम) के बिना अहिंसा अधूरी है, वास्तव मे सर्व भूतो के प्रति सयम ही अहिंसा है । यही कारण है कि जीव-अजीव के भेदज्ञाता निर्ग्रन्थ श्रमणवर्ग की दया जहाँ पूर्ण है, वहाँ जीव-अजीव के विशेष भेद से अनभिज्ञ अन्य मतानुयायी साधको की दया वैसी व्यापक नही है । उनकी दया या तो मनुष्यो तक ही सीमित है, या फिर पशु-पक्षियो तक या कीट-पतगो तक । इसका कारण है—उनमे पृथ्वीकायिक आदि स्थावर जीवो के ज्ञान का अभाव । इसीलिए सभी निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी सभी जीवो के ज्ञानपूर्वक क्रिया (दया आदि चारित्रधर्म) का पालन करने की प्रतिपत्ति (मान्यता) मे स्थित होते है ।[१०९]

अज्ञानी : श्रेय और पाप को जानने में असमर्थ—प्रस्तुत मे दो पक्तियो द्वारा अज्ञानी की असमर्थ दशा का वर्णन किया गया है । **(१) अन्नाणी किं काही ?**—इसका तात्पर्य है कि वह अज्ञानी, जिसे जीवअजीव का बोध नही है, उसे यह भान ही नही होता कि अहिसा क्या है, हिसा क्या है ? या अमुक कार्य करना है, अमुक कार्य नही, क्योकि उससे जीववध होगा, जिसका कटु परिणाम भोगना पड़ेगा । अत जिसे जीव-अजीव का ज्ञान नही, वह अहिसावादी नही हो सकता । अहिंसा का समग्र विचारक हुए बिना अहिंसा का पूर्ण पालन नही हो सकता । जिस अज्ञानी को साध्य, उपाय और फल का परिज्ञान नही है, वह कैसे श्रेय दिशा मे प्रवृत्त होगा ? वह सर्वत्र अन्धे के समान है । उसमे प्रवृत्ति और निवृत्ति के निमित्त का अभाव होता है ।[११०] **(२) किं वा नाहीइ छेय-पावगं**—अज्ञानी श्रेय—हितकर—सयम को, और पाप—अहितकर या असयम को कैसे जान सकता है ? जिसे जीव और अजीव का ज्ञान नही, उसे किसके प्रति, कैसे सयम करना है, या सयम मे हित है, असयम मे अहित है, इस

---

१०८. 'ज्ञान स्व-परस्वरूप-परिच्छेदलक्षणम् ।' —आचारमणिमजूषा टीका, भा. १, पृ. ३००

१०९ (क) 'सव्वसजता णाणपुव्व चरित्तधम्म पडिवालेति ।' —अ. चू , पृ ९३

(ख) ' साधूण चेव सपुण्णा दया जीवाजीवविसेस जाणमाणाण, ण उ सक्कादीण जीवाजीवविसेस अजाणमाणाण सपुण्णा दया भवइ त्ति, चिट्ठइ नाम अच्छइ । सव्वसजताण जीवाजीवादिसु णातेसु सत्तरसविधो सजमो भवइ ।' —जि चू , पृ. १६०-१६१

(ग) एव—अनेन प्रकारेण ज्ञानपूर्वकक्रियाप्रतिपत्तिरूपेण, तिष्ठति-आस्ते, सर्व· सयत प्रव्रजित ।

—हारि. वृत्ति, पत्र १५७

११०. (क) अण्णाणी जीवो, जीवविण्णाणविरहितो सो किं काहिति ? —अ. चू., पृ ९३

(ख) य पुन 'अज्ञानी'—साध्योपाय-फलपरिज्ञानविकल सो किं करिष्यति ? सर्वत्रान्धतुल्यत्वात् प्रवृत्ति-निवृत्तिनिमित्ताभावात् । —हारि. वृत्ति, पृ १५७

(ग) दसवेया० (मु. नथ.), पृ. १६५

तथ्य को भी कैसे समझ सकता है ? जिस प्रकार महानगर मे आग लगने पर अधा (नेत्रविहीन) नही जानता कि उसे किस दिशा से भाग निकलना है, उसी प्रकार जीवो के विशेष ज्ञान के अभाव मे अज्ञानी यह नही जानता कि उसे असयमरूपी दावानल से कैसे बच कर निकलना है । जो यह नही जानता कि क्या हितकर है, कालोचित है, क्या अहितकर है, उसका कुछ करना, आग लगने पर अधे के दौडने के समान होगा ।[१११]

सोच्चा : व्याख्या—सोच्चा का अर्थ है—सुन कर । परन्तु क्या सुन कर ? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्रकार के द्वारा प्रयुक्त **'जाणई कल्लाण, जाणइ पावगं'**, इन पदो को देखते हुए वृत्तिकार और चूर्णिकार ने यही अध्याहार किया है कि (१) सूत्र, अर्थ और सूत्रार्थ को सुनकर, (२) अथवा ज्ञान-दर्शन-चारित्र को सुन कर, (३) या जीव, अजीव आदि तत्त्वो (पदार्थों) को सुन कर, (४) मोक्ष के साधन, तत्त्वो के स्वरूप और कर्मविपाक के विषय मे सुन कर ।[११२]

श्रुति (श्रवण) का महत्त्व—वर्तमान युग मे जैसे प्राय पढ कर श्रेय-अश्रेय का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, वैसा प्राचीन काल मे नही था, आगम रचनाकाल से लेकर वीरनिर्वाण की दसवी शती से पूर्व तक जैनागम प्राय कण्ठस्थ थे । आगमो का अध्ययन, वाचन, पुनरावर्तन आदि आचार्य के मुख से सुनकर होता था । यही कारण है कि उत्तराध्ययन सूत्र मे मनुष्यत्वप्राप्ति के बाद दूसरा दुर्लभ परम अग श्रुति—श्रवण बताया गया है । श्रद्धा और आचरण का स्थान उसके बाद है ।[११३] साधु-साध्वी की पर्युपासना के स्थानाग सूत्र में १० फल बताए है, उनमे सर्वप्रथम फल 'श्रवण' है, उसके पश्चात् ज्ञान, विज्ञान, प्रत्याख्यान, सयम, सवर, तप, व्यवदान, अक्रिया और अन्त मे निर्वाण बताया है । अर्थात्—श्रवण का परम्परागत फल निर्वाण मे परिसमाप्त होता है । उत्तराध्ययन मे आगे मनुष्य-शरीर के बाद धर्मश्रवण को, तथा अहीनपचेन्द्रियत्व-प्राप्ति के पश्चात् उत्तम धर्मश्रुति को दुर्लभ बताया गया है ।[११४] इससे श्रवण या श्रुति का महत्त्व समझा जा सकता है ।

---

१११ (क) " जहा अधो महानगरदाहे पलित्तमेव विसम वा पविसति, एव छेदपावगमजाणतो ससारमेवाणुपडति ।" —अगस्त्य चूर्णि, पृ ९३

(ख) महानगरदाहे नयणविउत्तो ण याणाति, केण दिसाभाएण मए गतव्व ति । तहा सो वि अन्नाणी नाणस्स विसेस अयाणमाणो कह असजमदवाओ णिग्गच्छिहिति ? —जिन. चूर्णि पृ १६१

(ग) 'छेक'—निपुण हित कालोचित, 'पापक' वा अतो विपरीतमिति । ततश्च तत्करण भावतोऽकरण-मेव । समग्रनिमित्ताभावात् अन्धप्रदीप्त-पलायनघुणाक्षरकरणवत् ।" —हारि वृत्ति, पत्र १५७

११२ "सोच्चा नाम सुत्तत्थतदुभयाणि सोऊण, णाणदसणचरित्ताणि वा सोऊण, जीवाजीवादी पयत्था वा सोऊण ।" —जिन चू, पृ. १६१

११३ (क) 'गणहरा तित्थगरातो, सेसो गुरुपरपरेण सुणेऊण ।' —अ चू., पृ. ९३

(ख) उत्तरा० ३।१

११४ (क) सवणे णाणे य विन्नाणे पच्चक्खाणे य सजमे ।
अणण्हते तवे चेव वोदाणे अकिरिय निव्वाणे ॥ —स्थानांग० ३।४१८

(ख) 'माणुस विग्गह लद्धु सुई धम्मस्स दुल्लहा ।' —उत्तरा० ३।८

(ग) 'अहीणपचिंदियत्त पि से लहे, उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा' —उत्तरा० १०।१८

कल्लाणं, पावगं : कल्याण—(१) कल्य—अर्थात् मोक्ष को जो प्राप्त कराए। उसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र, सयम, धर्म आदि भी कहा जा सकता है।

पापक—(१) अकल्याण, (२) जिसके करने से पाप कर्मों का बन्ध हो, वह है असयम।

उभयं : दो अर्थ—(१) कल्याण और पाप दोनो को, (२) उभय—सयमासयम स्वरूप श्रावकोपयोगी, जिसमे कल्याण और पाप दोनो हो।[११५]

जीवाजीव के अविज्ञान-विज्ञान का परिणाम—जो व्यक्ति जीवो को शरीर-सहनन-सस्थान स्थिति, पर्याप्ति विशेष आदि सहित नही जानता, अजीवो को भी नही जानता, वह १७ प्रकार के सयम को सर्वपर्यायो सहित कैसे जान सकता है? श्रेय और पाप को जानने वाला पाप का परित्याग करके श्रेय—सयम को अपना लेता है, तथा असयम का परिहार करके मद्यमासादि अजीव का भी परिहार करता है, इस प्रकार वह जीवाजीव-सयम का पालन कर सकता है।[११६] तात्पर्य यह है कि जीव और अजीव की परिज्ञा वाला व्यक्ति जीव और अजीव सम्बन्धी सयम को जानता है। जीवो का वध न करना चाहिए, इस प्रकार का ज्ञान होने से वह जीव-सयम करता है। मद्य, मास, हिरण्यादि अजीव द्रव्यो का ग्रहण नही करना चाहिए क्योकि ये सयमविघातक है। इस प्रकार अजीव-सयम भी कर सकता है। निष्कर्ष यह है कि जो जीव-अजीव को नही जानता, वह उनके प्रति सयम को भी नही जानता, अत उनके प्रति वह सयम भी नही कर सकता।

जीवाजीव-विज्ञान : गति, पुण्य-पाप, बन्ध-मोक्ष के ज्ञान से सम्बद्ध—प्रस्तुत दो गाथाओ (३७-३८ वी) मे जीवाजीव विज्ञान का गति आदि के ज्ञान से सीधा सम्बन्ध बताया गया है। जब मनुष्य को जीव, अजीव का विवेक-ज्ञान हो जाता है, तब वह विचार करता है कि सबकी आत्मा निश्चय दृष्टि से एकसी होने पर भी ये नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि विभिन्न पर्याये अथवा जीवो में अन्य विभिन्नताएँ क्यो है? एक नारक या तिर्यञ्च क्यो बना? दूसरा मनुष्य या देव क्यो बना? तब

---

११५ (क) कल्यो मोक्षस्तमणति-प्रापयतीति कल्याण—दयाख्य सयमस्वरूपम् —हा टी., पत्र १५८
(ख) कल्ल नाम नीरोगया सा य मोक्खो, तमणेइ ज त कल्लाण, ताणि य णाणाईणि।
—जि चू, पृ १६१
(ग) कल्ल आरोग्ग त आणेइ कल्लाण, ससारातो विमोक्खण, सो य धम्मो। —जि. चू, पृ ९३
(घ) 'पावक अकल्लाण।' —वही, पृ ९३
(ङ) "जेण य कएण कम्म बज्झइ, त पाव, सो य असजमो।" —जिन चूर्णि, पृ १६१
(च) 'उभयमपि'—सयमासयमस्वरूप श्रावकोपयोगि। —हारि वृत्ति, पत्र १५८
(छ) "उभय एतदेव कल्लाण पावग।" — अगस्त्यचूर्णि, पृ. ९३

११६ (क) अगस्त्य चूर्णि, पृ ९४
(ख) जिनदास चूर्णि, पृ १६१-१६२
(ग) हारि वृत्ति, पत्र १५८
(घ) जीवा जस्स परिन्नाया, वेर तस्स न विज्जइ।
न हु जीरे अयाणतो वह वेर च जाणइ॥

उसका उत्तर शास्त्रों या ज्ञानी पुरुषो के द्वारा (श्रवण से) मिलता है कि 'कारण के बिना कार्य नही होता।' विभिन्न कर्म ही विभिन्न गतियो मे जन्म-मरण आदि के कारण है। शुभकर्मों के कारण सुगति और अशुभकर्मो के कारण दुर्गति मिलती है। इस प्रकार साधक गतियो एव उनके अन्तर्भेदो को सहज ही जान लेता है। पुण्य और पाप कर्मों की विशेषता के कारण सब जीवो की आत्मा समान होते हुए भी विभिन्न गतियाँ, योनियाँ तथा सुख-दु:ख, शरीरादि सयोग मिलते हैं। जीव और कर्म का जो परस्पर क्षीर-नीरवत् सयोग (बन्धन) है, वही चतुर्गति रूप ससार मे परिभ्रमण का कारण है। जो तप, सयम और रत्नत्रयसाधना के द्वारा इन बन्धनो (कर्मबन्ध) को काट देता है, वह कर्म, ससार एव जन्म-मरणादि के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली गतियो से सदा के लिए मुक्त हो जाता है। यही मोक्ष है।[११७] इस प्रकार जीव-अजीव को जानने वाला साधक विविध गतियो तथा पुण्य-पाप एव बन्धमोक्ष को सम्यक् प्रकार से जान लेता है, साथ ही जो इनमे से हेय है उसे त्याग देता है और उपादेय को ग्रहण कर लेता है। तात्पर्य यह है कि वह जीव और कर्म के ऐकान्तिक वियोगरूप मोक्ष को, जो कि शाश्वत सुख का हेतु है, उसे जान लेता है। जीवो की नरकादि नाना गतियो एव मुक्त जीवो की स्थिति को, तथा उसके कारणो को तथा बन्ध एव मोक्ष के अन्तर और उनके हेतुओ को भलीभाति जान लेता है। इस प्रकार सम्यग्ज्ञान के द्वारा उनका अनुभव परिपक्व हो जाता है।[११८]

आत्मशुद्धि द्वारा विकास का आरोहक्रम

७०. **जया पुण्णं च पाव च बध मोक्ख+ च जाणई।**
तया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे ॥३९॥

७१. **जया निव्विदए भोए, जे दिव्वे जे य माणुसे।**
तया चयइ संयोग सऽब्भितर-बाहिरं ॥४०॥

७२. **जया चयइ सजोगं सऽब्भितर-बाहिरं।**
तया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं ॥४१॥

---

११७ (क) यदा-यस्मिन्काले जीवानजीवांश्च द्वावप्येतौ विजानाति—विविध जानाति, तदा—तस्मिन्काले गतिं नरकगत्यादिरूपा बहुविधा—स्वपरगतभेदेनानेप्रकारां सर्वजीवाना जानाति। यथावस्थितजीवाजीव-परिज्ञानमन्तरेण गतिपरिज्ञानाभावात्। —हारि वृत्ति, पत्र १५९

(ख) तेसिमेव जीवाण आउ-बल-विभव-सुखातिसूतित पुण्ण च पाव च अट्ठविहकम्मणिगलबधण-मोक्खमवि। —अ चू, पृ ९४

(ग) पुण्य च पाप च बहुविधगतिनिबन्धन तथा बन्ध-जीवकर्मयोगदु खलक्षण, मोक्ष च तद्वियोग-सुखलक्षण जानाति। —हारि वृत्ति, पत्र १५९

११८ (क) 'बहुविधग्गहणेण नज्जइ जहा समाणे जीवत्ते ण विणा पुण्णपावादिणा कम्मविसेसेण नारकदेवादिविसेसा भवति।' —जिनदास चूर्णि, पृ. १६२

(ख) दसवेयालिय [मुनि नथमलजी] पृ १६८

\+ पाठान्तर—मुक्ख।

७३. जया मुंडे भवित्ताणं पव्वइए अणगारियं ।
तया संवरमुक्किट्ठं* धम्मं फासे अणुत्तरं ।।४२।।

७४. जया संवरमुक्किट्ठं धम्मं फासे अणुत्तरं ।
तया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।।४३।।

७५. जया धुणइ कम्मरयं अबोहिकलुसं कडं ।
तया सव्वत्तगं नाणं दंसणं चाभिगच्छई ।।४४।।

७६. जाय सव्वत्तग नाणं दंसणं चाभिगच्छई ।
तया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।।४५।।

७७. जया लोगमलोगं च जिणो जाणइ केवली ।
तया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जई ।।४६।।

७८. जया जोगे निरुंभित्ता सेलेसिं पडिवज्जई ।
तया कम्म खवित्ताणं सिद्धि गच्छइ नीरओ ।।४७।।

७९. जया कम्मं खवित्ताण सिद्धि गच्छइ नीरओ ।
तया लोगमत्थयत्थो सिद्धो भवइ सासओ ।।४८।।

[७०] जब (मनुष्य) पुण्य और पाप तथा बन्ध और मोक्ष को जान लेता है, तब जो भी दिव्य (देव-सम्बन्धी) और मानवीय (मनुष्यसम्बन्धी) भोग है, उनसे विरक्त (निर्वेद को प्राप्त) हो जाता है ।।३९।।

[७१] जब साधक दैविक और मानुषिक भोगो से विरक्त हो जाता है, तब आभ्यन्तर और बाह्य सयोग का परित्याग कर देता है ।।४०।।

[७२] जब साधक आभ्यन्तर और बाह्य सयोगो का त्याग कर देता है, तब वह मुण्ड हो कर अनगारधर्म मे प्रव्रजित हो जाता है ।।४१।।

[७३] जब साधक मुण्डित होकर अनगारवृत्ति मे प्रव्रजित हो जाता है, तब उत्कृष्ट—सवररूप अनुत्तरधर्म का स्पर्श करता है ।।४२।।

[७४] जब साधक उत्कृष्ट-सवररूप अनुत्तर धर्म का स्पर्श करता है, तब अबोधिरूप पाप (कलुष) द्वारा किये हुए (सचित) कर्मरज को (आत्मा से) झाड देता है (पृथक् कर देता है) ।।४३।।

[७५] जब साधक अबोधिरूप पाप द्वारा कृत (सचित) कर्मरज को झाड देता है, तब सर्वत्र व्यापी ज्ञान और दर्शन (—केवलज्ञान और केवलदर्शन) को प्राप्त कर लेता है ।।४४।।

---

* पाठान्तर—मुक्कट्ठं ।

[७६] जब साधक सर्वत्रगामी ज्ञान और दर्शन को प्राप्त कर लेता है, तब वह जिन और केवली होकर लोक और अलोक को जान लेता है ।।४५।।

[७७] जब साधक जिन और केवली होकर लोक-अलोक को जान लेता है, तब योगो का निरोध करके शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है ।।४६।।

[७८] जब साधक योगो का निरोध कर शैलेशी अवस्था को प्राप्त कर लेता है, तब वह (अपने समस्त) कर्मों का (सर्वथा) क्षय करके रज-मुक्त बन, सिद्धि को प्राप्त कर लेता है ।।४७।।

[७९] जब (साधक समस्त) कर्मों का (सर्वथा) क्षय करके रज-मुक्त होकर सिद्धि को प्राप्त कर लेता है, तब वह लोक के मस्तक पर स्थित होकर शाश्वत सिद्ध हो जाता है ।।४८।।

विवेचन—पुण्य-पापादि के ज्ञान से शाश्वत सिद्धत्व तक—प्रस्तुत १० गाथाओ (३९ से ४८ तक) मे पुण्य-पाप, बध और मोक्ष के ज्ञान से लेकर शाश्वत सिद्धत्व-प्राप्ति तक का आत्मा के विकासक्रम का दिग्दर्शन हेतुहेतुमद्भाव के रूप मे दिया गया है ।

आत्मा का विकासक्रम—

१ जीव और अजीव का विशेष ज्ञान ।
२ सर्वजीवो की बहुविध गतियो का ज्ञान ।
३ पुण्य-पाप तथा बन्ध-मोक्ष का ज्ञान ।
४ दैविक और मानुषिक भोगो से विरक्ति ।
५ बाह्य और आभ्यन्तर सयोगो का परित्याग ।
६ मुण्डित होकर अनगारधर्म मे प्रव्रज्या ।
७ उत्कृष्ट सवररूप अनुत्तरधर्म का स्पर्श ।
८ अबोधि-कृत कर्मों की निर्जरा ।
९ केवलज्ञान-केवलदर्शन की प्राप्ति ।
१० जिनत्व, सर्वज्ञता एव लोकालोकज्ञता की प्राप्ति ।
११ योगो का निरोध और शैलेशी अवस्था की प्राप्ति ।
१२ सर्वकर्मक्षय करके कर्ममुक्त होकर सिद्धिप्राप्ति ।
१३ लोकाग्र मे स्थित होकर शाश्वत सिद्धत्व-प्राप्ति ।[११९]

दिव्य एवं मानवीय भोगो से विरक्ति—पुण्य-पाप, बन्ध और मोक्ष का ज्ञान होते ही आत्मा को दिव्य एव मानवीय विषय भोग नि सार, क्षणिक एव किम्पाकफल के समान दु खरूप प्रतीत होने लगते है, क्योकि सम्यग्ज्ञान से वस्तुस्थिति का बोध हो जाता है । इन तुच्छ भोगो के कटु परिणामो एव चातुर्गतिक ससारपरिभ्रमण का दृश्य साकार-सा प्रतिभासित होने लगता है । इसलिए

११९ (क) दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण), पृ १७ (ख) दशवै (आ आत्मा), पृ. १२३

देव-मनुष्यसम्बन्धी भोगों से ऐसे साधक को सहज ही विरक्ति हो जाती है।[१२०] यहाँ ज्ञान का सार चारित्र बतलाया गया है।

निव्विदए : दो रूप : दो अर्थ (१) **निर्विन्द**—निश्चयपूर्वक जानना, सम्यक् विचार करना। (२) **निर्वेद**—घृणा करना, विरक्त होना, असारता का अनुभव करना।[१२१]

बाह्य-आभ्यन्तर सयोग क्या, उनका परित्याग कैसे ?—सयोग का अर्थ यहाँ केवल सम्बन्ध नही है, किन्तु आसक्ति या मोह से ससक्त सम्बन्ध, अथवा मूर्च्छाभाव या ग्रन्थि है। स्वर्ण आदि का सयोग या माता-पिता आदि का सयोग बाह्य सयोग है और क्रोधादि का सयोग आभ्यन्तर सयोग है। इन्हे ही क्रमश द्रव्यसयोग और भावसयोग कहा जा सकता है। भोगो से जब मनुष्य को अन्तर से वैराग्य हो जाता है तो भोगो के साधनो या भोगभावोत्पत्ति के कारणो से ममता-मूर्च्छा सहज ही हट जाती है, सयोगो का त्याग सहज ही हो जाता है। क्योकि तब अच्छी तरह समझ मे आ जाता है कि ये सयोग ही जीव को बन्धन मे डाले हुए हैं, और मेरे लिए अनेक दु खो के कारण बने हुए हैं। सयोग भी दो प्रकार के होते है—प्रशस्त और अप्रशस्त। इनमे से वह अप्रशस्त सयोगों को छोडता है, किन्तु देव, गुरु, धर्मसघ, साधुवेष, धर्मोपकरण आदि प्रशस्त सयोगो को अमुक मर्यादा तक ग्रहण करता है।[१२२]

मुण्ड और अनगारित्व-स्वीकार : विशेषार्थ—मुण्डन दो प्रकार का होता है—द्रव्यमुण्डन और भावमुण्डन। केशलुञ्चन आदि करना द्रव्यमुण्डन है, और पञ्चेन्द्रियनिग्रह एव कषायविजय भाव-मुण्डन है। प्रथम मुण्डन शारीरिक है, दूसरा मानसिक है। दोनो प्रकार से जो मुण्डित हो जाता है, वह 'मुण्ड' कहलाता है। स्थानागसूत्र मे १० प्रकार के मुण्ड बतलाए है—(१) क्रोधमुण्ड, (२) मान-मुण्ड, (३) मायामुण्ड, (४) लोभमुण्ड, (५) शिरोमुण्ड, (६) श्रोत्रेन्द्रियमुण्ड, (७) चक्षुरिन्द्रियमुण्ड, (८) घ्राणेन्द्रियमुण्ड, (९) रसनेन्द्रियमुण्ड और (१०) स्पर्शनेन्द्रियमुण्ड। वास्तव मे जब तक बाह्याभ्यन्तरसयोग बना रहता है, तब तक मोक्षपद की साक्षात्साधिका साधुवृत्ति ग्रहण नहीं कर पाता। परन्तु ज्यो ही मनुष्य समस्त भोगो से, भोगाकाक्षा से सर्वथा विरक्त हो जाता है और बाह्याभ्यन्तर सयोगो का त्याग कर देता है, त्यो ही उसकी अभिलाषा गृहस्थवास मे रहने की या गृहस्थाश्रम का दायित्व वहन करने की नही रहती। वह सब से मुख मोड कर द्रव्य-भाव से मुण्डित होकर अनगारधर्म

---

१२० हारि वृत्ति, पत्र १५७

१२१. 'णिच्छिय विंदतीति णिव्विंदति, विविहमणेगप्पगारं वा विंदइ णिव्विंदइ, जहा एते किंपागफलसमाणा दुरता भोग त्ति। —जि. चू, पृ १६२

१२२ (क) सयोग—सम्बन्ध द्रव्यतो भावतश्च साभ्यन्तरबाह्य क्रोधादि-हिरण्यादि-सम्बन्धमित्यर्थ।
—हारि. वृत्ति, पत्र १५९

(ख) 'बाहिर अब्भतरं च गथ।' —जि चू, १६२

(ग) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ १२४

मे प्रव्रजित हो जाता है। जिसके अगार अर्थात् अपने स्वामित्व का कोई गृह नही होता, वह अनगार कहलाता है। अनगारिता अर्थात्-अनगारवृत्ति या अनगारधर्म अथवा गृहरहित अवस्था—साधुता।[१२३]

उत्कृष्ट संवररूप अनुत्तर धर्म क्या और कौन-सा ?—प्राणातिपात आदि आस्रव-(कर्मों के आगमन-) द्वार का भलीभाति रुक जाना सवरधर्म है। यो तो सवर गृहस्थावस्था मे भी किया जा सकता है, किन्तु वहाँ एकदेशरूप (अणुव्रतरूप) सवर ही धारण किया जा सकता है, जबकि यहाँ उत्कृष्ट सवर धारण करने की बात कही है वह सर्वविरतिरूप (महाव्रतरूप) सवर की अपेक्षा से कही है। इस दृष्टि से सवर के दो प्रकार होते है—देशसवर और सर्वसवर। देशसवर मे आस्रवो का आशिक निरोध होता है, जब कि सर्वसवर मे उनका पूर्ण निरोध होता है। यहाँ देशसवर की अपेक्षा सर्वसवर को उत्कृष्ट कहा है। सर्वसवर अगीकार करने का अर्थ है—सकल चारित्रधर्म को अगीकार करना। महाव्रतरूप पूर्ण चारित्र धर्म से बढकर कोई धर्म नही है, इसीलिए इसे अनुत्तर (सर्वश्रेष्ठ) धर्म कहा है। भावार्थ यह है कि समस्त विषयभोग, बाह्याभ्यन्तरग्रन्थि और गृहवास को छोड कर जब साधक द्रव्य-भाव से मुण्डित होकर अनगारधर्म को अगीकार करता है, तब सहज ही महाव्रतरूप उत्कृष्ट सर्वश्रेष्ठ सवरधर्म का स्पर्श आसेवन (पालन) करता है। ऐसी स्थिति मे उसके समस्त पापास्रवो का पूर्ण निरोध (सवर) हो जाता है। चूर्णिकारो के मतानुसार उत्कृष्ट सवर को जो अनुत्तर धर्म कहा है, वह परमतो की अपेक्षा से कहा है।[१२४]

अबोधिकलुषकृत कर्मरज-ध्वंस का कारण और उसका परिणाम—आत्मा अपने आप मे शुद्ध है, किन्तु कर्मों के आवरण के कारण वह कलुषित-अशुद्ध हो रही है। जब साधक उत्कृष्ट सवररूप अनुत्तर धर्म का पालन करता है तो एक ओर से वह नवीन कर्मों (आस्रवो) का सर्वथा निरोध कर देता है, दूसरी ओर से[१२५] पूर्व मे किये हुए कर्मरज को झाड देता है, या ध्वस कर डालता है। अथवा अबोधि-अज्ञान के कारण जो कलुष-पाप किया है, उससे अर्जित कर्मरज को वह धुन डालता है। तात्पर्य यह है कि महाव्रत, समिति, गुप्ति, परीषहजय, दशविध श्रमणधर्म, अनुप्रेक्षा एव द्वादश

---

१२३. (क) मुडे इदिय-विसय-केसावणयणेण मुडो। —अगस्त्यचूर्णि, पृ ९५
(ख) स्थानाग स्था. १०।९९ (ग) अगार—घर त जस्स नत्थि सो अणगारो। तस्स भावो अणगारिता त पवज्जति। —अ. चू, पृ ९५

१२४ (क) सवरो नाम पाणवहादीण आसवाण निरोहो भण्णइ। देससवराओ सव्वसवरो उक्किट्ठो। तेण सव्वसवरेण सपुण्ण चरित्तधम्म फासेइ। अणुत्तर नाम न ताओ धम्माओ अण्णो उत्तरोत्तरो अत्थि। उक्किट्ठग्गहण देसविरइपडिसेहणत्थ कय। अणुत्तरगहण एसेव एक्को जिणप्पणीओ धम्मो अणुत्तरो, ण परवादिमताणित्ति। —जि चू, पृ १६३
(ख) उत्कृष्टसवर धर्म—सर्वप्राणातिपातादिविनिवृत्तिरूप चारित्रधर्ममित्यर्थ। स्पृशत्यानुत्तर—सम्यगासेवत इत्यर्थ।' —हारि. वृत्ति, पत्र १५९

१२५. (क) धुणति-विद्ध सयति, कम्ममेव रतो कम्मरतो। अबोहि-अण्णाण, अबोहिकलुसेण कड, अबोहिणा, वा कलुस कत। —अग चू, पृ ९५
(ख) धुनोति अनेकार्थत्वात् पातयति 'कर्मरज'-कर्मैव आत्मरजनाद्रज इव रज, अबोधिकलुषेण-मिथ्यादृष्टिनोपात्तमित्यर्थ। —हा टी. १५९

विध तपश्चरण रूप अनुत्तर चारित्रधर्म के उत्कृष्ट पालन से वह साधक ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय मोहनीय और अन्तराय इन चार घातिकर्मों का क्षय (ध्वस) कर देता है। आत्मा पर लगी हुई घातिकर्मरूपी रज के दूर होते ही केवलज्ञान-केवलदर्शन प्रकट हो जाते हैं। उस स्थिति मे आत्मा मे सर्वव्यापी अनन्तज्ञान और अनन्तदर्शन प्रकट हो जाते हैं। केवलज्ञान और केवलदर्शन को सर्वत्रग (सर्वव्यापी) इस दृष्टि से कहा गया है कि इनके द्वारा सभी विषय जाने-देखे जा सकते हैं। नैयायिक आदि दर्शनो की तरह जैनदर्शन आत्मा को क्षेत्र की दृष्टि से सर्वव्यापी नही मानता, वह आत्मा के निजी गुण-ज्ञान की अपेक्षा (केवलज्ञान के विषय की दृष्टि से) सर्वव्यापी मानता है।[१२६]

सर्वव्यापी ज्ञान-दर्शन के प्राप्त होते ही वह आत्मा केवलज्ञान और जिन (रागद्वेषविजेता) बन जाता है, और अपने केवलज्ञान के आलोक मे लोक और अलोक को जानने-देखने लगता है।[१२७] अर्थात्—केवलज्ञान के प्रकाश मे लोकालोक को हाथ पर रखे हुए आँवले की तरह जानता देखता है।[१२८]

शैलेशी अवस्था, नीरजस्कता एवं सिद्धि : कारण और स्वरूप—शैलेशी का अर्थ है—मेरु। जो अवस्था मेरुपर्वत की तरह अडोल—निष्कम्प होती है, उसे शैलेशी अवस्था कहते हैं। शैलेशी अवस्था मे आत्मा सर्वथा निष्काम हो जाती है। प्रस्तुत गाथा मे—शैलेशी (निष्कम्प) अवस्था का कारण बताया गया है—योगो का निरोध। आत्मा स्वभाव से निष्कम्प ही है, किन्तु योगो के कारण इसमे कम्पन होता रहता है। आत्मप्रदेशो मे यह गति, स्पन्दन या कम्पन आत्मा और शरीर के सयोग से उत्पन्न होता है, उसे ही योग कहते है। योग अर्थात् मन, वचन और काया की प्रवृत्ति या हलचल। इन तीनो योगो की प्रवृति जब शुभ कार्य मे होती है, तब व्यक्ति शुभास्रव करता है और अशुभ कार्यो मे प्रवृत्ति होती है, तब अशुभास्रव करता है। परन्तु अरिहन्त केवली भगवान् के जब तक आयुष्य होता है, तब तक शुभ प्रवृत्ति ही सभव है, जिसके फलस्वरूप पुण्यबन्ध (मात्र साता-वेदनीय) होता है। अरिहन्त केवली मे चार अघातीकर्म (वेदनीय, आयु, नाम और गोत्रकर्म) शेष रहते है, उनका भी क्षय करने के लिए योगनिरोध करते हैं। योगो का सर्वथा निरोध तद्भव-मोक्षगामी जीव के अन्तकाल मे होता है। पहले मन का, उसके पश्चात् वचन का और अन्त मे शरीर का योग निरुद्ध होता है।[१२९] और आत्मा शैलेशी-अवस्थापन्न होकर सर्वथा निष्काम बन जाती है।

---

१२६ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. १३१
(ख) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ. १७१
(ग) 'सव्वत्थ गच्छतीति सव्वत्तग केवलनाण केवलदसण च।' —अ चू, पृ ९५
(घ) सर्वत्रग ज्ञान-अशेषज्ञेयविषय, 'दर्शन' च—अशेषदृश्यविषयम्। —हा वृ., प १५९

१२७ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ १३१

१२८. लोक चतुर्दशरज्ज्वात्मक, अलोक च अनन्त, जिनो जानाति केवली। लोकालोकौ च सर्वं नान्यतरमेवेत्यर्थ.। —हारि वृत्ति, पत्र १५९

१२९. (क) 'तदा जोगे निरुभित्ता' भवधारणिज्जकम्मविसारणत्थ सीलस्स ईसति-वसयति सेलेसिं। ततो सेलेसिप्पभावेण तदा कम्म—भवधारणिज्ज कम्म सेस खवित्ताण सिद्धि गच्छति णीरतो—निक्कम्म-मलो। —अगस्त्य चूर्णि, पृ ९६

जब केवली भगवान् शैलेशी-अवस्था को प्राप्त करके सर्वथा अयोगी हो जाते हैं, तब उनके अघातीचतुष्टय का भी सर्वथा क्षय हो जाता है। ऐसी स्थिति मे वे सर्वथा नीरज अर्थात् कर्मरज से सर्वथा रहित हो जाते हैं और मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। सिद्धिगति में पहुँचने के पश्चात् वे लोक के मस्तक पर अर्थात्—ऊर्ध्वलोक के छोर—अग्रभाग पर जाकर प्रतिष्ठित हो जाते है और शाश्वत सिद्ध (विदेहमुक्त) हो जाते हैं। उत्तराध्यनसूत्र मे मुक्त (सिद्ध) जीवो के सम्बन्ध मे पूछे गये प्रश्नो का उत्तर इस प्रकार दिया गया है कि—"सिद्ध अलोक से प्रतिहत है, लोकाग्र मे प्रतिष्ठित हैं, यहाँ (मनुष्य-लोक मे) वे शरीर छोड देते है और वहाँ (लोकाग्र मे) जाकर सिद्ध होते है।"

सिद्ध भगवान् को शाश्वत इसलिए कहा गया है कि वे सिद्ध होने के पश्चात् पुन ससार मे आकर जन्म धारण नही करते, क्योकि उन्होने ससार मे जन्म-मरण के कारणभूत कर्मबीजो को सर्वथा दग्ध कर दिया है। जैसे बीज के रहने पर ही उसमे अकुर उत्पन्न होने की सभावना रहती है, बीज ही नष्ट हो जाए तो अकुर के उत्पन्न होने का प्रश्न ही नही उठता। अत सिद्धात्मा का मुक्त होने के पश्चात् ससार मे लौट कर आने और जन्म धारण करने की भ्रान्त मान्यता का निराकरण करने हेतु शाश्वत पद दिया गया है।[१३०]

इस प्रकार आत्मा की क्रमिक शुद्धि द्वारा उत्तरोत्तर विकास होते-होते विकास के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचने का क्रम इन गाथाओ मे अकित है।

सुगति की दुर्लभता और सुलभता

८०. सुहसायगस्स समणस्स सायाउलगस्स निगामसाइस्स।
उच्छोलणापहोइस्स*दुल्लहा सोग्गइ+तारिसगस्स ॥४९॥

(ख) 'सेलेसिं पडिवज्जइ भवधारणिज्जकम्मक्खयट्ठाए।' —जि चू, पृ १६३

(ग) उचितसमयेन योगान्निरुद्धय मनोयोगादीन् शैलेशी प्रतिपद्यते भवोपग्राहिक-कर्मांशक्षयाय।
—हारि वृत्ति, पत्र १५९

(घ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ १७१

(ङ) दशवै (आचार्य आत्मारामजी म), पृ १३३

१३० (क) 'कर्म क्षपयित्वा भवोपग्राह्यपि 'सिद्धि' गच्छति लोकान्तक्षेत्ररूपा, नीरजा सकलकर्मरजोनिर्मुक्त।
—हारि वृत्ति, पत्र १५९

(ख) 'भवधारणिज्जाणि कम्माणि खवेउ सिद्धि गच्छइ, कह ? जेण सो नीरओ, नीरओ नाम अवगतरओ नीरओ।' —जिन चूर्णि, पृ १६३

(ग) लोगमत्थगे—लोगसिरसि ठितो सिद्धो कतत्थो सासतो सव्वकाल तहा भवति। —अगस्त्य चू, पृ ९६

(घ) त्रैलोक्योपरिवर्ती सिद्धो भवति, 'शाश्वत'—कर्मबीजाभावादनुत्पत्तिधर्म इति भाव।
—हारि वृत्ति, पत्र १५९

(ङ) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ १३५

(च) अलोए पडिहया सिद्धा, लोयग्गे य पइट्ठिया।
इह बोदिं चइत्ताण, तत्थ गतूण सिज्झइ॥ —उत्तरा ३३।५६

* पाठान्तर— 'पहोअस्स'।

\+ सुगई।

८१. तवोगुणपहाणस्स उज्जुमइ-खंति-संजमरयस्स ।
परीसहे जिणंतस्स सुलहा सोग्गइ तारिसगस्स ॥५०॥

[पच्छावि ते पयाया, खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पिओ तवो संजमो य, खंती य बंभचेरं च ॥] □

[८०] जो श्रमण सुख का रसिक (आस्वादी) है, साता के लिए आकुल रहता है, अत्यन्त सोने वाला (निकाम-शायी) है, प्रचुर जल से बार-बार हाथ-पैर आदि को धोने वाला होता है, ऐसे श्रमण को सुगति दुर्लभ है ॥४९॥

[८१] जो श्रमण तपोगुण मे प्रधान है, ऋजुमति (सरलमति) है, क्षान्ति एव सयम मे रत है, तथा परीषहो को जीतने वाला है, ऐसे श्रमण को सुगति सुलभ है ॥५०॥

[भले ही वे पिछली वय (वृद्धावस्था) मे प्रव्रजित हुए हो किन्तु जिन्हे तप, सयम, क्षान्ति (क्षमा या सहनशीलता) एव ब्रह्मचर्य प्रिय है, वे शीघ्र ही देवभवनो (देवलोको) मे जाते हैं ॥]

विवेचन—सुगति किसको दुर्लभ ?—प्रस्तुत गाथा सूत्र (८०) मे सुगति के लिए अयोग्य श्रमण की विवेचना की गई है। ऐसे चार दुर्गुण जिस साधु या साध्वी मे होते है, वे अहिंसा, एषणासमिति, आदाननिक्षेपसमिति, उच्चारप्रस्रवणादि परिष्ठापनासमिति तथा तीन गुप्ति आदि के पालन मे शिथिल हो जाते है। फलत आगे चल कर उनके ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि व्रतो मे, दशविध श्रमणधर्म मे दोष लगने की सभावना है। वे सयम और तप मे बहुत कच्चे हो जाते है। सुख-सुविधाभोगी होने के कारण सभव है, वे साधुजीवन के मौलिक नियमो को भी ताक मे रख दे। इसलिए उनके चारित्रधर्म के पालन मे शैथिल्य के कारण सुगति दुर्लभ बताई है।

सुहसायगस्स : सुख-स्वादक : तीन अर्थ—(१) अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—सुख का स्वाद लेने (चखने) वाला। (२) जिनदास के अनुसार—जो सुख की कामना या प्रार्थना करता है। (३) हरिभद्रसूरि के अनुसार—प्राप्त सुख को आसक्तिपूर्वक भोगने वाला, वास्तव मे जो सुखसुविधाओ का रसिक है, वही सुखस्वादक है।

सायाउलगस्स : साताकुल : सुख प्राप्ति के लिए व्याकुल (बेचैन) या भावी सुख के लिए व्याक्षिप्त-व्यग्र।[१३१]

□ कोष्ठक के अन्तर्गत इस गाथा की व्याख्या चूर्णिद्वय, तथा हारिभद्रीय वृत्ति मे भी नही की गई है, इसलिए यह गाथा प्रक्षिप्त प्रतीत होती है किन्तु सभी सूत्रप्रतियो मे उपलब्ध है। —स

१३१ (क) सुहसातगस्स—तदा सुख-स्वादयति चक्खति। —अ चू, पृ ९६
(ख) सायतिणाम पत्थयति कामयति। —जि चू, पृ १६३
(ग) सुखास्वादकस्य—अभिष्वगेण प्राप्तसुखभोक्तु। —हा वृ, पत्र १६०
(घ) साताकुलस्स—तेणेव सुहेण आउलस्स। अ. चू, पृ ९६
(ङ) साताकुलस्य भाविसुखार्थं व्याक्षिप्तस्य। —हारि वृत्ति, पत्र १६०

सुख और साता में अन्तर—(१) जिनदास महत्तर के अनुसार सुख का अर्थ है—अप्राप्त भोग और साता का अर्थ है—प्राप्त भोग। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार दोनो एकार्थक है।

निगामसाइस्स : निकामशायी : तीन अर्थ—(१) जिनदास के अनुसार प्रकामशायी—अतिशय सोनेवाला, (२) हरिभद्र के अनुसार—शयनवेला का अतिक्रमण करके सोनेवाला अथवा अत्यन्त निद्राशील। (३) अगस्त्यसिंह के अनुसार—कोमल सस्तारक (बिस्तर) बिछाकर सोनेवाला।[१३२]

उच्छोलणापहोइस्स—(१) प्रचुर जल से बार-बार अयतनापूर्वक हाथ-पैर आदि धोनेवाला, (२) प्रभूत जल से भाजनादि को धोनेवाला।[१३३]

सुगतिसुलभता के योग्य पांच गुण—(१) **तपोगुणप्रधान**—जिसमे तपस्या का मुख्य गुण हो। अर्थात्—जो समय आने पर यथालाभसतोष या अप्राप्ति मे भी सतोष करके तपश्चरण के लिए शान्तिपूर्वक उद्यत रहता हो। (२) **ऋजुमतिः**—जिसकी मति सरल हो, जो मायी-कपटी न हो, निश्छल हो या जिसकी बुद्धि ऋजु—मोक्षमार्ग मे प्रवृत्त हो। (३) **क्षान्तिपरायण**—क्षान्ति के दो अर्थ होते हैं—क्षमा और सहिष्णुता—तितिक्षा। ये दोनो गुण जिसमे होगे, उसका कषाय मन्द होगा, सहनशक्ति विकसित होने के कारण वह रत्नत्रय की साधना उत्साहपूवक करेगा। (४) **संयमरत**—१७ प्रकार के सयम मे लीन और (५) **परीषहविजयी**—धर्मपालन के लिए मोक्षमार्ग से च्युत न होकर समभावपूर्वक निर्जरा के हेतु से कष्ट सहन करना परीषह है। इसके क्षुधा, पिपासा आदि २२ प्रकार हैं।[१३४]

सुगति—दो अर्थों में—सुगति शब्द यहाँ दोनो अर्थों मे प्रयुक्त है—(१) सिद्धिगति (मोक्ष) अथवा (२) मनुष्य-देवगति।[१३५]

पिछली अवस्था में भी प्रव्रजित को सुगति—यदि कोई व्यक्ति वृद्धावस्था के कारण यह कहे कि मै अब भागवती दीक्षा के योग्य नही रहा, उसके प्रति शास्त्रकार का कथन है कि जिन्हे तप, सयम, क्षान्ति और ब्रह्मचर्य आदि से प्रेम है वे वृद्धावस्था मे चारित्रधर्म अगीकार करने पर भी शीघ्र ही देवलोक (सुगति) प्राप्त कर सकते है। यद्यपि मोक्षप्राप्ति का साक्षात्कारण चारित्र है, तथापि पिछली अवस्था मे शक्तिक्षीणता के कारण कदाचित् शरीर से चारित्र पालन मे कुछ

---

१३२ (क) निगाम नाम पगाम सुयतीति निगामसायी। —जि चू, १६४
(ख) सूत्रार्थवेलामुल्लघ्य शायिन। —हारि वृत्ति, पत्र १६०
(ग) सुपच्छण्णे मउए सुइतु सीलमस्स निकामसाती। —अ चू, पृ ९६

१३३ (क) उच्छोलणापहावी णाम जो पभूओदगेण हत्थपायादी अभिक्खण पक्खालइ। अहवा भायणाणि पभूतेण पाणिएण पक्खालयमाणो उच्छोलणापहोवी। —जिनदास चूर्णि, पृ २६४

१३४ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्माराम जी म), पृ १३८
(ख) उज्जुया मती उज्जुमती अमाती। —अ चू, पृ ९७
(ग) ऋजुमतेः-मार्गप्रवृत्तबुद्धे। —हा टी, पत्र १६०
(घ) परीसहा—दिगिछादि बावीस ते अहियासतस्स। —जि. चू., पृ. १६२

१३५. सुगति = मोक्ष। ज्ञान और क्रिया द्वारा ही सुगति—मोक्षगति। —दशवै. (आ आत्मा.), पृ. १३७।१३८

मन्दता हो, परन्तु मन मे लगन, उत्साह और तीव्रता हो तो मोक्षप्राप्ति नही तो कम से कम स्वर्ग-प्राप्ति तो हो ही जाएगी, यह इस गाथा का आशय प्रतीत होता है।[१३६]

षड्जीवनिकाय-विराधना न करने का उपदेश

८२. इच्चेय छज्जीवणियं सम्मद्दिट्ठी सया जए।
दुल्लहं लभित्तु सामण्ण कम्मुणा ण विराहेज्जासि ॥५१॥
—त्ति बेमि

॥ चउत्थं छज्जीवणियऽज्झयण समत्त ॥४॥

[८२] इस प्रकार दुर्लभ श्रमणत्व को पाकर सम्यक् दृष्टि और सदा यतनाशील (अथवा जागरूक) साधु या साध्वी इस षड्जीवनिका की कर्मणा (अर्थात्—मन, वचन और काया की क्रिया से) विराधना न करे ॥५१॥ —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—उपदेशात्मक उपसहार— प्रस्तुत अध्ययन के उपसहार मे जो षड्जीवनिका की विराधना न करने का उपदेश दिया गया है, वह पुत्र को परदेश या विदेश विदा करते समय माता या पिता के द्वारा दिये गए उपदेश के समान महान् हितैषी सद्गुरु का शिष्य को दिया गया उपदेश है। इसका आशय यह है कि यद्यपि मनुष्यत्व दुर्लभ है, किन्तु तुम्हें तो मनुष्यत्व, धर्मश्रवण और श्रद्धा के पश्चात् सयम मे पराक्रम करने वाले श्रमण का पद मिला है, तुम श्रमणत्व के अधिकारी बने हो, अत हे शिष्य! सम्यक् दृष्टिपूर्वक, सतत अप्रमत्त (जागरूक) रह कर इस अध्ययन मे प्रतिपादित जीवादि के सम्यक् ज्ञान एव उनके प्रति सम्यक् श्रद्धा रखकर पचमहाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, षड्जीवनिकायविराधना से विरति, एव प्रत्येक क्रिया मे यतनाशील रह कर आत्मा के विकासक्रम के अनुसार मन-वचन-काया से ऐसा कार्य करना, जिससे इनकी विराधना न हो। अर्थात् इनमे स्खलना या खण्डना न हो।

कम्मुणा न विराहेज्जासि—कम्मुणा—कर्मणा के तीन अर्थ—(१) मन, वचन, काया की क्रिया से, (२) षड्जीवनिकाय के अध्ययन मे जैसा उपदेश दिया गया है, उसके अनुसार विराधना न करे, (३) षट्जीवनिकाय के जीवो की कर्म से अर्थात् दु ख पहुचाने से लेकर प्राणहरण तक की क्रिया से विराधना न करे।[१३७]

॥ चतुर्थ : षड्जीवनिका अध्ययन समाप्त ॥

---

१३६. दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य आत्मारामजी म.), पृ १३९

१३७ (क) कर्मणा-मनोवाक्कायक्रियया। —हा टी, प १६०
(ख) कम्मुणा-छज्जीवणियाजीवोवरोहकारकेण। —अ चू, पृ ९७
(ग) कम्मुणा नाम जहोवएसो भण्णइ, त छज्जीवणिय जहोवइट्ठ तेण णो विराहेज्जा। —जि चू, १६४
(घ) न विराधयेत् न खण्डयेत्। —हारि वृत्ति पत्र १६०

पंचमं अज्झयणं : पिंडेसणा

पंचम अध्ययन : पिण्डैषणा

प्राथमिक

- यह दशवैकालिक सूत्र का पाँचवाँ अध्ययन है। इसका नाम पिण्डैषणा है।
- सजातीय एव विजातीय ठोस वस्तु के एकत्रित होने को 'पिण्ड' कहते है, किन्तु यहाँ 'पिण्ड' शब्द पारिभाषिक है, जो अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चारो प्रकार के आहार के लिए प्रयुक्त होता है। पिण्ड के साथ एषणा शब्द का षष्ठीतत्पुरुष या चतुर्थीतत्पुरुष समास होने से 'पिण्डैषणा' शब्द निष्पन्न हुआ है। इसका अर्थ हुआ—पिण्ड की अर्थात्—चतुर्विध आहार की एषणा। अथवा पिण्ड अर्थात्—चतुर्विध आहार के लिए, अथवा देहपोषण के लिए एषणा।[1] एषणा शब्द यो तो इच्छा या तृष्णा अर्थ मे प्रचलित है, जैसे—पुत्रैषणा, वित्तैषणा आदि। परन्तु यहाँ यह शब्द जैन पारिभाषिक होने से इच्छा या तृष्णा अर्थ मे प्रयुक्त न होकर दोष-अदोष के अन्वेषण, निरीक्षण या शोध अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।
- एषणा शब्द के अन्तर्गत गवेषणैषणा (आहार के शुद्धाशुद्ध होने की अन्वेषणा = जाच पडताल), ग्रहणैषणा (आहार ग्रहण करते समय लगने वाले दोष-अदोष का निरीक्षण) और परिभोगैषणा (भिक्षा मे प्राप्त आहार का सेवन करते समय लगने वाले दोषादोष का विचार), इन तीनो का समावेश हो जाता है।
- इसलिए प्रस्तुत अध्ययन मे पिण्ड की गवेषणैषणा, ग्रहणैषणा और परिभोगैषणा, इन तीनो दृष्टियो से वर्णन किया गया है। अतएव इसका नाम 'पिण्डैषणा' रखा गया है।[2]
- आचारागसूत्रान्तर्गत आचारचूला के प्रथम अध्ययन में भी इस विषय का प्रतिपादन किया गया है, वह इसका विस्तार है या यह उसका सक्षेप, यह कहना कठिन है, किन्तु दोनो अध्ययन आठवे 'कर्मप्रवादपूर्व' से उद्धृत किये गए हैं,[3] ऐसा निर्युक्तिकार का मत है।
- चतुर्थ अध्ययन मे साधु-साध्वी के मूलगुणो तथा उनसे सम्बद्ध षड्जीवनिकाय की रक्षा, यतना, सयम एव जीवादि तत्त्वो के ज्ञान-श्रद्धान तथा तदनुसार उत्तरोत्तर आत्मविकास से सम्बन्धित

---

१ (क) 'पिडि सघाते' धातु से निष्पन्न पिण्ड शब्द।
(ख) पिण्डनिर्युक्ति, गा. ६
(ग) 'यत्पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे' वैदिकसूत्र।

२ "गवेसणाए गहणे य परिभोगेसणाए य। आहारोवहिसेज्जाए, एए तिन्नि विसोहए।" —उत्तरा २४।११

३. 'कम्मप्पवायपुव्वा पिंडस्स एसणा तिविहा।' —दशवै निर्युक्ति १।१६

चारित्रधर्म का वर्णन है, प्रस्तुत अध्ययन मे उन्ही मूलगुणो को परिपुष्ट एव रक्षण करने वाले 'पिण्डैषणा'-विषयक उत्तरगुण का वर्णन किया गया है। साथ ही चतुर्थ अध्ययन मे षड्जीवनिकाय के रक्षारूप भिक्षु-भिक्षुणी के आचार का वर्णन भी किया गया है, परन्तु आचार-पालन शरीर की स्थिति पर निर्भर है। साधु-साध्वी आचार का पालन अपने शरीर की रक्षा करते हुए ही कर सकते है। शरीर की रक्षा मे आहार (पिण्ड) एक मुख्य कारण है। साधु-साध्वी के समक्ष एक ओर शरीर की रक्षा का प्रश्न है, तो दूसरी ओर गृहीत महाव्रतों की सुरक्षा का भी प्रश्न है। अतः साधुवर्ग इन दोनो की सुरक्षा करता हुआ किस प्रकार से आहार ग्रहण करे ? यही वर्णन सभी पहलुओ से इस अध्ययन मे किया गया है।

- ☐ भिक्षु अहिंसामहाव्रत की सुरक्षा के लिए न तो पचन-पाचनादि क्रिया करता है, और न किसी से खरीद या खरीदवाकर आहार ले सकता है, तथा न किसी से अपने निवासस्थान (उपाश्रयादि) मे आहार मगवा सकता है, अत· पिण्डैषणा की शुद्धि के लिए भिक्षाचर्या का मार्ग ही सर्वोत्तम है, जिसका प्रथम अध्ययन में वर्णन किया गया है।
- ☐ निर्ग्रन्थ भिक्षु-भिक्षुणियों की भिक्षा सर्वसंपत्करी है, उनकी भिक्षा देह को पुष्ट बनाने या प्रमाद अथवा आलस्य बढाने के लिए नही, किन्तु दूसरे जीवो को लेशमात्र भी कष्ट पहुँचाए बिना आत्मा के पूर्ण विकास के लिए प्राप्त हुए देह-साधन से केवल कार्य लेने, धर्मपालन करने, तथा जीवनप्रवाह को ज्वलन्त रखने के लिए है। शरीर तो हाड-मास और मलमूत्र का भाजन है, निःसार है, उसे तो सुखा डालना चाहिए, उसकी परवाह नही करनी चाहिए, ऐसा सोचना जैन सिद्धान्त सम्मत तपश्चरण नहीं है, यह भयकर जड क्रिया है। तथैव शरीर को अत्यन्त पुष्ट करना, उसी की साजसज्जा मे रत रहने मे जीवन की इति—समाप्ति मान बैठना भी निरी जडता है। इस बात को दीर्घ दृष्टि से सोचकर महाश्रमण महावीर ने साधु-साध्वियो के लिए निर्दोष सर्वसपत्करी भिक्षा द्वारा आहार प्राप्त करके शरीर को पोषणपर्याप्त आहार देने का विधान किया है।[५]
- ☐ भगवान् ने कहा कि "श्रमण निर्ग्रन्थो की भिक्षा नवकोटि-परिशुद्ध होनी चाहिए—वह भोजन के लिए जीववध न करे, न करवाए और न करने वाले का अनुमोदन करे, न पकाए, न पकवाए और न पकाने वाले का अनुमोदन करे तथा न खरीदे, न खरीदवाए, और न खरीदने वाले का अनुमोदन करे।"

---

४ (क) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ ३७५
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म)

५. (क) सर्वसम्पत्करी चैका पौरुषघ्नी तथापरा। वृत्तिभिक्षा च तत्त्वज्ञैरिति भिक्षा त्रिधोदिता।
—हरिभद्रीय अष्टक ५।१
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ४२, ६१

६. समणेण भगवता महावीरेण समणाण निग्गथाण णवकोडिपरिसुद्धे भिक्खे प त ण हणइ, ण हणावइ, हणत णाणुजाणइ, ण पयइ, ण पयावेति, पयत णाणुजाणति, ण किणति, ण किणावेति, किणत णाणुजाणति।
—स्थानाग स्था. ९।३०

☐ अपनी सर्वस्व चल-अचल सपत्ति एव परिवार आदि के ममत्व का परित्याग करके स्व-परकल्याण के मार्ग मे जिसने अपनी काया समर्पित कर दी है, वही साधु-साध्वी ऐसी सर्वसम्पत्करी भिक्षा प्राप्त करने के अधिकारी हैं। परन्तु वे कब, किससे, किस विधि से, किस प्रकार का आहार निर्दोष भिक्षा के रूप मे प्राप्त कर सकते है ? इसका विस्तृत वर्णन इस पचम अध्ययन के दो उद्देशको मे किया गया है।[७]

☐ भिक्षु को आहारादि जो कुछ प्राप्त करना होता है, वह भिक्षा द्वारा ही प्राप्त करना होता है। 'याचना' को बाईस परीषहो मे से एक परीषह माना है। परन्तु भिक्षु को इस परीषह पर विजय प्राप्त करके अहिंसादि की मर्यादा का ध्यान रखते हुए किसी की भावना को ठेस न पहुँचाते हुए, तथा सूक्ष्म जीवो को जरा भी पीडा न पहुँचाते हुए आहार के एषणादोषो से बचाव करते हुए पूर्ण विशुद्धिपूर्वक कठोर भिक्षाचर्या करनी चाहिए।[८]

पिण्डैषणा से सम्बन्धित कुल ४७ दोष माने जाते है, जिसमे उद्गम और उत्पादन के १६+१६=३२ दोष गवेषणासम्बन्धी है, तथा १० एषणादोष है, जिन्हे ग्रहणैषणा सम्बन्धी दोष कहा जा सकता है। ५ मण्डलदोष है, जो परिभोगैषणा सम्बन्धी है। इनके नाम इस प्रकार है—**सोलह उद्गम (आहारोत्पत्ति) के दोष**—(१) आधाकर्म, (२) औद्देशिक, (३) पूतिकर्म, (४) मिश्रजात, (५) स्थापना, (६) प्राभृतिका, (७) प्रादुष्करण, (८) क्रीत, (९) पामित्य, (१०) परिवर्त्त, (११) अभिहृत, (१२) उद्भिन्न, (१३) मालापहृत, (१४) आच्छेद्य, (१५) अनिसृष्ट और (१६) अध्यवपूरक (अध्यवतरक)। **सोलह उत्पादन (आहारयाचना) के दोष**—(१) धात्री, (२) दूती, (३) निमित्त, (४) आजीव, (५) वनीपक, (६) चिकित्सा, (७) क्रोध, (८) मान, (९) माया, (१०) लोभ, (११) पूर्व-पश्चात्-सस्तव, (१२) विद्या, (१३) मत्र, (१४) चूर्ण, (१५) योग और (१३) मूलकर्म। **एषणा के (साधु और गृहस्थ दोनो से लगने वाले) दस दोष**—(१) शकित, (२) प्रक्षित, (३) निक्षिप्त, (४) पिहित, (५) सहृत, (६) दायक, (७) उन्मिश्र, (८) अपरिणत, (९) लिप्त और (१०) छर्दित। **परिभोगैषणा सम्बन्धी** (भोजन की निन्दा-प्रशसादि से उत्पन्न) **पंच-दोष**—(१) अगार, (२) धूम, (३) सयोजन, (४) प्रमाणातिरेक और (५) कारणातिक्रान्त। ये ४७ दोष आगम साहित्य मे एकत्र कही भी प्रतिपादित नही है किन्तु विविध आगमो मे बिखरे हुए है।[९]

☐ इन दोषो में से अधिकाश का उल्लेख प्रस्तुत अध्ययन मे है। इसके अतिरिक्त किस समय, किस विधि से, किस मार्ग से, किस प्रकार भिक्षाचर्या के लिए साधु-साध्वी प्रस्थान

---

७ (क) दशवै (सतबालजी), पृ. ४२
(ख) दशवै. (आचारमणिमजूषा टीका) भा. १, पृ ३७५

८ (क) दसवेयालिय (मुनि नथ), पृ. १७८
(ख) दशवै. (सतबालजी), पृ ४२-४३

९ (क) स्था ९।६२, (ख) निशीथ उद्दे १२, (ग) आचारचूला १।२१, (घ) भगवती ७।१
(ङ) प्रश्न व्या १।१५ (च) दशवै. अ ५ उ. १ (छ) उत्तराध्ययन २६।३२, (ज) भगवती ७।१
(झ) पिण्डनिर्युक्ति

करे ? मार्ग में पड़ने वाले पृथ्वी, जल, वनस्पति तथा अन्य जीवो की रक्षा कैसे करे, कौन-से घर में, कैसे प्रवेश करे ? कहाँ कैसे खडा रहे ? किससे किस प्रकार का आहार ले या न ले ? आहार-पानी की गवेषणा कैसे करे ? भिक्षाप्राप्त आहार का संविभाग कैसे करे ? मुक्तशेष या अतिरिक्त आहार का परिष्ठापन कैसे करे ? आदि समस्त पिण्डैषणा सम्बन्धी वर्णन दोनो उद्देशको मे किया गया है ।[१०]

---

१०. दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ टिप्पणयुक्त), पृ १९ से ३८ तक

पंचमं अज्झयणं : पिंडेसणा

पंचम अध्ययन : पिण्डैषणा

गोचरी (भिक्षाचर्या) के लिए गमनविधि

८३. संपत्ते भिक्खकालम्मि, असंभंतो अमुच्छिओ ।
इमेण कमजोगेण, भत्तपाणं गवेसए ॥१॥

८४. से गामे वा नगरे वा, गोयरग्गगओ मुणी ।
चरे मंदमणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ॥२॥

८५. पुरओ जुगमायाए, पेहमाणो महिं चरे ।
वज्जंतो+ बीयहरियाइं, पाणे य दगमट्टियं ॥३॥

८६. ओवायं विसमं खाणुं विज्जलं परिवज्जए ।
संकमेण न गच्छेज्जा, विज्जमाणे परक्कमे ॥४॥

८७. पवडंते व से तत्थ, पक्खलंते× व संजए ।
हिंसेज्ज पाणभूयाइं, तसे अदुव थावरे ॥५॥

८८. तम्हा तेण न गच्छेज्जा, संजए सुसमाहिए ।
सइ अन्नेण मग्गेण जयमेव परक्कमे ॥६॥

[चलं कट्ठं सिलं वावि, इट्टालं वा वि संकमो ।
ण तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो ॥]

८९. इंगालं छारियं रासिं, तुसरासिं च गोमयं ।
ससरक्खेहिं पाएहिं संजओ त □नऽइक्कमे ॥७॥

९०. न चरेज्ज वासे वासंते, महियाए व पडंतिए ।
महावाए व वायंते, तिरिच्छसंपाइमेसु वा ॥८॥

पाठान्तर—× वज्जेंतो ।
+ पक्खुलंते ।
□ न अक्कमे, णऽइक्कमे ।

प्रक्षिप्त— [ ] कोष्ठकान्तर्गत गाथा अगस्त्यचूर्णि मे अधिक मिलती है, किन्तु इसी गाथा का वक्तव्य इसी अध्ययन की १७८-१७९ सूत्रगाथा मे मिलता है । इसलिए यह गाथा प्रक्षिप्त मालूम होती है । —स.

[८३] भिक्षा का काल प्राप्त होने पर (भिक्षु) असम्भ्रान्त (अनुद्विग्न) और अमूर्च्छित (आहारादि में अनासक्त) होकर इस (आगे कहे जाने वाले) क्रम-योग (विधि) से भक्त-पान (भोजन-पानी) की गवेषणा करे ।।१।।

[८४] ग्राम या नगर मे गोचराग्र के लिए प्रस्थित (निकला हुआ) मुनि अनुद्विग्न और अव्याक्षिप्त (एकाग्र = स्थिर) चित्त से धीमे-धीमे चले ।।२।।

[८५] (वह भिक्षु) आगे (सामने) युगप्रमाण पृथ्वी को देखता हुआ तथा बीज, हरियाली (हरी वनस्पति), (द्वीन्द्रियादि) प्राणी, सचित्त जल और सचित्त मिट्टी (च शब्द से अग्निकाय आदि) को टालता (बचाता) हुआ चले ।।३।।

[८६] अन्य मार्ग के (विद्यमान) होने पर (साधु या साध्वी) गड्ढे आदि, ऊबडखाबड़ (विषम भूमि), भूभाग, ठूठ (कटे हुए सूखे पेड या अनाज के डठल) और पकिल (कीचड वाले) मार्ग को छोड दे, तथा सक्रम (जल या गड्ढे पर काष्ठ आदि रख कर बनाये हुए कच्चे पुल) के ऊपर से न जाए ।।४।।

[८७] (साधु या साध्वी) उन गड्ढे आदि से गिरता हुआ या फिसलता (स्खलित होता) हुआ प्राणियों और भूतो—त्रस या स्थावर जीवो की हिंसा कर सकता है ।

[८८] इसलिए सुसमाहित (सम्यक् समाधिमान्) सयमी साधु अन्य मार्ग के होते हुए उस मार्ग से न जाए । यदि दूसरा मार्ग न हो तो (निरुपायता की स्थिति मे) यतनापूर्वक (उस मार्ग से) जाए ।।६।।

[हिलते हुए काष्ठ (लक्कड), शिला, ईंट अथवा सक्रम (कच्चे पुल) पर से भिक्षु न जाए, (उस पर से जाने) मे ज्ञानियो ने असयम देखा है ।]

[८९] सयमी (साधु या साध्वी) अगार (कोयलो) की राशि, राख के ढेर, भूसे (तुष) की राशि, और गोबर पर सचित्त रज से युक्त पैरो से उन्हे अतिक्रम (लांघ) कर न जाए ।।७।।

[९०] वर्षा बरस रही हो, कुहरा (धुध) पड रहा हो, महावात (भयकर अधड़) चल रहा हो, और मार्ग मे तिर्यञ्च सपातिम जीव उड (या छा) रहे हो तो भिक्षाचरी के लिए न जाए ।।८।।

विवेचन—भिक्षाटन सम्बन्धी विधि-निषेध—प्रस्तुत अष्टसूत्री (गा १ से ८ तक) मे भिक्षा के उद्देश्य से प्रस्थान-काल, तथा भिक्षार्थगमन मे उत्सर्ग-अपवाद विधि एव निषेध का प्रतिपादन किया गया है । भिक्षाचर्या साधु-साध्वी के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति है । इसका उद्देश्य शास्त्रोक्त विधि के अनुसार निर्दोष आहार उच्च-नीच-मध्यम कुलो से समभावपूर्वक लाकर जीवन-निर्वाह करना है । इसलिए यहाँ भिक्षु-भिक्षुणी की चित्तवृत्ति के लिए चार शब्द प्रस्तुत किये हैं—**असम्भ्रांत, अमूर्छित, अनुद्विग्न, मंदगति से गमन** । असम्भ्रात का तात्पर्य यह है कि भिक्षाकाल में भिक्षा के लिए बहुत-से भिक्षाचर पहुंच चुके होगे, अत उनको भिक्षा दे देने के बाद मेरे लिए क्या बचेगा ? यह सोचकर हडबडी में जल्दी-जल्दी भिक्षाचर्या के लिए प्रस्थान करने की वृत्ति न हो । मूर्च्छा का अर्थ—आसक्ति, गृद्धि या लालसा है । उससे प्रेरित होकर स्वादिष्ट या गरिष्ठ भोजन की लालसा से

सम्पन्न घरो की ओर भिक्षाचारी के लिए प्रस्थान करने की भिक्षु की मूर्च्छितवृत्ति न हो। अथवा शब्दादि विषयो के प्रवाह में मूर्च्छित—आसक्त होकर भिक्षाचरी के उद्देश्य को भुला न दे। अनुद्विग्नता का अर्थ है—मन मे व्याकुलता न होना। मुझे भिक्षा मिलेगी या नही ? पता नही, कैसी भिक्षा मिलेगी ? इस प्रकार की वृत्ति उद्विग्नता है। साधु को उद्विग्न होकर शीघ्र-शीघ्र, भिक्षा के लिए चलने का निषेध है। अथवा भिक्षा के लिए तो चल पडा, किन्तु मन मे याचनादि परीषहो का भय होना उद्विग्नता है, उक्त उद्विग्नता से मुक्त रहने वाला अनुद्विग्न है। इसलिए कहा गया—धीमे-धीमे चले। त्वरा से ईर्यासमिति का शोधन नही होता, उचित उपयोग नही रह पाता, प्रतिलेखन मे प्रमाद होता है।[1]

भिक्षाकाल—प्राचीनकाल मे साधु की दैनिक चर्या विभाजित थी। सूर्योदय के पश्चात् प्रतिलेखनादि करके दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान और तत्पश्चात् तृतीय प्रहर मे भिक्षाचर्या का विधान था। 'एगभत्त च भोयण' (एक बार भोजन करने) के नियम के अनुसार तो यही भिक्षाकाल उपयुक्त था[2] किन्तु इसे सभी क्षेत्रो मे भिक्षा का उपयुक्त समय नही माना जा सकता। इसलिए देश-कालानुसार आचार्यों ने सामान्यत भिक्षाकाल उसे ही निर्धारित किया, कि जिस क्षेत्र मे लोगो के भोजन का जो समय हो, वही उपयुक्त भिक्षाकाल है। इसीलिए यहाँ भिक्षा का कोई निर्धारित समय न बताकर सामान्यरूप से कहा गया है—**'संपत्ते भिक्खकालम्मि'**। (भिक्षा का समय हो जाने पर)। इस विधान के लिए गृहस्थो के घरो मे रसोई बनने से पहले या खा-पीकर रसोई बन्द कर देने के बाद भिक्षा के लिए जाना भिक्षा का अकाल है। अकाल में भिक्षाटन करने से अलाभ और आज्ञाभग, दोनो स्थितियाँ उपस्थित होती है।[3]

क्रमयोग : भावार्थ—क्रमयोग का अर्थ है—भिक्षा करने की क्रमिक विधि।[4]

---

१ (क) असभतो नाम सव्वे भिक्खायरा पविट्ठा, तेहिं उच्छिए भिक्ख न लभिस्सामित्ति काउ मा तुरेज्जा, तूरमाणो य पडिलेहणापमाद करेज्जा, रिय वा न सोधेज्जा, उवयोगस्स ण ठाएज्जा, एवमादी दोसा भवंति। तम्हा असभतेण पडिलेहण काऊण, उवयोगस्स ठायित्ता अतुरिए भिक्खाए गतव्व।

—जिन चूर्णि, पृ १६६

(ख) अमूर्च्छित पिण्डे शब्दादिषु वा अगृद्धो, विहितानुष्ठानमिति कृत्वा, न तु पिण्डादावेवासक्त इति।

(ग) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ १९८

(घ) अणुविग्गो अभीतो गोयरगताण परीसहोवसग्गाण। —अ चू पृ., ९९

२ (क) पढम पोरिसि सज्झाय, बीय झाण झियायई।
तइयाए भिक्खायरिय, पुणो चउत्थीइ सज्झाय॥ —उत्त २६।१२

(ख) उत्सर्गतो हि तृतीयपौरुष्यामेव भिक्षाटनमनुज्ञातम्। —उत्तरा बृहद्वृत्ति, अ ३०।२१

३ (क) "भिक्खाए कालो भिक्खाकालो तमि भिक्खकाले सपत्ते।" —जिन चूर्णि, पृ १६६

(ख) सम्प्राप्ते—शोभनेन प्रकारेण स्वाध्यायकरणादिना प्राप्ते, 'भिक्षाकाले'—भिक्षासमये। अनेनासप्राप्ते भक्तपानैषणा-प्रतिषेधमाह, अलाभाज्ञाखण्डनाभ्यां दृष्टादृष्टविरोधादिति।

—हारि वृत्ति, पत्र १६३

४ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म) पृ १४३

भत्तपाणं : भक्त-पान—भक्त के तीन अर्थ आगमो मे मिलते हैं—(१) भोजन, (२) भात और (३) बार। भ महावीर के युग में तथा उसके पश्चात् शास्त्र लिपिबद्ध होने तक बगाल-बिहार मे जैनधर्म फैला, वहाँ भात (पका हुआ चावल) ही मुख्य खाद्य था, इसलिए शास्त्रो मे यत्र-तत्र **'भत्तपाणं'** शब्द ही अधिक प्रयुक्त हुआ है। परन्तु बाद मे टीकाकारो ने 'भत्त' का अर्थ भोजन किया है। अगत्स्यचूर्णि मे कहा है—क्षुधापीडित जिसका सेवन करे वह भक्त है। पान का अर्थ है—जो पिया जाए।[५]

गवेषणा के लिए प्रथम क्रिया : गमन—भिक्षाचरी के लिए प्रथम क्रिया गमन है। प्रस्तुत आठ गाथाओ मे भिक्षार्थ गमन का उद्देश्य, भावना तथा गमन के समय चित्तवृत्ति कैसी हो? गमन मे इन्द्रियो और मन को किस प्रकार रखे? किस मार्ग से जाए किससे न जाए? जीवो की यतना और रक्षा कैसे करे, कैसी परिस्थिति मे भिक्षाचरी न करे? आदि सभी पहलुओ से भिक्षाचर्यार्थ गमन की विधि बताई है।

गोचराग्र गोचर शब्द का अर्थ है—गाय की तरह चरना—भिक्षाचर्या करना। गाय शब्दादि विषयो मे आसक्त न होती हुई[६] तथा अच्छी-बुरी घास का भेद न करती हुई एक छोर से दूसरे छोर तक अपनी तृप्ति होने तक चरती चली जाती है, उसी प्रकार साधु-साध्वी का भी शब्दादि विषयो मे आसक्त न होकर तथा उच्च-नीच-मध्यम कुल का भेदभाव न करते हुए तथा प्रिय-अप्रिय आहार मे राग-द्वेष न करते हुए सामुदानिकरूप से भिक्षाटन करना गोचर कहलाता है। गोचर के आगे जो 'अग्र' शब्द का प्रयोग किया गया है, वह प्रधान या 'आगे बढा हुआ' अर्थ का द्योतक है। गाय के चरने मे शुद्धाशुद्ध का विवेक नही होता, जबकि साधु-साध्वी गवेषणा करके सदोष आहार को छोडकर निर्दोष आहार ग्रहण करते है। इसलिए उनकी भिक्षाचर्या गोचर से आगे बढी हुई होने के कारण तथा चरक परिव्राजकादि के गोचर से श्रमणनिर्ग्रन्थ का गोचर कुछ विशिष्ट होता है, इसलिए इसे 'गोचराग्र' कहा गया है।[७]

अव्याक्षिप्त चित्त से : चार अर्थ—(१) आर्तध्यान से रहित अन्त करण से, (२) पैर उठाने मे उपयोग-युक्त होकर, (३) अव्यग्र-चित्त से, अथवा बछडे और वणिक्पुत्रवधू के दृष्टान्तानुसार शब्दादि विषयो मे चित्त को नियोजित या व्यग्र न करते हुए और (४) एषणासमिति से युक्त होकर। तात्पर्य यह है कि भिक्षार्थ गमन करते समय साधु की चित्तवृत्ति केवल आहारगवेषणा में एकाग्र हो,

---

५ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ. १९७
(ख) 'भत्तपाण'—भजति खुहिया तमिति भत्त, पीयत इति पाण, भत्तपाणमिति समासो।
—अगस्त्य चूर्णि, पृ ९९

६. (क) 'गोरिव चरण गोचर —उत्तमाधममध्यमकुलेष्वरक्तद्विष्टस्य भिक्षाटनम्। —हरि वृत्ति, पत्र १५३
(ख) गोरिव चरण गोयरो, जहा गावीओ सद्दादिसु विसएसु असज्जमाधमाणीओ आहारमाहारेति।
—जि. चू., पृ १६७

७ (क) गौश्चरत्येवमविशेषेण साधुनाऽप्यटितव्यम्, न विभवमगीकृत्योत्तमाधमध्यमेषु कुलेष्विति, वणिग्—वत्सकदृष्टान्तेन वेति। —हारि. वृत्ति, पत्र १८
(ख) 'गोयर अग्ग, गोतरस्स वा अग्ग गतो, अग्ग पहाण। कह पहाण? एसणादि-गुणजुत, ण उ चरगादीण अपरिक्खित्तेसणाण।' —अगस्त्य चूर्णि, पृ ९९

शब्दादि विषयो के प्रति उसका भी ध्यान न जाए। जिनदास मत्तहर ने इस सम्बन्ध मे गाय के बछडे और वणिक् पुत्रवधू का दृष्टान्त प्रस्तुत किया है—

एक वणिक् के यहाँ अत्यन्त सलौना गाय का छोटा-सा बछडा था। घर के सभी लोग उसे प्यार से पुचकारते और खिलाते-पिलाते थे। एक बार वणिक् के यहाँ प्रीतिभोज था। सभी लोग उसमे लगे हुए थे। बेचारा बछडा भूखा-प्यासा दोपहर तक खडा रहा। एकाएक पुत्रवधू ने उसकी रभाने की आवाज सुनी तो गहनो-कपडो से सुसज्जित अवस्था मे ही वह घास-चारा एव पानी लेकर बछडे के पास पहुँची। बछडा अपना चारा खाने मे एकाग्र हो गया। उसने पुत्रवधू के शृगार और साजसज्जा की ओर ताका तक नही। इसी प्रकार साधु भी बछडे की तरह केवल आहारपानी की गवेषणा की ओर ही ध्यान रखे।[८]

पुरओ जुगमायाए : व्याख्या—भिक्षाचर्या के लिए गमन करते समय उपयोग रख कर चलना चाहिए, इसी का विधान प्रस्तुत पक्ति मे है। इसका शब्दश अर्थ है—आगे युगमात्र भूमि देखकर चले। यहाँ ईर्यासमिति की परिपोषक द्रव्य और क्षेत्र-यतना का उल्लेख किया गया है। जीव-जन्तुओ को देख कर चलना द्रव्ययतना है, जबकि युगमात्र भूमि को देख कर चलना क्षेत्रयतना है। युग के यहाँ तीन अर्थ किये गए है—(१) गाडी का जुआ, (२) शरीर और (३) युग—चार हाथ। सब का तात्पर्य लगभग एक ही है।[९]

मार्ग मे त्रस-स्थावर जीवों की रक्षा का विधान—साधु विना देखे-भाले अधाधु ध न चले, लगभग ४ हाथ प्रमाण भूमि को या आगे-पीछे दाए-बाए देखता हुआ चले, ताकि द्वीन्द्रियादि प्राणी, सचित मिट्टी, पानी और वनस्पति की रक्षा कर सके।[१०]

'बीय हरियाइं' आदि पदों का अर्थ—बीज शब्द से यहाँ वनस्पति के पूर्वोक्त दसो प्रकारो का तथा हरित शब्द से बीजरुह वनस्पतियो (धान्य, चना, जौ, गेहू आदि) का ग्रहण किया गया है।

---

८. (क) 'अव्वक्खित्तेण चेतसा नाम णो अट्टझाणोवगओ उक्खेवादिणुवउत्तो।' —जि चू, पृ १६८
(ख) 'अव्याक्षिप्तेन चेतसा'—वत्स-वणिग्जायादृष्टान्तात् शब्दादिष्वगतेन चेतसा अत करणेन एषणोपयुक्तेन। —हारि. वृत्ति., पत्र १६३

९. (क) 'पुरओ नाम अग्गओ चकारेण सुणमादीण रक्खणट्ठा पासओ वि पिट्ठओ वि उवओगो कायव्वो।' —जि चू, पृ १५८
(ख) 'जुग सरीर भण्णइ।' —वही, पृ १६८
(ग) 'युगमात्र च चतुर्हस्तप्रमाणम् प्रस्तावात् क्षेत्रम।' —उत्तरा. बृ वृ, २४।७
(घ) जुगमिति बलिवद्दसदाणण सरीर वा तावम्मत्त पुरतो। —अ चू, पृ ९९
(ङ) दव्वओ चक्खुसा पेहे, जुगमित्त च खेत्तओ। —उत्तरा २४।७

१० दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. १३७-१३८

दगमट्टियं : दो अर्थ—(१) उदक (जल) प्रधान मिट्टी अथवा (२) अखण्डरूप में भीगी हुई सजीव मिट्टी।[११]

किस मार्ग से न जाए, जाए ? : शब्दार्थ—ओवायं—अवपात—खड्डा या गड्ढा, **विसमं**—ऊबड़-खाबड—ऊँचा-नीचा विषम स्थान। **खाणुं**—**स्थाणु**—ठूठ, कटा हुआ सूखा वृक्ष या अनाज के डठल। **विज्जलं**—पानी सूख जाने पर जो कीचड रह जाता है, वह। पकयुक्त मार्ग को भी विजल कहते हैं। ऐसे विषम मार्ग से जाने मे शारीरिक और चारित्रिक दोनो प्रकार की हानि होती है। गिर पडने या पैर फिसल जाने मे हाथ, पैर आदि टूटने की सम्भावना है, यह आत्मविराधना है तथा त्रसस्थावर जीवो की हिंसा भी हो सकती है, यह सयमविराधना है।[१२]

संक्रमेण जिसके सहारे से जल या गड्ढे को पार किया जाए ऐसा काष्ठ या पाषाण का बना हुआ सक्रम या जल, गड्ढे आदि को पार करने के लिए काष्ठ आदि से बाधा हुआ मार्ग या कच्चा पुल।

अपवादसूत्र—दूसरा कोई मार्ग न हो तो साधु इस प्रकार के विषम मार्ग मे भी जा सकता है, यह अपवादसूत्र है। किन्तु ऐसे विषम मार्गों को पार करने मे यतनापूर्वक गमन करने की सूचना है।[१३]

पृथ्वी, जल, वायु और तिर्यञ्च जीवो की विराधना से बचने का निर्देश—सचित्त रज से भरे हुए पैरो से कोयले, राख, तुष, गोबर आदि पर चलने से उन सचित्त पृथ्वीकायिक जीवो की विराधना होगी। वर्षा, बरस रही हो और कोहरा पड रहा हो, उस समय चलने से अप्कायिक जीवो की विराधना होगी। प्रबल अन्धड या आधी चल रही हो, उस समय चलने से वायुकायिक जीवो की विराधना के साथ-साथ उडती हुई सचित्त रज शरीर के टकराने से पृथ्वीकाय की तथा रास्ता न दीखने से अन्य जीवो की तथा अपनी विराधना भी हो सकती है। तिर्यक् सपातिम (तिरछे उडने वाले

---

११ (क) बीयगहणेण बीयपज्जवसाणस्स दसभेदभिण्णस्स वणप्पफइकायस्स गहण कय। —जि चू, पृ १६८
(ख) हरियगहणेण जे बीयरुहा ते भणिता। —अ चू, पृ ९९
(ग) प्राणिनो द्वीन्द्रियादीन्। —हा टी, प १६८
(घ) उदकप्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिका। —आवश्यक चूणि, वृ. १।२।४२
(ङ) दगग्गहणेण आउक्काओ सभेदो गहिओ, मट्टिया गहणेण जो पुढविक्काओ अडवीओ आणिओ, सन्निवेसे वा गामे वा तस्स गहण। —जिन. चूर्णि., पृ १६९
(च) दगमृत्तिका चिक्खल। —आव हारि वृत्ति, पृ ५७३

१२ (क) हारि वृत्ति, पत्र १६४ (ख) आत्मसयमविराधनासभवात्—हा वृ, प १६४

१३ (क) सकमिज्जति जेण सकमो, सो पाणियस्स वा गड्डाए वा भण्णइ। —जिन. चूर्णि, पृ १६९
(ख) सक्रमेण जलगर्तापरिहाराय षाषाणकाष्ठरचितेन। —हारि वृत्ति, पत्र १६४
(ग) जम्हा एते दोसा तम्हा विज्जमाणं गमणपहे ण सपच्चवाएण पहेण सजएण सुसमाहिएण गतव्व। —जिन चूर्णि, पृ १६९
(घ) 'जति अण्णो मग्गो णत्थि ता तेणवि य पहेण गच्छेज्जा, जहा आय-सजमविराहणा ण भवई।' —जिन चूर्णि, पृ. १६९

भ्रमर, कीट, पतग आदि) जीव मार्ग मे छा रहे हो तो उस समय चलने से उनकी विराधना सम्भव है।[१४]

ब्रह्मचर्य व्रत रक्षार्थ : वेश्यालयादि के निकट से गमन-निषेध

९१. न चरेज्ज वेससामंते बंभचेरवसाणुए।
बंभयारिस्स वंतस्स होज्जा तत्थ विसोत्तिया ॥९॥

९२. अणायय्यणे चरतस्स संसग्गीए अभिक्खणं।
होज्ज वयाण पीला, सामण्णम्मि य संसओ ॥१०॥

९३. तम्हा एय वियाणित्ता दोस दुग्गइवड्ढणं।
वज्जए वेससामंतं मुणी एगंतमस्सिए ॥११॥

[९१] ब्रह्मचर्य का वशवर्ती श्रमण वेश्याबाडे (वेश्याओ के मोहल्ले) के निकट (होकर) न जाए, क्योकि दमितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी साधक के चित्त मे भी विस्रोतसिका (असमाधि) उत्पन्न हो सकती है ॥ ९ ॥

[९२] (ऐसे) कुस्थान मे बार-बार जाने वाले मुनि के (काम-विकारमय वातावरण का) ससर्ग होने से व्रतो की पीडा (क्षति) और साधुता मे सन्देह हो सकता है ॥ १० ॥

[९३] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर एकान्त (मोक्षमार्ग) के आश्रय मे रहने वाला मुनि वेश्याबाडे के पास न जाए ॥ ११ ॥

विवेचन—ब्रह्मचर्यघातक स्थानों के निकट भिक्षाटन निषेध—मुनि को भिक्षाचरी के लिए ऐसे मोहल्ले मे या ऐसे मोहल्ले के निकट से भी होकर नही जाना चाहिए, जहाँ दुराचारिणी स्त्रियाँ रहती हो, क्योकि वहाँ जाने से ब्रह्मचर्य महाव्रत या साधुत्व के प्रति लोक शका की दृष्टि से देखेंगे, उसका मन भी वहाँ के दृश्यो तथा वातावरण को देख कर ब्रह्मचर्य से विचलित हो सकता है। ऐसी चरित्रहीन नारियो के बार-बार के ससर्ग के कारण साधु के महाव्रतो की क्षति हो सकती है। कामविकार के बीज किस समय, किस परिस्थिति मे अकुरित हो उठे, यह नही कहा जा सकता। अत. ऐसे खतरो से सदा सावधान रहना चाहिए।[१५]

बंभचेरवसाणुए—ब्रह्मचर्य का वशवर्ती, ब्रह्मचर्य को वश मे लाने वाला, अथवा ब्रह्मचर्य अर्थात् गुरु के अधीन रहने वाला साधक।[१६]

---

१४ (क) 'सचित्तपृथ्वीरजोगुण्डिताभ्या पादाभ्याम्।' —हारि वृत्ति, पत्र १६४
(ख) "न चरेद् वर्षे वर्षति, भिक्षार्थं प्रविष्टो वर्षणे तु प्रच्छन्ने तिष्ठेत्।" हारि वृ, पत्र १६४
(ग) अगस्त्यचूर्णि, पृ १०१ (घ) जिनदास चूर्णि, पृ १७०

१५ (क) दशवै (सतबालजी), पृ ४४-४५

१६ (क) ब्रह्मचर्य—मैथुनविरतिरूप वशमानयति—आत्मायत्त करोति, दर्शनाक्षेपादिना ब्रह्मचर्यवशानयन तस्मिन्। —हा टी, प १६५
(ख) 'बभचेर वसमणुमच्छति—बभचेरवसाणुए।' —अ चू., पृ १०१
(ग) बभचारिणो गुरुणो तेसि वसमणुगच्छतीति, बभचेरवसाणुए। —वही, पृ १०१

वेससामंते : विश्लेषण—(१) जहाँ विषयार्थी लोग प्रविष्ट होते हैं, वह वेश कहलाता है, (२) अथवा वेश यानी नीच स्त्रियो का समवाय या वेश्याश्रय। अथवा वेश—वेश्यागृह सामन्ते—समीप।[१७]

विसोत्तिया : विस्रोतसिका : व्याख्या—कूडा-कर्कट इकट्ठा होने से जैसे जल के आने का स्रोत—प्रवाह—रुक जाता है, उसका प्रवाह दूसरी ओर हो जाता है, खेती सूख जाती है, वैसे ही वेश्याओ के ससर्ग से, उनके कटाक्ष-रूप, लावण्यादि देखने से मोह, अज्ञान आदि का कूडा दिमाग में जम जाता है। बुद्धि का प्रवाह अब्रह्मचर्य की ओर मुड जाता है। इससे ज्ञान दर्शन चारित्र का स्रोत रुक जाता है, सयम की कृषि सूख जाती है।[१८] यह भावविस्रोतसिका है।

अणाययणे : अनायतन—(१) सावद्य, (२) अशुद्धि-स्थान—कुस्थान और (३) कुशील-ससर्ग।[१९]

व्रतों की पीड़ा : कैसे ?—ऐसे कुससर्ग से ब्रह्मचर्य प्रधान सभी व्रतो की पीडा (विराधना) हो जाती है। कोई श्रमण साधुवेष को न छोडे, फिर भी जब उसका मन कामभोगो मे आसक्त हो जाता है तो ब्रह्मचर्यव्रत की विराधना हो ही जाती है। चित्त की चचलता के कारण वह ईर्या या एषणा की शुद्धि नही कर पाता, इससे अहिसाव्रत की क्षति हो जाती है। वह जब कामनियो की ओर ताक-ताक कर देखता है तो लोग पूछते है, तब वह असत्य बोल कर दोष छिपाता है, यह सत्यव्रत की विराधना है, स्त्रीसग करना भगवदाज्ञा का भग है, इस प्रकार वह अचौर्यव्रत का भी भग करता है और सुन्दर स्त्रियो के प्रति ममत्व के कारण अपरिग्रहव्रत की भी विराधना होती है। इस प्रकार एक ब्रह्मचर्यव्रत की विराधना से सभी व्रत पीडित हो जाते है।[२०]

---

१७ (क) 'वेससामते'—पविसति जत्थ विसयत्थिणो ति वेसा, पविसति वा जणमणेसु वेसो। —अ. चू, पृ १०१
(ख) 'स पुणणीचइत्थिसमवाओ।' —अ. चू., पृ १०१
(ग) वेश्याऽऽश्रय पुर वेश। —अ. चिता, ४-६९
(घ) न चरेद् वेश्यासामन्ते—न गच्छेद् गणिकागृहसमीपे। —हारि वृत्ति, पत्र १६५
(ङ) 'सामते समीपे' वि किमुत तम्मि चेव। —अ चू., पृ. १०१

१८ तासिं वेसाण 'भावविपेक्खिय णट्ठट्ठहसियादी पासतस्स णाणदसणचरित्ताण आगमो निरुभति, तओ सजमसस्स सुक्खइ, एसा भावविसोत्तिया। —जि चू, पृ १७१

१९ (क) सावज्जमणायतण असोहिठाण कुसीलससग्गा।
एगट्ठा होति पदा एते विवरीय आययणा॥ —ओघनिर्युक्ति ७६४
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ४५
(ग) सदसणेण पीती, पीतीओ रती, रतीतो वीसभो।
वीसभातो पणतो पचविह वड्ढइ पेम्म॥ —अ चू, पृ १०१

२० (क) व्रताना प्राणातिपातविरत्यादीना पीडा तदाक्षिप्तचेतसो भावविराधना। —हारि. वृत्ति, पत्र १६५
(ख) पीडा नाम विणासो। —जिन चूर्णि, पृ. १७१
(ग) वताण बभव्वतपहाणाण पीला किंचिदेव विराहणमुच्छेदो वा। समणभावे वा सदेहो अप्पणो परस्स वा। अप्पणो विसयविचालितचित्ते समणभाव छड्डेमि, मा वा ? इति सदेहो, परस्स एवविहत्थाण-विचारी कि पव्वतितो विडो वेसच्छण्णो ? त्ति ससओ। सति संदेहे चागविचित्तीकतस्स सव्वमहव्वतपीला। —अगस्त्यचूर्णि, पृ १०२

एकान्त : दो अर्थ— (१) मोक्षमार्ग अथवा (२) विविक्तशय्यासेवी ।[२१]

भिक्षाचर्या के समय शरीरादिचेष्टा-विवेक

९४. साणं सूइयं गाविं दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं दूरओ परिवज्जए ।। १२ ।।

९५. अणुण्णए नावणए अप्पहिट्ठे अणाउले ।
इंदियाइं जहाभागं, दमइत्ता मुणी चरे ।। १३ ।।

९६. बबदवस्स न गच्छेज्जा, भासमाणो य गोयरे ।
हसंतो नाभिगच्छेज्जा, कुलं उच्चावयं सया ।। १४ ।।

९७. आलोयं थिग्गलं दारं संधिं दगभवणाणि य ।
चरंतो न विणिज्झाए, संकट्ठाणं विवज्जए ।। १५ ।।

९८. रन्नो गिहवईणं च रहस्सारक्खियाण य ।
संकिलेसकरं ठाणं दूरओ परिवज्जए ।। १६ ।।

[९४] (मार्ग मे) कुत्ता (श्वान), नवप्रसूता (नयी ब्याई हुई) गाय, उन्मत्त (दर्पित) बल, अश्व और गज (हाथी) तथा बालको का क्रीडास्थान, कलह और युद्ध (का स्थान मिले तो उस) को दूर से ही छोड (टाल) कर (गमन करे) ।।१२।।

[९५] मुनि न उन्नत हो (ऊँचा मुह) कर, न अवनत हो (नीचा झुक) कर, न हर्षित होकर, न आकुल होकर, (किन्तु) इन्द्रियो के अपने-अपने भाग—विषय के अनुसार दमन करके चले ।।१३।।

[९६] उच्च-नीच कुल मे गोचरी के लिए मुनि सदैव जल्दी-जल्दी (दबादब) न चले तथा हँसी-मजाक करता हुआ और बोलता हुआ न चले ।।१४।।

[९७] (गोचरी के लिए) जाता हुआ (मुनि) झरोखा (आलोक,) फिर से चिना हुआ (थिग्गल) द्वार, सधि (चोर आदि के द्वारा लगाई हुई सेध) तथा जलगृह (परीडा) को न देखे (तथा) शका उत्पन्न करने वाले अन्य स्थानो को भी छोड दे ।।१४।।

[९८] राजा के, गृहपतियो के तथा आरक्षिको के रहस्य (गुप्त मत्रणा करने) के उस स्थान को (या अन्त पुर को) दूर से ही छोड दे, जहाँ जाने से सक्लेश पैदा हो ।।१६।।

विवेचन—भिक्षाटन के मार्ग मे वर्जित स्थान—भिक्षाचर्या के लिए जाते समय मुनि को ऐसे स्थानो को दूर से ही टाल देना चाहिए, जिनके निकट जाने या जिन्हे ताक-ताककर देखने से उसके प्रति चोर, गुप्तचर, पारदारिक (लम्पट) या शिशुहरणकर्ता आदि होने की आशका हो । ऐसे स्थानो

---

२१. (क) एकान्त मोक्षम् । —हा. टी., पृ १६६
(ख) एगतो णिरुवघातो मोक्खगामी मग्गो—णाणादि । —अगस्त्य चूर्णि, पृ. १०२

में जाने से मुनि को भी शकास्पद व्यक्ति समझ कर यत्रणा दी जाए या कष्ट भोगना पड़े। अतः ऐसे शकास्थानो का दूर से ही त्याग कर देना चाहिए।

आलोयं आदि शब्दों के अर्थ—**आलोयं**—घर के गवाक्ष, झरोखा या खिडकी, जहाँ से बाहरी प्रदेश को देखा जा सके। **थिग्गलं दारं**—घर का वह दरवाजा, जो किसी कारण से पुन चिना गया हो।

संधि : दो अर्थ—दो घर के बीच का अन्तर (गली) अथवा (२) सेध (दीवार की ढँकी हुई सूराख), **दगभवणाणि** : अनेक **अर्थ**—(१) जलगृह, (२) सार्वजनिक स्नानगृह (या स्नानमण्डप सर्वसाधारण के स्नान के लिए), (३) जलमचिका (जहाँ से स्त्रियाँ जल भरकर ले जाती हैं), राजा, गृहपति (इभ्य श्रेष्ठी आदि) आदि प्रसिद्ध हैं।[२२] **संडिब्भं**—जहाँ बच्चे विविध खेल खेल रहे हो। **दित्तं गोणं**—मतवाला साड।[२३] कुत्ता, प्रसूता गौ, उन्मत्त साड, हाथी, घोडा, बालको का क्रीडास्थल, कलह और युद्ध, इनका दूर से वर्जन साधु-साध्वी को इसलिए करना चाहिए कि इनके पास जाने से ये काट सकते है, सीग मार सकते है, उछाल सकते है। कलह (वाचिक सघर्ष) और युद्ध (शास्त्रादि से सघर्ष) चल रहा हो, ऐसे स्थानो मे जाने से विपक्षी व्यक्ति मन मे साधु-साध्वी को गुप्तचर या विपक्ष समर्थक आदि समझ कर यत्रणा दे सकते हैं अथवा कलहादि न सह सकने से बीच मे बोल सकता है।

रहस्सारक्खियाणं : दो रूप : दो अर्थ—**(१) रहस्सं आरक्षकाणां**—नगर के रक्षक कोतवाल या दण्डनायक आदि के गुप्त मत्रणा करने के स्थान को। (२) **रहस्यारक्षिकानां**—अगस्त्य चूर्णि के अनुसार राजा के अन्त पुर के अमात्य आदि। यहाँ रहस्य शब्द को रक्खो, गिहिवईण, 'आरक्खियाण' इन तीनो पदो से सम्बन्धित मान कर अर्थ किया है—राजा के, गृहपतियो के और आरक्षिको के

---

२२ (क) आलोगो—गवक्खगो। —अ चू, पृ १०३
(ख) थिग्गल नाम ज घरस्स दार पुव्वमासी त पडिपूरिय। —जि चू, पृ १७४
(ग) 'सधी जमलघराण अन्तर।' —अ चू, पृ १०३
(घ) सधी खत्त पडिढक्कियय। —जि. चू., १७४
(ङ) पाणियकम्मत, पाणियमचिका, ण्हाणमडपादि दगभवणाणि। —अग. चू, पृ १०३
(च) दगभवणाणि—पाणियघराणि ण्हाणगिहाणि वा।
(छ) शकास्थानमेतदवलोकादि। — हारि वृत्ति, पृ. १६६

२३ (क) सडिम्भ—बालक्रीडास्थानम्। —हा टी, पृ १६६
(ख) सडिब्भ नाम बालरूवाणि रमति धणूहिं। —जिन चू, पृ १७१-१७२

२४ (क) अपरिवज्जणे दोसो—साणो खाएज्जा, गावी (नवप्पसूआ) मारेज्जा, गोणो मारेज्जा, एव हयगयाणवि मारजादिदोसा, भवति। बालरूवाणि पुण पाएसु पडियाणि भायण भिदिज्जा, कट्टाकठ्ठिवि करेज्जा। धणुविप्पमुक्केण व कडेण आहणिज्जा। तारिस अणहियासतो भणिज्जा, एवमादिदोसा।
(ख) श्व-सूतगोप्रभृतिभ्य आत्मविराधना डिम्भस्थाने वन्दनाद्यागमन-पतन-भण्डन-प्रलुण्ठनादिना सयम-विराधना, सर्वत्र चात्मपात्रभेदादिनोभयविराधना। —हारि टीका, पत्र १६६
(ग) कलहे अणहियासो किं चि हणेज्ज भणिज्ज वा, एवमादिदोसा। —अ चू १०२

मन्त्रणास्थान को या परामर्श करने के एकान्तस्थान को सक्लेशकर (असमाधिकारक) मान कर दूर से परित्याग करे। गुह्यस्थानो या मन्त्रणास्थानो मे जाने से साधु के प्रति स्त्री-अपहरण या मंत्रणाभेद की शका होने से उसे व्यर्थ ही पीडित या निगृहीत किया जा सकता है।[२५]

भिक्षाचर्या के समय साधु-साध्वी की मुद्रा एवं चित्तवृत्ति कैसी हो ?—यह प्रस्तुत दो गाथा-सूत्रो (९३-९४) में बताया गया है। इसके लिए शास्त्रकार ने ९ मत्र बताए है। इनकी व्याख्या इस प्रकार है—(१) **अनुन्नत**—उन्नत के दो प्रकार—**द्रव्योन्नत**—ऊँचा मुँह करके चलने वाला, **भावोन्नत**—जाति आदि ८ मदो से मत्त—अक्कड। भिक्षाचरी के समय दोनो दृष्टियो से साधु-साध्वी को अनुन्नत (उन्नत न) होना आवश्यक है। द्रव्योन्नत ईर्यासमिति शोधन नही कर सकता, भावोन्नत मदमत्त होने से नम्र नही हो पाता। (२) **नावनत**—अवनत के दो प्रकार—**द्रव्य-अवनत**—झुक कर चलने वाला, **भाव-अवनत**—दैन्य, दुर्मन एव हीनभावना से ग्रस्त। द्रव्य-अवनत हास्यपात्र बनता है, बक-भक्त कहलाता है, क्योकि वह नीचे झुक कर फू क फू क कर चलने का ढोग करता है। भाव-अवनत क्षुद्र एव दैन्यभावना से भरा होता है। साधुवर्ग इन दोनो से दूर रहे। (३) **अप्रहृष्ट**—हसता हुआ या अतिहर्षित अथवा हसी-मजाक करता हुआ न चले। (४) **अनाकुल**—मन-वचन-काया की आकुलता से रहित या क्रोधादि से रहित। गोचरी के लिए चलते समय मन मे नाना सकल्प-विकल्प करना या मन मे सूत्र-अर्थ का चिन्तन करना मन की व्याकुलता है। विषयभोग की बात करना या शास्त्र के किसी पाठ का अर्थ पूछना या उसका स्मरण करना, वाणी की आकुलता है तथा अगो की चपलता शरीर की आकुलता है। (५) **विषयानुरूप इन्द्रियदमन**—इन्द्रियो का अपने-अपने विषयानुसार दमन करना अर्थात्—मनोज्ञ-अमनोज्ञ शब्दादि विषयो पर राग द्वेष न करना (६) **अद्रुतगमन**—'दवदव' का अर्थ—दौडते हुए चलना। इसमे प्रवचनलाघव और सयमविराधना दोनो है। **सभ्रम**—चित्तचेष्टा है, **द्रवद्रव** कायिक चेष्टा है, यही दोनो मे अन्तर है। अत द्रुतगमन साधुवर्ग के लिए निषिद्ध है। (७) **अभाषणपूर्वक गमन**—भिक्षाटन करते समय भाषण-सभाषण न करना। अन्यथा भाषासमिति, ईर्यासमिति एव वचनगुप्ति का पालन दुष्कर होगा। (८) **हास्यरहितगमन**—स्पष्ट है। हसी-मखौल करते हुए भिक्षाटन के समय गमन करने से प्रवचनहीलना, भाषादोष आदि होते हैं। (९) **उच्च-नीचकुल मे गमन**—उच्च कुल दो प्रकार के—(१) **द्रव्य-उच्चकुल**—प्रासाद हवेली, आदि ऊँचे भवनो वाले कुल यानी घर (२) **भाव उच्चकुल**—जाति, धन, विद्या आदि से समृद्ध व्यक्तियो के भवन। अवच कुल (द्रव्य से) तृणकुटी, झोपडी आदि द्रव्यत अवचकुल या नीचा कुल है, तथा जाति, वश, धन, विद्या आदि से हीन व्यक्तियो के घर भाव से अवचकुल कहलाते है। साधु को सामुदानिक भिक्षा समभाव से उच्च-अवच सभी कुलो (घरो) ले करनी चाहिए।[२६]

---

२५ रण्णो रहस्सठाणाणि गिहवईण रहस्सठाणाणि, आरक्खियाण रहस्सठाणाणि सकणादिदोसा भवति, चकारेण अण्णोणि पुरोहियादि गहिया, रहस्सठाणाणि नाम गुज्झोवरगा, जत्थ वा राहस्सिय मतेति।

—जिनदास चूर्णि, पृ १७४

२७ जिन चूर्णि, पृ १७२, १७३, हारि, वृत्ति, पृ. १६६

गृह-प्रवेश-विधि-निषेध

९९. पडिकुट्ठं कुल न पविसे मामगं परिवज्जए ।
अचियत्तं कुलं न पविसे, चियत्तं पविसे कुलं ॥१७॥

१००. साणी-पावारपिहिय अप्पणा नावपंगुरे ।
कवाडं नो पणोल्लेज्जा ओग्गहंसि अजाइया ॥१८॥

१०१. गोयरग्गपविट्ठो उ वच्चमुत्तं न धारए ।
ओगासं फासुयं नच्चा, अणुन्नविय वोसिरे ॥१९॥

१०२. नीयदुवार तमसं कोट्ठगं परिवज्जए ।
अचक्खुविसओ जत्थ, पाणा दुप्पडिलेहगा ॥२०॥

१०३. जत्थ पुप्फाइं बीयाइं, विप्पइण्णाइं कोट्ठए ।
अहुणोवलित्तं ओल्ल दट्ठूणं परिवज्जए ॥२१॥

१०४. एलग दारगं साणं वच्छग वा वि कोट्ठए ।
उल्लंघिया न पविसे विऊहित्ताण व सजए ॥२२॥

[९९] साधु-साध्वी निन्दित (प्रतिक्रुष्ट) कुल मे (भिक्षा के लिए) प्रवेश न करे, (तथा) मामक गृह (गृह-स्वामी द्वारा गृहप्रवेश निषिद्ध हो, उस घर) को छोड दे। अप्रीतिकर कुल मे प्रवेश न करे, किन्तु प्रीतिकर कुल मे प्रवेश करे ॥ १७ ॥

[१००] (साधु-साध्वी, गृहपति की) आज्ञा लिये (अवग्रह-याचना किये) बिना सन से बना हुआ पर्दा (चिक) तथा वस्त्रादि से ढँके हुए द्वार को स्वय न खोले तथा कपाट को भी (गृह मे प्रवेश करने के लिए) न उघाडे ॥ १८ ॥

[१०१] गोचराग्र (भिक्षा) के लिए (गृहस्थ के घर मे) प्रविष्ट होने वाला साधु मल-मूत्र की बाधा न रखे। यदि गोचरी के लिए गृहप्रवेश के समय मल-मूत्र की बाधा हो जाए तो प्रासुक स्थान (अवकाश) देख (जान) कर, गृहस्थ की अनुज्ञा लेकर (मल-मूत्र का) उत्सर्ग करे ॥ १९ ॥

[१०२] जहाँ नेत्रो द्वारा अपने विषय को ग्रहण न कर सकने के कारण प्राणी भलीभाति देखे न जा सके, ऐसे नीचे द्वार वाले घोर अन्धकारयुक्त कोठे (कमरे) को (गोचरी के लिए प्रवेश करना) वर्जित कर दे ॥ २० ॥

[१०३] जिस कोठे (कमरे) मे (अथवा कोष्ठकद्वार पर) फूल, बीज आदि बिखरे हुए हो, तथा जो कोष्ठक (कमरा) तत्काल (ताजा) लीपा हुआ, एव गीला देखे तो (उस कोठे मे भी प्रवेश करना) छोड दे ॥ २१ ॥

[१०४] सयमी मुनि, भेड, बालक, कुत्ते या बछडे को (बीच मे बैठा हो तो) लाघ कर अथवा हटा कर कोठे (कमरे) मे (भिक्षा के लिए) प्रवेश न करे ॥ २२ ॥

विवेचन—निषिद्ध एवं विहित गृह तथा प्रकोष्ठ—प्रस्तुत ६ सूत्र-गाथाओ (९९ से १०४ तक तक) में कुछ कुलो (घरो) मे तथा विहित घरो के कमरो मे प्रवेश का निषेध किया है, जबकि कुछ कुलो मे प्रवेश का विधान किया है। प्रीतिकर कुल में प्रवेश का विधान किया गया है।

निषिद्ध कुल तथा प्रकोष्ठ ये हैं—

१. प्रतिक्रुष्ट कुल मे
२ मामक कुल मे
३. अप्रीतिकर कुल मे
४ आज्ञा लिए बिना सन का पर्दा हटा कर
५ बिना वस्त्रादि से ढँके द्वार को खोल कर
६ आज्ञा लिए बिना कपाट खोल कर
७ आँखो से प्राणी न देखने वाले, नीचे द्वार के अन्धेरे कोठे (कमरे) मे
८ जहाँ फूल, बीज आदि बिखरे हो उस कोठे मे
९ तत्काल लीपे हुए या पानी से भीगे हुए कोठे मे
१० भेड, बालक, कुत्ते या बछडे को द्वार पर से हटा कर या इन्हे लाघ कर कोठे मे।

प्रतिक्रुष्ट कुल : अर्थ, व्याख्या एवं आशय—प्रतिक्रुष्ट शब्द का अर्थ है—(१) निषिद्ध, (२) निन्दित (३) गर्हित और (४) जुगुप्सित। प्रतिक्रुष्ट दो प्रकार के होते है अल्पकालिक और[२७] यावत्कालिक। मृतक, सूतक आदि वाले घर थोडे समय के लिए (अल्पकालिक) प्रतिक्रुष्ट है और डोम, मातग आदि के घर यावत्कालिक (सदैव) प्रतिक्रुष्ट है। आचारागसूत्र मे कुछ अजुगुप्सित एव अगर्हित कुलो के नामो का उल्लेख करके 'ये और ऐसे ही अन्य कुल' कहकर अतिदेश कर दिया है। परन्तु जुगुप्सित और गर्हित कुल कौन-से है? उनकी पहिचान क्या है? यह आगमो मे स्पष्टत नही बताया। यद्यपि निशीथसूत्र में जुगुप्सनीय कुल से भिक्षा लेने का प्रायश्चित्त बताया है। टीकाकार जुगुप्सित और गर्हित कुल से भिक्षा लेने पर जैनशासन की लघुता होना बताते है।[२८] वर्तमान मे प्रतिक्रुष्ट कुल वह समझा जाना चाहिए, जो मासाहारी, मद्यविक्रयी, जल्लाद, चाण्डाल, क्रूरकर्मा व्यक्ति का घर हो या जहाँ खुलेआम मास पडा हो।[२९]

मामगं—मामक : जो गृहपति इस प्रकार से निषेध कर दे कि मेरे यहाँ कोई साधु-साध्वी भिक्षा के लिए न आए वह मामक गृह कहलाता है। उस घर मे भिक्षार्थ प्रवेश करने का निषेध है।

---

२७ (क) पडिकुट्ठ निंदित, त दुविह-इत्तरिय आवकहिय च। इत्तरिय मयगसूतगादि, आवकहित चडालादी।
—अगस्त्य चूर्णि, पृ १०४
(ख) एतत्र प्रविशेत् शासनलघुत्वप्रसगात्। —हारि वृत्ति, पत्र १६६
(ग) आचाराग चू, १।२३ (घ) निशीथ १६।२७

२८ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २१३-२१४
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ १६३

२९ (क) दशवै, वही, पृ १६३
(ख) 'मा मम घर पविसतु त्ति मामक सो पुण पतयाए इस्सालुयत्ताए वा।' —अ चू, पृ १०४
(ग) मामक एतद् वर्जयेत् भण्डनादिप्रसगात्। —हारि वृत्ति, पत्र १६६

अचियत्तकुलं-अप्रीतिकर कुल—जहाँ या जिस समय (जैसे कि—किसी के यहाँ किसी स्वजन की मृत्यु हो गई हो, या परस्पर उग्र कलह हो रहा हो, उस समय) साधु-साध्वी के भिक्षार्थ जाने से गृहस्थ को अप्रीति उत्पन्न हो, जहाँ साम्प्रदायिक या प्रान्तीय द्वेषवश या शकावश गृहस्थ को साधु के प्रति द्वेष पैदा हो, जहाँ भिक्षा के लिए निषेध तो न हो, किन्तु उपेक्षाभाव हो, साधु के जाने पर कोई भी कुछ न देता हो, ऐसे अप्रीतिकर घर मे भिक्षाथ प्रवेश निषिद्ध बताया है, क्योकि वहाँ जाने से मुनि के निमित्त से उस गृहस्थ को सक्लेश उत्पन्न होगा।[३०]

प्रीतिकरकुल--जिस घर मे साधु-साध्वी का भिक्षार्थ जाना-आना प्रिय हो, या जिस घर मे भावनापूर्वक साधुवर्ग को दान देने की उत्कण्ठा हो।[३१]

शाणी, प्रावार : शाणी—(१) सन (पटसन) या अलसी से बनी हुई चादर। **प्रावार** (२) सूती रोएँदार चादर (प्रावरण), (३) कम्बल—कई बार गृहस्थ लोग अपने घर के दरवाजे को सन की चादर या वस्त्र से अथवा सूती रोएँदान वस्त्र या कम्बल से ढँक देते है और निश्चित होकर घर मे खाते-पीते, आराम करते है अथवा गृहणियाँ स्नानादि करती है, उस समय बिना अनुमति लिये यदि कोई द्वार पर मे वस्त्र को हटा कर या खोल कर अन्दर चला जाता है तो उन्हे बहुत अप्रिय लगता है। प्रवेशकर्त्ता अविश्वसनीय बन जाता है। कई गृहस्थ तो व्यवहार मे अकुशल ऐसे साधु को टोक देते है, उपालम्भ भी देते है। ऐसे दोषो को ध्यान मे रख कर अनुमति लिए बिना ऐसा करने का निषेध किया गया है। साथ ही कपाट, जो कि चूलिये वाला हो तो उसे खोलने में जीवहिसा की सम्भावना है, क्योकि उसे खोलते समय वहाँ कोई जीव बैठा हो तो उसके मर जाने की सम्भावना है। व्यावहारिक असभ्यता भी है।[३२]

मलमूत्र की बाधा लेकर न जाए, न बाधा रोके—गोचरी के लिए जाते समय पहले ही मल-मूत्र की हाजत से साधु निवृत्त हो जाए, फिर भी अकस्मात् पुन बाधा हो जाए तो मुनि विधि-पूर्वक प्रासुक स्थान देखकर, गृहस्थ से अनुमति ले कर वहाँ मल-मूत्रविसर्जन कर ले, किन्तु बाधा

---

३०. (क) "अचियत्त अप्पित, अणिट्ठो पवेसो जस्स सो अच्चियत्तो, तस्स ज कुल त न पविसे, अहवा ण चागो (दाण) जत्थ पवत्तइ, त दाणपरिहीण केवल परिस्समकारी त ण पविसे।"

—अगस्त्यचूर्णि, पृ १०४

(ख) अचिअत्तकुलम्-अप्रीतिकुल यत्र प्रविशद्भि साधुभिरप्रीतिरुत्पद्यते, न च निवार्यन्ति कुतश्चिन्निमित्तान्तरात् एतदपि न प्रविशेत् तत्सक्लेशनिमित्तत्वप्रसगात्॥ —हारि. वृ, पत्र १६६

३१. 'चियत्तइट्ठनिक्खमणपवेस, चागसपण्णे वा।' —अ चू, पृ. १०४

३२ (क) 'साणी नाम सणवक्केहिं विज्जइ, अलसिमयी वा।'

(ख) 'कप्पासितो पडो सरोमो पावारतो।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ १-४

(ग) प्रावार प्रतीत कम्बलाद्युपलक्षणमेतत। —हारि वृत्ति, पत्र १६७

(घ) तं काउ ताणि गिहत्थाणि वीसत्थाणि अच्छति, खायति पियंति सइरालाव कुव्वति, मोहंति वा त नो अवपगुरेज्जा।'' तेसि अप्पतिय भवइ, जहा एते एत्तियं पि उवयार न याणति, जहा णावगुणियव्व। लोगसववहारबाहिरा वरागा, एवमादि दोसा भवति। —जि. चू, पृ. १७५

(ङ) '' कवाड दारप्पिहाण त ण पणोलेज्जा, तत्थ त एव दोसा, यत्रे य सत्तवहो। —अ चू, पृ. १०४

न रोके। मूत्रनिरोध से मुख्यतया नेत्रज्योति क्षीण हो जाती है, तथा मलनिरोध से तेज एव जीवन-शक्ति का नाश होने की सम्भावना है। अत मल-मूत्रबाधा नही रोकनी चाहिए। आचाराग मे मल-मूत्र की आकस्मिक बाधा के निवारणार्थ स्पष्ट विधि बतलाई गई है।[३३]

प्रासुक स्थान—यह जैन पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—अचित्त या जीवरहित। किन्तु यहाँ प्रसगवश अर्थ होगा—'जो भूमि दीमक, कीट आदि जीवो से युक्त न हो, तत्काल अग्नि-दग्ध न हो, सचित्त जल, वनस्पति आदि से युक्त न हो, इत्यादि प्रकार से निर्दोष या विशुद्ध हो।'[३४]

अंधकारपूर्ण निम्न द्वार वाले कोठे में भिक्षार्थ प्रवेश निषिद्ध क्यो ?—इसका आगमसम्मत कारण हिंसा है, क्योकि वहाँ जीवजन्तु न दीखने से ईर्यासमिति का शोधन नही होता, अधेरे मे दाता के या स्वय के गिर पड़ने की आशका है। इसीलिए इसे दायकदोष भी बताया है।[३५]

तत्काल लीपे या गीले कोठे में प्रवेश निषिद्ध—इसके निषेध के दो कारण हैं—तत्काल लीपे एव गीले आगन पर चलने से जलकाय एव सम्पातिम जीवो की विराधना होती है। हरिभद्रसूरि के अनुसार तत्काल लीपे और गीले कोष्ठक मे प्रवेश करने से आत्मविराधना और सयमविराधना होती है।[३६]

एलकादि का उल्लंघन या अपसारण निषिद्ध क्यो ?—चूर्णि के मतानुसार—एलक आदि को हटाने या लाघ कर जाने से वह सीग से मुनि को मार सकता, कुत्ता काट सकता, पाडा मार सकता है। बछडा भयभीत होकर बन्धन तोड सकता है, मुनि के पात्र फोड सकता है। बालक को हटाने से उसे पीड़ा हो सकती है, उसके अभिभावको को साधु के प्रति अप्रीति उत्पन्न हो सकती है। नहा-धोकर कौतुक मगल किये हुए बालक को हटाने या लाघ कर जाने से बालक को प्रदोष (अमगल) से मुक्त कर देने का लाछन लगाया जा सकता है। अत एलक आदि को हटाने से शरीर और सयम दोनो की विराधना और शासन की लघुता होने की सभावना है।

---

३३ (क) भिक्खायरियाए पविट्ठेण वच्चमुत्त न धारयव्व, किं कारण ? मुत्तनिरोधे चक्खुबाधाओ आभवति, वच्च निरोहे य तेय जीवियमवि रुधेज्जा, तम्हा वच्चमुत्तनिरोधो न कायव्वो त्ति। —जि चू., पृ १७५
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १६५

३४. (क) प्रासुक प्रगतासु निर्जीवमित्यर्थ ।—हा टी, पत्र १८१
(ख) 'प्रासुक बीजादिरहितम् ।'—हा टी, पृ १७८

३५ (क) जओ भिक्खा निक्कालिज्जइ त तमस, तत्थ अचक्खुविसए पाणा दुक्ख पच्चुवेक्खिज्जति त्ति काउ नीयदुवारे तमसे कोट्ठओ वज्जेयव्वो। —जि चू, पृ १७५
(ख) ईर्याशुद्धिर्नभवति। —हा वृ, पत्र १६७

३६ (क) सपातिमसत्तविराहणत्थ परितावियाओ वा आउक्काओ त्ति काउ वज्जेज्जा। —जिन. चूर्णि, पृ. १७६
(ख) 'उवलित्तमेत्ते आउक्कातो अपरिणतो, निस्सरण वा दायगस्स होज्जा, अतो त परिवज्जए।'
—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०५
(ग) 'सयमात्मविराधनापत्तेरिति ।' —हा टी, पृ १६७

एलगं : एलक : दो अर्थ—(१) चूर्णिकार के अनुसार—बकरा, (२) टीकाकार आदि के अनुसार—भेड़ ।[३७]

१०५. असंसत्तं पलोएज्जा, नाइदूरावलोयए ।
उप्फुल्लं न विणिज्झाए, नियट्टेज्ज अयंपिरो ।। २३ ।।

१०६. अइभूमिं न गच्छेज्जा, गोयरग्गगओ मुणी ।
कुलस्स भूमिं जाणित्ता, मियं भूमिं परक्कम्मे ।। २४ ।।

१०७. तत्थेव पडिलेहेज्जा भूमिभागं वियक्खणो ।
सिणाणस्स य वच्चस्स सलोगं परिवज्जए ।। २५ ।।

१०८. दग-मट्टिय-आयाणे बीयाणि हरियाणि य ।
परिवज्जंतो चिट्ठेज्जा सव्विंदियसमाहिए ।। २६ ।।

[१०५] (गोचरी के लिए घर मे प्रविष्ट भिक्षु) आसक्तिपूर्वक (कुछ भी—आहार या किसी सजीव-निर्जीव पदार्थ को) न देखे, अतिदूर (दृष्टि डाल कर) न देखे, उत्फुल्ल दृष्टि से (आखे फाड-फाड कर) न देखे, तथा भिक्षा प्राप्त न होने पर बिना कुछ बोले (वहा से) लौट जाए ।।२३।।

[१०६] गोचराग्र के लिए (घर मे) गया हुआ मुनि अतिभूमि (गृहस्थ के चौके मे मर्यादित की गई भूमि का अतिक्रमण करके आगे) न जाए, (किन्तु उस) कुल (घर) की (मर्यादित) भूमि को जान कर मित (मर्यादित या अनुज्ञात) भूमि तक ही जाए (अर्थात्—परिमित स्थान तक जाकर ही खडा रहे) ।।२४।।

[१०७] विचक्षण साधु वहाँ (मितभूमि मे) ही उचित भूभाग का प्रतिलेखन करे, (वहाँ खडे हुए) स्नान और शौच के स्थान की ओर दृष्टिपात न करे ।।२५।।

[१०८] सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु (सचित्त) पानी और मिट्टी लाने के मार्ग तथा बीजो और हरित (हरी) वनस्पतियो को वर्जित करके खडा रहे ।।२६।।

विवेचन—गोचरी के लिए प्रविष्ट मुनि का कायचेष्टासंयम—प्रस्तुत चार गाथासूत्रो (सू १०५ से १०८ तक) में भिक्षा के लिए प्रविष्ट मुनि को कहाँ, कैसे, किस प्रकार के इन्द्रिय-सयम के साथ खडा रहना चाहिए ? इससे सम्बन्धित विधि-निषेध का प्रतिपादन किया गया है ।

---

३७ (क) एलओ-छागो । —जिन चूर्णि, पृ १७६
(ख) एडक-मेषम् । —हारि. वृत्ति, पृ. १६७
(ग) एत्थ पच्चवाता—एलतो सिंगेण फेट्टाए वा आहणेज्जा । दारतो खलिएण दुक्खवेज्जा, सयणो वा ते अपत्तिय-उप्फोसण-कोउयादीणि पडिलग्गे वा गेण्हणातिपसग वा करेज्जा । सुणतो खाएज्जा । वच्छतो वितत्थो बधच्छेय—भायणातिभेद करेज्जा । बिऊहणे वि एते चेव (दोसा) सविसेसा ।'
—अगस्त्य चूर्णि, पृ. १०५

भिक्षा के लिए घर में प्रविष्ट मुनि का दृष्टिसंयम एवं वाणीसंयम—दृष्टिसयम के लिए यहाँ तीन पद दिये है। इन तीनो की व्याख्या इस प्रकार है—

(१) **असंसक्तावलोकन**—(१) आसक्त दृष्टि से न देखे, अर्थात्—मुनि स्त्री की दृष्टि में दृष्टि गडा कर न देखे, स्त्री के अगोपागो को न देखे। ये दोनो आसक्त दृष्टि के प्रकार है। इसका अर्थ यो भी किया गया है—गृहस्थ के यहा रखे हुए आहार, वस्त्र तथा अन्य शृगारप्रसाधन आदि की चीजो को आसक्तिपूर्वक न देखे। इस प्रकार के आसक्तिपूर्वक दृष्टिपात के निषेध के मुख्य कारण तीन बताए है—(१) ब्रह्मचर्यव्रत की विराधना—क्षति, (२) लोकापवाद—श्रमण को इस प्रकार टकटकी लगाकर देखने पर उसे कामविकारग्रस्त मानते है, (३) मानसिक रोगोत्पत्ति। अगस्त्यचूर्णि मे इसका अर्थ किया गया है—मुनि जहाँ खडा रह कर आहार ले और दाता जहाँ से आकर भिक्षा दे, ये दोनो स्थान असक्त (त्रस आदि जीवो से असकुल) होने चाहिए। इस दृष्टि से यहाँ मूल मे बताया गया है—मुनि असक्त स्थान का अवलोकन करे।

(२) **नातिदूरावलोकन**—मुनि वही तक दृष्टिपात करे, जहाँ तक भिक्षा के लिए देय वस्तुएँ रखी और उठाई जाएँ, उससे आगे लम्बी दृष्टि न डाले। घर मे दूर-दूर तक रखी वस्तुओ पर दृष्टिपात करने से साधु के प्रति शका हो सकती है, इसलिए अतिदूरावलोकन का निषेध किया गया है। अगस्त्यचूर्णि मे इसका अर्थ किया गया है—मुनि अतिदूरस्थ प्राणियो को नही देख सकता इसलिए वैकल्पिक अर्थ हुआ—भिक्षा देने के स्थान से अतिदूर रह कर अवलोकन नही करे—अर्थात् खडा न रहे।

(३) **उत्फुल्लनयनानवलोकन** दो अर्थ—(१) विकसित नेत्रो से (आँखे फाड कर) न देखे, (२) उत्सुकतापूर्ण नेत्रो से न देखे। इस प्रकार गृहस्थ के घर मे यत्र-तत्र पडे हुए भोग्य पदार्थ, शय्यादि सामग्री, स्त्री, आभूषण आदि को आँखे फाड-फाड कर देखने से—साधु के प्रति लघुता या भोगवासनाग्रस्तता का भाव उत्पन्न हो सकता है।[३८]

वाणीसंयम—भिक्षा के लिए प्रवेश करने पर यदि दाता कुछ भी न दे थोडा दे, नीरस वस्तु दे, अथवा कोई कठोर वचन कह दे, तो भी साधु को उसके लिए बहस, अपशब्द-प्रयोग अथवा

---

३८ (क) 'असत्त पलोएज्जा नाम इत्थियाए दिट्ठिं न बधेज्जा, अहवा अगपच्चगाणि अणिमिस्साए दिट्ठीए न जोएज्जा।' किं कारण ? जेण तत्थ बभवयपीला भवइ, जोएत वा दट्ठूण अविरयगा उड्डाह करेज्जा-पेच्छह समणय सवियार। —जि चू., पृ १७६

(ख) 'रागोत्पत्ति-लोकोपघात-प्रसगात।' —हारि. वृत्ति, पृ १६८

(ग) तावमेव पलोएइ, जाव उक्खेव-निक्खेव पासई। तओ पर घरकोणादी पलोयत दट्ठूण सका भवति। किमस चोरो वा पारदारिओ वा होज्जा ? एवमादि दोसा भवति। —जि चू, पृ. १७६

(घ) नाति दूर प्रलोकयेत्—दायकस्यागमनमात्रदेश प्रलोकयेत्। —हारि वृत्ति, पृ, १६८

(ङ) 'त च णातिदूरावलोयए अतिदूरत्थो पिपीलिकादीणि ण पेक्खति।—अ. चू, पृ १०६

(च) 'उप्फुल्ल नाम विगसिएहिं णयणेहिं इत्थीसरीर रयणादी वा ण णिज्झाइयव्व।'

—जिन चूर्णि, पृ १७६

(छ) ' न विणिज्झाए त्ति, न निरीक्षेत गृहपरिच्छदमपि, अदृष्टकल्याण इति लाघवोत्पत्ते।'

—हारि वृत्ति, पृ. १६८

दीनवचन-प्रयोग न करते हुए चुपचाप बिना कुछ कहे, वहाँ से निकलजाना चाहिए।[३९]

भिक्षार्थ प्रविष्ट साधु की खड़े रहने की भूमि—सीमा : विधि-निषेध—आहार के लिए प्रवेश करने के बाद साधु गृहस्थ के चौके मे कहाँ तक जाए, इसके विधि-निषेध-नियम प्रस्तुत गाथा (२४) मे दिये गए है—**अतिभूमि में न जाए**—गृहस्थ के द्वारा भोजनगृह मे भिक्षाचरों के प्रवेश की वर्जित या अननुज्ञात भूमि अतिभूमि कहलाती है। सभी गृहस्थो की एक-सी मर्यादा नही होती, इसलिए साधु-साध्वी को यह विवेक स्वय करना होगा कि किस गृहस्थ के यहाँ रसोडे मे कितनी दूर तक जाने की भूमिसीमा है ? यह निर्णय साधु-साध्वी को तद्देश प्रसिद्ध देशाचार, शिष्टाचार, कुलाचार, जातिसस्कार, ऐश्वर्य, भद्रक-प्रान्तक आदि गृहस्थो की अपेक्षा से करना चाहिए। जहाँ तक दूसरे भिक्षाचर जाते है, तथा जहाँ तक जाने मे गृहस्थ को अप्रीति न हो, वहाँ तक की भूमि को कुलभूमि कहते है। अत साधु-साध्वी इस प्रकार कुलभूमि का निर्णय करके वहाँ तक ही जाएँ। अन्यथा चौके के अत्यन्त निकट चले जाने पर उनके प्रति अप्रीति या शका उत्पन्न हो सकती है।[४०]

मितभूमि मे भी कहाँ खड़ा हो, कहाँ नहीं ?—गृहस्थ द्वारा अनुज्ञात या अवर्जित मितभूमि मे जाकर साधु कैसे और कहाँ खडा रहे, कहाँ नही ? इसका विवेक प्रस्तुत दो गाथाओ (२४-२५) मे दिया गया है। मितभूमि मे भी साधु जहाँ-तहाँ खडा न होकर इस बात का उपयोग लगाए कि वह कहाँ खडा हो, कहाँ नही ? वह उस भूभाग का सर्वेक्षण करे कि जहाँ खडे रहने से सयम मे विघात न हो, और शासन की हीलना न हो।[४१]

चार प्रकार के भूभाग मे खड़े रहने का निषेध—साधु को मर्यादित मितभूमि मे भी चार भूभागो (स्थानो) मे खडा नही रहना चाहिए—(१) **सिणाणस्स संलोगं**, (२) **वच्चस्स संलोगं**, (३) **दग-मट्टिय-आयाण** और (४) **बीयाणि-हरियाणि य। चारों की व्याख्या**—'सलोक' शब्द का सम्बन्ध स्नान और वर्चस् दोनो के साथ है। वर्चस् का अर्थ है—मल-मूत्रविसर्जन—शौचक्रिया। तात्पर्य यह है कि जहाँ खडा होने से मुनि को स्नान करती हुई या मल-मूत्रविसर्जन करती हुई महिला या

---

३९ (क) ' दिण्णे परियदणेण, अदिण्णे रोसवयणेहि एवमादीहि अजपणसीलो अयपिरो एवविधो णियटेज्जा।
—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०६
(ख) तथा निवर्त्तेत गृहादलब्धेऽपि सति अजल्पन्-दीनवचनमनुच्चारयन्निति। —हारि वृत्ति, पृ १६८

४० (क) 'भिक्खयरभूमि-अतिक्कणमतिभूमी त ण गच्छेज्जा।' —अग चू, पृ १०६
(ख) अतिभूमिं न गच्छेद्—अननुज्ञाता गृहस्थै। यत्रान्ये भिक्षाचरा न यान्तीत्यर्थ। —हा वृत्ति, पत्र १६८
(ग) कि पुण भूमिपरिमाण ? त विभव-देसायार-भद्दग-पतगादीहि, 'कुलस्स भूमि णाऊण' पुव्वपरिक्कमणेण अण्णे वा भिक्खायरा जावतिय भूमिमुपसरति एव विण्णात।" —अगस्त्यचूर्णि, पृ १०६
(घ) मिता भूमिं—तैरनुज्ञाता पराक्रमेत् (प्रविशेत्) यत्रैषामप्रीतिर्नोपजायेत, इति सूत्रार्थ।
—हा टी, पृ १६८
(ङ) मित भूमिं परक्कमे—बुद्धीए सपेहित सव्वदोससुद्ध तावतिय पविसेज्जा।' —अ. चू, पृ. १०६

४१ 'तत्थेति ताए मिताए भूमीए उवयोगो कायव्वो पडिएण, कत्थ ठातियव्व, कत्थ न वेत्ति। तत्थ ठातियव्व जत्थ इमाइ न दीसति।' —जि चू पृ १७७

सामने ही मल-मूत्र पडा दिखाई दे अथवा वह स्नानगृह या शौचालय से साधु को देख सके, उस भूमि भाग मे मुनि खडा न हो। **तीसरा निषेध है**—जगल या खान से लाई हुई सचित्त मिट्टी और सचित्त पानी जिस मार्ग से लाया जाता हो, उस मार्ग पर खडा न हो तथा **चौथा निषेध है**—जहाँ चारो ओर बीज या हरी वनस्पति बिखरी हुई हो, या पैरो के नीचे रौदी जाने की सभावना हो ऐसी जगह भी मुनि खडा न हो, क्योकि इन दोनो प्रकार के स्थानो मे खडे रहने से अहिसाव्रत की विराधना होगी।[४२]

ग्रहणैषणा-विधि

आहार-ग्रहण-विधि-निषेध

१०९. तत्थ से चिट्ठमाणस्स आहरे पाण-भोयण।
अकप्पिय न गेण्हेज्जा पडिगाहेज्ज कप्पियं ॥२७॥

११०. आहरंती सिया तत्थ परिसाडेज्ज भोयणं।
देंतिय पडियाइक्खे न मे कप्पइ तारिस ॥२८॥

१११. सम्मद्दपाणी पाणाणि बीयाणि हरियाणि य।
असंजमकरिं नच्चा, तारिसं परिवज्जए ॥२९॥

११२. साहट्टु निक्खिवित्ताण सच्चित्तं घट्टियाण य।
तहेव समणट्ठाए उदगं सपणोल्लिया ॥३०॥

११३. ओगाहइत्ता चलइत्ता आहरे पाण-भोयण।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥३१॥

११४. पुरेकम्मेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३२॥

११५. *उदओल्लेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३३॥

११६. ससिणिद्धेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥३४॥

---

४२ (क) 'वच्च नाम जत्थ वोसिरति कातिकाइमन्नाओ।' —जि. चू, पृ १७७
(ख) 'वच्च अमेज्झ त जत्थ।' —जि चू, १७७
(ग) 'सलोगो-जत्थ एताणि आलोइज्जति, त परिवज्जए।'
(घ) सिणाण लोग वच्चसलोग। सलोग-जत्थ ठिएण हि दीसति ते वा त पासति। —जि चू., पृ. १७७
(ङ) अ चू, पृ १०७ (च) जि चू, पृ १७७ (छ) हारि वृत्ति, पत्र १६८

११७. ससरक्खेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३५ ॥

११८. मट्टियागतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३६ ॥

११९. ऊसगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३७ ॥

१२०. हरितालगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३८ ॥

१२१. हिंगुलुयगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ३९ ॥

१२२. मणोसिलागतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४० ॥

१२३. अंजणगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडियाइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ ४१ ॥

१२४. लोणगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४२ ॥

१२५. गेरुयगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतिय पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ ४३ ॥

१२६. वण्णियगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ ४४ ॥

१२७. सेडियगतेण × हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ ४५ ॥

१२८. सोरट्ठियगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४६ ॥

१२९. पिट्ठगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४७ ॥

× पाठान्तर—सेढिय ।

१३०. कुक्कुसगतेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४८ ॥

१३१. उक्कुट्ठगतेण+ हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ४९ ॥

१३२. असंसट्ठेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, पच्छाकम्म जहिं भवे ॥ ५० ॥

१३३. संसट्ठेण हत्थेण दव्वीए भायणेण वा।
दिज्जमाणं पडिच्छेज्जा, ज तत्थेसणिय भवे ॥ ५१ ॥*

[१०९] वहाँ (पूर्वोक्त मर्यादित भूमिभाग मे) खडे हुए उस साधु (या साध्वी) को देने के लिए (अपने चौके मे से कोई गृहस्थ) पान (पेय पदार्थ) और भोजन लाए तो उसमे से अकल्पनीय (साधुवर्ग के लिए अग्राह्य) को ग्रहण (करने की इच्छा) न करे, कल्पननीय ही ग्रहण करे ॥२७॥

[११०] यदि (साधु या साध्वी के पास) भोजन लाती हुई गृहिणी (या गृहस्थ) उसे नीचे गिराए तो साधु उस (आहार) देती हुई महिला (या पुरुष) को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए कल्पनीय (ग्रहण करने योग्य) नही है ॥२८॥

[१११] प्राणी (द्वीन्द्रियादि जीव), बीज और हरियाली (हरी वनस्पति) को कुचलता (सम्मर्दन करती) हुई (आहार लाने वाली महिला दात्री) को असयमकारिणी जान कर उस प्रकार का (सदोष आहार) उससे न ले ॥२९॥

[११२-११३] इसी प्रकार एक बर्तन मे से दूसरे बर्तन मे डालकर (सहरण कर), (सचित्त वस्तु पर) रखकर, सचित्त वस्तु का स्पर्श करके (या रगड कर) तथा) (पात्रस्थ सचित्त) जल को हिला कर, (सचित्त पानी में) अवगाहन कर, (सचित्त जल को) चालित कर श्रमण (को देने) के लिए पान और भोजन लाए तो मुनि (उस आहार) देती हुई महिला को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्रहण करना शक्य (कल्प्य) नही है ॥३०-३१॥

पाठान्तर— + उक्किट्ठ ।

पाठान्तर— * इस प्रकार के चिह्न से * इस प्रकार के चिह्न तक जो १९ गाथाएँ है, टीकाकार के अनुसार ये दो गाथाएँ हैं, किन्तु टीकासम्मत इन दो गाथाओं मे 'एव' और 'बोधव्व', ये जो दो पद हैं, वे सग्रहगाथाओ के सूचक हैं। जबकि चूर्णिकार इन १९ गाथाओ को मूलगाथाएँ मानते हैं।

दो गाथाएँ—

"एव उदउल्ले ससिणिद्धे ससरक्खे मट्टियाऊसे।
हरिआले हिंगुलए, मणोसिला अजणे लोणे ॥ ३३ ॥
'गेरुअ-वण्णिय-सेढिअ, सोरट्ठिय-पिट्ठ-कुक्कुसकए य।
उक्किट्ठमसंसट्ठे संसट्ठे चेव बोधव्वे ॥ ३३ ॥" (प्रतियो मे प्रचलित पाठ)

[११४] पुराकर्म-कृत (साधु को आहार देने से पूर्व ही सचित्त जल से धोये हुए) हाथ से, कडछी से अथवा बर्तन से (मुनि को भिक्षा) देती हुई महिला को मुनि निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए कल्पनीय (ग्रहण करने योग्य) नही है। (अर्थात्—मैं ऐसा दोषयुक्त आहार नही ले सकता।) ॥३२॥

[११५] सचित्त जल से गीले (आर्द्र) हाथ से, कडछी से अथवा बर्तन से (आहार) देती हुई (महिला) को साधु निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्राह्य (कल्पनीय) नही है ॥३३॥

[११६] सस्निग्ध हाथ से, कड़छी से या बर्तन से यदि कोई महिला आहार देने लगे तो उसे निषेध कर दे कि मेरे लिए ऐसा आहार ग्राह्य नही है ॥३४॥

[११७] सचित्त रज से भरे हुए हाथ से, कडछी से या बर्तन से (साधु को) आहार देती हुई स्त्री को साधु निषेध कर दे कि ऐसा (सदोष आहार) लेना मेरे लिए शक्य (कल्प्य) नही है ॥३५॥

[११८] सचित्त मिट्टी से सने हुए हाथ, कडछी या बर्तन से (साधु को आहार) देती हुई महिला को मुनि निषेध करे कि ऐसा आहार मै नही ले सकता ॥३६॥

[११९] सचित्त ऊसर (क्षार) मिट्टी से भरे हुए हाथ, कडछी या बर्तन से आहार देती हुई स्त्री से साधु कहे की ऐसा आहार मै ग्रहण नही कर सकता ॥३७॥

[१२०] हरिताल से भरे हुए हाथ, कडछी अथवा बर्तन से आहार देती हुई दात्री को साधु निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य (कल्पनीय) नही है ॥३८॥

[१२१] हिंगलू से भरे हुए हाथ, कडछी या बर्तन से आहार देती हुई महिला को साधु निषेध कर दे कि मेरे लिए ऐसा आहार ग्रहण करने योग्य नही है ॥३९॥

[१२२] मेनसिल से युक्त हाथ, कडछी या बर्तन से आहार देती हुई दात्री को साधु निषेध कर दे कि मैं ऐसा आहार नही ले सकता ॥४०॥

[१२३] अजन से युक्त हाथ, कडछी या बर्तन से आहार देती हुई महिला से साधु कहे कि मैं ऐसा आहार ग्रहण नही कर सकता ॥४१॥

[१२४] सचित्त लवण से भरे हुए हाथ, कडछी या बर्तन से आहार देती हुई स्त्री को साधु निषेध कर दे कि मै ऐसा आहार ग्रहण नही कर सकता ॥४२॥

[१२५] सचित्त गैरिक (गेरू) से सने हुए हाथ, कडछी अथवा बर्तन से आहार देती हुई महिला को साधु स्पष्ट निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य नही है ॥४३॥

[१२६] सचित्त पीली मिट्टी (वर्णिका) से भरे हुए हाथ, कडछी अथवा भाजन से आहार देती हुई महिला को साधु इन्कार कर दे कि मै ऐसा आहार नही ले सकता ॥४४॥

[१२७] सचित्त सफेद मिट्टी (श्वेतिका) से सने हुए हाथ, कडछी या बर्तन से आहार देती हुई स्त्री को मुनि निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्रहण करने योग्य नही है ।।४५।।

[१२८] सचित्त सौराष्ट्रिका (फिटकरी) से युक्त हाथ से, कडछी से या बर्तन से आहार देती हुई स्त्री को साधु निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य नही है ।।४६।।

[१२९] तत्काल पीसे हुए आटे (पिष्ट) से सने हुए हाथ, कडछी या बर्तन से आहार देती हुई महिला से साधु स्पष्ट कह दे कि ऐसा आहार मै नही ले सकता ।।४७।।

[१३०] तत्काल कूटे हुए धान्य के भूसे या छिलके से युक्त हाथ, कडछी या बर्तन से आहार देती हुई स्त्री को साधु निषेध कर दे कि मै इस प्रकार का आहार नही ले सकता ।।४८।।

[१३१] चाकू से ताजे बनाये हुए फलो के कोमल टुकडो से युक्त हाथ से, कड़छी से या बर्तन से आहार देती हुई दात्री से साधु कह दे कि मै इस प्रकार का आहार ग्रहण नही कर सकता ।।४९।।

[१३२] जहाँ (जिस आहार के लेने पर) पश्चात्कर्म (साधु को आहार देने के बाद तुरत सचित्त जल से हाथ धोने) की सभावना हो, वहाँ असंसृष्ट (भक्त-पान से अलिप्त) हाथ, कडछी अथवा बर्तन से दिये जाने वाले आहार को ग्रहण करने की इच्छा न करे ।।५०।।

[१३३] (किन्तु) संसृष्ट (भक्त-पान से लिप्त) हाथ से, कडछी से या बर्तन से (साधु को) दिया जाने वाला आहार यदि एषणीय हो तो मुनि लेवे ।।५१।।

विवेचन—किस विधि से दिया जाने वाला आहार ग्रहण करे ?—इससे पूर्व गाथाओ मे इस विधि का उल्लेख था कि भिक्षार्थी मुनि स्वस्थान से निकल कर गृहस्थ के घर मे कैसे प्रवेश करे, वहाँ कैसे और किस स्थान मे खडा रहे ? अब गाथासूत्र १०९ से १३३ तक मे यह वर्णन किया गया है कि किस विधि, कैसे दाता के द्वारा दिया जाने वाला आहार ग्रहण न करे, या ग्रहण करे ?

भिक्षादान में चार बातें विचारणीय—भिक्षा लेने-देने मे विधि, द्रव्य, दाता और पात्र इन चारो की विशुद्धि का विचार किया जाता है। प्रस्तुत मे द्रव्यशुद्धि और दातृशुद्धि दोनो का विचार किया गया है।

अकप्पियं, कप्पियं : व्याख्या—पिण्डैषणाप्रकरण मे यत्र-तत्र ये दोनो शब्द व्यवहृत हुए है। ये पारिभाषिक शब्द है। कल्प का प्रकरणसमत अर्थ है—नीति, आचार, मर्यादा, विधि अथवा समाचारी। अकल्प का अर्थ इसके विरुद्ध है अर्थात्—कल्पनिषिद्ध या कल्प से असम्मत। इस दृष्टि से अकप्पिय (अकल्पिक या अकल्पनीय) एव 'कप्पिय' (कल्पिक, कल्प्य या कल्पनीय) का अर्थ होता है—जो नीति, आचार, मर्यादा, विधि या समाचारी शास्त्र द्वारा निषिद्ध, अननुमत, या विरुद्ध हो वह अकल्पिक और जो शास्त्र द्वारा विहित, अनुमत या सम्मत हो, वह कल्पिक है। हरिभद्रसूरि ने कल्पिक का अर्थ—एषणीय और अकल्पिक का अर्थ—अनेषणीय किया है। यहाँ पूर्वोक्त नीति आदि से युक्त, ग्राह्य, करणीय अथवा योग्य या शक्य को भी कल्प्य और इससे विपरीत को अकल्प्य बताया गया है। वाचक उमास्वाति की दृष्टि से कोई भी कार्य एकान्तरूप से कल्प्य या अकल्प्य नही होता, जो कल्प्य कार्य सम्यक्त्व-हानि, ज्ञानादि के नाश और प्रवचन (शासन) निन्दा का कारण बनता हो,

वह कल्प्य भी अकल्प्य बन जाता है। उमास्वाति के अनुसार—"जो कार्य ज्ञान, शील और तप का उपग्रहकारक और दोषों का निग्रहकर्ता हो, वह निश्चयदृष्टि से कल्प्य है और शेष अकल्प्य।" आगमसाहित्य मे उत्सर्ग-उपवाद को दृष्टिगत रख कर महान् आचार्यों ने बताया है कि किसी विशेष परिस्थिति मे कल्प्य और अकल्प्य का निर्णय देश, काल, पात्र (व्यक्ति), अवस्था, उपयोग और परिणाम-विशुद्धि का सम्यक् समीक्षण करके ही करना चाहिए, अन्यथा नही। निष्कर्ष यह है कि बहुश्रुत आगमधर के अभाव मे साधु-साध्वियो को शास्त्रोक्त विधि-निषेधो का अनुसरण करना ही श्रेयस्कर है। प्रस्तुत गाथा (सू १०९) मे यह बताया है कि भिक्षाग्रहण करते समय अपनी विचक्षण बुद्धि से कल्प्य-अकल्प्य का विचार करके अकल्प्य को छोड़ कर कल्प्य (एषणीय, शास्त्रविहित एव भिक्षासम्बन्धी ४२ दोषरहित) आहार ही ग्रहण करना चाहिए।[४३]

देंतियं : देती हुई : तात्पर्य—प्राय महिलाएँ ही भिक्षा दिया करती है, इसलिए यहाँ 'दाता' के रूप मे स्त्री का निर्देश किया गया है। उपलक्षण से 'देता हुआ', इस प्रकार पुरुष का निर्देश भी समझ लेना चाहिए।[४४]

परिसाडिज्ज भोयण—आहार लाते समय दाता भूमि पर उसे गिराता या बिखेरता हुआ लाकर साधु को दे तो वह अग्राह्य है, यह 'एषणा' का दसवा 'छर्दित' नामक दोष है। यह इसलिए दोष माना गया है कि यदि गर्म आहार दाता के शरीर पर पड जाए तो वह जल सकता है तथा आहार की बूंदे नीचे गिरने पर चीटी आदि जीवो की विराधना सभव है।[४५]

समद्दमाणी असंजमकरिं नच्चा : अभिप्राय—प्राणी या वनस्पति आदि को कुचलती या रौदती हुई दात्री को शास्त्रकार असयमकरी मानते है। असयम का अर्थ यहाँ 'सयम का सर्वथा

४३ (क) पाइय-सद्द-महण्णवो
(ख) जिनदासचूर्णि, पृ १७७
(ग) कल्पिक—एषणीय, अकल्पिक—अनैषणीयम्। —हारि. वृत्ति, पत्र १६८
(घ) अकप्पित बायालीसाए अण्णतरेण एसणादोसेण दुट्ठ, कप्पित सेसे सणादोसपरिसुद्ध।
—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १०७
(ङ) "यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रह निग्रह च दोषाणाम्।
कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्पयमकल्प्यमवशेषम्॥" —प्र. प्र १४३
(च) यत्पुनरुपघातकर सम्यक्त्व-ज्ञान-शील-योगानाम्।
तत्कल्प्यमप्यकल्प्य प्रवचनकुत्साकर यच्च॥१४४॥
देश काल क्षेत्र पुरुषमवस्थामुपयोगशुद्धपरिणामान्।
प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्य, नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम्॥१४६॥ —वही, १४४-१४६
४४ 'ददतीम्' 'स्त्र्येव प्रायो भिक्षा ददातीति स्त्रीग्रहणम्।' —हारि वृत्ति, पत्र १६९
४५. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ १७४।
(ख) उसिणस्स छड्डणे देंतओ व डज्झेज्ज कायदाहो वा।
सीय पडणमि काया पडिए महुबिंदु-आहरण॥ —पिण्डनिर्युक्ति ६२८

अभाव' नही, किन्तु 'जीववधरूप असयम' समझना चाहिए और साधु के निमित्त से इस प्रकार का असयम करके आहार लाकर देने वालो से वह आहार नही लेना चाहिए।[४६]

पडिआइक्खे—(१) त्याग (प्रत्याख्यान) कर दे, (२) निषेध कर दे, अथवा (३) कह दे।[४७]

तारिस : तात्पर्य—यह विशेषण (तादृश) भक्त-पान का है। अर्थात् ऐसा आहार, जो कि अमुक भिक्षादोष से युक्त हो।[४८]

सहृत, निक्षिप्त आदि दोषो का स्पष्टीकरण—संहृत-दोष—श्रमण के लिए आहार एक बर्तन मे से दूसरे बर्तन मे निकालना और उसमे जो अनुपयोगी अश हो उसे बाहर फेकना सहरण है। सहरण करके आहार दिया जाए तो वह[४९] सहृत नामक दोष युक्त है। इसकी चतुर्भगी इस प्रकार है—(१) अचित्त (प्रासुक) बर्तन से अचित्त (प्रासुक) बर्तन मे आहार निकाले, (२) प्रासुक बर्तन से अप्रासुक बर्तन मे आहार निकाले, (३) अप्रासुक बर्तन से प्रासुक बर्तन मे आहार निकाले और (४) अप्रासुक बर्तन मे से अप्रासुक बर्तन मे आहार निकाले। इसी प्रकार सचित्त और अचित्त के मिश्रण को भी सहरण कहते है। इसकी भी चौभगी होती है—(१) सचित्त मे सचित्त मिलाना, (२) सचित्त मे अचित्त मिलाना, (३) अचित्त मे सचित्त मिलाना और (४) अचित्त मे अचित्त मिला देना। पिण्डनिर्युक्ति मे इसका विशेष स्पष्टीकरण किया गया है। अचित्त बर्तन मे से भी अचित्त बर्तन मे निकालने मे दोष इसलिए है कि कदाचित् बडे वजनदार बर्तन मे से छोटे बर्तन मे निकालने, उस बर्तन को उधर-उधर करने मे पैर दब जाए, गर्म वस्तु पैर पर या अग पर उछल कर पड जाय, अथवा छोटे बर्तन मे से भारीभरकम बर्तन मे निकालने मे उसे उठाकर साधु को देने के लिए लाने मे दाता को अत्यन्त कष्ट होगा।

अचित्त देय वस्तु को सचित्त पर रखना **'निक्षिप्त'** दोष है। हरी वनस्पति, सचित्त जल, अग्नि आदि सचित्त का स्पर्श करना, या सचित्त से रगडना **'घट्टित'** दोष है। यद्यपि सचित्त जल का हिलाना, अवगाहन करना और चलाना, ये तीनो दोष सचित्त स्पर्श के अन्तर्गत आ जाते है, तथापि विशेषरूप से समझाने के लिए इनका उल्लेख किया गया है। ये चारो दोष एषणा के 'दायक' नामक छठे दोष मे आ जाते है।[५०]

---

४६ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ १७५
(ख) दसवेयालिय (मु नथ), पृ २२५

४७ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ १८४
(ख) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका), पृ ४११

४८ तारिस भत्तपाण तु परिवज्जए। —अग चू, पृ १०७

४९ साहट्ट जाम अन्नमि भायणे साहरिउ (छोढूण) देंतिय जहापिडनिज्जुत्तीए। —जिन चूर्णि, पृ १७८

५०. (क) तत्थ फासुए फासुय साहरइ १, फासुए अफासुय साहरइ २, अफासुए फासुय साहरइ ३, अफासुए अफासुय साहरति ४। भगाण पिडनिज्जुत्तीए विसेसत्थो। —जिन चूर्णि, पृ १७८
(ख) पिण्डनिर्युक्ति ५६५ से ५७१ तक

'पुरेकम्मेण हत्थेण'० इत्यादि दोष—साधु को भिक्षा देने के निमित्त पहले सचित्त जल से हाथ, कडछी, या बर्तन आदि धोना अथवा अन्य किसी प्रकार का आरम्भ (जीवहिंसा) करना पूर्वकर्म (या पुराकर्म) दोष है।

भाजन और मात्रक—मिट्टी के बर्तन अमत्रक या मात्रक और कासे आदि धातुओ के पात्र भाजन कहलाते हैं।[५१]

'उदओल्लेण' से 'उक्कुट्ठगतेण' तक १७ दोष—प्रस्तुत १७ गाथाओ मे 'उदकार्द्र' से लेकर 'उत्कृष्ट' तक जो १७ दोष हाथ, कडछी और भाजन से लगते है, उनका वर्णन किया गया है। इनमे से कुछ अप्काय से, कुछ पृथ्वीकाय मे और कुछ वनस्पतिकाय से सम्बन्धित दोष है।

कठिन शब्दों के विशेष अर्थ—**उदओल्ले**—उदकार्द्र, जिससे पानी की बूंदे टपक रही हो। **'ससिणिद्धे'**—'सस्निग्ध' जो केवल पानी से गीला-सा हो। **ऊसे**—ऊष या क्षार, ऊसर मिट्टी। **गैरिक**—लाल मिट्टी, गेरू। **वण्णिय**—वर्णिका, पीली मिट्टी।[५२] **सेडिय**—सफेद मिट्टी, खडिया मिट्टी। **सोरट्ठिय**—सौराष्ट्रिका, सौराष्ट्र मे पाई जाने वाली एक प्रकार की मिट्टी, जिसे गोपीचन्दन भी कहते है। **पिट्ठ**—पिष्ट—तत्काल पीसा हुआ आटा, अथवा चावलो का कच्चा और अपरिणत आटा। **कुक्कुस**—अनाज या धान का भूसा या छिलका।

उक्कुट्ठ · उत्कृष्ट दो अर्थ—फलो के छोटे-छोटे टुकडे या वनस्पति का चूर्ण (तिल, गेहूँ, और यवो का आटा, अथवा ओखली मे कूटे हुए इमली या पीलुपर्णी के पत्ते, लौकी और तरबूज आदि के सूक्ष्म खण्ड)।

ये सब दोष सचित्त से ससृष्ट हाथ, कडछी या भाजन के द्वारा साधु को देने से लगते है, अत साधु को इन दोषो मे से किसी भी प्रकार के दोष से युक्त आहार को ग्रहण नही करना चाहिए।

इनमे से तत्काल के आटे से लिप्त हाथ आदि से लेने को दोष बताया है, उसका कारण यह कि तत्काल के आटे मे एकेन्द्रिय जीवो के आत्मप्रदेश रहने की सम्भावना रहती है तथा अनछाना होने से उसमे अनाज के अखण्ड दानो के रहने की सम्भावना है। इसलिए यह सचित्त-स्पर्श दोष है।[५३]

---

५१. (क) 'पुरेकम्म नाम ज साधूण दट्ठूण हत्थ भायण धोवइ त पुरेकम्म भण्णइ।' —जिन चू, पृ. १७८
(ख) पुढविमओ मत्तओ। कसमय भायण। —निशीथ ४।३९ चूर्णि

५२ (क) उदकाद्रो नाम गलदुदकबिन्दुयुक्त। सस्निग्धो नाम ईषदुदकयुक्त। —हारि वृत्ति, पृ १७
(ख) ससिणिद्ध—ज उदगेण किंचि णिद्ध, ण पुण गलति। —अ चू, पृ १०८।
(ग) 'ऊष —पाशुक्षार। गैरिका धातु। वर्णिका पीतमृत्तिका। श्वेतिका शुक्लमृत्तिका।'
—हा वृ, पत्र १७०

५३ (क) सोरट्ठिया तवरिया सुवण्णस्स ओघकरणमट्टिया।
(ख) "सौराष्ट्रधा ढकी तुवरी पर्पटी कालिकासती। सुजाता देशभाषाया 'गोपीचन्दनमुच्यते॥'
—आ नि, पृ ६४

पश्चात्कर्म दोष की सम्भावनावश असंसृष्ट अग्राह्य और संसृष्ट ग्राह्य--साधु को आहार देने के लिए लाते समय लेप लगने वाली वस्तु से हाथ आदि अलिप्त—असंसृष्ट हो तो वह आहार लिया जा सकता है, किन्तु साधु को भिक्षा देने के निमित्त से जो हाथ, बर्तन आदि लिप्त हुए हो तो गृहस्थ द्वारा उन्हे बाद मे सचित्त जल से धोने के कारण पश्चात्कर्म दोष होने की सम्भावना रहती है। अत असंसृष्ट, हाथ और पात्र आदि से भिक्षा लेने का निषेध है। यदि भिक्षा देते समय लिप्त हुए हाथ, कुडछी, पात्र आदि से स्वय भोजन करे या दूसरे को परोसे तो पश्चात्कर्मदोष नही लगता, ऐसी स्थिति मे--अर्थात् —जहाँ हाथ, कुडछी, पात्र आदि मे साधु के निमित्त से पश्चात्कर्म की सभावना न हो, वहाँ यह निषेध नही है। वह आहार ग्राह्य है। इसीलिए अगली गाथा मे कहा गया है—भिक्षा देते समय लेप्यवस्तु से लिप्त (ससृष्ट) हाथ आदि (जिनमे पश्चात्कर्म की सभावना न हो) से आहार ग्रहण किया जा सकता है, यदि वह ऐषणीय हो अर्थात्—उद्गमादि दोषो से रहित हो। यह इन दोनो गाथाओ का तात्पर्य है।[५४]

अनिसृष्ट आहार–ग्रहणनिषेध और निसृष्ट ग्रहणविधान

१३४. दोण्ह तु भुंजमाणाणं एगो तत्थ निमतए।
दिज्जमाण न इच्छेज्जा, छद से पडिलेहए॥ ५२॥

१३५. दोण्हं तु भुंजमाणाण, दो वि तत्थ निमतए।
दिज्जमाण पडिच्छेज्जा, ज तत्थेसणियं भवे॥ ५३॥

[१३४]—(जहाँ) दो स्वामी या उपभोक्ता (भोजन करने वाले) हो और उनमे से एक निमत्रित करे (दूसरा नही), तो मुनि उस दिये जाने वाले आहार को ग्रहण करने की इच्छा न करे। वह दूसरे के अभिप्राय को देखे! (यदि उसे देना अप्रिय लगता हो तो न ले और प्रिय लगता हो तो (एषणीय आहार ले ले)॥५२॥

[१३५]—दो स्वामी अथवा उपभोक्ता (भोजन करने वाले) हो और दोनो ही आहार लेने के लिए) निमत्रण करे, तो मुनि उस दिये जाने वाले आहार को, यदि वह एषणीय हो तो ग्रहण कर ले॥५३॥

(ग) आमपिट्ठ आमओ लोट्टो। सो अप्पिधणो पोरुसीए परिणमति। बहुइधणो आरतो चेव।
—अ चूर्णि, पृ ११०

(घ) कुक्कुसा चाउलत्तया। —अ चू, पृ ११०

(ङ) उक्कुट्ठो णाम सचित्तवणस्सति-पत्तकुरफलाणि वा उदूक्खले छुब्भति, तेहि हत्थो लित्तो, एस उक्कट्ठो हत्थो भण्णति। सचित्तवणस्सती—चुण्णो ओक्कुट्ठो भण्णति। —नि भा गा १४८ चू, नि ४।३९। चू.

(च) उक्कुट्ठ धूरो सुरालोट्टो, तिल-गोधूम-जवपिट्ट वा। अबिलिया-पीलुपण्णियातीणि वा उक्खलछुण्णादि।
—अ. चू, पृ. ११०

५४ माकिर पच्छाकम्म होज्ज असंसट्ठगतओ वज्ज।
करमत्तेहि तु तम्हा ससट्ठेहि भवे गहण॥ —नि. भा गा १८५२

विवेचन—प्रस्तुत सूत्रगाथाद्वय (१३४-१३५) मे से पहली गाथा मे 'अनिसृष्ट' नामक १५ वे उद्गमदोषयुक्त भिक्षा ग्रहण का निषेध है, और अगली गाथा में निसृष्ट (एषणीय) भक्तपान लेने का विधान है।

अनिसृष्ट : अर्थ और दोष का कारण—अनिसृष्ट का अर्थ है—अननुज्ञात। साधु को प्रत्येक वस्तु उसके स्वामी की अनुमति-अनुज्ञा से लेनी चाहिए, अन्यथा अदत्तादान दोष लगता है। अनुमति के बिना लेने पर उड्डाह (अपवाद) एव निग्रह की भी सभावना है।[५५]

दोण्ह तु भुंजमाणाणं : अर्थ और फलितार्थ—'भु ज' धातु दो अर्थों मे प्रयुक्त होती है—(१) पालन और (२) अभ्यवहरण (भोजन), इस दृष्टि से यहाँ इस पक्ति का अर्थ होगा—एक ही वस्तु के दो स्वामी हो अथवा एक ही भोजन को दो व्यक्ति खाने वाले हो। उनमे से एक व्यक्ति देने मे सहमत न हो तो वह आहार अनिसृष्ट दोषयुक्त कहलाता है, वह साधु के लिए ग्राह्य नही है।[५६]

छंदं तु पडिलेहए : फलितार्थ—छद का अर्थ है—अभिप्राय। वस्तु के दूसरे स्वामी के चेहरे के हावभाव, नेत्र और मुख की चेष्टा आदि मे मुनि उसका अभिप्राय जाने। यदि दूसरे स्वामी को कोई आपत्ति न हो तो उसकी स्पष्ट अनुमति के विना भी मुनि एक स्वामी द्वारा प्रदत्त आहार ग्रहण कर सकता है और यदि दूसरे स्वामी को अपना आहार मुनि को देना अभीष्ट न हो, वह प्रकट में आपत्ति करता हो या नही, तो ऐसी स्थिति मे मुनि एक स्वामी द्वारा प्रदत्त आहार भी नही ले सकता।[५७]

गर्भवती एवं स्तनपायिनी नारी से भोजन लेने का निषेध-विधान

१३६ गुव्विणीए उवन्नत्थ विविह पाणभोयण।
भुज्जमाणं विवज्जेज्जा, भुत्तसेस पडिच्छए॥ ५४॥

१३७. सिया य समणट्ठाए, गुव्विणी कालमासिणी।
उट्ठिया वा निसीएज्जा, निसन्ना वा पुणुट्ठए॥ ५५॥

१३८. त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं॥ ५६॥

---

५५ दसवेयालिय (मुनि नथमल जी), पृ २३२

५६. (क) द्वयोर्भुञ्जतो —पालना कुर्वतो एकस्य वस्तुन स्वामिनोरित्यर्थ। · एव भुजानयो अभ्यवहारायोद्यतयोरपि योजनीय। यतो भुजि पालनेऽभ्यवहारे च वर्तते। —हारि वृत्ति, पत्र १७१
तद्दीयमान नेच्छेदुत्सर्गत, अपितु अभिप्राय द्वितीयस्य प्रत्युपेक्षेत नेत्रवक्त्रादिविकारै, किमस्येदमिष्ट दीयमान न वेति ? इष्ट चेद् गृण्हीयान्न चेन्नैवेति। —हारि वृत्ति., पत्र १७१

५७. 'आगारिंगित-चेट्ठागुणेहि, भासाविसेस-करणेहिं।
मुह-णयण-विकारेहि य, घेप्पति अतग्गतो भावो॥' —अ चू, पृ. ११०
'णाताभिप्पातस्स जदि इट्ठ तो घेप्पति, ण अण्णहा।' —वही, पृ ११०

१३९. थणगं पेज्जमाणी दारगं वा कुमारियं।
तं निक्खिवित्तु रोयंतं, आहरे पाणभोयणं ॥ ५७ ॥

१४०. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥ ५८ ॥

[१३६]—गर्भवती स्त्री के लिए (विशेषरूप से) तैयार किये गए विविध पान (पेय पदार्थ) और भोजन (भोज्य पदार्थ) यदि उसके उपभोग मे आ रहे हो, तो मुनि ग्रहण न करे, किन्तु यदि (वे पान-भोजन) उसके खाने से बचे हुए हो तो उन्हे ग्रहण कर ले ॥ ५४ ॥

[१३७-१३८]—कदाचित् कालमासवती (पूरे महीने वाली) गर्भवती महिला खडी हो और श्रमण (को आहार देने) के लिए बैठे, अथवा बैठी हो और खडी हो जाए तो वह (उसके द्वारा दिया जाने वाला) भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्प्य (अग्राह्य) होता है। अत साधु (आहार) देती हुई (उस गर्भवती स्त्री) से कह दे कि ऐसा आहार मेरे लिए कल्पनीय (ग्राह्य) नही है। ॥ ५५-५६ ॥

[१३९-१४०]—बालक अथवा बालिका को स्तनपान कराती हुई महिला यदि उसे रोता छोड़ कर भक्त-पान लाए तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय (अग्राह्य) होता है। (अत साधु) आहार देती हुई (उस स्तनपायिनी महिला) को निषेध करे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्रहण करने योग्य नही है ॥ ५७-५८ ॥

विवेचन—अहिंसा की दृष्टि से आहारग्रहण-निषेध—प्रस्तुत ५ सूत्र गाथाओ (१३६ से १४० तक) मे तीन परिस्थितियो में दात्री महिला से आहार लेने का निषेध किया गया है—

१—यदि गर्भवती स्त्री के लिए निष्पन्न आहार उसके उपभोग मे आने से पहले ही दिया जा रहा हो।

२—पूरे महीने वाली गर्भवती महिला साधु को आहार देने हेतु उठे या बैठे तो।

३—शिशु को स्तनपान कराती हुई महिला उसे स्तनपान कराना छुडा कर उसे रोता छोड कर साधु को आहार-पानी देने लगे तो।

भुञ्जमाणं विवज्जेज्जा : अभिप्राय—गर्भवती महिला के लिए जो खास आहार बना हो, साधु-साध्वी को उसके उपभोग करने से पहले वह आहार नही लेना चाहिए, क्योकि उसका खास आहार साधु या साध्वी द्वारा ले लेने से गर्भपात या मरण हो सकता है।[५८]

---

५८ इमे दोसा—परिमितमुवणीत, दिण्णे सेसमपज्जत्त ति डोहलस्साविगमे मरण, गब्भपतण वा होज्जा, तीस तस्स वा गब्भस्स सण्णीभूतस्स अपत्तिय होज्ज। —अगस्त्य चूर्णि, पृ १११

कालमासवती गर्भिणी से आहार लेने मे दोष-- जिसके गर्भ को नौवा महीना या प्रसूतिमास चल रहा हो, वह कालमासवती (पूरे महीने वाली) गर्भवती साधु को भिक्षानिमित्त उठ-बैठ करेगी तो गर्भ स्खलित होने की सभावना है। ऐसी कालमासवती के हाथ से भिक्षा लेना 'दायक' दोष है।[५९]

विशेष यह है कि जिनकल्पी मुनि कालमासिनी का विचार न करके गर्भ के आरम्भ से ही गर्भवती के हाथ से आहार ग्रहण नही करते।

स्तनपायी बालक को रोते छोडकर भिक्षादात्री से आहार लेने में दोष यह है कि बालक को कठोरभूमि पर रखने एव कठोर हाथो से ग्रहण करने से उसमे अस्थिरता आती है, वह माता के बिना भयभीत हो जाता है, इससे परितापदोष होता है। उस बालक को बिल्ली आदि कोई जानवर उठा कर ले जा सकता है।[६०]

इन तीनो परिस्थितियो मे महिला से आहार-पानी लेने का निषेध हिंसा की सभावना के कारण है। दूसरे को जरा-सा भी कष्ट मे डाल कर अपना पोषण करना सयमीजनो को इष्ट नही है। अत अहिंसक की दृष्टि से ऐसी दात्री से आहार को ग्रहण करने का निषेध है। किन्तु इन तीनो परिस्थितियो मे भी महिला साधु-साध्वी को आहार देना चाहे तो उससे निम्नोक्त रूप से लिया जा सकता है—(१) गर्भवती महिला के उपभोग के बाद बचा हुआ विशिष्ट आहार दे तो, (२) कालमासवती गर्भवती महिला बैठी हो तो बैठी-बैठी या खडी हो तो खडी-खडी ही आहार दे तो, (३) स्तनपायी बालक कोरा स्तनपायी न हो, अन्य आहार भी लेने लगा हो और उसे अलग छोड़ने पर रोता न हो और उसकी माता आहार दे तो। रुदन करते हुए शिशु को छोड कर उसकी माता आहार दे तो नही लिया जा सकता।[६१]

---

५९ (क) प्रसूतिकालमासे 'कालमासिणी'। —अग चू., पृ १११
(ख) कालमासवती—गर्भाधानान्नवममासवती। —हारि. वृ, पत्र १७१
(ग) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ. २३३

६०. (क) तस्स निक्खिप्पमाणस्स खरेहिं हत्थेहिं घेप्पमाणस्स य अपरित्तत्तणेण परितावणादोसो, मज्जाराइ व अवधरेज्जा। —जिन चूर्णि, पृ १८०
(ख) एत्थ दोसा—सुकुमालसरीरस्स करेहिं हत्थेहिं सयणीए वा पीडा, मज्जाराती वा खाणावहरण करेज्जा। —अग, चूर्णि. पृ ११२

६१ (क) "भुत्तसेस पडिच्छए।" —दसवेयालियसूत्त (मूलपाठ टिप्पण), पृ २४-२५
(ख) इह च स्थविरकल्पिकानाम् निषोदनोत्थानाभ्या यथावस्थितया दीयमान कल्पिकम्। जिनकल्पिकानां त्वापन्नसत्त्वया प्रथमदिवसादारभ्य सर्वथा दीयमान अकल्पिकमेवेति सम्प्रदाय.।
—हारि. वृत्ति., पत्र १७१
(ग) "तत्थ गच्छवासी जति थणजीवी णिक्खित्तो तो ण गेण्हति, रोयतु वा वा मा, अह अप्पं पि आहारेति, तो जति न रोवइ तो गेण्हति, अह अपियतओ णिक्खित्तो थणजीवी रोवइ तो ण गेण्हति।"
—जिनदासचूर्णि, पृ १८०

शंकित और उद्भिन्न दोषयुक्त आहारग्रहणनिषेध

१४१. ज भवे भत्तपाण तु कप्पाऽकप्पंमि सकिय ।
देंतिय पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ।। ५९ ।।

१४२. दगवारएण पिहियं नीसाए पीढएण वा ।
लोढेण वा वि लेवेण सिलेसेण व केणइ ।। ६० ।।

१४३. तं च+उब्भिदिउ देज्जा, समणट्ठाए व दायए ।
देंतिय पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।। ६१ ।।

[१४१]—जिस भक्त-पान के कल्पनीय या अकल्पनीय होने मे शका हो, उसे देती हुई महिला को मुनि निषेध कर दे कि मेरे लिए इस प्रकार का आहार कल्पनीय (ग्राह्य) नही है ।।५९।।

[१४२-१४३]—पानी के घडे से, पत्थर की चक्की (पेषणी) से, पीठ (चौकी) से, शिलापुत्र (लोढे) से, मिट्टी आदि के लेप से, अथवा लाख आदि श्लेषद्रव्यो से, अथवा किसी अन्य द्रव्य से पिहित (ढँके, लीपे या मू दे हुए) बर्तन का श्रमण के लिए मु ह खोल कर आहार देती हुई महिला को मुनि निषेध कर दे कि मेरे लिए यह आहार ग्रहण करने योग्य नही है ।।६०-६१।।

विवेचन—शंकित दोष—आहार शुद्ध (सूझता) होने पर भी कल्पनीय (एषणीय, ग्राह्य या दोषरहित) अथवा अकल्पनीय के विषय मे साधु शकायुक्त हो तो उक्त शका निर्णय किये बिना ही उसे ले लेना शकित दोष है । यह एषणा का प्रथम दोष है । अपनी ओर से आत्मसाक्षी से पूरी गवेषणा (जाच पडताल) कर लेने के बाद लिया हुआ वह आहार यदि अशुद्ध हो तो भी वह कर्मबन्ध का हेतु नही होता ।[६२]

उद्भिन्न दोष—किसी वस्तु से ढँके हुए या लेप किये हुए बर्तन का मु ह खोल कर दिया हुआ आहार उद्भिन्न दोषयुक्त होता है । यह उद्गम का १२वाँ दोष है । उद्भिन्न दो प्रकार का है—पिहित-उद्भिन्न और कपाट-उद्भिन्न । चपडी आदि से बद किये हुए बर्तन का मु ह खोलना पिहित-उद्भिन्न है, तथा बद किवाड खोलना कपाट-उद्भिन्न है । पिधान (ढक्कन) सचित्त भी होता है, अचित्त भी । पत्ते, पानी से भरे घडे आदि का ढक्कन सचित्त है । पत्थर की शिला या चक्की का ढक्कन अचित्त होते हुए भी भारी-भरकम होता है, उसे हटाने या खोलने मे हिसा, अयतना और दाता को कष्ट होने की सभावना है । कपाट चूलिये वाला हो तो उसे खोलने मे जीववध की सभावना है । अत दोनो प्रकार की भिक्षा लेने का निषेध है ।[६३]

+पाठान्तर—उब्भिदिया ।

६२ (क) पिण्डनिर्युक्ति गा ५२९-५३०
(ख) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २३४
(ग) दशवै (आचार्य श्री आत्माराम जी म), पृ. १८९

६३ (क) पिण्डनिर्युक्त गा ३४७
(ख) आचार-चूला १।९०-९१

दानार्थ-प्रकृत आदि आहार-ग्रहण का निषेध

१४४. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा दाणट्ठा पगडं इमं ।। ६२ ।।

१४५. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ।। ६३ ।।

१४६. असणं पाणग वा वि खाइमं साइमं तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा पुण्णट्ठा पगडं इमं ।। ६४ ।।

१४७. त भवे भत्तपाणं तु सजयाण अकप्पियं ।
देंतिय पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ।। ६५ ।।

१४८. असण पाणगं वा वि खाइम साइमं तहा ।
ज जाणेज्ज सुणेज्जा वा वणिमट्ठा पगड इमं ।। ६६ ।।

१४९. तं भवे भत्तपाण तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतिय पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ।। ६७ ।।

१५०. असण पाणग वा वि खाइम साइम तहा ।
जं जाणेज्ज सुणेज्जा वा समणट्ठा पगडं इम ।। ६८ ।।

१५१. त भवे भत्तपाण तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतिय पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस ।। ६९ ।।

[१४४-१४५] यदि मुनि यह जान जाए या सुन ले कि यह अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य दानार्थ तैयार किया गया है, तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय होता है। (अत मुनि ऐसा आहार) देती हुई महिला को निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य नही है। ।। ६२-३३ ।।

[१४६-१४७]—यदि साधु या साध्वी यह जान ले या सुन ले कि यह अशन, पान, खाद्य या स्वाद्य पुण्यार्थ तैयार किया गया है, तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्प्य होता है। (इसलिए भिक्षु ऐसा आहार) देती हुई उस स्त्री को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्राह्य नही है ।।६४-६५।।

[१४८-१४९]—यदि भिक्षु या भिक्षुणी यह जान ले या सुन ले कि यह अशन, पानक, खाद्य या स्वाद्य वनीपको (भिखमगो) के लिए तैयार किया गया है, तो वह भक्त-पान साधुओ के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए भिक्षु देती हुई उस महिला को निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए अग्राह्य है ।। ६६-६७ ।।

[१५०-१५१]—यदि श्रमण या श्रमणी यह जान ले कि यह अशन, पानक, खाद्य या स्वाद्य श्रमणो के निमित्त बनाया गया है तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय होता है। (इसलिए) भिक्षु आहार देती हुई, उस स्त्री को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्राह्य नही है ॥६८-६९॥

विवेचन—दानार्थ-प्रकृत आदि शब्दों का विशेषार्थ—प्रस्तुत सूत्र गाथाओ (१४४ से १५१) मे दानार्थ, पुण्यार्थ, वनीपकार्थ और श्रमणार्थ तैयार किये गए आहार को ग्रहण करने का निषेध किया गया है।

दानार्थ-प्रकृत-आहार—विदेश-प्रवास से लौट कर आने पर या किसी पर्व-विशेष या पुत्रजन्म आदि अवसरो पर बधाई देने आने वालो को प्रसादभाव से देने के लिए आहार तैयार करवाना दानार्थ-प्रकृत आहार कहलाता है। अथवा चिरकाल से विदेश-प्रवास से आकर साधुवाद पाने के लिए किसी श्रेष्ठी द्वारा समस्त पाखण्डियो को दान देने के लिए तैयार कराया गया भोजन भी दानार्थ प्रकृत है।[६४]

पुण्यार्थ-प्रकृत—पर्वतिथि के दिन धन्यवाद या प्रशसा पाने की इच्छा रखे बिना जो आहार केवल पुण्यलाभ की दृष्टि से बनाया जाता है, दाता जिसका स्वय उपभोग नही करता, वह पुण्यार्थ-प्रकृत है।

वनीपकार्थ-प्रकृत—जो दूसरो को अपनी दीनता-दरिद्रता दिखा कर, अनुकूल बोलकर दाता की खुशामद या प्रशसा करके पाता है, वह वनीपक कहलाता है, वह दीनतापूर्वक गिड-गिडाकर भीख मागने वाला याचक है। अथवा जो अपने-अपने विषय की अति प्रशसा करके महात्म्य बतला कर आशीर्वाद देकर बदले मे दान पाता है, वह वनीपक कहलाता है। इस दृष्टि से अतिथि-वनीपक, कृपण-वनीपक, ब्राह्मण-वनीपक, श्व-वनीपक और श्रमण-वनीपक ये ५ प्रकार के वनीपक स्थानागसूत्र मे बताए है। जैसे—अतिथिभक्त के सामने अतिथिदान की, ब्राह्मणभक्त के सामने ब्राह्मणदान की प्रशसा करके जो दान पाता है, वह क्रमश अतिथि-वनीपक, ब्राह्मण-वनीपक आदि कहलाता है। ऐसे वनीपको के लिए तैयार किया गया भोजन वनीपकार्थ-प्रकृत है।

श्रमणार्थ-प्रकृत—जो आहार सब प्रकार के श्रमणो को दान देने के लिए तैयार किया गया हो, वह श्रमणार्थ-प्रकृत है। पाँच प्रकार के श्रमण बताए गए है—(१) निर्ग्रन्थ, (२) सौगत, (३) तापस (जटाधारी), (४) गैरिक और (५) आजीवक (गोशालकमतानुयायी)। साधारणतया इन

---

६४ (क) दाणट्ठप्पगड—कोति ईसरो पवासागतो साधुसद्देण सव्वस्स आगतस्स सक्कारणनिमित्त दाण देति। —अ चू, पृ ११३

(ख) पुण्यार्थं प्रकृत नाम साधुवादानगीकरणेन यत्पुण्यार्थं कृतमिति। —हारि वृत्ति, पत्र १७३

(ग) परेषामात्मदु स्थत्व—दर्शनेनानुकूलभाषणतो यल्लभ्यते द्रव्य सा वनी प्रतीता ता पिबति, पातीति वेति वनीप, स एव वनीपको याचक। —स्था., ५।२०० वृत्ति

सबको देने के निमित्त से बना हुआ आहार लेने पर निर्ग्रन्थ साधु-साध्वियो को औद्देशिक दोष लगता है। अन्यो के अन्तराय का भी वह कारण होता है।[६५]

अशन-पानक-खादिम-स्वादिम : विशेषार्थ—अशन का अर्थ है—ओदन आदि अन्न, पानक का अर्थ द्राक्षा आदि से बने हुए पेयपदार्थ है। शास्त्र में साधारण जल को प्राय पानीय, सुरा आदि को पान और द्राक्षा, खजूर, फालसे और आदि से निष्पन्न जल को पानक कहा गया है।[६६]

औद्देशिकादि दोषयुक्त आहारग्रहणनिषेध

१५२ उद्देसिय कीयगड पूईकम्मं च आहडं।
अज्झोयर-पामिच्चं मीसजायं च वज्जए ॥७०॥

[१५२] (साधु या साध्वी) औद्देशिक, क्रीतकृत, पूतिकर्म, आहृत, अध्यवतर (या अध्यवपूरक) प्रामित्य और मिश्रजात, (इन दोषो से युक्त) आहार न ले ॥७०॥

विवेचन—औद्देशिक आदि पदो की व्याख्या—**औद्देशिक**—किसी एक या अनेक विशिष्ट साधुओ के निमित्त से गृहस्थ के द्वारा बनाया हुआ आहार। यह उद्गम का दूसरा दोष है। **क्रीतकृत**—साधु के लिए खरीद कर निष्पन्न किया हुआ आहार क्रीतकृत है। यह आठवाँ उद्गम दोष है। **पूतिकर्म**—विशुद्ध आहार मे आधाकर्म आहार आदि दोषो से दूषित आहार के अश को मिला कर निष्पन्न किया गया आहार। ऐसा आहार लेने से मुनियो के चारित्र मे अपवित्रता (अशुद्धि) आती है, इसलिए इसे भावपूति कहते हैं। पूतिकर्म तीसरा उद्गम-दोष है। **आहृत**—साधु या साध्वी को देने के लिए अपने घर गाँव आदि से उपाश्रय आदि स्थान मे ला कर या मगवा कर दिया जाने वाला आहार। इसे अभ्याहृत दोष भी कहते है। यह उत्पादना के दोषो मे से एक है। **अज्झोयर : अध्यवतर या अध्यवपूरक**—अपने लिए आहार बनाते समय साधुओ का गाँव मे पदार्पण या निवास जान कर और अधिक पकाया हुआ आहार **अध्यवतर** या **अध्यवपूरक** है। यह उद्गम का सोलहवाँ दोष है। **प्रामित्य**—साधु को देने के लिए कोई खाद्य पदार्थ दूसरो से उधार लेकर दिया जाने वाला आहार। यह उद्गम का नौवाँ दोष है। **मिश्रजात**—गृहस्थ अपने लिए भोजन पकाए तब उसके साथ-साथ साधु के लिए भी पका कर दिया जाने वाला आहार। यह उद्गम का चौथा दोष है। इसके तीन प्रकार है —यावदर्थिकमिश्र, पाखण्डिमिश्र और साधुमिश्र।[६७]

---

६५ (क) **श्व-श्वपाको यथा** —अविनाम होज्ज सुलभो गोणाईण तणाइ आहारो।
छिच्छिकारहयाण न हु सुलभो सुणताण ॥
केलासभवणा एए, गुज्झगा आगया महि।
चरति जक्खरूवेण, पूयाऽपूया हिताऽहिता ॥—ठा. ५।२०० वृ
(ख) श्रमणा लोकप्रसिद्धयनुरोधतो निर्ग्रन्थ-शाक्य-तापस-गैरिकाऽऽजीवकभेदेन पचधा।
—दश आ म म, भा १, पृ ४४४

६६ दशवै (आचारमणिमजूषा व्याख्या) भाग १, पृ ४३७

६७ (क) दशवै आचारमणिमजूषा टीका, भा १, पृ. ४४५-४४६
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ १९०

उद्गम दोष-निवारण का उपाय

१५३. उग्गमं से य पुच्छेज्जा, कस्सट्ठा ? केण वा कडं ? ।
सोच्चा निस्संकियं सुद्धं पडिगाहेज्ज संजए ।।७१।।

[१५३] सयमी साधु (पूर्वोक्त आहारादि के विषय मे शका होने पर) उस (शकित आहार) का उद्गम पूछे कि यह किसके लिए (या किसलिये) बनाया है ? किसने बनाया है ? (दाता से प्रश्न का उत्तर) सुनकर नि शकित और शुद्ध (एषणाशुद्ध जान कर) आहार ग्रहण करे ।।७१।।

विवेचन—उद्गमपृच्छा करके शुद्ध आहारग्रहण का विधान—आहारग्रहण करते समय साधु को आहार के विषय मे किसी प्रकार की अशुद्धि की शका हो तो उस आहार की उत्पत्ति के विषय मे दाता से पूछे कि यह आहार क्यो और किसलिए तैयार किया है ? अगर गृहस्वामी से पूर्णतया निर्णय न हो सके तो किसी अबोध बालक-बालिका आदि से पूछ कर स्पष्ट निर्णय कर ले, किन्तु शकायुक्त आहार कदापि ग्रहण न करे । पूर्णतया-नि शकित हो जाए और उक्त आहार एषणाशुद्ध हो तो ग्रहण करे । आहार के विषय मे उद्गमदोष के निवारण का उपाय इस गाथा मे बताया गया है ।[५८]

वनस्पति-जल-अग्नि पर निक्षिप्त आहारग्रहणनिषेध

१५४. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
पुप्फेसु होज्ज उम्मीसं बीएसु हरिएसु वा ।।७२।।

१५५. तं भवे भत्तपाण तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतिय पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ।।७३।।

१५६. असणं पाणगं वा वि खाइम साइमं तहा ।
उदगम्मि होज्ज निक्खित्त उत्तिंग-पणगेसु वा ।।७४।।

१५७. तं भवे भत्त-पाण तु सजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस ।।७५।।

१५८. असणं पाणगं वा वि खाइम साइमं तहा ।
अगणिम्मि* होज्ज निक्खित्तं, तं च सघट्टिया दए ।।७६।।

१५९. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ।।७७।।

१६०. असणं पाणग वा वि खाइम साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं, तं च उस्सक्किया दए ।।७८।।

---

५८ दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ १९८
*पाठान्तर—तेउम्मि हुज्ज

१६१. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥७९॥

१६२. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइम तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च ओसक्किया दए ॥८०॥

१६३. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८१॥

१६४. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च उज्जालिया दए ॥८२॥

१६५. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८३॥

१६६. असणं पाणग वा वि खाइम साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं त च पज्जालिया दए ॥८४॥

१६७. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥८५॥

१६८. असणं पाणग वा वि खाइमं साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च × निव्वाविया दए ॥८६॥

१६९. त भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतिय पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८७॥

१७०. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं, तं च उस्सचिया दए ॥८८॥

१७१. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पिय ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥८९॥

१७२. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च निस्सचिया + दए ॥९०॥

१७३. त भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥९१॥

पाठान्तर—× विज्झाविया । + उक्कड्ढिया ।

१७४. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च ओवत्तिया दए ।।९२।।

१७५. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।९३।।

१७६. असणं पाणगं वा वि खाइमं साइमं तहा ।
अगणिम्मि होज्ज निक्खित्तं तं च ओयारिया दए ।।९४।।

१७७. तं भवे भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं ।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ।।९५।।+

[१५४-१५५] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, पुष्पो से और हरित दूर्वादिको (हरियाली) से उन्मिश्र हो, तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय (अग्राह्य) होता है, इसलिए साधु देने वाली महिला से निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मैं ग्रहण नही करता ।।७२-७३।।

[१५६-१५७] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य (सचित्त) पानी पर, अथवा उत्तिग और पनक पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो, तो भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय होता है। अतएव भिक्षु उस देती हुई महिला दाता को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मै ग्रहण नही करता ।।७४-७५।।

[१५८-१५९] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर निक्षिप्त (रखा हुआ) हो तथा उसका (अग्नि का) स्पर्श (सघट्टा) करके दे, तो वह भक्त-पान सयतो के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए मुनि देती हुई (उस महिला) को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्रहण करने योग्य नही है ।।७६-७७।।

[१६०-१६१] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य अग्नि पर रखा हुआ हो और उसमे (चूल्हे मे) ईन्धन डाल कर (साधु को) देने लगे तो वह भक्त-पान संयमियो के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए मुनि देती हुई (उस महिला) से निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए ग्राह्य नही है ।।७८-७९।।

[१६२-१६३] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसमे से (चूल्हे मे से) ईन्धन निकाल कर (साधु को) देने लगे, तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए

पाठान्तर +इस निशान से +इस निशान तक की १८ गाथाओ को अन्य प्रचलित प्रतियो मे इन दो गाथाओ मे सग्रहित किया गया है—

"एव उस्सक्किया ओसक्किया उज्जालिया पज्जालिया निव्वाविया ।
उस्सिचिया निस्सिचिया ओवत्तिया ओयारिया दए ।।
त भवे भत्त-पाण तु, सजयाण अकप्पिय ।
दितिअ पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस ।।"

अकल्पनीय होता है। इसलिए भिक्षु देती हुई (उस स्त्री) को निषेध कर दे कि मेरे लिए इस प्रकार का आहार ग्रहण करने योग्य नही है ।।८०-८१।।

[१६४-१६५] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उस (अग्नि) को उज्ज्वलित (सुलगा) कर दे, तो वह भक्त-पान सयमी के लिए अकल्पनीय होता है। अत· मुनि देती हुई (उस महिला को) निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार के आहार को ग्रहण नही करता ।।८२-८३।।

[१६६-१६७] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो तथा उसे (अग्नि को) प्रज्ज्वलित (बार-बार ईंधन डाल कर अधिक आग भडका) कर (साधु को) देने लगे तो वह भक्त-पान सयमीजनो के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए साधु देती हुई उस महिला को निषेध कर दे कि ऐसा आहार मेरे लिए ग्राह्य नही है ।।८४-८५।।

[१६८-१६९] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उस (अग्नि) को बुझा कर (आहार) देने लगे, तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए भिक्षु देती हुई उस महिला को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मैं नही ले सकता ।।८६-८७।।

[१७०-१७१] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसमे से (बर्तन मे से) आहार बाहर निकाल कर देने लगे, तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय होता है। अत देती हुई उस महिला को साधु निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार का आहार ग्रहण नही करता ।।८८-८९।।

[१७२-१७३] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसमे(बर्तन मे) पानी का छीटा देकर (साधु को) देना चाहे, तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय (अग्राह्य) होता है। इसलिए देती हुई उस महिला को (साधु) निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार का आहार ग्रहण नही करता ।।९०-९१।।

[१७४-१७५] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसको (पात्र) को एक ओर टेढा करके (साधु को) देने लगे, तो वह भक्त-पान सयमियो के लिए अकल्पनीय होता है। अत देती हुई उस महिला को साधु स्पष्ट निषेध कर दे कि मैं ऐसे आहार को ग्रहण नही करता ।।९२-९३।।

[१७६-१७७] यदि अशन, पानक तथा खाद्य और स्वाद्य, अग्नि पर रखा हुआ हो और उसे(बर्तन को) उतार कर देने लगे तो, वह भक्त-पान सयमी साधु-साध्वियो के लिए अकल्पनीय होता है। इसलिए मुनि, देती हुई उस नारी को निषेध कर दे कि मेरे लिए इस प्रकार का आहार ग्रहण करने योग्य नही है ।।९४-९५।।

विवेचन—सचित्त वनस्पति-जल-अग्नि आदि से संस्पृष्ट आहार-ग्रहण-निषेध—प्रस्तुत २४ सूत्रगाथाओ (१५४ से १७७ तक) मे प्रारम्भ की ४ गाथाएँ वनस्पति और सचित्त जल से संस्पृष्ट

आहारग्रहण-निषेधक है, तत्पश्चात् २० गाथाएँ अग्निकाय से सस्पृष्ट आहारग्रहण का निषेध प्रतिपादित करने वाली है।

पुष्पादि से उन्मिश्र व्याख्या—उन्मिश्र, एषणा का सप्तम दोष है। साधु के लिए देय अचित्त आहार मे न देने योग्य सचित्त वनस्पति आदि का मिश्रण करके या सहज ही मिश्रित हो वैसा दिया जाने वाला आहार उन्मिश्र दोषयुक्त कहलाता है। जैसे—पानक मे गुलाब और जाई आदि के फूल मिले हुए हो, धानी के साथ सचित्त गेहू आदि के बीज मिले हो अथवा पानक मे दाडिम आदि के बीज मिले हो। खाद्य-स्वाद्य भी पुष्प आदि वनस्पति से मिश्रित हो सकते है। इन सबसे मिश्रित आहार सचित्त-सस्पृष्ट होने मे पूर्ण अहिंसक के लिए ग्राह्य नही है।[६९]

उत्तिंग एवं पनक : अर्थ और दोष का कारण—उत्तिंग का अर्थ है—कीडीनगर और पनक का अर्थ है—काई या लीलण-फूलण। इन दोनो पर रखा हुआ किसी भी प्रकार का आहार साधु लेता है तो उसके निमित्त से की टिकानगरस्थ जीवो तथा काई के जीवो की विराधना होती है। इसलिए इन पर रखा हुआ आहार ग्रहण करने का निषेध किया गया है।[७०]

निक्षिप्त दोष : व्याख्या एव प्रकार—किसी भी प्रकार के सजीव पृथ्वीकायादि पर रखा हुआ एव साधु को दिया जाने वाला आहारादि पदार्थ निक्षिप्त दोषयुक्त होता है। निक्षिप्त दो प्रकार का होता है—अनन्तरनिक्षिप्त और परम्परनिक्षिप्त। सचित्त जल मे नवनीत आदि का रखना अनन्तरनिक्षिप्त है और चीटी आदि के लग जाने के डर से जलपात्र मे घृत, दधि आदि का बर्तन रखना परम्परनिक्षिप्त है। जहाँ जल, अग्नि एव वनस्पति आदि के आहार का सीधा सम्बन्ध हो, वहाँ वह अनन्तरनिक्षिप्त और जहाँ आहार के बर्तन के साथ जल आदि का सम्बन्ध एक या दूसरे प्रकार से होता हो, वहाँ वह आहार परम्परनिक्षिप्त दोषयुक्त है। 'निक्षिप्त' ग्रहणैषणा दोष है।[७१]

संघट्टित आदि दोष : अग्निकाय-विराधनाकारक—(१) **सघट्टिका**—साधु को भिक्षा दू, उतने समय मे रोटी जल न जाए, ऐसा सोच कर तवे पर से रोटी को उलट कर या ईधन को हाथ, पैर आदि से छूकर आहार देना सघट्टित दोष है। (२) **उस्सक्किया**—भिक्षा दू, इतने में चूल्हा बुझ न जाए, इस विचार से उसमें ईधन डाल कर आहार देना उत्ष्वस्क्य दोष है। (३) **ओसक्किया**—भिक्षा दू, इतने मे कोई वस्तु जल न जाए, इस विचार से चूल्हे मे से ईधन निकाल कर आहार देना अवष्वस्क्य दोष है। (४) **उज्जालिया**—नये सिरे से झटपट चूल्हा सुलगाकर ठडे आहार को गर्म करके देना उज्ज्वलित दोष है, (५) **पज्जालिया**—बार-बार चूल्हे को प्रज्वलित कर आहार बना कर देना प्रज्वलित दोष है। (६) **निव्वाविया**—भिक्षा दू, इतने मे कोई चीज उफन न जाए, इस डर से चूल्हा बुझा कर आहार देना, निर्वापित दोष है। (७) **उस्सिंचिया**—अग्नि पर रखे हुए एव अधिक भरे हुए पात्र मे से आहार बाहर निकल न जाए, इस भय से बाहर निकाल कर आहार देना उत्सिचन

---

६९ (क) जिनदास. चूर्णि, पृ १८२ (ख) अगस्त्य. चूर्णि, पृ ११४

७० (क) उत्तिंगो कीडियानगर। पणओ उल्ली। —अ चू, पृ ११४
(ख) दशवै. (आ आत्मा), पृ. २०१

७१. निक्खित्त अणतर परम्पर च। —अ. चू., पृ १२४

दोष है। (८) **निस्सिचिया**—उफान के डर से पानी का छीटा अग्नि पर रखे बर्तन में देकर आहार देना निःसिंचन दोष है। (९) **ओवत्तिया**—अग्नि पर रखे पात्र को एक ओर झुका कर आहार देना अपवर्त्तित दोष है। (१०) **ओयारिया**—साधु को भिक्षा दूँ, इतने मे जल न जाए[७३] इस विचार से अग्नि पर रखे बर्तन को नीचे उतार कर आहार देना अवतारित दोष है।

अस्थिर शिलादि-संक्रमण करके गमननिषेध और कारण

❀१७८. होज्ज कट्ठं सिलं वा वि इट्टालं वा वि एगया।
ठवियं संकमट्ठाए तं च होज्ज चलाचलं ॥९६॥

१७९. न तेण भिक्खू गच्छेज्जा, दिट्ठो तत्थ असंजमो।
गंभीरं झुसिरं चेव सव्विंदियसमाहिए ॥९७॥

[१७८-१७९] (यदि) कभी (वर्षा आदि के समय मे) काठ (लक्कड), शिला या ईंट संक्रमण (मार्ग पार करने) के लिए रखे (स्थापित किये) हुए हों और वे चलाचल (अस्थिर) हो, तो सर्वेन्द्रिय-समाहित भिक्षु उन पर से होकर न जाए। इसी प्रकार प्रकाशरहित (अंधेरे) और पोले (अन्तःसार-रहित) (मार्ग) से भी न जाए। भगवान् ने उसमे (ऐसे मार्ग से गमन करने मे) असयम देखा है ॥९६-९७॥

विवेचन—मार्गविवेक—वर्षाऋतु मे अतिवृष्टि के कारण कई बार रास्ते मे मड्ढे पड़ जाते है, अथवा छोटा तथा सूखा नाला पानी से भर जाता है, तब ग्रामीण लोग उसे पार करने के लिए लकडी का बडा लट्ठा, शिला, पत्थर या ईट रख देते है। ये प्राय अस्थिर होते है। उनके नीचे कई जीव आश्रय ले लेते है, अथवा वे सचित्त जल पर रखे होते हैं। उन पर पैर रख कर जाने से उन जीवो की हिंसा होने की सम्भावना है, अथवा पैर फिसल जाने से गड्ढे मे गिर पडने की सम्भावना है। इस प्रकार परविराधना और आत्मविराधना, दोनो असयम के हेतु है। इस प्रकार अंधेरे या पोले मार्ग से जाने मे भी दोनो प्रकार के असयम होने की सम्भावना है। इसलिए इस प्रकार सक्रमण कर गमन करने का निषेध किया गया है।[७४]

---

७३ (क) जिन. चूर्णि, पृ. १८२ (ख) अ. चू., पृ ११५ (ग) हारि वृत्ति, पत्र १७५

❀ **पाठान्तर**—सूत्रगाथा १७८ से लेकर १८२ तक पाच सूत्रगाथाओ के स्थान मे अगस्त्य चूर्णि मे ये तीन गाथाएँ मिलती हैं—

गभीर झुसिर चेव सव्विंदियसमाहिते।
णिस्सेणी फलग पीठ उस्सवेत्ताण आरुहे ॥१॥
मच्च खील च पासाय समणट्ठाए दायगे।
दुरुहमाणे पवडेज्जा हत्थ पाय विलूसए ॥२॥
पुढविक्काय विहिंसेज्जा, जे वा तण्णिस्सिया जगा।
तम्हा मालोहड भिक्ख न पडिगाहेज्ज सजते ॥३॥

७४. दशवै. (आचारमणिमञ्जूषा टीका) भा १, पृ. ४५८

'मालापहृत' दोषयुक्त आहार अग्राह्य

१८०. निस्सेणिं फलगं पीढं उस्सवित्ताणमारुहे।
मंचं कीलं च पासायं, समणट्ठाए व दावए ॥९८॥

१८१. दुरूहमाणी पवडेज्जा, हत्थं पायं व लूसए।
पुढविजीवे विहिंसेज्जा, जे य तन्निस्सिया जगा ॥९९॥

१८२. एयारिसे महादोसे जाणिऊण महेसिणो।
तम्हा मालोहडं भिक्खं न पडिगेण्हंति संजया ॥१००॥

[१८०-१८१-१८२] यदि आहारदात्री श्रमण के लिए निसैनी, फलक (पाटिया) या पीठ (चौकी) को ऊँचा करके मच (मचान), कीलक (खूंटी, खीला या स्तम्भ) अथवा प्रासाद पर चढे, (और वहाँ से भक्त-पान लाए तो साधु या साध्वी उसे ग्रहण न करे), क्योंकि निसैनी आदि द्वारा दु खपूर्वक चढती हुई (वह स्त्री) गिर सकती है, उसके हाथ-पैर आदि टूट सकते हैं। (उसके गिरने से नीचे दब कर) पृथ्वी के जीवो की तथा पृथ्वी के आश्रित रहे हुए त्रस जीवो की हिंसा हो सकती है। अत ऐसे महादोषो को जान कर सयमी महर्षि मालापहृत (-दोषयुक्त) भिक्षा नही ग्रहण करते ॥९८-९९-१००॥

विवेचन—मालापहृत : स्वरूप और प्रकार—प्राचीनकाल मे नमी, सीलन अथवा जीव-जन्तु और चीटी, चूहा, दीमक आदि से बचाने के लिए खाद्य-पदार्थों को मच या पडछित्ती आदि पर, अथवा किसी ठडे बर्तन या कोठी आदि मे या भूमिगृह या तहखाने मे रखते थे, इस प्रकार के विषम स्थान मे कष्ट से पहुँच कर लाया हुआ आहार मालापहृत दोषयुक्त है। इसके तीन प्रकार है—(१) ऊर्ध्व-मालापहृत, (२) अधो-मालापहृत और (३) तिर्यग्-मालापहृत। यहाँ केवल ऊर्ध्वमालापहृत का उल्लेख है। पिछली सूत्रगाथाओ मे अधोमालापहृत और तिर्यग्मालापहृत दोष की झाकी **'गंभीरं झुसिरं चेव'** इन दो पदों से दी है। प्रस्तुत गाथाओ मे नि श्रेणी, फलक और पीठ ये तीन मच और प्रासाद पर चढने के साधन हैं और मच आदि तीन आरोह्य स्थान है।

मंच : दो अर्थ—(१) शयन करने की खाट (माचा) और (२) चार लट्ठो को बाँध कर बनाया हुआ मचान, अथवा लटान या टाड।

कील : तीन अर्थ—(१) खीला या खूंटी, (२) खम्भा—स्तम्भ और (३) भूमि के साथ लगे हुए खम्भे पर रखा हुआ काष्ठ फलक।[७५]

---

७५ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमल जी), पृ. २४१-२४२
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्माराम जी), पृ. २०५
(ग) एत भूविरादिसु महेमालोहड। मंचो सयणीयं चडणमचिका वा। खीलो भूमिसमाकोट्टित कट्ठं। पासादो समालको घरविसेसो। एताणि समणट्ठाए दाया चडेज्जा। —अगस्त्य. चूर्णि, पृ. ११७

आमक वनस्पति-ग्रहणनिषेध

१८३. कंदं मूलं पलंबं वा आमं छिन्नं च सन्निरं।
तुंबागं सिंगबेरं च आमगं परिवज्जए ॥१०१॥

[१८३] (साधु-साध्वी) अपक्व कन्द, मूल, प्रलम्ब (ताड आदि लम्बा फल), छिला हुआ पत्ती का शाक, घीया (लौकी) आदि अदरक ग्रहण न करे ॥१०१॥

विवेचन—आमक कन्द आदि : अर्थ और अग्राह्यता का कारण—आमक—कच्चे (अपक्व) कन्द—सूरण आदि। मूल—मूला आदि। फल—आम आदि के कच्चे फल। सन्निर—वथुआ, चदलिया, पालक आदि का छिला हुआ पत्तीवाला साग (पत्रशाक)। तुम्बाक—जिसकी त्वचा म्लान हो गई हो, किन्तु अदर का भाग अम्लान हो, वह तुम्बाक कहलाता है। हिन्दी मे इसे कद्दू, घीया, लौकी या राम-तरोई कहते है। बगला मे लाऊ कहते हैं। शृगबेर—अदरक। ये जब तक शास्त्रपरिणत न हो, तब तक भले ही कटे हुए या टुकडे किये हुए हो, सचित्त कहलाते है। इस कारण अग्राह्य है।[७६]

सचित्त रज से लिप्त वस्तु भी अग्राह्य

१८४. तहेव सत्तु-चुण्णाइं कोल-चुण्णाइ आवणे।
सक्कुलिं फाणियं पूयं, अन्नं वा वि तहाविहं ॥१०२॥

१८५. विक्कायमाणं पसढ, रएण परिफासियं।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१०३॥

[१८४-१८५] इसी प्रकार जौ आदि सत्तु का चूर्ण (चून), बेर का चूर्ण, तिलपपडी, गीला गुड (राब), पूआ तथा इसी प्रकार की अन्य (लड्डू, जलेबी आदि) वस्तुएँ, जो दूकान मे बेचने के लिए, बहुत समय से खुली हुई हो और (सचित्त) रज से चारो ओर स्पृष्ट (लिप्त) हो, तो साधु देती हुई उस स्त्री को निषेध कर दे कि मैं इस प्रकार का आहार ग्रहण नही करता ॥१०२-१०३॥

विवेचन—सचित्त रज से भरी बाजारू वस्तु-ग्रहण निषेध—प्रस्तुत दो सूत्र गाथाओ (१८४-१८५) मे बाजार मे बिकने के लिए हलवाइयो आदि की दुकानो पर अनेक दिनो से खुले मे रखी हुई एव रज से लिपटी वस्तुओ के लेने का निषेध किया गया है। इन्हे लेने का निषेध इसलिए किया गया है कि ऐसी वस्तुओ पर केवल सचित्त रज ही नही, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती है, कीडे और चीटियाँ चारो ओर चढी होती है, वे मर भी जाती है, कई बार बहुत दिनो से पडी हुई गीली खाद्य वस्तुओ मे लीलण-फूलण जम जाती है। वे अन्दर से सड जाती है, तो उनमे लट, धनेरिया आदि कीडे पड जाते

---

७६. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. २०८
(ख) दशवै. (सतबालजी), पृ ५५
(ग) 'सन्निरं' पत्तसाग पत्रशाकम्, —हारि. वृ., पत्र १७६
(घ) 'तुंबाग ज तयाए मिलाणमभिलाणं अतो त्वम्लानम्।'—अ. चूर्णि, पृ. १८४
(ङ) 'अलाबु. कथिता तुम्बी द्विधा दीर्घा च वर्तुला।' —शालिग्राम निघण्टु, पृ ८९०

हैं। ऐसी गदी और सडी-गली चीजो का सेवन करने से हिंसा के अतिरिक्त साधु-साध्वी को अनेक बीमारियाँ होने की सम्भावना भी है।

'सत्तु-चुण्णाइं' आदि पदो का अर्थ—सत्तु-चुण्णाइं—सत्तू और चून, सत्तू। **कोल-चुण्णाइं**—बेर का चूर्ण अथवा सत्तू। **सक्कुलिं**—(१) तिलपपडी, (२) सुश्रुत के अनुसार—शष्कुली-कचौरी। **पसढं**—(१) **प्रसह्य**—अनेक दिनो तक रखी हुई होने से प्रकट या प्रकट (खुले) मे रखे हुए, (२) **प्रशठ**—बहुत दिनो से रखे हुए होने से सडे हुए, (३) **प्रसृत**—बहुत दिनो तक न बिकने के कारण यो ही पड़े हुए।[७७]

बहु-उज्झितधर्मा फल आदि के ग्रहण का निषेध

१८६. बहु-अट्ठियं पोग्गलं □ अणिमिसं वा बहुकंटय।
अच्छियं + तेंदुयं बिल्लं उच्छुखंडं च सिंबलिं ॥१०४॥

१८७. अप्पे सिया भोयणजाए बहु उज्झियधम्मए।*
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥१०५॥

[१८६-१८७] बहुत अस्थियो (बीजो या गुठलियो) वाला पुद्गल (फल), बहुत-से काटो वाला अनिमिष (अनन्नास) फल, आस्थिक (सेहजन की फली), तेन्दु, बेल, (बिल्बफल), गन्ने के टुकडे (गडेरियाँ) और सेमली की फली (अथवा फली), जिनमे खाद्य (खाने का) अश कम हो और त्याज्य अश बहुत अधिक हो, (अर्थात् फेकना अधिक पडे) (—उन सब फल आदि को) देती हुई स्त्री को मुनि स्पष्ट निषेध कर दे कि इस प्रकार का (फल आदि आहार) मेरे लिए ग्रहण करना योग्य नही है ॥१०४-१०५॥

विवेचन—खाद्यांश कम, त्याज्यांश अधिक वाले फलादि अग्राह्य—प्रस्तुत दो सूत्रगाथाओ मे बहुत काटो वाले, बहुत-से बीजो या गुठलियो वाले तथा अन्य फलियो आदि अग्राह्य पदार्थों का उल्लेख किया गया है, जिनमे खाने का भाग कम और फेकने का भाग अधिक हो।

बहुअट्ठिय आदि पदों का अर्थ—जैन साधु-साध्वियो के हिंसा का तीन करण तीन योग से त्याग होता है। वे ऐसी वस्तुओ का उपयोग कतई नही करते है, जो त्रस जीवो के वध से निष्पन्न हो।

---

७७. (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. २१०
(ख) 'सत्तुया जवातिधाणाविकारो, 'चुण्णाइ' अण्णे पिट्ठविसेसा।' —अ. चू, पृ १७७
'सक्तुचूर्णान्' —सक्तून्। —हारि टीका, पत्र १७६
(ग) 'कोलाणि—बदराणि' तेसिं चुण्णो—कोलचुण्णाणि।' —जिन चूर्णि, पृ १८४
'कोलचूर्णान्—बदरसक्तून्।' —हारि वृत्ति, पत्र १७६
(घ) 'सक्कुली तिलपप्पडिया।' —अग. चूर्णि, पृ ११७ (ङ) सुश्रुत २६७
(च) 'प्रसह्य'—अनेकदिवसस्थापनेन प्रकटम्। —हा वृ, पत्र १७६
'पसढमिति पच्चक्खात तद्दिवस विक्कत व गत।' —अ चू, पृ ११८
'त पसढ नाम ज बहुदेवसिय दिणे-दिणे विक्कायते त।' —जि चू, पृ १८४

पाठान्तर—□ पुग्गल। + अत्थिय। * बहु-उज्झण-धम्मिए।

त्रस जीवो के वध से निष्पन्न वस्तुओ का उपयोग तो दूर रहा, वे ऐसी वस्तु का उपयोग भी नही करते जिसमे पहले, तत्काल, पीछे या लेते समय किसी भी एकेन्द्रिय जीव की विराधना हो। इसलिए यहाँ जो अस्थि का अर्थ हड्डी करके तथा काटे का अर्थ मछली का काटा करके इस पाठ का मास-मत्स्य-परक अर्थ करते हैं वह कथमपि सगत नही है। निघण्टुकोष आदि के अनुसार इन शब्दों का अर्थ वनस्पतिपरक होता है और यही प्रकरणसगत है। यथा—**बहु-अट्ठियं पोग्गलं**—जिनमे बहुत-से बीज या गुठलियाँ हो, ऐसे फलो का पुद्गल (भीतर का गूदा)। निघण्टु मे 'सीताफल' का नाम 'बहुबीजक' भी है। कोष मे भी फल के बीज के अर्थ मे 'अस्थि' शब्द का प्रयोग हुआ है। **अणिमिस वा बहुकंटयं**—बहुत काटो वाला अनन्नास फल, अथवा अनिमिष का अर्थ अनन्नास और बहुकटय का अर्थ—बहुत कांटो वाला कटहल। कटहल के छिलके मे सर्वत्र काटे ही काटे होते हैं। दोनो बहुकण्टक है। अनन्नास मे काटे कम और तीखे होते है, जबकि कटहल के छिलके मे बहुत काटे होते है।

अच्छियं : अस्थिय : दो रूप : दो अर्थ—(१) **अक्षिक**—अक्षिक एक प्रकार का रजक फल होता है। अक्षिकी एक बेल भी होती है, जिसका फल कफ-पित्तनाशक, खट्टा, एव वातवर्द्धक होता है। (२) **अस्थिक**—वृत्ति के अनुसार बहुत बीजक वनस्पति के प्रकरण मे, भगवती और प्रज्ञापना मे अस्थिक शब्द प्रयुक्त हुआ है। इसे हिन्दी मे अगस्तिया, अगथिया, हत्थिया या हदगा कहते है। इसके फूल और फली होते है। **तेंदुय : तिन्दुक विशेषार्थ**—तेन्दू का अर्थ टीबरू होता है। यह फल पकने पर नीबू के समान पीले रग का होता है। पूर्वी बगाल, बर्मा आदि के जगलो मे पाया जाता है। **सिबलि : दो अर्थ**—(१) देशी नाममाला के अनुसार **शाल्मलि** (सेमल), (२) सिबलि—सीगा (फली) अथवा वल्ल (वाल) आदि की फली।[७८]

---

७८ (क) दशवैकालिक (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ. ४६५-४६६
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ५६ (ग) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. २१२
(घ) 'सीताफल गण्डमात्र वैदेहीवल्लभ तथा।
कृष्णबीज चाग्निमाख्यमातृप्य बहुबीजकम् ॥' —निघण्टुकोष
(ङ) 'फलबीजे पुमानष्ठि'। —शब्दकल्पद्रुम
(च) अणिमिस त्रि (अनिमेष)—पलक न मारा हुआ और वनस्पतिविशेष।
—अर्धमागधी कोष, प्रथम भाग, पृ १८१

(छ) 'अस्थिक'—अस्थिकवृक्षफलम्।
(ज) शालिग्रामनिघण्टु भू, पृ ५२३। (झ) 'अच्छिय।' —जिन चूर्णि, पृ १८४
(ञ) पित्तश्लेष्मघ्नमम्ल च वातल चाक्षिकीफलम्। —चरकसूत्र २७।१६०
(ट) तिंदुय—टिंबरुय।—जि चू, पृ १८४ (ठ) नालदा विशाल शब्दसागर
(ड) सामरी-सिंबलिए,— सामरी शाल्मलि। —देशीनाममाला ८।२३
(ढ) 'सिंबलि —सिंगा।'—जि चू, पृ. १८४ (ण) 'शाल्मलि वा वल्लादिफलिम्।'

बहु-उज्झन-धर्मक—जिनमें खाद्यांश कम हो और त्याज्यांश अधिक हो ऐसे फल या फलिया। ये सब पक्व होने पर भी ग्राह्य नही होते।[७९]

पान-ग्रहण-निषेध-विधान

१८८. तहेवुच्चावयं पाणं अदुवा वारधोवणं।
संसेइमं चाउलोदगं अहुणाधोयं विवज्जए ॥१०६॥

१८९. जं जाणेज्ज चिराधोयं मईए दंसणेण वा।
पडिपुच्छिऊण सोच्चा वा, जं च निस्संकियं भवे ॥१०७॥

१९०. अजीवं परिणयं नच्चा पडिगाहेज्ज संजए।
अह संकियं भवेज्जा आसाइत्ताण रोयए ॥१०८॥

१९१. "थोवमासायणट्ठाए हत्थगम्मि दलाहि मे।"
मा मे अच्चंबिलं पूइं नालं तण्हं विणेत्तए ॥१०९॥

१९२. तं च अच्चंबिलं पूइं नालं तण्हं विणेत्तए।
देंतियं पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिसं ॥११०॥

१९३. तं च होज्ज अकामेणं विमणेण पडिच्छियं।
तं अप्पणा न पिबे, नो वि अन्नस्स दावए ॥१११॥

१९४. एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिया।
जयं परिट्ठवेज्जा परिठप्प पडिक्कमे ॥११२॥

[१८८] इसी प्रकार (जैसे अशन के विषय में कहा है, वैसे ही) उच्चावच (अच्छा और बुरा) पानी, अथवा गुड के घडे का धोवन, आटे का धोवन, चावल का धोवन, इनमे से यदि कोई तत्काल का धोया हुआ (धौत) हो, तो मुनि उसे ग्रहण न करे ॥१०६॥

[१८९-१९०] यदि अपनी मति और दृष्टि से, पूछ कर अथवा सुन कर जिस धोवन को जान ले कि यह बहुत देर का धोया हुआ है तथा निःशकित हो जाए तो जीवरहित (प्रासुक) और परिणत (शस्त्रपरिणत) जान कर सयमी मुनि उसे ग्रहण करे। यदि यह जल मेरे लिए उपयोगी होगा या नही ? इस प्रकार की शका हो जाए, तो फिर उसे चख कर निश्चय करे ॥१०७-१०८॥

[१९१] (चख कर निश्चय करने के लिए वह दाता से कहे—) 'चखने के लिए थोडा-सा यह पानी मेरे हाथ मे दो।' यह पानी बहुत ही खट्टा, दुर्गन्धयुक्त है और मेरी तृषा (प्यास) बुझाने मे असमर्थ होने से मेरे लिए उपयोगी न हो तो मुझे ग्राह्य नही ॥१०९॥

---

७९ '' एताणि सत्थो व हताणि वि अन्न मि समुदाणे फासुए लब्भमाणे ण गिण्हियव्वाणि।'

—जिन चूर्णि, पृ. १८४-१८५

[१९२] (चखने के बाद प्रतीत हो कि—) यह जल बहुत ही खट्टा, दुर्गन्धयुक्त और प्यास बुझाने में असमर्थ है, तो देती हुई उस महिला को मुनि निषेध कर दे कि इस प्रकार का धोवन-जल मैं ग्रहण नही कर सकता ॥११०॥

[१९३] यदि वह धोवन-पानी अपनी अनिच्छा से अथवा अन्यमनस्कता (असावधानी) से ग्रहण कर लिया गया हो तो, न तो उसे स्वय पीए और न ही किसी अन्य साधु को पीने को दे ॥१११॥

[१९४] वह (उस धोवन को लेकर) एकान्त मे जाए, वहाँ अचित्त भूमि को देख (प्रतिलेखन) करके यतनापूर्वक उसे प्रतिष्ठापित कर दे (परिठा दे)। परिष्ठापन करने के पश्चत् स्थान मे आकर वह (मुनि) प्रतिक्रमण करे ॥११२॥

विवेचन—जल के अग्रहण, ग्रहण और परिष्ठापन की विधि—मुनि को प्यास बुझाने के लिए अचित्त पानी की आवश्यकता होती है। सचित्त पानी वह ले नही सकता। आचारागसूत्र में २१ प्रकार का प्रासुक और एषणीय पान साधु-साध्वियो के लिए ग्राह्य बताया है, किन्तु कोई गृहस्थ दाता चावल, आटे या गुड आदि के घडे का तत्काल धोया हुआ पानी साधु-साध्वी को देना चाहे तो उसे तब तक वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्श में परिवर्तन तथा शास्त्रपरिणत न जान कर सचित्त समझ कर न ले। किन्तु अपनी बुद्धि एव ऊहापोह एव पूछताछ करके देख-सुन कर यह निश्चय कर ले कि यह धोवन काफी देर का धोया हुआ है तब वह उसे ग्रहण कर ले। किन्तु कदाचित् वह धोवन अत्यन्त खट्टा, बदबूदार एव प्यास बुझाने मे अनुपयोगी हो और असावधानी से, अनिच्छा से ले लिया गया हो, तो न स्वय पीए और न दूसरो को पीने को दे। किन्तु एकान्त मे विधिपूर्वक उसका परिष्ठापन कर दे।

आचारांग मे वर्णित धोवन—आम, अबाडग, कपित्थ (कैथ), बिजौरे आदि का वर्णादि से परिणत धोवन लेने का आचाराग मे तथा मूलाचार मे विधान है।[८०]

'उच्चावयं' आदि कठिन शब्दों के अर्थ—उच्चावय : उच्चावच शब्दशः अर्थ है—ऊँच और नीच। जलप्रकरण के सन्दर्भ मे इनका अर्थ होगा—अच्छा (श्रेष्ठ) और बुरा (निकृष्ट)। अर्थात्—जिसके वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श अच्छे (सुन्दर) हो, वह उच्च और जिसके वर्णादि श्रेष्ठ न हो, वह अवचपान कहलाता है। जैसे—द्राक्षा का धोवन उच्च जल है और जो अत्यन्त खट्टा, दुर्गन्धयुक्त, अति स्निग्धतायुक्त तथा वर्ण से भी असुन्दर हो, वह अवच है, जो साधु के लिए अग्राह्य है। उच्चावच का अर्थ 'नाना प्रकार' भी होता है। **वार-धोवणं**—'वार' घडे को कहते हैं। गुड, राब आदि से लिप्त

---

८०. (क) आचारागसूत्र
(ख) तिलल-तडुल-उसणोदय-चणोदय-तुसोदय-अविद्धत्थ।
अण्णं तहाविह वा अपरिणद णेव गेण्हिज्जा ॥ —मूलाचार (वट्टकेर आचार्यकृत), गा. ४७३

घडे का धोवन वार-धोवन है। **ससेइमं : दो अर्थ**—(१) आटे का धोवन, (२) उबाली हुई भाजी या साग जिसे ठडे जल से सीचा जाए, वह धोवन।[८१]

अहुणाधोय: अधुनाधौत—तत्काल का धोवन, जिसका स्वाद न बदला हो, जिसकी गन्ध न बदली हो, जिसका रग न बदला हो, विरोधी शस्त्र द्वारा जो अचित्त न हुआ हो, वह अप्रासुक (सजीव) होने से मुनि के लिए अग्राह्य है। **चिराधोयं : चिरधौत**—जो प्रासुक (निर्जीव) हो गया हो, वह चिरधौत जल मुनि के लिए ग्राह्य है। अर्थात्—जो वर्णादि परिणत (परिणामान्तर प्राप्त) हो गया हो। परम्परा के अनुसार जिस धोवन को अन्तर्मुहूर्त काल न हुआ हो, वह ग्राह्य नही है।[८२]

परिष्ठापनयोग्य धोवन—जो आरनाल आदि का अत्यन्त अम्ल (खट्टा), देर तक रखा रहने से दुर्गन्धयुक्त हो और जिससे प्यास न बुझे, ऐसा धोवन ग्रहण नही करना चाहिए। कदाचित् अति भक्तिवश किसी श्रावक ने दे दिया हो या साधु ने उतावली मे ले लिया हो, तो उस धोवन को न स्वय पीए, न ही दूसरे साधुओ को पिलाए, किन्तु एकान्त निरवद्य अचित्त स्थान मे यतनापूर्वक तीन वार बोसिरे-बोसिरे कह कर परिष्ठापन कर दे और बाद मे स्थान मे आकर ईर्यापथिक की विशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण करना चाहिए। इसीलिए कहा गया है –**"परिठप्प पडिक्कमे।"**

तण्हं विणित्तए नालं—तृषा-निवारण करने मे असमर्थ, प्यास बुझाने मे अयोग्य।[८३]

परिभोगेषणा-विधि

भोजन करने की आपवादिक विधि

१९५. सिया य गोयरग्गगओ इच्छेज्जा परिभोत्तुयं।□
***कोट्ठगं भित्तिमूलं वा पडिलेहित्ताण फासुयं ॥११३॥**

---

८१. (क) उच्च वर्णाद्युपेत द्राक्षापानादि, अवच वर्णादिहीन पूत्यारनालादि। —हा. वृ, पत्र १७७
(ख) उच्चावय अणेगविध—वण्ण-गध-रस-फासेहिं हीण-मज्झिममुत्तम। —अ चू, पृ. ११८
(ग) 'सो य गुल-फाणितादि भायण, तस्स धोवण वारधोवण।' —जिन चू, पृ. १८५
(घ) 'सस्वेदज पिष्टोदकादि।' —हारि वृत्ति, पत्र १७७
(ङ) जम्मि किंचि सागादी ससेदेत्ता सित्तोसित्तादि कीरति त ससेइम।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ ११९

८२ (क) अहुणाधोय अणबिल अव्वोक्कत अपरिणय अविद्धत्थ अफासुय अणेसणिज्ज ति मण्णमाणे लाभे सते णो पडिगाहिज्जा। —आचा चू, १।९९
(ख) 'आउक्कायस्स चिरेण परिणामो' त्ति मुद्दियापाणग पक्खित्तमेत्त बालगे वा धोयमेत्ते, सागे वा पक्खित्तमेत्ते, अभिणवधोतेसु चाउलेसु।' —अगस्त्यचूर्णि, पृ ११९
(ग) अह पुण एव जाणेज्जा चिराधोय अबिलं वोक्कत, परिणत विद्धत्थ फासुय जाव पडिगाहेज्जा। —आचाराग चू., १।९९
(घ) दशवै (आचारमणिमजूषा), भा १, पृ ४६८

८३ (क) अचित्त नाम ज सत्थोवहय अचित्त। —जि. चू, पृ १८६
(ख) परिट्ठवेऊण उवस्सयमागतूण ईरियावहियाए पडिक्कमेज्जा। —जि. चू., पृ. १८६-१८७

पाठान्तर—□ परिभुत्तुं। * कुड्डग।

१९६. अणुन्नवेत्तु+ मेहावी पडिच्छन्नम्मि संवुडे ।
हत्थगं संपमज्जित्ता तत्थ भुंजेज्ज संजए ॥११४॥

१९७. तत्थ से भुंजमाणस्स अट्ठियं कंटओ सिया ।
तण-कट्ठ-सक्करं वा वि, अन्नं वा वि तहाविहं ॥११५॥

१९८. तं उक्खिवित्तु न णिक्खिवे, आसएण न छड्डुए ।
हत्थेण तं गहेऊण एगंतमवक्कमे ॥११६॥

१९९. एगंतमवक्कमित्ता अचित्तं पडिलेहिया ।
जय परिट्ठवेज्जा, परिट्ठप्प पडिक्कमे ॥११७॥

[१९५-१९६] गोचराग्र के लिये गया हुआ भिक्षु कदाचित् (ग्रहण किये हुए आहार का) परिभोग (सेवन) करना चाहे तो वह मेधावी मुनि प्रासुक कोष्ठक या भित्तिमूल (भीत के निकटवर्ती स्थान) का अवलोकन (प्रतिलेखन) कर, (उसके स्वामी या अधिकारी की) अनुज्ञा (अनुमति) लेकर किसी आच्छादित (अथवा छाये हुए) एव चारो ओर से सवृत स्थल मे अपने हाथ को भलीभाँति साफ करके वहाँ भोजन करे ॥११३-११४॥

[१९७-१९८] उस (पूर्वोक्त विशुद्ध) स्थान मे भोजन करते हुए (मुनि के आहार मे) गुठली (या बीज), काटा, तिनका, लकडी का टुकडा, ककड या अन्य कोई वैसी (न खाने के योग्य) वस्तु निकले तो उसे निकाल कर न फेके, न ही मुह से थूक कर गिराए, किन्तु (उसे) हाथ मे लेकर एकान्त मे चला जाए ॥११५-११६॥

[१९९] और एकान्त मे जाकर अचित्त (निर्जीव) भूमि देख (प्रतिलेखन) कर यतनापूर्वक उसे परिष्ठापित कर दे । परिष्ठापन करने के बाद (अपने स्थान मे आकर) प्रतिक्रमण करे ॥११७॥

विवेचन—सामान्य विधि और आपवादिक विधि—सामान्यतया साधु या साध्वी को भिक्षाचर्या करने के पश्चात् उपाश्रय या अपने स्थान मे आकर ही आहार करना चाहिए, किन्तु यदि कोई मुनि दूसरे गाँव मे या महानगर के ही दूरवर्ती उपनगर या मोहल्ले मे भिक्षा लेने गया हो, वहा अधिक विलम्ब होने के कारण बालक, वृद्ध या रुग्ण अथवा तपस्वी आदि किसी को किसी कारणवश अत्यन्त भूख या प्यास लगी हो तो वह उपाश्रय मे आने से पूर्व ही आहार कर सकता है । यह भिक्षा-प्राप्त आहार के परिभोग की आपवादिक विधि है । किन्तु इस प्रकार से आपवादिक रूप मे आहार करने वाले साधु के लिए यहाँ विधि बताई गई है—वह पहले तो उस गाँव मे कोई साधु उपाश्रय में हो तो वहाँ जाकर आहार करे । ऐसा न हो तो कोई एकान्त कोठा (कमरा) अथवा दीवार के पास या कोने में कोई स्थान चुन ले, उसे अच्छी तरह देखभाल ले । अपने रजोहरण से साफ कर ले । आहार के लिए उपयुक्त स्थान वही माना गया है, जो ऊपर से छाया गया हो और चारो ओर से आवृत हो किन्तु प्रकाश वाला हो ।[८४]

पाठान्तर—+अणुन्नवित्तु

८४. (क) जिनदासचूर्णि, पृ. १८७ (ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २२२

'कोट्ठगं' आदि शब्दों के भावार्थ—कोष्ठकं—(१) प्रकोष्ठ—कमरा, (२) शून्यगृह आदि। **भित्तिमूल**—(१) मठ आदि की भित्ति का मूल, (२) दीवार का कोना, (३) भित्ति का एक देश, (४) भित्ति का पार्श्ववर्ती भाग, (५) भीत के निकट, (६) दो घरों का मध्यवर्ती भाग। **पडिच्छन्नम्मि संवुडे**—(१) जिनदासचूर्णि के अनुसार ये दोनो शब्द स्थान के विशेषण हैं, अर्थ है—ऊपर चादर, चदोवा आदि से या तृण आदि से छाये हुए एव सवृत—चटाई आदि से चारो ओर से ढँके हुए या बन्द स्थान मे, (२) प्रतिच्छन्न—ढँके हुए, उक्त कोष्ठक आदि मे, सवृत—उपयोगयुक्त होकर। **हत्थगं संपमज्जित्ता : तीन अर्थ**—(१) 'हस्तक' शब्द द्वितीयान्त होने से हाथ को सम्यक् प्रकार से साफ करके। (२) हस्तक अर्थात्—मुखवस्त्रिका या मुंहपत्ती। (३) गोच्छक या पूंजणी-(प्रमार्जनिका) से प्रमार्जन करके।[८५]

स्थान की अनुज्ञा विधि—प्रस्तुत गाथा मे 'अणुन्नवेत्तु' शब्द है—उसका अर्थ होता है—अनुज्ञा अनुमति लेकर।[८६]

'अट्ठियं' आदि शब्दों के विशेषार्थ—अट्ठियं : तीन अर्थ—(१) गुठली, (२) बीज, (३) हड्डी। **कटग**—काटा। **सक्करं**—ककर।[८७]

परिष्ठापन विधि—अगर साधु के भोजन मे बीज, गुठली आदि निकले तो उन्हे सचित्त अशस्त्रपरिणत समझ कर न खाए तथा काटा, ककर, काष्ठ का टुकडा, तिनका आदि निकले तो उसे खाने से पेट मे पीडा हो सकती है, इसलिए उसे न खाए, किन्तु दूर से ऊपर उछाल कर न फेंके, न मुह से उसे थूक कर गिराए, दोनो प्रकार से अयतना होती है। इसलिए शास्त्रकार ने पूर्ववत् (अत्यन्त खट्टा धोवन परिठाने की विधि के समान) इसके परिष्ठापन की विधि बताई है। इसके विधिपूर्वक परिष्ठापन के पश्चात् साधु या साध्वी अपने स्थान मे आकर मार्ग मे हुई भूलो की विशुद्धि के लिए ऐर्यापथिक प्रतिक्रमण करे।[८८]

---

८५. (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २४९ (ख) दशवै (आ आत्मा), पृ २२४
(ग) 'भित्तिमूल कुड्यैकदेशादि।' —हा वृ, पृ, १७८
(घ) 'दोण्ह घराण अतर भित्तिमूल।' —अ. चू, १२०
(ङ) प्रतिच्छन्ने उपरिप्रावरणान्विते, अन्यथा सम्पातिमसत्त्वसम्पातसम्भवात्। सवृते पार्श्वत कटकुट्यादिना सकटद्वारे, अटव्यां कुडगादिषु वा। —उत्त वृत्ति, पत्र ६०-६१
(च) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ ४७८
(छ) 'प्रतिच्छन्ने, तत्र कोष्ठकादौ, सवृत उपयुक्त सन्।' —हा वृ, पत्र १७८
(ज) 'हस्तक सम्प्रमार्ज्य—हाथने साफ करीने।' —दशवै (सतबालजी), पृ ५७
(झ) 'हत्थग मुहपोत्तिया भण्णइ।' —जि चू, पृ. १८७
(ञ) पूजणी से हस्तपादादि शरीर के अवयवो का प्रमार्जन करके। — आ. आत्मा. दशवै., पृ. १२३

८६ जिनदासचूर्णि, पृ १८७

८७. (क) हारि वृत्ति, पत्र १७८
(ख) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. २५० (ग) दशवै. आ म. म., भा १, पृ. ४८०

८८ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २४८-२४९
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ५८

साधु-साध्वियों के आहार करने की सामान्य विधि

२००. सिया य भिक्खु इच्छेज्जा, सेज्जमागम्म भोत्तुयं ।
सपिंडपायमागम्म उंडुयं पडिलेहिया ॥११८॥

२०१. विणएण पविसित्ता सगासे गुरुणो मुणी ।
इरियावहियमायाय आगओ य पडिक्कमे ॥११९॥

२०२. आभोएत्ताण निस्सेसं अइयारं जहक्कमं ।
गमणाऽऽगमणे चेव भत्तपाणे व संजए ॥१२०॥

२०३. उज्जुप्पण्णो अणुव्विग्गो अव्वक्खित्तेण चेयसा ।
आलोए गुरुसगासे, जं जहा गहियं भवे ॥१२१॥

२०४. न सम्ममालोइयं होज्जा, पुव्वि पच्छा व जं कडं ।
पुणो पडिक्कमे तस्स वोसट्ठो चिंतए इमं ॥१२२॥

२०५. 'अहो ! जिणेहिं असावज्जा वित्ती साहूण देसिया ।
मोक्ख-साहण-हेउस्स साहुदेहस्स धारणा ॥१२३॥

२०६. नमोक्कारेण पारेत्ता करेत्ता जिणसंथवं ।
सज्झायं पट्ठवेत्ताणं वीसमेज्ज खणं मुणी ॥१२४॥

२०७. वीसमंतो इमं चिंते हियमट्ठं लाभमट्ठिओ ।
जइ मे अणुग्गहं कुज्जा, साहू होज्जामि तारिओ ॥१२५॥

२०८. साहवो तो चियत्तेणं निमंतेज्ज जहक्कमं ।
जइ तत्थ केइ इच्छेज्जा, तेहिं सद्धिं तु भुंजए ॥१२६॥

२०९. अह कोइ न इच्छेज्जा, तओ भुंजेज्ज एगओ ।
आलोए भायणे साहू, जयं अपरिसाडियं ॥१२७॥

२१०. तित्तगं व कडुयं व कसायं, अंबिलं व महुरं लवणं वा ।
एय लद्धमन्नट्ठपउत्तं, महुघयं व भुंजेज्ज संजए ॥१२८॥

२११. अरसं विरसं वा वि सूइयं वा असूइयं ।
ओल्लं वा जइ वा सुक्कं, मंथु-कुम्मासभोयणं ॥१२९॥

२१२. उप्पन्नं नाइहीलेज्जा अप्पं वा बहु फासुयं ।
मुहालद्धं मुहाजीवी भुंजेज्जा दोसवज्जियं ॥१३०॥

[२००] कदाचित् भिक्षु शय्या (आवासस्थान—स्थानक या उपाश्रय) में आकर भोजन करना चाहे तो पिण्डपात (भिक्षाप्राप्त आहार) सहित (वहाँ) आकर भोजन करने की भूमि (निर्जीव निरवद्य या शुद्ध है या नही ? इस) का प्रतिलेखन (निरीक्षण) कर ले ॥११८॥

[२०१] (तत्पश्चात्) विनयपूर्वक (उपाश्रय मे) प्रवेश करके गुरुदेव के समीप आए और ईर्यापथिक सूत्र को पढ कर प्रतिक्रमण (कायोत्सर्ग) करे ॥११९॥

[२०२-२०३] (उसके पश्चात्) वह सयमी साधु (भिक्षा के लिए) जाने-आने मे और भक्त-पान लेने मे (लगे) समस्त अतिचारो का क्रमश उपयोगपूर्वक चिन्तन कर ऋजुप्रज्ञ और अनुद्विग्न सयमी अव्याक्षिप्त (अव्यग्र) चित्त से गुरु के पास आलोचना करे और जिस प्रकार से भिक्षा ली हो, उसी प्रकार से (गुरु से निवेदन करे) ॥१२०-१२१॥

[२०४-२०५] यदि आलोचना सम्यक् प्रकार से न हुई हो, अथवा जो पहले-पीछे की हो, (आलोचना क्रमपूर्वक न हुई हो) तो उसका पुन प्रतिक्रमण करे, (वह) कायोत्सर्गस्थ होकर यह चिन्तन करे—

अहो ! जिनेन्द्र भगवन्तो ने साधुओ को मोक्षसाधना के हेतुभूत सयमी शरीर-धारण (रक्षण-पोषण) करने के लिए निरवद्य (भिक्षा-) वृत्ति का उपदेश दिया है ॥१२२-१२३॥

[२०६] (इस चिन्तनमय कायोत्सर्ग को) नमस्कार-मन्त्र के द्वारा पूर्ण (पारित) करके जिन-सस्तव (तीर्थंकर-स्तुति) करे, फिर स्वाध्याय का प्रस्थापन (प्रारम्भ) करे, (फिर) क्षणभर विश्राम ले ॥१२४॥

[२०७] विश्राम करता हुआ कर्म-निर्जरा के लाभ का अभिलाषी (लाभार्थी) मुनि इस हितकर अर्थ (बात) का चिन्तन करे—"यदि कोई भी साधु (आचार्य या साधु) मुझ पर (मेरे हिस्से के आहार मे से कुछ लेने का) अनुग्रह करे तो मैं ससार-समुद्र से पार हो (तिर) जाऊँ ॥१२५॥

[२०८] वह प्रीतिभाव से साधुओ को यथाक्रम से निमत्रण (आहार ग्रहण करने की प्रार्थना) करे, यदि उन (निमत्रित साधुओं) में से कोई (साधु भोजन करना) चाहे तो उनके साथ भोजन करे ॥१२६॥

[२०९] यदि कोई (साधु) आहार लेना न चाहे, तो वह साधु स्वय अकेला ही प्रकाशयुक्त (खुले) पात्र में, (हाथ और मुह से आहार-कण को) नीचे न गिराता हुआ यतनापूर्वक भोजन करे ॥१२७॥

[२१०] अन्य (अपने से भिन्न-गृहस्थ) के लिए बना हुआ, (आगमोक्त विधि से) उपलब्ध जो (आहार है, वह चाहे) तिक्त (तीखा) हो, कडुआ हो, कसैला हो, अम्ल (खट्टा) हो, मधुर (मीठा) हो या लवण (खारा) हो, सयमी (साधु या साध्वी) उसे मधु-घृत की तरह सन्तोष के साथ खाए ॥१२८॥

[२११-२१२] मुधाजीवी भिक्षु (एषणाविधि से) प्राप्त किया हुआ (आहार) अरस (नीरस) हो या सरस, व्यञ्जनादि से युक्त हो अथवा व्यञ्जनादि से रहित, आर्द्र (तर) हो, या शुष्क, बेर के चूर्ण का भोजन हो अथवा कुलथ या उडद के बाकले का भोजन हो, उसकी अवहेलना (निन्दा या बुराई) न करे, किन्तु मुधाजीवी साधु, मुधालब्ध एव प्रासुक आहार का, चाहे वह अल्प हो या बहुत, (सयोजनादि पच मण्डल-) दोषो को छोड कर समभावपूर्वक सेवन करे ॥१२९-१३०॥

विवेचन—भिक्षाप्राप्त आहार-परिभोग से पहले की शास्त्रीय विधि—प्रस्तुत १० सूत्र-गाथाओ (२०० से २०९ तक) मे गृहस्थ के यहाँ से भिक्षा में प्राप्त आहार का विशोधन, प्रतिक्रमण, आलोचन, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय, आहार-ग्रहणार्थ निमत्रण, तदनन्तर प्रकाशित पात्र मे आहार-सेवन की विधि का सुन्दर निरूपण किया गया है।

स्थान-प्रतिलेखना—उपाश्रय (या धर्मस्थान) में प्रवेश करते ही सर्वप्रथम भोजन करने के स्थान की भलीभाति देखभाल तथा रजोहरण से सफाई करनी चाहिए, भोजन करने का स्थान कैसा होना चाहिए ? इसके विषय में पूर्वगाथाओं मे कहा जा चुका है।

उपाश्रयप्रवेश का तात्पर्यार्थ—सर्वप्रथम रजोहरण से चरण-प्रमार्जन करते हुए तीन बार 'निसीहि' (मै आवश्यक कार्य से निवृत्त हो गया हूँ) बोले, फिर गुरु के समक्ष आकर करबद्ध होकर **'णमो खमासमणाणं'** बोले। इस सारी विधि के लिए यहाँ कहा गया है—'विणएण पविसित्ता'—विनयपूर्वक प्रवेश करके।[८९]

भिक्षा-शुद्धि का क्रम—गुरु के निकट आकर ईर्यापथिकी प्रतिक्रमण करे, अर्थात्—गमनागमन मे जो भी दोष लगे हो, उनका मन ही मन ईर्यापथिक सूत्र के आश्रय से चिन्तन करे।[९०]

जिनदास महत्तर कायोत्सर्ग मे अतिचारो का (जिस क्रम से लगे हो, उस क्रम से) चिन्तन करने के बाद 'लोगस्स' (जिनस्तुतिपाठ) के चिन्तन का निर्देश देते है। कायोत्सर्ग नमस्कार-मन्त्रोच्चारणपूर्वक पूर्ण करने के साथ ही सरल और बुद्धिमान् भिक्षु अनुद्विग्न होकर अव्यग्र (दूसरो से वार्तालाप या अन्य चिन्तन न करता हुआ) चित्त से आलोचना करे।[९१]

---

८९ (क) ओघनिर्युक्ति गा. ५०९
(ख) दसवेयालिय (मुनि नथमल जी)
(ग) "विणओ नाम पविसतो णिसीहिय काऊण 'नमो खमासमणाण' ति भणतो जति से खणिओ हत्थो, एसो विणओ भण्णइ।" —जिनदासचूर्णि, पृ. १८८
(घ) 'णिक्खमण-पवेसणासु विणओ पउजियव्वो।' —प्रश्नव्याकरण स. ३, भा ५

९०. आवश्यक ५।३

९१. (क) 'ताहे लोगस्सुज्जोयगर कड्ढिऊण तमतियार आलोएइ।' —जिन चू, पृ. १७८
(ख) 'अवि खत्तेण चेतसा नाम तमालोयतो अण्णेण केणइ सम न उल्लावइ, अवि वयण वा अन्नस्स न देई।' —जिनदासचूर्णि, पृ १८०
(ग) अव्याक्षिप्तेन चेतसा—अन्यत्रोपयोगमगच्छतेत्यर्थ। —हारि वृत्ति, पृ १७९

आलोचना करने की विधि—वस्तुत आलोचना भिक्षाशुद्धि का प्राण है। इसलिए गुरु, आचार्य, सघाटक के अग्रणी भिक्षु अथवा स्थविर के समीप आलोचना करे। आलोचना आचार्य के समीप करने से पूर्व ओघनिर्युक्ति का कथन है कि साधु यह देखे कि आचार्य व्याक्षिप्त न हो, वे अन्य महत्त्वपूर्ण कार्यों (यथा—धर्मकथा, आहार-नीहार, किसी आगन्तुक से वार्तालाप आदि) मे व्यस्त न हो। उनसे आलोचना की अनुज्ञा प्राप्त करके आलोचना करे। जिस क्रम से भिक्षा ली हो अथवा भिक्षाचरी के लिए उपाश्रय से निकलने के बाद कहाँ-कहाँ ठहरा ? क्या-क्या क्रियाएँ हुईं ? भिक्षा ग्रहण के प्रारम्भ से अन्त तक जो कुछ घटना या क्रिया जिस रूप में जिस क्रम से हुई हो उसकी आलोचना सरल एव अनुद्विग्न होकर करनी चाहिए।[९२]

यदि स्मृतिगत आलोचना के अतिरिक्त भी कोई आलोचना अज्ञात या विस्मृत हो रही हो तो उसकी शुद्धि के लिए पुन प्रतिक्रमण करे, अर्थात्—**'पडिक्कमामि गोयरग्गचरियाए'** सूत्र पढे। तत्पश्चात् शरीर के प्रति ममत्व का सर्वथा त्याग कर दृढतापूर्वक निश्चेष्ट (स्थिर) खडा होकर कायोत्सर्ग करे, जिसमे शरीरधारणार्थ जिनोपदिष्ट निरवद्य भिक्षावृत्ति का तथा अवशिष्ट अतिचारो का चिन्तन करे। फिर नमस्कार पूर्वक कायोत्सर्ग पूर्ण करे और प्रकट में 'लोगस्स' (जिनसस्तव) पढे।

आहार ग्रहण के लिए आमंत्रण—इसके पश्चात् भी साधु भिक्षा प्राप्त आहार को सेवन करने में प्रवृत्त न हो। मण्डल्युपजीवी साधु मण्डली के साधु जब तक एकत्रित न हो जाएं, तब तक आहार आरम्भ न करे। तब तक कुछ क्षण विश्राम करे। विश्राम के क्षणो मे वह स्वाध्याय करे। विश्राम के क्षणो मे वह यह भी चिन्तन करे कि यदि मेरे लाये हुए अथवा मुझे अपने हिस्से मे प्राप्त हुए इस आहार मे से गुरु, आचार्य या कोई भी साधु लेने का अनुग्रह करे तो मुझे अनायास ही कर्म-निर्जरा का लाभ मिले और मैं निहाल हो जाऊँ। यदि सर्व आहार दूसरो को अर्पण करके स्वय तप-त्याग का उत्कृष्ट रसायन आ जाए तो ससार-समुद्र से सतरण भी सम्भव हो सकता है। ओघनिर्युक्ति-कार के अनुसार जो भिक्षु अपनी लाई हुई भिक्षा ग्रहण करने के लिए साधर्मिक साधुओ को निमत्रण देता है, वह अपनी चित्तशुद्धि करता है। चित्तशुद्धि से निर्जरा (कर्मक्षय) होती है, आत्मा शुद्ध होती है।[९३]

---

९२ (क) ओघनिर्युक्ति, गा. ५१४, ५१५, ५१७, ५१८, ५१९

(ख) आवश्यकसूत्र ४।८

(ग) **वोसट्ठो**—'व्युत्सृष्टदेह प्रलम्बितबाहुस्त्यक्तदेह, सर्पाद्युपद्रवेऽपि नोत्सारयति कायोत्सर्गम्। अथवा व्युत्सृष्टदेहो दिव्योपसर्गेष्वपि न कायोत्सर्गभग करोति। त्यक्तदेहोऽक्षिमलदूषिकामपि नापनयति। स एवविधः कायोत्सर्ग कुर्यात्।'' —ओघनिर्युक्ति, गा ५१० वृ

९३. (क) 'जाव साहुणो अन्ने आगच्छति, जो पुण खमणो अत्तलाभिओ वा सो मुहुत्तमेत्त वा सज्झो (वीसत्थो)।'
—जिन चूर्णि, पृ १८९

(ख) 'मण्डल्युपजीवकस्तमेव कुर्यात् यावदन्य आगच्छन्ति, य पुनस्तदन्य क्षपकादि सोऽपि प्रस्थाप्य विश्रामयेत् क्षण—स्तोककालं मुनिरिति।' —हारि. वृ, प १८०

(ग) ओघनिर्युक्ति, गा. ५२५

(घ) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ २३६-२३७

आहारपरिभोगैषणा-शुद्धि—अविवेकी साधु निर्दोष आहार का सेवन करते समय कुछ दोषों से लिप्त हो सकता है। इसके लिए शास्त्रकार ने पिछली चार गाथाओं (२०९ से २१२ तक) मे विधि और शुद्धि दोनो का निरूपण किया है। भोजन प्रारम्भ करते समय जिस पात्र में भोजन करना हो, वह आलोक-भाजन (जिसका मुह चौडा या खुला हो, ऐसा पात्र) हो, ताकि आहार करते समय कोई जीव-जन्तु हो तो भलीभांति देखा जा सके। दूसरा, भोजन का विवेक बताया गया है—भोजन-कणो को नीचे न गिराते हुए या इधर-उधर न बिखेरते हुए भोजन करे। चपचप करते हुए, बिना चबाए, हडबडी में या अन्यमनस्क होकर अशान्तभाव से भोजन न करे।[९४]

परिभोगैषणा के पांच दोषों को वर्जित करे—परिभोगैषणा के पाच दोष है, जिन्हे मांडले के पाच दोष कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—(१) **संयोजना**—नीरस आहार को सरस बनाने के लिए तत्सयोगीय वस्तु मिला कर खाना। (२) **प्रमाण**—प्रमाण से अधिक भोजन करना। अधिक मात्रा मे भोजन करने से आलस्य, निद्रा, प्रमाद, स्वाध्याय कार्यक्रम-भग आदि अनिष्ट उत्पन्न होते हैं। (३) **अंगार**—सरस, स्वादिष्ट भोजन या दाता की प्रशंसा करना, स्वाद से प्रेरित होकर मूर्च्छावश खाना। (४) **धूम**—नीरस आदि प्रतिकूल आहार की निन्दा करना, उसे द्वेष, क्रोध और घृणापूर्वक खाना। (५) **कारण** का अर्थ है—साधु को भोजन करने के जो ६ कारण बताए हैं, उनमें से कोई भी कारण न होने पर भी आहार करना। इन दोषो से बचने के लिए यहाँ कहा गया है—**भुंजेज्जा दोस-वज्जियं**।[९५]

'अन्नट्ठपउत्तं' आदि शब्दो के विशेषार्थ—अन्नट्ठपउत्तं : तीन अर्थ—(१) अन्य—गृहस्थ के लिए प्रयुक्त—प्रकृत, परकृत। (२) केवल भोजन के प्रयोजन के लिए प्रयुक्त। (३) अन्य—मोक्ष के निमित्त आहार करना भगवान् द्वारा प्रोक्त है।[९६]

विरसं—जिसका रस बिगड गया हो या सत्व नष्ट हो गया हो। जैसे—बहुत पुराने काले या ठडे चावल। **सूइयं-असूइयं : दो रूप—दो अर्थ**—(१) सूपित—दाल आदि व्यञ्जनयुक्त खाद्य वस्तु, असूपित—व्यजनरहित पदार्थ। (२) सूचित—कह कर दिया हुआ। असूचित—बिना कहे दिया हुआ। **उल्लं-सुक्कं : आर्द्र-शुष्क**—बघार सहित साग या दाल प्रधानमात्रा मे हो वह आर्द्र और बघार (छौक) रहित शाक शुष्क है। **मंथु कुम्मासं—मन्थु : दो अर्थ**—(१) बेर का चूर्ण, (२) बेर, जौ आदि का चूर्ण। कुम्मास—जौ से बना हुआ अथवा पके हुए उड़द से निष्पन्न।[९७]

अप्पं पि बहु फासुअं : दो विशेषार्थ—(१) थोडा होते हुए भी प्रासुक एव एषणीय होने से बहुत (प्रभूत) है। (२) अल्प—रसादि से हीन होते हुए भी मेरे लिए प्रासुक (निर्जीव) होने से बहुत

---

९४. त पुण कटऽट्ठिमक्खितापरिहरणत्थ 'आलोगभायणे' पगासविउलमुहे वल्लिकाइए। —अ. चू., पृ. १२३

९५ (क) भगवती सूत्र ७।१।२१-२४

(ख) 'वेयण-वेयावच्चे, इरियट्ठाए य सजमट्ठाए।
तह पाणवत्तियाए छट्ठ पुण धम्मचिंताए।' उत्तराध्ययन अ. २६।३२

९६. (क) 'अण्णट्ठा पउत्त—परकड, अहवा भोयणत्थे पभोए एत लद्ध अतो त।' —अ. चू., पृ १८४

(ख) अन्नो मोक्खो तण्णिमित्त आहारेयव्वति। —जि चू, पृ १९०

९७. अ. चू., पृ. १२४, जि. चू, पृ. १९०, हारि. वृत्ति पत्र १८०-१८१

सरस है—दुर्लभ है। (३) टीका के अनुसार—प्रासुक होते हुए भी यह तो बहुत थोड़ा है, इससे क्या होगा ? अथवा प्रासुक बहुत होते हुए भी नि सार है, रद्दी है, इस प्रकार कह कर निन्दा नही करनी चाहिए।[९८]

महुघयं व भु जेज्ज—जैसे मधु (शहद) और घृत दोनो सुरस होते हैं, इस दृष्टि से व्यक्ति प्रसन्नतापूर्वक उनका सेवन कर लेता है, वैसे ही अस्वादवृत्ति वाला साधु नीरस भोजन को भी सुरस मान कर सेवन करे। अथवा जैसे मधु और घी को बाँए जबड़े से दाहिने जबडे की ओर ले जाने की आवश्यकता नही रहती, व्यक्ति सीधा ही गले उतार लेता है, वैसे ही साधु नीरस आहार को भी मधुघृत की तरह सीधा निगल ले।[९९]

मुहाजीवी-मुधाजीवी : अर्थ, लक्षण और व्याख्या—दो अर्थ (१) जो जाति, कुल आदि के आधार पर आजीविका करके नही जीता, (२) अनिदानजीवी—नि स्पृह और अनासक्तभाव से जीने वाला। अथवा भोगो का सकल्प किये बिना जीने वाला। प्रस्तुत सन्दर्भ मे इसका विशेष अर्थ यह भी हो सकता है कि जो किसी प्रकार का उपदेश आदि का बदला चाहे बिना नि स्पृह भाव से जो भी आहार मिले, उससे जीवननिर्वाह करने वाला हो। इस सम्बन्ध मे एक उदाहरण प्रसिद्ध है—"श्रेष्ठ धर्म की पहिचान उस धर्म के गुरु से ही हो सकती है, जिस धर्म का गुरु नि स्पृह और नि स्वार्थ बुद्धि से आहारादि लेकर जीता है, उसी का धर्म सर्वश्रेष्ठ होगा।" इस विचार से प्रेरित होकर राजा ने घोषणा कराई कि राजा भिक्षाचरो को मोदको का दान देना चाहता है। इस घोषणा को सुन कर अनेक भिक्षाचर दान लेने आए। राजा ने उनसे पूछा—आप लोग किस प्रकार अपना जीवननिर्वाह करते हैं ? उनमे से एक भिक्षु ने कहा—मैं कथक हूँ, अत कथा कह कर मुख से निर्वाह करता हूँ। दूसरे न कहा—मै सन्देशवाहक हूँ, अत पैरो से निर्वाह करता हूँ। तीसरा बोला—मै लेखक हूँ, अत हाथो से निर्वाह करता हूँ। चौथे ने कहा—मै लोगो का अनुग्रह प्राप्त करके निर्वाह करता हूँ और अन्त मे पाचवे भिक्षु ने कहा—मैं ससार से विरक्त मुधाजीवी निर्ग्रन्थ हूँ। मै नि स्पृह भाव से सयम-निर्वाह के लिए, मोक्षसाधना के लिए जीता हूँ, उसी के लिए किसी प्रकार की अधीनता या प्रतिबद्धता स्वीकार किये बिना, जो भी आहार मिल जाए उसी मे सन्तुष्ट रहता हूँ। यह सुन कर राजा अत्यन्त प्रभावित हुआ और उसे मुधाजीवी साधु जान कर उसके पास प्रव्रजित हो गया।[१००]

---

९८ (क) फासुएसणिज्ज दुल्लभ ति अप्पमवि त पभूत, तमेव रसादिपरिहीणमवि अप्पमवि । —अ चू, १२४
(ख) त बहु मण्णियव्व, ज विरसमवि मम लोगो अणुवकारिस्स देति त बहु मन्नियव्व। —जि चू, १९०
(ग) अल्पमेतन्न देहपूरकमिति किमनेन ? बहु वा असारप्रायमिति। —हारि वृत्ति, पत्र १८१

९९ महुघते व भु जेज्ज-जहा महु घत कोति सुरसमिति सुमुहो भु जति, तहा त (असोहणमवि) सुमुहेण भु जितव्व। अहवा महुघतमिव हणुयातो हणुय असचारतेण । —अग चू, पृ. १२४

१०० (क) मुधाजीवि नाम ज जातिकलादीहि आजीवणविसेसेहि पर न जीवति। —जिन. चूर्णि, पृ १९०
(ख) मुधाजीवि सर्वथा अनिदानजीवी, जात्याद्यनाजीवक इत्यन्ये। —हारि वृत्ति, पत्र १८१
(ग) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २५६

मुहालद्धं—जो यन्त्र-मन्त्र-तन्त्र-औषधि आदि के द्वारा उपकार—सम्पादन किये बिना प्राप्त हो।[१०१]

मुधादायी और मुधाजीवी की दुर्लभता और दोनों की सुगति

२१३ दुल्लहा उ मुहादाई, मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥१३१॥

—त्ति बेमि ॥

॥ पिंडेसणाए पढमो उद्देसओ समत्तो ॥

[२१३] मुधादायी दुर्लभ है और मुधाजीवी भी दुर्लभ हैं। मुधादायी और मुधाजीवी, दोनो सुगति को प्राप्त होते हैं ॥१३१॥ —ऐसा मैं कहता हूँ ॥

विवेचन—मुधादायी : व्याख्या—प्रत्युपकार या प्रतिफल की आकाक्षा रखे बिना नि.स्पृह एव नि स्वार्थ भाव से दान देने वाला मुधादायी है। मुधादायी निष्काम वृत्ति का दाता होता है। जो निष्काम वृत्ति से ही दानादि कार्य करता है और यह सोचता है कि मैं किस पर उपकार नही करता, आदाता (लेने वाले) ने मुझ पर उपकार—अनुग्रह करके ही मुझ से लिया है और मुझे अनायास ही यह लाभ दिया है। साधु-साध्वियो को दान देने के लिए शास्त्र मे **भत्त-पाणं पडिलाभेमाणे**—(भक्त-पान (देने) का लाभ लेते हुए) कहा है। जहाँ दाता मे दान देने का अह आ गया, आदाता (साधु या साध्वी) से प्रतिफल की कामना आ गई या अन्य सासारिक फलाकाक्षा आ गई, वहाँ निष्काम-नि स्वार्थ वृत्ति समाप्त हो जाती है। मुधाजीवी की व्याख्या पहले की जा चुकी है। ये दोनो बहुत ही दुर्लभ हैं।[१०२]

दो वि गच्छंति सोग्गइं—इस प्रकार की निष्काम वृत्ति वाले दाता और आदाता आत्मार्थी साधु-साध्वी विरले मिलते है। इन दोनो को सुगति प्राप्त होती है। निष्कामवृत्ति के फलस्वरूप वे कर्मबन्धन करने के बजाय कर्मक्षय करते है। सम्पूर्ण कर्मों का क्षय होने पर मोक्ष प्राप्त होता है। इसलिए सुगति का अर्थ मोक्षगति या सिद्धिगति है। अथवा कुछ शुभ कर्म शेष रह जाएँ तो देवगति प्राप्त होती है। इस दृष्टि से सुगति का अर्थ—देवगति भी होता है।[१०३]

॥ पिण्डैषणा नामक पंचम अध्ययन का प्रथम उद्देशक सम्पूर्ण ॥

---

१०१. वेंटलादिउवगारवज्जितेण मुहालद्ध। —अ चू, पृ १२४
१०२. (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. २४४-२४५
(ख) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २६०
१०३. (क) दशवै (आचारमणिमजूषा) भा. १, पृ. ४९७
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ६०

पंचमं अज्झयणं : पिंडेसणा

पंचम अध्ययन : पिण्डैषणा

बीओ उद्देसओ : द्वितीय उद्देशक

पात्र में गृहीत समग्र भोजन-सेवन का निर्देश

२१४. पडिग्गहं संलिहित्ताणं लेवमायाए संजए।
दुगंधं वा सुगंधं वा, सव्वं भुंजे न छड्डुए ॥१॥

[२१४] सम्यक् यत्नवान् साधु लेपमात्र-पर्यन्त (लेप लगा रहे तब तक) पात्र को अगुलि से पोछ (या चाट) कर सुगन्धयुक्त (पदार्थ) हो या दुर्गन्धयुक्त, सब खा ले, (किञ्चिमात्र भी शेष) न छोडे ॥१॥

विवेचन—भोजन करने के बाद की विधि—प्रस्तुत गाथा मे भोजन करने के बाद पात्र को अच्छी तरह पौंछ कर साफ करने का विधान किया गया है। इसमें 'सुगध वा दुगध वा' ये दो पद मनोज्ञ-अमनोज्ञ के उपलक्षण है। दोनो का आशय है—प्रशस्त वर्ण-गन्ध-रस-स्पर्शयुक्त और अप्रशस्त-वर्णादियुक्त। इसका तात्पर्य यह है कि मुनि ऐसा न करे कि पात्र मे लिया हुआ सरस आहार तो खा ले और नीरस आहार फेक दे।

जैसा भी, जो भी पात्र मे लिया है, उसे समभावपूर्वक खा ले। ग्रासैषणा से सम्बन्धित यह गाथा स्वच्छता, अपरिग्रहवृत्ति और अस्वादवृत्ति की प्रेरणा देने वाली है।

पर्याप्त आहार न मिलने पर पुनः आहार-गवेषणा-विधि

२१५. सेज्जा निसीहियाए, समावन्नो य गोयरे।
अन्नयरट्ठा भोच्चाणं अह तेण न संथरे ॥२॥

२१६. तओ कारणमुप्पन्ने भत्त-पाणं गवेसए।
विहिणा पुव्ववुत्तेण इमेणं उत्तरेण य ॥३॥

[२१५-२१६] उपाश्रय (शय्या) मे या स्वाध्यायभूमि (नैषेधिकी) मे बैठा हुआ, अथवा गोचरी (भिक्षा) के लिए गया हुआ मुनि अपर्याप्त खाद्य-पदार्थ खाकर (खा लेने पर) यदि उस (आहार) से निर्वाह न हो सके तो कारण उत्पन्न होने पर पूर्वोक्त विधि से और इस उत्तर (वक्ष्यमाण) विधि से भक्त-पान की गवेषणा करे ॥२-३॥

---

१. (क) जिनदासचूर्णि, पृ १९४ (ख) दशवै. (सतबालजी), पृ. ६२

विवेचन—कारणविशेष से पुनः भक्तपान-गवेषणा—प्रस्तुत दो सूत्रगाथाओ (२१५-२१६) मे पर्याप्त आहार न मिलने और क्षुधानिवारण न होने पर पुनः विधिपूर्वक भिक्षाचर्या करने का निर्देश किया गया है।

सेज्जा, निसीहियाए, गोयरे पदों के विशेषार्थ—ये तीनो पारिभाषिक शब्द है। इनके प्रचलित अर्थों से भिन्न अर्थ यहाँ अभिप्रेत है। **सेज्जा : शय्या**—उपाश्रय, मठ, कोष्ठ और वसति। **निसीहिया—नैषेधिकी**—स्वाध्यायभूमि। दिगम्बरपरम्परा मे प्रचलित 'नसिया' शब्द इसी का अपभ्रश है। प्राचीनकाल मे स्वाध्यायभूमि उपाश्रय से दूर एकान्त मे, कोलाहल से रहित स्थान में या वृक्षमूल मे चुनी जाती थी।

समावन्नो व गोयरे—गोचर अर्थात् गोचरी-भिक्षाचरी के लिए गया हुआ।[२]

अयावयट्ठा : अयावदर्थ—अपर्याप्त—जितना खाद्यपदार्थ चाहिए, उतना नही अर्थात्—पेटभर नही, क्षुधानिवारण मे कम।[३]

कारणमुप्पन्ने : दो आशय—यहाँ 'कारण' शब्द से दो आशय प्रतीत होते है—(१) उत्तराध्ययनसूत्रोक्त आहार करने के ६ कारणो मे से कोई कारण उत्पन्न हो, अथवा (२) अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार-दीर्घतपस्वी हो, क्षुधातुरता हो, शरीर में रोगादि वेदना हो, अथवा पाहुने साधुओ का आगमन हुआ हो, इत्यादि कारण हो। हारिभद्रीयवृत्ति मे इसकी व्याख्या करते हुए कहा गया है—पुष्ट आलम्बन रूप कारण (क्षुधावेदनादि उत्पन्न) होने पर मुनि पुनः भक्तपान-गवेषणा करे, अन्यथा मुनियो के लिए एक बार ही भोजन[४] करने का विधान है।

जइ तेणं न संथरे—जितना भोजन किया है। उतने से यदि रह न सके, निर्वाह न हो सके।[५]

यथाकालचर्या करने का विधान

२१७. कालेण निक्खमे भिक्खू कालेण य पडिक्कमे।
अकालं च विवज्जेत्ता, काले कालं समायरे॥ ४॥

---

२ (क) सेज्जा—उवस्सतादि मट्ठकोट्ठादि। —जिन चूर्णि, पृ १९४
(ख) शय्यायां वसतौ। नैषेधिक्या—स्वाध्यायभूमौ। —हारि वृत्ति, पत्र १८२
(ग) णिसीहिया-सज्झायथाण, जम्मि वा रुक्खमूलादौ सेव निसीहिया। —अ चू., पृ. १२६
(घ) गोयरग्गसमावण्णो बालवुड्ढखवगादि मट्ठकोट्ठगादिषु समुद्दिट्ठो होज्जा। —जि चू, पृ. १९४

३ (क) अयावयट्ठ-ण जावदट्ठ यावदभिप्राय। —अ चू, पृ १२६
(ख) न यावदर्थं—अपरिसमाप्तमिति। —हा वृ, पृ १८२

४ (क) अगस्त्यचूर्णि, पृ १२६
(ख) हारि वृत्ति, पत्र १८२

५ यदि तेन भुक्तेन, न सस्तरेत्-न यापयितु समर्थ., क्षपको विषमवेलापत्तनस्थो ग्लानो वेति।
—हारि वृत्ति, पत्र १८२

२१८. अकाले चरसि भिक्खो ? कालं न पडिलेहसि ।
अप्पाणं च किलामेसि, सन्निवेसं च गरहसि ।। ५ ।।

२१९. सइ काले चरे भिक्खू, कुज्जा पुरिसकारियं ।
अलाभोत्ति न सोएज्जा, तवो त्ति अहियासए ।। ६ ।।

[२१७] भिक्षु (भिक्षा) काल में (जिस गाँव मे जो भिक्षा का समय हो, उसी समय मे भिक्षा के लिए उपाश्रय से) निकले और समय पर (स्वाध्याय आदि के समय) ही वापस लौट आए, अकाल को वर्ज (छोड) कर जो कार्य जिस समय उचित हो, उसे उसी समय करे ।। ४ ।।

[२१८] हे मुनि ! तुम अकाल मे (असमय मे भिक्षा का समय न होने पर भी भिक्षा के लिए) जाते हो, काल का प्रतिलेख (अवलोकन) नहीं करते । (ऐसी स्थिति मे भिक्षा न मिलने पर) तुम अपने आपको क्लान्त (क्षुब्ध) करते हो और सन्निवेश (ग्राम) की निन्दा करते हो ।। ५ ।।

[२१९] भिक्षु (भिक्षा का) समय होने पर भिक्षाटन करे और (भिक्षा प्राप्त करने का) पुरुषार्थ करे । भिक्षा प्राप्त नही हुई, इसका शोक (चिन्ता) न करे (किन्तु अनायास ही) तप हो गया, ऐसा विचार कर (क्षुधा परीषह को) सहन करे ।। ६ ।।

विवेचन—काल-यतना (विवेक)—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ (२१७ से २१९ तक) मे समय पर सभी चर्या करने का, असमय मे चर्या करने के परिणाम का, समय पर भिक्षाटन रूप पुरुषार्थ करने पर भी अप्राप्ति का खेद न करके अनायास तपश्चर्यालाभ मानने का निर्देश किया गया है ।[६]

अकाल और काल का आशय—प्रस्तुत प्रसग मे अकाल का अर्थ है—जो काल जिस चर्या के लिए उचित न हो । जैसे—प्रतिलेखनकाल स्वाध्याय के लिए अकाल है, स्वाध्याय का काल प्रतिक्रमण के लिए अकाल है, इसी तरह स्वाध्याय का काल भिक्षाचर्या के लिए अकाल है । इसीलिए यहाँ कहा गया है—**अकालं च विवज्जेत्ता**—कालमर्यादाविशेषज्ञ (कालज्ञ) साधु-साध्वी अकाल मे कोई चर्या (क्रिया) न करे । इसके साथ ही दूसरा सूत्र है—**काले कालं समायरे**—जिस काल मे जो क्रिया करणीय है, वह उसी काल मे करनी चाहिए । जिस गाँव मे जो भिक्षाकाल हो, उस समय मे भिक्षाचर्या करना काल है । इसकी व्याख्या करते हुए जिनदास महत्तर कहते हैं—मुनि भिक्षाकाल मे भिक्षाचरी करे, प्रतिलेखनवेला मे प्रतिलेखन और स्वाध्यायकाल मे स्वाध्याय करे ।[७]

अकालचर्या से मानसिक असन्तोष—जो मुनि काल का अतिक्रमण करके भिक्षाचर्या आदि क्रियाएँ करता है, उसके विक्षुब्ध मानस का चित्रण करते हुए आचार्य जिनदास कहते हैं—एक अकाल-

---

६ दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण), पृ ३३

७ (क) येन स्वाध्यायादि न सभाव्यते, स खल्वकालस्तमपास्य । —हारि वृ, पृ १८३
(ख) 'अकाल च विवज्जित्ता' णाम जहा पडिलेहणवेलाए सज्झायस्स अकालो, सज्झाय-वेलाए पडिलेहणाए अकालो, एवमादि अकाल विवज्जित्ता । —जि चू, पृ १९४
(ग) भिक्खावेलाए भिक्ख समायरे, पडिलेहणवेलाए पडिलेहण एवमादि । —जि चू, पृ १९४-५

चारी भिक्षाकाल व्यतीत होने पर भिक्षा के लिए निकला, किन्तु बहुत भ्रमण करने पर किञ्चित् भी आहार न मिला। हताश और विक्षुब्ध देखकर एक कालचारी भिक्षु ने पूछा—'इस गाँव मे भिक्षा मिली तुम्हें ?' वह तुरन्त बोला—'इस वीरान गाँव मे कहाँ भिक्षा मिलती ?' कालचारी साधु ने उसे जो शिक्षाप्रद बाते कही, वही इस गाथा मे अकित है। उसका तात्पर्य यह है कि तुम अपने दोष को दूसरो पर डाल रहे हो। तुमने प्रमाददोष के कारण या स्वाध्याय के लोभ से काल का विचार नही किया। फलस्वरूप तुमने अपने आपको अत्यन्त भ्रमण से तथा भोजन के अलाभ के कारण खिन्न किया और इस ग्राम की निन्दा करने लगे।[८]

सइकाले. : व्याख्या—(१) भिक्षा का समय हो जाने पर ही भिक्षु भिक्षा के लिए जाए, (२) एक अन्य व्याख्या के अनुसार—भिक्षा का स्मृतिकाल होने पर ही भिक्षु भिक्षाचरी के लिए निकले। स्मृतिकाल ही भिक्षाकाल है। अर्थात्—जिस समय गृहस्थ लोग भिक्षा देने के लिए भिक्षाचरो को स्मरण करते है, उस समय को भिक्षा का स्मृतिकाल कहते हैं।[९]

कालेण य पडिक्कमे : तात्पर्य—जब साधु यह जान ले कि अब भिक्षाचर्या का समय नही रहा, स्वाध्याय आदि का समय आ गया है तब वह तुरन्त भिक्षाटन करना बद करके समय पर अपने स्थान पर वापस लौट आए जिससे अन्य स्वाध्यायादि आवश्यक कार्यक्रमो मे विघ्न न पड़े।[१०]

भिक्षा न मिलने पर—भिक्षाचर्या के समय पर भिक्षा के लिए पुरुषार्थ करने पर भी यदि आहार न मिले या थोडा मिले, ऐसी स्थिति मे साधु के मन मे न तो उसका खेद होना चाहिए, न चिन्ता ही, बल्कि उसे यह सोच कर सन्तुष्ट और सहनशील होना चाहिए कि मुझे अनायास ही तपश्चर्या का लाभ मिला है। यह भी सोचना चाहिए कि मैंने तो भिक्षाचर्या के लिए जाकर अपने वीर्याचार का सम्यक्तया आराधन कर लिया है। वृत्तिकार ने कहा है—"साधु वीर्याचार के लिए भिक्षाटन करता है, केवल आहार के लिए ही नही।"[११]

भिक्षार्थ गमनादि में यतना-निर्देश

२२०. **तहेवुच्चावया पाणा भत्तट्ठाए समागया।**
तउज्जुयं× न गच्छेज्जा, जयमेव परक्कमे ॥७॥

२२१. **गोयरग्गपविट्ठो उ न निसीएज्ज कत्थई।**
कहं च न पबंधेज्जा, चिट्ठित्ताण व संजए ॥८॥

---

८ जि चू, पृ. १९५

९ 'सति' विद्यमाने काले भिक्षासमये चरेद् भिक्षु। अन्ये तु व्याचक्षते-स्मृतिकाल एव भिक्षाकालोऽभिधीयते, स्मर्यन्ते यत्र भिक्षाका स स्मृतिकाल। —हारि वृत्ति, पत्र १८३

१० दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ २५५

११ (क) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ. ५०४
(ख) 'तदर्थं च भिक्षाटन नाहारार्थमेवातो न शोचयेत्।' —हारि वृत्ति, प. १८३

× पाठान्तर—त उज्जुअ।

२२२. अग्गलं फलिहं दारं, कवाडं वा वि संजए ।
अवलंबिया न चिट्ठेज्जा गोयरग्गगओ मुणी ।।९।।

२२३. समणं माहणं वा वि किविणं वा वणीमगं ।
उवसंकमंतं भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ।।१०।।

२२४. तं अइक्कमित्तु न पविसे, न चिट्ठे चक्खुगोयरे ।
एगंतमवक्कमित्ता, तत्थ चिट्ठेज्ज संजए ।।११।।

२२५. वणीमगस्स वा तस्स दायगस्सुभयस्स वा ।
अप्पत्तियं सिया होज्जा लहुत्त पवयणस्स वा ।।१२।।

२२६. पडिसेहिए व दिन्ने वा, तओ तम्मि नियत्तिए ।
उवसंकमेज्ज भत्तट्ठा पाणट्ठाए व संजए ।।१३।।

[२२०] इसी प्रकार (गोचरी के लिये जाते हुए साधु को कही पर) भोजनार्थ एकत्रित हुए नाना प्रकार के (अथवा उच्च-नीचजातीय) प्राणी (दीखे तो) वह उनके सम्मुख न जाए, किन्तु यतनापूर्वक (वहाँ से बचकर) गमन करे, (ताकि उन प्राणियो को किसी प्रकार का त्रास न पहुँचे)।।७।।

[२२१] गोचरी के लिये गया हुआ सयमी साधु (या साध्वी) कही भी न बैठे और न खडा रह कर भी (धर्म-) कथा का (विस्तारपूर्वक) प्रबन्ध करे ।। ८ ।।

[२२२] गोचरी के लिए गया हुआ सम्यक् यतनावान् साधु अर्गला (आगल), परिघ (कपाट को ढाकने वाले फलक), द्वार (दरवाजा) एव कपाट (किवाड) का सहारा लेकर खडा न रहे ।। ९ ।।

[२२३-२२४] भोजन (भक्त) अथवा पानी के लिए (गृहस्थ के द्वार पर) आते हुए (या गये हुए) श्रमण (बौद्ध श्रमण), ब्राह्मण, कृपण अथवा वनीपक (भिखारी अथवा भिक्षाचर) को लाघ (या हटा) कर सयमी साधु (गृहस्थ के घर मे) प्रवेश न करे और न (उस समय गृहस्वामी एव श्रमण आदि की) आँखो के सामने खडा रहे। किन्तु एकान्त मे (एक ओर) जा कर वहाँ खडा हो जाए ।। १०-११ ।।

[२२५] (उन भिक्षाचरो को लाघ कर या हटा कर घर मे प्रवेश करने पर) उस वनीपक को या दाता (गृहस्वामी) को अथवा दोनो को (साधु के प्रति) अप्रीति उत्पन्न हो सकती है, अथवा प्रवचन (धर्म-शासन) की लघुता होती है ।। १२ ।।

[२२६] (किन्तु गृहस्वामी द्वारा उन भिक्षाचरो को देने का) निषेध कर देने पर अथवा दे देने पर तथा वहाँ से उन याचकों के हट (या लौट) जाने पर सयमी साधु भोजन या पान के लिए (उस घर मे) प्रवेश करे ।। १३ ।।

विवेचन—भिक्षाटन के समय क्षेत्रादि-विवेक—प्रस्तुत ७ सूत्रगाथाओ (२२० से २२६ तक) मे भिक्षाचर्या करते समय गमनपथ का, खडे रहने, बैठने, बोलने तथा गृहप्रवेश करने का नैतिक एवं अहिंसक दृष्टि मे विवेक बताया गया है।

ऐसे मार्ग से होकर न जाए—भिक्षार्थ गमन करते समय रास्ते मे कहीं चुगा-पानी करने या चारा-दाना करने मे प्रवृत्त नाना प्रकार के छोटे-मोटे उच्च-नीच जातीय पक्षी या पशु एकत्रित हो, उस रास्ते से साधु-साध्वी को नही जाना चाहिए, क्योकि उस रास्ते से जाने से साधु या साध्वी को देख कर वे भय से त्रस्त होकर भोजन करना बद कर सकते हैं, उड सकते हैं, या भागदौड कर सकते हैं। इससे उनके खाने-पीने मे अन्तराय, वायुकाय की अयतना आदि दोषो की सम्भावना है। अत साधु को उन पशु-पक्षियो को देख कर दूसरे मार्ग से यतनापूर्वक गमन करना चाहिए। अहिंसा महाव्रती साधु किसी भी जीव को भय या त्रास हो ऐसी कोई प्रवृत्ति नही करता।[१२]

गोचरी के समय बैठने और कथा करने का निषेध—भिक्षाचर्याकाल मे गृहस्थ आदि के घर मे बैठना कालोचित चर्या नही, ब्रह्मचर्य एव अनासक्ति की दृष्टि से भी उचित नहीं है। बैठना तो दूर रहा, खडे रहकर भी धर्मकथा करना या गप्पे मारना उपर्युक्त कारणो से उचित नही है। वृत्तिकार कहते है—वह खडे-खडे एक प्रश्नोत्तर (मगलपाठ सुनाना आदि) कर सकता है। विस्तृत कथाप्रबन्ध करने से सयम के उपघात की एव एषणासमिति की विराधना की सम्भावना है।[१३] गृहस्थों का अतिपरिचय भी सयमी जीवन के लिए हानिकारक है।

अर्गला आदि को पकड़ कर खड़े रहने में दोष—अर्गला आदि को पकड कर खड़ा रहने मे दोष यह है कि कदाचित् वे मजबूती से बधे हुए न हो तो अचानक टूट कर या खुल कर मुनि पर गिर सकते है या मुनि नीचे गिर सकता है। इससे सयमविराधना और आत्मविराधना ये दोनो दोष सभव है। कभी-कभी लोगो को असभ्यता भी मालूम होती है।[१४]

श्रमण-ब्राह्मणादि याचको को हटा कर या लांघ कर गृहप्रवेश में दोष—यदि गृहस्थ के द्वारा पर भिक्षाचर खडे हो तो उन्हे हटा कर या लाघ कर जाने मे मुख्यतया तीन दोष हैं—(१) गृहस्थ को या याचक को उक्त साधु के प्रति अप्रीति या द्वेषभावना हो सकती है, (२) कदाचित् भक्त

---

१२ (क) दशवै. (सतबालजी), पृ ६३
(ख) 'तत्त्रासनेनान्तरायाधिकरणादिदोषात्।' —हारि वृत्ति, पत्र १८४

१३. गोयरग्गगएण भिक्खुणा णो णिसियव्व कत्थइ-घरे वा देवकुले वा, सभाए वा पवाए वा एवमादि। जहा य न निसिएज्जा, तहा सिद्धो वि धम्मकहा-वादकहा-विग्गहकहादि णो पबधिज्जा—नाम ण कहेज्जइ। णण्णत्थ एगणाएण वा एगवागरणेण वा।

१४. (क) इमे दोसा—कयाति दुब्बद्धे पडेज्जा, पडतस्स व संजमविराहणा आयविराहणा वा होज्जत्ति।
—जि. चू., पृ. १९६
(ख) 'लाघव-विराधनादोषात्।' —हारि वृत्ति., पत्र १८४

गृहस्थ, साधु को देखकर उन याचको को दान न दे, तो इससे साधु को अन्तराय लगने की सभावना है, (३) धर्मसघ की लोगो मे निन्दा भी हो सकती है।[१५]

अग्गलं आदि शब्दो के अर्थ—अग्गलं : दो अर्थ—अर्गला—आगल या भोगल या साकल। **फलिहं : परिघ**—द्वार को दृढता से बन्द करने के लिए उसके पीछे दिया जाने वाला फलक।[१६]

सचित्त, अनिवृत्त, आमक एवं अशस्त्रपरिणत के ग्रहण का निषेध

२२७. उप्पलं पउमं वा वि कुमुयं वा मगदंतियं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च संलुंचिया दए ॥१४॥

२२८. तारिसं भत्तपाण तु संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥१५॥

२२९. उप्पलं पउमं वा वि कुमुयं वा मगदंतियं।
अन्नं वा पुप्फ सच्चित्तं, तं च सम्मद्दिया दए ॥१६॥

२३०. तारिसं भत्तपाणं तु संजयाण अकप्पियं।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिस ॥१७॥>

२३१. सालुयं वा विरालियं कुमुउप्पलनालियं।
मुणालियं सासवनालियं उच्छुखंडं अनिव्वुडं ॥१८॥

२३२. तरुणगं वा पवालं रुक्खस्स तणगस्स वा।
अन्नस्स वा वि हरियस्स आमगं परिवज्जए ॥१९॥

२३३. तरुणियं वा छेवाडिं□ आमियं भज्जियं सइं।
देंतियं पडिआइक्खे न मे कप्पइ तारिसं ॥२०॥

---

१५ (क) दशवै (सतबालजी), पृ. ६४
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मा), पृ २६१-२६२-२६३

१६. (क) 'णगरद्दारकवाडोत्थभण फलिह।' —अ. चू, पृ १२७
(ख) अर्गल-कपाटपट्टद्वय-दृढसयोजककाष्ठादिनिर्मितकीलविशेष श्रृ खलादि च।
—दशवै आचारमणिमजूषा टीका, भा. १, पृ. ५०७

□ पाठान्तर—छिवाडिं।

अधिक पाठ—> इस प्रकार के चिह्न से अकित गाथा के बाद दो गाथाएँ अधिक मिलती है—

उप्पलं पउमं वा वि, कुमुअ वा मगदतिअ।
अन्न वा पुप्फसच्चित्त, त च संघट्टिया दए ॥ १८ ॥
त भवे भत्तपाण तु, सजयाण अकप्पिअ।
दितिअ पडिआइक्खे, न मे कप्पइ तारिस ॥ १९ ॥

२३४. तहा कोलमणुस्सिन्नं+ वेलुयं कासवनालियं ।
तिलपप्पडगं नीमं आमगं परिवज्जए ॥२१॥

२३५. तहेव चाउलं पिट्ठं वियडं वा तत्तनिव्वुडं ।
तिलपिट्ठं पूइपिन्नागं आमगं परिवज्जए ॥२२॥

२३६. कविट्ठं माउलिंगं च मूलगं मूलगत्तियं ।
आमं असत्थपरिणयं मणसा वि न पत्थए ॥२३॥

२३७. तहेव फलमंथूणि बीयमंथूणि जाणिया ।
बिहेलगं पियालं च आमगं परिवज्जए ॥२४॥

[२२७-२२८] (यदि कोई दाता) उत्पल, पद्म, कुमुद या मालती अथवा अन्य किसी सचित्त पुष्प का छेदन करके (भिक्षा) दे तो वह भक्त-पान सयमी साधु-साध्वियो के लिए अकल्पनीय होता है, इसलिए (साधु या साध्वी) देती हुई उस दात्री स्त्री को निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार-पानी मेरे लिए ग्राह्य नही है ॥१४-१५॥

[२२९-२३०] (यदि कोई दाता) उत्पल, पद्म, कुमुद या मालती अथवा अन्य किसी सचित्त पुष्प को सम्मर्दन (मसल या कुचल) कर भिक्षा देने लगे तो वह भक्त-पान सयमी साधु-साध्वियो के लिए अकल्पनीय होता है । (इसलिए आहार) देने वाली (उस महिला) को (मुनि) निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मेरे लिए अग्राह्य है ॥१६-१७॥

[२३१-२३२] अनिर्वृत (जो शस्त्र से परिणत नही है, ऐसे) कमलकन्द, पलाशकन्द, कुमुदनाल, उत्पलनाल, कमल के तन्तु (मृणाल), सरसों की नाल, अपक्व इक्षुखण्ड (गण्डेरी) को अथवा वृक्ष, तृण और दूसरी हरी वनस्पति (हरियाली) का कच्चा नया प्रवाल (कोपल) छोड दे, (ग्रहण न करे) ॥१८-१९॥

[२३३] जिसके बीज न पके हो, ऐसी नई (ताजी) अथवा एक बार भुनी हुई (मूंग आदि की) कच्ची फली देती हुई (दात्री महिला) को साधु निषेध कर दे कि इस प्रकार का आहार मैं ग्रहण नही करता ॥२०॥

[२३४] इसी प्रकार बिना उबाला हुआ बेर, वश-करीर (बास का अकुर या केर), काश्यपनालिका (श्रीपर्णी का फल) तथा अपक्व तिलपपडी और कदम्ब का फल (नीप) नही लेना चाहिए ॥२१॥

[२३५] इसी प्रकार चावलो का पिष्ट (आटा) और विकृत (शुद्धोदक धोवन) तथा निर्वृत (जो गर्म जल ठडा होकर सचित्त हो गया हो ऐसा) जल (अथवा मिश्र जल), तिलपिष्ट (तिलकूट), पोइ-साग और सरसो की खली, ये सब कच्चे (अपक्व) न ले ॥२२॥

[२३६] अपक्व (कच्चे) और शस्त्र से अपरिणत कपित्थ (कैथ), बिजौरा, मूला और मूले के कन्द के टुकडे को (ग्रहण करने की) मन से भी इच्छा न करे ॥२३॥

+ पाठान्तर—कोलमणसिन्न

[२३७] इसी प्रकार (बेर आदि) फलो का चूर्ण, (जौ आदि) बीजो का चूर्ण, बिभीतक (बहेडा) तथा प्रियालफल, इन्हे अपक्व जान कर छोड दे (न ले) ।।२४।।

विवेचन—अपक्व-अशस्त्रपरिणत भक्तपान को लेने का निषेध—प्रस्तुत ११ सूत्रगाथाओं (२२७ से २३७ तक) मे शास्त्रकार ने कतिपय ऐसी खाद्य पेय वस्तुओ के नाम गिनाए हैं, जिनके छेदन-भेदन करने पर या कूटने-पीसने पर या एक बार गर्म किये जाने पर अचित्त (निर्जीव) हो जाने की भ्रान्ति से साधु-साध्वी ग्रहण कर सकते हैं, अत इन्हे पूरी तरह से अचित्त, पक्व व शस्त्रपरिणत न होने तक ग्रहण न करने के लिए साधु-साध्वियो को सावधान किया है।

उप्पलं आदि शब्दों के अर्थ—**उप्पलं**—उत्पल—नीलकमल। **पउमं**—पद्म—रक्तकमल या अरविन्द। **कुमुयं**—कुमुद—चन्द्रविकासी कमल। **मगदंतियं : तीन अर्थ**—(१) मालती, (२) मोगरा, अथवा (३) मल्लिका (बेला) **सालुयं**—कमलकन्द अर्थात्—कमल की जड। **विरालियं : विदारिका : विभिन्न अर्थ**—हरिभद्रसूरि के अनुसार—पर्ववल्लि, प्रतिपर्ववल्लि या प्रतिपर्वकन्द। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—क्षीरविदारी, जीवन्ती और गोवल्ली। जिनदासचूर्णि के अनुसार बीज से नाल, नाल से पत्ते और पत्ते से जो कन्द उत्पन्न होता है, वह पलाशकन्दी, विदारिका है। **कुमुउप्पलनालिय**—कुमुद-नालिका और उत्पलनालिका, अर्थात्—क्रमश चन्द्रविकासी कमल की नाल और नीलकमल की नाल। **मुणालियं**—पद्मनाल (मृणाल) अथवा जो पद्मिनीकन्द से निकलती है, हाथीदात-सरीखी होती है, वह। **उच्छुखंडं अनिव्वुडं**—पर्वाक्ष या पर्वसहित इक्षुखण्ड अनिर्वृत अर्थात्—अपक्व।

तात्पर्य—तात्पर्य यह है कि पर्वसहित गन्ने के टुकडे सचित्त होते है। यह सब वनस्पतिजन्य खाद्य केवल छेदन करने, मर्दन करने (मसलने का कुचलने) मात्र से या टुकडे कर देने से अथवा वृक्ष से तोड लेने मात्र से अचित्त, पक्व या शस्त्रपरिणत नही हो जाते, इसलिए इन्हे लेने का निषेध किया है।[१७]

---

१७ (क) उत्पल नीलोत्पलादि। —जिन चू, पृ १९६
(ख) पउम नलिण। —अ. चू, पृ १२८
(ग) पद्मम् अरविन्द वापि। कुमुद वा गर्दभक वा। —हारि वृत्ति, पत्र १८५
(घ) मगदतिका-मेत्तिका, मल्लिकामित्यन्ये। —हारि. वृत्ति, पत्र १८५
(ङ) 'सालुय-उप्पलकदो।' —अ चू, पृ १२९
(च) विरालिय पलासकदो अहवा छीरविराली, जीवन्ती गोवल्ली इति एसा। —अ चू, पृ १२९
(छ) विरालिका-पलाशकन्दरूपा, पर्ववल्लि-प्रतिपर्ववल्लि-प्रतिपर्वकन्दमित्यन्ये। —हारि वृत्ति, पत्र १८५
(ज) विरालिय नाम पलासकदो भण्णइ जहा बीए वस्सी जायति, तीसे पत्ते, पत्ते कदा जायति, सा विरालिया। —जिन. चूर्णि, पृ. १९७
(झ) 'मृणाल पद्मनाल च।' —शा. नि. भू, पृ. ५३८
(ञ) 'मुणालिया गयदतसन्निभा पउमिणिकदाओ निग्गच्छति।' —जि. चू., पृ. १९७
(ट) उच्छुखडमवि पव्वेसु धरमाणेसु ता नेव अनवगतजीव कप्पइ। —जि. चू, पृ. १९७
(ठ) इक्षुखण्डम्-अनिर्वृत्त सचित्तम्। —हारि वृत्ति, पत्र १८५

रुक्खस्स तणगस्स वा : स्पष्टीकरण—'तणगस्स' को पृथक् पद मानने से 'तृण का' ऐसा अर्थ होता है, किन्तु तृण (तिनके या घास) के कोई नये पत्ते नही आते, इसलिए 'तणगस्स' शब्द रुक्खस्स का विशेषण ही सगत प्रतीत होता है। अगस्त्यचूर्णि एव हारिभद्रीया वृत्ति में इसका अर्थ—मधुर तृणादि किया है। मधुर तृणक 'मधुर तृणद्रुम' का पर्यायवाची प्रतीत होता है। तदनुसार नारियल, ताल, खजूर, केतक और छुहारे आदि मधुर फलों के वृक्ष को मधुर तृणद्रुम कहा जा सकता है। इसके नये पत्ते (कोपल) ग्रहण करने का निषेध है।[१८]

तरुणअं वा पवालं—नया (ताजा) पत्ता या कोपल; जिसे संस्कृत में 'प्रवाल' कहते हैं।

आमियं तरुणियं सइं भज्जियं छिवाडिं : सचित्त अचित्त का स्पष्टीकरण—छिवाडि का अर्थ—मूग आदि की फली या सीगा है। ताजी कच्ची (मूग, मोठ, चौला आदि की) एक बार भुनी हुई फली एक बार के अग्निसस्कार से पूर्णतया पक्व नही होती, कुछ कच्ची—कुछ पक्की मिश्रित रहती है। इसलिए ऐसी अपक्व फली को लेने का निषेध है, किन्तु वे हरी फलियाँ दो-तीन बार भुनी हुई हो, तो लेने का निषेध नही है।[१९]

कोलमणुस्सिन्नं० आदि पदों के अर्थ का स्पष्टीकरण—**कोलमणुस्सिन्नं**—जो उबाला हुआ न हो, वह बेर का फल। **वेलुअं**--वशकरिल्ल—बास का अकुर। बेलुय का 'बिल्व' अर्थ सगत नही, क्योकि वेलुय का सस्कृत रूपान्तर 'वेणक' तो हो सकता है, बिल्व नही। बिल्व का प्राकृत मे 'बिल्ल' रूप होता है, जिसका प्रथम उद्देशक मे उल्लेख हो चुका है। **कासव-नालियं : दो अर्थ**—(१) काश्यपनालिका—अर्थात् श्रीपर्णी फल या कसारु (जलीय कन्द) जो घास का कन्द है, जिसका फल पीले रग का और गोल होता है। **तिलपप्पडिगं**—तिलपर्पटक, वह तिलपपडी जो कच्चे तिलो से बनी हो। **नीमं नीप**—कदम्बफल। नीम का अर्थ भ्रान्तिवश नीम का फल (निम्बोली) करना उचित नही, क्योकि सस्कृत मे 'निम्ब' शब्द नीम के लिए प्रयुक्त होता है।[२०]

चाउल पिट्ठं आदि शब्दों का अर्थ और स्पष्टीकरण—**चाउलं पिट्ठं : दो अर्थ**—(१) अभिनव (तत्काल के) और अनिधन (बिना पकाये हुए) चावलो का (उपलक्षण से गेहूँ आदि अन्य अनाजो का)

---

१८. (क) तृणस्य वा मधुरतृणादे। —हा वृ, पत्र १८५
(ख) तणस्स जहा—अज्जगमूलादीण। —जि. चू., पृ १९७
(ग) तरुणिया नाम कोमलिया। —जि चू., पृ. १९७
(घ) तरुणां वा असजाताम्। —हा. टी., पत्र १८५

१९. (क) नीमं—नीवफल—कदम्बफल। —अ चू., पृ १३०
(ख) नीम—नीमरुक्खस्स फल। —जि चू, पृ १९८
(ग) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २८१

२०. (क) दसवेयालिय (मुनि. नथ.) पृ. २६८
(ख) कासवनालिअ-सीवण्णीफल कस्सारुक। —अ. चू. पृ. १३०
(ग) तिलपप्पडगो—जो आमगोहिं तिलेहिं कीरइ, तमवि आमग परिवज्जेज्जा। —जि चू., पृ १९८

पिष्ट—आटा अथवा (२) भुने हुए चावलो का पिष्ट। ये दोनो जब तक अपरिणत हो, तब तक सचित्त हैं।[२१]

वियडं वा तत्त-निव्वुडं : चार रूप : चार अर्थ—(१) **विकटं तप्तनिर्वृतम्**—इन दोनो को एक पद मान कर अर्थ किया गया है, जो उष्णोदक पहले गर्म किया हुआ हो, किन्तु कालमर्यादा व्यतीत होने पर पुन सचित्त हो गया हो। वर्तमान परम्परानुसार ग्रीष्मकाल मे ५ पहर के बाद, शीत-काल मे ४ पहर के बाद और वर्षाकाल मे तीन पहर के बाद अचित्त उष्ण जल भी सचित्त हो जाता है, ऐसी कितने ही आचार्यों की मान्यता है, पर मूल आगमो के पाठो मे ऐसा सकेत नही। (२) **विकृतं**—अन्तरिक्ष और जलाशय का जल, जो दूसरी वस्तु के मिश्रण से विकृत होने से अचित्त-निर्जीव हो जाता है, जैसा कि आचाराग चूला मे विकृत जल के रूप मे द्राक्षा आदि का २१ प्रकार का पानक (धोवन) ग्राह्य कहा है।

तप्ताऽनिर्वृत—जो जल तप्त (गर्म किया हुआ) तो हो, किन्तु थोडा गर्म किया हुआ होने से पूर्णतया अनिर्वृत—शास्त्रपरिणत न हुआ हो, वह मिश्र जल है।[२२]

पूइ-पिन्नागं : दो रूप : पांच अर्थ—(१) **पूति**—पोई का साग और पिण्याक—तिल, अलसी, सरसो आदि की खली। (२) **पूतिपिण्याक**—सडी हुई दुर्गन्धित खली। (३) सरसो की पिट्ठी। (४) सरसो का पिण्ड (भोज्य)। (५) सरसो की खली पिण्याक।[२३]

कविट्ठं आदि के अर्थ—कविट्ठ—कपित्थ या कैथ का फल, जिसका वृक्ष कटीला होता है, जिसके फल बेल के आकार के कसैले या खट्टे होते है। **माउलिंगं : मातुलिंग**—बिजौरा। **मूलकं : मूलक**—पत्ते के सहित मूली। **मूलगत्तियं**—मूलकर्तिका कच्ची मूली का गोल टुकडा। वृत्ति के अनुसार मूलवर्त्तिका—कच्ची मूली।[२४]

---

२१ (क) चाउल पिटठ-लोट्ठो, त अभिणवमणिधण सच्चित्त भवति। —अ चू, पृ २३०
(ख) चाउल पिटठ भट्ठ भण्णइ, तमपरिणतधम्म सचित्त भवति। —जि चू, पृ १९८

२२ (क) वियड उण्होदग। —अ चू, पृ १३०
(ख) तप्तनिवृत—क्वथित तत् शीतीभूतम्। —हा टी, पत्र १८५
(ग) वियड त्ति पानकाहार। (विकृतम् जल) —ठाणाग-३।३४९ वृत्ति
(घ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २८२
(ङ) तप्ताऽनिर्वृत वा—अप्रवृत्तत्रिदण्डम्। —हा टीका, पृ १८५

२३ (क) पूति-पिण्याक—सर्षपखलम्। —हारि वृत्ति, पत्र १८५
(ख) पिण्याक—खल। —सूत्रकृ २।६।२६ प ३९६ वृ
(ग) पूतिय नाम सिद्धत्थपिण्डगो, तत्थ अभिन्ना वा सिद्धत्थगा भोज्जा, दरभिन्ना वा।
—जिन चूर्णि, पृ १९८
(घ) पूइ-पोई-पिण्याकतिल कल्कस्थूणिकाशुष्कशाकानि सर्वदोषप्रकोपणानि। —सुश्रुत सू ४६।३२१

२४ (क) कपित्थ कपित्थफलम्। मातुलिंग च बीजपूरक। मूलवर्तिका-मूलकन्द-चक्कलिम्।
—हारि वृत्ति, पत्र १७५
(ख) मूलओ—सपत्तपलासो, मूलकत्तिया—मूलकदा चित्तलिया भण्णइ। —जिनदास चूर्णि, पृ १९८

बीयमंथूणि, फलमंथूणि : अर्थ और स्पष्टीकरण—**बीजमन्थु**—जौ, उडद, मूग, गेहूँ आदि के चूर्ण (—चूरे) को 'बीजमथु' कहते है। बीजो के चूरे या कूट मे अखण्ड बीज (दाना) रहना सम्भव है, इसी कारण इसे उत्पक्व—अशस्त्रपरिणत, अतएव सचित्त माना है। **फलमन्थु : दो अर्थ**—(१) बेर आदि फलो का चूर्ण (चूरा या कूट), (२) बेर का चूर्ण या कूट। **बिहेलगं**—बिभीतक—बहेडा का फल, जो त्रिफला मे मिलता है, दवा के काम में आता है। यह अखण्ड फल सचित्त है, इसका कूटा हुआ चूर्ण अचित्त है। **पियालं—प्रियाल : तीन अर्थ**—(१) चिरौजी का फल, (२) रायण का फल, (३) द्राक्षा।[२५]

सामुदानिक भिक्षा का विधान

२३८. **समुदाण चरे भिक्खू, कुल उच्चावय सया।**
नीयं कुलमइक्कम्म, ऊसढं नाभिधारए ॥२५॥

[२३८] भिक्षु समुदान (सामूहिक) भिक्षाचर्या करे। (वह) उच्च और नीच सभी कुलो मे (भिक्षा के लिए) जाए, (किन्तु) नीचकुल (घर) को छोड (लाघ) कर उच्चकुल (घर) मे न जाए ॥ २५ ॥

विवेचन—भिक्षाचर्या मे समभाव की दृष्टि रखे—प्रस्तुत सूत्रगाथा मे साधु-साध्वी को भिक्षाचर्या मे समभाव की दृष्टि रखने हेतु समुदान भिक्षा का निर्देश किया गया है। एक ही या दो-तीन घरो से ही भिक्षा ली जाए तो उसमे एषणाशुद्धि रहनी कठिन है। साधु की स्वादलोलुपता भी बढ सकती है। इसलिए अनेक घरो से थोडा-थोडा लेने से और सधन-निर्धन-मध्यम सभी घरो से आहार-पानी लेने से एषणाशुद्धि और समतावृद्धि होती है।

उच्च-नीच कुल का अर्थ—जो घर जाति से उच्च, धन से समृद्ध हो और मकान भी विशाल हो, ऊँचा हो, तथा जहाँ मनोज्ञ आहार मिले, वह कुल (घर) 'उच्च' कहलाता है। जो घर जाति से नीच हो, धन मे समृद्ध न हो और मकान भी विशाल एव ऊँचा न हो, जहाँ मनोज्ञ आहार न मिलता हो, वह कुल (घर) नीचकुल है। साधु इस प्रकार नीचकुल को छोड कर या लाघ कर ऊँचे कुलो मे भिक्षार्थ न जाए। यहाँ पर यह भी स्मरण रखना होगा कि जुगुप्सित कुल मे भिक्षा के लिए जाना निषिद्ध है।

---

२५ (क) बीयमथू—जव-मास-मुग्गादीणि। फलमथू—बदर-ओबरादीण भण्णइ। —जिन चूर्णि, पृ १९८
(ख) फलमन्थून—बदरचूर्णान्। बीजमन्थून्—यवादिचूर्णान्। —हारि वृत्ति, १९८
(ग) बिभेलग—भूतरुक्खफल, (बिभीतकफलम्)। —अ चूर्णि, पृ १३०
(घ) पियाल पियालरुक्खफल वा। —अ चूर्णि, पृ. १३०
(ङ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ. २८४
(च) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, ५१७-५१८

नीच और 'अवच' तथा 'ऊसढ' (उच्छ्रित) और उच्च दोनो एकार्थक है।[२६]

दीनता, स्तुति एवं कोप आदि का निषेध

२३९. अदीणे वित्तिमेसेज्जा, न विसीएज्ज पंडिए।
अमुच्छिओ भोयणम्मि मायन्ने एसणारए॥ २६॥

२४०. बहुं परघरे अत्थि, विविह खाइम-साइमं।
न तत्थ पडिओ कुप्पे, इच्छा दिज्ज परो न वा॥ २७॥

२४१. सयणासण-वत्थं वा भत्त-पाणं व संजए।
अदेंतस्स न कुप्पेज्जा, पच्चक्खे वि य दीसओ॥ २८॥

२४२. इत्थियं पुरिसं वा वि डहरं वा महल्लग।
वंदमाणं न जाइज्जा नो य णं फरुस वए॥ २९॥

२४३. जे न वंदे, न से कुप्पे, वंदिओ न समुक्कसे।
एवमन्नेसमाणस्स सामण्णमणुचिट्ठई॥ ३०॥

[२३९] विवेकशाली (पण्डित) साधु दीनता से सर्वथा रहित होकर वृत्ति (भिक्षा) की एषणा करे। (भिक्षा न मिले तो) विषाद न करे। (सरस) भोजन (मिलने पर उस) मे अमूर्च्छित (अनासक्त) रहे। मात्रा को जानने वाला मुनि (आहार-पानी की) एषणा (एषणात्रय) मे रत रहे॥ २६॥

[२४०] गृहस्थ (पर) के घर मे अनेक प्रकार का प्रचुर खाद्य तथा स्वाद्य आहार होता है, (किन्तु न देने पर) पण्डित मुनि (उस पर) कोप न करे, परन्तु ऐसा विचार करे कि यह गृहस्थ (पर) है, (यह) दे या न दे, इसकी इच्छा॥ २७॥

[२४१] सयमी साधु प्रत्यक्ष (सामने) दीखते हुए भी शयन, आसन, वस्त्र, भक्त और पान, न देने वाले पर क्रोध न करे॥ २८॥

---

२६ (क) **समुयाणीयति**—समाहरिज्जति तदत्थ चाउलसाकतो रसादीणि तदुपसाधणाणीति अण्णमेव 'समुदाण चरे'—गच्छेदिति। अहवा पुव्वभणितमुग्गमुप्पायणेसणासुद्धमण्ण समुदाणीय चरे। —अ चू., पृ १३१

(ख) समुदाया णिज्जइ त्ति—थोव थोव पडिवज्जइ त्ति वुत्त भवइ। —जि चू १९८

(ग) जिनदास चूर्णि, पृ १९८-१९९

(घ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ २८४

(ङ) ' णो णीयाणि अतिक्कमेज्जा, किं कारण ? दीहा भिक्खायरिया भवति, सुत्तत्थपलिमथो य जडजीवस्स य अण्णे न रोयति। जे ते अतिक्कमिज्जति, ते अप्पत्तिय करेति, जहा परिभवति एस अम्हेत्ति, पव्वइयो वि जातिवाय ण मुयति। जातिवाओ य उव्वूहितो भवति।' —जि चूर्णि, पृ १९९

[२४२] (निर्ग्रन्थ श्रमण) स्त्री या पुरुष, बालक या वृद्ध वन्दना कर रहा हो, तो उससे किसी प्रकार की याचना न करे तथा आहार न दे तो उसे कठोर वचन भी न कहे ।। २९ ।।

[२४३] जो वन्दना न करे, उस पर कोप न करे, (और राजा, नेता आदि कोई महान् व्यक्ति) वन्दना करे तो (मन मे) उत्कर्ष (अहकार) न लाए—(गर्व न करे)। इस प्रकार भगवदाज्ञा का अन्वेषण करने वाले मुनि का श्रामण्य (साधुत्व) अखण्ड रहता है।

विवेचन—भिक्षाचर्या मे श्रमणत्व का ध्यान रखे—प्रस्तुत सूत्रगाथाओ (२३९ से २४३ तक) मे भिक्षाचर्या करते समय साधु को क्षमा, मार्दव, आर्जव, अदैन्य, मन-वचन-काय-सयम, तप, त्याग आदि श्रमणधर्मों (श्रमणत्व को अखण्ड रखने वाले गुणो) को सुरक्षित रखने का निर्देश किया गया है।

(१) **अदीणो वित्तिमेसेज्जा**—गृहस्थ के सामने अपनी दीनता-हीनता प्रदर्शित करके या गिडगिडा कर या लाचारी बताकर भिक्षाचर्या न करे, न आहार की याचना करे, क्योकि दीनता प्रकट करने से आत्मा का अध पतन और जिनशासन की लघुता होती है। मन मे दीनता आ जाने से शुद्ध आहार की गवेषणा नही हो सकती। किसी प्रकार से आहार से पात्र भरने की वृत्ति आ जाती है। दीनता 'त्याग' नामक श्रमणधर्म को खण्डित कर देती है।

(२) **न विसीएज्ज**—कदाचित् शुद्ध गवेषणा करने पर भी आहार-पानी न मिले तो मन मे किसी प्रकार का विषाद न करे। क्योकि विषाद करने से आर्त्तध्यान होता है, क्षान्तिगुण का ह्रास हो जाता है।

(३) **अमुच्छिओ**—साधु सरस स्वादिष्ट आहार मे मूर्च्छित—आसक्त—न हो, क्योकि इससे निर्लोभता (मुक्ति) का गुण लुप्त हो जाता है। रसलोलुप बनने पर साधु सरस आहार मिलने वाले घरो मे जाएगा, ऐसी स्थिति मे एषणाशुद्धि नही रह सकेगी।

(४) **मायण्णे**—साधु को अपने आहार के परिमाण का जानकार होना आवश्यक है, क्योकि अधिक आहार लाने पर उसका परिष्ठापन करने से असयम होगा। सयम नामक श्रमणधर्म का ह्रास होगा।

(५) **एषणारए**—भिक्षाचर्या का अभिप्राय एषणाशुद्ध आहार लाना है। अत भिक्षाचरी के समय पचेन्द्रियविषयो या अन्य बातो अथवा गप्पो से[२७] ध्यान हटाकर केवल एषणा मे ही ध्यान रखना है, अन्यथा वह अहिंसादि धर्म से विचलित हो जाएगा।

अदितस्स न कुप्पेज्जा—गृहस्थ के यहाँ जाने पर साधु अनेक प्रकार की शयन, आसन, वस्त्र, विविध सरस आहार आदि प्रत्यक्ष देखता है, परन्तु यदि गृहस्थ की भावना नही है तो वह नही देता। उसकी इच्छा है, वह दे या न दे। किन्तु न देने पर साधु उसे न झिडके, न डाटे-फटकारे, या न ही गाली गलौज करे, न किसी प्रकार का शाप दे। क्योकि ऐसा करने से उसका क्षमा नामक श्रमण-

---

२७ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ २७७
(ख) दशवै. (आचारमणि म. टीका) भा १, पृ ५२०

धर्म लुप्त हो जाएगा। अत साधु न देने पर कुछ भी बोले बिना या मन मे द्वेष, घृणा या रोष का भाव लाए बिना चुपचाप वहाँ से निकल जाए।[२८]

वदमाण न जाइज्जा—चूर्णिद्वय और हारि वृत्ति मे इसकी व्याख्या की गई है—वन्दना करने वाले स्त्री, पुरुष, बालक अथवा वृद्ध पुरुष से साधु किसी प्रकार की याचना न करे, क्योकि इस प्रकार याचना करने से वन्दना करने वाले लोगो के हृदय मे साधु के प्रति श्रद्धा-भक्ति समाप्त हो जाती है। साधु मन मे यह न सोचे कि इसने मुझे वन्दन किया है, इसलिए यह अवश्य ही भद्र है, इससे याचना करनी चाहिए, किन्तु सभी सम्पन्न नही होते, और जो सम्पन्न होते है, वे सभी भावुक नही होते। किसी की परिस्थिति या भावना अनुकूल नही होती, वह साधु के वचनो का अनादर कर सकता है, अथवा साधु के स्वाभिमान को चोट पहुँचा सकता है। यदि याचना करने पर भी वन्दना करने वाला कोई गृहस्थ निर्दोष आहार-पानी न दे तो उसे झिडकना या कठोर वचन नही कहना चाहिए। दोनो चूर्णियो तथा टीका मे **'वंदमाणो न जाएज्जा'** पाठान्तर मिलता है। तात्पर्य यह है कि साधु गृहस्थ की प्रशसा करता हुआ याचना न करे। यह पाठ भी सगत प्रतीत होता है, क्योकि 'पूर्व-पश्चात्-सस्तव' नामक एषणादोष इसी अर्थ को द्योतित करता है। आचारचूला और निशीथसूत्र मे इसी पाठ का समर्थन मिलता है।[२९]

वन्दना न करने वाले पर कोप और वन्दन करने पर गर्व न करे—ये दोनो दोष भिक्षाजीवी साधु मे नही होने चाहिए। कोप से क्षमाधर्म का और गर्व से मार्दव धर्म का नाश होता है। साधु को यही चिन्तन करना चाहिए कि किसी के वन्दना करने या न करने से साधु को कोई लाभ नही है, उसके कर्म नही कट जाएँगे, न मोक्ष प्राप्त होगा। वन्दना करने से कुछ लाभ है तो गृहस्थ को है। अत साधु को वन्दना करने या न करने वाले दोनो पर समभाव रखना चाहिए।[३०]

सामण्णमणुचिट्ठइ—इन भगवत्प्ररूपित सूत्रो के अनुसार चलने से साधु-साध्वी श्रामण्य (श्रमणधर्म) मे स्थिर रहते है। अथवा इन जिनाज्ञाओ का अनुसरण करने वाले साधु का साधुत्व अखण्ड रहता है। निष्कर्ष यह है कि साधु आत्मगुणो से बाह्य इन विभावो या परभावो मे न उलझ कर स्वभाव मे स्थिर रहे।[३१]

---

२८ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ २७९
(ख) पण्डिए इति पदेन सदसद्विवेकशालित्व, तेन च मनोविजयित्वमावेदितम्।
—दश (आ म म टीका) भा १, पृ ५२२

२९ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मा), पृ. २८०
(ख) दशवै. (आ म म टीका) भा. १, पृ ५२३-५२४
(ग) पाठविशेषो वा—'वदमाणो न जाएज्जा।' —अ चू, पृ १३२
(घ) जिनदासचूर्णि, पृ २००
(ङ) 'नो गाहावइ वदिय-वदिय जाएज्जा, नो व ण फरुस वएज्जा।' —आचारचूला, १।६२, निशीथ २।३८

३० (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ २८१
(ख) दशवै (आचारमणिमजूषा टीका), भा १, पृ ५२५

३१ (क) अन्वेषमाणस्य भगवदाज्ञामनुपालयत श्रामण्यमनुतिष्ठति अखण्डमिति। —हारि. वृत्ति, पत्र १८६
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ २८१

स्वादलोलुप और मायावी साधु की दुर्वृत्ति का चित्रण और दुष्परिणाम

२४४. सिया एगइओ लद्धुं लोभेण विणिगूहइ।
मा मेयं दाइयं संतं दट्ठूण सयमायए ॥३१॥

२४५. अत्तट्ठ□ गुरुओ लुद्धो, बहुं पावं पकुव्वई।
दुत्तोसओ य से होइ, निव्वाणं च न गच्छई ॥३२॥

२४६. सिया एगइओ लद्धुं, विविहं पाण-भोयणं।
भद्दगं भद्दगं भोच्चा, विवण्णं विरसमाहरे ॥३३॥

२४७. जाणतु ता इमे समणा आययट्ठी अयं मुणी।
संतुट्ठो सेवई पंत, लूहवित्ती सुतोसओ ॥३४॥

२४८. पूयणट्ठी जसोकामी माण-सम्माणकामए।
बहुं पसवई पाव मायासल्लं च कुव्वइ ॥३५॥

[२४४-२४५] कदाचित् कोई एक (अकेला साधु सरस आहार) प्राप्त करके इस लोभ से छिपा लेता है कि मुझे मिला हुआ यह आहार गुरु को दिखाया गया तो वे देख कर स्वय ले ले, मुझे न दे, (परन्तु) ऐसा अपने स्वार्थ को ही बडा (सर्वोपरि) मानने वाला स्वादलोलुप (साधु) बहुत पाप करता है और वह सन्तोषभाव से रहित हो जाता है। (ऐसा साधु) निर्वाण को नही प्राप्त कर पाता ॥३१-३२॥

[२४६-२४७] कदाचित् कोई एक साधु विविध प्रकार के पान और भोजन (भिक्षा मे) प्राप्त कर (उसमे से) अच्छा-अच्छा (सरस पदार्थ कही एकान्त मे बैठ कर) खा जाता है और विवर्ण (वर्णरहित) एव नीरस (तुच्छ भोजन-पान) को (स्थान पर) ले आता है। (इस विचार से कि) ये श्रमण जाने कि यह मुनि बडा मोक्षार्थी है, सन्तुष्ट है, प्रान्त (सार-रहित) आहार सेवन करता है, रूक्षवृत्ति एव जैसे-तैसे आहार से सन्तोष करने वाला है ॥३३-३४॥

[२४८] ऐसा पूजार्थी, यश-कीर्ति पाने का अभिलाषी तथा मान-सम्मान की कामना करने वाला साधु बहुत पापकर्मों का उपार्जन करता है और मायाशल्य का आचरण करता है ॥३५॥

विवेचन—आहार के परिभोग मे मायाचार सम्बन्धी परिचर्चा—प्रस्तुत ५ सूत्र गाथाओ (२४४ से २४८ तक) मे स्वार्थी, स्वादलोलुप एव मायाचारी साधु की मनोवृत्ति का चित्रण प्रस्तुत किया गया है।

दो प्रकार की मायाचार-प्रवृत्ति—(१) भिक्षाप्राप्त सरस आहार को गुरु से छिपा कर सारा का सारा आहार स्वय सेवन करने की प्रवृत्ति, (२) दूसरी, सरस श्रेष्ठ आहार को एकान्त मे सेवन करके उपाश्रय मे नीरस आहार लाना है। दोनो मे से प्रथम प्रकार की प्रवृत्ति वाला साधु निजी

□ पाठान्तर—अनट्ठा-गुरुओ।

स्वार्थ को प्रमुखता देकर बहुत पाप उपार्जित करता है। वह सदैव नीरस आहार से असन्तुष्ट रहता है, मोक्ष से दूर हो जाता है। दूसरे प्रकार की प्रवृत्ति वाला साधु बहुत मायाचार करता है। वह प्रशसा और प्रसिद्धि पाने की दृष्टि से ऐसा करता है ताकि वे उसे आत्मार्थी, सन्तोषी, नीरसाहारी, रूक्षजीवी समझे, ऐसे साधु की मनोवृत्ति का स्पष्ट चित्रण करते हुए शास्त्रकार करते हैं—'वह पूजा-सत्कार पाने का इच्छुक, यशोलिप्सु एव सम्मान-कामना से प्रेरित है। वह तीव्र मायाशल्य का सेवन करता है, जिसके फलस्वरूप अनेक पाप-कर्मों का बन्ध कर लेता है।

'विणिगूहई' आदि विशेष शब्दो के अर्थ—**विणिगूहई**—नीरस वस्तु को ऊपर रख कर सरस वस्तु को ढँक लेता है। **आययट्ठी : तीन अर्थ**—(१) आयातार्थी—मोक्षार्थी। (२) आयति अर्थी—आयति—आगामी काल के हित का अर्थी—अभिलाषी। (३) आत्मार्थी। **लूहवित्ती-रूक्षवृत्ति**—(१) रूक्षभोजी, (सरस स्निग्ध आहार की लालसा से रहित) और (२) सयमवृत्ति वाला। **पसवई**—उत्पन्न या उपार्जन करता है। **पूयणट्ठा**—पूजा चाहने वाला अर्थात्—वस्त्र-पात्रादि से सत्कार चाहने वाला। **माणसम्माणकामए**—वन्दना, अभ्युत्थान (आने पर खडा हो जाना) आदि मान है और वस्त्र-पात्रादि का लाभ सम्मान है। अथवा एकदेशीय पूजाप्रतिष्ठा मान है, और सर्व प्रकार से पूजाप्रतिष्ठा सम्मान है मान-सम्मान का अभिलाषी—मानसम्मान-कामुक है।[३०]

मद्यपान, स्तैन्यवृद्धि आदि तज्जनित दोष एवं दुष्परिणाम

२४९. सुरं वा मेरग वा वि अन्न वा मज्जगं रस।
ससक्खं न पिबे भिक्खू, जस सारक्खमप्पणो ॥३६॥

२५०. पियए एगओ+ तेणो, न मे कोइ वियाणइ।
तस्स पस्सह दोसाइ नियडिं च सुणेह मे ॥३७॥

---

३० (क) 'विविहेहिं पगारेहिं गूहति विणिगूहति, अप्पसारिय करेइ, अन्नेण अतपतेण ओहाडेति।'
—जिनदासचूर्णि, पृ २०१

(ख) विनिगूहते—अहमेव भोक्ष्ये, इत्यन्त-प्रान्तादिनाऽऽच्छादयति। —हा. वृत्ति पत्र १८७

(ग) आयतो मोक्खो, त आयय अत्थयतीति आययट्ठी। —जिन चूर्णि, पृ. २०२

(घ) आयतट्ठी—'आगामिणि काले हितमायतीहित, आयतीहितेण अत्थी आयत्थाभिलासी।
—अगस्त्यचूर्णि, पृ १३३

(ङ) दश (आ म म टीका) भा. १, पृ ५२७

(च) रूक्षवृत्ति सयमवृत्ति। —हारि वृत्ति, पत्र १८७

(छ) लूहाइ से वित्ती, एतस्स ण णिहारे गिद्धी अत्थि। —जि चू, पृ २०२

(ज) तत्र वन्दनाऽभ्युत्थानलाभनिमित्तो मान, वस्त्र-पात्रादिलाभनिमित्त सम्मान।
—हारि. वृत्ति, पत्र १८७

(झ) अहवा माणो एगदेसे कीरइ, सम्माणो पुण सव्वपगारेहिं इति। —जिन चूर्णि, पृ २०२

+ **पाठान्तर**— पियाएगइओ।

२५१. वड्ढइ सोंडिया तस्स, मायामोसं च भिक्खुणो ।
अयसो य अनिव्वाणं, सययं च असाहुया ।।३८।।

२५२. निच्चुव्विग्गो जहा तेणो, अत्तकम्मेहिं दुम्मई ।
तारिसो मरणंते वि, नाऽऽराहेइ संवरं ।।३९।।

२५३. आयरिए नाराहेइ, समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं गरहंति, जेण जाणंति तारिस ।।४०।।

२५४. एवं तु अगुणप्पेही, गुणाण च विवज्जए ।
तारिसो मरणं ते वि, नाऽऽराहेइ सवरं ।।४१।।

२५५ तव कुव्वइ मेहावी पणीयं वज्जए रसं ।
मज्ज-प्पमाय-विरओ, तवस्सी अइ उक्कसो ।।४२।।

२५६. तस्स पस्सह कल्लाण अणेगसाहुपूइयं ।
विउलं अत्थसजुत्त कित्तइस्सं सुणेह मे ।।४३।।

२५७. एवं तु गुणप्पेही× अगुणाण+ विवज्जए ।
तारिसो मरणंते वि आराहेइ संवरं ।।४४।।

२५८. आयरिए आराहेइ समणे यावि तारिसो ।
गिहत्था वि णं पूयंति जेण जाणति तारिस ।।४५।।

२५९. तवतेणे वइतेणे रूवतेणे य जे नरे ।
आयार-भावतेणे य कुव्वई देवकिव्विसं ।।४६।।

२६०. लद्धूण वि देवत्तं, उववन्नो देवकिव्विसे ।
तत्थावि से न याणाइ किं मे किच्चा इमं फलं ? ।।४७।।

२६१. तत्तो वि से चइत्ताण लभिही□ एलमूयगं ।
नरयं तिरिक्खजोणिं वा, बोही जत्थ सुदुल्लहा ।।४८।।

२६२. एय च दोसं दट्ठूण नायपुत्तेण भासियं ।
अणुमायं पि मेहावी मायामोसं विवज्जए ।।४९।।

[२४९] अपने सयम (यज्ञ) की सुरक्षा करता हुआ भिक्षु सुरा (मदिरा), मेरक या अन्य किसी भी प्रकार का मादक रस आत्मसाक्षी से (या केवली भगवान् की साक्षी से) न पीए ।।३६।।

पाठान्तर—× एव तु स गुणप्पेही । + अगुणाण च विवज्जए ।
□ लब्भइ ।

[२५०] 'मुझे कोई जानता-देखता', यो विचार कर एकान्त मे अकेला (मद्य) पीता है, वह (भगवान् की आज्ञा का लोपक होने से) चोर है। उसके दोषो को (तुम स्वय) देखो, और मायाचार (कपटवृत्ति) को मुझ से सुनो ॥३७॥

[२५१] उस (मद्यपायी) भिक्षु की (मदिरापानसम्बन्धी) आसक्ति, माया-मृषा, अपयश, अनिर्वाण (अतृप्ति) और सतत असाधुता बढ जाती है ॥३८॥

[२५२] जैसे चोर सदा उद्विग्न (घबराया हुआ) रहता है, वैसे ही वह दुर्मति साधु अपने दुष्कर्मों से सदा उद्विग्न रहता है। ऐसा मद्यपायी मुनि मरणान्त समय मे भी सवर की आराधना नही कर पाता ॥३९॥

[२५३] न तो वह आचार्य की आराधना कर पाता है और न श्रमणो की। गृहस्थ भी उसे वैसा (मद्य पीने वाला दुश्चरित्र) जानते है, इसलिए उसकी निन्दा (गर्हा) करते है ॥४०॥

[२५४] इस प्रकार अगुणो (मद्यपानजनित अनेक दुर्गुणो) को ही (अहर्निश) प्रेक्षण (ध्यान या धारण) करने वाला और गुणो (ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणो) का त्याग करने वाला उस प्रकार का साधु मरणान्तकाल मे भी सवर (चारित्र) की आराधना नही कर पाता ॥४१॥

[२५५-२५६] (इसके विपरीत) जो मेधावी और तपस्वी साधु तपश्चरण करता है, प्रणीत (स्निग्ध) रस मे युक्त पदार्थों का त्याग करता है, जो मद्य (मादक द्रव्यो) और प्रमाद से विरत है, अहकारातीत है अथवा अत्यन्त उत्कृष्ट साधु है, उसके अनेक साधुओ द्वारा पूजित (प्रशसित या वन्दित) विपुल एव अर्थसयुक्त कल्याण को स्वय देखो और मै उसके (गुणो का) कीर्तन (गुणानुवाद) करू गा, उसे मुझ से सुनो ॥४२-४३॥

[२५७] इस प्रकार (ज्ञानादि) गुणो की प्रेक्षा करने वाला और अगुणो (प्रमादादि दोषो) का त्यागी शुद्धाचारी साधु मरणान्त काल मे भी सवर की आराधना करता है ॥४४॥

[२५८] (वह सवराराधक साधु) आचार्य की आराधना करता है और श्रमणो की भी। गृहस्थ भी उसे उस प्रकार का शुद्धाचारी जानते है, इसलिए उसकी पूजा (सन्मान-सत्कार-प्रशसा) करते है ॥४५॥

[२५९] (किन्तु) जो (साधु होकर भी) तप का चोर है, वचन का चोर है, रूप का चोर है, आचार तथा भाव का चोर है, वह किल्विषिक देवत्व के योग्य कर्म करता है ॥४६॥

[२६०] देवत्व (देवभव) प्राप्त करके भी किल्विषिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ वह वहाँ यह नही जानता कि यह मेरे किस कर्म (कृत्य) का फल है ? ॥४७॥

[२६१] वह (किल्विषिक देव) वहाँ से च्युत हो कर मनुष्यभव मे एडमूकता (बकरी या भेड की तरह गू गापन) अथवा नरक या तिर्यञ्चयोनि को प्राप्त करेगा जहाँ उसे बोधि की (प्राप्ति) अत्यन्त दुर्लभ है ॥४८॥

[२६२] इस (पूर्वोक्त) दोष (-समूह) को जान-देख कर ज्ञातपुत्र भगवान् महावीर ने कहा कि मेधावी मुनि अणुमात्र (लेशमात्र) भी मायामृषा (कपटसहित झूठ) का सेवन न करे ॥४९॥

विवेचन—मद्यपानजनित दोष और दुष्परिणाम—प्रस्तुत १४ सूत्रगाथाओ (२४९ से २६२ तक) मे साधु मद्यपान का दुर्गुण लग जाने पर किन-किन महादोषों से घिर जाता है और उनके क्या-क्या दुष्परिणाम भोगने पडते हैं ? इसका विशद निरूपण है। तथा ४ गाथाओ मे इस महादुर्गुण तथा महादोषो से बच कर चलने वाले शुद्धाचारी साधु के प्रशसनीय जीवन का निरूपण भी है। यह पान-परिभोगैषणा से सम्बन्धित दोष है।

मद्यपानजनित महादोष—मद्यपायी साधु के जीवन मे निम्नोक्त दोष घर कर जाते हैं—(१) अकेला और एकान्त मे छिप कर पीने से मायाचार, (२) चोरी, (भगवदाज्ञालोपनरूप चौर्य), (३) पानासक्ति मे वृद्धि, (४) मायामृषा-वृद्धि, (५) अपकीर्ति, (६) अतृप्ति, (७) असाधुता का दौर, (८) चोर की तरह मन मे सदैव उद्विग्नता, (९) मरणान्तकाल तक भी सवर की आराधना का अभाव, (१०) आचार्य एव श्रमणो की अनाराधना—अप्रसन्नता, (११) गृहस्थो के द्वारा निन्दा, घृणा। (१२) दुर्गुणप्रेक्षण, (१३) ज्ञानादिगुणो का ह्रास, एव (१४) अन्त मे तप, वचन, रूप, आचार और भाव का स्तैन्य (चौर्य)।[३१]

सुरा, मेरक और मद्यकरस : स्वरूप और प्रकार—सुरा और मेरक ये दोनो मदिरा के ही प्रकार हैं। भावमिश्र के अनुसार उबाले हुए शालि, षष्टिक (साठी) आदि चावलो को सधित करके तैयार की हुई मदिरा 'सुरा' कही जाती है। किन्तु अन्य आचार्यों ने मदिरा की तीन किस्मे बताई है—गौडी, माध्वी और पैष्टी। गुड से निष्पन्न गौडी, महुआ से निष्पन्न माध्वी और धान्य आदि के पिष्ट (आटे) से बनाई हुई पैष्टी कहलाती है। एक आचार्य ने मद्य के १२ प्रकार बताए है—(१) महुआ का (२) पानस (अनन्नास) का, (३) द्राक्षा का, (४) खजूर का, (५) ताड का (ताडी), (६) गन्ने का, (७) मैरेय —धावडी के फूल का, (८) मधुमक्खियो का (माक्षिक), (९) कविट्ठ—कैथ का (टाक), (१०) मधु—अन्य प्रकार के शहद का, (११) नारियल का और (१२) आटे का (पैष्ट)।[३२]

मैरेय: मेरक : विभिन्न परिभाषाएँ—(१) सुरा को पुन सन्धान करने से निष्पन्न होने वाली सुरा, (२) धाई के फल, गुड तथा धान्याम्ल (काजी) के सन्धान से तैयार की जाने वाली, (३)

---

३१ दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण), पृ ३६-३७

३२ (क) 'शालि-षष्ठिक-पिष्टादिकृत मद्य सुरा स्मृता।' —चरक पूर्व भा (सूत्रस्थान) अ. २५, पृ २०३

(ख) मदिरा त्रिविधा—माध्वी (मधुकेन निष्पादिता), गौडी (—गुडनिष्पादिता), पैष्टी (व्रीह्यादिपिष्ट-निर्वृत्तेति)। द्वादशविधमद्यानि, यथा—

माध्वीक पानस द्राक्ष, खार्जूर नारिकेलजम्।
मैरेय माक्षिक टाक, माधूक तालमैक्षवम्।
मुख्यमन्नविकारोत्थ, मद्यानि द्वादशैव च॥

—दशवै. (आचारमणिमजूषा), टीका भा १, पृ ५३१-५३२

आसव और सुरा को एक बर्तन मे सन्धान करने से निष्पन्न मद्य (४) कैथ की जड, बेर और खांड का एकत्र सन्धान करके तैयार की मदिरा ।[३३] (५) सिरका नामक मद्य है ।❀

मद्यकरस—भाग, गाजा, अफीम, चरस आदि मदजनक या मादक रस-द्रव्य को मद्यक रस कहते है । जो-जो द्रव्य बुद्धि को लुप्त करते है, वे मदकारी—मद्यक कहलाते हैं ।[३४]

जस सारक्खमप्पणो—अपने यश अथवा अपने सयम की सुरक्षा करने के लिए । यहाँ यश शब्द का सभी टीकाकारो ने 'सयम' अर्थ किया है ।[३५]

ससक्खं : दो रूप : तीन अर्थ—(१) **स्वसाक्ष्य**—आत्मसाक्षी से, (२) **ससाक्ष्य**—सदा के लिए मद्य-परित्याग मे साक्षीभूत केवली के द्वारा निषिद्ध, (३) ससाक्ष्य—गृहस्थो की साक्षी से न पीए ।[३६]

सवर : तीन अर्थों में—(१) प्रत्याख्यान, (२) सयम और (३) चारित्र ।[३७]

मेधावी : बुद्धिमान् के दो प्रकार है—(१) ग्रन्थमेधावी—बहुश्रुत, शास्त्र-पारगत और (२) मर्यादा-मेधावी—शास्त्रोक्त मर्यादाओ के अनुसार चलने वाला ।[३८]

मद्यप्रमाद : स्पष्टीकरण—मद्य और प्रमाद ये दोनो भिन्नार्थक प्रतीत होते है, किन्तु भिन्नार्थक नही हैं । मद्य प्रमाद का हेतु है । इसलिए यहाँ मद्य को ही प्रमाद कहा गया है ।[३९]

---

३३ (क) 'मेरक वापि प्रसन्नाख्याम् ।' —हारि वृत्ति, पत्र १८८
(ख) 'मैरेय धातकीपुष्प-गुड-धान्याम्ल-सन्धितम् ।' —चरक पू भा सूत्रस्थान अ २५, पृ २०३
(ग) 'आसवश्च सुरायाश्च द्वयोरेकत्र भाजने, सधान तद्विजानीयान्मैरेयमुभयाश्रयम् ।'
—वही, अ २७, पृ २४०
(घ) मालूरमूल बदरी शर्करा च तथैव हि । एषामेकत्र सन्धानात् मैरेयी मदिरा स्मृता । —वही, अ २५, पृ २०३
❀ मेरक सरकानामधेय मद्यम् । —दशा अ म म टीका, पृ, ५३२

३४ 'माद्यक—मदजनक रसम्, मादकत्वेन द्वादशविधमद्यस्य तदितरस्य विजयादेश्च सर्वस्य सग्रह ।'
—दशवै (आचारमणिमजूषा टीका) भा १, पृ ५३२

३५ 'यश शब्देन सयमोऽभिधीयते ।' —हारि वृत्ति, पत्र १८८

३६. (क) सक्खीभूतेण अप्पणा— सचेतणेण इति । —अगस्त्यचूर्णि, पृ १३४
(ख) ससक्ख नाम सागारिएहि पडुप्पाइयमाण । —जि चू, पृ २०२
(ग) ससाक्षिक—सदापरित्यागसाक्षि-केवलि-प्रतिषिद्ध न पिबेत् भिक्षु. । अनेन आत्यन्तिक एव तत्प्रतिषेध ।
—हारि वृत्ति, पत्र १८८

३७ (क) 'सवर पच्चक्खाण ।' —अ च, पृ १३४ (ख) सवरो नाम सजमो । —जि चू, पृ २०४
(ग) सवर चारित्रम् । —हारि वृत्ति, पृ. १८८

३८. मेधावी दुविहो त०—गथमेधावी, मेरामेधावी य । तत्थ जो महत गथ अहिज्जति, सो गथमेधावी, मेरामेधावी णाम मेरा मज्जाया भण्णति, तीए मेराए धावति त्ति मेरामेधावी । —जिन चू, पृ २०३

३९ छव्विहे पमाए प त —मज्जपमाए 'मद्य-सुरादि, तदेव प्रमादकारणत्वात प्रमादो मद्यप्रमद ।
—स्थानाग ६-४४

'नियडि' आदि शब्दों के विशेषार्थ—**नियडि-निकृति**—एक कपट को छिपाने के लिए किया जाने वाला दूसरा कपट। प्रथम कपट है—सुरापान, दूसरा है—झूठ बोल कर उसे छिपाना। **सुंडिया-शौण्डिका**—मद्यपान-सम्बन्धी आसक्ति। **अगुणप्पेही-अगुणप्रेक्षी**—दोषदर्शी, प्रमादादि दोषो में लीन। अवगुणो को धारण करने वाला—सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र, क्षमा आज्ञापलन आदि गुणो की उपेक्षा करने वाला। **आयरिए नाराहेइ**—आचार्य और रत्नाधिक श्रमणो की आराधना—अर्थात् विनय, वैयावृत्य आदि द्वारा प्रसन्न नही कर पाता। **अणेगसाहुपूइयं**—अनेक साधुओ द्वारा पूजित प्रशंसित या आचरित-सेवित। अनेक का अर्थ है—इहलौकिक तथा पारलौकिक। **विउलं अट्ठसजुत्तं**—विपुल का अर्थ है—विशाल, अर्थात् मोक्ष अथवा विस्तीर्ण अक्षय निर्वाण रूप अर्थ से सयुक्त। **एलमूयगं**—मेमने की तरह मै-मैं करने वाला, भेड का बच्चा। (२) **एडमूल**—अज—बकरे की तरह अनुकरण करने वाला।[४०]

तवतेणे आदि शब्दों की व्याख्या—**तपःस्तेन**—तप का चोर। किसी का मासक्षमण आदि लम्बी तपस्या करने वालो का-सा कृश शरीर देखकर कोई पूछे—"वह दीर्घ तपस्वी आप ही है?" इसके उत्तर मे पूजा-सत्कार पाने के लिए वह कहे कि साधु तो दीर्घ तप करते ही है। यह तप स्तेन है। **वचनस्तेन**—वाणी का चोर। अर्थात्—किसी धर्मकथाकारसदृश या वादी के समान दीखने वाले से कोई पूछे कि आप ही वह धर्मकथाकार है? तब वह पूजा-सत्कारार्थी साधु कहे—हाँ, मै ही हूँ, या कहे—साधु ही तो धर्मकथाकार या वादी होते है। यह वचनस्तेन है। **रूपस्तेन**—(रूप का चोर), जैसे प्रव्रजित राजपुत्रादि के समान किसी को देख कर कोई पूछे—आप ही वे राजकुमार है, जो वहाँ प्रव्रजित हुए थे? तब हाँ कहे। यह रूपस्तेन है। पर के ज्ञानादि पाँच आचारो को अपने मे आरोपित करने या बताने वाला **आचारस्तेन** है, जैसे—क्या वे प्रसिद्ध क्रियापात्र आप ही है? उत्तर मे हाँ कहे, अथवा कहे—साधु तो क्रियापात्र होते ही हैं। यह **भावस्तेन** है। किन्ही गीतार्थ मुनिवर से सूत्रार्थ-विषयक सन्देहनिवारण होने पर कहे—यह तो मुझे पहले से ही मालूम था, आपने कोई नयी बात नही बतलाई। यह भी **भावचोर** है।[४१]

आयरिए नाराहेइ इत्यादि—प्रस्तुत गाथा मे मद्यपायी साधु की इहलौकिक दुर्गति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वह आचार्यों की आराधना नही कर सकता। इसका आशय यह है कि मद्यपान के कारण सदैव कलुषित भाव बने रहने के कारण वह आचार्यो की सेवा, विनय, भक्ति एव आज्ञापालन से आराधना-उपासना नही कर पाता, न वह रत्नाधिक या सहवर्ती श्रमणो की भी सेवाशुश्रूषा या विनय भक्ति से आराधना कर पाता है। ऐसे मद्यपायी, अनाचारी मायावी एव मृषावादी मुनि के प्रति गृहस्थो की भी श्रद्धा-भक्ति समाप्त हो जाती है। वे लोग उसकी निन्दा

---

४० (क) विउल अट्ठसजुत्त नाम विपुल विसाल भण्णति, सो मोक्खो।
(ख) विपुल विस्तीर्णं विपुलमोक्षावहत्वात् अर्थसयुक्त तुच्छतादिपरिहारेण निरुपमसुखरूपमोक्षसाधनत्वात्।
—हारि वृत्ति, पत्र १८९
(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ. २९८

४१. (क) जिनदासचूर्णि, पृ. २०४ 'तत्थ तवतेणो णाम सोऊण गेण्हइ।'
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ ३०२-३०३

करते है। उसका यह पाप छिपा नही रहता। इसलिए वह सर्वत्र गर्हित और निन्दित होता है। निष्कर्ष यह है कि ऐसा अनाराधक (विराधक) साधु न तो धर्म की आराधना कर सकता है, न धार्मिक महापुरुषो की। सर्वत्र तिरस्कारभाजन बनता है।[४२]

अगुणाणं विवज्जए—अवगुणो का त्याग कर देता है, या (२) अवगुणरूपी ऋण नही करता। 'अवगुण' शब्द का आशय यहाँ है—प्रमाद, अविनय, क्रोध, असत्य, कपट, रसलोलुपता आदि।[४३]

समाचारी के सम्यक् पालन की प्रेरणा : उपसंहार

२६३. **सिक्खिऊण भिक्खेसणसोहिं संजयाण बुद्धाण सगासे।**
तत्थ भिक्खु सुप्पणिहिइंदिए तिव्वलज्जगुणवं विहरेज्जासि ॥ ५० ॥
—त्ति बेमि ॥

॥ पिण्डेसणाए बीओ उद्देसओ समत्तो ॥
॥ पंचमं पिंडेसणाऽज्झयणं समत्तं ॥ ५ ॥

[२६३] (इस प्रकार) सयमी एव प्रबुद्ध गुरुओ (आचार्यों) के पास भिक्षासम्बन्धी एषणा की विशुद्धि सीख कर इन्द्रियो को सुप्रणिहित (समाधिस्थ) रखने वाला, तीव्रसयमी (लज्जा-शील) एव गुणवान् होकर भिक्षु (सयम मे) विचरण करे ॥५०॥

—ऐसा मै कहता हूँ ॥

विवेचन—एषणाविशुद्धि सीखे और उत्कृष्ट सयम मे विचरे—प्रस्तुत उपसहारगाथा मे दो प्रेरणाएँ मुख्यतया विहित है।

तिव्वलज्ज-गुणव : भावार्थ—तीव्र—उत्कृष्ट, लज्जा—सयम और गुण से युक्त होकर।[४४]

॥ पिण्डैषणा अध्ययन का द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥
॥ पाचवाँ पिण्डैषणा नामक अध्ययन सम्पूर्ण ॥

---

४२. दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ २९४
४३ (क) वही, पृ २९९ (ख) अगस्त्यचूर्णि, पृ १३६ **'अगुणो एव रिणं, तं विवज्जेति।'**
४४ 'लज्जा—सजमो। तिव्वसजमो—उक्किट्ठो सजमो जस्स सो तिव्वसजमो भण्णइ।' —जिन चूर्णि, पृ २०५

छट्ठं : धम्मऽत्थकामऽज्झायणं (महायारकथा)

छठा : धर्मार्थकामाऽध्ययन (महाचारकथा)

राजा आदि द्वारा निर्ग्रन्थों के आचार के विषय में जिज्ञासा

२६४. नाण-दंसणसंपन्नं संजमे य तवे रयं।
गणिमागमसंपन्नं उज्जाणम्मि समोसढं ॥१॥

२६५. रायाणो रायमच्चा य माहणा अदुव खत्तिया।
पुच्छंति निहुयऽप्पाणो, कहं मे आयारगोयरो ? ॥२॥

[२६४-२६५] ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न, सयम और तप मे रत, आगम-सम्पदा से युक्त गणिवर्य (आचार्य) को उद्यान मे समवसृत (विराजित) (देखकर) राजा और राजमन्त्री, ब्राह्मण (माहन) और क्षत्रिय निश्चलात्मा (शान्तमनस्क) होकर पूछते है—हे भगवन्! आप (निर्ग्रन्थ-श्रमणवर्ग) का आचार-गोचर कैसा है? ॥१-२॥

विवेचन—राजा आदि की जिज्ञासा का सूत्रपात—प्रस्तुत अध्ययन का प्रारम्भ राजा आदि की जिज्ञासा से होता है। वृद्धपरम्परा से जिज्ञासा का सूत्रपात इस प्रकार हुआ—भिक्षाविशुद्धि का ज्ञाता कोई साधु नगर मे भिक्षार्थ गया। मार्ग मे राजा, राजमन्त्री, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि कुछ जिज्ञासु सज्जन मिले। उन्होने साधु से पूछा—आप श्रमणो का आचार-विचार कैसा है? हमे आपके आचार-विचार जानने की अतीव उत्कण्ठा है। साधु ने शान्तभाव से उत्तर दिया—मै इस समय भिक्षाटन कर रहा हूँ, इसलिए नियमानुसार आपके प्रश्न का समुचित एव विस्तृत रूप से उत्तर नही दे सकता। अत आप अमुक उद्यान मे विराजमान हमारे गणिवर्य से अपने प्रश्न का समाधान प्राप्त कर ले। वे ज्ञानदर्शन-सम्पन्न सयमी एव पूर्ण अनुभवी आचार्य है। उनसे आपको अपने प्रश्न का यथोचित उत्तर अवश्य मिलेगा। इस प्रकार कहने पर वे राजादि सब गणिवर्य के पास पहुँचे और अपनी जिज्ञासा जिस रूप मे प्रस्तुत की उसका दिग्दर्शन प्रस्तुत दो गाथाओ मे है।[1]

गणि की गुणसम्पन्नता : व्याख्या—प्रस्तुत गाथा मे गणि के कुछ सार्थक विशेषण अकित हैं, उनकी व्याख्या क्रमश इस प्रकार है—**ज्ञानसम्पन्न**—ज्ञान के पाच प्रकार है। आचार्यश्री की ज्ञान-सम्पन्नता के चार विकल्प हो सकते है—(१) मति और श्रुत, इन दो ज्ञानो से युक्त, (२) मति, श्रुत और अवधि अथवा मति, श्रुत और मन पर्याय इन तीन ज्ञानो से सम्पन्न, (३) मति, श्रुत, अवधि और मन.पर्याय, इस चार ज्ञानो से सम्पन्न, (४) एकमात्र केवलज्ञान से सम्पन्न।

---

१. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ ३०९-३१०

☐ प्रस्तुत शास्त्र के तीसरे अध्ययन का नाम 'क्षुल्लकाचारकथा' है, जबकि इस (छठे) अध्ययन का दूसरा नाम 'महाचारकथा' है। इन दोनो मे अन्तर यह है कि क्षुल्लकाचारकथा मे साधु-साध्वियो के लिए अनाचरणीय (अनाचार-सम्बन्धी) विविध पहलुओ का उल्लेख है, जब कि इसमे उन्ही का तथा कुछ अन्य का विधिनिषेधरूप मे सहेतुक प्रतिपादन किया है। 'क्षुल्लकाचार-कथा' की रचना निर्ग्रन्थ वर्ग के अनाचारो का सकलन करने के लिए हुई है, जब कि महाचार-कथा की रचना मुमुक्षु महापुरुषो के आचार-विचार सम्बन्धी जिज्ञासा का समाधान करने के लिए हुई है। दोनो की निरूपणपद्धति मे अन्तर है। क्षुल्लकाचारकथा मे अनाचारो का सामान्यरूप से ही निर्देश किया गया है, जब कि महाचारकथा मे यत्र-तत्र सकारण अनाचार-वर्जन की तथा उत्सर्ग और अपवाद की परिचर्चा की गई है। उदाहरणार्थ—इस अध्ययन मे एक ओर १८ ही अनाचारस्थान बाल, वृद्ध और रुग्ण सभी प्रकार के साधु-साध्वियो के लिए उत्सर्ग रूप से अनाचरणीय बताए है, वहाँ दूसरी ओर 'निषद्या' नामक १६ वे अनाचारस्थान के लिए अपवाद भी बताया है कि 'जराग्रस्त, रोगी और उग्रतपस्वी निर्ग्रन्थ के लिए गृहस्थ के घर मे बैठना (निषद्या) कल्पनीय है।' इस प्रकार इस अध्ययन मे उत्सर्ग और अपवाद के अनेक सकेत मिलते है।[3]

☐ साधुजीवन मे निवृत्ति, एकान्त निष्क्रियता का तथा धर्मसघ, गुरु आदि से पृथक् स्वार्थजीविता का रूप न ले ले, इसके लिए 'वीर्याचार' (विधेयात्मक विनय, सेवा-शुश्रूषा, भिक्षाचरी, प्रतिलेखन, स्वाध्याय आदि मे प्रवृत्ति) का सम्यक् विधान भी है।

☐ मुमुक्षु निर्ग्रन्थो के लिए निम्नोक्त १८ अनाचारस्थानो का प्रस्तुत अध्ययन मे परिभाषाओ तथा कारणो सहित प्रतिपादन किया गया है—व्रतषट्क (हिसा, असत्य, अदत्तादान, अब्रह्मचर्य, परिग्रह एव रात्रिभोजन इन ६ का त्यागरूप व्रत), कायषट्क (पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन षड्जीवनिकायो का सयम), अकल्प (कुछ अकल्पनीय आचार), गृहिभाजन, पर्यंक, निषद्या (गृहस्थ के घर मे बैठना), स्नान और शोभावर्जन।[4]

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे निर्ग्रन्थ वर्ग के लिए आचरणीय अहिंसा का आदर्श, सत्यभाषण से लाभ और असत्य के दुष्परिणाम, ब्रह्मचर्य के लाभ और अब्रह्मचर्य के दुष्फल, ब्रह्मचर्यपालन के उपाय, परिग्रह की वास्तविक परिभाषा, आसक्ति और मूर्च्छा का सयुक्तिक स्पष्टीकरण, आदि विषयो का समुचित रूप से समावेश किया गया है।[5] ☐

---

३ (क) दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण), पृ. ४-५, ३९-४०
(ख) दसवेयालिय. (मु. नथमलजी), पृ. २९३

४ 'वयछक्क कायछक्क अकप्पो गिहिभायण।
पलियक—निसेज्जा य, सिणाण सोहवज्जणं ॥' —निर्युक्ति गा. २६८, समवायांग १८ वां समवाय

५ दशवै (सतबालजी), पृ ७१

छट्ठं : धम्मऽत्थ-कामऽज्झायणं

(महायारकथा)

छठा : धर्मार्थकामाऽध्ययन (महाचार-कथा)

प्राथमिक

☐ दशवैकालिक सूत्र का यह छठा अध्ययन है। इसके दो नाम मिलते हैं—'धर्मार्थ-कामाऽऽध्ययन' और 'महाचारकथा'।

☐ 'धर्मार्थ-काम' का भावार्थ है—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का अर्थ—प्रयोजन भूत जो मोक्ष है, एकमात्र उसी की कामना—अभिलाषा करने वाले मुमुक्षु सत्पुरुष। और महाचारकथा का अर्थ है—(उन्ही मुमुक्षु पुरुषो के) महान् आचार का कथन। दोनो नामो का सयुक्तरूप से अर्थ यों हुआ—धर्म के लक्ष्यरूप मोक्ष के इच्छुक महापुरुषो के आचार का कथन है।[1]

☐ श्रुत-चारित्ररूप या सम्यग्दर्शनादि रत्नत्रयरूप सद्धर्म सवर और निर्जरा (कर्मक्षय) से होता है, और उक्त सद्धर्माचरण का फल है—मोक्ष-प्राप्ति। अर्थात्—सद्धर्म के आचरण का लक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति है और मोक्ष-प्राप्ति कर्मबन्धनो से सर्वथा मुक्त हुए बिना नही हो सकती। कर्मबन्धन से मुक्त होने का उत्तम मार्ग है—सम्यग्दर्शनादि धर्म का आचरण। निष्कर्ष यह है कि मोक्ष साध्य है, और उसकी प्राप्ति के लिए श्रुत-चारित्ररूप या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म साधन है। महाव्रती साधु-साध्वियो के द्वारा सद्धर्म के आचरण का नाम ही महाचार है। पूर्ण त्याग-मार्ग की साधना करने वाले साधु-साध्वियो के त्यागरूपी प्रासाद के प्रमुख स्तम्भ 'आचार' हैं। आचार—सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्रधर्म का अग है। दूसरे शब्द मे कहे तो चारित्र धर्म का सम्यक् पालन करने के लिए जो मौलिक नियम निर्धारित किये जाते हैं, उनका नाम आचार है। उस आचार के बिना निर्ग्रन्थ साधुवर्ग के पाच महाव्रतो का पालन सम्यक् प्रकार से नही हो सकता।[2]

---

१ (क) 'धर्म चारित्रधर्मादिस्तस्य अर्थ—प्रयोजन मोक्षस्त कामयन्ति-इच्छन्तीति धर्मार्थकामा -मुमुक्षव·।'
—हारि वृत्ति, पत्र १९२

(ख) 'जो पुव्वि उद्दिट्ठो आयारो सो अहीणमइरित्तो। सच्चेव य होइ कहा, आयारकहाए महईए॥'
—निर्युक्ति गा २०५

२ (क) धम्मस्स फल मोक्खो, सासयमउल सिव अणाबाह।
तमभिप्पेया साहू, तम्हा धम्मत्थकामत्ति॥ —निर्युक्ति गा २६५

(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ७०

दर्शनसम्पन्न—दर्शनावरणीयकर्म के क्षय या क्षयोपशम से उत्पन्न होने वाला सामान्य निराकार अवबोध दर्शन कहलाता है उक्त दर्शन से सम्पन्न ।[२]

संयम और तप मे रत—१७ प्रकार के सयम और १२ प्रकार के तप मे रत । **आगमसम्पन्न**—जो ग्यारह अगो के अध्येता एव वाचक हो, अथवा चतुर्दशपूर्वधर हो, या स्वसमय-परसमय के ज्ञाता विशिष्ट श्रुतधर हो । ज्ञान-दर्शन सम्पन्न से प्राप्त विज्ञान की महत्ता और आगमसम्पन्न से दूसरो को ज्ञान देने की क्षमता बताई गई है । **उद्यान मे समवसृत** : उद्यान के दो अर्थ मुख्य है—(१) पुष्प, फल आदि से युक्त वृक्षो से जो सम्पन्न हो, और जहाँ लोग उत्सव आदि मे एकत्रित होते हो, (२) नगर का निकटवर्ती वह स्थान, जहाँ लोग सहभोज या क्रीडा के लिए एकत्र होते हो । ऐसे उद्यान मे समवसृत, अर्थात् विराजित अथवा धर्मसभा मे प्रवचन आदि के लिए विराजित । **गणी**—गणनायक, आचार्य ।[३] **जिज्ञासुगण : व्याख्या**—गणिवर्य के निकट जिज्ञासु बन कर राजा, राजामात्य, माहन (ब्राह्मण) एव क्षत्रिय पहुँचे थे । राजा का अर्थ प्रसिद्ध है । **राजामात्य**—मत्री, सेनानायक और दण्डनायक प्रभृति, (२) मत्रीगण, (३) राजा के सहायक या कर्मसचिव । **क्षत्रिय के तीन अर्थ** मिलते है—(१) राजन्य या सामन्त, (२) ऐसे क्षत्रिय, जो राजा नही है, (३) श्रेष्ठी आदि जन । **निहु-अप्पाणो-निभृतात्मानः**—निश्चलात्मा, एकाग्रता एव शान्ति से प्रश्न पूछने वाला ही सच्चा जिज्ञासु होता है ।[४]

---

२. (क) नाण पचविह-मति-सुयाऽवधि-मणपज्जव-केवलणामधेय तत्थ त दोहि वा मुतिसुतेहि, तीहि वा मति-सुयावहीहि, अहवा मति-सुय-मणपज्जवेहि, चतुहि वा मतिसुयावहिमणपज्जवेहि, एक्केण वा केवलनाणेण सपण्ण । —अगस्त्यचूर्णि, पृ १३८

(ख) दर्शन द्विप्रकार क्षायिक क्षायोपशमिक च । अतस्तेन क्षायिकेण क्षायोपशमिकेन वा सपन्नम् ।
—हारि वृत्ति, पृ १९१

३ (क) आगमो सुतमेव । अतो त चोद्दसपुव्वि एकारसगसुयधर वा । —अ चू , पृ १३८

(ख) आगमसपन्न नाम वायग, एक्कारसग च, अन्न वा ससमय-परसमयवियाणग । —जि चू , पृ २०८

(ग) आगमसपन्न—विशिष्टश्रुतधर, बहुागमत्वेन प्राधान्यख्यापनार्थमेतत् । —हारि वृत्ति, पत्र १९१

(घ) नाणदसणसपण्णमिति एतेण आतगत विण्णाणमाहप्प भण्णति, गणि आगमसपण्ण एतेण परगाहण-सामत्थसपण्ण । —अगस्त्यचूर्णि, पृ १३८

(ड) उज्जाण जत्थ लोगो उज्जाणियाए वच्चति, ज वा ईसि णगरस्स उवकठ ठिय त उज्जाण । —नि उ ८

(च) उद्यान पुष्पादिसद्वृक्षसकुलमुत्सवादौ बहुजनोपभोग्यम् । —जीवाभि सू २५८ वृ

(छ) बहुजनो यत्र भोजनार्थं याति । —समवायाग ११७ वृ

४ (क) रायमच्चा—अमच्चा डडणायगा, सेणावइप्पभितयो । —जि चू , पृ २०८

(ख) राजामात्याश्च मत्रिण । —हारि. वृ , पृ १९१

(ग) अमात्या नाम राज्ञ सहाया । —कौटिल्य अ ८।४

(घ) खत्तिया राइण्णादयो । —अ. चू., पृ १३८

(ड) क्षत्रिया श्रेष्ठयादय । —हारि वृ , प. १९१

(च) खत्तिया नाम कोइ राया भवइ ण खत्तियो, पन्नो खत्तियो भवइ ण राया । तत्थ जे खत्तिया, ण राया, तेसि गहण कय । —जिन चू , पृ २०८-२०९

(छ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३१०-३११

कहं मे आयारगोयरो ?—जिज्ञासुओ का प्रश्न है—आपका आचारगोचर कैसा है ?

आचारगोचर . अर्थ—(१) आचार का विषय, (२) साधु के आचार के अगभूत छह व्रत, (३) क्रिया-कलाप, (४) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, यह पचविध आचार और गोचर अर्थात् भिक्षाचरी ।[५]

आचार्य द्वारा निर्ग्रन्थाचार की दुश्चरता और अठारह स्थानो का निरूपण

२६६. तेसिं सो निहुओ दंतो, सव्वभूयसुहावहो ।
सिक्खाए सुसमाउत्तो आइक्खइ वियक्खणो ॥३॥

२६७. हंदि ! धम्मऽत्थकामाण निग्गंथाण सुणेह मे ।
आयारगोयर भीमं सयल दुरहिट्ठिय ॥४॥

२६८. नऽन्नत्थ एरिस वुत्तं, जं लोए परमदुच्चर ।
विउलट्ठाणभाइस्स न भूयं, न भविस्सइ ॥५॥

२६९. सखुड्डग-वियत्ताण वाहियाणं च जे गुणा ।
अखड-फुडिया कायव्वा त सुणेह जहा तहा ॥६॥

२७०. दस अट्ठ य ठाणाइं, जाइ बालोऽवरज्झई ।
तत्थ अन्नयरे ठाणे, निग्गंथत्ताओ भस्सई ॥७॥

[वयछक्कं कायछक्कं, अकप्पो गिहिभायणं ।
पलियंक-निसेज्जा य, सिणाणं सोहवज्जण ॥] +

[२६६] (ऐसा पूछे जाने पर) वे निभृत (शान्त), दान्त, सर्वप्राणियो के लिए सुखावह, ग्रहण और आसेवन, शिक्षाओ से समायुक्त और परम विचक्षण गणी उन्हे (राजा आदि (प्रश्नकर्त्ताओ से) (उत्तर मे) कहते है—॥३॥

[२६७] हे राजा आदि जनो ! धर्म के प्रयोजनभूत मोक्ष की कामना वाले निर्ग्रन्थो के भीम (कायर पुरुषो के लिए) दुरधिष्ठित (दुर्धर) और सकल (अखण्डित) आचार-गोचर (आचार का विषय) मुझसे सुनो ॥४॥

---

५ (क) आयारस्स आयारे वा गोयरो—आयारगोयरो । गोयरोपुण विसयो । —अ चू, पृ १३९
(ख) आचारगोचर—क्रियाकलाप । —हारि वृत्ति, पत्र १९१
(ग) आचार—साधुसमाचारस्तस्य गोचरो विषयो—व्रतषट्कादिराचारगोचरोऽथवा आचारश्च ज्ञानादिविषय पचधा, गोचरश्च—भिक्षाचर्येत्याचारगोचरम् । —स्था ८।३।६५१ वृ पत्र ४१८

अधिक पाठ—+ इस चिह्न से अकित गाथा निर्युक्ति मे भी है, परन्तु वर्तमान मे कई प्रतियो मे मूल सूत्रगाथा के रूप मे अकित की गई है । वस्तुत यह निर्युक्तिगाथा है । —स

[२६८] जो (निर्ग्रन्थाचार) लोक (प्राणिजगत्) मे अत्यन्त दुश्चर (अतीव कठिन) है, इस प्रकार के श्रेष्ठ आचार का कथन जैनशासन के अतिरिक्त कही नही किया गया है। विपुल (सर्वोच्च स्थान के भागी साधुओ का ऐसा आचार (अन्य मत मे) न तो अतीत मे था, और न ही भविष्य मे होगा ।।५।।

[२६९] बालक हो या वृद्ध, अस्वस्थ हो या स्वस्थ, (सभी मुमुक्षु साधको) को जिन गुणो (आचार-नियमो) का पालन अखण्ड और अस्फुटित रूप से करना चाहिए, वे गुण जिस प्रकार (भगवद्भाषित) है, उसी प्रकार (यथातथ्यरूप से) मुझ से सुनो ।।६।।

[२७०] (उक्त आचार के) अठारह स्थान है। जो अज्ञ साधु इन अठारह स्थानो मे से किसी एक का भी विराधन करता है, वह निर्ग्रन्थता से भ्रष्ट हो जाता है ।।७।।

[(वे अठारह स्थान ये है-) छह व्रत (पाँच महाव्रत और छठा रात्रिभोजनविरमणव्रत), छह काय (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस, इन षड् जीवनिकायो सबधी संयम करना), अकल्प्य (अग्राह्य भक्त-पान आदि पदार्थों का परित्याग करना), गृहस्थ के बर्त्तन (भाजन) मे आहार-पानी ग्रहण-सेवन का त्याग करना, पर्यक (लचीले पलग आदि पर न सोना, न बैठना), निषद्या (गृहस्थ के घर या आसन आदि पर न बैठना), स्नान तथा शरीर की शोभा (विभूषा का त्याग करना।)]

विवेचन—प्रवक्ता के योग्य एवं श्रेष्ठ गुण—धर्मोपदेशक, शास्त्र-सम्मत समाधानदाता तथा प्रवक्ता यदि योग्य गुणो से सम्पन्न नही होगा तो उसके उपदेश, व्याख्यान, समाधान, प्रेरणा या कथन का श्रोता पर कोई स्थायी प्रभाव नही पडेगा, न उसको सन्तोषजनक समाधान होगा। सूत्रकृतागसूत्र मे कहा है --

आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति, पडिपुण्णमणेलिस ।।

अर्थात्--'जो सदा तीन गुप्तिओ से आत्मा को सुरक्षित (गुप्त) रखता हो, दान्त हो, कर्म-बन्धन के स्रोत को जिसने छिन्न कर दिया हो, जो आश्रवो से रहित (सवरधर्म में रत) हो, वही परिपूर्ण, अनुपम एव शुद्ध (जिनोक्त) धर्म का प्रतिपादन कर सकता है।[६]

इन्ही गुणो से मिलते-जुलते कुछ प्रमुख गुणो का निरूपण प्रस्तुत गाथा मे किया गया है—वह (१) निभृत, (२) दान्त, (३) सर्वजीव-सुखावह, (४) शिक्षा-समायुक्त एव (५) विचक्षण हो। इनकी व्याख्या क्रमश इस प्रकार है—**(१) निहुओ—निभृत : तीन अर्थ**—(१) स्थितात्मा, (२) निश्चलमना, (३) असम्भ्रान्त या निर्भय। **(२) दंतो—दान्त**—जितेन्द्रिय, **(३) सर्वभूतसुखावह**—(१) सर्वजीवो को सुख पहुचाने वाला, (२) सब जीवो का हितैषी, (३) सब प्राणियो का सुखवाञ्छक।[७] **(४) शिक्षा-**

६ सूत्रकृताग श्रुत १

७. (क) दशवेयालिय (मुनि नथ), पृ २९५
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३१२-३१३
(ग) दशवै (सतबालाजी), पृ ७१

समायुक्त—गुरु के सान्निध्य में रहकर ग्रहणशिक्षा (सूत्र और अर्थ का अभ्यास करना) और आसेवन शिक्षा (आचार का सेवन और अनाचार का वर्जन) करने वाला (५) **वियक्खणो**—**विचक्षण**—द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पात्र और परिस्थिति का आकलन करने मे निपुण। इस प्रकार के गुणो से सुशोभित महान् चारित्रात्मा आचार्य या गणी ही अपने शान्त, शीतल, मधुर उपदेश या समाधान से सुखशान्ति का सदेश देते हैं।[८]

निर्ग्रन्थ-आचार की विशेषता—यहाँ दो सूत्र गाथाओ (२६७-२६८) मे मुमुक्षु निर्ग्रन्थो के आचार की विशेषता का प्रतिपादन किया गया है। विशेषण ये है—(१) **भीम**—कठिन कर्म-शत्रुओ को खदेडने मे यह आचार भयकर है, कर्ममल धोने के लिए रौद्र है। (२) **दुरधिष्ठित**—दुर्बल (कायर) आत्माओ के लिए इस प्रकार का धारण (स्वीकार) करना शक्य नही है अत. कायर पुरुषो के लिए यह आचार दुर्धर है।(३) **सकल**—सम्पूर्ण। (४) **लोक मे परम दुश्चर**—यह आचार समग्र जीवलोक मे पालन करने मे अत्यन्त दुष्चर-दुष्कर है। (५) **विपुलस्थान के भाजन निर्ग्रन्थो का आचार**—यह आचार केवल मोक्षस्थान को प्राप्त करने मे योग्यतम निर्ग्रथो का है। (६) **सभी आचारों में अद्वितीय तथा सर्वकालानुपम**—जैन निर्ग्रन्थाचार के सदृश अन्यमतीय आचार नही है, न हुआ, न होगा।[९]

सखुड्डगवियत्ताणं० आदि पदो के अर्थ और व्याख्या—**खुड्डग-क्षुद्रक** का अर्थ है—बालक और वियत्त—व्यक्त का अर्थ है—वृद्ध, अर्थात् सबाल-वृद्ध। **वाहियाण**—व्याधित। रोगग्रस्त अथवा स्वस्थ, किसी भी अवस्था मे क्यो न हो, जो भी गुण अर्थात् आचारगोचर के नियम है, उन्हे अखण्ड और अस्फुटित रूप से पालन करना या धारण करना चाहिए। अखण्ड का अर्थ है—देश (आशिक) विराधना न करना, अफुडिया (अस्फुटित) का अर्थ है—पूर्णत (सर्वथा) विराधना न करना। निष्कर्ष यह है कि इन आचार गुणो का सभी अवस्थाओ के साधु-साध्वीवर्ग के लिए अखण्ड और अस्फुटित रूप से धारण-पालन करना अनिवार्य है। इन आचार-नियमो का पालन देशविराधना और सर्व-विराधना से रहित करना चाहिए।[१०]

निर्ग्रन्थता से भ्रष्टता का कारण—सूत्रगाथा २७० मे किसी भी आचारस्थान की विराधना निर्ग्रन्थता से परिभ्रष्टता का कारण बताया गया है। इसका कारण है कि जब कोई व्यक्ति किसी मौलिक आचार-नियम का भग या उल्लघन करता है, तब वह अज्ञान और प्रमाद से युक्त हो जाता

---

८ (क) सिक्खा दुविधा, त०—गहणसिक्खा आसेवणासिक्खा य। गहणसिक्खा नाम सुत्तत्थाण गहण, आसेवणा-सिक्खा नाम जे तत्थ करणिज्जा जोगा, तेसिं काएण सफासण, अकरणिज्जाण य वज्जणया।
(ख) दशवै (आ. आत्मा) पृ ३१६-३१७

९. (क) दशवै वही, पृ ३१५-३१६ (ख) दशवै (सतबालजी) पृ ७८

१०. (क) सह खुड्डगेहिं सखुड्डगा, वियत्ता (व्यक्ता·) नाम महल्ला, तेसिं, बालबुड्ढाण तिवुत्त भवइ।
—जि. चू, पृ. २१६
(ख) अखण्डा देशविराधनापरित्यागेन, अस्फुटिता सर्वविराधनापरित्यागेन। —हा वृ, पत्र १९५-१९६

है। अज्ञान और प्रमाद से युक्त होने अथवा चारित्र-मोहनीय कर्म के उदय के कारण मूढ और अज्ञ बना हुआ साधु साधुता से स्वत पतित और भ्रष्ट हो जाता है।[११]

प्रथम आचारस्थान : अहिंसा

२७१. तत्थिमं पढमं ठाणं, महावीरेण देसियं।
अहिंसा निउणा× दिट्ठा, सव्वभूएसु सजमो ॥८॥

२७२. जावंति लोए पाणा, तसा अदुव थावरा।
त जाणमजाण वा, न हणे, न हणावए ॥९॥

२७३. +सव्वे जीवा वि इच्छंति जीविउं, न मरिज्जिउं।
तम्हा □ पाणिवहं घोरं, निग्गंथा वज्जयंति णं ॥१०॥

[२७१] (तीर्थकर) महावीर ने उन (अठारह आचारस्थानो) मे प्रथम स्थान अहिसा का कहा है, (क्योकि) अहिसा को (उन्होने) सूक्ष्मरूप से (अथवा अनेक प्रकार से सुखावहा) देखी है। सर्वजीवो के प्रति सयम रखना अहिंसा है ॥८॥

[२७२] लोक मे जितने भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी है, साधु या साध्वी, जानते या अजानते, उनका (स्वय) हनन न करे और न ही (दूसरो से) हनन कराए, (तथा हनन करने वालो की अनुमोदना भी न करे।) ॥९॥

[२७३] सभी जीव जीना चाहते है, मरना नही। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु (या साध्वी) प्राणिवध को घोर (भयानक जानकर) उसका परित्याग करते है ॥१०॥

विवेचन—अहिंसा की प्राथमिकता और विशेषता-- प्रस्तुत तीन गाथाओ मे प्रथम आचार-स्थानरूप अहिसा की प्राथमिकता और उसका पूर्णरूपेण आचरण निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी के लिए क्यो आवश्यक है ? इसका सहेतुक प्रतिपादन किया गया है।

निउणा निउणं : दो अर्थ—(१) जिनदासचूर्णि के अनुसार—'निउणा' पाठ मानकर उसे अहिसा का विशेषण माना है, निपुणा का अर्थ किया है—सब जीवो की हिसा का सर्वथा त्याग करना। जो साधु औद्देशिक आदि दोषो से युक्त आहार करते है, वे पूर्वोक्त कारणो से हिंसादोषयुक्त हो जाते है। अथवा 'निपुणा' का अर्थ वृत्तिकार के अनुसार है—आधाकर्म आदि दोषो से युक्त आहार के अपरिभोग (असेवन) तथा कृत-कारित आदि रूप से हिसा के परिहार के कारण सूक्ष्म है। अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार 'निउण' क्रियाविशेषण-पद है, जो 'दिट्ठा' क्रिया का विशेषण है। निपुण का अर्थ है—सूक्ष्मरूप से।[१२]

---

११ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३१९

पाठान्तर— × निउण। + सव्वजीवा। □ पाणवह।

१२ (क) 'निउणा' नाम सव्वजीवाण, सव्वे वाहिं अणववाएण, जे ण उद्देसियादीणि भुजति, ते तहेव हिंसगा भवति। —जि चू, पृ २१७

(ख) आधाकर्माद्यपरिभोगत कृत-कारितादिपरिहारेण सूक्ष्मा। —हारि वृत्ति, पत्र १९६

(ग) 'निपुण'--सव्वपाकार सव्वसत्तगता इति। —अग चूर्णि पृ १४४

'ते जाणमजाणं वा०' : व्याख्या—प्रतिज्ञाबद्ध होने पर भी साधक से हिंसा दो प्रकार से होनी सभव है—(१) जान मे (२) अनजान। जो जानबूझ कर हिंसा करता है, उसमें स्पष्टत रागद्वेष की वृत्ति-प्रवृत्ति होती है, और जो अजाने हिंसा करता है, उसकी हिंसा के पीछे प्रमाद या अनुपयोग (असावधानता) होती है।[13]

हिंसा का परित्याग करने के दो मुख्य कारण—प्रस्तुत गाथा (२७२) मे निर्ग्रन्थो द्वारा हिंसा के परित्याग के दो मुख्य कारण बताए है—(१) सभी जीव जीना चाहते है, मरना कोई भी नही चाहता, चाहे वह विपन्न एव अत्यन्त दु खी ही क्यो न हो। (२) सभी जीव सुख चाहते है, दु ख नही, मरण अत्यन्त दु खरूप प्रतीत होता है, यहाँ तक कि मृत्यु का नाम सुनते ही भय के मारे रोगटे खडे हो जाते है।[14]

द्वितीय आचारस्थान—सत्य (मृषावाद-विरमण)

२७४. अप्पणट्ठा परट्ठा वा, कोहा वा जइ वा भया।
हिंसग न मुस बूया, नो वि अन्नं वयावए ॥११॥

२७५. मुसावाओ अ लोगम्मि, सव्वसाहूहि गरहिओ।
अविस्सासो य भूयाण, तम्हा मोसं विवज्जए ॥१२॥

[२७४] (निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी) अपने लिए या दूसरो के लिए, क्रोध से अथवा (मान, माया और लोभ से) या भय से हिंसाकारक (परपीडाजनक सत्य) और असत्य (मृषावचन) न बोले, (और) न ही दूसरो से बुलवाए, और न बोलने वालो का अनुमोदन करे ॥११॥

[२७५] (इस समग्र) लोक मे समस्त साधुओ द्वारा मृषावाद (असत्य) गर्हित (निन्दित) है और वह प्राणियो के लिए अविश्वसनीय है। अत (निर्ग्रन्थ) मृषावाद का पूर्णरूप से परित्याग कर दे ॥१२॥

विवेचन—असत्याचारण क्या, उसका त्याग क्यो और कैसे ?—जिस वचन, विचार और व्यवहार (कार्य) मे दूसरो को पीडा पहुचती हो, जो वचनादि समग्रलोकगर्हित हो, वह **असत्य** है। प्रस्तुत दो गाथाओ मे असत्य भाषण के मुख्यतया क्रोध और भय इन दो कारणो का उल्लेख है। चूर्णिकार और वृत्तिकार ने इन दोनो को साकेतिक मानकर तथा द्वितीय महाव्रत मे निर्दिष्ट, क्रोध लोभ, भय और हास्य, इन चारो को परिगणित करके उपलक्षण से ('एकग्रहणे तज्जातीयग्रहण' इस न्याय से) इसके ६ कारण बताए है—(१) **क्रोध से असत्य** —जैसे 'तू दास है' ऐसा कहना, (२) **मान से असत्य**—जैसे अबहुश्रुत होते हुए भी स्वय को बहुश्रुत, शास्त्रज्ञ या पण्डित कहना या लिखना, (३) **माया से असत्य** —जैसे भिक्षाचर्या से जी चुराने के लिए कहना कि मेरे पैर मे बहुत पीडा है,

---

१३ 'जाणमाणो' नाम जेसिं चितेऊण रागद्दोसाभिभूओ घाएइ अजाणमाणो नाम अपदुस्समाणो अणुवओगेण इदियाइणावी पमातेण घातयति। —जिन चूर्णि, पृ २१७

१४ (क) दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण), पृ ४०
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. ३२४

(४) **लोभ से असत्य**—सरस भोजन की प्राप्ति के लोभ से एषणीय नीरस भोजन को अनेषणीय कहना, (५) **भय से असत्य**—असत्याचरण करके प्रायश्चित्त के भय से उसे अस्वीकार करना। (६) **हास्यवश असत्य**—हसी-मजाक मे या कुतूहलवश असत्य बोलना, लिखना।[१५]

हिसक वचन सत्य होते हुए भी असत्य माना गया है, इसलिए उसका भी साधुवर्ग के लिए निषेध है। हिंसक वचन मे कर्कश, कठोर, वधकारक, छेदन-भेदनकारक, निश्चयकारक या सदिग्ध आदि सब परपीडाकारक वचन आ जाते है। अत अपने निमित्त या दूसरो के निमित्त (अर्थात्—स्वार्थ या परार्थ) दोनो दृष्टियो से मन-वचन-काया से, कृत, कारित, अनुमोदित रूप से इन सब असत्याचरणो का परित्याग साधुवर्ग के लिए अनिवार्य है, क्योकि असत्य ससार के सभी मतो और धर्मों के साधु पुरुषो—सज्जनो एव शिष्ट पुरुषो द्वारा निन्दनीय है। यह अविश्वास का कारण है।[१६]

सत्य की आराधना के बिना शेष शिक्षापदों (व्रतों) का महत्त्व नहीं—बौद्ध धर्म विहित पचशिक्षापदो मे भी मृषावाद-परिहार (सत्य) को अधिक महत्त्वपूर्ण इसलिए माना गया है कि इसकी आराधना के बिना, अन्य शिक्षापदो की आराधना सम्भव नही होती। एक उदाहरण भी जिनदासचूर्णि में प्रस्तुत किया गया है—एक उपासक (बौद्ध श्रावक) ने मृषावाद के सिवाय शेष चार शिक्षापद ग्रहण कर लिये। मृषावाद की छूट के कारण वह अन्य शिक्षापदो को भग करने लगा। उसके मित्र ने उससे कहा—"तुम इन शिक्षापदो (व्रतो) को क्यो तोडते हो।" उसने कहा—"यह सरासर झूठ है, मै कहाँ इन्हे तोडता हूँ?" मैंने मृषावाद का प्रत्याख्यान (त्याग) नही किया था, इसलिए इन सब शिक्षापदो को हृदय मे धारण करके रखा है। इस प्रकार सत्य शिक्षापद (व्रत) के अभाव मे उसने शेष सभी शिक्षापदो को भग कर दिया।[१७]

तृतीय आचारस्थान : अदत्तादान-निषेध (अचौर्य)

२७६. चित्तमंतमचित्तं वा अप्प वा जइ वा बहुं।
दंतसोहणमेत्त पि ओग्गहसि अजाइया ॥१३॥

---

१५. हारि वृत्ति, पृ १९७

१६ (क) हिंसग ज सच्चमवि पीडाकारि, मुसा-वितह, तदुभय ण बूया, ण वयेज्ज।
—अगस्त्य चूर्णि, पृ १४५

(ख) 'अपि च न तच्चवचन सत्यमतच्चवचन न च। यद् भूतहितमत्यन्त तत्सत्यमितर मृषा।'
—जिन चूर्णि., पृ २१८

(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज), पृ ३२५-३२६

१७ (क) वही, पृ. ३२७

(ख) 'जो सो मुसावाओ, एस सव्वसाहूहिं गरहिओ, सक्कादिणोऽवि मुसावाद गरहति। तत्थ सक्काण पचण्ह सिक्खावयाण मुसावाओ भारियतरोत्ति। एत्थ उदाहरण—एगेण उवासएण। एतेण कारणेण तेसिंपि मुसावाओ भुज्जो सव्वसिक्खापदेहिंतो। —जिनदासचूर्णि, पृ २१८

(ग) सर्वस्मिन्नेव सर्वसाधुभि गर्हितो—निन्दित, सर्वव्रतापकारित्वात् प्रतिज्ञाताऽपालनात्।
—हारि. वृत्ति, पत्र १९७

२७७. तं अप्पणा न गेण्हंति, नो वि गेण्हावए परं।
अन्नं वि गेण्हमाणं पि, नाणुजाणंति संजया ॥ १४ ॥

[२७६-२७७] सयमी साधु-साध्वी, पदार्थ सचेतन (सजीव) हो या अचेतन (निर्जीव), अल्प हो या बहुत, यहाँ तक कि दन्तशोधन मात्र (दाँत कुरेदने के लिए एक तिनका) भी हो, जिस गृहस्थ के अवग्रह (अर्थात्—अधिकार) मे हो, उससे याचना किये बिना (अथवा आज्ञा लिए बिना) उसे स्वय ग्रहण नही करते, दूसरो से ग्रहण नही कराते और न ग्रहण करने वाले अन्य व्यक्ति का अनुमोदन करते हैं ॥१३-१४॥

विवेचन—अचौर्य आचार—किसी के स्वामित्व, अधिकार या निश्राय की वस्तु, चाहे वह सजीव हो या निर्जीव (पात्र, पुस्तक, रजोहरणादि), अल्प हो या बहुत, अल्पमूल्य हो या बहुमूल्य, यहाँ तक कि एक तिनका ही क्यो न हो, उसके स्वामी या अधिकारी की विना आज्ञा, अनुमति या सहमति के मन, वचन और काया से स्वय ग्रहण न करना, दूसरो से ग्रहण न कराना और ग्रहण करने वाले का अनुमोदन न करना, अचौर्य महाव्रत का आचरण है, जिसका सभी साधु-साध्वियो को पालन करना अनिवार्य है ।[१८]

चित्तमंतचित्तं० : व्याख्या—चित्त का अर्थ है—चेतना । ज्ञान-दर्शन-स्वभाव वाली चेतना जिसमे हो, वह चित्तवान् कहलाता है, वह द्विपद, चतुष्पद और अपद भी हो सकता है । जो चेतना-रहित हो वह अचित्त कहलाता है, जैसे—सोना, चाँदी आदि ।[१९]

अप्पं वा बहुं वा : व्याख्या—अल्प और बहुत का अभिप्राय यहाँ प्रमाण और मूल्य दोनो से है । अत अल्प और बहु की दृष्टि मे चार विकल्प हो सकते है ।[२०]

ओग्गहंसि अजाइया : भावार्थ—अवग्रह का अभिप्राय है- वस्तु जिसके अधिकार मे हो, उससे याचना (आज्ञारूप याचना, अनुमति-सहमतिरूपा या इच्छारूपा) किये बिना (ग्रहण न करे) ।[२१]

चतुर्थ आचारस्थान : ब्रह्मचर्य (अब्रह्मचर्य-सेवन निषेध)

२७८. अबंभचरियं घोरं पमायं दुरहिट्ठियं।
नाऽऽयरंति मुणी लोए भेयाययणवज्जिणो ॥ १५ ॥

२७९. मूलमेयमहम्मस्स महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गं निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १६ ॥

---

१८. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ ३२९

१९ चित्त नाम चेतना भण्णइ, सा च चेतणा जस्स अत्थि त चित्तमत भण्णइ, त दुप्पय चउप्पय अपय वा, होज्जा, अचित्त नाम हिरण्यादि। —जिन चूर्णि, पृ २१८-२१९

२०. अप्प नाम पमाणओ मुल्लओ वा, बहुमवि पमाणओ मुल्लओ । —वही पृ. २१९

२१ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पृ. ३२८-३२९

[२७८] अब्रह्मचर्य लोक मे घोर (रौद्र), प्रमादजनक और दुराचरित है। सयम का भग (भेद) करने वाले स्थानो से दूर रहने वाले (पापभीरु) मुनि उसका आचरण नही करते ॥१५॥

[२७९] यह (अब्रह्मचर्य) अधर्म (पाप) का मूल है। महादोषो का पु ज है। इसीलिए निर्ग्रन्थ (साधु और साध्वी) मैथुन के ससर्ग (आसेवन) का त्याग करते है ॥१६॥

विवेचन—अब्रह्मचर्य त्याज्य : क्यों और कैसे ?—प्रस्तुत दो गाथाओ मे अब्रह्मचर्य के दोषोत्पादक पाच विशेषण बताकर इसे सर्वथा त्याज्य कहा है—(१) घोर, (२) प्रमाद (३) दुरधिष्ठित, (४) अधर्म का मूल और (५) महादोषो का पु ज। इनके कारणो की मीमासा इस प्रकार है—(१) अब्रह्मचर्य को घोर, अर्थात्—रौद्र इसलिए कहा है कि अब्रह्मचारी के मन में दयाभाव नही रहता। वह अपने पाप को छिपाने अथवा अब्रह्मचर्य मे येन-केन-प्रकारेण प्रवृत्ति करने के लिए रौद्र (क्रूर) बन जाता है। अपने मार्ग मे रोडा अटकाने वाले का सफाया कर डालता है। ऐसा कोई भी दुष्कृत्य नही है, जिसे वह न कर सके। (२) अब्रह्मचर्य सभी प्रमादो का मूल है। इसमे प्रवृत्त मनुष्य इन्द्रियो और मन के दुर्विषयो मे आसक्त, समस्त आचार, क्रियाकलाप और चर्याओ मे प्रमत्त, भूलो से परिपूर्ण एव असावधान तथा विलासी बन जाता है। कामभोग मे आसक्त मनुष्य को अपने सयम, व्रत या आचार का भान नही रहता। वह मोह-मदिरा पी कर मतवाला बन जाता है। इसलिए अब्रह्मचर्य को 'प्रमाद' कहा है।[२२] (३) अब्रह्मचर्य को दुरधिष्ठित इसलिए कहा गया है कि यह घृणा का अधिष्ठान (आश्रय) है, अथवा वह दुरधिष्ठान—यानी दुराचरण (निन्द्य आचरण) है। अथवा अब्रह्मचर्य जुगुप्सित (निन्दित-घृणित) जनो द्वारा अधिष्ठित—आश्रित-सेवित है, साधुजन सेव्य नही है। (४) अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल है, अर्थात्—समस्त पापो का बीज है या प्रतिष्ठान है। ऐसा कोई पाप नही है, जो अब्रह्मचारी से न हो सके। अब्रह्मचारी को धर्म, सयम, तप आदि की कोई भी बात नही सुहाती। (५) महादोष-समुच्छ्रय इसलिए कहा गया है कि अब्रह्मचर्य से व्यक्ति असत्य, माया, झूठ-फरेब, छल, पाप को छिपाने की दुर्वृत्ति, चोरी, हत्या आदि अनेक महादोषो का पात्र बन जाता है।[२३]

---

२२ (क) दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३३०-३३१
(ख) घोर भयाणग —अ चू , पृ १४६
(ग) घोर रौद्र रौद्रानुष्ठानहेतुत्वात्। —हारि वृत्ति, पत्र १९८
(घ) घोर नाम निरणुक्कोस, कह ? अबभपवत्तो हि ण किंचि त अकिच्च ज सो न भणइ।
— जिनदासचूर्णि, पृ २१९
(ङ) 'जम्हा एतेण पमत्तो भवति, अतो पमाद भणइ, न च सव्वपमादाण आदी, महवा सव्व चरणकरण, तमि वट्टमाणे पमादेति त्त। —वही, पृ २१९
(च) 'प्रमाद'—प्रमादवत् सर्वप्रमादमूलत्वात्। —हारि वृत्ति , पत्र १९८

२३ (क) दुरहिट्ठिय नाम दुगुञ्छ पावइ तमहिट्ठियतो त्ति दुरहिट्ठिय। — जिन. चूर्णि, पृ २१९
(ख) 'दूरहिट्ठिय दुगु छियाधिट्ठित।' —अग. चूर्णि, पृ. १४६
(ग) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३३०

पूर्ण ब्रह्मचर्य-पालन के दो ठोस उपाय—प्रस्तुत दो गाथाओ मे अब्रह्मचर्य से बचने के लिए दो ठोस उपाय बताए हैं, वे ही ब्रह्मचर्यसुरक्षा के उपाय हैं। पहला उपाय है—**मेदायतनवर्जी**—अर्थात् जो-जो बाते ब्रह्मचर्य या सयम मे विघातक हैं, जैसे कि स्त्री-पशु-नपुंसक-ससक्त स्थान मे रहना आदि, उनको वर्जित करे, उनसे दूर रहे और उनसे विपरीत नौ बाड से ब्रह्मचर्य की सर्वविध रक्षा करे और दूसरा ठोस उपाय है—**मैथुन-संसर्ग-वर्जन**। स्मरण, कीर्तन, क्रीडा, प्रेक्षण, एकान्तभाषण, सकल्प, अध्यवसाय और क्रियानिष्पत्ति, इन आठ प्रकार के मैथुनागो का वर्जन करे, अब्रह्मचर्यजनक समस्त संसर्गों से दूर रहे।[२४]

पंचम आचारस्थान : अपरिग्रह (सर्वपरिग्रहविरमण)

२८०. विडमुब्भेइमं लोण तेल्लं सप्पि च फाणियं।
न ते सन्निहिमिच्छंति नायपुत्तवओरया ॥ १७ ॥

२८१. लोभस्सेसऽणुफासो मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निही-कामे गिही, पव्वइए न से ॥ १८ ॥

२८२. जं पि वत्थं व पायं वा कंबल पायपुंछणं।
त पि संजमलज्जट्ठा धारेंति परिहरेंति य ॥ १९ ॥

२८३. न सो परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा।
'मुच्छा परिग्गहो वुत्तो', इइ वुत्तं महेसिणा ॥ २० ॥

२८४. सव्वत्थुवहिणा बुद्धा संरक्खण-परिग्गहे।
अवि अप्पणो वि देहम्मि नाऽऽयरंति ममाइयं ॥ २१ ॥

[२८०] जो ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) के वचनो मे रत हैं, (वे साधु-साध्वी) विडलवण, सामुद्रिक (उद्भिज) लवण, तैल, घृत, द्रव गुड आदि पदार्थों का सग्रह करना नही चाहते ॥ १७ ॥

[२८१] यह (सग्रह) लोभ का ही विघ्नकारी अनुस्पर्श (प्रभाव) है, ऐसा मैं मानता हूँ। जो साधु (या साध्वी) कदाचित् यत्किंचित् पदार्थ की सन्निधि (संग्रह) की कामना करता है, वह गृहस्थ है, प्रव्रजित नही है ॥ १८ ॥

[२८२] (मोक्षसाधक साधु-साध्वी) जो भी (कल्पनीय) वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण (पादप्रोछन आदि धर्मोपकरण) रखते हैं, उन्हे भी वे सयम और लज्जा की रक्षा के लिए ही रखते हैं और उनका उपयोग करते हैं ॥ १९ ॥

[२८३] समस्त जीवो के त्राता ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने (साधुवर्ग द्वारा धर्मोपकरण के रूप मे रखे एव उपयोग किये जाने वाले) इस (वस्त्रादि उपकरण समुदाय) को परिग्रह नही कहा है। 'मूर्च्छा परिग्रह है',—ऐसा महर्षि (गणधरदेव) ने कहा है ॥ २० ॥

---

२४. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३३१

[२८४] यथावद्वस्तुतत्त्वज्ञ (बुद्ध साधु-साध्वी) (वस्त्रपात्रादि) सर्व उपधि (सभी देश-काल में उचित उपकरण) का संरक्षण करने (रखने) और उन्हे ग्रहण (धारण) करने मे ममत्वभाव का आचरण नही करते, इतना ही नही, वे अपने शरीर पर भी ममत्व नही करते ॥ २१ ॥

विवेचन—संग्रह, परिग्रह और अपरिग्रह का स्पष्टीकरण—प्रस्तुत पाच सूत्रगाथाओ (२८० से २८४ तक) मे सग्रह का निषेध, उपकरणादि वस्तु के अपरिग्रहत्व की तथा अपरिग्रहवृत्ति की चर्चा की गई है।

सन्निहि आदि पदों का अर्थ—सन्निधि और संचय—लवण आदि जो द्रव्य चिरकाल तक रखे जा सकते है, उन्हे अविनाशी द्रव्य तथा दूध, दही आदि जो द्रव्य अल्पकाल तक ही टिके रह सकते हैं, उन्हे विनाशी द्रव्य कहते हैं। यहाँ अविनाशी द्रव्यो के सग्रह को 'सन्निधि' कहा गया है। निशीथचूर्णि मे अविनाशी द्रव्य के सग्रह को 'सचय' और विनाशी द्रव्य के सग्रह को 'सन्निधि' कहा गया है। जो भी हो, लवण आदि वस्तुओ का सग्रह करना, उन्हे अपने पास रखना अथवा रात को बासी रखना 'सन्निधि' है, जो कि ममत्वभाव से रखे जाने के कारण परिग्रह है।[२५]

विड : लक्षण– गोमूत्र आदि मे पकाकर जो कृत्रिम नमक तैयार किया जाता है, वह प्रासुक नमक विडलवण कहलाता है।

उब्भेइमं लोणं—उद्भिज लवण, जो खान मे से निकलता है, अथवा समुद्र के खारे पानी से बनाया जाता है। यह अप्रासुक है।

फाणियं : फाणित—इक्षुरस को पकाने के बाद जो गाढा द्रव गुड (काकब) होता है, उसे फाणित कहते हैं।

लोहस्सेस अणुफासे—यह सन्निधि या सचय लोभ का ही अनुस्पर्श है, चेप है। लोभ का चेप एक बार लगने पर फिर छूटता नही है। अथवा अनुस्पर्श का अर्थ– प्रभाव, सामर्थ्य या माहात्म्य भी होता है। लोभ के प्रभाव से परिग्रहवृत्ति और सग्रहप्रवृत्ति बढती जाती है।[२६]

---

२५. (क) 'सन्निही णाम दधिखीरादि ज विणासि दव्व, ज पुण घय-तेल्ल-वत्थ-पत्त-गुल-खड-सक्कराइय अविणासि दव्व, चिरमवि अच्छइ, ण विणस्सइ सो सचतो।' निशीथ उ ८, सू. १७ चूर्णि

(ख) एताणि अविणासिदव्वाणि न कप्पति, किमग पुण रसादीणि विणासिदव्वाणि ? एवमादि सण्णिधि न ते साधवो भगवतो णायपुत्तस्स वयणे रया इच्छति। —जि. चू, पृ २२०

(ग) 'सन्निधिं कुर्वन्ति—पर्युषित स्थापयन्ति।' —हारि वृत्ति, पत्र १९८

२६ (क) विल (ड) गोमुत्तादीहिं पचिऊण कित्तिम कीरइ, अहवा बिलग्गहणेण फासुगलोणस्स गहण कय। —जि. चू, पृ. २२०

(ख) उब्भेइम—सामुद्दोति लवणागरेसु वा समुप्पज्जति त अफासुग। —अगस्त्यचूर्णि, पृ १४६

(ग) फाणित द्रवगुड। —हारि वृत्ति, पत्र १९८

(घ) 'अणुफासो नाम अणुभावो भण्णति।' —जिन चूर्णि, पृ. २२०

(ड) य. स्यात य· कदाचित्। —हारि टीका, पृ १९८

सन्निधिकामी को प्रव्रजित मानने से इन्कार—शास्त्रकार या तीर्थंकर मानते है ('मन्ने' शब्द से दोनो अर्थ निकलते हैं) कि सन्निधि करना तो दूर रहा, सन्निधि करने की इच्छा करने वाला भी परिग्रहदोष से युक्त होकर गृहस्थतुल्य बन जाता है। वस्तुत: प्रव्रजित नही रहता। व्यवहारसूत्र की टीका में दशवैकालिकसूत्र की एक गाथा उद्धृत की गई है। उसमे बताया गया है कि अशनादि चतुर्विध आहार की जो भिक्षु सन्निधि (सचय) करता है वह गृही है, प्रव्रजित नही।[२७] उस गाथा का अन्तिम चरण ही इस गाथा से मिलता है। प्रथम तीन चरण पृथक् हैं।

शंका-समाधान—प्रश्न होता है—लवणादि का तथा उपलक्षण से किसी भी वस्तु का सग्रह करने मे अपरिग्रहव्रत भग हो जाता है, तब साधु-साध्वी जो वस्त्र, पात्र, रजोहरण, पुस्तक आदि रखते है, उनका उपयोग करते हैं, क्या वे परिग्रही नही हैं? क्या उनसे साधु का अपरिग्रहव्रत दूषित नही होता? इसी का समाधान शास्त्रकार दो गाथाओ द्वारा करते हैं। तात्पर्य यह है कि साधुवर्ग के पास जो भी वस्त्र-पात्रादि उपकरण होते है, वे सब सयमपालन के लिए तथा लज्जानिवारण के लिए ही रखे जाते है। उन पर उनका ममत्व नही होता, यहाँ तक कि वे अपने शरीर पर भी ममत्वभाव नही रखते और भगवद्वचनानुसार ममता-मूर्च्छा न हो, वहाँ परिग्रहदोष नही होता, क्योकि भगवान् ने मूर्च्छा को ही परिग्रह कहा है।[२८]

संजम-लज्जट्ठा : व्याख्या—साधु-साध्वी जो भी कल्पनीय शास्त्रोक्त वस्त्रादि धर्मोपकरण रखते हैं, उसके दो प्रयोजन बताए है—सयम और लज्जा। वृत्तिकार ने सयम और लज्जा को अभिन्न (एक शब्द) माना है, तदनुसार एक ही प्रयोजन फलित होता है—सयमरूप लज्जा की रक्षा के लिए।

वस्त्र का ग्रहण सयम के निमित्त किया जाता है। वस्त्र के अभाव मे कोई साधु शीत से पीडित होकर अग्निसेवन न कर ले, इसलिये वस्त्र रखने का विधान है। पात्र के अभाव मे ससक्त और परिशाटन दोष उत्पन्न होगे, इसलिये पात्र रखने का विधान है। वर्षाकल्प आदि मे अप्काय के जीवो की रक्षा के लिए कम्बल रखने का विधान है तथा लज्जानिवारणार्थ चोलपट्ट आदि वस्त्र रखने का विधान है, कटिपट के अभाव मे महिला आदि के समक्ष विशिष्टश्रुत-परिणति आदि से रहित साधक मे निर्लज्जता होनी सभव है।[२९]

---

२७ व्यवहारसूत्र, उ ५, गा ११४

२८ (क) दशवै (सतबालजी), पृ. ७५
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३३५

२९ (क) सयमलज्जार्थमिति—सयमार्थं पात्रादि, 'लज्जार्थं वस्त्रम्। तद्व्यतिरेकेण अगनादौ विशिष्टश्रुतपरिणत्याविरहितस्य निर्लज्जतोपपत्ते। अथवा सयम एव लज्जा, तदर्थं सर्वमेतद् वस्त्रादि धारयन्ति।
—हारि वृत्ति, पत्र १९९

(ख) ' 'सजमनिमित्त वा वत्थस्स गहण कीरइ। मा तस्स अभावे अग्गिसेवणादिदोसा भविस्संति, पातामावेऽवि ससत्तपरिसाडणादी दोसा भविस्सति, कबल वासकप्पादी त उदगादि-रक्खणट्ठा घेप्पति। लज्जानिमित्त चोलपट्टको घेप्पति।' —जिनदासचूर्णि, पृ. २२१

धारंति परिहरंति : विशेषार्थ—प्रयोजन होने पर वस्त्रादि का उपयोग करने की दृष्टि से शास्त्रोक्त मर्यादानुसार रखना, धारण करना कहलाता है तथा वस्त्रादि का स्वय परिभोग करना, परिहरण करना (पहनना) कहलाता है।[३०]

महेसिणा : महर्षि ने : दो अभिप्रायार्थ—(१) प्रस्तुत शास्त्र के कर्त्ता आचार्य शय्यभव ने, (२) गणधर ने।[३१]

प्रस्तुत २८४ वी सूत्रगाथा का अर्थ वृत्तिकार और दोनो चूर्णिकार अलग-अलग करते हैं। वृत्तिकारसम्मत अर्थ ऊपर दिया गया है। चूर्णिकारद्वय-सम्मत अर्थ इस प्रकार है—सर्व कालो और सर्व क्षेत्रो मे बुद्ध (तीर्थंकर भगवान्) उपधि (एक देवदूष्य-वस्त्र) के साथ प्रव्रजित होते हैं। प्रत्येकबुद्ध, जिनकल्पिक आदि भी सयम-धन की रक्षा के लिए उपधि (रजोहरण, मुखवस्त्रिका आदि) ग्रहण करते है। वे उपकरणो पर तो दूर रहा, अपने तन पर भी ममत्व नही करते, क्योकि वे केवल यतना के लिए उपकरण धारण करते है।[३२]

छठा आचारस्थान : रात्रिभोजनविरमणव्रत

२८५. अहो निच्चं तवोकम्मं सव्वबुद्धेहिं वण्णियं।
जा य लज्जासमा वित्ती, एगभत्तं च भोयण॥ २२॥

२८६. संतिमे सुहुमा पाणा तसा अदुव थावरा।
जाइं राओ अपासंतो, कहमेसणियं चरे ? ॥ २३॥

---

३० 'तत्थ धारणा णाम सपयोअणत्थ धारिज्जइ, जहा उप्पणे पयोयणे एत परिभु जिस्सामि त्ति, एसा धारणा। परिहरणा नाम जा सय वत्थादी परिभु जइ, सा परिहरणा भण्णइ।' —जिनदासचूर्णि, पृ २२१

३१. (क) गणधरा, मणगपिया वा एवमाहु। —वही, पृ २२१
(ख) महर्षिणा—गणधरेण, सूत्रे सेज्जभव आहेति। —हारि. वृत्ति, पत्र १९९

३२ (क) दशवै (सतबालजी), पृ ७६
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३३६
(ग) सव्वत्थ उवधिणा सह सोपकरणा बुद्धा-जिणा। सव्वेवि एगदूसेण निग्गता। पत्तेयबुद्ध-जिणकप्पियादयो वि रयहरण-मुहणतगातिणा सह सजमसारक्खणत्थे परिग्गहेण मुच्छानिमित्ते, तमि विज्जमाणे वि भगवतो मुच्छ न गच्छतीति अपरिग्गहा। कह च ते भगवतो उवकरणे मुच्छ काहिति, जेहिं जयणत्थमुवगरण धारिज्जति तमि ? अवि अप्पणो वि देहमि णाचरंति ममाइत।
—अगस्त्यचूर्णि, पृ १४८
(घ) सरक्षणपरिग्रह इति सरक्षणाय षण्णां जीवनिकायाना वस्त्रादिपरिग्रहे सत्यपि नाचरन्ति ममत्वमिति योग। बुद्धा यथावद्विदितवस्तुतत्त्वा साधव। सर्वत्र उचिते क्षेत्रे काले च।—हारि वृत्ति, पत्र १९९
(ङ) सव्वेसु अतीताणागतेसु सव्वभूमिएसु त्ति। —जिन चूर्णि, पृ. २२१
(च) सरक्खणपरिग्गहो नाम सजमरक्खणनिमित्त परिगिण्हति। —वही, पृ. २२१

२८७. उदओल्लं बीअसंसत्तं पाणा निव्वडिया महिं ।
दिया ताइं विवज्जेज्जा, राओ तत्थ कहं चरे ? ॥२४॥

२८८. एयं च दोसं दट्ठूणं नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति, निग्गंथा राइभोयणं ॥२५॥

[२८५] अहो ! समस्त तीर्थकरो (बुद्धो) ने (देह-पालन के लिए) सयम (लज्जा) के अनुकूल (सम) वृत्ति और एक बार भोजन (अथवा दिन मे ही रागद्वेषरहित होकर आहार करना), इस नित्य (दैनिक) तप कर्म का उपदेश दिया है ॥२२॥

[२८६] ये जो त्रस और स्थावर अतिसूक्ष्म प्राणी हैं, जिन्हे (साधुवर्ग) रात्रि मे नही देख पाता, तब (आहार की) एषणा कैसे कर सकता है ? ॥२३॥

[२८७] उदक से आर्द्र (सचित्त जल से भीगा हुआ), बीजो से ससक्त (सस्पृष्ट) आहार को तथा पृथ्वी पर पडे हुए प्राणियो को दिन मे बचाया जा सकता है, (रात्रि मे नही,) तब फिर रात्रि मे निर्ग्रन्थ भिक्षाचर्या कैसे कर सकता है ? ॥२४॥

[२८८] ज्ञातपुत्र (भगवान् महावीर) ने इसी (हिंसात्मक) दोष को देख कर कहा—निर्ग्रन्थ (साधु या साध्वी) रात्रिभोजन नही करते । (वे रात्रि मे) सब (चारो) प्रकार के आहार का सेवन नही करते ॥२५॥

विवेचन—रात्रिभोजननिषेध : क्यो ?—प्रस्तुत चार गाथाओ (२८५ से २८८ तक) मे रात्रि-भोजनत्याग की सहज भूमिका, रात्रि मे भिक्षाचरी एव एषणाशुद्धि की दुष्करता तथा अहिंसा की दृष्टि से भगवान् महावीर द्वारा रात्रि मे चतुर्विध-आहार-परिभोग के सर्वथा निषेध का प्रतिपादन किया गया है ।

एकभक्त-भोजन · रात्रिभोजननिषेध का समर्थक—प्रस्तुत गाथा रात्रिभोजन-त्याग के सन्दर्भ में प्रस्तुत की गई है, इसलिए एकभक्तभोजन का अर्थ दिवसभोजन माना जाए, या दिन में एक बार भोजन माना जाए ? यह प्रश्न है । यहाँ इसे नित्य तप कर्म (स्थायी तपश्चर्या) बताया गया है । चूर्णिकार और वृत्तिकार के मतानुसार दिवस मे एक बार भोजन करना अथवा रागद्वेषरहित होकर एकाकी भोजन करना एकभक्त-भोजन है । मूलाचार मे भी इसी का समर्थन मिलता है—"सूर्य के उदय और अस्तकाल की तीन घडी छोड कर मध्यकाल मे एक मुहूर्त्त, दो मुहूर्त्त या तीन मुहूर्त्त काल मे एक बार भोजन करना, एकभक्तभोजन रूप मूलगुण है ।" स्कन्दपुराण, मनुस्मृति और वशिष्ठ-स्मृति मे भी एक बार भोजन का सन्यासियो के लिए विधान है । उत्तराध्ययनसूत्र में दिन के तृतीय पहर मे भिक्षा और भोजन करने का विधान है । किन्तु आगमो के अन्य स्थलो के अध्ययन से प्रतीत होता है कि यह क्रम सब साधुओ के लिए या सभी स्थितियो मे नही रहा । दशवैकालिकसूत्र के अष्टम अध्ययन की २८वी गाथा से तो साधु-साध्वियो का भोजनकाल सूर्योदय से लेकर सूर्यास्त के बीच का दिवस का कोई भी काल सिद्ध होता है । जो भी हो, एकभक्त-भोजन से अनायास ही

रात्रिभोजनत्याग तो फलित हो ही जाता है।[३३] ओघनिर्युक्ति मे प्रात:, मध्याह्न और साय इन तीनों समयो मे भोजन करने की अनुज्ञा प्रतीत होती है।❀

लज्जासमावित्ति : विशेष भावार्थ—लज्जा का अर्थ यहाँ सयम है। उसके सदृश यानी सयम के अनुरूप या अविरोधिनी वृत्ति (निर्दोष भिक्षा से प्राप्त आहारादि का दिवस में उपभोग)। तात्पर्य यह है कि दिवस मे शुद्ध भिक्षा से प्राप्त आहार का उपभोग सयम के अनुरूप—अविरोधी वृत्ति है, जो भगवान् ने साधु-साध्वियो के लिए बताई है।[३४]

रात्रिभोजनत्याग के मुख्य कारण—प्रस्तुत दो गाथाओ मे रात्रिभोजन के मुख्य दोष बताए गए हैं—रात्रि मे अन्धकार होने से त्रस और स्थावर जीवो की रक्षा नही हो सकती, रात्रि मे दीपक या अन्य प्रकाश का उपयोग साधु नही कर सकता, यदि चाँदनी रात हो, या प्रकाशित स्थान हो तो भी रात्रि मे नाना प्रकार के सपातिम जीव आ-आकर भोजन मे गिर सकते हैं। इससे आत्मविराधना और जीवविराधना दोनो होती है। भिक्षाचर्या भी रात मे सर्वत्र प्रकाश न होने से नही हो सकती और न ही एषणाशुद्धि हो सकती है। रात्रि मे अन्धकार मे मार्गशुद्धि और आहारशुद्धि नही हो सकती। रात्रि को भिक्षाचरी के लिए भ्रमण करने मे भूमि पर खड़े हुए या रहे हुए जीव-जन्तु नही दिखाई दे सकते। सचित्त जल से भीगा हुआ या बीजादि से सस्पृष्ट आहार दिखाई न देने से रात्रि मे आहार ग्रहण करना भी निषिद्ध है। निष्कर्ष यह है कि रात्रि मे विहार और भिक्षाचर्या दोनो ही निषिद्ध होने से रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध हो जाता है। इन सब दोषो के कारण साधुवर्ग के लिए भगवान् ने रात्रि मे आहार करने का निषेध किया है।[३५] रात्रिभोजन से सयमविराधना का

---

३३ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ३१७
(ख) एगस्स रागदोसरहियस्स भोअण, अहवा इक्कवार दिवसओ भोयणति। —जिनदासचूर्णि, पृ २२२
(ग) द्रव्यत एक-एकसख्यानुगत, भावत कर्मबन्धाभावाद् द्वितीय, तद्दिवस एव रागदिरहितस्य, अन्यथा भावत एकत्वाभावादिति। —हारि वृत्ति, पत्र १९९
(घ) उदयत्थमणे काले णाली-तिय-वज्जियम्हि मज्झम्हि।
एकम्हि दुअ-तिए वा मुहुत्तकाले य भत्त तु॥ —मूलाचार, मूलगुण ३५
(ङ) दिनार्द्धसमयेऽतीते, भुज्यते नियमेन यत्। एकभक्तमिति प्रोक्त, रात्रौ तत्र कदाचन॥ —स्कन्दपुराण
(च) 'एककाले चरेद् भैक्ष्यम्।' —मनुस्मृति ६।५५
(छ) ब्रह्मचर्योक्तमार्गेण सकृद्भोजनमाचरेत्। —वशिष्ठस्मृति ३।१९८
(ज) अत्थगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए। आहारमाइय सव्व मणसा वि न पत्थए। —दश ८।२८
(झ) भगवती ७।१, सू २१

❀ ओघनिर्युक्ति गा २५०, भाष्य गा. १४८-१४९

३४. (क) 'लज्जा—सयमस्तेन समा-सदृशी-तुल्या सयमाविरोधिनीत्यर्थ।'
यावल्लज्जासमा। —हारि. वृत्ति, पत्र १९९

३५. (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. ३४०, ३४१, ३४२
(ख) उदकार्द्र पूर्ववद्ग्रहणे तज्जातीयग्रहणात्स्निग्धादिपरिग्रह।
'बीजससक्त'—बीजै. ससक्त—मिश्रम्, ओदनादीति गम्यते, अथवा बीजानि पृथक्भूतान्येव, संसक्त चारनालाद्यपरेणेति। —हारि. वृत्ति, पत्र २००

दोष बतलाया गया है, सयमविराधना से सभी दोषो का समावेश हो गया। यथा—रात्रि मे भिक्षाटन करने जाएगा, तब अन्धकार हो जाने से विशेष निर्लज्जता भी बढ सकती है, फिर मैथुनादि दोषो का प्रसग भी उपस्थित होना सम्भव है। कभी-कभी स्वार्थ-सिद्धि के लिए असत्य का प्रयोग भी कर सकता है, अदत्तादान और परिग्रह का भी भाव रात्रि में गृहस्थो के घरो में जाने से हो सकता है, अत: रात्रि मे आहार-विहार से सयमविराधना के अन्तर्गत ये सब दोष उत्पन्न हो सकते हैं।[३६]

सातवें से बारहवें आचारस्थान तक : षट्जीवनिकाय-संयम

२८९. पुढविकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया॥ २६॥

२९०. पुढविकायं विहिंसतो हिंसई तु तदस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे॥ २७॥

२९१ तम्हा एय वियाणित्ता दोसं दोग्गइवड्ढणं।
पुढविकाय-समारभं जावज्जीवाए+ वज्जए॥ २८॥

२९२. आउकायं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा।
तिविहेण करणजोएण संजया सुसमाहिया॥ २९॥

२९३. आउकायं विहिंसंतो हिंसई उ तदस्सिए।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे॥ ३०॥

२९४. तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दोग्गइवड्ढणं।
आउकाय-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए॥ ३१॥

२९५. जायतेयं न इच्छंति पावगं जलइत्तए।
तिक्खमन्नयरं सत्थं सव्वओ वि दुरासयं॥ ३२॥

२९६. पाईणं पडिणं वा वि उड्ढं अणुदिसामवि।
अहे दाहिणओ वावि दहे उत्तरओ वि य॥ ३३॥

२९७. भूयाणमेसमाघाओ हव्ववाहो, न संसओ।
तं पईव-पयावट्ठा संजया किंचि नाऽऽरभे॥ ३४॥

---

३६ (क) दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ ३४३
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ७७
(ग) विशेष स्पष्टीकरण के लिए 'जैन आचार सिद्धान्त और स्वरूप' ग्रन्थ देखें।

पाठान्तर— + जावज्जीवाए। × तिक्खमन्नयरा सत्था। —अगस्त्यचूर्णि

२९८. तम्हा एयं वियाणित्ता दोसं दोग्गइवड्ढणं ।
तेउकायसमारंभं जावज्जीवाए वज्जए ।। ३५ ।।

२९९. अनिलस्स समारभ बुद्धा मन्नंति तारिसं ।
सावज्जबहुल चेव, नेयं ताईहिं सेवियं ।। ३६ ।।

३००. तालियटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा ।
न ते वीइउमिच्छंति, वीयावेऊण वा परं ।। ३७ ।।

३०१. ज पि वत्थं वा पायं वा कबलं पायपुंछणं ।
न ते वायमुईरंति जयं परिहरति य ।। ३८ ।।

३०२. तम्हा एयं वियाणित्ता दोस दोग्गइवड्ढणं ।
वाउकाय-समारंभ जावज्जीवाए वज्जए ।। ३९ ।।

३०३. वणस्सइं न हिंसंति मणसा वयसा कायसा ।
तिविहेण करणजोएण सजया सुसमाहिया ।। ४० ।।

३०४. वणस्सइ विहिंसंतो हिंसई उ तदस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य अचक्खुसे ।। ४१ ।।

३०५. तम्हा एय वियाणित्ता दो दोग्गइ-वड्ढणं ।
वणस्सइ-समारंभं जावज्जीवाए वज्जए ।। ४२ ।।

३०६. तसकायं न हिंसंति मणसा वयसा [illegible]यसा ।
तिविहेण करणजोएण सजया सुसमाहिया ।। ४३ ।।

३०७. तसकायं विहिंसंतो, हिंसई उ तदस्सिए ।
तसे य विविहे पाणे चक्खुसे य चक्खुसे ।। ४४ ।।

३०८. तम्हा एयं वियाणित्ता, दोसं दोग्गइ-वड्ढणं ।
तसकाय-समारंभ जावज्जीवाए वज्जए ।। ४५ ।।

[२८९] श्रेष्ठ समाधि वाले सयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन और काय—इस त्रिविध योग से और कृत, कारित एव अनुमोदन—इस त्रिविध करण से पृथ्वीकाय की हिसा नही करते ।।२६।।

[२९०] पृथ्वीकाय की हिंसा करता हुआ (साधक) उसके आश्रित रहे हुए विविध प्रकार के चाक्षुष (नेत्रो से दिखाई देने वाले) और अचाक्षुष (नही दिखाई देने वाले) त्रस और स्थावर प्राणियो की हिंसा करता है ।।२७।।

[२९१] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर यावज्जीवन पृथ्वीकाय के समारम्भ का त्याग करे ।।२८।।

[२९२] सुसमाधिमान् सयमी मन, वचन और काय—इस त्रिविध योग से तथा कृत, कारित और अनुमोदन,—इस त्रिविध करण से अप्काय की हिंसा नही करते ।।२९।।

[२९३] अप्कायिक जीवो की हिंसा करता हुआ (साधक) उनके आश्रित रहे हुए विविध चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्यमान) त्रस और स्थावर प्राणियो की हिंसा करता है ।।३०।।

[२९४] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) यावज्जीवन अप्काय के समारम्भ का त्याग करे ।।३१।।

[२९५] (साधु-साध्वी) जाततेज—अग्नि को जलाने की इच्छा नही करते, क्योकि वह दूसरे शास्त्रो की अपेक्षा तीक्ष्ण शस्त्र तथा सब ओर से दुराश्रय है ।।३२।।

[२९६] वह (अग्नि) पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर और ऊर्ध्वदिशा तथा अधोदिशा और विदिशाओ मे (सभी जीवो का) दहन करती है ।।३३।।

[२९७] नि सन्देह यह हव्यवाह (अग्नि) प्राणियो के लिए आघातजनक है। अत सयमी (साधु-साध्वी) प्रकाश (प्रदीपन) और ताप (प्रतापन) के लिए उस (अग्नि) का किचिन्मात्र भी आरम्भ न करे ।।३४।।

[२९८] (अग्नि जीवो के लिए विघातक है), इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) जीवन-पर्यन्त अग्निकाय के समारम्भ का त्याग करे ।।३५।।

[२९९] बुद्ध (तीर्थकरदेव) वायु (अनिल) के समारम्भ को अग्निसमारम्भ के सदृश ही मानते है। यह सावद्य-बहुल (प्रचुरपापयुक्त) है। अत यह षट्काय के त्राता साधुओ के द्वारा आसेवित नही है ।।३६।।

[३००] (इसलिए) वे (साधु-साध्वी) ताड के पखे से, पत्र (पत्ते) से, वृक्ष की शाखा से, अथवा पखे से (स्वय) हवा करना तथा दूसरो से हवा करवाना नही चाहते (और उपलक्षण से अनुमोदन भी नही करते हैं।) ।।३७।।

[३०१] जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल या रजोहरण है, उनके द्वारा (भी) वे वायु की उदीरणा नही करते, किन्तु यतनापूर्वक वस्त्र-पात्रादि उपकरण को धारण करते है ।।३८।।

[३०२] (वायुकाय सावद्य-बहुल है) इसलिए इस दुर्गतिवर्द्धक दोष को जान कर (साधुवर्ग) जीवनपर्यन्त वायुकाय-समारम्भ का त्याग करे ।।३९।।

[३०३] सुसमाहित सयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन और काय—इस त्रिविध योग से तथा कृत, कारित और अनुमोदन—इस त्रिविध करण से वनस्पतिकाय की हिंसा नही करते ।।४०।।

[३०४] वनस्पतिकाय की हिंसा करता हुआ (साधु) उसके आश्रित विविध चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियो की हिंसा करता है ।।४१।।

[३०५] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) जीवन भर वनस्पतिकाय के समारम्भ का त्याग करे ।।४२।।

[३०६] सुसमाधियुक्त सयमी (साधु-साध्वी) मन, वचन, काया—इस त्रिविध योग तथा कृत, कारित और अनुमोदन—इस त्रिविध करण से त्रसकायिक जीवो की हिसा नही करते ।।४३।।

[३०७] त्रसकाय की हिसा करता हुआ (साधु) उसके आश्रित रहे हुए अनेक प्रकार के चाक्षुष (दृश्यमान) और अचाक्षुष (अदृश्य) त्रस और स्थावर प्राणियो की हिसा करता है ।।४४।।

[३०८] इसलिए इसे दुर्गतिवर्द्धक दोष जान कर (साधुवर्ग) जीवनपर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का त्याग करे ।।४५।।

विवेचन—षट्कायिक जीवों की हिंसा का त्याग—प्रस्तुत २० सूत्रगाथाओ (२८९ से ३०८ तक) मे क्रमश पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकायो की हिसा का त्याग साधुवर्ग को क्यो और किस प्रकार से करना चाहिए, इसका प्रतिपादन किया गया है। पृथ्वीकायादि की हिसा का त्याग क्यो करना चाहिए, इसके उत्तर मे शास्त्रकार कहते हैं—इन षड्जीवनिकायो की हिसा करते समय व्यक्ति उस-उस काय के अतिरिक्त उसके आश्रित कई प्रकार के त्रस एव स्थावर, आँखो से दीखने वाले और न दीखने वाले जीवो का भी सहार करता है। इन षट्कायिक जीवो की हिसा से दुर्गति (नरक या तिर्यञ्च गति) तो मिलती ही है, किन्तु उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि होती जाती है, अर्थात्—कुगतियो मे जन्ममरण की परम्परा बढती जाती है। यह दोष अतीव भयकर और आत्मगुणो का विघातक है, यह जानकर इनकी हिसा का त्याग करना अनिवार्य है।[३६]

इनकी हिंसा का त्याग किस प्रकार से ?—(१) सामान्यतया षट्कायिक जीवो की हिसा के त्याग की विधि इस प्रकार बताई गई है—तीन करण और तीन योग से पृथ्वीकायादि छह जीवनिकायो की हिसा एव समारम्भ का त्याग जीवन भर के लिए करे। (२) विशेष रूप से प्रत्येक जीवनिकाय के जीवो की हिसा के त्याग की विधि पृथक्-पृथक् भी बताई गई है। वैसे तो 'षड्जीव निकाय' नामक चतुर्थ अध्ययन मे प्रत्येक जीवनिकाय से सम्बन्धित प्रकार और उसकी हिसा के विविध प्रकारो का उल्लेख किया गया है, इसलिए यहाँ उसकी विशेष चर्चा नही की गई है। प्रस्तुत मे तेजस्काय एव वायुकाय की हिसा के त्याग के सम्बन्ध मे विशेष प्रकाश डाला गया है—अग्नि अन्य शस्त्रो से अधिक तीक्ष्ण शस्त्र है, सर्वत दुराश्रय, सर्व दिशाओ-विदिशाओ मे सहारक हो जाती है—वहाँ रहे हुए सभी जीवो को भस्म करती है। यह प्रचुर प्राणियो के लिए विघातक है। अत सयमी साधुवर्ग ताप और प्रकाश दोनो के लिए अग्नि का जरा भी प्रयोग न करे। वायुकाय का समारम्भ भी अग्निकायसदृश घोर विघातक है, सावद्यबहुल है, त्यागी साधुवर्ग के द्वारा अनासेवित है। अत. ताड़पत्र के पखे, पत्ते, शाखा अथवा अन्य किस्म के पखे आदि से तथा वस्त्र, पात्र, कम्बल या रजोहरण से हवा नही करनी चाहिए। यतनापूर्वक वस्त्रादि उपकरणो को रखना-उठाना या धारण करना चाहिए।[३७]

---

३६ (क) दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ ४१-४२-४३
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म)

३७. दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ ४२

'जाततेयं' आदि शब्दों की व्याख्या : जाततेयं—**जाततेज**—जो उत्पत्तिकाल से ही तेजस्वी हो। सूर्य उदयकाल मे मृदु और मध्याह्न मे तीव्र होता है, अत वह जाततेज नही है। स्वर्ण जाततेज नही है, परिकर्म से तेजस्वी बनता है, अग्नि परिकर्म के बिना उत्पत्ति के साथ ही तेजस्वी होती है, अत इसे 'जाततेज' कहा गया है। **पावक** भी अग्नि का पर्यायवाची नाम है, जाततेज उसका विशेषण है।[३८]

तिक्खमन्नयरं सत्थ—अग्नि तीक्ष्णतम शस्त्र है। कई शस्त्र एक धार वाले, कई दो धार, तीन धार, चार धार अथवा पाच धार वाले होते है, किन्तु अग्नि सर्वतोधार—सब ओर से धार वाला शस्त्र है। अजानुफल पाँच धारवाले शस्त्र होते है, सभी शस्त्रो मे अग्नि जैसा तीक्ष्णतर कोई शस्त्र नही है। अन्यतर का अर्थ है—प्रधान शस्त्र। सबसे तीक्ष्ण या सर्वतोधार अथवा तीक्ष्णशस्त्रो मे प्रधान शस्त्र। अग्नि सर्वतोधार है, इसलिए इसे **'सर्वतोदुराश्रय'** कहा गया है। अर्थात्—इसे अपने आश्रित करना कठिन है। **हव्ववाहो**—**हव्यवाह**—देवतृप्ति के लिए होम किये जाने वाले घृत आदि हव्य द्रव्यो का जो वहन करे वह हव्यवाह है, यह अग्नि का पर्यायवाची शब्द है। **आघाओ**—**आघात**—प्राणियो के आघात (विनाश) का हेतु होने से इसे आघात कहा गया है। **सावज्जबहुल**—प्रचुर पापयुक्त। सावद्य शब्द का अर्थ है—अवद्य-पाप सहित। **उईरंति**—**उदीरयन्ति** प्रेरित करते हैं—प्रयत्नपूर्वक उत्पन्न करते है।[३९]

तेरहवाँ आचारस्थान : प्रथम उत्तरगुण अकल्प्य-वर्जन

३०९. जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं इसिणाऽऽहारमाइणि।
ताइं तु विवज्जेंतो संजमं अणुपालए ॥४६॥

---

३८ (क) जात एव जम्मकाल एव तेजस्वी, ण तहा आदिच्चो, उदये सोमो मज्झे तिव्वो। —अ. चू, पृ १५०
(ख) जायते तेजमुप्पत्तीसमकमेव जस्स सो जायतेयो भवति। जहा सुवण्णादीण परिक्कमणाविसेसेण तेयाभिसम्बन्धो भवति, ण तहा जायतेयस्स। —जि चू, पृ २२४

३९ (क) सासिज्जइ जेण त सत्थ, किंचि एगधार, दुधार, तिधार, चउधार, पचधार, सव्वतो धार नत्थि, मोत्तुमगणिमेग। तत्थ एगधार, परसु, दुधार कणयो, तिधार असि, चउधार तिपडतो कणीयो, पचधार अजानुफल, सव्वओ धार अग्गी। एतेहि एगधार-दुधार-तिधार-चउधार-पचधारेहिं सत्थेहिं अण्ण नत्थि सत्थ, अगणिमत्थाओ तिक्खतरमिति। —जिनदासचूर्णि, पृ २२४
(ख) 'तीक्ष्ण'-छेदकरणात्मकम्, 'अन्यतरत् शस्त्र'-सर्वशस्त्रम्। सर्वतोधारशस्त्रकल्पमिति भाव। —हारि वृत्ति, पत्र २०१
(ग) अण्णतराओत्ति पधाणाओ। —अग चूर्णि, पृ १५०
(घ) सव्वओवि दुरासय नाम एत सत्थ सव्वतोधारत्तणेण दुक्खमाश्रयत इति दुराश्रय। —जिनदासचूर्णि, पृ. २२४
(ङ) अणुदिसाओ—अतरदिसाओ। —अग. चूर्णि, पृ १५०
(च) वहतीति वाहो, हव्व नाम ज हूयते घयादि त हव्व भण्णइ। —जि चू, पृ. २२५
(छ) 'हव्यवाह'-अग्नि। एष आघातहेतुत्वादाघात। —हारि वृत्ति, पत्र २०१
(ज) 'सावज्जबहुल-पापभूयिष्ठम्'। —हारि वृत्ति, पत्र २०१
(झ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ३२१

३१०. पिंडं सेज्जं च वत्थं च, चउत्थं पायमेव य ।
अकप्पियं न इच्छेज्जा, पडिग्गाहेज्ज कप्पियं ।।४७।।

३११. जे नियाग ममायंति कीयमुद्देसियाऽऽहडं ।
वहं ते समणुजाणंति, इइ वुत्तं[४०] महेसिणा ।।४८।।

३१२. तम्हा असण-पाणाई+ कीयमुद्देसियाऽऽहडं ।
वज्जयंति ठियप्पाणो निग्गंथा धम्मजीविणो ।।४९।।

[३०९] जो आहार आदि (निम्नोक्त) चार पदार्थ ऋषियो के लिए अकल्पनीय (अभोग्य) हैं, उनका विवर्जन करता हुआ (साधु) सयम का पालन करे ।।४६।।

[३१०] साधु या साध्वी अकल्पनीय पिण्ड (आहार), शय्या (वसति, उपाश्रय या धर्मस्थानक), वस्त्र (इन तीन) और चौथे पात्र को ग्रहण करने की इच्छा न करे, ये कल्पनीय हो तो ग्रहण करे ।।४७।।

[३११] जो साधु-साध्वी नित्य आदरपूर्वक निमन्त्रित कर दिया जाने वाला (नियाग), क्रीत (साधु के निमित्त खरीदा हुआ), औद्देशिक (साधु के निमित्त बनाया हुआ) और आहृत (निर्ग्रन्थ के निमित्त दूर से सम्मुख लाया हुआ) आहार ग्रहण करते हैं, वे (प्राणियो के) वध का अनुमोदन करते हैं, ऐसा महर्षि महावीर ने कहा है ।।४८।।

[३१२] इसलिए धर्मजीवी, स्थितात्मा (स्थितप्रज्ञ), निर्ग्रन्थ, क्रीत, औद्देशिक एव आहृत (आदि दोषो से युक्त) अशन-पान आदि का वर्जन करते हैं ।।४९।।

विवेचन—साधुवर्ग की चार मुख्य आवश्यकताएं : उनमें अकल्प्य का वर्जन, कल्प्य का ग्रहण—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ (३०९ से ३१२ तक) में चार मुख्य आवश्यकताओ का निरूपण करके उनमें अकल्पनीय का वर्जन और कल्पनीय को ग्रहण करने का निर्देश किया गया है ।

साधुवर्ग की ४ मुख्य आवश्यकताएँ—(१) पिण्ड (आहार-पानी), (२) शय्या (आवासस्थान), (३) वस्त्र और (४) पात्र । आचारागसूत्र, पिण्डनिर्युक्ति आदि मे इन चारो के सम्बन्ध मे कौन-सा, कैसा, कब और किस स्थिति मे, किस दाता द्वारा ग्रहण करना कल्पनीय है ? कौन-सा पिण्ड आदि अकल्पनीय है ? इसका विस्तृत वर्णन है ।

अकल्प्य और कल्प्य की मीमांसा और अकल्प्यनिषेध का रहस्य—जो पिण्ड, शय्या, वस्त्र और पात्र अकल्प्य हो, उसे ग्रहण करना तो दूर रहा, उसे ग्रहण करने की इच्छा भी न करे । अकल्प्य का विचार इस प्रकार है—अकल्प्य दो प्रकार के है—शैक्षस्थापना-अकल्प्य और अकल्पस्थापना-अकल्प्य । शैक्ष (नवदीक्षित जो कल्प, अकल्प को न जानता हो) के द्वारा लाया हुआ या याचित आहार, वसति, वस्त्रग्रहण तथा वर्षाकाल मे किसी को प्रव्रजित करना या ऋतुबद्ध काल मे अयोग्य को प्रव्रजित

---

४० पाठान्तर—उत्त । +पाणाइ ।

करना, शैक्षस्थापना-अकल्प्य है। जिनदास महत्तर के अनुसार जिसने पिण्डनिर्युक्ति या पिण्डैषणाऽध्ययन (आचारांग) न पढा हो उसके द्वारा लाया हुआ भक्त-पान, जिसने शय्याऽध्ययन (आचार-चूला-२) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा याचित वसति (उपाश्रयादि) और जिसने वस्त्रैषणा (आचारचूला-५) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा आनीत वस्त्र, वर्षाकाल मे किसी को प्रव्रजित करना तथा ऋतुबद्ध काल में अयोग्य को प्रव्रजित करना शैक्ष-स्थापना-अकल्प्य कहलाता है। वृत्तिकार ने इसके अतिरिक्त भी बताया है कि जिसने पात्रैषणा (आचारचूला-६) का अध्ययन न किया हो, उसके द्वारा आनीत पात्र भी शैक्षस्थापना-अकल्प्य है। अकल्पनीय पिण्ड आदि को ही इन व्याख्याकारो ने 'अकल्पस्थापना-अकल्प्य' कहा है और यही यहाँ सगत है।[४१]

अभोज्जाइं आदि पदो का विशेषार्थ—अभोज्जाइ-अभोज्यानि अर्थात् अकल्पनीय, **असेवनीय**। जो भक्त-पान, वस्त्र, पात्र और वसति (उपाश्रय आदि आवासस्थान) साधु-साध्वियो के लिए **अग्राह्य** हो, विधिसम्मत न हो, सयम के लिए अपकारी हो, वे अकल्पनीय हैं। **इसिणा : (१) ऋषिणा : ऋषि के द्वारा** अथवा (२) **ऋषीणां** : ऋषियो का। आहारमाईणि—आहारादि। आदि शब्द से शय्या, वस्त्र और पात्र का ग्रहण करना चाहिए।[४२]

चौदहवाँ आचारस्थान : गृहस्थ के भाजन में परिभोगनिषेध

३१३. कसेसु कसपाएसु कुडमोएसु वा पुणो।
भुंजंतो असणपाणाई+आयरा परिभस्सई ॥५०॥

३१४. सोओदगसमारंभे मत्तधोयणछड्डुणे।
जाइ छण्णंति भूयाइं, तत्थ* दिट्ठो असंजमो ॥५१॥

---

४१ (क) पढमोत्तरगुणो अकप्पो। सो दुविहो त —सेहठवणाकप्पो अकप्पठवणारुप्पो य। पिंड-सेज्ज-वत्थ-पत्ताणि अप्पप्पणो अकप्पितेण उप्पाइयाणि ण कप्पति। अकप्पठवणाकप्पो इमो।
—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १५२

(ख) अणहीआ खलु जेण पिंडेसणसेज्ज-वत्थ-पाएसा।
तेणाणियाणि जतिणो कप्पति ण पिंडमाईणि ॥१॥
उउबद्धंमि ण अणला, वासावासे उ दोवि णो सेहा।
दिक्खिज्जती पाय उवणाकप्पो इमो होइ ॥२॥ —हारि वृत्ति, पत्र २०३

४२ (क) **अभोज्जाणि-अकप्पियाणि**। —जि. चू, पृ २२७
(ख) अभोज्यानि-सयमापकारित्वेनाकल्पनीयानि।
(ग) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ. ३२२
(घ) इसिणा—साधुना। —जिन. चू, पृ. २२७
(ङ) ऋषीणा—साधूनाम्। —हारि वृत्ति, पृ २०३
(च) 'आहार-शय्या-वस्त्रपात्राणि—आहारादीनि।' —हा. चू, पत्र २०३

पाठान्तर + असणपाणाइ। * सो तत्थ

३१५. पच्छाकम्मं पुरेकम्मं सिया तत्थ न कप्पई।
एयमट्ठं न भुंजंति निग्गंथा गिहिभायणे ॥५२॥

[३१३] (गृहस्थ के) कासे के कटोरे (या प्याले) मे, कासे मे बर्तन (या थाली) मे अथवा कुडे के आकार वाले कासे के बर्तन मे जो साधु अशन, पान आदि खाता-पीता है, वह श्रमणाचार से परिभ्रष्ट हो जाता है ॥५०॥

[३१४] (गृहस्थ के द्वारा) उन बर्तनो को सचित्त (शीत) जल से धोने मे और बर्तनो के धोए हुए पानी को डालने मे जो प्राणी निहत (हताहत) होते हैं, उसमे (तीर्थंकरो ने) असयम देखा है ॥५१॥

[३१५] (गृहस्थ के बर्तन मे भोजन करने से) कदाचित् पश्चात्कर्म और पुर.कर्म (दोष) सभव है। (इस कारण वह निर्ग्रन्थ के लिए) कल्पनीय नही है। इसी कारण वे गृहस्थ के पात्र मे भोजन नही करते ॥५२॥

विवेचन—गृहस्थ के पात्र मे भोजन कल्पनीय क्यो नहीं ?—गृहस्थ के कासे आदि धातुओ के बर्तन मे साधु को भोजन करना या पेयपदार्थ पीना इसलिए कल्पनीय नही है कि गृहस्थ साधु-साध्वी को अपना बर्तन देने से पहले या लौटाने के पश्चात् उसे सचित्त जल से धो सकता है और फिर बर्तन का वह धोया हुआ पानी जहाँ-तहाँ अविवेक से डाल देगा। वहाँ उससे त्रसजीवो की उत्पत्ति और विराधना हो सकती है। ऐसा करने से पश्चात्कर्म और पुर.कर्म नामक एषणादोष लगना सम्भव है। अतएव गृहस्थ के बर्तन मे आहार-पानी करने से श्रमणो को आचार से पतित और भ्रष्ट बताया है।[४३]

'कंसेसु' आदि पदो का अर्थ—कसेसु : अनेक अर्थ—(१) कांसे का बना हुआ बर्तन (कास्य), (२) क्रीडा-पान का बर्तन, (कस), (३) थाल, खोरक (गोलाकार बर्तन), (४) कटोरा, गगरी जैसा बर्तन। **कसपाएसु : दो अर्थ**—(१) कांसे के बर्तनो मे या कांसे की थालियो मे। **कुंडमोएसु**—कुण्डमोदेषु तीन अर्थ—(१) कच्छ आदि देशो मे प्रचलित कुडे की आकृति जैसा कास्यपात्र। (२) हाथी के पैर जैसी आकृति वाला बर्तन, (३) हाथी के पैर के आकार का मिट्टी आदि का भाजन-कुण्डमोद है। **सीओदगं-शीतोदक**—सचित्त जल। **छण्णंति-क्षणति**—हिसा करता है। क्षणु धातु हिंसा करने के अर्थ मे है।[४४]

---

४३ दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. ३६५-३६६

४४ (क) कसेसु—कसस्स विकारो कास तेसु वट्टगातिसु लीलापाणेसु। —अ चू, पृ १५३
(ख) कुण्डमोदेषु हस्तिपादाकारेषु मृण्मयादिषु। —हारि वृत्ति, पृ २०३
(ग) कुडमोय कच्छातिसु कुडसथिय कसभायणमेव महत। —अगस्त्य चूर्णि, पृ १५३
(घ) 'सीतग्गहणेण सचेयणस्स उदगस्स गहण कय।' —जिन. चूर्णि, पृ. २२८
(ङ) छन्नति—क्षणु हिंसायामिति हिंसज्जति। —अगस्त्य चूर्णि, पृ. १५३

पन्द्रहवाँ स्थान : पर्यंक आदि पर सोने-बैठने का निषेध

३१६. आसंदी-पलियंकेसु मंचमासालएसु वा।
अणायरियमज्जाणं आसइत्तु सइत्तु वा ॥५३॥

३१७. नासंदीपलियंकेसु, न निसिज्जा न पीढए।
निग्गंथाऽपडिलेहाए बुद्धवुत्तमहिट्ठगा ॥५४॥

३१८. गंभीरविजया एए पाणा दुप्पडिलेहगा।
आसंदी पलियंको य एयमट्ठं विवज्जिया ॥५५॥

[३१६] आर्य (एव आर्याओ) के लिए आसन्दी और पलग पर, मच (खाट) और आसालक (सिहासन या आरामदेह लचीली कुर्सी) पर बैठना या सोना अनाचरित है ॥५३॥

[३१७] तीर्थंकरदेवो (बुद्धो) द्वारा कथित आचार का पालन करने वाले निर्ग्रन्थ (विशेष परिस्थिति मे बैठना पडे तो) विना प्रतिलेखन किये, न तो आसन्दी, पलग पर बैठते है और न गद्दी या आसन (निषद्या) पर बैठते है, न ही पीढे पर बैठते (उठते या सोते) है ॥५४॥

[३१८] ये (सब शयनासन) गम्भीर छिद्र वाले होते है, इनमे सूक्ष्म प्राणियो का प्रतिलेखन करना दु शक्य होता है, इसलिए आसन्दी एवं पर्यक (तथा मच आदि) पर बैठना या सोना वर्जित किया है ॥५५॥

विवेचन—पर्यंक आदि पर सोने-बैठने का वर्जन क्यो ?—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ (३१६ से ३१८) मे पर्यंक आदि पर सोने-बैठने के निषेध के कारणो की मीमासा तथा आपवादिक रूप से प्रतिलेखनपूर्वक बैठने-सोने का प्रतिपादन किया है। पर्यक आदि पर बैठने सोने का निषेध करने के पीछे एक प्रबल कारण यह दिया है कि ये सब शयन-आसन गम्भीर (पोले) छिद्र वाले अथवा इनके विभाग अप्रकाशकर होते है। इसलिए वहाँ रहे हुए जीवो का भलीभाँति प्रतिलेखन नही हो सकता। किसी विशेष परिस्थिति मे राजकुलादि मे धर्मकथा आदि करने हेतु कदाचित् बैठना पडे तो प्रतिलेखन किये बिना न बैठे।[४५]

पलियंक आदि पदो के विशेष अर्थ—आसदी—भद्रासन, **पलियंक**—पर्यंक—पलग। **मंच**—माचा, खाट या चारपाई। **आशालक**—जिसमे सहारा हो, ऐसा सुखकारक-आसन। वर्तमान काल मे इसे आरामकुर्सी आदि कहते है। **निसिज्जा**- निषद्या—एक या अनेक वस्त्रो से बना हुआ आसन या गद्दी। **पीढए**—पीठ, पीढा। जिनदासचूर्णि के अनुसार यह पीढा पलाल का और वृत्ति के अनुसार बेत का बना हुआ होता है। **गभीरविजया**—(१) **गंभीरविजया**—गम्भीर छिद्रो वाले या (२)

४५ (क) गभीर अप्रकाश, विजय -आश्रय अप्रकाशाश्रया एते। —हारि. वृत्ति, पत्र २०४
(ख) गभीर अप्पगास विजयो-विभागो। गभीरो विजयो जेसिं ते गभीरविजया। —अ. चू, पृ. १५४
(ग) धम्मकहा-रायकुलादिसु पडिलेहिऊण निसीयणादीणि कुव्वति। —जिन चूर्णि, पृ २९९
(घ) पडिलेहणा-पमत्तो-विराहओ होई। —उत्तरा अ २७।३०

गभीर-विजया—गभीर का अर्थ अप्रकाश और छिद्र का अर्थ—विभाग है। जिनके विभाग अप्रकाशकर होते हैं। बुद्ध-वुत्तमहिट्ठगा—तीर्थंकरो के वचनो को मानने वाले।[४६]

सोलहवाँ आचारस्थान : गृहनिषद्या-वर्जन

३१९. गोयरग्गपविट्ठस्स निसेज्जा जस्स कप्पई।
इमेरिसमणायारं आवज्जइ अबोहियं ॥५६॥

३२०. विवत्ती बंभचेरस्स पाणाणं* च वहे वहो।
वणीमगपडिग्घाओ पडिकोहो य अगारिणं ॥५७॥

३२१. अगुत्ती बंभचेरस्स इत्थीओ यावि संकणं।
कुसीलवड्ढणं ठाणं दूरओ परिवज्जए ॥५८॥

३२२. तिण्हमन्नयरागस्स निसेज्जा जस्स कप्पई।
जराए अभिभूयस्स वाहियस्स तवस्सिणो ॥५९॥

[३१९] भिक्षा के लिए प्रविष्ट जिस (साधु) को (गृहस्थ के घर मे) बैठना अच्छा लगता है, वह इस प्रकार के (आगे कहे जाने वाले) अनाचार को (तथा उसके) अबोधि (रूप फल) को प्राप्त होता है ॥५६॥

[३२०] (गृहस्थ के घर में बैठने से) ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन न करने मे विपत्ति खडी हो जाती है। प्राणियो का वध होने से सयम का घात हो जाता है और भिक्षाचरो को अन्तराय और घर वालो को क्रोध उत्पन्न होता है ॥५७॥

[३२१] (गृहस्थ के घर मे बैठने से) ब्रह्मचर्य की असुरक्षा (अगुप्ति) होती है, स्त्रियो के प्रति भी शका उत्पन्न होती है। अत यह गृहस्थगृहनिषद्या कुशीलता बढाने वाला स्थान (भयस्थल) है, (अत साधु) इसका दूर से ही परिवर्जन कर दे ॥५८॥

---

४६ (क) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज), पृ. ३६९
(ख) निसिज्जा नाम एगे कप्पो, अणेगा वा कप्पा। —जिन चूर्णि, पृ २२९
(ग) पीढग—पलालपीठगादि। —जि. चूर्णि, पृ. २२९
पीठके—वेत्रमयादौ। —हारि वृत्ति, पृ २०४
(घ) गभीर अप्पगास भण्णइ, विजओ नाम मग्गणति वा, पिथुकरणति वा, विवेयणति वा विजओ त्ति वा एगट्ठा। —जिन चूर्णि, पृ २२९
गभीर-अप्रकाश विजय आश्रय अप्रकाशाश्रया एते। —हारि. वृ २०४
(ङ) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३६८

पाठान्तर—* अवहे वहो।

[३२२] जरा (बुढापे) से ग्रस्त, व्याधि (रोग) से पीडित और (उग्र) तपस्वी, इन तीनो में से किसी के लिए गृहस्थ के घर मे बैठना कल्पनीय है ।।५९।।

विवेचन—गृहस्थ के घर में बैठने से दोष—प्रस्तुत ४ गाथाओ (३१९ से ३२२ तक) मे गृहस्थ के घर मे बैठने से होने वाले दोषो का उल्लेख किया है। मुख्य दोष निम्नलिखित बताए हैं—(१) अनाचार-प्राप्ति, (२) अबोधिकारक फल (मिथ्यात्व) की प्राप्ति, (३) ब्रह्मचर्य के आचरण मे विपत्ति, (४) प्राणियों का वध होने से सयम का घात, (५) भिक्षाचरो के अन्तराय लगता है, जिससे उन्हे आघात पहुँचता है, (६) ब्रह्मचर्य असुरक्षित हो जाता है एव (७) स्त्रियो के प्रति शका।

'अणायारं' आवज्जइ अबोहियं : आशय—(१) गृहस्थ के घर मे बैठने या कथावार्ता करने से साधु का साध्वाचारपथ से गिर कर अनाचारपथ पर पहुँच जाना सम्भव है। एक बार अनाचार प्राप्त होने से साधक किसी भी तुच्छ निमित्त को पाकर सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाता है और क्षायिक या क्षायोपशमिक भाव, जो अत्यन्त सत्प्रयत्नो से प्राप्त होते हैं, वे नष्ट हो जाते हैं और साधक औदयिकभाव मे पहुँच कर मिथ्यात्वग्रस्त हो जाता है। (२) घर मे इधर-उधर डोलती-फिरती, सोती एव बैठती स्त्रियो के अग-प्रत्यगो को बार-बार देखने तथा उनकी मनोज्ञ इन्द्रियो को निरखने से और उनके साथ बातचीत करने तथा अतिपरिचय होने से चित्त कामरागवश चचल होने से ब्रह्मचर्य का विनाश सम्भव है। (३) अतिससर्ग के कारण रागभाववश साधु के लिए नाना प्रकार का स्वादिष्ट भक्त-पान तैयार किया जा सकता है, जिससे प्राणियो का वध होना स्वाभाविक है। (४) जो भिक्षाचर घर पर मागने आते है, उनको अन्तराय होता है, क्योकि देने वाले सब साधु की सेवा मे बैठ जाते है, साधु को बुरा लगेगा, यह सोच कर गृहिणी उन भिक्षाचरो की ओर ध्यान नही देती। फलत वे निराश होकर लौट जाते है। (५) घर के स्वामी को, साधु के इस प्रकार घर मे बैठने से उसके चारित्र के प्रति शका होती है। **'इत्थीओ वावि संकणं'** से यह अर्थ किया गया है—स्त्री के प्रफुल्ल वदन और कटाक्ष आदि की अनेक कामोत्तेजक चेष्टाएँ देख कर लोग उसके प्रति शका करने लगते है कि इस स्त्री का मुनि से लगाव दिखता है। वैसे ही मुनि के प्रति भी शकाशील हो जाते है कि यह साधु ब्रह्मचर्य से पतित है।[४७]

निसिज्जा जस्स कप्पइ—पहले उत्सर्ग के रूप मे गृहस्थ के घर मे बैठने का साधु के लिए निषेध किया गया था। इस सूत्र मे अपवाद रूप से तीन प्रकार के साधुओ के लिए गृहस्थ के घर मे बैठना परिस्थितिवश कल्पनीय बताया है—साधु यदि (१) रोगिष्ठ, (२) उग्र तपस्वी, या (३) वृद्धावस्था से पीडित हो। रोग, उग्र तप या बुढापा देह को शिथिल बना देता है, इस कारण गोचरी के लिए गया हुआ भिक्षु कदाचित् हाँफने लगे या थक जाए तो गृहस्थ के यहाँ घर के लोगो से अनुज्ञा

---

४७ (क) दशवैकालिकसूत्रम् (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३७१
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ८५
(ग) अबोहिकारिं अबोहिक। —अग चूर्णि, पृ. १५४
अबोहिं नाम मिच्छत्त। —जिन चूर्णि, पृ २२९
(घ) कह बभचेरस्स विवत्ती होज्जा ? अवरोप्परओ-सभास-अन्नोऽन्नदसणादीहि बभचेरविवत्ती भवति।
—जिन. चूर्णि, २२९
(ङ) 'तत्थ य बहवे भिक्खायरा एति ते तस्स अवण्ण भासति।' —जिन चू, पृ २३०

माग कर अपनी थकान मिटाने या विश्राम लेने हेतु थोडी देर तक विवेकपूर्वक बैठ सकता है। यह अपवाद मार्ग है। इसका एक या दूसरे प्रकार से लाभ लेकर कोई अनर्थ न कर बैठे, इसलिए प्रत्येक स्थिति मे विवेक करना अनिवार्य है।[४८]

सत्तरहवाँ आचारस्थान : स्नानवर्जन

३२३. वाहिओ वा अरोगी वा सिणाण जो उ पत्थए।
वोक्कंतो होइ आयारो, जढो हवइ सजमो ॥६०॥

३२४. संतिमे सुहुमा पाणा घसासु भिलुगासु* य।
जे उ भिक्खू सिणायंतो,+ वियडेणुप्पिलावए ॥६१॥

३२५. तम्हा ते न सिणायंति सीएण उसिणेण वा।
जावज्जीवं वयं घोरं असिणाणमहिट्ठगा ॥६२॥

[३२३] रोगी हो या नीरोग, जो साधु (या साध्वी) स्नान करने की इच्छा करता है, उसके आचार का अतिक्रमण (उल्लघन) हो जाता है, उसका सयम भी त्यक्त (शून्यरूप) हो जाता है ॥६०॥

[३२४] यह तो प्रत्यक्ष है कि पोली भूमि मे और भूमि को दरारो मे सूक्ष्म प्राणी होते है। प्रासुक जल से भी स्नान करता हुआ भिक्षु उन्हे (जल से) प्लावित कर (-बहा) देता है ॥६१॥

[३२५] इसलिए वे (सयमी साधु-साध्वी) शीतल या उष्ण जल से स्नान नही करते। वे जीवन भर घोर अस्नानव्रत पर दृढता से टिके रहते हैं ॥६२॥

विवेचन—स्माननिषेध का हेतु ?—प्रस्तुत तीन गाथाओ (३२३ से ३२५ तक) मे ब्रह्मचारी एव सयमी साधु या साध्वी के स्नान करने मे निम्नोक्त दोषो की सम्भावना बतलाई गई है—(१) आचार का उल्लघन (साधु का यावज्जीवन आचार (नियम) है—अस्नान का, वह भग होता है), (२) प्राणिरक्षणरूप सयम की विराधना, क्योकि स्नान करता है तो पानी के बहने से अनेक सूक्ष्म त्रस प्राणियो की हिसा होने की सम्भावना है। (३) पोली और दरार वाली भूमि मे स्नान का बहता हुआ पानी घुस जाने से वहाँ पर रहे हुए अनेक सूक्ष्म जीवो की विराधना होती है। (४) प्रासुक या उष्ण जल से स्नान करने मे भी यही पूर्वोक्त दोष है।[४९]

---

४८. (क) दशवै (सतबालजी), पृ. ८४
(ख) दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पण), पृ ४५
(ग) जराए अभिभूयगाहणे ण अतिकट्ठपत्ताए जराए वज्जति। अत्तलाभिओ वा अनिकिट्ठतवस्सी वा एवमादि।
—जिन. चूर्णि, पृ २३०-२३१

पाठान्तर— * भिलगासु। + जे अ भिक्खू सिणायति।

४९. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ ३७५

'वोक्कंतो' आदि कठिन शब्दों के अर्थ—**वोक्कंतो**—व्युत्क्रान्त—उल्लघित होता है। **आयारो**—**आचार : दो अर्थ**—(१) कायक्लेशरूप बाह्यतप, अथवा अस्नानरूप मौलिक आचार (नियम)। **जढो**—**त्यक्त**—प्राणिरक्षारूप सयम को छोड दिया जाता है। **घसासु**—**दो अर्थ**—(१) शुषिर—पोली भूमि, (२) पुराने भूसे की राशि का वह प्रदेश, जिसके एक छोर को छूते या जिस पर रखते ही सारा प्रदेश हिल जाए। **भिलुगासु**—यह देशी शब्द है। अर्थात् राजियो—लम्बी-लम्बी दरारो से युक्त भूमि। **वियडेण**—**विकटेन**—**विकृतेन**—प्रासुक जल या धोवन पानी से। **उप्पिलावए**—(१) उत्प्लावयति—उत्प्लावन करता है, डुबा देता है, यह बहा देता है। अथवा उत्पीडयति—बहुत पीडित कर देता है। **सीएण उसिणेण व**—ठडे स्पर्श सुखकारी प्रासुक जल से अथवा उष्ण (गर्म) जल से। **असिणाणमहिट्ठगा**—अस्नान के नियम पर स्थिर रहने वाले।[५०]

शृ गार एव विभूषादि की दृष्टि से भी सयमी पुरुषो के लिए स्नान का निषेध किया गया है, यह बात अठारहवे आचारस्थान की गाथाओ से स्पष्ट है।[५१]

अठारहवाँ आचारस्थान : विभूषात्याग

३२६. **सिणाणं अदुवा कक्कं लोद्ध पउमगाणि य।**
गायस्सुवट्टणट्ठाए नाऽयरंति कयाइ वि ॥६३॥

३२७. **नगिणस्स वा वि मुंडस्स दीहरोम-नहंसिणो।**
मेहुणा उवसंतस्स किं विभूसाए कारिय ॥६४॥

३२८. **विभूसावत्तियं भिक्खू कम्मं बंधइ चिक्कणं।**
ससार-सायरे घोरे जेण पडइ दुरुत्तरे ॥६५॥

३२९. **विभूसावत्तिय चेय बुद्धा मन्नंति तारिसं।**
सावज्जबहुल चेय, नेय ताईहि सेवियं ॥६६॥

---

५० (क) आचारो—बाह्यतपोरूप, सयम—प्राणिरक्षणादिक। —जढ—परित्यक्तो भवति। प्रासुकस्नानेन कथ सयमपरित्याग? इत्याह—सतिमे सुहुमा०। —हारि वृत्ति, पत्र २०५

(ख) घसासु—शुषिरभूमिसु, भिलुगासु च—तथाविधभूमिराजीषु च। विकृतेन—प्रासुकोदकेन। —हारि वृत्ति, पत्र २०६

(ग) गसति—सुहुमसरीरजीवविसेसा इति घसि। अतो सुण्णो भूमिपदेसो पुराणभूसातिरासी वा। —अ चूर्णि, पृ १५६

(घ) घसा नाम जत्थेकदेसे अक्कममाणे सो पदेसा सव्वो चलई, सा घसा भण्णइ। —जि. चू, पृ २३१

५१ (क) वियड पाणय भवइ।" जइ उप्पीलावणादि दोसा न भवति तहावि अन्ने ण्हायमाणस्स दोसा भवति, कह? ण्हायमाणस्स बभचेरे अगुत्ती भवति, असिणाणपच्चइओ य कायकिलेसो तवो सो ण हवइ, विभूसादोसो य भवति।" —जिन चूर्णि, पृ. २३२

(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ८५

[३२६] (शुद्ध सयम के पालक साधु या साध्वी) स्नान अथवा अपने शरीर का उबटन करने के लिए कल्क (चन्दनादि सुगन्धित द्रव्य), लोध्र (लोध) या पद्मराग (कुकुम, केसर आदि तथा अन्य सुगन्धित तेल या द्रव्य) का कदापि उपयोग नही करते ॥६३॥

[३२७] (द्रव्य और भाव से) नग्न, मुण्डित, दीर्घ (लम्बे-लम्बे) रोम और नखो वाले तथा मैथुनकर्म से उपशान्त (निवृत्त) साधु को विभूषा (शरीरशोभा या शृगार) से क्या प्रयोजन है ? ॥६४॥

[३२८] विभूषा के निमित्त से साधु (या साध्वी) चिकने (दारुण) कर्म बाँधता है, जिसके कारण वह दुस्तर ससार-सागर मे जा पडता है ॥६५॥

[३२९] तीर्थकर देव (बुद्ध) विभूषा मे सलग्न चित्त को वैसा ही (विभूषा के तुल्य ही चिकने कर्मबन्ध का हेतु) मानते है। ऐसा चित्त (आर्त्त-रौद्रध्यान से युक्त होने से) सावद्य-बहुल (प्रचुर-पापयुक्त) है। (अतएव) यह षट्काय के त्राता (साधु-साध्वियो) के द्वारा आसेवित नही है ॥६६॥

विवेचन—विभूषा : स्वरूप, निषेधहेतु एव दुष्फल—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ (३२६ से ३२९ तक) मे यह बताया गया है कि विभूषा साधुवर्ग के लिए क्यो त्याज्य है ? विभूषा के ध्यान मे रत चित्तवाला साधक कैसे कठोर दुष्कर्मों को बाँधता है ?

स्वरूप—शरीर को विभिन्न सुगन्धित द्रव्यो से उबटन करके चिकना, कोमल और गौर बनाना, विभिन्न प्रकार के वस्त्राभूषणो से या अन्य पदार्थों से सुसज्जित-सुगन्धित करना, केश, नख आदि अमुक ढग से काटना, रगना, सजाना-सवारना आदि सब विभूषा है।

विभूषा के साधन—प्रस्तुत गाथाओ मे विभूषा के उस युग मे प्रचलित कुछ साधनो का उल्लेख किया है। यथा—सौन्दर्य-प्रसाधनार्थ स्नान, कल्क, लोध, पद्मकेसर, केशकलाप, नखकर्तन वस्त्रादि से साजसज्जा आदि। वर्तमान मे अन्य साधन हो सकते है।

विभूषा का त्याग क्यों आवश्यक ?—(१) इससे देहभाव बढता है, जिससे शरीर पर ममता-मूर्च्छा बढती है, आवश्यकताएँ बढ़ जाती है, सयम नियम मे शिथिल हो जाता है। (२) अहर्निश शरीरसज्जा पर ध्यान रहने से चित्त भ्रान्त रहता है। स्वाध्याय, ध्यान आदि आवश्यक दिनचर्या से मन हट जाता है। (३) विभूषा के लिए अनेक आरम्भ-समारम्भयुक्त साधनो का उपभोग करना हिंसानुप्राणित होने से वह असयमवर्द्धक है, सावद्य-बहुल है। (४) शरीर पर अत्यधिक मोह एव आसक्ति होने से विभूषा चिकने कर्मबन्ध का कारण है।[५२]

'सिणाण' आदि शब्दों का विशेषार्थ—**'स्नान' : तीन अर्थ**—(१) अगप्रक्षालन चूर्ण, (२) गन्धवर्तिका, (३) सामयिक उपस्नान। **कक्कं—कल्क : तीन अर्थ**—(१) तेल की चिकनाई मिटाने हेतु लगाया जाने वाला आँवले या पिसी हुई दाल का सुगन्धित उबटन, (२) गन्धाट्टक—स्नानार्थ प्रयुक्त

---

५२. (क) दशवै (सतबालजी), पृ ८६
(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. ३७८-३७९

किया जाने वाला सुगन्धित द्रव्य, (३) चूर्णकाषाय। **लोद्धं—लोध्र : दो अर्थ**—(१) लोध्र पुष्प का पराग (गन्ध द्रव्य)। (२) मुख पर कान्ति लाने व पसीने को सुखाने के लिए प्रयोग किया जाने वाला पठानी लोध वृक्ष की छाल का चूर्ण। **पउमंगाणि—पद्मक : दो अर्थ**—(१) पद्मकेसर, (२) कुंकुमयुक्त विशेष सुगन्धित द्रव्य।[५३]

नगिणस्स वा मुण्डस्स०—वृत्तिकार के अनुसार नग्न शब्द के दो लक्षण दिये गए हैं—(१) निरुपचरित नग्न और (२) औपचारिक नग्न। जो निर्वस्त्र रहते है, वस्त्र या अन्य किसी भी उपकरण से शरीर को आवृत नही करते, वे निरुपचरित नग्न होते हैं। वे जिनकल्पिक होते हैं। दूसरे स्थविरकल्पिक मुनि जो वस्त्र पहनते हैं, वे वस्त्र प्रमाणोपेत तथा अल्पमूल्य के होते हैं। इसलिए उन्हें कुचेलवान् या औपचारिक नग्न कहते है। **मुण्डस्स**—मुण्डित—मस्तक मुण्डित होने से साधु रूपवान् नही लगता, फिर शरीर को सजाने से क्या मतलब! **दीहरोमनहसिणो : दीर्घरोमनखवान्**—काख आदि मे लम्बे-लम्बे रोम वाले तथा हाथ मे बढे हुए नख वाले या **दीर्घरोमनखात्मीय**—जिनके रोम तथा नख के कोण (काटे न जा सकने से) दीर्घ है। अथवा प्रस्तुत गाथा जिनकल्प मुनि को लेकर अकित है, ऐसा व्याख्याकारो का मत है—क्योकि सर्वथा नग्न जिनकल्पी मुनि रहते है, दीर्घ नख तथा रोम रखने का व्यवहार भी जिनकल्पिको का है। स्थविरकल्पिक के नख तो प्रमाणोपेत ही होते हैं, ताकि अन्धकार आदि के समय दूसरे साधुओ को न लग सके।[५४]

आचारनिष्ठा निर्मलता एवं निर्मोहता आदि का सुफल

३३०. **खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो, तवे रया सजम अज्जवे गुणे।**
धुणंति पावाइं पुरेकडाइं, नवाइ पावाइं न ते करेंति॥६७॥

३३१. **सओवसंता अममा अकिंचणा सविज्ज-विज्जाणुगया जसंसिणो।**
उउप्पसन्ने विमले व चंदिमा सिद्धि विमाणाइं उवेंति ताइणो॥६८॥

—त्ति बेमि॥

॥ छट्ठं धम्मऽत्थकामऽज्झयणं समत्त॥६॥

---

५३ (क) सिणाण सामयिण उवण्हाण। अधवा गधवट्टओ। कक्क ण्हाणसजोगो वा। लोद्ध कसायादि अपडुरच्छदिकरणत्थ दिज्जति। —अ. चू., पृ. १५६

(ख) स्नान पूर्वोक्तम्, लोध्र —गन्धद्रव्यम्। पद्मकानि—कुकुमकेसराणि। —हारि वृत्ति, पत्र २०६

(ग) स्नानमङ्गप्रक्षालन चूर्णम्। —प्रव. प्र ४३ अव

५४ (क) **'नग्नस्य वापि'**—कुचेलवतोऽप्युपचारनग्नस्य वा जिनकल्पिकस्येति सामान्यसेव सूत्रम्। **दीर्घ-रोमनखवत.**—दीर्घरोमवत कक्षादिषु, दीर्घनखवतो हस्तादौ, जिनकल्पिकस्य। इतरस्य तु प्रमाणयुक्ता नखा भवन्ति, यथाऽन्यसाधूना शरीरेषु तमस्यपि न लगन्ति। —हारि० वृत्ति, पत्र २०६

(ख) दीहाणि रोमाणि कक्खादिसु जस्स सो दीहरोमो। आश्री कोटी, णहाण आश्रीयो नहस्सीओ। णहा जदि वि पडिणहादीहि कप्पिज्जति, तहवि असठविताओ णहपूराओ दीहाओ भवंति। दीहसद्दो पत्तेय भवति। दीहाणि रोमाणि, णहस्सीयो य जस्स सो दीहरोमणहस्सी तस्स। —अगस्त्यचूर्णि, पृ १५७

(ग) दशवै०, (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ३७८-३७९

[३३०] व्यामोह-रहित तत्त्वदर्शी तथा तप, सयम और आर्जव गुण मे रत रहने वाले वे (पूर्वोक्त अष्टादश आचारस्थानो के पालक साधु) अपने शरीर (आप) को क्षीण (कृश) कर देते हैं। वे पूर्वकृत पापो का क्षय कर डालते है और नये पाप नहीं करते ।।६७।।

[३३१] सदा उपशान्त, ममत्व-रहित, अकिचन (निष्परिग्रही) अपनी अध्यात्म-विद्या के अनुगामी तथा जगत् के जीवो के त्राता और यशस्वी है, शरद्ऋतु के निर्मल चन्द्रमा के समान सर्वथा विमल (कर्ममल से रहित) साधु (या साध्वी) सिद्धि (मुक्ति) को अथवा (कर्म शेष रहने पर सौधर्मावतसक आदि) विमानो को प्राप्त करते हैं ।।६८।। —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—अष्टादश आचारस्थान-पालक साधु की अर्हताएँ—प्रस्तुत दो (३३०-३३१) सूत्र-गाथाओ मे पूर्वोक्त अष्टादश आचार-स्थानो के पालक साधु-साध्वियो की अर्हताओ का वर्णन करके उनकी आचार-पालन-निष्ठा के सुपरिणाम का प्रतिपादन किया गया है।

आचारपालननिष्ठ साधुवर्ग की अर्हताएँ—(१) अमोहदर्शी, (२) तप, सयम और आर्जव गुण मे रत, (३) शरीर को तपश्चर्या एव कठोर आचार से कृश करने वाले, (४) सदा उपशान्त, (५) ममत्वरहित, (६) अकिचन, (७) अध्यात्मविद्या के अनुगामी, (८) षड्जीवनिकायत्राता, (९) यशस्वी एवं (१०) शरद्ऋतु के निर्मल चन्द्र के समान कर्ममलरहित।[५५]

'अमोहदसिणो' आदि पदो की व्याख्या—अमोहदर्शी—मोह का प्रतिपक्षी अमोह है। अमोहदर्शी का अर्थ अविपरीतदर्शी अर्थात् सम्यग्दृष्टि या मोहरहित होकर तत्त्व का द्रष्टा, है। क्योकि जो साधु मोहरहित होकर पदार्थों का स्वरूप देखते है, वे ही यथार्थ द्रष्टा हो सकते है।

अप्पाण खवेंति—आत्मा शब्द शरीर और जीव दोनो अर्थों मे प्रयुक्त होता है। जैसे—मृत शरीर को देख कर कहा जाता है—इसका आत्मा (जीव) चला गया। यहाँ आत्मा जीव के अर्थ मे प्रयुक्त है। 'यश कृशात्मा या स्थूलात्मा है', इस प्रयोग मे आत्मा शरीर के अर्थ मे है। प्रस्तुत गाथा मे आत्मा 'शरीर' अर्थ मे प्रयुक्त है। शरीर ५ प्रकार के होते है, किन्तु यहा कार्मण शरीर का अधिकार है। तप द्वारा कार्मण (सूक्ष्म) शरीर का क्षय (कर्मक्षय) किया जाता है, तब औदारिक (स्थूल) शरीर तो स्वत कृश हो जाता है। अथवा औदारिक शरीर के क्षयार्थ तप किया जाता है, तब कार्मण शरीर स्वय कृश हो जाता है।

सव्वोवसता : सदा उपशान्त—जिनको अपकार करने वाले पर भी क्रोध नही आता। **अममा-अकिंचणा**—जो शरीरादि पर ममत्वभाव से रहित हैं और द्रव्यभावपरिग्रह से रहित है। **सविज्ज-विज्जाणुगया**—स्व यानी आत्मा की विद्या यानी विज्ञान—आध्यात्मविद्या। तात्पर्य यह है कि स्वविद्या ही विद्या है, उससे जो अनुगत—युक्त है। विद्या शब्द का दुबारा प्रयोग लौकिक विद्या का निषेध करने के लिए है। वृत्तिकार ने स्वविद्या का अर्थ केवल श्रुतज्ञानरूप परलोकोपकारिणी विद्या किया है। अर्थात्—जो परलोकोपकारिणी श्रुतज्ञान विद्या के अतिरिक्त इहलोकोपकारिणी शिल्पादिकलाओ मे प्रवृत्त नही है। **उउप्पसन्ने विमले०**—ऋतु-प्रसन्न—छह ऋतुओ मे सबसे अधिक प्रसन्न ऋतु शरद् है। शरद्ऋतु के चन्द्रमा के समान विमल—पापकर्ममलरहित है। **विमाणाइ उवेंति**—

५५. दसवेयालिय (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ ४६

वैमानिक देवो के निवासस्थान विमान कहलाते है। रत्नत्रयाराधक साधक उत्कृष्टत अनुत्तर विमान तक को प्राप्त कर लेते हैं।[५६]

॥ छठा : धर्मार्थकामाऽध्ययन समाप्त ॥

---

५६ (क) मोह विवरीय ण मोह अमोह पस्सति—अमोहदसिणो। —अ चू, १५७
(ख) अमोह पासति त्ति अमोहदसिणो सम्मदिट्ठी। —जि चू, पृ २३३
(ग) अप्पाण—अप्पा इति एस सद्दो जीवे सरीरे य दिट्ठप्रयोगो। जीवे जधा मतसरीर भण्णति—गति सो अप्पा जस्सिम सरीर। तत्थ सरीरे ताव थूलप्पा किसप्पा। इह पुण त खविज्जति। अप्पवयण सरीरे ओरालियसरीरखवणेण कम्मण वा सरीरक्खवणमिति, उभयेणाधिकारो। —अ चू, पृ १५७
(घ) दशवै (आ आत्मा), पृ ३८३
(ङ) स्वविद्यविद्यानुगता —स्व इति अप्पा, विज्जा-विन्नाण, आत्मनि विद्या सविज्जा, अज्झप्पविज्जा। विद्यागणातो सेसिज्जति, अज्झप्पविज्जा जा विज्जा, ताए अणुगता। —अ चू, पृ १५८
(च) बीय विज्जागहण लोइयविज्जापडिसेहणत्थ कय। —जि चू पृ २३४
(छ) स्वविद्या—परलोकोपकारिणी केवलश्रुतरूपा।
(ज) उऊ छ, तेसु पसन्नो उउप्पसण्णो, सो पुण सरदो। अहवा उडू एव पसण्णो। —अ चू, पृ १५८
(झ) जहा सरए चदिमा विसेसेण निम्मलो भवति। —जिन. चूर्णि, पृ. २३४
(ञ) विमानानि—सौधर्मावतसकादीनि। —हारि वृत्ति, पत्र २०७
(ट) विमाणाणि-उक्कोसेण अणुत्तरादीणि। —अगस्त्यचूर्णि, पृ १५८

सत्तमं : वक्कसुद्धि-अज्झायणं

सप्तम अध्ययन : वाक्यशुद्धि

प्राथमिक

☐ यह दशवैकालिक सूत्र का सप्तम अध्ययन है 'वाक्यशुद्धि'। यह अध्ययन सत्यप्रवादपूर्व से उद्धृत है।[1]

☐ वाक्यशुद्धि का अर्थ—व्याकरण की दृष्टि से वाक्य की शुद्धता नही, किन्तु निर्ग्रन्थ श्रमण के आचार के अनुसार वाक्य अर्थात्—वाणी, भाषा की शुद्धि है। साधु का पद बहुत ऊँचा है, उसके द्वारा सत्य-महाव्रत स्वीकार किया गया है, इसलिए उसे प्रत्येक शब्द तौल-तौल कर, पहले बुद्धि से भलीभाति सोच-विचार कर, हिताहित का विवेक करके उपयोगपूर्वक निरवद्य वचन बोलना चाहिए।[2] निर्युक्तिकार मौन और भाषण दोनो को कसौटी पर कसते हुए कहते है—वचन-विवेक मे अकुशल तथा अनेकविध वचनगत प्रभेदो तथा प्रभावो को नही जानता हुआ, यदि कुछ भी नही बोलता (मौन रखता) है, तो वह यत्किंचित् भी वचनगुप्ति को प्राप्त नही होता। इसके विपरीत वचन-विवेक मे कुशल तथा वचनगत प्रभेदो तथा अनेकविध प्रभावो को जानता हुआ व्यक्ति दिन भर बोल कर भी वचनगुप्ति (मौन) की आराधना से सम्पन्न हो जाता है। अतः पहले बुद्धि से सम्यक्तया विचार करके तत्पश्चात् वचन बोलना चाहिए। हे साधक! तेरी वाणी, बुद्धि का उसी तरह अनुगमन करे, जिस तरह अन्धा व्यक्ति अपने नेता (ले जाने वाले) का अनुगमन करता है।[3]

☐ वाक्यशुद्धि के साथ सयम एव अहिंसा की शुद्धि का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जब तक साधक की वाणी हृदयगत भावो से शुद्धि और बुद्धिगत विवेक से नियन्त्रित होकर नही निकलेगी, तब तक न तो उसका मन सयम ठीक होगा और न वचनसयम और इन दोनो के अभाव मे कायसयम बहुत ही कठिन है। अहिंसा और सत्य दोनो के छन्ने से छन कर निकलने वाली वाणी ही भावशुद्धि

---

१. सच्चप्पवायपुव्वा निज्जूढा होइ वक्कसुद्धीउ। —दशवै निर्युक्ति गा १७

२. (क) दशवै (आ आत्मा) पत्राकार, प. ६३३
   (ख) दशवै निर्युक्ति गा २९२

३ वयणविभत्ति-अकुसलो, वयोगय बहुविह अयाणतो।
जइ वि न भासति किंची, न चेव वयगुत्तय पत्तो ॥१९२॥
वयणविभत्ती-कुसलो, वओगय बहुविह वियाणंतो।
दिवसमवि भासमाणो अभासमाणो व वइगुत्तो ॥१९३॥
पुव्व बुद्धीइ पेहित्ता, पच्छा वयमुदाहरे।
अचक्खुओ व नेतार, बुद्धिमन्नेउ ते गिरा ॥१९४॥ —निर्युक्ति गा २९०-२९१

का हेतु बनती है। प्रस्तुत अध्ययन वाक्यशुद्धि का विवेक देने हेतु स्वतन्त्र रूप से निर्मित है, जिससे साधक वाणी के महत्त्व को समझ सके।

- वाणी अन्त करण के भावो को व्यक्त करने का साधन है, यही इसकी उपयोगिता है। किसी कार्य, प्रयोजन या कारण के बिना वाणी का उपयोग करना वाचालता है, इसे वाणी का दुरुपयोग कहा जा सकता है। उस वाणी का, श्रोतागण पर पर्याप्त प्रभाव नही पडता तथा उसमे कठोरता, एकान्तवाद, हठाग्रह एव असत्यता आने की सभावना रहती है।[५] ये सब अनिष्ट है। जिस साधक को सावद्य-निरवद्य का विवेक नही है, उसे बोलना भी उचित नही, उपदेश देना तो बहुत दूर है। वाणी का प्रयोग समिति है, जो सावद्य-निरवद्य के विवेक से युक्त होती है। इसलिए साधक को कब, कहाँ, कितना और कैसा वचन बोलना चाहिए? बोलने से पहले और बोलते समय कितनी सूक्ष्म बुद्धि से काम लेना चाहिए?, यह प्रस्तुत अध्ययन मे विस्तृतरूप से बताया गया है।[६]

- वस्तु के यथार्थ स्वरूप को व्यक्त करने वाली भाषा तथ्य हो सकती है, किन्तु वह सत्य हो भी सकती है, नही भी। जिस वधकारक या परपीडाकारी भाषा से कर्मपरमाणुओ का प्रवाह आए, वह बाहर से सत्य प्रतीत होने पर भी अवक्तव्य है, एक तरह से वह असत्यसम है। अत प्रस्तुत अध्ययन मे सत्य-असत्य के विवेक के साथ-साथ वक्तव्य-अवक्तव्य का भी विवेक बताया गया है।[७]

- यद्यपि भाषा के प्रकारो का विस्तृत वर्णन प्रज्ञापना एव स्थानाग मे किया गया है, तथापि यहाँ सक्षेप मे चार प्रकार की भाषाओ मे से असत्या और सत्या-मृषा (मिश्र) भाषा का प्रयोग निषिद्ध बताया गया है, क्योकि इन दोनो प्रकार की भाषाओ का प्रयोग सावद्य होता है, तथा सत्या और असत्याऽमृषा (व्यवहार भाषा) के प्रयोग का विधान-निषेध दोनो है, क्योकि सत्या और व्यवहार भाषा सावद्य और निरवद्य दोनो प्रकार की हो सकती है। साधु को निरवद्य भाषा ही बोलना है, सावद्य नही।[८]

- इस अध्ययन के अन्तर्गत द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पात्र, परिस्थिति की कसौटी पर कस कर निरवद्य वचन का विधान और सावद्य का निषेध किया है।

- अन्त मे, उपसहार मे सुवाक्यशुद्धि के अनन्तर एव परम्पर फल का वर्णन किया गया है।[९]

---

४ ज वक्क वयमाणस्स सजमो सुज्झइ न पुण हिसा।
न य अत्तकलुसभावो, तेण इह वक्कसुद्धित्ति॥ —दश निर्युक्ति २८८

५ दशवै (सतबालजी) प्रस्तावना, पृ ८८

६ (क) सावज्जण-वज्जाण, वयणाण जो न याणइ विसेस।
वोत्तु पि तस्स ण खम, किमग पुण देसण काउ?॥ —हारि टीका, पृ २-७

७ दशवै (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त) अ ७। ११, १२, १३

८ (क) प्रज्ञापना पद ११, स्थानाग, स्थान-१०, (ख) दशवै (मू पा टि), गा. १-२-३

९. वही, गा ५५, ५६, ५७

सत्तमं अज्झयणं : वक्कसुद्धी

सप्तम अध्ययन : वाक्यशुद्धि

चार प्रकार की भाषाएँ और वक्तव्य-अवक्तव्य-निर्देश

३३२. चउण्हं खलु भासाण परिसंखाय पन्नवं ।
दोण्हं तु विणयं सिक्खे, दो न भासेज्ज सव्वसो ।।१।।

३३३. जा य सच्चा अवत्तव्वा, सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिऽणाइन्ना, न त भासेज्ज पण्णव ।।२।।

३३४. असच्चमोसं सच्च च अणवज्जमकक्कस ।
समुप्पेहमसंदिद्धं गिरं भासेज्ज पण्णव ।।३।।

३३५. एय च अट्ठमन्नं वा, जं तु नामेइ सासय ।
समासं असच्चमोस पि+ त पि धीरो विवज्जए ।।४।।

३३६. वितहं पि तहामुत्ति ज गिर भासए नरो ।
तम्हा सो पुट्ठो पावेण किं पुणो जो मुसं वए ? ।।५।।

३३२ प्रज्ञावान् साधु (या साध्वी) (सत्या आदि) चारो ही भाषाओ को सभी प्रकार से जान कर दो उत्तम भाषाओ का शुद्ध प्रयोग (विनय) करना सीखे और (शेष) दो (अधम) भाषाओ को सर्वथा न बोले ।।१।।

३३३ तथा जो भाषा सत्य है, किन्तु (सावद्य या हिसाजनक होने से) अवक्तव्य (बोलने योग्य नही) है, जो सत्या-मृषा (मिश्र) है, तथा मृषा है एव जो (सावद्य) असत्यामृषा (व्यवहारभाषा) है, (किन्तु) तीर्थंकरदेवो (बुद्धो) के द्वारा अनाचीर्ण है, उसे भी प्रज्ञावान् साधु न बोले ।।२।।

३३४ प्रज्ञावान् साधु, जो असत्याऽमृषा (व्यवहारभाषा) और सत्यभाषा अनवद्य (पाप-रहित), अकर्कश (मृदु) और असदिग्ध (सन्देहरहित) हो, उसे सम्यक् प्रकार से विचार कर बोले ।।३।।

३३५ धैर्यवान् साधु उस (पूर्वोक्त) सत्यामृषा (मिश्रभाषा) को भी न बोले, जिसका यह अर्थ है, या दूसरा है ? (इस प्रकार से) अपने आशय को संदिग्ध (प्रतिकूल) बना देती हो ।।४।।

३३६ जो मनुष्य सत्य दीखने वाली असत्य (वितथ) वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है, उससे भी वह पाप से स्पृष्ट होता है, तो फिर जो (साक्षात्) मृषा बोलता है, (उसके पाप का तो क्या कहना ?) ।।५।।

पाठान्तर—+सच्चमोस पि । —वृत्तिकार

विवेचन—चारों भाषाओ का स्वरूप और हेयोपादेय-विवेक—प्रस्तुत ५ सूत्रगाथाओं (३३२ से ३३६ तक) में चारो भाषाओ का स्वरूप भलीभाति जान कर उनमे से वक्तव्य, अवक्तव्य के विवेक का प्रतिपादन किया है।

१. **सत्याभाषा**—वह भाषा जो वस्तुस्थिति का यथार्थ परिबोध हो जाने के पश्चात् विचार-पूर्वक बोली जाती है।

२. **असत्याभाषा**—वह है, जो वस्तुस्थिति का पूर्ण भान हुए बिना ही क्रोधादि कषाय-नोकषायवश अविचार से बोली जाती है। यह वक्ता-श्रोता दोनो का अकल्याण करती है।

३. **सत्यामृषा (मिश्र) भाषा**—वह है, जिसमे सत्य और असत्य दोनो का मिश्रण हो। किसी को सोते-सोते सूर्योदय के बाद कुछ देर हो गई, उससे कहा—दिखता नही, 'दोपहर हो गया'। यह भी असत्यभाषा के समान ही है।

४. **असत्यामृषा (व्यवहार) भाषा**—वह है, जो जनता मे सामान्यतया प्रचलित होती है, जिसका श्रोता पर अनुचित प्रभाव नही पडता।[1]

हेयोपादेय-विवेक—इन चार प्रकार की भाषाओ मे से असत्य तथा सत्या-मृषा तो सर्वथा वर्जनीय है, शेष दो भाषाओ मे विवेक करना चाहिए। जो भाषा सत्य तो है, किन्तु हिंसादि पाप को उत्तेजित करती है, वह नही बोलनी चाहिए। जैसे—किसी कसाई के पूछने पर सच कह देना कि गाय इधर गई है। अथवा जो असत्याऽमृषा (व्यवहार भाषा) भी पापकारी हो, जैसे—'मिट्टी खोद डालो, इन्हे मार डालो' आदि, नही बोलनी चाहिए। सत्य भाषा अगर पापकारी नही है, मधुर है, कर्कश-कठोर, भयावह नही है, तथा सदेहरहित है, तो विचारपूर्वक बोली जा सकती है। कर्कश एव कठोर भाषा सत्य होते हुए भी दूसरे के चित्त को आघात पहुचाने वाली होने से बोलने योग्य नही। कठोर भाषा का परिणाम वैर और हिंसक प्रतीकार उत्पन्न करता है। अत साधु के मु ह से निकलने वाली वाणी मधुर और सत्य होनी चाहिए।[2]

विणयं—(१) भाषा का वह प्रयोग, जिससे धर्म का अतिक्रमण न हो, विनय कहलाता है, (२) भाषा का शुद्ध प्रयोग विनय है, (३) **'विजयं सिक्खे'** विजय अर्थात् निर्णय सीखे। तात्पर्य यह है कि बोलने योग्य भाषाओ के शुद्धप्रयोग का निर्णय सीखे। अथवा वचनीय और अवचनीय रूप का निर्णय (विजय) सीखे। अथवा सत्य और व्यवहारभाषा का निर्णय करना चाहिए कि उसे क्या और कैसे बोलना या नही बोलना?[3]

---

१ दशवैकालिकसूत्रम् पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पत्र ६३५-६३६

२. (क) वही, पत्र ६३७-६३९ (ख) बुद्धैस्तीर्थंकरगणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा।
—हा. वृ., पत्र २१३

३. (क) विनय—शुद्धप्रयोग, विनीयतेऽनेन कर्मेति कृत्वा। —हारि वृत्ति, पत्र २१३
(ख) ज भासमाणो धम्म णातिक्कमइ एसो विणयो भण्णइ। —जिन चूर्णि, पृ. २४४
(ग) विजयो समाणजातियाओ णिकरिसण। तत्थ वयणीयावयणीयत्तेण विजय सिक्खे। —अ. चू., पृ, १६४

जा य बुद्धेहिऽणाइण्णा—आशय—प्रस्तुत गाथा सख्या ३३३ के तृतीय चरण मे 'य' शब्द से 'असत्यामृषा' का अध्याहार किया गया है। वृत्तिकार ने इस पक्ति का अर्थ इस प्रकार किया है—'तथा सत्या और असत्यामृषा जो बुद्धो अर्थात्—तीर्थकर—गणधरो द्वारा अनाचरित है। आशय यह है कि जो सत्यभाषा या असत्यामृषा (आमत्रणी या आज्ञापनी आदि रूपा सावद्य होने के कारण) तीर्थंकरो या गणधरो द्वारा अनाचरणीय बतलाई गई है, उस भाषा को भी प्रज्ञावान् न बोले।[४]

एय च अट्ठमन्नं वा, ज तु नामेइ सासय : दो व्याख्याएँ, स्पष्टीकरण—(१) अगस्त्यसिह स्थविर इस गाथा (३३५) का सम्बन्ध सत्या और असत्यामृषा के निषेध से बतलाते है। इस दृष्टि से सासय का अर्थ 'स्वाशय' है। तथा 'सच्चमोस' के बदले 'असच्चमोस' पाठ मानकर अर्थ किया है—साधुवर्ग के लिए अभ्यनुज्ञात उस सत्यभाषा और असत्यामृषा भाषा को भी धीर साधु (या साध्वी) न बोले, जो स्वाशय (अपने आशय) को 'यह अर्थ है या दूसरा ?' इस प्रकार सशय मे डाल दे। असत्यामृषाभाषा के १२ प्रकारो मे १० वाँ प्रकार 'सशयकरणी' है, जो अनेकार्थवाचक होने से श्रोता को सशय मे डाल दे। जैसे—किसी ने कहा—"सैन्धव ले आओ।" सैन्धव के ४ अर्थ होते है—(१) नमक, (२) सिन्धु देश का घोडा, (३) वस्त्र और (४) मनुष्य। श्रोता सशय मे पड जाता है कि कौन-सा सैन्धव लाया जाए ? यहाँ वक्ता ने सहजभाव से अनेकार्थक शब्द का प्रयोग किया है, इसलिए अनाचीर्ण नही है, किन्तु जहाँ आशय को छिपा कर दूसरो को भ्रम मे डालने के लिए 'अश्वत्थामा हत' की तरह अनेकार्थवाचक शब्द का प्रयोग किया जाए तो ऐसी सशयकरणी व्यवहार (असत्यामृषा) भाषा अनाचीर्ण है। अथवा जो शब्द सदेहोत्पादक हो, उसका प्रयोग भी अनाचीर्ण है। (२) अगस्त्य-चूर्णि के अनुसार सासय का सस्कृत रूप 'शाश्वत' भी होता है, शाश्वत स्थान का अर्थ 'मोक्ष' है। अर्थात्—सक्रिय आस्रवकर एव छेदनकर आदि अर्थ, जो शाश्वत मोक्ष को भग्न करे, उस सत्यभाषा और असत्यामृषा भाषा का भी धीर साधक प्रयोग न करे।[५]

---

४ (क) 'या च बुद्धै —तीर्थंकर—गणधरैरनाचरिता असत्यामृषा आमन्त्रण्याज्ञापन्यादिलक्षणा।'
—हा वृ, प २१३

(ख) चउत्थी वि जा अ बुद्धेहिंऽणाइण्णा गहणेण असच्चामोसा वि गहिता, उक्कमकरणे मोसावि गहिता।
—जि चू, पृ २४४

५ (क) सशयकरणी च भाषा—अनेकार्थ-साधारणा योच्यते सैन्धवमित्यादिवत्। —हा वृ, प २१०

(ख) 'साम्प्रत सत्या-सत्यामृषा प्रतिषेधार्थमाह।' —हा वृ, प २१०

(ग) 'म भिक्खू ण केवल जाओ पुव्वभणियाओ सावज्जभासाओ वज्जेज्जा, किन्तु जा वि असच्चमोसा भासा तामपि 'धीरो'-बुद्धिमान् 'विवर्जयेत'—न ब्रूयादिति भाव। एय सावज्ज कक्कस च।
—जि चू, पृ २४५

(घ) सा पुण साधुणोऽभणुण्णाता त्ति सच्चा असच्चमोसामपि त पढममब्भणुण्णतामवि। एतमिति सावज्ज कक्कस च। अण्ण सकिरिय अण्हयकरी छेदनकरी एवमादि। सासतो मोक्खो। —अगस्त्यचूर्णि, पृ १६५

(ङ) तत्र मृषा सत्या-मृषा च साधूना तावन्न वाच्या, सत्याऽपि या कर्कशादिगुणोपेता सा न वाच्या। 'तहप्पगार भास सावज्ज सकिरिय कक्कस कडुय निट्ठुर फरुस अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिं परितावणकरिं उद्दवणकरिं भूओवघाइय अभिकख नो भासेज्जा। —आचारांग चूला, ४।१०

वृत्तिकार इस गाथा को सत्यामृषा (सत्यासत्य) तथा सावद्य एव कर्कश सत्य का निषेधपरक कहते हैं, किन्तु सत्यामृषा और असत्या ये दोनो भाषाएँ तो सावद्य होने के कारण सर्वथा अवक्तव्य हैं, फिर इनके पुनर्निषेध की आवश्यकता प्रतीत नही होती। इसके अनुसार इस पक्ति का आशय यह है कि बुद्धिमान् भिक्षु सत्यामृषा – अर्थात्—कुछ सत्य और कुछ असत्य, ऐसी मिश्रभाषा भी न बोले, क्योकि मिश्र भाषा मे भी सत्य का अश होने से जनता अधिक भ्रमित होती है, और स्वय भी सत्यवादी कहलाने का दम्भ करता है। ऐसी दम्भवृत्ति ऐहिक और पारलौकिक हित मे अत्यन्त बाधक है।

फलितार्थ—इसकी तुलना आचारचूला से भी की जा सकती है। वहाँ चारो प्रकार की भाषा का स्वरूप बताने के बाद कहा गया है कि 'मुनि को तथाप्रकार की सत्यभाषा भी सावद्य, सक्रिय, कर्कश, कटुक, निष्ठुर, कठोर (परुष), आस्रवकारी, छेदनकारी, भेदनकारी, परितापनकारी, और भूतोपघातिनी नही बोलनी चाहिए।'

वितहं पि तहामुत्ति० : व्याख्या—(१) अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—जो मनुष्य अन्यथाऽवस्थित, किन्तु किसी भाव से तथाभूतस्वरूप वाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है। (२) जिनदासमहत्तर के अनुसार—जो पुरुष वितथमूर्तिवाली वस्तु का आश्रय लेकर बोलता है। (३) जो असत्य (वितथ) वस्तु, आकृति से सत्यवस्तु के समान प्रतिभासित होती है, साधु या साध्वी उसे सत्यवस्तु के समान न बोले। जैसे—किसी पुरुष ने स्त्रीवेष धारण किया हुआ है, साधु उसे देखकर ऐसा न कहे कि स्त्री आ रही है। सदेहदशा मे यह निषेध है।[६]

जब तक स्त्री या पुरुष का भलीभाति निर्णय न हो जाए, तब तक स्त्रीवेषी या पुरुषवेषी कहना चाहिए। किन्तु शकित भाषा नही बोलनी चाहिए।[७]

कालादिविषयक निश्चयकारी-भाषा-निषेध

३३७. तम्हा गच्छामो वक्खामो, अमुगं वा णे भविस्सई।
अह वा णं करिस्सामि, एसो वा णं करिस्सइ॥ ६॥

३३८. एवमाई उ जा भासा एसकालम्मि सकिया।
सपयाईयमट्ठे वा, त पि धीरो विवज्जए॥ ७॥

३३९. अईयम्मि य कालम्मि, पच्चुप्पन्नमणागए।
जमट्ठ तु न जाणेज्जा, 'एवमेय' ति नो वए॥ ८॥

---

६ (क) अतहा वितह-अण्णहावत्थित, जहा पुरिसमित्थिनेवत्थ भणति—सोभणे इत्थी एवमादि। जतो एव णेवच्छादीण य सदिद्धे वि दोसो, तम्हा। —अ चू, पृ १६५

(ख) वित्तह नाम ज वत्थु न तेण सभावेण अत्थि त वितह भण्णइ। अविसद्दो सभावणे। मुत्ती सरीर भण्णइ, "तत्थ पुरिस इत्थिणेवत्थिय, इत्थि वा पुरिसनेवत्थिय दट्ठूण जो भासइ— इमा इत्थिया गायति णच्चइ, वाएइ गच्छइ, इमो वा पुरिसो गायइ णच्चइ वाएति गच्छइत्ति।" —जिन चूर्णि, पृ. २४६

७ दशवै (मुनि नथमलजी), पृ ३४९, दशवै (आचार्य आत्मा) पत्राकार, पृ ६४३

३४०. अईयम्मि य कालम्मि पच्चुप्पन्नमणागए।
जत्थ सका भवे तं तु 'एवमेयं' ति नो वए ॥ ९ ॥

३४१. अईयम्मि य कालम्मि पच्चुप्पन्नमणागए।
निस्संकियं भवे ज तु 'एवमेय' ति निद्दिसे ॥१०॥

[३३७-३३८] इसलिए हम जाऐगे, हम कह देगे, हमारा अमुक (कार्य) अवश्य हो जाएगा, या मैं अमुक कार्य करू गा, अथवा यह (व्यक्ति) यह (कार्य) अवश्य करेगा, यह और इसी प्रकार की दूसरी भाषाएँ, जो भविष्यत्कालसम्बन्धी, वर्तमानकालसम्बन्धी अथवा अतीतकाल-सम्बन्धी अर्थ (बात) के सम्बन्ध मे शकित हो, धैर्यवान् साधु न बोले ॥६-७॥

[३३९] अतीत काल, वर्तमान काल और अनागत (भविष्य) काल सम्बन्धी जिस अर्थ (बात) को (सम्यक् प्रकार से) न जानता हो, उसके विषय मे 'यह इसी प्रकार है,' ऐसा नही बोलना चाहिए ॥८॥

[३४०] अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी जिस अर्थ (बात) के विषय मे शका हो, (उसके विषय मे)—'यह ऐसा ही है', इस प्रकार नही कहना चाहिए ॥९॥

[३४१] अतीत, वर्तमान और अनागत काल सम्बन्धी जो अर्थ नि शकित हो, उसके विषय मे 'यह इस प्रकार है', ऐसा निर्देश करे (कहे) ॥१०॥

विवेचन—निश्चयकारी भाषा का निषेध—प्रस्तुत ५ सूत्रो मे से चार सूत्रो मे (३३७ से ३४० तक) मे तीनो काल से सम्बन्धित निश्चयकारी भाषा का निषेध तथा ३४१ सूत्रगाथा मे त्रिकाल-सम्बन्धी निर्णय करने के पश्चात् नि शकित होकर दीर्घदृष्टि से विचार कर निश्चित रूप से कहने का विधान भी किया है।

निश्चयकारी भाषा : स्वरूप तथा निषेध का कारण—पूर्व सूत्र (३३६ वी) गाथा मे 'वेष-शकित' भाषा का निषेध था, इन चार सूत्रो मे 'क्रियाशकित' भाषा का निषेध है। तीनो कालो के विषय मे निश्चयात्मक वचन इस प्रकार का होता है—**भविष्यत्कालीन**—'यह कार्य अवश्य ही ऐसा होगा, कल मै अवश्य ही चला जाऊगा, इत्यादि।' भविष्य अज्ञात होता है, अव्यक्त होता है। न मालूम कब कौन-सा विघ्न आ जाए और वह कार्य पूरा न हो। तब निश्चय-वक्ता को झूठा बनना पडता है। **वर्तमानकालीन**—'स्त्रीवेषधारी पुरुष को देख कर यह कहना कि यह स्त्री ही है।' **भूतकालीन**—भूतकाल मे जिसका निर्णय ठीक से नही हुआ, उस विषय मे निश्चित रूप से कह देना कि वह ऐसा ही था। यथा—'वह गाय ही थी या बैल ही था।' इस प्रकार त्रिकालसम्बन्धित शका-युक्त निश्चयात्मक भाषा है, जिसका प्रयोग साधु-साध्वी को नही करना चाहिए। इस प्रकार कह देने से नाना उपद्रव खडे हो सकते है। जैन शासन की लघुता हो सकती है। अबोधदशा मे कह देने से उक्त साधु-साध्वी के प्रति लोकश्रद्धा डगमगा सकती है।[८]

---

८ तहेवागत अट्ठ ज वऽण्णऽणुवधारित।
सकित पडुपण्ण वा, एवमेय ति णो वदे ॥ ८ ॥ —अगस्त्यचूर्णि, गा ८
एसो आसण्णो, अणागतो विकिट्ठो। अणुवधारित—अविण्णात। —अ चू, पृ. १६६

कैसे बोला जाए ?—शास्त्रकार ने भूतकालीन, भविष्यकालीन या वर्त्तमानकालीन निश्चयकारी भाषा का निषेध किया है, किन्तु कोई साधु या श्रावक या गुरु किसी भूत, भविष्य या वर्तमानकालिक किसी कार्य, व्यक्ति या वस्तु के विषय मे पूछे तो उन्हे क्या कहा जाए ? कैसे बोला जाए, जिससे भाषासम्बधी दोष न लगे ? इसका समाधान यह है कि जिस विषय मे वक्ता को सन्देह हो, या पूरा ज्ञान न हो, जो विषय अनिर्णीत हो, उसके विषय मे निश्चयात्मक भाषा नही बोलनी चाहिए, कि ऐसा करू गा, ऐसा होगा, ऐसा ही था, यही हो रहा है, इत्यादि। किन्तु प्रत्येक वाक्य के साथ व्यवहार शब्द का प्रयोग करना चाहिए, जिससे भाषा निश्चयकारी न रहे। जहाँ सन्देह हो, वहाँ कहना चाहिए—'व्यवहार से ऐसा है, मुझे जहाँ तक स्मरण है, मेरा अनुभव है कि ऐसा है या ऐसा था। 'वहाँ जाने के भाव है,' सम्भव है, यह इस प्रकार का रहा हो।' अनेकान्तवाद-स्याद्वाद की भाषा मे बोलने का अभ्यास करना चाहिए। इस गाथा का आशय यह है कि जिस विषय मे किसी प्रकार की शका न रही हो, जिस तथ्य को यथार्थरूप से जान लिया हो, उसके विषय में साधु या साध्वी निश्चयात्मक कथन कर सकता है। एक बात और है--साधु-साध्वी को किसी विषय मे जैसा जाना, सुना, समझा और प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम एव उपमान आदि प्रमाणो से सोचा-समझा हो, तदनुसार हित, मित एव यथार्थ कथन करना चाहिए, क्योकि जिस प्रमाण की अपेक्षा से जो कहा जाता है, वह उस प्रमाण के अनुसार निश्चयात्मक कथन है।

सत्य, किन्तु पीड़ाकारी कठोर भाषा का निषेध

३४२ तहेव फरुसा भासा, गुरुभूओवघाइणी।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा, जओ पावस्स आगमो ॥११॥

३४३. तहेव काणं काणेत्ति, पंडगं 'पंडगे' त्ति वा।
वाहियं वा वि रोगि त्ति, तेण चोरे त्ति नो वए ॥१२॥

३४४. एएणऽन्नेण अट्ठेण परो जेणुवहम्मई।
आयारभाव-दोसण्णू ण तं भासेज्ज पण्णवं ॥१३॥

[३४२] इसी प्रकार जो भाषा कठोर हो तथा बहुत (या महान्) प्राणियो का उपघात करने वाली हो, वह सत्य होने पर भी बोलने योग्य नही है, क्योकि ऐसी भाषा से पापकर्म का बन्ध (या आस्रव) होता है ॥११॥

[३४३] इसी प्रकार काने को काना, नपुसक (पण्डक) को नपुसक तथा रोगी को रोगी और चोर को चोर न कहे ॥१२॥

[३४४] इस (पूर्वगाथा मे उक्त) अर्थ (भाषा) से अथवा अन्य (इसी कोटि की दूसरे) जिस अर्थ (भाषा) से कोई प्राणी पीडित (उपहत) होता है, उस अर्थ (भाषा) को आचार (वचनसमिति

---

९ (क) दशवैकालिक पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पत्र ६५१
(ख) तहेवाणागत अत्थ ज होति अवहारिय।
निस्सकिय पडुप्पण्णे एवमेयति णिद्दिसे ॥ —जिन चूर्णि, पृ २४८
(ग) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ. ३५१

तथा वाग्गुप्ति-गत आचरण) सम्बन्धी भावदोष (प्रद्वेष-प्रमाद-रूप वैचारिक दोष) को जाननेवाला प्रज्ञावान् साधु (कदापि) न बोले ॥१३॥

विवेचन—परपीड़ाकारी भाषा सत्य होते हुए भी त्याज्य—प्राणियो के चित्त को आघात पहुँचाने वाली, कठोर, कटु, कर्कश, एव पीडित करने वाली भाषा भले ही सत्य हो, किन्तु उसका प्रयोग कदापि नही करना चाहिए।

नेत्र-पीडा के कारण किसी व्यक्ति की एक आँख जाती रही, उसे काना कहना, अन्धे को अन्धा कहना, अथवा रोगी को रोगी या चोर को चोर कहना सत्य है, फिर ऐसे कथन का निषेध क्यो किया गया ? इसका समाधान यह है, जो भाषा स्नेहरहित या कोमलता से रहित होने के कारण कठोर या कटु है, जिसे सुनकर दूसरे प्राणी को मन मे चोट पहुँचती है, जो भाषा मर्मभेदिनी है, प्राणियो की विघातक है, वह भाषा सच्ची होने पर भी बोलने योग्य नही है। यद्यपि वह भाषा बाह्य अर्थ की अपेक्षा से सत्य मालूम होती है, किन्तु भावार्थ की अपेक्षा से वह प्राणियो के लिए हितकर-सुखकर न होने से असत्यस्वरूप है। छोटे या बडे किसी भी जीव की घात करने वाली भाषा मुनि के लिए अवक्तव्य है। जिस प्रकार असत्यभाषण से पापकर्म का बन्ध होता है, उसी प्रकार ऐसी पीडाकारी कठोर भाषा के बोलने से भी पापकर्मों का आगमन होता है। काना आदि अपमानजनक शब्दो से दूसरे को सम्बोधन करने से उसके हृदय को अतीव दु ख पहुँचता है, वह मन मे अत्यधिक लज्जित होता है, आत्महत्या के लिए भी उतारू हो सकता है। जो साधु-साध्वी दीर्घ दृष्टि से सोचे बिना ही परपीडाकारी कठोर भाषा का प्रयोग करते है, या मर्मयुक्त वचन बोलते है, अन्य आत्मा का हनन करते हैं, अपनी गभीरता और महानता को नष्ट करके क्षुद्रता और क्रूरता को अपनाते है, ऐसे साधु-साध्वी के प्रति जनता को अप्रीति, अश्रद्धा, घृणा, अभक्ति, एव वैरविरोध भावना पैदा हो जाती है। ऐसे साधु-साध्वी को भी लज्जानाश, धृष्टता, क्रूरता, भावहिसा, बौद्धिक विराधना, अस्थिरता एव प्रतिज्ञाभ्रष्टता आदि पाप-दोष लगते हैं। वह सयम का विराधक हो जाता है।[९]

साधु के दो विशेषण : सार्थक—शास्त्रकार ने यहाँ भाषाशुद्धि के अनुसार चलने वाले साधु के दो विशेषण अकित किये हैं, जो साधु की गम्भीरता एव दक्षता सूचित करते है—(१) आचार-भावदोषज्ञ और (२) प्रज्ञावान्।[१०]

फरुसा—परुष=कठोर, रूक्ष, स्नेहवर्जित अथवा मर्मप्रकाशन करने वाली वाणी। **गुरुभूओवघाइणी**—(१) जिस भाषा के प्रयोग मे महान् भूतोपघात हो। (२) छोटे-बडे सभी जीवो के लिए घातक, (३) गुरुजनो (बुजुर्गो या गुरुओ—मातापिता आदि) को सतप्त करने वाली। (४) अभ्याख्यानात्मक।[११]

---

९ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म) पत्राकार, पत्र ६५२-६५३
(ख) वही, पृ ६५५-६५६
१० दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पत्राकार, पृ ६५५
११ (क) वयणनियमणमायारो, एयमि आयारे सति भावदोसो—पदुट्ठ चित्त तेण भावदोसेण न भासेज्ज। अहवा आयारे भावदोसो पमातो, पमातेण ण भासेज्ज। जि चू, पृ १६८
(ख) फरुसा णाम णेहवज्जिया, जीए भासाए भासियाए गुरुओ भूयाणुवघाओ भवइ। —वही, पृ २४९
(ग) परुषा भाषा —निष्ठुरा भावस्नेहरहिता। —हा. वृ, पत्र २१५।
(घ) परुषा मर्मोद्घाटनपराम्। —आचार चू, ४-१०

भाषासम्बन्धी अन्य विधि-निषेध

३४५. तहेव 'होले' 'गोले' त्ति, 'साणे' वा 'वसुले' त्ति य ।
'दमए' 'दुहए' वा वि, न त भासेज्ज पण्णवं ॥१४॥

३४६. अज्जिए पज्जिए वा वि अम्मो माउसिय त्ति वा ।
पिउस्सिए भाइणेज्ज त्ति, धूए नत्तुणिए त्ति य ॥१५॥

३४७. हले हले त्ति अन्ने त्ति, भट्टे सामिणि गोमिणि ।
होले गोले वसुले त्ति, इत्थियं नेवमालवे ॥१६॥

३४८. नामधेज्जेण ण बूया, इत्थीगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥१७॥

३४९. अज्जए पज्जए वा वि बप्पो चुल्लपिउ त्ति य ।
माउला भाइणेज्ज त्ति, पुत्ते णत्तुणिय त्ति य ॥१८॥

३५०. हे हो हले त्ति, अन्ने त्ति, भट्टा सामिय गोमिय ।
होल गोल वसुलत्ति पुरिसं नेवमालवे ॥१९॥

३५१. नामधेज्जेण ण बूया पुरिसगोत्तेण वा पुणो ।
जहारिहमभिगिज्झ आलवेज्ज लवेज्ज वा ॥२०॥

[३४५] इसी प्रकार प्रज्ञावान् साधु, 'रे होल !, रे गोल !, ओ कुत्ते !, ऐ वृषल (शूद्र) !, हे द्रमक !, ओ दुर्भग !' इस प्रकार न बोले ॥१४॥

[३४६-३४७-३४८] स्त्री को—'हे आर्यिके (हे दादी ! हे नानी !) हे प्रार्यिके (हे परदादी !, हे परनानी !), हे अम्बे ! (हे मा !), हे मौसी !, हे बुआ !, ऐ भानजी !, अरी पुत्री !, हे नातिन (पोती) !, हे हले, हे हला !, हे अन्ने !, हे भट्टे !, हे स्वामिनि !, हे गोमिनि !, हे होले ! हे गोले !, हे वृषले ! —इस प्रकार आमत्रित न करे। किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष, वय, आदि का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हे उनके नाम या गोत्र से आमन्त्रित करे ॥ १५-१६-१७ ॥

[३४९-३५०-३५१] पुरुष को—'हे आर्यक ! (हे दादा ! या हे नाना !), हे प्रार्यक (हे परदादा ! हे परनाना !), हे पिता !, हे चाचा !, हे मामा !, हे भानजा !, हे पुत्र !, हे पोते !, हे हल !, हे अन्न !, हे भट्ट !, हे स्वामिन् !, हे गोमिन् !, हे होल !, हे गोल ! हे वृषल !' इस प्रकार आमत्रित न करे। किन्तु (प्रयोजनवश) यथायोग्य गुण-दोष वय आदि का विचार कर एक बार या बार-बार उन्हे उनके नाम या गोत्र से आमत्रित करे ॥ १८-१९-२० ॥

विवेचन—अयोग्य सम्बोधनों का निषेध और योग्य सम्बोधनों का निर्देश—प्रस्तुत ७ सूत्र-गाथाओ मे से ३४८-३५१, इन दो गाथाओ को छोडकर शेष ५ गाथाओ मे तुच्छतादिसूचक सम्बोधनो का निषेध, तथा शेष दो गाथाओ मे योग्य सम्बोधनो का विधान किया गया है ।

अवज्ञासूचक सम्बोधन—कई बार व्यवहार मे सत्यभाषा होते हुए भी जिस-जिस देश मे जो-जो शब्द नीचता, अवज्ञा, तुच्छता, निर्लज्जता या निष्ठुरता आदि के सूचक माने जाते हो उन शब्दो से बुद्धिमान् साधु किसी को सम्बोधित नही करे। यथा—हे होल !, हे गोले !, अरे कुत्ते !, हे वृषल—शूद्र !, हे रक (कगाल) ! अरे अभागे ! आदि। होल आदि शब्द उन-उन देशो मे प्रसिद्ध होने से निष्ठुरतावाचक या अवज्ञासूचक है। इनका अर्थ क्रमश इस प्रकार है—होल—निष्ठुर आमत्रण, गोल—जारपुत्र या दासीपुत्र—गोला। श्वान—कुत्ता, वृषल—शूद्र, द्रमक—रक (कगाल), दुर्भग—अभागा।[१२]

आर्यिके आदि सम्बोधनो का निषेध क्यों ?—स्त्रियो के लिए आर्यिके आदि सम्बोधन गृहस्थ के लिए तो ठीक है, किन्तु साधु-साध्वियो का कौटुम्बिक नाता छूट गया है। अत अब ये सम्बोधन मोह, आसक्ति या चाटुकारिता के द्योतक होने के कारण साधु-साध्वी के लिए त्याज्य है। जनता साधु-साध्वी के मु ह से ये शब्द सुनकर ऐसा अनुभव करती है कि यह श्रमणी या श्रमण अभी तक लोकसज्ञा या चाटुकारिता को नही छोड पाया है।[१३]

'हले' आदि सम्बोधनों का प्रयोग कहाँ और निषिद्ध क्यो ?—'हले हले' शब्द सखी या तरुणी के लिए सम्बोधन शब्द है। इसका प्रयोग महाराष्ट्र या वरदातट मे होता था। ये शब्द काम-राग के सूचक हैं। हला शब्द-प्रयोग लाटदेश मे होता था। 'अन्ने' शब्दप्रयोग महाराष्ट्र मे वेश्याओ के लिए होता था। यह नीच सम्बोधन है। 'भट्टे' पुत्ररहित स्त्री के लिए या लाटदेश मे ननद के लिए प्रयुक्त होता था। यह सम्बोधन प्रशसासूचक है। सामिणी (स्वामिनी) शब्द, तथा गोमिणी (गोमिनि) अर्थात् गायवाली लाटदेश मे प्रयुक्त होने वाले सम्मानसूचक अथवा चाटुतासूचक शब्द है। होले (गवारिन), गोले (गोली, जारजा—दासी), वसुले (छिनाल) ये तीनो गोल देश मे प्रयुक्त होते थ। ये तीनो शब्द निर्लज्जतासूचक है।[१४]

सम्बोधन के लिए उपयुक्त शब्द—सूत्रगाथा ३४८ मे साधु-साध्वियो द्वारा स्त्रियो के सम्बोधनार्थ एव ३५१ मे पुरुषो के सम्बोधनार्थ दो उपयुक्त नामो का निर्देश किया है—(१) गोत्रनाम और (२) व्यक्तिगत नाम। आशय यह है कि यदि किसी महिला अथवा पुरुष का नाम याद हो तो उस नाम से सम्बोधित करना चाहिए। यथा—(स्त्री को) देवदत्ता, कल्याणी बहन, मगलादेवी आदि, (पुरुष को) इन्द्रभूति, नाम ज्ञात न हो तो गोत्र से सम्बोधित करना चाहिए। यथा (स्त्री को) हे गौतमी ! हे काश्यपी ! (पुरुष को) जैसे—गणधर इन्द्रभूति को गौतम, भगवान् महावीर को काश्यप। यदि नाम और गोत्र दोनो ज्ञात न हो तो वय, देश, गुण, ईश्वरता (प्रभुता) आदि की अपेक्षा से स्त्री या पुरुष को सभ्यतापूर्ण, शिष्टजनोचित एव श्रोतृजनप्रिय शब्दो से सम्बोधित करना चाहिए। यथा—(स्त्री को) हे माजी, वयोवृद्धे, हे भद्रे ! हे धर्मशीले ! हे सेठानीजी !, (पुरुष को) हे धर्मप्रिय,

---

१२ (क) 'इह होलादिशब्दास्तत्तद्देशप्रसिद्धितो नैष्ठुर्यादिवाचका।' —हा वृ, पत्र २१५
(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म) पत्राकार, पृ. ६५६
(ग) अगस्त्य चूर्णि, पृ १६८

१३. जि चू, पृ. २५०

१४ (क) अ चू, पृ. १६८ (ख) जिनदास चूर्णि, पृ २५०

हे देवानुप्रिय ! हे भद्र ! हे धर्मनिष्ठ ! इत्यादि मधुरशब्दो से सम्बोधित करना चाहिए।[१५] इसके लिए शास्त्रकार ने कहा है—'जहारिहमभिगिज्झ'—अर्थात् यथायोग्य, जहाँ जिसके लिए अवस्था आदि की दृष्टि से जो शब्द उचित हो, उस सुन्दर शब्द से गुणदोष का विचार करके बोले।

पुरुष को आर्यक आदि शब्दो से सम्बोधन का निषेध : क्यों ?—सूत्रगाथा ३४९-३५० मे बताया गया है कि आर्यक आदि सासारिक कौटुम्बिक सम्बोधनो से सम्बोधित नही करना चाहिए क्योकि इससे रागभाव, मोह या आसक्ति बढने की आशका है। द्वितीय गाथा मे उक्त होल, गोल, वसुल आदि शब्द भी निन्दा-स्तुति-चाटुतादि सूचक होने से दोषोत्पादक हैं। विशेष वक्तव्य पूर्वोक्त स्त्री सम्बोधन-प्रकरण मे कह दिया गया है।

पंचेन्द्रिय प्राणियों के विषय में बोलने का निषेध-विधान

३५२. पंचिंदियाण पाणाणं एस इत्थी अयं पुमं।
जाव णं न वियाणेज्जा ताव, 'जाइ' त्ति आलवे ॥२१॥

३५३. तहेव माणुस पसुं पक्खि वा वि सरीसिव।
थूले पमेइले वज्झे, पाइमे त्ति य नो वए ॥२२॥

३५४. परिवूढे त्ति ण बूया, बूया उवचिए त्ति य।
संजाए पीणिए वा वि, महाकाए त्ति आलवे ॥२३॥

३५५. तहेव गाओ दुज्झाओ, दम्मा गोरहग त्ति य।
वाहिया रहजोग्ग त्ति, नेव भासेज्ज पण्णव ॥२४॥

३५६. जुवगवे त्ति णं बूया, धेणु रसदय त्ति य।
रहस्से महल्लए वा वि वए सवहणे त्ति य ॥२५॥

[३५२] पचेन्द्रिय प्राणियो को (दूर से देख कर) जब तक 'यह मादा (स्त्री) है अथवा नर (पुरुष) है' यह निश्चयपूर्वक न जान ले, तब तक (साधु या साध्वी) (यह मनुष्य की जाति है, यह गाय की जाति है, या यह घोडे की) जाति है, इस प्रकार बोले ॥२१॥

[३५३] इसी प्रकार (दयाप्रेमी साधु या साध्वी) मनुष्य, पशु-पक्षी अथवा सर्प (सरीसृप आदि) को (देख कर यह) स्थूल है, प्रमेदुर (विशेष मेद बढा हुआ) है, वध्य (अथवा वाह्य) है, या पाक्य (पकाने योग्य) है, इस प्रकार न कहे ॥२२॥

[३५४] (प्रयोजनवश बोलना ही पड़े तो) उसे परिवृद्ध (सब प्रकार से वृद्धिगत) है, ऐसा भी कहा जा सकता है, उपचित (मास से पुष्ट) है, ऐसा भी कहा जा सकता है, अथवा (यह) सजात

---

१५. (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ३५३
(ख) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी), पृ ६६०
(ग) अभिगिज्झ नाम पुव्वमेव दोसगुणे चिंतेऊण। —जि. चू, पृ २५१

१६. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पत्राकार पत्र, ६६२

(युवावस्था-प्राप्त) है, प्रीणित (तृप्त) है, या (यह) महाकाय (प्रौढ शरीर वाला) है, इस प्रकार (भलीभाति विचार कर) बोले ॥२३॥

[३५५] इसी प्रकार प्रज्ञावान् मुनि—'ये गाये दुहने योग्य है, तथा ये बछडे (गोपुत्र) दमन करने (नाथने) योग्य हैं, (भार)-वहन करने योग्य है, अथवा रथ (मे जोतने)-योग्य है, इस प्रकार न बोले ॥२४॥

[३५६] प्रयोजनवश बोलना ही पडे तो (दम्य) बैल को यह युवा बैल है, (दोहनयोग्य) गाय को यह दूध देने वाली है तथा (लघुवृषभ को) छोटा (बैल), (वृद्ध वृषभ को) बड़ा (बैल) अथवा (रथयोग्य वृषभ को) सवहन (धुरा को वहन करने वाला) है, इस प्रकार (विवेकपूर्वक) बोले ॥२५॥

विवेचन—पंचेन्द्रिय जीवो के लिए निषेध्य एव विधेय वचन—प्रस्तुत पाच सूत्र-गाथाओ (३५२ से ३५६ तक) मे पचेन्द्रिय प्राणियो के लिए न बोलने योग्य सावद्य एव विवेकपूर्वक बोलने योग्य निरवद्य वचन का निरूपण किया गया है।

अनिश्चय दशा मे 'जाति' शब्द का प्रयोग—दूरवर्ती मनुष्य या तिर्यञ्च-पचेन्द्रिय प्राणी के विषय मे जब तक सन्देह हो कि यह मादा (स्त्री) है या नर, तब तक साधु-साध्वी को उसके विषय मे निश्चयात्मक नही कह कर 'यह अमुक जातीय है', ऐसा शब्द प्रयोग करना चाहिए।[१७]

साधुवर्ग द्वारा प्रयुक्त सावद्य शब्दो को सुनकर उन प्राणियो को दु ख होता है, तथा सुनने वाले लोग उन्हे दु ख पहुचा सकते है, इसलिए साधु वर्ग को परपीडाकारी या हिसाजनक वचन नही बोलना चाहिए।[१८]

'थूले' आदि पदो का भावार्थ—थूले-स्थूल—मास की अधिकता के कारण मोटा या तगडा। **पमेइले**—जिसकी मेद (चर्बी) बढी हुई हो। **वज्झे : दो रूप : दो अर्थ**—(१) **वध्य**—वध करने योग्य (२) **वाह्य**—वहन करने योग्य। **पाइमे**—(१) **पाक्य**-पकानेयोग्य अथवा कालप्राप्त। (२) **पात्य**—पातनयोग्य अर्थात्—देवता आदि को बलि देने योग्य। **परिवूढे : दो रूप दो अर्थ**—(१) परिवृद्ध—अत्यन्त वृद्ध, (२) परिवूढ—समर्थ। **संजाए—संजात**—युवा हो गया है, यह सुन्दर है। **पीणिए—प्रीणित**—आहारादि से तृप्त या हृष्टपुष्ट। **उवचिए—उपचित**—मास के उपचय से उपचित अथवा पुष्ट। **महाकाए**—महाकाय—प्रौढ। **दुज्झाओ : दोह्या : दो अर्थ**—(१) दुहनेयोग्य (२) दोहन-काल—जैसे इन गायो के दुहने का समय हो गया है। **दम्मा—दम्या**—दमन करने योग्य, बधिया (खस्सी) करने योग्य या नाथने योग्य। **वाहिमा—वाह्या**—गाडी का भार ढोने के समर्थ। **रहजोग्ग—रथयोग्य**—रथ मे जोतने योग्य। **गोरहग : दो अर्थ**—(१) तीन वर्ष का बछडा अथवा (२) जो बैल

---

१७ दशवै पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ६६६

१८ (क) दशवै (मुनिश्री सतबालजी), पृ ९३

(ख) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पत्र ६६८,६७१

रथ मे जुत गया, वह। **जुवंगवे**—युवा बैल अर्थात्—चार वर्ष का बैल। **संवहणे**—संवहन—धुरा को वहन करने योग्य। अर्थात्—रथ को चलाने वाले बैल।[१९]

वृक्षों एवं वनस्पतियों के विषय में अवाच्य एवं वाच्य का निर्देश

३५७. तहेव गंतुमुज्जाण पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्ख महल्ल पेहाए, नेवं भासेज्ज पण्णवं ॥२६॥

३५८. अलं पासाय-खंभाणं* तोरणाण गिहाण य।
फलिहऽग्गल-नावाणं अलं उदगदोणिणं ॥२७॥

३५९. पीढए चगबेरे य नंगले मइयं सिया।
जंतलट्ठी व नाभी वा, गंडिया व अलं सिया ॥२८॥

३६०. आसण सयण जाण होज्जा वा किंचुवस्सए।
भूओवघाइणिं भासं, नेवं भासेज्ज पण्णवं ॥२९॥

३६१. तहेव गंतुमुज्जाण पव्वयाणि वणाणि य।
रुक्खा महल्ल पेहाए एव भासेज्ज पण्णवं ॥३०॥

३६२. जाइमंता इमे रुक्खा दीहा वट्टा महालया।
पयायसाला विडिमा वए दरिसणित्ति य ॥३१॥

३६३. तहा फलाइं पक्काइं पायखज्जाइं नो वए।
वेलोइयाइं टालाइं वेहिमाइ ति नो वए ॥३२॥

३६४. असथडा इमे अंबा बहुनिव्वट्टिमा-फला+।
वएज्ज बहुसंभूया भूयरूव त्ति वा पुणो ॥३३॥

३६५. तहेवोसहीओ पक्काओ, नीलियाओ छवीइय।
लाइमा भज्जिमाओ त्ति, पिहुखज्जत्ति नो वए ॥३४॥

---

१९ (क) दशवै (पत्राकार, आचार्यश्री आत्मारामजी म), पत्र ६६८, ६७१
आचा चूला, ४।२५ वृत्ति
अगस्त्यचूर्णि, पृ १७०
हारि. वृत्ति, पत्र २१७
(ख) गोजोग्गा रहा गोरहजोगत्तणेण गच्छंति 'गोपोतलगा। —अ चू., पृ १७०
'गोरट्ठग त्ति त्रिहायण बलीवर्दम्।' —सूत्र कृ १।४।२।१३ वृ

पाठान्तर— * तोरणाणि गिहाणि य। + बहु-निव्वट्टिमा फला।

३६६. विरूढा बहुसंभूया थिरा ऊसढा वि य।
गब्भियाओ पसूयाओ ससाराओ त्ति आलवे ॥३५॥

[३५७-३५८] इसी प्रकार उद्यान मे, पर्वतो पर अथवा वनो मे जाकर (अथवा गया हुआ या रहा हुआ) (वहाँ) बड़े-बडे वृक्षो को देख कर प्रज्ञावान् साधु इस प्रकार न बोले—'ये वृक्ष प्रासाद, स्तम्भ, तोरण (नगरद्वार), घर, (नाना प्रकार के गृह), परिघ, अर्गला एव नौका तथा जल की कु डी (—उदक-द्रोणी या रेहट की घडिया) बनाने के लिए उपयुक्त—योग्य है ॥२६-२७॥

[३५९] (ये वृक्ष) पीठ (चौकी या बाजोट), काष्ठपात्र (चगबेर), हल (नगल), तथा मयिक (मडे—बोये हुए बीजो को या अनाज के ढेर को ढाकने के लिए लकडी के ढक्कन), यत्र-यष्टि (कोल्हू की लाट), गाडी के पहिये की नाभि अथवा अहरन (गण्डिका) रखने की काष्ठनिर्मित वस्तु के लिए उपयुक्त हो सकते है, (इस प्रकार न कहे।) ॥२८॥

[३६०] (इसी प्रकार इस वृक्ष मे) आसन, शयन (सोने के लिए पट्टा), यान (रथ आदि) और उपाश्रय के (लिए) उपयुक्त कुछ (काष्ठ) है—इस प्रकार की भूतोपघातिनी (प्राणि-सहारकारिणी) भाषा प्रज्ञासम्पन्न साधु (या साध्वी) न बोले ॥२९॥

[३६१-३६२] (कारणवश) उद्यान मे, पर्वतो पर या वनो मे जा कर (रहा हुआ या गया हुआ) प्रज्ञावान् साधु वहा बडे-बडे वृक्षो को देख (प्रयोजनवश कहना हो तो) इस प्रकार (निरवद्य-वचन) कहे—'ये वृक्ष उत्तम जाति वाले हैं, दीर्घ (लम्बे) है, गोल (वृत्त) है, महालय (अति विस्तृत या स्कन्धयुक्त) है, बडी-बडी फैली हुई शाखाओ वाले एव छोटी-छोटी प्रशाखाओ वाले है तथा दर्शनीय हैं, इस प्रकार बोले ॥३०-३१॥

[३६३] तथा ये फल परिपक्व हो गए हैं, (अथवा) पका कर खाने के योग्य है, (इस प्रकार साधु-साध्वी) न कहे। तथा ये फल (ग्रहण)-कालोचित (अविलम्ब तोडनेयोग्य) है, इनमे गुठली नही पडी, (ये कोमल) है, ये दो टुकडे (फाक) करने योग्य है—इस प्रकार भी न बोले ॥३२॥

[३६४] (प्रयोजनवश बोलना पडे तो) "ये आम्रवृक्ष फलो का भार सहने मे असमर्थ हैं, बहुनिर्वर्तित (बद्धास्थिक हो कर प्राय निष्पन्न) फल वाले है, बहु-सभूत (एक साथ बहुत-से उत्पन्न एव परिपक्व फल वाले) हैं अथवा भूतरूप (अबद्धास्थिक होने से कोमल अथवा अद्भुतरूप वाले) हैं, इस प्रकार बोले ॥३३॥

[३६५] इसी प्रकार (विचारशील साधु या साध्वी)—'ये गेहू, ज्वार, बाजरा, चावल आदि धान्यरूप) ओषधियाँ पक गई हैं तथा (चौला, मू ग आदि की फलियाँ) नीली (हरी) छवि (छाल) वाली (होने से अभी अपक्व) है, (ये धान्य) काटने योग्य है, ये भूनने योग्य है, अग्नि मे सेक (अर्धपक्व) कर खाने योग्य हैं, इस प्रकार न कहे ॥३४॥

[३६६] (यदि प्रयोजनवश कुछ कहना हो तो) ये (गेहूँ आदि अन्नरूप) ओषधियाँ अकुरित (प्ररूढ) हो गई है, प्राय निष्पन्न हो गई है, स्थिरीभूत हो गई हैं, उपघात से पार हो गई है। अभी कण गर्भ मे हैं (सिट्टे नही निकले है) या कण गर्भ से बाहर निकल आये है, या सिट्टे परिपक्व बीज वाले हो गये है, इस प्रकार बोले ॥३५॥

विवेचन—वृक्षों और वनस्पतियो के विषय मे अवाच्य एवं वाच्य का निर्देश—प्रस्तुत १० सूत्रगाथाओ (३५७ से ३६६ तक) मे से प्रथम ६ गाथाओ मे वृक्षो के सम्बन्ध मे, तत्पश्चात् दो गाथाओ मे फलों के सम्बन्ध मे और अन्त मे दो गाथाओ मे ओषधियो (विविध धान्यो) के विषय में सावद्यभाषा बोलने का निषेध और साधुमर्यादोचित निरवद्य भाषा बोलने का विधान किया गया है।

वृक्षों एवं वनस्पतियों के सम्बन्ध मे निषेध (अवाच्य) का कारण—किसी वृक्ष को देख कर चौकी, पट्टा, खाट, कुर्सी आदि चीजे इस वृक्ष से बन सकती है, इस प्रकार कहने से वनस्वामी व्यन्तरादि देव के कुपित हो जाने की सभावना है, अथवा वृक्ष के विषय में साधु के द्वारा इस प्रकार का सावद्य कथन सुन कर सभव है कोई उस वृक्ष को अपने कार्य के लिए उपयुक्त जानकर छेदन-भेदन करे। इस प्रकार के सावद्य वचन मे साधु की भाषासमिति एव वचनगुप्ति की रक्षा न होने से वह दोषयुक्त हो जाती है, जिससे सयमरक्षा या आत्मरक्षा खतरे मे पड जाती है।

अवाच्य होने का यही कारण वनस्पतियो के विषय मे भी समझना चाहिए।[२०]

साधु या साध्वी को विशेष रूप से यह ध्यान रखना चाहिए कि उन्हे वृक्षो, फलो या धान्यो आदि के विषय मे तभी निरवद्य भाषा मे बोलना उचित है, जब कोई विशेष प्रयोजन हो। बिना किसी कारण के यो ही लोगो को वृक्षो आदि के सम्बन्ध मे कहते रहने से भाषा मे निरवद्यता के स्थान पर सावद्यता आए बिना नही रह सकती। हित, मित एव निरवद्य भाषण मे ही संयमरक्षा एव आत्मरक्षा है।[२१]

'पासाय' आदि शब्दों के अर्थ—**पासाय : प्रासाद**– एक खम्भे वाला मकान, या जिसे देख कर लोगो का मन और नेत्र प्रसन्न हो। **फलिहऽग्गला—परिघ अर्गल**—नगरद्वार की आगल को परिघ और गृहद्वार की आगल को अर्गला कहते हैं। **उदगदोणिणं– उदकद्रोणि : चार अर्थ**—(१) एक काष्ठ से निर्मित जलमार्ग, (२) काष्ठ की बनी हुई प्रणाली, (घडिया) जिससे रेहट आदि के जल का सचार हो। (३) रेहट की घडियाँ, जिसमे पानी डाले, वह जलकुण्डी या (४) काष्ठनिर्मित बडी कुण्डी, जो कम पानी वाले देशो मे भर कर रखी जाती है। **चगबेरे**—काष्ठपात्री, चगेरी। **मइय—मयिक**—बोए हुए खेत को सम करने के लिए उपयोग मे आने वाला एक कृषि-उपकरण। **गंडिया—गण्डिका : चार अर्थ**—(१) सुनारो की एरन (२) काष्ठनिर्मित अधिकरिणी, (३) काष्ठफलक या (४) प्लवन-काष्ठ (जल पर तैरने के लिए काष्ठ—जलसतरण)। **उवस्सय—उपाश्रय : दो अर्थ**—(१) आश्रयस्थान अथवा (२) उपाश्रय—साधुओ के रहने का स्थान। **दीहा वट्टा महालया**—वृक्ष के ये विशेषण है। नारिकेल, ताड आदि वृक्ष दीर्घ (लम्बे) होते है। अशोक नन्दी आदि वृक्ष वृत्त (गोल) होते है, बरगद आदि वृक्ष महालय होते है, जो अत्यन्त विस्तृत होने से अनेकविध पक्षियो के लिए आधारभूत हो। **पयायसाला—प्रजातशाखा**—जिनके बडी-बडी शाखाएँ फटी हो। **विडिमा—विटपी : दो अर्थ**—(१)

---

२०. (क) दशवै पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म.) पत्र ६७९, ६८५
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ९४

२१. दशवैकालिक पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. ६८२

स्कन्धो से निकली हुई शाखाएँ, अथवा (२) प्रशाखाएँ जिनमे फूट गई हो। **पायखज्जाइं**—**पाकखाद्य**—पका कर खाने के योग्य। **वेलोचित**—जो फल पक्का हो जाने पर डाल पर लगा नही रह सकता, तत्काल तोड़ने योग्य फल। **टालाइं**—जिस फल मे अभी तक गुठली न पड़ी हो, अबद्धास्थिक कोमल फल 'टाल' कहलाते हैं। **वेहिमाइ**—**द्वेधीकरणयोग्य**—जिनमे गुठली न पडी हो तथा दो विभाग करने योग्य। **असंथडा**—फल धारण करने मे अपर्याप्त—असमर्थ। **बहुनिवट्टिया**—**बहुनिर्वर्तित**—अधिकाश निष्पन्न फल वाले। **ओसहीओ**—ओषधियाँ—चावल, गेहूँ आदि धान्य या एक फसल वाला पौधा। **नीलियाओ**—हरी या अपक्व। **छवीइय**—छवि—त्वचा (छाल) या फली वाली। **पिहुखज्जा : दो अर्थ**—(१) अग्नि मे सेक कर खाने योग्य, अथवा[२२] (२) पृथुक (चिडवा) बना कर खाने योग्य।

'रूढा' आदि शब्दों की व्याख्या—बीज अकुरित होने से लेकर पुन बीज बनने तक की सात अवस्थाएँ वनस्पति की हैं। उन्ही का सूत्रगाथा ३६६ मे उल्लेख है। (१) **रूढ**—बीज बोने के बाद जब वह प्रादुर्भूत होता है, तो दोनो बीजपत्र एक दूसरे से अलग-अलग हो जाते है, भ्रूणाग्र को बाहर निकलने का मार्ग मिलता है, इस अवस्था को 'रूढ' कहते है। (२) **सम्भूत**—पृथ्वी पर आने पर बीजपत्र का हरा हो जाना और बीजाकुर का प्रथम पत्ती बन जाना। (३) **स्थिर**—भ्रूणमूल का नीचे की ओर बढ कर जड के रूप मे विस्तृत हो जाना। (४) **उत्सृत**—भ्रूणाग्र स्तम्भ के रूप मे आगे बढना। (५) गर्भित-आरोह पूर्ण हो जाना, किन्तु भुट्टा या सिट्टा न निकलने की अवस्था। (६) **प्रसूत**—भुट्टा या सिट्टा निकलना और (७) **ससार**—दाने पड जाना। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार **रूढ** को अकुरित, **बहुसम्भूत** को सुफलित, उपघातमुक्त बीजाकुर की उत्पादक शक्ति को **स्थिर**, सुसवर्धित स्तम्भ को **उत्सृत**, भुट्टा न निकलने को **गर्भित**, भुट्टा निकलने पर प्रसूत और दाने पडने को **ससार** कहा जाता है।[२३]

साधु को फलो के विषय मे आरम्भ-समारम्भ-जनक शब्दो का प्रयोग नही करना चाहिए, क्योकि साधु के मुख से इस फल को इस प्रकार खाना चाहिए, इत्यादि सावद्य वचन सुन कर गृहस्थ उसके आरम्भ मे प्रवृत्त हो सकता है, जिससे अनेक दोष सम्भव है।[२४]

---

२२ (क) हा वृ, पत्र २५८।
(ख) अग चूर्णि, पृ. १७१
(ग) हारि वृत्ति, पत्र २१८
(घ) अ चूर्णि, पृ १८१

२३ (क) विरूढा—अकुरिता। बहुसम्भूता-सुफलिता। जोग्गादि उवघातातीताओ थिरा। सुसवड्ढिता-उस्सढा। अणिव्विसूणाओ-गब्भिणाओ। णिव्विसूताओ—पसूताओ सव्वोवघात-रहिताओ सुणिप्फण्णाओ ससाराओ। —अ चू, पृ १७३

(ख) रूढा—प्रादुर्भूत, 'बहुसम्भूता' निष्पन्नप्राया उत्सृता-उपघातेभ्यो निर्गता इति वा। तथा गर्भिता -अनिर्गतशीर्षका, प्रसूता -निर्गतशीर्षका, ससारा -सजात-तन्दुलादिसारा।
—हारि वृत्ति., पत्र २१९

२४ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी)
(ख) दशवै पत्राकार, (आचार्य श्री आत्मारामजी) पृ ६८३, ६८५

संखडी एवं नदी के विषय में निषिद्ध तथा विहित वचन

३६७. तहेव संखडिं नच्चा, किच्चं कज्जं ति नो वए।
तेणगं वावि वज्झे त्ति, सुतित्थे त्ति य आवगा ॥३६॥

३६८. संखडिं संखडिं बूया, पणियट्ठं ति तेणगं।
बहुसमाणि तित्थाणि आवगाणं वियागरे ॥३७॥

३६९. तहा नईओ पुण्णाओ कायतिज्ज त्ति नो वए।
नावाहिं तारिमाओ त्ति, पाणिपेज्जत्ति नो वए ॥३८॥

३७०. बहुवाहडा अगाहा बहुसलिलुप्पिलोदगा।
बहुवित्थडोदगा यावि एव भासेज्ज पण्णवं ॥३९॥

[३६७] इसी प्रकार (दयालु साधु को) जीमणवार (सखडी) और कृत्य (मृतकभोज) जान कर ये करणीय हैं (अथवा ये पुण्यकार्य है), अथवा (यह) चोर मारने योग्य है, तथा ये नदियाँ अच्छी तरह से तैरने योग्य अथवा अच्छे घाट वाली है, इस प्रकार (सावद्य वचन) नही बोलना चाहिए ॥३६॥

[३६८] (प्रयोजनवश कहना पडे तो) सखडी की (यह) सखडी है, तथा चोर को 'अपने प्राणो को कष्ट मे डाल कर स्वार्थ सिद्ध करने वाला' कहे। और नदियो के तीर्थ (घाट) बहुत सम है, इस प्रकार विचार करके बोले ॥३७॥

[३६९] तथा ये नदियाँ जल से पूर्ण भरी हुई है, शरीर (भुजाओ) से तैरने योग्य है, इस प्रकार न कहे। तथा ये नौकाओ द्वारा पार की जा सकती है, एव प्राणी (तट पर बैठ कर सुखपूर्वक इनका जल) पी सकते है, ऐसा भी न बोले ॥३८॥

[३७०] (प्रयोजनवश कभी कहना पडे तो) (ये नदिया) प्राय जल मे भरी हुई हैं, अगाध (अत्यन्त गहरी) हैं, (इनका जलप्रवाह) बहुत-सी नदियो के प्रवाह को हटा रहा है, अत ये बहुत विस्तृत जल (चौडे पाट) वाली है,—प्रज्ञावान् भिक्षु इस प्रकार कहे ॥३९॥

विवेचन—संखडी आदि के विषय मे अवाच्य-वाच्य-वचनविवेक—प्रस्तुत चार सूत्रगाथाओ (३६७ से ३७० तक) मे सखडी, चोर, नदी के घाट, नदी के पानी आदि के विषय मे साधु-साध्वी को कैसे वचन नही कहने चाहिए ? और कैसे कहने चाहिए, इसका विवेक बताया गया है।

संखडी आदि के सम्बन्ध में अवाच्य वचन कहने मे दोष—(१) कोई साधु या साध्वी किसी ग्राम, नगर या कस्बे आदि मे जाए और वहाँ किसी गृहस्थ के यहाँ श्राद्ध, भोज आदि की जीमनवार होती हुई देखे, तब मुनि इस प्रकार से न बोले कि—'यह श्राद्ध या मृतकभोज अथवा जीमणवार गृहस्थ को अवश्य करने चाहिए; ये कार्य पुण्यवर्द्धक है।' क्योकि इस प्रकार कहने से भोजन तैयार करने मे होने वाले आरम्भ-समारम्भ का अनुमोदन होता है जो हिंसाजनक है, तथा ऐसे अयोग्य वचन

कहने से मिथ्यात्व की वृद्धि होती है। साधुवर्ग की जिह्वालोलुपता द्योतित होती है।[२५] आचार्य हरिभद्रसूरि ने कहा है—'सखडी आदि कृत्यो (भोजो) मे जो मुनि सरस आहार ग्रहण करते हैं, अथवा सरस भोजन पाने के लिए ऐसे भोजों की प्रशसा करते हैं, वे वनीपक (भिखमगे) हैं, मुनि नही।[२६] (२) वध्यस्थान पर ले जाते हुए या गिरफ्तार या दण्डित किये जाते हुए चोर को देख कर—'यह चोर महापापी है, यह जाएगा तो लोगो को बहुत सताएगा, अत इस दुष्ट को मार डालना या कठोर दण्ड देना ही ठीक है।' ऐसा कहना ठीक नही। (३) तथा जल से लबालब भरी हुई बहती नदी को देख कर—"इस नदी के तट बहुत अच्छे हैं। यह सुखपूर्वक भुजाओ से तैर कर पार की जा सकती है, इसमे खूब मजे से जलक्रीडा की जा सकती है। अथवा यह नदी नौका से पार की जा सकती है। इसके तट पर बैठे-बैठे ही सभी प्राणी सुखपूर्वक पानी पी सकते हैं", इत्यादि वचन साधु-साध्वी नही कहे, क्योकि ऐसा कहने से अधिकरण तथा जल के तथा तदाश्रित जीवो के विघात आदि दोषो का प्रसग उपस्थित हो सकता है।[२७]

'संखडि' आदि शब्दों के विशेषार्थ—संखडि : दो अर्थ—(१) जिससे षट्जीवनिकाय के आयुष्य खण्डित होते है अर्थात् उनकी विराधना होती है, वह सखडी है। अथवा (२) भोज मे अन्न का सस्कार किया जाता है,—पकाया जाता है, इसलिए इसे 'सस्कृति' भी कहते है। **किच्च : दो अर्थ**—(१) कृत्य—मृतकभोज, अथवा (२) पितरो या देवो के प्रीति सम्पादनार्थ किये जाने वाले 'कृत्य'।[२८]

पणिअट्ठ आदि शब्दो का भावार्थ—पणिअट्ठ : पणितार्थ—चोर को देख कर मुनि चोर न कह कर साकेतिक भाषा मे पणितार्थ—(जिसे धन से ही प्रयोजन है, वह) है, ऐसा कहे या ऐसा कहे कि अपने स्वार्थ के लिए यह प्राणो को दाव पर लगा देता है। **पाणिपिज्ज-प्राणिपेया**—जिससे तट पर बैठे-बैठे प्राणी जल पी सके, वे नदिया। **उप्पिलोदगा-उत्पीडोदका**—दूसरी नदियो के द्वारा जिनका जल उत्पीड़ित होता हो, अथवा बहुत भरने के कारण जिनका जल उत्पीडित हो गया हो—दूसरी ओर मुड गया हो, वे नदियाँ। अथवा अन्य नदियो के जल-प्रवाह को पीछे हटाने वाली।[२९]

---

२५ (क) दशवै पत्राकार (आचार्यश्री आत्माराम जी म), पृ ६९०-६९१
(ख) किच्चमेय ज पितीण देवयाण य अट्ठाए दिज्जइ, करणिज्जमेय ज पियकारिय देवकारिय वा किज्जइ। —जि चूर्णि, पृ २५७

२६ सखडिपमुहे किच्चे, सरसाहार खु जे पगिण्हति। भत्तट्ठ थुव्वति, वणीमगा ते वि, न हु मुणिणो॥
—हारि वृ, प २१९

२७. दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्माराम जी म.), पृ ६९१

२८ (क) 'छण्ह जीवनिकायाण आउयाणि सखडिज्जति जीए सा सखडी भण्णइ।' —जि. चू, पृ २५७
(ख) किच्चमेव घरत्थेण देवपीति-मणुसकज्जमिति। —अग चूर्णि, पृ १७४

२९. (क) पणितेनार्थो यस्येति पणितार्थ, प्राणव्यतप्रयोजन इत्यर्थ। —हा वृ., पत्र २१९
(ख) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पत्र ६९२
(ग) तडत्थिएहिं पाणीहिं पिज्जतीति पाणिपिज्जाओ 'उप्पिलोदगा' नाम जासि परनदीहिं उप्पीलियाणि उदगाणि, अहवा बहुउप्पिलादओ जासिं अइभरियत्तणेण अण्णओ पाणिय वच्चइ।
—जिन. चूर्णि., पृ. २५७

परकृत सावद्यव्यापार के सम्बन्ध में सावद्यवचन-निषेध

३७१. तहेव सावज्जं जोगं परस्सऽट्ठाए निट्ठियं ।
कीरमाणं ति वा णच्चा सावज्जं णाऽलवे मुणी ।।४०।।

३७२. सुकडे त्ति सुपक्के त्ति सुच्छिन्ने सुहडे मडे ।
सुनिट्ठिए सुलट्ठि त्ति, सावज्जं वज्जए मुणी ।।४१।।

३७३. पयत्तपक्के त्ति व पक्कमालवे, पयत्तछिन्ने त्ति× व छिन्नमालवे ।
पयत्तलट्ठे त्ति+ व कम्महेउयं पहारगाढे त्ति❀ व गाढमालवे ।।४२।।

३७४. सव्वुक्कस्सं परग्घं वा अउलं नत्थि एरिसं ।
□अचक्कियमवत्तव्वं अचिंतं× चेव णो वए ।।४३।।

३७५. सव्वमेयं वइस्सामि सव्वमेयं ति णो वए ।
अणुवीए सव्वं सव्वत्थ एवं भासेज्ज पण्णवं ।।४४।।

३७६. सुक्कीयं वा सुविक्कीयं अकेज्जं केज्जमेव वा ।
इमं गिण्ह इमं मुंच पणियं, नो वियागरे ।।४५।।

३७७. अप्पग्घे वा महग्घे वा, कए व विक्कए वि वा ।
पणियट्ठे समुप्पन्ने अणवज्जं वियागरे ।।४६।।

३७८. तहेवाऽसंजयं धीरो आस एहि करेहि वा ।
+सय चिट्ठ वयाहि त्ति, नेवं भासेज्ज पण्णवं ।।४७।।

[३७१] इसी प्रकार (किसी के द्वारा किसी प्रकार का) सावद्य (पापयुक्त) व्यापार (प्रवृत्ति या क्रिया) दूसरे के लिए किया गया हो, (वर्तमान मे) किया जा रहा हो, अथवा (भविष्य में किया जाएगा) ऐसा जान कर (या देख कर, यह ठीक किया है, इस प्रकार का) सावद्य (पापयुक्त वचन) मुनि न बोले ।।४०।।

[३७२] (कोई सावद्यकार्य हो रहा हो तो उसे देखकर) (यह प्रीतिभोज आदि कार्य) बहुत अच्छा किया (यह भोजन आदि) बहुत अच्छा पकाया है, (इस शाक आदि को या वन को) बहुत अच्छा काटा है; अच्छा हुआ (इस कृपण का धन) हरण हुआ (चुराया गया), (अच्छा हुआ, वह दुष्ट) मर गया, (दाल या सत्तु में घी आदि रस, अथवा यह मकान आदि) बहुत अच्छा निष्पन्न हुआ है, (यह कन्या) अतीव सुन्दर (एव विवाहयोग्य हो गई) है, इस प्रकार के सावद्य वचनो का मुनि प्रयोग न करे ।।४१।।

पाठान्तर— × पयत्तछिन्नत्ति । + पयत्तलट्ठित्ति । ❀ पहारगाढ त्ति
□ अविक्किय । × अचिअत्त । + सय ।

[३७३] (प्रयोजनवश कभी बोलना पडे तो) सुपक्व (भोजनादि) को 'यह प्रयत्न से पकाया गया है' इस प्रकार कहे; छेदन किये हुए (शाक आदि या वनादि) को 'प्रयत्न से काटा गया है' इस प्रकार कहे, (श्रृ गार आदि) कर्म-(बन्धन-) हेतुक (कन्या के सौन्दर्य) को (देखकर) कहे (कि इस कन्या का) प्रयत्नपूर्वक लालन-पालन किया गया है, तथा गाढ (घायल हुए व्यक्ति) को यह प्रहार गाढ है, एसा (निर्दोष वचन) बोले ।।४२।।

[३७४] (क्रय-विक्रय के प्रसग मे साधु या साध्वी) (यह वस्तु) सर्वोत्कृष्ट है, यह बहुमूल्य (महार्थ) है, यह अतुल (अनुपम) है, इसके समान दूसरी कोई वस्तु नही है, (यह वस्तु बेचने योग्य नही है, अथवा) (इसका मूल्याकन) अशक्य है, (यह वस्तु) अवर्णनीय (—अकथ्य) है; (अथवा इसकी विशेषता कही नही जा सकती), यह वस्तु अप्रीतिकर है, (अथवा यह वस्तु अचिन्त्य है), (और यह वस्तु प्रीतिकर है), (इत्यादि व्यापारविषयक) वचन न कहे ।।४३।।

[३७५] (साधु या साध्वी से कोई गृहस्थ किसी को सदेश कहने को कहे तब) 'मै तुम्हारी सब बाते उससे अवश्य कह दू गा' (अथवा किसी को सन्देश कहलाते हुए) (मेरी) 'यह सब (बात तुम उससे कह देना', इस प्रकार न बोले, (किन्तु सब प्रकार के पूर्वोक्त वचन सम्बन्धी विधि-निषेधो का) पूर्वापर विचार करके बोले, (जिससे कर्मबन्ध न हो) ।।४४।।

[३७६] अच्छा किया (आपने यह माल) खरीद लिया अथवा बेच दिया यह अच्छा हुआ, यह पदार्थ खराब है, खरीदने योग्य नही है, अथवा (यह माल) अच्छा है, खरीदने योग्य है, इस माल को ले लो (खरीद लो) अथवा यह (माल) बेच डालो (इस प्रकार) व्यवसाय-सम्बन्धी (वचन), साधु न कहे ।।४५।।

[३७७] (कदाचित् कोई गृहस्थ) अल्पमूल्य अथवा बहुमूल्य माल खरीदने या बेचने के विषय मे (पूछे तो) व्यावसायिक प्रयोजन का प्रसग उपस्थित होने पर साधु या साध्वी निरवद्य वचन बोले, (जिससे सयमधर्म मे बाधा न पहुँचे या इस प्रकार से कहे कि क्रय-विक्रय से विरत साधु-साध्वियो का इस विषय में कोई अधिकार नही है।) ।।४६।।

[३७८] इसी प्रकार धीर और प्रज्ञावान् साधु असयमी (गृहस्थ) की—यहाँ बैठ, इधर आ, यह कार्य कर, सो जा, खडा हो जा (या रह) या चला जा, इस प्रकार न कहे ।।४७।।

विवेचन—सावद्य-प्रवृत्ति के अनुमोदन का निषेध तथा योग्य वचन-विधान—प्रस्तुत ८ सूत्र-गाथाओ (३७१ से ३७८ तक) मे से अधिकाश गाथाओ मे गृहस्थ के द्वारा की जाने वाली सावद्य क्रियाओ की अनुमोदना एव प्रेरणा का निषेध एव साथ ही वक्तव्य-वचनो का विधान प्रतिपादित है।

त्रैकालिक सावद्यभाषा निषेध—प्रस्तुत ३७१ वी गाथा मे परकृत सावद्य प्रवृत्तियो की मानसिक वाचिक अनुमोदना का निषेध किया गया है। उदाहरणार्थ—पूर्वकाल मे अमुक सग्राम बहुत ही अच्छा हुआ, वर्तमान में ये सग्रामादि हो रहे है, ये अच्छे हो रहे हैं, तथा भविष्य मे यदि सग्राम छिड गया तो अच्छा होगा,[३०] इत्यादि सावद्य भाषण साधु या साध्वी न करे। ऐसी सावद्य

---

३०. दशवै पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ. ६९७

भाषा के प्रयोग से पापकर्मों की अनुमोदना और प्रेरणा मिलती है। सूत्रोक्त उदाहरण केवल समझाने के लिए है। इसी प्रकार की अन्य सावद्य प्रवृत्तियो की भी प्रेरणा या अनुमोदना साधुवर्ग को नही करनी चाहिए।

'सुकडे त्ति सावद्यक्रियाओं की अनुमोदना भी निषिद्ध—अगस्त्यचूर्णि के अनुसार 'सुकृत' शब्द समस्त क्रियाओ का प्रशसात्मक वचन है, तथैव सुपक्व (पाकक्रिया), सुच्छिन्न (छेदनक्रिया), सुहृत (हरणक्रिया), सुमृत (मरणक्रिया) सुनिष्ठित (सम्पादनक्रिया), एव सुलष्ट (शोभनक्रिया) के प्रशसात्मक या अनुमोदक वचन हैं। वृत्तिकार एव अन्य व्याख्याकार इनके उदाहरण भोजन-विषयक भी देते है, और सामान्य अन्य क्रियाविषयक भी। आचाराग मे आए हुए इसी प्रकार के पाठ को देखते हुए यह गाथा भोजनविषयक लगती है। उत्तराध्ययनसूत्र की नेमिचन्द्राचार्य वृत्ति के अनुसार ये ही शब्द शुद्ध निरवद्य भावो के कारण निरवद्य क्रियाओ के अनुमोदक भी हो सकते है, यथा—इसने अमुक रुग्ण मुनि की सेवा की, यह अच्छा किया, इसका वचनविज्ञान परिपक्व है, इसने स्नेह-बन्धन को अच्छी तरह काट दिया है, अच्छा हुआ कि इसने कुपथ पर ले जाते हुए सम्बन्धियो से शिष्य को छुडा लिया। अच्छा हुआ कि अमुक मुनि की मृत्यु पण्डितमरण से हुई। यह मुनि साध्वाचार मे अच्छी तरह प्रवीण हो गया, इस बालक ने व्रतग्रहण सुन्दर ढग से किया है।[३१]

इससे अगली गाथा मे इन्ही क्रियाओ के विषय मे निरवद्यवचन बोलने का निर्देश किया गया है।

'कम्महेउयं' आदि पदो के विशिष्ट अर्थ—**कम्महेउयं**—**कर्महेतुकः**—शिक्षापूर्वक किया गया, सधे हुए हाथो से किया हुआ, अथवा ये सासारिक या शृ गारादि क्रियाए कर्मबन्धन की हेतु हैं। **अचक्किय : अविक्किअं : दो पाठ—तीन अर्थ**—(१) **अशक्य**—इसका मोल करना अशक्य है, (२) **असंस्कृत**—यह वस्तु असस्कृत है, खराब है, अथवा (३) **अविक्रेय**—यह बस्तु बेचनेयोग्य नही है।

अचियत्तं-अचितं : दो पाठ : दो अर्थ—(१) अप्रीतिकर या (२) अचिन्त्य। **अणुवीइ**—**अनुचिन्त्य**—पूर्वापर विचार करके या पूर्वोक्त सब वचनविधियो का अनुचिन्तन करके। **पणियट्ठे समुप्पन्ने अणवज्जं वियागरे : तात्पर्य**—व्यवसाय सम्बन्धी पदार्थ के सम्बन्ध मे प्रसग उपस्थित होने पर साधु निरवद्य वचन बोले, जैसे कि—जिन मुनियो ने व्यवसाय (व्यापार) छोड रखा है, उन्हे क्या अधिकार है कि वे व्यापार के सम्बन्ध में अपनी राय दे। यह अनधिकार चेष्टा है।

---

३१ (क) उत्तरा कमल स. १।३६.
(ख) उत्त ने वृ. १।३६
(ग) आचा चू ४।२३
(ग) निरवद्य तु सुकृतमनेन धर्मध्यानादि, सुपक्वमस्य वचनविज्ञानादि, सुच्छिन्न स्नेह-निगडादि, सुहृतोऽय मुत्प्रवाजयितुकामेभ्यो निजकेभ्य शैक्षक, सुमृतमस्य पण्डितमरणेन, सुनिष्ठितोऽय साध्वाचारे, सुलष्टोऽय दारको व्रतग्रहणस्येत्यादिरूपम्। —उत्तरा नेमि वृत्ति. १।३६

असंजय—असंयत—बैठने, उठने आदि क्रियाओ मे सम्यक् यतना—सयम-रहित। असयमी पुरुष लोहे के तपे हुए गोले के समान है उसे जिधर से छुओ, उधर से जला देता है, वैसे ही असंयमी चारो ओर से जीवो को कष्ट देता है। वह सोया हुआ भी अहिंसक नही होता।[३२]

पक्व आदि विषयों में निरवद्यवचन-विवेक—यदि कोई साधु किसी रुग्ण साधु के लिए जरूरत होने पर सहस्रपाक तेल किसी सद्गृहस्थ के यहाँ से लाया, तब पूछने पर वह कह सकता है—बडे प्रयत्न (आरम्भ) से पकाया गया है। वन मे विहार करते समय कटे हुए वृक्षो को देख कर मुनि अन्य मुनियो से कह सकता है—यह वन बडे प्रयत्न से काटा गया है। तथा किसी कन्या को दीक्षा के लिए उद्यत देख कर कहे—इसका पालन-पोषण बडी सावधानी से करने योग्य है। ये जो सांसारिक क्रियाए हैं, वे सब कर्मबन्धन की ही कारण हैं। यदि किसी चोर पर अत्यन्त मार पड रही हो तब कहा जा सकता है—दुष्कर्म का फल अतीव कटु होता है। देखो, दुष्कर्म के कारण बेचारे पर कितनी कठोर मार पड रही है।[३३]

व्यापार से सम्बन्धित विषयों में बोलने के निषेध का कारण—यह पदार्थ सर्वोत्कृष्ट है, शीघ्र खरीदने योग्य है, इत्यादि वचन बोलने से अप्रीति, अधिकरण और अन्तराय दोष लगता है। साधु के द्वारा कही बात को सुन कर यदि कोई गृहस्थ व्यापार सम्बन्धी नाना क्रियाओ मे लग जाए तो उसमें बहुत-से अनर्थों के होने की सम्भावना है। यदि साधु द्वारा कथित वस्तु महगी या सस्ती न हुई तो साधु के प्रति अप्रीति-अप्रतीति पैदा होगी। यदि उसी प्रकार हो गई तो अधिकरणादि दोष उत्पन्न होगे।[३४]

'मैं सब की सब बातें कह दूंगा', इत्यादि निश्चयात्मक भाषा निषेध क्यो?—साधु यदि यह स्वीकार करता है कि मैं तुम्हारी सब बाते कह दू गा तो उसके सत्यमहाव्रत मे दोष लगता है, क्योकि जिस प्रकार उस व्यक्ति ने स्वर-व्यञ्जन से युक्त भाषा व्यक्त की, उसी प्रकार नही कही जा सकती। इसी प्रकार दूसरा भी उस साधु की बात ज्यो की त्यो कह नही सकता। कारण वही पूर्वोक्त है। यदि साधु बिना सोचे-विचारे जो मन मे आया, सो कहता चला जाएगा तो एक नही, अनेक आपत्तियाँ आती चली जाएँगी, जिनका हटाना कठिन होगा।[३५]

---

३२ (क) दशवै पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म), ७०१
(ख) 'कम्महेउय नाम सिक्खा पुव्वग ति वुत्त भवति।' —जिन चू, पृ २५९
(ग) अचक्किय नाम असक्क, को एतस्स मोल्ल करेउ समत्थो त्ति, एव अचक्कि य भण्णइ अचिंतं नाम ण एतस्स गुणा अम्हारिसेहिं पागएहिं चिंतिज्जति। —जि चू., पृ २६०
(घ) दशवै पत्राकार (आ आत्मा), प ७०९
(ङ) 'नाऽधिकारोऽत्र तपस्विना व्यापाराभावात्।' —हा वृ, पत्र २२१

३३ दशवै. पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म), प ७०२

३४. दशवै पत्राकार (आ आत्मा.), प ७०४, ७०७, ७०८

३५. वही, पत्राकार, प ७०६

असाधु और साधु कहने का विवेक

३७९. बहवे इमे असाहू लोए वुच्चंति साहुणो।
न लवे असाहुं साहु त्ति, साहुं साहु त्ति आलवे ॥४८॥

३८०. णाण-दंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं।
एवं गुणसमाउत्तं संजयं साहुमालवे ॥४९॥

[३९९] ये बहुत से असाधु लोक में साधु कहलाते हैं; किन्तु (निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी) असाधु को—'यह साधु है,' इस प्रकार न कहे, (अपितु) साधु को ही—'यह साधु है,' इस प्रकार कहे ॥४९॥

[३८०] ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न तथा संयम और तप में रत—इस प्रकार के सद्गुणो से समायुक्त (सम्पन्न) सयमी को ही साधु कहे ॥५०॥

विवेचन—किसको असाधु कहा जाए, किसको साधु ?—प्रस्तुत दो सूत्रगाथाओ (३७९-३८०) मे जनता मे साधु नाम से प्रख्यात किन्तु वस्तुत असाधु को साधु कहने का निषेध तथा साधु के लक्षणों से सम्पन्न को साधु कहने का विधान किया गया है।

लोकव्यवहार में साधु, गुणो से असाधु—जिसे वेषभूषा या अमुक क्रियाकाण्ड से जनसाधारण मे साधु कहा जाता है किन्तु जो गुणो से साधु नही है उसके विषय मे साधु या साध्वी क्या कहे ? इसी का समाधान इन दोनों गाथाओ मे है। तात्पर्य यह है कि साधु का वेष धारण करने मात्र से कोई साधु नही हो जाता। अतएव पूर्वोक्त गाथा मे दिये गए साधु के लक्षणो से युक्त सयमी को ही साधु कहे। असाधु को वेषधारी या द्रव्यलिंगी कहा जा सकता है। परन्तु जिसका दुनिया में अपवाद नही है, जिसका व्यवहार शुद्ध है, प्रशसनीय है, उसी पर से निर्णय करके उसे साधु कहना चाहिए। निश्चय तो केवली भगवान् ही जानते है कि कौन-व्यक्ति कैसा है ? प्रकट रूप मे व्यवहारशुद्धि ही देखी जाती है।[३६]

जय-पराजय, प्रकृतिकोपादि एवं मिथ्यावाद के प्ररूपण का निषेध

३८१. देवाणं मणुयाणं च तिरियाणं च वुग्गहे।
अमुगाणं जओ होउ, मा वा होउ त्ति नो वए ॥५०॥

३८२. वाओ वुट्ठं व सीउण्हं खेमं धायं सिवं ति वा।
कया णु होज्ज एयाणि ? मा वा होउ त्ति नो वए ॥५१॥

३८३. तहेव मेहं व नहं व माणवं, न देव देव त्ति गिरं वएज्जा।
संमुच्छिए उन्नए वा पओदे, वएज्ज वा 'वुट्ठे बलाहए' त्ति ॥५२॥

---

३६ (क) दशवैकालिकसूत्र, पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), प. ७१२, ७१३
(ख) जे णिव्वाणसाहए जोगे साधयति ते भावसाधवो भण्णति। —जिन चूर्णि, पृ. २६१

३८४. 'अंतलिक्खे' त्ति णं बूया, 'गुज्झाणुचरियं' ति य ।
रिद्धिमंतं नरं दिस्स 'रिद्धिमंतं' ति आलवे ।।५३।।

[३८१] देवो का, मनुष्यो का अथवा तिर्यञ्चों (पशु-पक्षियो) का परस्पर सग्राम (विग्रह या कलह) होने पर अमुक (पक्षवालो) की विजय हो, अथवा (अमुक पक्ष वालो की) विजय न हो,—इस प्रकार न कहे ।।५०।।

[३८२] वायु, वृष्टि, सर्दी, गर्मी, क्षेम (रोगादि उपद्रव से शान्ति), सुभिक्ष अथवा शिव (कल्याण), ये कब होगे ? अथवा ये न हो (तो अच्छा रहे,) इस प्रकार न कहे ।।५१।।

[३८३] इसी प्रकार (साधु या साध्वी) मेघ को, आकाश को अथवा मानव को—'यह देव है, यह देव है,' इस प्रकार की भाषा न बोले । (किन्तु मेघ को देख कर)—'यह मेघ चढा हुआ' (उमड रहा है), अथवा उन्नत हो रहा है (झुक रहा है) यह मेघमाला (बलाहक) बरस पडी है, इस प्रकार बोले ।।५२।।

[३८४] (भाषाविवेकनिपुण साधु या साध्वी) नभ (और मेघ) अन्तरिक्ष तथा गुह्यानुचरित (गुह्यक देवो द्वारा सेवित अथवा देवो के आवागमन का गुप्त मार्ग है, इस प्रकार कहे तथा ऋद्धिमान् मनुष्य को देख कर—'यह ऋद्धिशाली है,' ऐसा कहे ।।५३।।

विवेचन—जय-पराजय-विषयक कथन में दोष—पारस्परिक युद्ध या द्वन्द्व, चाहे देवो का हो, मनुष्यो का हो अथवा तिर्यञ्चो का, साधु को यह कदापि नही कहना चाहिए कि अमुक पक्ष या व्यक्ति की विजय हो, अमुक की हार हो, क्योकि इस प्रकार कहने से युद्ध के अनुमोदन का दोष लगता है । दूसरे पक्ष को उत्पन्न होता है, आघात पहुँचता है, अधिकरणादि दोषो की सम्भावना रहती है । अत ऐसी भाषा कर्मबन्ध का कारण होती है ।[३७]

वायु, वर्षा आदि के होने, न होने के विषय में बोलने का निषेध—जिसमे अपनी और दूसरो की शारीरिक सुख-सुविधा अथवा धूप आदि से पीडित साधु को अपनी पीडानिवृत्ति के लिए अनुकूल स्थिति के होने (हवा, वृष्टि, सर्दी-गर्मी, उपद्रवशमन, सुभिक्ष तथा दैविक उपसर्ग की शक्ति आदि) तथा प्रतिकूल परिस्थिति के न होने की आशका हो, ऐसा वचन साधु या साध्वी न कहे । क्योकि जो बाते प्राकृतिक हैं, उनके होने, न होने के विषय मे साधु को कुछ कहना ठीक नही । साधु द्वारा इस प्रकार के कथन करने से अधिकरण दोष का प्रसग तो है ही, दूसरे, साधु के कथन के अनुसार वायु, वृष्टि आदि के होने से वायुकाय जलकायादि के जीवो की विराधना का अनुमोदन तथा कई लोगो को वायु-वृष्टि आदि से पीडा या हानि भी हो सकती है । साधु के कहे अनुसार यदि पूर्वोक्त कार्य न हों तो उसे स्वय को आर्त्तध्यान होगा, तथा श्रोता की धर्म एव धर्मगुरु (मुनि) पर से श्रद्धा कम हो

३७ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पत्राकार, पत्र ७१४
(ख) जिन चूर्णि, पृ २६२
(ग) हारि वृत्ति, पत्र २२२

जाएगी। इस प्रकार की और भी बहुत हानिया है। अत प्रकृति की उक्त क्रियाओं के विषय मे साधु को भविष्य कथन या सम्मतिप्रदान कदापि नही करनी चाहिए।[३८]

खेमं धायं सिवं ति वा : विभिन्न अर्थ—क्षेम का अर्थ—शत्रुसेना (परचक्र) आदि का उपद्रव न होने की स्थिति है, अथवा टीकाकार के मतानुसार—क्षेम का अर्थ राजरोग का अभाव होना है। 'धाय' का अर्थ है सुभिक्ष और सिव (शिव) का अर्थ है रोग-महामारी का अभाव, उपद्रव का अभाव।[३९]

'तहेव मेहं व०' गाथा का फलितार्थ—निर्ग्रन्थ साधु के समक्ष जब यह प्रश्न उपस्थित हो कि प्रश्नोपनिषद् आदि वैदिक धर्मग्रन्थो मे आकाश, वायु, मानव, अग्नि, जल आदि को देव कहा गया है, ऐसी स्थिति मे आप क्या कहते है ?, इसके समाधान मे यह गाथा है। इसमे कहा गया है कि निर्ग्रन्थ साधु-साध्वी सत्यमहाव्रती है, जिसका जैसा स्वरूप है, वैसा ही कथन करना उनके लिए अभीष्ट है। अत मेघ, आकाश और (ब्राह्मण या क्षत्रिय) मानव आदि को देव कहना अत्युक्तिपूर्ण है। ये देव नही है, इन्हे देव कहने से मिथ्यात्व की स्थापना और मानव मे लघुता (हीनता) आदि की भावना आती है, साथ ही मृषावाद का दोष लगता है। जनता मे मिथ्या धारणा न फैले, इसलिए यह निषेध किया है। वस्तुत यह कथन इन सबको देव कहने का प्रतिषेधक है; उपमालकारादि की अपेक्षा से नही।[४०]

प्रश्न उपस्थित होता है कि मेघ, आकाश एव ऋद्धिशाली मनुष्य आदि को क्या कहा जाए ? इसके समाधानार्थ इस गाथा का उत्तरार्द्ध तथा अगली गाथा प्रस्तुत है। इसका फलितार्थ यह है कि जब आकाश मे बादल उमड-घुमडकर चढ आएँ, तब आकाशदेव मे मेघदेव चढ आए हैं, ऐसा न कह कर आकाश मे मेघ चढा हुआ आ रहा है। बरसने लगे तो कहना चाहिए कि मेघ बरस रहा है। मेघ (बादल) को जैनशास्त्रो मे पुद्गलो का समूह माना गया है। नभ और मेघ को अन्तरिक्ष को गुह्यानुचरित अर्थात्—देवसेवित (अथवा देवो के चलने का मार्ग) कहे। ऋद्धिमान् वैभवशाली एव चमत्कारी मनुष्य को प्राचीन काल मे देव या भगवान् कहने का रिवाज था, परन्तु यहाँ बताया गया है कि ऋद्धिमान् को देव या भगवान् न कह कर 'ऋद्धिमान्' कहे। तात्पर्य यह है कि जो वस्तु जिस प्रकार

---

३८ (क) एताणि सरीरसुहहेउ पयाण वा आससमाणो 'णो वदे। —अ चू, पृ. १७७
(ख) दशवै पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ७१७

३९ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ७१७
(ख) क्षेम—राजविज्वरशून्यम्।
(ग) ध्रात सुभिक्षम्। शिव इति चोपसर्गरहितम्॥ —हारि वृत्ति, पृ. २२३

४० (क) प्रश्नोपनिषद्, प्रश्न २।२
(ख) मनुस्मृति अ ७।८, महाभा शान्ति ६८।४०
(ग) 'मिथ्यावाद-लाघवादि-प्रसगात्।' —हा. वृ., पृ २२३
(घ) तत्थ मिच्छत्तथिरीकरणादि दोसा भवति। —जि. चूर्णि, पृ २६२
(ङ) दशवै पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी), पत्र ७१८-७१९

से हो, उसे उसी प्रकार से कहना चाहिए। मिथ्या प्रशसा या झूठी अद्भुतता व्यक्त नही करनी चाहिए।[४१]

भाषाशुद्धि का अभ्यास अनिवार्य

३८५. तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
से कोह-लोह-भयसा व + माणवो,
न हासमाणो वि गिर वएज्जा ॥५४॥

३८६. *सु-वक्कसुद्धिं समुपेहिया मुणी,
गिरं च दुट्ठं परिवज्जए सया।
मियं अदुट्ठं अणुवीइ भासए,
सयाण मज्झे लहई पसंसणं ॥५५॥

३८७ भासाए दोसे य गुणे य जाणिया,
तीसे य ×दुट्ठाए विवज्जए सया।
छसु संजए सामणिए सया जए,
वएज्ज बुद्धे हियमाणुलोमियं ॥५६॥

[३८५] इसी प्रकार जो भाषा सावद्य (पाप-कर्म) का अनुमोदन करने वाली हो, जो निश्चयकारिणी (और सशयकारिणी हो) एव पर-उपघातकारिणी हो, उसे क्रोध, लोभ, भय (मान) या हास्यवश भी (साधु या साध्वी) न बोले ॥५४॥

[३८६] जो मुनि श्रेष्ठ वचनशुद्धि का सम्यक् सम्प्रेक्षण करके दोषयुक्त भाषा को सर्वदा सर्वथा छोड देता है तथा परिमित और दोषरहित वचन पूर्वापर विचार करके बोलता है, वह सत्पुरुषो के मध्य मे प्रशसा प्राप्त करता है ॥५५॥

[३८७] षड्जीवनिकाय के प्रति सयत (सम्यक् यतना करने वाला) तथा श्रामण्यभाव मे सदा यत्नशील (सावधान) रहने वाला प्रबुद्ध (तत्त्वज्ञ) साधु भाषा के दोषो और गुणो को जान कर एव उसमे से दोषयुक्त भाषा को सदा के लिए छोड दे और हितकारी तथा आनुलोमिक (सभी प्राणियो के लिए अनुकूल) वचन बोले ॥५६॥

---

४१ (क) दशवै पत्राकार, (आ. आत्माराम जी), पृ ७१८-७१९
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ९९
(ग) तत्थ नभ अतलिक्खति वा वदेज्जा गुज्झाणुचरित ति वा। ''मेहोवि अतलिक्खो भण्णइ, गुज्झगाणुचरिओ भण्णइ॥ —जि चू पृ २६३

पाठान्तर—+भय-हास माणवो। *सवक्कसुद्धिं। ×दुट्ठं।

विवेचन—अध्ययन का सारांश—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ (३८५ से ३८७ तक) मे इस अध्ययन में प्रतिपादित भाषाशुद्धि के विवेक का साराश दिया गया है।

भाषाविवेकसूत्र ये है—(१) सावद्य की अनुमोदिनी, (२) अवधारिणी (निश्चयकारिणी या सशयकारिणी), (३) परोपघातिनी तथा (४) क्रोध-लोभ-भय-हास्य से प्रेरित भाषा न बोले, (५) सुवाक्यशुद्धि का सम्यक् विचार करे, (६) दोषयुक्त वाणी का त्याग करे, (७) पूर्वापर विचार करके दोषरहित वाणी बोले, (८) भाषा के दोषो और गुणो को जाने, (९) षट्काय के प्रति सयत और सदा यत्नवान् होकर प्रबुद्ध साधु स्व-पर-हितकर और प्राणियो के लिए अनुकूल (मधुर) भाषा का ही प्रयोग करे।[४२]

सावज्जानुमोयिनी आदि शब्दों की व्याख्या—सावद्यानुमोदिनी—जो भाषा पापकर्म का अनुमोदन करने वाली हो, यथा—"अच्छा हुआ, यह पापी ग्राम नष्ट कर दिया गया।" **अवधारिणी : दो अर्थ**—(१) निश्चयकारिणी यथा—'यह ऐसा ही है।' अथवा 'यह बुरा ही है।' (२) अथवा सदिग्ध वस्तु के विषय मे असदिग्ध वचन बोलना, जैसे—'भते! यह ऐसा ही है।' अथवा (३) सशयकारिणी यथा—यह चोर है या परस्त्रीगामी? **परोपघातिनी**—जिसके बोलने से दूसरे जीवो को पीडा पहुँचती हो, यथा—मास खाने मे कोई दोष नही है। **सुवक्क-सुद्धि, सवक्कसुद्धि—चार रूप : चार अर्थ**—(१) स वाक्यशुद्धि—वह मुनि वाक्यशुद्धि को, (२) सद्वाक्यशुद्धि—सद्वाक्य की शुद्धि को, (३) स्ववाक्यशुद्धि—अपने वाक्य की शुद्धि को, (४) सुवाक्यशुद्धि—श्रेष्ठ वाक्—(वचन) की शुद्धि को (विचार कर)। **हियाणुलोमियं**—सर्वजीवहितकर तथा मधुर होने से सबको रुचिकर या अनुकूल।[४३]

भयसा व माणवो—हे मानव (साधो!) हँसी मे सावद्य का अनुमोदन करने वाली भाषा न बोले, भय, क्रोधादि से बोलने की तो बात ही दूर! तत्त्व केवलिगम्य या बहुश्रुतगम्य।[४४]

---

४२. दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ ५३

४३ (क) दशवै पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पत्र ७२१

(ख) अवधारिणी-इदमित्थमेवेति, सशयकारिणी वा।
अवधारिणीम्—अशोभन एवाऽयमित्यादिरूपाम्। —हा वृ, प २५३-२५४

(ग) "ओधारिणीमसदिद्धरूव सदिद्धे विभणित च—"से णूण भते!
मण्णामीति ओधारिणी भासा।" —अग चूर्णि, पृ. १७८

(घ) तत्थ ओहारिणी सकिया भण्णति। जहा—एसो चोरो, पारदारिओ? एवमादि
—जिन चूर्णि., पृ. ३२१

(ङ) दशवै. पत्राकार, (आ. आत्मा), पत्र ७२३

४४ (क) माणवा! इति मणुस्सामतण, "मणुस्सेसु धम्मोवदेस" इति। —अ. चू, पृ १७८

(ख) माणवा इति मणुस्सजातीए एस साहुधम्मोत्ति काऊण मणुस्सामतण कय, जहा—हे माणवा!

(ग) मानव —पुमान् साधु। —हा. वृ, पत्र २२३

(घ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ. ३६७

भाषाशुद्धि की फलश्रुति

३८८. परिक्खभासी सुसमाहिइंदिए, चउक्कसायावगए अणिस्सिए।
स निद्धुणे धुण्णमलं पुरेकडं, आराहए लोगमिणं तहा परं ॥५७॥
—त्ति बेमि ॥

॥ सत्तमं वक्कसुद्धि-अज्झयणं समत्तं ॥७॥

[३८८] (जो साधु गुण-दोषो की) परीक्षा करके बोलने वाला है, जिसकी इन्द्रियाँ सुसमाहित हैं, (जो) चार कषायो से रहित है, (जो) अनिश्रित (प्रतिबन्धरहित या तटस्थ) है, वह पूर्वकृत पाप-मल को नष्ट करके इस लोक तथा परलोक का आराधक होता है। —ऐसा मैं कहता हूँ ॥

विवेचन—परीक्ष्यभाषी की अर्हता और उपलब्धि—जो साधु सुसमाहितेन्द्रिय, कषायो से रहित तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के प्रतिबन्ध से मुक्त-तटस्थ है, वही वचन के गुण-दोषो की परख करके बोल पाता है। तप-सयम के प्रभाव से पूर्वकृत वही पाप-मल को नष्ट कर डालता है, अपने सुन्दर सयम से सत्पुरुषो मे इस लोक मे मान्य बनता है तथा परलोक मे उत्तम देवलोक या सिद्धगति को प्राप्त कर लेता है। यह उसकी सर्वोत्तम उपलब्धि है।[४५]

॥ सप्तम : वाक्यशुद्धि-अध्ययन समाप्त ॥

---

४५. धुन्नमल—पापमल। —हारि वृत्ति, २२४

अट्ठमं अज्झयणं : आयारपणिही

अष्टम अध्ययन : आचार-प्रणिधि

प्राथमिक

☐ यह दशवैकालिकसूत्र का आचार-प्रणिधि नामक आठवाँ अध्ययन है।

☐ आचार का वर्णन पहले तृतीय अध्ययन मे सक्षेप से और छठे अध्ययन मे विस्तार से किया गया है। इसका मुख्य प्रतिपाद्य है—आचार का प्रणिधान।[1]

☐ बँधी-बँधाई आचारसहिता पर चलना आसान है। जो आचार-विषयक नियमोपनियम तृतीय और छठे अध्ययन मे बताए है, उन्हे स्थूलरूप से पालना सहज है। परन्तु आचार को पाकर निर्ग्रन्थ साधु या साध्वी को कैसे चलना चाहिए? आचार की सरिता मे अवगाहन करते समय मन, वचन, काया एव इन्द्रियो को किस प्रकार प्रवाहित करना चाहिए? यही पथप्रदर्शन इस अध्ययन मे है। क्योकि कई बार साधक स्थूल दृष्टि से आचार का पालन करता हुआ भी अन्तरग से आचार मे निष्ठा, एकाग्रता या प्रवृत्ति नही कर पाता। जिस प्रकार उच्छृखल घोड़े सारथी को उत्पथ पर ले जाते हैं, वैसे ही दुष्प्रणिहित (रागद्वेषयुक्त) इन्द्रियाँ साधक को उत्पथ मे भटका देती है। यह इन्द्रियो का दुष्प्रणिधान है। शब्दादि विषयो में इन्द्रियो का रागद्वेषयुक्त लगाव न होना—समत्वयुक्त प्रवृत्ति होना इन्द्रियो का सुप्रणिधान है। इसी प्रकार मन क्रोधादि कषाय या राग, द्वेष, मोह के प्रवाह मे पडकर भटक जाता है, इसे मन का दुष्प्रणिधान कहते है। किन्तु कषायो तथा रागद्वेषादि के प्रवाह मे मन को न बहने देना, मन का सुप्रणिधान है।[2]

☐ अत 'आचार-प्रणिधि' का अर्थ हुआ—आचार मे इन्द्रियो और मन को सुप्रणिहित करना, एकाग्र करना या निहित करना। जिस प्रकार निधान (खजाने) मे धन को सुरक्षित रखा जाता है, उसी प्रकार आचाररूपी धन को सुरक्षित रखने के लिए यह अध्ययन आचार की प्रकर्ष (उत्कृष्ट) निधि (निधान) है।

---

१ 'जो पुव्वि उद्दिट्ठो, आयारो सो अहीणमइरित्तो।' —दश. निर्युक्ति, गा २९३

२ (क) दशवै (सतबालजी), पृ. १०१

(ख) जस्स खलु दुप्पणिहिआणि इदिआइ तव चरतस्स।
सो हीरइ असहीणेहि सारही वा तुरंगेहिं ॥२९९॥
सामन्नमणुचरतस्स कसाया जस्स उक्कडा होंति।
मन्नामि उच्छुपुप्फुल्ल व, निप्फल तस्स सामन्न ॥३०१॥ —दशवै. निर्युक्ति, गा २९९-३०१

- आचार की अन्तरग निष्ठा या एकाग्रतापूर्वक आराधना करने वाले साधु या साध्वी को शक्ति होते हुए भी क्षमा रखनी पड़ती है, स्वय मे ज्ञान, बल, अधिकार और उच्च गुण होते हुए भी सामान्यजनो के प्रति समता और नम्रता धारण करनी पडती है। विरोध करने और शत्रुता रखने वाले व्यक्ति के प्रति भी समभाव रखना पडता है। अपने से आचार-पालन मे दुर्बल अथवा स्थूल दृष्टि से क्रियाकाण्ड मे मन्द अथवा शास्त्रीय ज्ञान मे न्यून साधको के प्रति भी राग-द्वेष या मोह न करके समभाव रखना पडता है, दूसरो मे गुणो की कमी होने पर भी सहन करना पडता है। सैकडो सेवक या भक्त हाजिर होते हुए भी स्वावलम्बी और सयमी बनना पडता है। सुख-सुविधाओ और प्रलोभनो के सरल प्रतीत होने वाले पथ पर चलने के लिए मन को शिथिल और चचल न बनाते हुए त्याग, तप और सयम की सकीर्ण पगडडी पर सावधानीपूर्वक चलना पडता है। सदाचार के पथ पर चलते हुए प्रतिक्षण हर मोड़ पर जागृत रहना पडता है। यही है आचार की प्रणिधि अर्थात् आचार को पाकर साधु को उसमे एकाग्रता, निष्ठा, मन-वचन-काय एव इन्द्रियो की सुप्रणिहितता करनी है।[3]
- यह अध्ययन, 'प्रत्याख्यान-प्रवाद' नामक नौवे पूर्व की तीसरी वस्तु से उद्धृत किया गया है।[4] इसमे नेत्र, श्रोत्र आदि के दृष्ट, श्रुत के विघातक अश को प्रकाशित करने का निषेध है, मन को स्वाध्याय, ध्यान आदि मे लगाने का विधान है। कषायविजय, निद्राविजय, अट्टहास-विरति, श्रद्धा-सातत्य, भावविशुद्धि, काय-ममत्व-विसर्जन, त्यागपथ पर बढने की प्रेरणा एव दैनिक व्यवहार मे सावधानी का सुन्दर निर्देश है।
- अन्त मे आत्मा से परमात्मा बनने की परकाष्ठा पर आचारप्रणिधि की पूर्णता बताई गई है।[5]

---

३. (क) तम्हा अप्पसत्थ, पणिहाण उज्झिऊण समणेण। पणिहाणमि पसत्थे भणिओ आयारपणिहि त्ति ॥३०८ दश नि.

(ख) दशवै (सतबालजी) १०१-१०२

४. दश. निर्यु १।१७

५. दशवै. अ ९।२०-२१, २७, ६१, ६३

अट्ठमं अज्झयणं : आयारपणिहि

अष्टम अध्ययन : आचार-प्रणिधि

आचार-प्रणिधि की प्राप्ति के पश्चात् कर्त्तव्य-निर्देश की प्रतिज्ञा

३८९. आयारपणिहिं* लद्धुं जहा कायव्व भिक्खुणा।
तं मे उदाहरिस्सामि आणुपुव्वि सुणेह मे ॥१॥

[३८९] आचार-प्रणिधि (आचाररूप उत्कृष्ट निधि) को पाकर, भिक्षु को जिस प्रकार (जो) करना चाहिए, वह (प्रकार) मैं तुम्हे कहूँगा, जिसे तुम अनुक्रम से मुझसे सुनो ॥१॥

विवेचन—आचारप्रणिधि : व्याख्या—प्रणिधि का अर्थ है—उत्कृष्ट निधि, खजाना या कोष अथवा समाधि या एकाग्रता अर्थात् आचार के सर्वात्मना अध्यवसाय या दृढ मानसिक सकल्प या इन्द्रियो और मन को आचार मे निहित या प्रवृत्त करना या एकाग्र करना।[1] **लद्धुं**—प्राप्त कर अथवा पाने के लिए। जिनदासचूर्णि के अनुसार अर्थ है—आचारप्रणिधि की प्राप्ति के लिए।[2]

विभिन्न पहलुओं से विविध जीवों की हिंसा का निषेध

३९०. पुढवि-दग-अगणि-मारुय-तण-रुक्ख□ सबीयगा।
तसा य पाणा जीव त्ति, इइ वुत्तं महेसिणा ॥२॥

३९१. तेसिं अच्छणजोएण निच्चं होयव्वयं सिया।
मणसा काय-वक्केण एवं भवइ संजए ॥३॥

३९२. पुढवि भित्तिं सिल लेलुं, नेव भिंदे, न संलिहे।
तिविहेण करण जोएण, संजए सुसमाहिए ॥४॥

३९३. सुद्धपुढवीए न निसिए ससरक्खम्मि य आसणे।
पमज्जित्तु निसीएज्जा +जाइत्ता जस्स उग्गहं ॥५॥

---

१ (क) दशवै (पत्राकार, आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ ७३०
(ख) आयारप्पणिधी—आयारे सव्वप्पणा अज्झवसातो। —अगस्त्यचूर्णि पृ १८४
(ग) दशवै निर्युक्ति गा २९९

२. (क) लद्धु—पाविऊण। —अग चू, पृ १८४
(ख) लब्धु—प्राप्तये। —जिनदासचूर्णि, पृ २७१

पाठान्तर—* आयारप्पणिहिं।

पाठान्तर—□ रुक्खस्स बीयगा ॥ सया।
+ जाणित्तु जाइयोग्गह।

३९४. सीओदगं न सेवेज्जा सिला वुट्ठं हिमाणि य।
उसिणोदगं तत्तफासुय पडिगाहेज्ज संजए ॥६॥

३९५. उदओल्लं अप्पणो कायं नेव पुंछे न संलिहे।
समुप्पेह तहाभूयं नो ण संघट्टए मुणी ॥७॥

३९६. इंगालं अगणिं अच्चिं अलायं वा सजोइयं।
न उजेज्जा न घट्टेज्जा, नो णं निव्वावए मुणी ॥८॥

३९७. तालियंटेण पत्तेण साहाविहुयणेण वा।
न वीएज्ज अप्पणो कायं, बाहिरं वा पि पोग्गलं ॥९॥

३९८. तणरुक्खं न छिदेज्जा फलं मूलं व कस्सइ।
आमगं विविहं बीयं मणसा वि न पत्थए ॥१०॥

३९९. गहणेसु न चिट्ठेज्जा बीएसु हरिएसु वा।
उदगम्मि तहा निच्चं उत्तिंग-पणगेसु वा ॥११॥

४००. तसे पाणे न हिंसेज्जा वाया अदुव कम्मुणा।
उवरओ सव्वभूएसु पासेज्ज विविह जग ॥१२॥

[३९०] पृथ्वी (-काय), अप्काय, अग्निकाय, वायुकाय तथा तृण, वृक्ष और बीज (रूप वनस्पतिकाय) [अथवा बीजपर्यन्त तृण, वृक्ष] तथा त्रस प्राणी, ये जीव है, ऐसा महर्षि (महावीर) ने कहा है ॥२॥

[३९१] (साधु या साध्वी को) उन (पूर्वोक्त स्थावर-त्रस जीवो) के प्रति मन, वचन और काया से सदा अहिंसामय व्यापारपूर्वक ही रहना चाहिए। इस प्रकार (अहिंसकवृत्ति मे रहने वाला) संयत (सयमी) होता है ॥३॥

[३९२] सुसमाहित सयमी (साधु या साध्वी) तीन करण तीन योग से (सचित्त) पृथ्वी, भित्ति (दरार), (सचित्त) शिला अथवा मिट्टी का, ढेले का स्वय भेदन न करे और न उसे कुरेदे, (दूसरो से भेदन न कराए, न ही कुरेदाए तथा अन्य कोई इनका भेदन करता हो या कुरेदता हो तो उसका अनुमोदन मन-वचन-काया से न करे) ॥४॥

[३९३] (साधु या साध्वी) शुद्ध (अशस्त्रपरिणत-सचित्त) पृथ्वी और सचित्त रज से ससृष्ट (भरे हुए) आसन पर न बैठे। (यदि बैठना हो तो) जिसकी वह भूमि हो, उससे आज्ञा (अवग्रह) माग कर तथा उसका प्रमार्जन करके (उस अचित्त भूमि पर) बैठे ॥५॥

[३९४] सयमी (साधु या साध्वी) शीत (सचित्त) उदक (जल), ओले, वर्षा के जल और हिम (बर्फ) का सेवन न करे। (आवश्यकता पडने पर अच्छी तरह) तपा हुआ (तप्त) गर्म जल तथा प्रासुक (वर्णादिपरिणत धोवन) जल ही ग्रहण करे (और सेवन करे) ॥६॥

[३९५] मुनि सचित्त जल से भीगे हुए अपने शरीर को न तो पोछे और न ही (हाथो से) मले। तथाभूत (सचित्त जल से भीगे) शरीर को देखकर, उसका (जरा भी) स्पर्श (सघट्टा) न करे ।।७।।

[३९६] मुनि जलते हुए अगारे, अग्नि, त्रुटित अग्नि की ज्वाला (चिनगारी), ज्योति-सहित अलात (जलती हुई लकडी) को न प्रदीप्त करे (सुलगाए), न हिलाए (न परस्पर घर्षण करे या स्पर्श करे) और न उसे बुझाए ।।८।।

[३९७] (साधु या साध्वी) ताड के पखे से, पत्ते से, वृक्ष की शाखा से अथवा सामान्य पखे (व्यजन) से अपने शरीर को अथवा बाह्य (गर्म दूध आदि) पुद्गल (पदार्थ) को भी हवा न करे ।।९।।

[३९८] (अहिंसामहाव्रती मुनि) तृण (हरी घास आदि), वृक्ष, (किसी भी वृक्ष के) फल, तथा (किसी भी वनस्पति के) मूल का छेदन न करे, (यही नही) विविध प्रकार के सचित्त बीजो (तथा कच्ची अशस्त्रपरिणत वनस्पतियो के सेवन) की मन से भी इच्छा न करे ।।१०।।

[३९९] (मुनि) वनकु जो मे, बीजो पर, हरित (दूब आदि हरी वनस्पति) पर तथा उदक, उत्तिग और पनक (काई) पर खडा न रहे ।।११।।

[४००] (मुनि) वचन अथवा कर्म (कार्य) से त्रस प्राणियो की हिसा न करे। समस्त जीवो की हिसा से उपरत (साधु या साध्वी) विविध स्वरूप वाले जगत् (प्राणिजगत्) को (विवेकपूर्वक) देखे ।।१२।।

विवेचन—अहिंसा के आचार को जीवन मे चरितार्थ करने के उपाय—प्रस्तुत ११ सूत्र-गाथाओ (३९० से ४००) मे जीवो के विविध प्रकार और उनकी विविध प्रकार से मन-वचन-काया से तथा कृत-कारित-अनुमोदन से होने वाली हिसा से बचने और अहिसा को साधुजीवन की प्रत्येक प्रवृत्ति मे क्रियान्वित करने का निर्देश किया है।

'सबीयगा' आदि शब्दों के विशेषार्थ—सबीयगा—बीजपर्यन्त—जिनदासचूर्णि के अनुसार—**'सबीज'** शब्द के द्वारा वनस्पति के बीजपर्यन्त दस भेदो का ग्रहण किया गया है—मूल, कन्द, स्कन्ध, त्वचा (छाल), शाखा, प्रवाल, पत्र, पुष्प, फल और बीज। **अच्छणजोएण**—'क्षण' का अर्थ—हिंसा है। अक्षण, अर्थात्—अहिंसा। 'योग' का अर्थ—सम्बन्ध या व्यापार है। इसका भावार्थ है—**अहिंसामय** वृत्ति (व्यापार) पूर्वक। **भित्ति : दो अर्थ**—भीत और पर्वतादि की दरार अथवा नदीतट। अर्थात् नदी के किनारे जो मिट्टी की ऊँची दीवार बन जाती है, वह भित्ति है। **सीओदगं—शीतोदक**—भूमि के आश्रित सचित्त जल। **वुट्ठं**—वृष्ट—वृष्टि का जल, अन्तरिक्ष का जल। **उसिणोदकं तत्तफासुयं**—उष्णोदक—तप्तप्रासुक—उष्ण जल तो तप्त भी होता है और प्रासुक भी, फिर उष्णोदक के साथ तप्त-प्रासुक विशेषण लगाने का प्रयोजन यह है कि सारा उष्णोदक तप्त व प्रासुक नहीं होता, किन्तु

पर्याप्त मात्रा मे उबल जाने पर ही वह तप्तप्रासुक होता है, इसलिए उष्णोदक के साथ तप्त-प्रासुक विशेषण लगाया गया है। पूर्णमात्रा मे उबाला हुआ उष्णोदक ही मुनियो के लिए ग्राह्य है।[3]

इसके अतिरिक्त जिन कुण्डो मे पानी स्वाभाविक रूप से गर्म होता है, जैसे राजगृह आदि अनेक स्थलो मे ऐसे कुण्ड हैं जिनका पानी बहुत गर्म होता है उसमे चावल आदि भी पक जाते है। पर वह गर्म प्रासुक नही होगा। उस पानी मे उष्णयोनिक जीव होते है, जिससे उन कुण्डो का उष्ण पानी श्रमण के लिए ग्राह्य नही होता, यह प्रकट करने के लिए यह विशेषण प्रयुक्त किया गया है।

उदउल्लं-उदकार्द्र—मुनि के शरीर को भीगने के तीन प्रसग आते है—(१) जब वे नदी पार करते है, (२) विहार करते समय वर्षा आ जाती है, अथवा (३) भिक्षाटन आदि के समय वर्षा आ जाती है। **'पुंछे' एवं 'सलिहे' में अन्तर**—वस्त्र, तृण आदि से पोछना प्रोछन और हाथ, उगली आदि से पोछना सलेखन कहलाता है। **बाहिरं पोग्गलं—बाह्य पुद्गल**—इसका अर्थ है—अपने शरीर से अतिरिक्त गर्म जल या गर्म दूध, खिचडी आदि। **तणरुक्ख**—'तृण' शब्द से यहाँ सभी प्रकार के घासो तथा रुक्ख शब्द से खजूर, ताड, नारियल, सुपारी आदि सभी प्रकार के वृक्षो एव गुच्छ, गुल्म आदि का ग्रहण किया गया है। **गहणेसु** वृक्षो से आच्छन्न प्रदेशो मे अर्थात्-- वननिकु जो मे। इनमे हलन-चलन करने से वृक्ष की शाखा आदि का स्पर्श होने की सभावना रहती है, इसलिए यहाँ ठहरने का निषेध किया गया है। **उदगम्मि : उदक पर** उदक शब्द के दो अर्थ होते है- -जल और उदक नामक वनस्पति। प्रज्ञापना मे अनन्तकायिक वनस्पति के प्रकरण मे 'उदक' नामक वनस्पति का निरूपण है। जल मे होने वाली वनस्पति के कारण इसका नाम 'उदक' है। यह अनन्तकायिक वनस्पति है। **उत्तिंग**--यहाँ उत्तिग का अर्थ सर्पच्छत्र या कुकुरमुत्ता है, जो बरसात के दिनो मे होता है। **ण चिट्ठे**—इसका खडा न रहे अर्थ होता है। किन्तु यह शब्द न बैठे, न सोए आदि क्रियाओ का सग्राहक है। **विविह—विविध**—अर्थात् हीन, मध्यम और उत्कृष्ट, अथवा कर्मपरतन्त्रता के कारण नरकादि गतियो मे उत्पन्न—विभिन्न प्रकार के जीव।[4]

पृथ्वी के भेदन-विलेखन तथा शुद्ध पृथ्वी पर बैठने आदि का निषेध क्यो ?- पृथ्वी के भेदन और विलेखन आदि करने से पृथ्वी सचित्त हो तो उसकी और तदाश्रित जीवो की तथा अचित्त हो

---

३ (क) सवीयगहणेण मूलकदादि-बीजपज्जवसाणस्स पुव्वभणितस्स दसप्पगारस्स वणप्फतिणो गहण। —जि चू, पृ २७४

(ख) छणण छण क्षणु हिसायमिति एयस्स रूव। ण छण अछण, अहिंसणमित्यर्थ। जोगो सम्बधो। अच्छणेण अहिंसणेण जोगो जस्स सो अच्छणजोगो तेण। —अ चू, पृ १८५

(ग) अक्षणयोगेन—अहिंसाव्यापारेण। —हा टी, प २२८

(घ) भित्तिमादि णदितडीतो जवोवट्टलिया सा भित्ती भन्नति। सुद्धपुढवी नाम न सत्थोवहता, असत्थोवहयावि जा णो वत्थतरिया सा सुद्धपुढवी भण्णइ। सीतोदगगहणेण उदयस्स गहण कय। —जि चू, पृ. २७६

(ङ) बुट्ठ तक्कालवरिसोदग। —अ चू, पृ १८५

(च) 'त' पुणा उण्होदग जाहे तत्तफासुय भवति, ताहे सजतो पडिग्गाहिज्जत्ति। — जि चू, पृ २७६

४ (क) नदीमुत्तीर्णो भिक्षाप्रविष्टो वा वृष्टिहत। उदकार्द्र मुदकबिन्दुचितमात्मन काय शरीर स्निग्ध वा। —हा टी, प. २२८

तो भी उसके आश्रित जीवो की हिंसा होती है, इसलिए इसका निषेध है। शुद्ध पृथ्वी के दो अर्थ है—(१) शस्त्र से अनुपहत (सचित्त) और (२) शस्त्र से उपहत (अचित्त) सचित्त। पर बैठने आदि से सीधी पृथ्वी-जीव-विराधना होती है और कंबलादि बिछाए बिना अचित्त पृथ्वी पर बैठने से शरीर की उष्मा से उसके निम्न भाग मे रहे जीवो की विराधना होती है। शरीर भी धूल से लिप्त हो जाता है।[५]

अष्टविध सूक्ष्मजीवो की यतना का निर्देश

४०१. अट्ठ सुहुमाइं पेहाए जाइ जाणित्तु संजए।
दयाहिगारी भूएसु आस चिट्ठ सए हि वा ॥१३॥

४०२. कयराइं अट्ठसुहुमाइं? जाइ पुच्छेज्ज संजए।
इमाइं ताइं मेहावी आइक्खेज्ज वियक्खणे ॥१४॥

४०३. सिणेह १ पुप्फसुहुमं २ च पाणुत्तिंग ३-४ तहेव य।
पणगं ५ बीयं ६ हरियं ७ अंडसुहुम ८ च अट्ठमं ॥१५॥

४०४. एवमेयाणि जाणित्ता सव्वभावेण संजए।
अप्पमत्ते जए निच्च सव्विंदियसमाहिए ॥१६॥

[४०१] संयमी (यतनावान् साधु) जिन्हे जान कर (ही वस्तुत.) समस्त जीवो के प्रति दया का अधिकारी बनता है, उन आठ प्रकार के सूक्ष्मो (सूक्ष्म शरीर वाले जीवो) को भलीभाति देखकर ही बैठे, खडा हो अथवा सोए ॥१३॥

[४०२-४०३] जिन (सूक्ष्मो) के विषय मे संयमी शिष्य पूछे कि वे आठ सूक्ष्म कौन-कौन से है? तब मेधावी और विचक्षण (आचार्य या गुरु) कहे कि वे ये है—

(ख) तत्थ पुच्छण वत्थेहि तणादीहि वा भवइ, सलिहण ज पाणिणा संलिहिऊण णिच्छोडेइ, एवमादि।
(ग) सरीरवतिरित्त वा बाहिर पोग्गल बाहिरपोग्गलग्गहणेण उसिणोदगादीण गहण। —जि चू, पृ २७७
(घ) तृणानि दर्भादीनि, वृक्षा कदम्बादय।
(ङ) गहनेषु वननिकु जेषु न तिष्ठेत् सघट्टनादिदोषप्रसगात। —हारि वृत्ति, पत्र २२९
(च) तत्थ उदग नाम अणतवणप्फई। अहवा उदगगहणेण उदगस्स गहण करेति, कम्हा? जेण उदएण वणप्फइकाओ अत्थि। —जिन चूर्णि, पृ २७७
(छ) जलरुहा अणेगविहा पण्णत्ता, त-उदए, अवए, पणए। —प्रज्ञापना १।४३, पृ १०५
(ज) उत्तिंग —सर्पच्छत्रादि। —हारि वृत्ति, पत्र २२९
(झ) ण चिट्ठे णिसीदणादि सव्व ण चेएज्जा। सव्वभूताणि तसकायाधिकारोत्ति सव्वतसा। विविहमणेगागार हीणमज्झाधिक्कभावेण। —अ चू, पृ १८६
(ञ) विविध जगत्-कर्मपरतन्त्र नरकादिगतिरूपम्। —हा. टी, प २२९

५ (क) असत्थोवहता सुद्धपुढवी, सत्थोवहता वि कबलियातीहि अणतरिया। —अ चूर्णि, पृ १८५
(ख) तत्थ सचित्तपुढवीए गायउण्हाए विराधिज्जइ, अचित्ताए एआए. हेट्ठिल्ला वा तण्णिस्सिता सत्ता उण्हाए विराधिज्जति। —जि. चू., पृ. २७५

(१) स्नेहसूक्ष्म, (२) पुष्पसूक्ष्म, (३) प्राणिसूक्ष्म, (४) उत्तिंग सूक्ष्म, (कीडीनगर) (५) पनकसूक्ष्म, (६) बीजसूक्ष्म, (७) हरितसूक्ष्म और आठवाँ (८) अण्डसूक्ष्म ॥१४-१५॥

[४०४] सभी इन्द्रियो के विषय मे राग-द्वेष रहित सयमी साधु इसी प्रकार इन (आठ प्रकार के सूक्ष्म जीवो) को सर्व प्रकार से जान कर सदा अप्रमत्त रहता हुआ (इनकी) यतना करे ॥१६॥

विवेचन—आठ प्रकार के सूक्ष्म जीव, उनके उत्पत्ति-स्थान और यतनानिर्देश—प्रस्तुत ४ सूत्रगाथाओ (४०१ से ४०४) मे अष्टविध सूक्ष्मो का स्वरूप ज्ञ-परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान-परिज्ञा से उनकी हिंसा का परित्याग करने तथा उनकी यतना करने का निर्देश किया गया है।

अष्टविध सूक्ष्मो की व्याख्या—(१) **स्नेहसूक्ष्म**—अवश्याय (ओस), हिम (बर्फ), कुहासा (धुंध), ओले और उद्भिद् जलकण, इत्यादि सूक्ष्म जल को स्नेहसूक्ष्म कहते हैं। (२) **पुष्पसूक्ष्म**—बड और उम्बर (गूलर) आदि के फूल या उन जैसे वर्ण वाले फूल, जो अत्यन्त सूक्ष्म होने से सहसा सम्यक्तया दृष्टिगोचर नही होते। (३) **प्राण (प्राणी) सूक्ष्म**—अणुंधरी कुंथुवा आदि सूक्ष्म प्राणी जो चलने पर ही दिखाई देते है, स्थिरावस्था मे सूक्ष्म होने से जाने नही जा सकते। (४) **उत्तिंगसूक्ष्म**—अर्थात् कीडीनगर, जिसमे सूक्ष्म चीटियाँ तथा अन्य सूक्ष्म जीव रहते है। (५) **पनकसूक्ष्म**—काई या लीलन-फूलन, यह प्राय वर्षाऋतु मे भूमि, काष्ठ और उपकरण आदि पर उस द्रव्य के समान वर्ण वाली पाच रग की लीलन-फूलन हो जाया करती है। इसमे भी जीव सूक्ष्म होने से दिखाई नही देते। (६) **बीजसूक्ष्म**—सरसो, शालि आदि जीवो के अग्रभाग (मुखमूल) पर होने वाली कणिका, जिससे अकुर उत्पन्न होता है, जिसे लोक मे 'तुषमुख' भी कहते है। (७) **हरितसूक्ष्म**—तत्काल उत्पन्न होने वाला हरितकाय जो पृथ्वी के समान वर्ण वाला तथा दुर्विज्ञेय (जिसका झटपट पता नही लगता, ऐसा)। (८) **अण्डसूक्ष्म**—मधुमक्खी, चीटी, मकडी, छिपकली, गिलहरी और गिरगिट आदि के सूक्ष्म अडे जो स्पष्टत ज्ञात नही होते। ये उपर्युक्त आठ प्रकार क सूक्ष्म है, जिनका ज्ञपरिज्ञा से ज्ञान होने पर ही प्रत्याख्यानपरिज्ञा से इनकी हिंसा का परित्याग करने एव यतना करने का प्रयत्न किया जाता है। स्थानाग मे उत्तिंगसूक्ष्म के बदले लयनसूक्ष्म है, जिसका अर्थ है—जीवो का आश्रयस्थान। दोनो का अर्थ एक है, केवल शब्द मे अन्तर है।[६]

सर्वजीवों के प्रति दयाधिकारी कौन और किन गुणो से ?—शिष्य के द्वारा किये गये प्रश्न मे यह भाव गर्भित है कि जिनके जाने बिना साधक सर्वजीवो के प्रति दया का अधिकारी बन ही नही

---

६ (क) **सिणेहसुहुमं** पचपगार, त-ओसा हिमए महिया करए हरितणुए। **पुप्फसुहुम** नाम बड-उबरादीनि सति पुप्फाणि, तेसि सरिसवन्नाणि दुव्विभावणिज्जाणि ताणि सुहुमाणि। **पाणसुहुम** अणुंधरी कुंथू जा चलमाणा विभाविज्जइ, थिरा दुव्विभावा। **उत्तिंगसुहुम** कीडिया धरग, जे वा तन्थ पाणिणो दुव्विभावणिज्जा। **पणगसुहुम** नाम पचवन्नो पणगो वासासु भूमिकट्ठ-उवगरणादिसु तद्दव्व समवन्नो पणगसुहुम। **बीयसुहुम** नाम सरिसवादि सालिस्स वा मुहमूले जा कणिया सा बीयसुहुम। सा य लोगेण उ सुमहत्ति भण्णई। **हरितसुहुम** णाम जो अहुणुट्ठिय पुढविसमाणवण्ण दुव्विभावणिज्ज त हरियसुहुम।

—जि. चूर्णि, २७८

(ख) 'उद्दसड महुमच्छिगादीण। कीडिया-अडग-पिपीलिया अड, उक्कलि अडलूयापडागस्से, हलियड बभणिया-अडग, सरडिअडग-हल्लोहल्लि अड।' —अग चू., पृ. १८८

सकता, इसलिए उनका जानना अत्यन्त आवश्यक है, क्योकि उनके जानने पर ही साधक के द्वारा प्रत्येक क्रिया करते समय उन जीवो की रक्षा, दया या यतना की जा सकती है।[७]

प्रस्तुत गाथा मे त्रस और स्थावर दोनो राशियो मे से जो सूक्ष्म शरीर वाले जीव है, उनका उल्लेख किया गया है, ताकि दया के अधिकारी अप्रमत्त रह कर उनकी रक्षा या यतना कर सके।[८]

प्रतिलेखन, परिष्ठापन एवं सर्वक्रियाओं में यतना का निर्देश

४०५. धुवं च पडिलेहेज्जा जोगसा पाय-कंबलं।
सेज्जमुच्चारभूमिं च संथार अदुवाऽऽसणं ॥१७॥

४०६. उच्चार पासवणं खेल सिंघाणं जल्लियं।
फासुयं पडिलेहित्ता परिट्ठावेज्ज संजए ॥१८॥

४०७. पविसित्तु परागारं पाणट्ठा भोयणस्स वा।
जयं चिट्ठे मियं भासे न य रूवेसु मणं करे ॥१९॥

[४०५] (सयमी साधु, साध्वी) सदैव यथासमय मनोयोग (या उपयोगपूर्वक स्वस्थ चित्त से एकाग्रतापूर्वक) पात्र, कम्बल, शय्या (शयनस्थान या उपाश्रय), उच्चारभूमि, सस्तारक (बिछौना) अथवा आसन का प्रतिलेखन करे ॥१७॥

[४०६] सयमी (साधु या साध्वी) उच्चार (मल), प्रस्रवण (मूत्र), कफ, नाक का मैल (लीट) और पसीना (आदि अशुचि पदार्थ डालने के लिए) प्रासुक (निर्जीव) भूमि का प्रतिलेखन करके (तत्पश्चात्) उनका (यतनापूर्वक) परिष्ठापन (उत्सर्ग) करे ॥१८॥

[४०७] पानी के लिए या भोजन के लिए गृहस्थ के (पर) घर मे प्रवेश करके साधु (वहाँ) यतना से खडा रहे, परिमित बोले और (वहाँ मकान, अन्य वस्तुओ तथा स्त्रियो आदि के) रूप मे मन को डावाडोल न करे ॥१९॥

विवेचन—अप्रमाद के तीन सूत्र—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ (४०५ से ४०७) मे प्रतिलेखन, परिष्ठापन और क्रियाओ मे यतना, इन तीन सूत्रो का आश्रय लेकर अप्रमाद की प्रेरणा दी गई है।

प्रतिलेखनसूत्र—अपने निश्राय मे जो भी वस्त्र, पात्रादि उपकरण या मकान आदि है, अथवा जहाँ साधु को मल-मूत्रादि का विसर्जन करना हो, उस भूमि का अपने नेत्रो से सूक्ष्म रूप से देखना कि यहाँ 'कोई जीव-जन्तु तो नही है।' अगर कोई जीव-जन्तु हो तो उसे किसी प्रकार की

---

७ (क) सव्वभावेण-लिग-लक्खणभेदविकप्पेण। अहवा सव्वसभावेण॥ —अगस्त्य चूर्णि, पृ १८८
(ख) सर्वभावेन शक्त्यनुरूपेण स्वरूप-सरक्षणादिना। —हारि वृत्ति, पत्र २३०
(ग) सव्वपगारेहिं वण्णसठाणाईहि णाऊण ति, अहवा ण सव्वपरियाएहिं छउमत्थो सक्केइ उवलभिउ किं पुण जो जस्स विसयो ? तेण सव्वेण भावेण जाणिऊण ति।

८. (क) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्माराम जी म.), पृ. ७४८, ७५१, ७५३
(ख) दशवै. (सतबालजी), पृ. १०५

हानि न पहुँचे, इस प्रकार से एक ओर कर देना। इस क्रिया को प्रतिलेखन कहते है। शास्त्र मे साधु के लिए प्रतिलेखन दो बार (प्रात , साय) करने का विधान है।[९]

परिष्ठापनसूत्र—शरीर के विकार मल, मूत्र, लीट, कफ, पसीना, मैला पानी, भुक्त-शेष अन्न या झूठा पानी आदि को जहाँ-तहाँ डाल देने से जीवो की उत्पत्ति एवं विराधना होनी सम्भव है, इसलिए परिष्ठापनविधि मे चार बातो का विवेक रखना जरूरी है—(१) स्नेहसूक्ष्म आदि जीवो का विनाश न हो, (२) परिठाए हुए पदार्थों मे जीवोत्पत्ति की सम्भावना न हो, (३) दर्शक लोगो के हृदय मे घृणा पैदा न हो और (४) परठाए हुए पदार्थ रोगोत्पत्ति के कारण न हो। साधुओ के लिए स्थडिलभूमि या उच्चारभूमि निर्जीव, शुद्ध हो, उसे प्रतिलेखन करके यतनापूर्वक मल-मूत्रादि विसर्जन करने का भगवान् ने विधान किया है।[१०]

यतनासूत्र—इसमे चलना-फिरना, खडे रहना, बैठना, देखना, विचारना, सोना, खाना-पीना आदि सभी क्रियाएँ इस प्रकार से विवेकपूर्वक करना, जिससे किसी भी जीव की हिसा न हो, आघात या हानि न पहुँचे। यही यतना है।[११] इसका दूसरा नाम उपयोग, जागृति या सावधानी भी है।

ध्रुवं, जोगसा आदि शब्दों के अर्थ—**ध्रुव : दो अर्थ**—ध्रुव—निश्चल होकर, (२) अथवा नित्य नियमित रूप से। **जोगसा : चार अर्थ**—(१) मनोयोगपूर्वक, (२) उपयोगपूर्वक, (३) प्रमाणोपेत—न हीन करे न अतिरिक्त और (४) सामर्थ्य होने पर। **सिंघाण : सिंघाण**—नाक का मैल, लीट। **खेल—श्लेष्म**—कफ। **जल्लियं : दो अर्थ**—(१) पसीना, अथवा (२) शरीर पर जमा हुआ मैल।[१२]

'जयं चिट्ठे' आदि की व्याख्या—**जय चिट्ठे : शब्दश : अर्थ है**—यतनापूर्वक खडा रहे। भावार्थ है—गृहस्थ के घर मे साधु झरोखा, जलगृह, सन्धि, शौचालय आदि स्थानो को बार-बार देखता हुआ या आँखो, हाथो को इधर-उधर घुमाता हुआ खडा न रहे, किन्तु उचित स्थान मे एकाग्रतापूर्वक खडा रहे। **मियंभासे**—गृहस्थ के पूछने पर मुनि यतना से एक या दो बार बोले, अथवा प्रयोजनवश बहुत

---

९ (क) दशवै पत्राकार, (आचार्यश्री आत्माराम जी म), पृ ७५४
(ख) दशवै. (सतबालजी), पृ १०६
(ग) उत्तरा. अ २६ देखे

१० (क) दशवै. पत्राकार, (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ७५६
(ख) दशवै. (सतबालजी), पृ. १०६

११ दशवै (सतबालजी), पृ ३५-३६

१२ (क) 'धुव णियत जोगसा जोगसामत्थे सति, अहवा उवउज्जिऊण पुव्वि ति। जोगेण जोगसा ऊणातिरित्त-पडिलेहणा वज्जित वा।' —अगस्त्य चू १८८
(ख) धुव णाम जो जस्स पच्चुवेक्खणकालो त तम्मि णिच्च। जोगसा नाम सति सामत्थे, अहवा जोगसा णाम ज पमाण भणित, ततो पमाणाओ ण हीणमहिय वा पडिलेहिज्जा।
(ग) शक्तिपूर्वक (जोगसा) प्रतिलेखन—सम्यक्तया देखना। —दश पत्राकार, (आ आत्मा) पृ. ७५४
(घ) वही, पत्राकार, पृ. ७५५
(ङ) जल्लिय नाम मलो.। —अ. चू , पृ. १८९

ही सयत शब्दों मे उत्तर दे। **'ण य रूवेसु मणं करे'**--भिक्षा के समय आहार देने वाली स्त्रियो, मकान तथा सौन्दर्य प्रसाधक वस्तुओ या अन्य वस्तुओ को रूप, आकृति आदि देख कर यह विचार न करे कि—'अहो ! कितना सुन्दर रूप है।' रूप की तरह शब्द, रस, गन्ध और स्पर्श मे भी मन न लगाए, यानी आसक्त—मोहित न हो। जिस प्रकार रूप का ग्रहण किया है, उसी प्रकार भोज्यपदार्थों के रस आदि के विषय मे भी जान लेना चाहिए। तात्पर्य यह है कि साधु ग्लान, रुग्ण, वृद्ध आदि साधुओ की औषधि के लिए या भोजन-पानी लाने के लिए जाए तो वहाँ गवाक्ष आदि को न देखता हुआ, एकान्त एव उचित स्थान पर खडा हो और अपने आने का प्रयोजन आदि पूछने पर थोडे शब्दो में ही कहे।[13]

दृष्ट, श्रुत और अनुभूत के कथन में विवेक-निर्देश

४०८. बहु सुणेइ कण्णेहिं, बहुं अच्छीहिं पेच्छइ।
न य दिट्ठं सुयं सव्व भिक्खू अक्खाउमरिहइ ॥२०॥

४०९. सुयं वा जइ वा दिट्ठं न लवेज्जो व घाइयं।
न य केणइ उवाएणं गिहिजोगं समायरे ॥२१॥

४१०. निट्ठाण रसनिज्जूढं भद्दगं पावगं ति वा।
पुट्ठो वा वि अपुट्ठो वा लाभालाभं न निद्दिसे ॥२२॥

[४०८] भिक्षु कानो से बहुत कुछ सुनता है तथा आँखो से बहुत-से रूप (या दृश्य) देखता है किन्तु सब देखे हुए और सुने हुए को कह देना उचित नही ॥२०॥

[४०९] यदि सुनी हुई या देखी हुई (घटना) औपघातिक (उपघात से उत्पन्न हुई या उपघात उत्पन्न करने वाली) हो तो (साधु को किसी के समक्ष) नही कहनी चाहिए तथा किसी भी उपाय से गृहस्थोचित (कर्म का) आचरण नही करना चाहिए ॥२१॥

[४१०] (किसी के) पूछने पर अथवा बिना पूछे भी यह (सब गुणो से युक्त या सुसस्कृत) सरस (भोजन) है और यह नीरस है, यह (ग्राम या मनुष्य आदि) अच्छा है और यह बुरा (पापी) है, अथवा (आज अमुक व्यक्ति से सरस या नीरस आहार) मिला या न मिला, यह भी न कहे ॥२२॥

विवेचन—साधुवर्ग के लिए भाषाविवेक एव कर्मविवेक रखना अत्यावश्यक—प्रस्तुत तीन सूत्रगाथाओ (४०८ से ४१० तक) मे चार बातो के विवेक की प्रेरणा दी गई है—(१) देखी या सुनी सभी बाते कहने योग्य नही, (२) आघात पहुँचाने वाली देखी या सुनी बात न कहे, (३) गृहस्थोचित कर्म न करे, (४) आहार आदि सरस मिला हो या नीरस, किसी के पूछने या न पूछने पर भी न कहे।[14]

---

१३ (क) जिन चूर्णि, पृ २८०
(ख) यत गवाक्षादीन्यनवलोकयन् तिष्ठेदुचितदेशे। —हारि वृ, पृ २३१

१४ दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त)

देखी-सुनी सभी बातें प्रकट करने में दोष—साधु या साध्वी जब भिक्षा आदि के लिए गृहस्थ के घरो मे जाते है तो वहाँ अनेक अच्छी-बुरी, नैतिक-अनैतिक, निन्द्य-अनिन्द्य बाते सुनते-देखते हैं। किन्तु स्वपरहित की दृष्टि से वे सभी बाते लोगो के समक्ष कहने योग्य नही होती। यथा—'आज अमुक घर मे लडाई हो रही है।' 'आज मैंने अमुक को दुराचार करते देखा।' अथवा 'अमुक स्त्री बहुत रूपवती है या अत्यन्त कुरूपा है।' ऐसी बाते प्रकट करने से अपना कोई हित नही होता, न दूसरो का कोई हित होता है। बल्कि जिस व्यक्ति के विषय मे ऐसा कहा जाता है, वह साधु का विरोधी या द्वेषी बन सकता है, उसे हानि पहुँचा सकता है। चूर्णिकार ने इस गाथा के समर्थन मे एक उदाहरण प्रस्तुत किया है—एक गृहस्थ परस्त्रीगमन कर रहा था। किसी साधु ने उसे ऐसा करते हुए देख लिया। वह लज्जित हो कर सोचने लगा– यदि साधु ने यह बात प्रकट कर दी तो समाज मे मेरी बेइज्जती हो जाएगी, अत इस साधु को मार डालना चाहिए। उसने शीघ्र दौडकर साधु का मार्ग रोका और पूछा—"आज आपने रास्ते मे क्या-क्या देखा?" साधु ने इसी गाथा से मिलता-जुलता आशय प्रकट किया—"भाई! साधु बहुत-सी बाते देखता-सुनता है, किन्तु देखी-सुनी सभी बाते प्रकट करने की नही होती।" यह सुनते ही उसने साधु को मारने का विचार छोड दिया। अगली गाथा के पूर्वार्द्ध मे यही बात कही है कि देखी या सुनी हुई औपघातिक बात भी नही कहनी चाहिए। यथा—'मैने सुना है कि तू चोर है,' अथवा 'मैने उसे लोगो का धन चुराते देखा है,' यह क्रमश सुना-देखा औपघातिक वचन है। हाँ, जिसके प्रकट करने से स्वपर का हित होता हो, उसे साधु प्रकट कर सकता है।[१५]

"गिहिजोग न समायरे०" व्याख्या—गिहिजोग (गृहियोग) का अर्थ है—गृहस्थ का ससर्ग या सम्बन्ध अथवा गृहस्थ का व्यापार (कर्म)। गृहिसम्बन्ध, जैसे—इस लडकी का तूने वैवाहिक सम्बन्ध नही किया? अथवा इसकी सगाई अमुक के लडके से कर दे। इस लडके को अमुक कार्य में लगा दे। अथवा गृहस्थ के बालको को खिलाना, उसके व्यापार-धधे को स्वय देखना अथवा उसके अन्य गृहस्थोचित कार्य स्वय करने लगना गृहस्थव्यापार (कर्म) है। यह साधु के लिए अनाचरणीय है। **गिहिणो वेयावडिय**—गृहस्थ की सेवा करना अनाचीर्ण बताया गया है।[१६]

'निट्ठाणं' आदि पदो का अर्थ—**निट्ठाणं**-जो भोजन सर्वगुणो से युक्त हो, अथवा मिर्च-मसाले आदि से सुसस्कृत हो अर्थात् जो सरस हो। **रसनिज्जूढं : रसनिर्यूढं**—जिसका रस चला गया हो, ऐसा निकृष्ट या नीरस भोजन।[१७]

---

१५ (क) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पत्र ७५९, ७६०
(ख) जिनदासचूर्णि, पृ २८१
(ग) दशवै (आ आत्मा), पत्र ७५९

१६ (क) वही, (आ आत्मा), पत्र ७६०
(ख) गिहिजोग गिहिससग्गि, गिहवावार वा। —अ च. पृ १९०
(ग) अहवा गिहिकम्म जोगो भण्णइ, तस्स गिहिकम्माण कयाण अकयाण च तत्थ उवेक्खण सय वाऽकरण, जहा—एस दारिया किं न दिज्जइ? दारको वा किं न निदेसिज्जइ? एवमादि। —जि चू, पृ २८१
(घ) गृहियोग—गृहिसबध-तद्बालग्रहणादिरूप गृहिव्यापार वा। —हारि. वृ, पृ. २३१

१७ (क) णिट्ठाण नाम ज सव्वगुणोववेय सव्वसभारसभिय त णिट्ठाण भण्णइ। —जि चू, पृ २८१
(ख) रसणिज्जढ णाम ज कदसण ववगयरस त रसणिज्जूढ भण्णइ। —जि चू, पृ. २८१

आहार के गुणदोषों का तथा लाभालाभ का कथन-निषेध क्यों ?—ऐसा कहने से साधु के अधैर्य, असयम आदि दोष प्रकट होते है, सयम का विघात होता है, श्रोताओ के मन मे नाना शुभाशुभ विकल्प पैदा होते है, जिससे भविष्य मे साधु के निमित्त से आरम्भ-समारम्भ आदि होने की सम्भावना है।[१८]

रसनेन्द्रिय और कर्णेन्द्रिय के विषयो में समत्वसाधना का निर्देश

४११. न य भोयणम्मि गिद्धो चरे उछं अयंपिरो।
अफासुय न भु जेज्जा, कीयमुद्देसियाऽऽहडं ॥२३॥

४१२. सन्निहिं च न कुव्वेज्जा अणुमायं पि संजए।
मुहाजीवी असबद्धे हवेज्ज जगनिस्सिए ॥२४॥

४१३. लूहवित्ती सुसंतुट्ठे अप्पिच्छे सुहरे सिया।
आसुरत्तं न गच्छेज्जा, सोच्चाणं जिणसासणं ॥२५॥

४१४. कण्णसोक्खेहि सद्देहि पेम नाभिनिवेसए।
दारुणं कक्कस फास काएण अहियासए ॥२६॥

[४११] (साधु सरस) भोजन मे गृद्ध (आसक्त) होकर (विशिष्ट सम्पन्न घरो मे) न जाए, (किन्तु) व्यर्थ न बोलता हुआ उञ्छ (ज्ञात-अज्ञात उच्च-नीच-मध्यम सभी घरो से थोडी-थोडी समानभाव से भिक्षा) ले। (वह) अप्रासुक, क्रीत, औद्देशिक और आहृत (सम्मुख लाये हुए प्रासुक) आहार का भी उपभोग न करे ॥२३॥

[४१२] सयमी (साधु या साध्वी) अणुमात्र भी सन्निधि न करे (सग्रह करके रात्रि मे न रखे)। वह सदैव मुधाजीवी असम्बद्ध (अलिप्त) और जनपद (या मानवजगत्) के निश्रित रहे, (एक कुल या एक ग्राम के आश्रित न रहे) ॥२४॥

[४१३] साधु रूक्षवृत्ति, सुसन्तुष्ट, अल्प इच्छा वाला और थोडे से आहार से तृप्त होने वाला हो। वह जिनप्रवचन (क्रोधविपाकप्रतिपादक जिनवचन) को सुन कर आसुरत्व (क्रोधभाव) को प्राप्त न हो ॥२५॥

[४१४] कानो के लिए सुखकर शब्दो मे रागभाव (प्रेम) स्थापन न करे, (तथा) दारुण और कर्कश स्पर्श को शरीर से (समभावपूर्वक) सहन करे ॥२६॥

विवेचन—पचेन्द्रियविषयो के प्रति मध्यस्थभाव रखे—प्रस्तुत ४ गाथाओ (४११ से ४१४ तक) मे रसनेन्द्रिय, श्रोत्रेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय के विषयो मे राग-द्वेष न करके समत्वभाव रखने का प्रतिपादन स्पष्ट है, शेष घ्राणेन्द्रिय और चक्षुरिन्द्रिय के विषयो मे भी समत्वभाव उपलक्षण से फलित होता है।[१९]

---

१८ दशवै (आ आत्मारामजी म), पत्र ७६३

१९ (क) दसवेयालियं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ ५७
(ख) दशवै (आचार्यश्री आत्माराम जी म), पृ ७६७, ७६९

'ण य भोयणम्मि गिद्धो चरे०' : व्याख्या -भोजन शब्द से यहाँ चारो प्रकार के आहार का ग्रहण किया गया है। भोजन मे आसक्त होकर निर्धन कुलो को छोड कर उच्च कुलो मे प्रवेश न करे। अथवा भोजन के प्रति आसक्त होकर विशिष्टभोजनप्राप्ति के लिए दाता की प्रशसा करता हुआ भिक्षाचर्या न करे।[२०]

'उञ्छ' शब्द का अर्थ—भावार्थ—गृहस्थ के भोजन कर लेने के बाद शेष रहा भोजन लेना, या घर-घर से थोडा-थोडा आहार लेना। यह स्वल्प भिक्षा का वाचक शब्द है।[२१]

'सन्निहि' आदि शब्दो के अर्थ— **सन्निधि** —शाब्दिक अर्थ है- पास मे रखना, जमा या सग्रह करना, भावार्थ है रातबासी रखना। **महाजीवी— मुधाजीवी** किसी प्रकार मूल्य (बदलने मे) लिए बिना नि स्पृहभाव से जीने वाला, अपने जीवननिर्वाह के लिए धन आदि का प्रयोग न करने वाला, अथवा—सर्वथा अनिदान-जीवी, अर्थात्— गृहस्थ का किसी भी प्रकार का सासारिक कार्य न करके प्रतिबद्धतारहित भिक्षावृत्ति द्वारा सयमी जीवन यापन करने वाला।

असबद्धे · असम्बद्ध—गृहस्थो से अनुचित या सासारिक प्रयोजनीय सम्बन्ध न रखने वाला या जल-कमलवत् गृहस्थो से निर्लिप्त अथवा जो सरस आहार मे आसक्त-बद्ध न हो। **जगनिस्सिए : जगन्निश्रित : अर्थ और भावार्थ**—शब्दश अर्थ होता है -जगत् के आश्रित- अखिल मानवजगत् के आश्रित रहे। किन्तु अगस्त्यसिंहचूर्णि के अनुसार भावार्थ है मुनि एक कुल या ग्राम के निश्रित न रहे, किन्तु जनपद के निश्रित रहे, वर्तमान युग की भाषा मे जनाधारित रहे। जिनदासचूर्णि के अनुसार इसका आशय है—मुनि गृहस्थ के यहाँ से जो निर्दोष व सहजभाव मे प्राप्त हो, उसी पर आश्रित रहे। मन्त्र-तन्त्रादि दोषयुक्त उपायो के आश्रित न रहे। **लूहवित्ती . रूक्षवृत्ति : दो अर्थ**— (१) रूक्ष —सयम के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला, (२) चना, कोद्रव आदि रूक्ष द्रव्यो से जीविका (जीवननिर्वाह) करने वाला।

सुसतुट्ठे—सुसन्तुष्ट—रूखा-सूखा, वह भी थोडा-सा जैसा भी, जितना भी मिल जाता है, उसी मे पूर्ण सन्तुष्ट रहने वाला। **सुहरे : सुभर**—थोडे-से आहार से पेट भर लेने वाला या निर्वाह कर लेने वाला या अल्पाहार से तृप्त होने वाला। **अप्पिच्छे—अल्पेच्छ**—जिसके आहार की जितनी मात्रा हो, उससे कम खाने वाला अल्पेच्छ (अल्प इच्छा वाला)। रूक्षवृत्ति, सुसन्तुष्ट, अल्पेच्छ और सुभर मे कार्य-कारण भाव है। **आसुरत्त—आसुरत्व**- क्रोधभाव। असुर क्रोधप्रधान होते है, इसलिए आसुर शब्द क्रोध का वाचक हो गया। अक्रोध की शिक्षा के लिए आलम्बन के रूप मे अगस्त्यचूर्णि मे एक गाथा उद्धृत है, जिसका भावार्थ है- गाली देना, मारना, पीटना, ये कार्य

---

२० (क) जिन चूर्णि, पृ २८१
(ख) हारि वृत्ति, पृ २३१

२१ (क) उञ्छ कणश आदान कणशाद्यर्जनशीलमिति यादवकोश ।
(ख) दशवै १०।१६, चू २।५

बालजनो के लिए सुलभ है। कोई आदमी भिक्षु को गाली दे तो सोचे—पीटा तो नही, पीटे तो सोचे—मारा तो नही, मारे तो सोचे—मुझे धर्मभ्रष्ट तो नही किया। इस प्रकार क्रोधभाव पर विजय पाए।[२२]

क्षुधा, तृषा आदि परीषहों को समभाव से सहने का उपदेश

४१५. खुहं पिवासं दुस्सेज्ज सीउण्ह अरई भयं।
अहियासे अव्वहिओ देहे दुक्ख* महाफलं ॥२७॥

[४१५] क्षुधा, पिपासा (प्यास), दुःशय्या (विषम भूमि पर शयन या अच्छा निवासस्थान न होना), शीत, उष्ण, अरति और भय को (मुनि) अव्यथित (क्षुब्ध न) होकर सहन करे, (क्योकि) देह मे (कर्मजनित उत्पन्न हुए) दु ख (कष्ट) को (समभाव से सहन करना) महाफलरूप होता है ॥२७॥

विवेचन—देहदुःख : महाफलरूप . आशय—व्यथित हुए (झुझलाए—क्षुब्ध हुए) बिना समभाव से अथवा अदीनभाव से असार शरीर से सम्बन्धित क्षुधादि परीषहो (कष्टो—दु खो) को सहने मे मोक्षरूप महाफल की प्राप्ति होती है। कष्टो के समय मुनि को इस प्रकार धैर्य धारण करना चाहिए—यह शरीर असार है, इसका क्या मोह ? एक न एक दिन यह छूटेगा ही, इससे जो कुछ सवर-निर्जरारूप धर्म कमा लिया जाए, वही अच्छा है। दूसरी दृष्टि से देखे तो देह का दु ख एक प्रकार से इन्द्रियो का असयम है। इन्द्रियो का असयम, बाह्य दृष्टि मे देखते हुए सुखरूप प्रतीत होता है, परन्तु परिणाम मे एकान्त दु ख का ही कारण है, जब कि सयम पहलेपहल इन्द्रियो के अध्यास के कारण दु खरूप प्रतीत होता है, लेकिन परिणाम मे एकान्त सुख का ही कारण है।[२३]

रात्रिभोजन का सर्वथा निषेध

४१६ अत्थगयम्मि आइच्चे, पुरत्था य अणुग्गए।
आहारमाइय सव्व मणसा वि न पत्थए ॥२८॥

२२ (क) **सन्निधी** –गुलघयतिल्लादीण दव्वाण परिवासण ति। —जिन चू, पृ २८२
(ख) **जगणिस्सितो**—इति ण एक्क कुल गाम वा णिस्सितो, जणपदमेव।
(ग) अगस्त्यचूर्णि, पृ १९०-१९१
(घ) **मुधाजीवी**—मुधा अमुल्लेण तथा जीवति मुधाजीवी, जहा-पढमपिंडेसणाए। —अ चू, पृ १९०
मुधाजीवी नाम ज जातिकुलादीहि आजीवणविसेसेहि पर न जीवति। —जि चू, पृ १९०
(ङ) **असबद्धे**—णाम जहा पुक्खरपत्त तोएण न सबज्झइ एव गिहीहिं सम असबद्धेण भवियव्व ति। जगनिस्सिए णाम तत्थ पत्ताणि लभिस्सामो त्ति काऊण गिहत्थाण णिस्साए विहरेज्जा, न तेहिं सम कुटलाइ करेज्जा। —जिन चूर्णि, पृ २८२
(च) **जगन्निश्रितः**—चराचर-सरक्षणप्रतिबद्ध। अप्पिच्छो—न्यूनोदरतयाऽऽहारपरित्यागी। **सुभरः** स्यादल्पेच्छत्वादेव दुर्भिक्षादाविति फल प्रत्येक वा स्यात्। —हारि वृ, पत्र २३१
(छ) **आसुरत्त**—असुराण एस विसेसेण ति आसुरो कोहो, तब्भावो आसुरत्त।
(ज) अगस्त्यचूर्णि, पृ १९१

२३. दशवै पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पत्र ७७०

पाठान्तर—* देह-दुक्ख।

[४१६] सूर्य के अस्त हो जाने पर और (पुन. प्रात काल) पूर्व मे सूर्य उदय न हो जाए तब तक सब प्रकार के आहारादि पदार्थों (के सेवन) की मन से भी इच्छा न करे ॥२८॥

विवेचन—रात्रिभोजन की मन मे भी अभिलाषा न करे : आशय—चौथे अध्ययन मे रात्रि-भोजनविरमण को भगवान् ने छठा व्रत बताया है। इसलिए शास्त्रकार ने **'मणसा वि न पत्थए'** कह कर इस व्रत का दृढता से पालन करने का निदेश किया है। क्योकि रात्रिभोजनविरमण व्रत के भग से अहिंसा महाव्रत दूषित हो जाता है। एक महाव्रत के दूषित हो जाने से अन्य महाव्रतो के भी दूषित हो जाने की सम्भावना है।

रात्रिभोजन का त्याग बौद्धधर्म तथा वैदिकधर्म के पुराण (मार्कण्डेयपुराण आदि) मे बताया है। आरोग्य के नियम की दृष्टि से भी रात्रिभोजन वर्ज्य है। **आहारमाइयं**—आहारादि सभी पदार्थ।

'अत्थगयम्मि' आदि पदो का अर्थ—अस्त का अर्थ है—अदृश्य होना, छिप जाना। **पुरत्थाए-पुरस्तात्**—पूर्व दिशा मे अथवा प्रात काल।[२४]

क्रोध-लाभ-मान-मद-माया-प्रमादादि का निषेध

४१७. अतितिणे अचवले अप्पभासी मियासणे।
हवेज्ज उयरे दंते, थोव लद्धुं न खिसए ॥२९॥

४१८. न बाहिर परिभवे अत्ताण न समुक्कसे।
सुयलाभे न मज्जेज्जा, जच्चा तवसि बुद्धिए ॥३०॥

४१९. से जाणमजाणं वा कट्टु आहम्मिय पय।
संवरे खिप्पमप्पाण बीय तं न समायरे ॥३१॥

४२०. अणायारं परक्कम्म नेव गूहे, न निण्हवे।
सुई सया वियडभावे असंसत्ते जिइंदिए ॥३२॥

[४१७] (साधु आहार न मिलने या नीरस आहार मिलने पर गुस्से मे आकर) तनतनाहट (प्रलाप) न करे, चपलता न करे, अल्पभाषी, मितभोजी और उदर का दमन करने वाला हो। (आहारादि पदार्थ) थोडा पाकर (दाता की) निन्दा न करे ॥२९॥

[४१८] साधु अपने से भिन्न किसी जीव का तिरस्कार न करे। अपना उत्कर्ष भी प्रकट न करे। श्रुत, लाभ, जाति, तपस्विता और बुद्धि मे (उत्कृष्ट होने पर भी) मद न करे ॥३०॥

---

२४ (क) दशवै पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ७७२
(ख) 'अस्तगत आदित्ये—अस्तपर्वत प्राप्ते, अदर्शनीभूते वा। पुरस्ताच्चानुद्गते—प्रत्यूषस्यनुदिते।'
—हारि. वृत्ति, पत्र २३२
(ग) पुरत्था य—पुव्वाए दिसाए। —अगस्त्यचूर्णि, पृ १९२

[४१९] साधु से जानते हुए या अनजाने (कोई) अधार्मिक कृत्य हो जाए तो तुरन्त उससे अपने आपको रोक ले तथा दूसरी बार वह कार्य न करे ॥३१॥

[४२०] अनाचार का सेवन करके उसे गुरु के समक्ष न छिपाए (गुरु के समक्ष प्रकट करे) और न ही सर्वथा अपलाप (अस्वीकार) करे, किन्तु (प्रायश्चित्त लेकर) सदा पवित्र (शुद्ध) प्रकट भाव धारण करने वाला (स्पष्ट), असक्त (अलिप्त या अनासक्त) एव जितेन्द्रिय रहे ॥३२॥

विवेचन—आत्मा को क्रोधादि विकारो से दूर रखे—प्रस्तुत चार गाथाओ (४१७ से ४२० तक) मे क्रोध, लोभ, गर्व, मद, आस्रव, माया, अपमान, निह्नवता आदि विकारो से आत्मा को दूर रख कर आत्मा को शुद्ध, निष्कपट, पवित्र, स्पष्ट, असक्त और जितेन्द्रिय रखने का निर्देश किया गया है।

'अतितिणे' आदि पदो का भावार्थ—अतितिणे-अतितिण—तेन्दु आदि की लकड़ी को आग मे डालने पर जैसे वह 'तिणतिण' शब्द करती है, वैसे ही मनचाहा कार्य, पदार्थ या आहार न मिलने पर व्यक्ति बकवास (प्रलाप) करता है, उसे भी 'तितिण' (तनतनाहट) कहते है। जो ऐसा प्रलाप नही करता, उसे 'अतितिण' कहते है। **अप्पभासी**—कार्य के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही बोलने वाला।[२५]

मियासणे : दो रूप : दो अर्थ—(१) **मिताशनः**—मितभोजी, और (२) **मितासनः**—भिक्षादि के समय मे थोडे समय तक बैठने वाला। **थोवं लद्धुं न खिसए**—आहारादि थोडा पाकर आहारादि की या दाता की निन्दा न करे। **बाहिरं न परिभवे**—बाह्य अर्थात् अपने से भिन्न व्यक्ति का परिभव (तिरस्कार या अनादर) न करे। **अत्ताणं न समुक्कसे**—अपनी उत्कृष्टता की डीग न हाके। **सुयलाभे बुद्धिए**—श्रुत आदि का मद न करे, श्रुतादि के मद की तरह मैं कुलसम्पन्न हूँ, बलसम्पन्न हूँ या रूपसम्पन्न हूँ, ऐसा कुल, बल और रूप का मद भी न करे। श्रुतमद, यथा—मै बहुश्रुत हूँ, मेरे समान कौन विद्वान् या बहुश्रुत है। लाभमद, यथा—मुझे जितना और जैसा आहार प्राप्त होता है, वैसा किसे होता है? अथवा लब्धिमद—लब्धि मे मेरे समान कौन है? जाति, तप और बुद्धि के मद के विषय मे भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिए।[२६]

निन्दा : आत्मशुद्धि मे भयंकर बाधक—साधु को आहार थोडा या नीरस मिले या न मिले तो वह क्षेत्र की, दाता की या पदार्थ की निन्दा न करे, न ही व्यर्थ बकवास करे, वह चचलता को छोड कर स्थिरचित्त रहे, अत्यन्त आवश्यक हो वहाँ थोडा-सा बोले। प्रमाण से अधिक आहार न करे। साधु को अपने उदर पर काबू रखना चाहिए। मितभोजी की स्वाध्याय, ध्यान आदि चर्याएँ ठीक हो सकती है। बहुभोजी स्वल्प आहार मिलने पर गृहस्थ के आगे यद्वा-तद्वा बकता है, निन्दा

---

२५ (क) अगस्त्यचूर्णि, पृ १९२
(ख) हारि वृत्ति, पत्र २३३
२६. (क) जिन चूर्णि, २८४
(ख) हारि वृत्ति, पृ २३३

करता है परन्तु सच्चा साधु गृहस्थ की, पदार्थ की या ग्राम की निन्दा नही करता, वह सन्तोष धारण कर लेता है कि गृहस्थ की चीज है, वह दे या न दे उसकी इच्छा है।[२७]

मद : आत्मविकास में सर्वाधिक बाधक—जब मनुष्य अपनी थोथी बडाई हाँकता है, अपने को उत्कृष्ट बताता है, तब वह प्राय दूसरो की निन्दा करता है। दूसरो को नीच, निकृष्ट या पापी बताकर उनका तिरस्कार करता है। अपनी जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत, ऐश्वर्य आदि का मद (घमड) करके अपना ही आत्मविकास रोकता है। चिकने कर्मों का बन्ध करके आत्मा पर अशुद्धि का आवरण डालता है। मद आते ही आत्मा पतन की ओर बढती चली जाती है। मोक्ष-द्वार के निकट पहुँचे हुए बडे-बडे ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी भी अष्टफन मदरूपी सर्प के चक्कर मे पड कर ससारसागर मे भटक जाते है। अहकारी साधु साधुत्व, सम्यक्त्वी, सम्यग्ज्ञानी या श्रमणधर्मी होने का दावा नही कर सकता। इसलिए मद के दुर्गुण को छोड कर ही आत्मा निर्विकार हो सकती है।[२८]

आत्मशुद्धि मे बाधक : माया—माया, क्रोध, लोभ और मद से भी बढ कर भयकर है, दुर्गणो की खान है, सत्यमहाव्रत को भस्म करने वाली ज्वाला है। यह कई रूपो मे साधु या साध्वी के जीवन मे आती है। अधर्म या अनाचरणीय का आचरण केवल अज्ञान मे ही नही होता, किन्तु यदा-कदा ज्ञानपूर्वक भी होता है। जानबूझ कर भी कई बार मनुष्य अधार्मिक कृत्य कर बैठता है। इसका कारण है—मोह। मोह के उदयवश राग और द्वेष से ग्रस्त मुनि जानता हुआ भी मूलगुण या उत्तर-गुण मे दोष लगाता है, कभी अज्ञानवश कल्प्य-अकल्प्य, करणीय-अकरणीय का ज्ञान न होने से अकल्प्य या अकरणीय कर बैठता है। शास्त्रकार गाथा ४१९ मे कहते है कि अधार्मिक कृत्य हो गया हो तो उसे तुरन्त वही रोक देना चाहिए अन्यथा मायाग्रस्त होकर साधक की आत्मा अशुद्ध हो जाएगी।

अगली गाथा ४२० मे कहते हैं कि यदि कोई भी अधर्मकृत्य—अनाचरणीय कृत्य हो गया तो उसे छिपाओ मत। जो दोष करके गुरु के समक्ष छिपाता है या पूछने पर अस्वीकार करता है वह पाप पर और अधिक पाप चढाता जाता है। यदि आलोचना और प्रायश्चित्त आदि मे उस कृत पाप की शुद्धि न की गई तो फिर अनुबन्ध पड जाएगा, जिसका फल चातुर्गतिक दु खमय ससार मे परिभ्रमण करके भोगना पडेगा। अत भूल या अपराध होते ही तुरन्त गुरुजन के समक्ष आलोचना करके कुछ भी छिपाए बिना, जैसा और जितनी मात्रा मे, जिस भाव से दोष लगा है, उसे प्रकट कर दे और गुरु से प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध हो जाए। इसीलिए साधक के विशेषण ४२०वी गाथा मे बताए हैं—**सुई सया वियडभावे०** अर्थात्—वह साधक सदा पवित्र, स्पष्ट, अलिप्त और जितेन्द्रिय रहे।[२९]

'अणायारं' इत्यादि पदों के विशेषार्थ—**अणायार** -अनाचार अर्थात्—सावद्यकृत्य, अनाचरणीय-अकरणीय। **परक्कम्म**—सेवन करके। **नेव गूहे न निन्हवे**—यहां दो शब्द है, दोनो माया के पर्याय है—

---

२७ दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पत्र ७७४

२८ वही, पत्र ७७५

२९ (क) तेण साहुणा जाहे जाणमाणेण रागद्दोसवसएण मूलगुण-उत्तरगुणाण अण्णतर आधम्मिय पय पडिसेविय भवइ, अजाणमाणेण वा अकप्पियबुद्धीए पडिसेविय होज्जा।

—जिन. चूर्णि, पृ. २८४-२८५

(ख) दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पत्र ७७७

गूहन का अर्थ है—पूरी बात न कहना, थोडी कहना और थोडी छिपाना, तथा निह्नव का अर्थ है—सर्वथा अपलाप—अस्वीकार करना। **सुई-शुचि**—अकलुषितमति, पवित्रात्मा, **वियडभाव-विकटभाव**—जिसके भाव (विचार) प्रकट—स्पष्ट हो, वह। शुचि (पवित्र) वही होता है, जो सदा स्पष्ट रहता है।[३०]

वीर्याचार की आराधना के विविध पहलू

४२१. अमोहं वयणं कुज्जा आयरियस्स महप्पणो।
तं परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए ॥३३॥

४२२. अधुवं जीवियं नच्चा, सिद्धिमग्गं वियाणिया।
विणियट्टिज्ज भोगेसु, आउ परिमियमप्पणो ॥३४॥

[बल थामं च पेहाए सद्धामारोग्गमप्पणो।
खेत्तं कालं च विण्णाय तहऽप्पाणं निजुंजए* ॥]

४२३. जरा जाव न पीलेई, वाही जाव न वड्ढई।
जाविंदिया न हायंति, ताव धम्मं समायरे ॥३५॥

[४२१] मुनि महान् आत्मा आचार्य के वचन को सफल (अमोघ) करे। वह उनके (आचार्य के) कथन को ('एवमस्तु', इस प्रकार) वाणी से भलीभाँति ग्रहण करके कर्म से (कार्य द्वारा) सम्पन्न करे ॥३३॥

[४२२] (मुमुक्षु साधक) अपने जीवन को अध्रुव (अस्थिर या अनित्य) और आयुष्य को परिमित जान तथा सिद्धिमार्ग का विशेषरूप से ज्ञान प्राप्त करके भोगो से निवृत्त हो जाए ॥३४॥

[अपने बल (मनोबल या इन्द्रियो की शक्ति), शारीरिक शक्ति (पराक्रम), श्रद्धा और आरोग्य (स्वास्थ्य) को देख कर तथा क्षेत्र और काल को जान कर, अपनी आत्मा को (उचित रूप से) धर्मकार्य मे नियोजित करे ॥]

[४२३] जब तक वृद्धावस्था (जरा) पीडित न करे, जब तक व्याधि न बढे और जब तक इन्द्रियाँ क्षीण न हो, तब तक धर्म का सम्यक् आचरण कर लो ॥३५॥

विवेचन—आत्मा का शुद्ध पराक्रम—प्रस्तुत ४ गाथाओ (४२१-४२३ तक) मे आत्मा को पराक्रम करने के तीन साधनो (मन, वचन, काय) से अपने अनित्य जीवन को भोगो से मोडकर

---

३० (क) अणायार अकरणीय वत्थु। —अ चू, पृ १९३
(ख) गूहनं-किंचित् कथनम्, निह्नव एकान्तापलाप।
(ग) गूहण किंचि कहण भण्णइ। णिण्हवो णाम पुच्छिओ सतो सव्वहा अवलवइ। सो चेव सुई, जो सया वियडभावो। —जि चू, पृ २८५

* यह गाथा कुछ प्रतियो मे मिलती है, कुछ मे नही मिलती। —स

श्रद्धा, स्वास्थ्य आदि देख कर, जरा-व्याधि-इन्द्रियक्षीणता की परिस्थिति आए उससे पहले-पहले ही धर्माचरण मे पराक्रम कर लेने का निर्देश किया है।

गुरु की दी हुई शिक्षा कार्यरूप मे परिणत करे—गा ४२१ मे गुरु से ज्ञान प्राप्त करने के लिए विनयव्यवहार आवश्यक बताया है। बहुत से साधक आचार्य या गुरु की शिक्षा केवल वचन मे स्वीकार करते है, उसे आचरण मे नही लाते। परन्तु गुरु या आचार्य द्वारा दी गई शिक्षा क्रियान्वित न हो तो उसका यथार्थ लाभ नही होता। इसीलिए यहाँ स्पष्ट कहा गया है[३२] **'त परिगिज्झ वायाए कम्मुणा उववायए।" भोगो से निवृत्त होकर मोक्षमार्ग में पुरुषार्थ करे**—गा ४२२ का फलितार्थ यही है कि साधक के सामने भोग और मोक्ष दोनो है। भोग अस्थिर है, जबकि मोक्ष स्थिर और यह निश्चित है कि जीवन अनित्य है, कब समाप्त हो जाएगा, कुछ भी पता नही। इस स्वल्पतर आयुष्य वाले जीवन को भोगो से सर्वथा मोड कर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय मोक्ष-मार्ग मे पुरुषार्थ करना चाहिए, क्योकि मनुष्य जीवन बार-बार नही मिलता। अत फिर ऐसा अवसर और यह जन्म मिलना दुर्लभ है।[३३]

बल आदि देख कर आत्मा को धर्माचरणपुरुषार्थ मे लगाए—मनोबल, तनबल, श्रद्धा, स्वास्थ्य तथा क्षेत्र, काल आदि का सम्यक् विचार करने के पश्चात् यदि ये सब ठीक स्थिति मे हो तो धर्माचरण मे इन्हे लगाने मे क्षण भर भी विलम्ब नही करना चाहिए। क्योकि ये सब साधन या निमित्त बार-बार नही मिलते, जब साधक को ये अनायास ही प्राप्त हुए है तो अपनी भक्ति और क्षमता का उपयोग धर्माचरण मे करना चाहिए।[३४]

फिर धर्माचरण होना कठिन है—शास्त्रकार ४२३ वी गाथा मे चेतावनी के स्वर मे कहते है कि शरीर धर्म का सर्वोत्तम साधन है, वह स्वस्थ हो तभी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्ध धर्म का पालन हो सकता है। बचपन, बुढापा, बीमारी या इन्द्रियक्षीणता मे उसका पालन होना दुष्कर है, अत युवावस्था एव स्वस्थता मे ही धर्माचरण कर लेना चाहिए। यदि अनुकूल परिस्थिति मे धर्माचरण न किया तो फिर मोक्षमार्ग पर चलना दुष्कर होगा। अत धर्माचरण मे इसी क्षण से पुरुषार्थ करो।[३५]

कषाय से हानि और इनके त्याग की प्रेरणा

४२४. कोहं माणं च माय च लोभ च पाववड्ढण।
वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छतो हियमप्पणो ॥३६॥

४२५. कोहो पीइ पणासेइ, माणो विणयनासणो।
माया मित्ताणि नासेइ, लोभो सव्वविणासणो ॥३७॥

---

३१ दशवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त)
३२ दशवै (सतबालजी), पृ १०९
३३ भोगेभ्यो-बन्धैकहेतुभ्य। —हारि वृत्ति, पत्र ३३३
३४ (क) वही, प ७८३ (ख) दशवै (सत), पृ १०९
३५ दशवै (आ. आत्मा), पृ ७८५

४२६. उवसमेण हणे कोहं, माणं मद्दवया जिणे।
मायं चऽज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥३८॥

४२७. कोहो य माणो य अणिग्गहीया, माया य लोभो य पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया, सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥३९॥

[४२४] क्रोध, मान, माय और लोभ, (ये चारो) पाप को बढाने वाले है। (अत) आत्मा का हित चाहने वाला (साधक) इन चारो दोषो का अवश्यमेव वमन (परित्याग) कर दे ॥३६॥

[४२५] क्रोध प्रीति का नाश करता है, मान विनय का नाशक है, माया मित्रता का नाश करती है और लोभ तो सब (प्रीति, विनय, मैत्री आदि सब गुणो) का नाश करने वाला है ॥३७॥

[४२६] क्रोध का हनन 'उपशम' से करे, मान को मृदुता से जीते, माया को सरलता (ऋजु-भाव) से जीते और लोभ पर सतोष के द्वारा विजय प्राप्त करे ॥३८॥

[४२७] अनिगृहीत क्रोध और मान प्रवर्द्धमान माया और लोभ, ये चोरो सक्लिष्ट (या कृष्ण—काले या समस्त) कषाय पुनर्जन्म की जडे सीचते है ॥३९॥

विवेचन—कषायों पर विजय—प्रस्तुत ४ गाथाओ (४२४ से ४२७) मे कषायो के नाम, उनसे होने वाली हानि, उन पर विजय पाने के उपाय का और चारो कषायो का निग्रह न करने और इन्हे बढने देने से ससारवृक्ष की जडो को अधिकाधिक सीचे जाने का प्रतिपादन किया गया है।

कषाय : हानि और विजयोपाय—कषाय मुख्यतया चार है—क्रोध, मान, माया और लोभ। फिर इनके तीव्रता-मन्दता आदि की अपेक्षा से १६ भेद तथा हास्यादि नौ नोकषाय मिलकर कुल २५ भेद हो जाते है। इनसे रागद्वेष का घनिष्ठ सम्बन्ध होने से पापकर्म का बन्ध होता रहता है और पापकर्म की वृद्धि से आत्मगुणो का घात होता है। क्रोध मे प्रीति का, मान से विनय का, माया से मैत्री का और लोभ से सर्वगुणो का नाश हो जाता है। इन चारो कषायो को वश मे न करने से केवल इहलौकिक हानि ही नही होती, पारलौकिक हानि भी बहुत होती है। वर्तमान और आगामी अनेक जन्म (जीवन) नष्ट हो जाते हैं, अनेक बार जन्म-मरण करते रहने पर भी सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप धर्म का लाभ नही मिलता। क्रोधादि कषायो पर विजय का शास्त्रीय अर्थ है—अनुदित क्रोध आदि का निरोध और उदयप्राप्त का विफलीकरण करना। क्रोधादि पर विजय के क्रमश उपाय ये हैं—क्रोध को उपशम अर्थात् क्षमा, सहिष्णुता या शान्ति धारण करके वश मे किया जा सकता है। मान पर नम्रता, विनय तथा मृदुता से, माया पर ऋजुता—सरलता एव निश्छलता से और लोभ पर सतोष, आत्मतृप्ति, नि स्पृहा तथा इच्छाओ के निरोध से विजय प्राप्त की जा सकती है।[३७]

क्रोधादि कषायों से आत्महित का नाश : कैसे ? वस्तुत आध्यात्मिक दोष जितने अशो मे नष्ट होते हैं, उतने ही अशो मे आत्मिक गुणो (ज्ञानादि) की उन्नति और वृद्धि होती है। समस्त

३७ जिनदासचूर्णि, पृ २८६, हारि वृत्ति, पत्र २३४

आध्यात्मिक दोषो के मूल ये चार कषाय है। इनसे आत्मिक गुणो की हानि होती है। चार घाती कर्मों —विशेषत पापकर्मों की वृद्धि होती है। प्रीति अर्थात्—आत्मौपम्यभाव या वत्सलता जीवन की सुधा है। विनय जीवन की रसिकता है और मित्रता जीवन का मधुर अवलम्बन है तथा आत्म-सतुष्टि जीवन की शान्ति है, आनन्द है। क्रोधादि चारो कषायो से जीवन की सुधा, रसिकता, अवलम्बन और आनन्द (शान्ति) का नाश हो जाता है। आत्मगुणो का ह्रास हो जाता है। चेतन मोहग्रस्तता के कारण जडवत् बन जाता है। यह आत्महित का सर्वनाश है। अत आत्महितैषी साधु-साध्वी के लिए कषाय सर्वथा त्याज्य है।[३८]

लोभो सव्वविणासणो— लोभ मे प्रीति आदि सब गुण नष्ट हो जाते हैं। उदाहरणार्थ—लोभ के वशीभूत होकर पुत्र मृदुस्वभाव एव मानवतापरायण पिता मे रुष्ट हो जाता है, सम्बन्ध तोड लेता है, क्रोधान्ध होकर दुर्वचन बोलता है, यह प्रीति का नाश है। पुत्र को धन का भाग नही मिलता है तो उद्धत होकर पिता के सामने अविनयपूर्वक बोलता है, गालीगलौज करता है, उनको कुछ नही समझता, भाग लेने को कटिबद्ध हो जाता है, यह विनय का नाश है और कपटपूर्वक येन-केन-प्रकारेण धन ले लेता है, पूछने पर छिपाता है, छलकपट से विश्वास उठ जाता है, इस प्रकार मित्रभाव नष्ट हो जाता है। यह लोभ की सर्वगुणनाशक वृत्ति है।[३९]

कसिणा कसाया : व्याख्या—'कसिणा' शब्द के सस्कृत मे दो रूप होते है—कृत्स्न (सम्पूर्ण) और कृष्ण (काला)। यद्यपि कृष्ण का प्रधान अर्थ काला रग है, किन्तु मन के दुर्विचारो से ये चारो कषाय आत्मा को मलीन करने वाले है। इसलिए कृष्ण का अर्थ सक्लिष्ट किया गया है। दुष्ट विचार आत्मा को अन्धकार मे ले जाते है, भावतिमिरवश आत्मा सक्लेश पाता है।[४०]

कषाय : व्याख्या— कषाय जैनदर्शन का पारिभाषिक शब्द है। इसके अनेक अर्थ है। प्राचीन व्याख्या इस प्रकार है—कष अर्थात् ससार—जन्म-मरण का चक्र। उसकी आय अर्थात् लाभ जिससे हो, वह कषाय है। कषायवश आत्मा अनेक बार जन्म-मरण करता है, ससार मे परिभ्रमण करता है। इसलिए कहा है—**'सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स'**, अर्थात् कषाय पुन पुन जन्म-मरणरूप संसारवृक्ष की जडो को सीचते रहते है। कषाय के क्रोध आदि ४ प्रकार के गाढ रग है, जिनसे आत्मा रजित होता है, कषायो के गाढ रग के लेप से आत्मा कर्मरज से लिप्त-श्लिष्ट हो जाता है। अर्थात्—इनके लेप से आत्मा पर कर्मपरमाणु चिपक जाते है। क्रोधादि कषाय के रगरस से भीगे हुए आत्मा पर कर्म-परमाणु चिपकते है, दीर्घकाल तक रहते है। यह कषाय शब्द का दार्शनिक विश्लेषण है।[४१]

---

३८. दशवै. (सतबालजी), पृ. १११

३९ जिनदासचूर्णि, पृ २८६

४०. (क) कृत्स्ना सम्पूर्णा कृष्णा वा क्लिष्टा। —हारि वृत्ति, पत्र २३४
(ख) अहवा सकिलिट्ठा कसिणा भवन्ति। —जिन. चूर्णि, पृ २८६

४१. वही, पृ ४०३

रत्नाधिकों के प्रति विनय और तप-संयम में पराक्रम की प्रेरणा

४२८. राइणिएसु विणय पउंजे, धुवसीलयं सययं न हावएज्जा ।
कुम्मोव्व अल्लीण-पलीणगुत्तो, परक्कमेज्जा तवसंजमम्मि ॥४०॥

[४२८] (साधु) रत्नाधिकों (दीक्षापर्याय मे ज्येष्ठ साधुओ) के प्रति विनय का प्रयोग करे। ध्रुवशीलता का कदापि त्याग न करे। कछुए की तरह आलीनगुप्त और प्रलीनगुप्त होकर तप-सयम मे पराक्रम करे ॥४०॥

विवेचन—विनय, शील, तप और संयम मे पुरुषार्थ—प्रस्तुत गाथा मे साधु को सयमादि मे पराक्रम करने का निर्देश किया गया है।

रात्निको के प्रति विनय का प्रयोग—शास्त्रो मे 'रायणिय' 'राइणिय' दोनो शब्द मिलते हैं, जिनका सस्कृतरूप 'रात्निक' होता है। रात्निक की परिभाषाएँ दशवैकालिकसूत्र के व्याख्याकारो ने की है—(१) हारिभद्रीय वृत्ति के अनुसार—चिरदीक्षित अथवा जो ज्ञानादि भावरत्नो से अधिक समृद्ध हो वे। (२) जिनदासचूर्णि के अनुसार—पूर्वदीक्षित अथवा सद्भाव (तत्त्वज्ञान) के उपदेशक। (३) अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—आचार्य, उपाध्याय आदि समस्त साधुगण, जो अपने से पूर्व प्रव्रजित हुए हो, अर्थात् —दीक्षापर्याय मे जो ज्येष्ठ हो। सब का आशय यही है कि दीक्षाज्येष्ठ एव ज्ञानवृद्ध रात्निको या गुरुजनो के प्रति मन-वचन-काय से विनय-भक्ति करनी चाहिए।[४२]

ध्रुवशीलता : व्याख्या—ध्रुवसीलय० इस पक्ति का शब्दश अर्थ होता है—साधु सतत ध्रुवशीलता को न त्यागे। किन्तु वृत्तिकार और चूर्णिकार ने ध्रुवशीलता का अर्थ—'अष्टादशसहस्र-शीलाग-रथ' किया है। इसके लिए जैनवाङ्मय मे प्रसिद्ध एक गाथा है—

जे णो करति मणसा, णिज्जिय-आहारसन्ना सोइंदिए।
पुढविकायारभ खंतिजुत्ते ते मुणी वंदे ॥

इसमे तीन करण, तीन योग, चार सज्ञा, पाच इन्द्रिय, पृथ्वीकायादि ५ स्थावर, ३ विकलेन्द्रिय और १ पचेन्द्रिय, इन नौ प्रकार के जीवो का तथा अजीव का आरम्भ तथा दशविध श्रमणधर्म (क्षाति आदि) का सकेत है। क्षान्ति आदि १० श्रमणधर्म ध्रुवशील है। उनका दशविध जीव आदि के साथ क्रमश सयोग एव गुणाकार करने से १८००० भेद होते हैं। उसका रेखाचित्र अग्रिम पृष्ठानुसार है[४३]—

गणना-विधि—दस प्रकार के श्रमणधर्म को दशविध जीव के साथ गुणा करने से १०० भेद हुए, इन १०० भेदो को श्रोत्रेन्द्रिय आदि प्रत्येक इन्द्रिय के साथ गुणा करने पर १००×५=५०० भेद हुए। इन ५०० को चार सज्ञाओ के साथ गुणा करने से २००० भेद हुए इनको मन, वचन और काया से गुणा करने पर ६००० भेद हुए। इन्हे कृत, कारित और अनुमोदन

---

४२. 'रातिणिया-पुव्वदिक्खिता आयरियोवज्झायादिसु सव्वसाधुसु वा अप्पणतो पढमपव्वतियेसु।'
—अगस्त्यचूर्णि, पृ. १९५

४३. 'धुवसीलय णाम अट्ठारससीलगसहस्साणि।' —जि चू, पृ २८७, हारि वृत्ति, पृ २३५

से गुणा करने पर १८००० भेद शीलागरथ के हुए। साधु इस शीलागरथ पर सतत आरूढ़ रहे। कितना भी सकट, भय या प्रलोभन आए, इसे न छोडे।

जे णो करति ६०००	जे णो कारयति ६००	जे णो समणु- जाणति ६०००
मणसा २०००	वयसा २०००	कायसा २०००

णिज्जिय आहारसज्ञा ५००	णिज्जिय भयसज्ञा ५००	णिज्जिय मैथुनसज्ञा ५००	णिज्जिय परिग्रहसज्ञा ५००

श्रोत्रेन्द्रिय १००	चक्षुरिन्द्रिय १००	घ्राणेन्द्रिय १००	रसनेन्द्रिय १००	स्पर्शेन्द्रिय १००

पृथ्वी १०	अप् १०	तेज १०	वायु १०	वनस्पति १०	द्वीन्द्रिय १०	त्रीन्द्रिय १०	चतुरिन्द्रिय १०	पचेन्द्रिय १०	अजीवारभ १०

क्षान्ति १०	मुक्ति (निर्लोभता) २	आर्जव ३	मार्दव ४	लाघव ५	सत्य ६	सयम ७	तप ८	ब्रह्मचर्य ९	आकिंचन्य १०

कुम्मोव्व अल्लीन-पलीणगुत्तो : व्याख्या—इस पक्ति का अर्थ स्पष्ट है। भावार्थ यह है—कच्छप की तरह कायचेष्टाओ का निरोध करे। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार—गुप्त शब्द का आलीन और प्रलीन दोनो के साथ सम्बन्ध होने से, अर्थ हुआ--कूर्म की तरह साधु आलीनगुप्त और प्रलीन-गुप्त रहे। अर्थात्—कूर्मवत् कायचेष्टा का निरोध करे (आलीनगुप्त रहे) और कारण उपस्थित होने पर यतनापूर्वक शारीरिक प्रवृत्ति करे (प्रलीनगुप्त रहे)। जिनदासचूर्णि के अनुसार—आलीन का अर्थ है—थोडा लीन और प्रलीन का अर्थ-- विशेष लीन। अर्थात् जिस प्रकार कूर्म अपने अगो को गुप्त (सकोच कर सुरक्षित) रखता है और आवश्यकता पडने पर धीरे से उन्हे पसारता है, उसी प्रकार श्रमण भी आलीन-प्रलीनगुप्त रहे।[४४]

---

४४ (क) अ. चू, पृ १९५
(ख) जिन चूर्णि, पृ २८७

प्रमादरहित होकर ज्ञानाचार में संलग्न रहने की प्रेरणा

४२९. निद्दं च न बहु मन्नेज्जा, सप्पहासं विवज्जए।
सिहो कहाहिं न रमे, सज्झायम्मि रओ सया ॥४१॥

४३०. जोगं च समणधम्मम्मि जुंजे अणलसो धुवं।
जुत्तो य समणधम्मम्मि अट्ठं लहइ अणुत्तरं ॥४२॥

४३१. इहलोग-पारत्तहियं जेणं गच्छइ सोग्गइं।
बहुसुयं पज्जुवासेज्जा, पुच्छेज्जऽत्थविणिच्छयं ॥४३॥

[४२९] साधु सिद्रा को बहुमान न दे। अत्यन्त हास्य को भी वर्जित करे, पारस्परिक विकथाओ मे रमण न करे, (किन्तु) सदा स्वाध्याय मे रत रहे ॥४१॥

[४३०] साधु आलस्यरहित होकर श्रमणधर्म मे योगो (मन-वचन-काया के व्यापार) को सदैव (यथोचितरूप से) नियुक्त (सलग्न) करे, क्योकि श्रमणधर्म मे सलग्न (जुटा हुआ) साधु अनुत्तर (सर्वोत्तम) अर्थ (पुरुषार्थ-मोक्ष) को प्राप्त करता है ॥४२॥

[४३१] जिस (सम्यग्ज्ञान) के द्वारा इहलोक और परलोक मे हित होता है (मृत्यु के पश्चात्) सुगति प्राप्त होती है। (उस सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए) वह बहुश्रुत (मुनि) की पर्युपासना करे और (शास्त्रीय पाठ के) अर्थ के विनिश्चय के लिए पृच्छा करे ॥४३॥

विवेचन—स्वाध्याय, श्रमणधर्म और सम्यग्ज्ञान मे अहर्निश रत रहने की प्रेरणा—प्रस्तुत तीन गाथाओ (४२९ से ४३१ तक) मे साधक को निद्रा, हास्य, आलस्य, विकथा, आदि प्रमाद से दूर रह कर अहर्निश स्वाध्याय, श्रमणधर्म के पालन एव सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए यथोचित पुरुषार्थरत रहने की प्रेरणा दी गई है।

स्वाध्याय आदि में रत रहने के लिए प्रमादत्याग आवश्यक—साधु को अपना समय एव शक्ति को सार्थक करने के लिए सदैव स्वाध्यायरत या श्रमणधर्मरत रहना चाहिए। इसके लिए उसे प्रमाद के इन तीन अगो से सर्वथा दूर रहना चाहिए—अत्यधिक निद्रा से, सामूहिक परस्पर हास्य से और स्त्री आदि की विकथा से।[४५]

निद्दं च न बहु मन्नेज्जा : व्याख्या—निद्रा को बहुमान न दे अर्थात् —निद्रा का सत्कार न करे, प्रकामशायी न हो तथा जिस प्रकार निद्रा अधिक आए, ऐसे उपाय न करे। सूत्रकृताग मे बताया गया है कि 'शयनकाल मे सोए।' निद्रा का हेतु केवल श्रम-निवारण है, परन्तु वही जब शौक की वस्तु हो जाए तो सयम मे हानि पहुचती है।[४६]

---

४५. दशवैकालिक (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ ७९४

४६. (क) वही, पृ. ७९४
(ख) 'निद्रां च न बहु मन्येत—न प्रकामशायी स्यात्।' —हारि. वृत्ति, पत्र २३५
(ग) दशवै (सतबालजी), पृ. ११२

सप्पहासं विवज्जए : दो रूप : दो अर्थ—(१) **सप्रहास**—समुदित रूप से होने वाला सशब्द हास्य, (२) **सप्रहास**—अट्टहास अथवा अत्यन्त हास्य। साधु को अत्यन्त हँसना भी नही चाहिए, क्योकि इससे अविनय और असभ्यता प्रकट होती है, घोर कर्मबन्धन होता है, किसी समय हँसी-मजाक से कलह उत्पन्न होने की सम्भावना है। हँसी-मजाक करने की आदत स्वय को तथा दूसरे को दु ख उत्पन्न कराती है।[४७]

'मिहो कहाहि न रमे'—परस्पर विकथाओ मे लीन न हो। विकथाएँ चार है—स्त्रीविकथा, भक्तविकथा, राजविकथा और देशविकथा। रहस्यमयी कथाएँ, फिर वे स्त्री-सम्बन्धी हो या अन्य भक्तदेशादि-सम्बन्धी हो, मिथ कथा है। विकथा व्यर्थ की गप्पे हाकना, गपशप करना है। विकथाओ मे साधक का अमूल्य समय नष्ट होता है, विकथा के शौक मे पड जाने मे साधक अपने धर्म से भ्रष्ट हो जाता है, ज्ञानादि की उपलब्धि से वचित हो जाता है।[४८]

सज्झायम्मि रओ सया : व्याख्या स्वाध्याय के दो अर्थ मुख्य हैं—(१) सुष्ठु अध्ययन अर्थात् विधिपूर्वक अच्छे ग्रन्थो का अध्ययन (२) शास्त्रो एव ग्रन्थो के वाचन से स्व (अपने जीवन का) अध्ययन। साधु को सदैव स्वाध्याय तप मे रत रहना चाहिए, क्योकि इससे ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम तथा ज्ञान की प्राप्ति होती है, समय समाधिपूर्वक व्यतीत होता है, धर्मपालन मे दृढता आती है।[४९]

'प्रमादत्याग का द्वितीय उपाय' : श्रमणधर्म में संलग्नता—यदि स्वाध्याय मे सदैव मन न लगे तो क्या करना चाहिए? इसके लिए शास्त्रकार कहते हैं—**'समणधम्मम्मि जुंजे'**—अर्थात्—आलस्य को त्याग कर अपने मन, वचन, काया के योग (व्यापार) को श्रमणधर्म मे जोड दे। यहाँ 'ध्रुव' शब्द के प्रयोग करने का आशय यह है कि श्रमणधर्म मे साधु को निश्चल, एकाग्र होकर अथवा निश्चित या नियमित रूप से उत्साहपूर्वक श्रमणधर्म के पालन मे जुटना चाहिए।[५०]

---

४७ (क) 'समेच्च समुदियाण पहसण सतिरालावपुव्व **सपहासो**।' —अग चूर्णि, पृ १९५

(ख) सप्पहासो नाम अतीव पहासो, परवादिउद्धसणादिकारणे जइ हसेज्जा तहावि सप्पहास विवज्जए। —जिन. चूर्णि, पृ २८७

(ग) दशवै. (आचार्य श्री आत्मा.), पृ. ७९४

(घ) दशवै. (सतबालजी) पृ ११२

४८ (क) मिहोकहाओ रहसियकहाओ भण्णति, ताओ इत्थिसम्बद्धाओ वा होज्जा, अण्णाओ वा भत्तदेस-कहादियाओ तासु। —जिन चूर्णि, पृ २८७

(ख) मिथ कथायु—राहस्यिकीषु। —हारि वृत्ति, पत्र २३५

(ग) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी), पृ ७९४

४९ (क) स्वस्य अस्मिन् अध्ययन—स्वाध्याय।

(ख) सुष्ठु—विधिपूर्वकमध्ययनम्—स्वाध्याय।

(ग) स्वाध्याये—वाचनादौ। —हारि वृत्ति, पत्र २३५

५० ध्रुव कालाद्यौचित्येन नित्य सम्पूर्ण सर्वत्र प्रधानोपसर्जनभावेन वा, अनुप्रेक्षाकाले मनोयोगमध्ययनकाले वाग्योग प्रत्युपेक्षणकाले काययोगमिति। युक्त एव व्यापृत। —हारि. वृत्ति, पत्र २३५

श्रमणधर्म का आशय—व्याख्याकारो ने यहाँ 'श्रमणधर्म' के दो आशय व्यक्त किये हैं—(१) क्षमा, मार्दव, आर्जव, निर्लोभता, लाघव, सत्य, सयम, तप, त्याग, ब्रह्मचर्य यह दशविध श्रमणधर्म है। (२) अनुप्रेक्षा, स्वाध्याय और प्रतिलेखन आदि श्रमणचर्या श्रमणधर्म हैं। सूत्रकार का यहाँ आशय यह है कि अनुप्रेक्षा काल मे मन को, स्वाध्याय काल मे वचन को और प्रतिलेखन काल आदि मे काया को श्रमणधर्म मे सलग्न कर देना चाहिए तथा भगप्रधान (विकल्पप्रधान) श्रुत (शास्त्र) मे समुच्चयरूप से तीनो योगो को नियुक्त करना चाहिए। अर्थात्—उसमे मन से चिन्तन, वचन से उच्चारण और काया से लेखन, ये तीनो होते है।[५१]

अट्ठं लहइ अणुत्तरं : व्याख्या—श्रमणधर्म मे युक्त—व्यापृत (लगा हुआ) साधु अनुत्तर अर्थ को प्राप्त करता है। अनुत्तर अर्थ का अर्थ है—सर्वश्रेष्ठ पुरुषार्थ अर्थात् मोक्ष या उसके साधन ज्ञानादि।[५२]

इहलोग-पारत्तहियं इत्यादि गाथा की व्याख्या—दो प्रकार की मिलती है—(१) श्रमणधर्म-परक और (२) सम्यग्ज्ञान-परक। प्रथम व्याख्या के अनुसार इस गाथा का तात्पर्य यह है कि श्रमणधर्म मे मन-वचन-काय को नियुक्त करने वाला इहलोक मे वन्दनीय होता है,—श्रमणधर्म मे एक दिन के दीक्षित साधु को भी लोग विनयपूर्वक वन्दन करते है, राजा-रानी द्वारा भी उसकी पूजा-प्रतिष्ठा होती है और परलोक मे भी वह अच्छे कुल या स्थान मे उत्पन्न होता है। इस उपलब्धि के लिए दो उपाय बताए है- बहुश्रुत की पर्युपासना और उनसे पूछ कर अर्थ का विनिश्चय करना। दूसरी व्याख्या के अनुसार गाथा का तात्पर्य यह है कि जिससे (कुशल और अकुशल प्रवृत्ति के सम्यग्ज्ञान से) इहलोक और परलोक दोनो मे हित होता है, तथा जिससे सुगति की प्राप्ति—परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसे सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिए साधु को बहुश्रुत की पर्युपासना करनी चाहिए और उनकी पर्युपासना करते हुए प्रश्न पूछ-पूछ कर पदार्थों का यथार्थ निश्चय करना चाहिए। बहुश्रुत मुनि ही अध्यात्मविद्या के अधिकारी हैं, वे ही मुमुक्षु को अध्यात्मविद्या का यथार्थ ज्ञान अथवा तत्त्व का निश्चय करा कर उसे सयम मे निश्चल कर देते है।[५३]

बहुश्रुत वही होता है, जिसने श्रुत (शास्त्रो) का बहुत अध्ययन किया हो, अथवा जिनदास-चूर्णि के अनुसार आचार्य उपाध्याय आदि को बहुश्रुत माना गया है।[५४]

---

५१ जोग मणो-वयण-कायमय अणुप्पेहणसज्झायपडिलेहणादिसु पत्तेय समुच्चयेण वा च सद्देण नियमेण भणितसुते तिविधमपि। —अगस्त्यचूर्णि, पृ १९५

५२ (क) अत्थो सद्दो, इह फलवाची। —अगस्त्यचूर्णि, पृ १९५
(ख) भावार्थ—ज्ञानादिरूपम्। —हारि वृ, पृ २३५

५३ इहलोगे एक्कदिवसदिक्खितो वि विणएण वदिज्जते य पुजिज्जते य अवि रायरायीहिं, परलोए सुकुलसभवादि। —अ चू १९५-१९६

५४ (क) 'बहुसुयगहणेण आयरिय-उवज्झायादीयाण गहण।' —जि. चू, २८७
(ख) 'अत्थविणिच्छयो तब्भावनिण्णयो त।' —अ चू. पृ १९६
(ग) 'अर्थविनिश्चय—अपायरक्षक कल्याणावह वाऽर्थावितथभावम्।' —हारि वृ., प २३५

गुरु की पर्युपासना करने की विधि

४३२. हत्थं पायं च काय च पणिहाय जिइंदिए।
अल्लीणगुत्तो निसिए सगासे गुरुणो मुणी ॥४४॥

४३३. न पक्खओ न पुरओ, नेव किच्चाण पिट्ठओ।
न य ऊरुं समासेज्जा चिट्ठेज्जा गुरुणंतिए ॥४५॥

[४३२] जितेन्द्रिय मुनि (अपने) हाथ, पैर और शरीर को सयमित करके आलीन (न अति-दूर और न अतिनिकट) और गुप्त (मन और वाणी से सयत) होकर गुरु के समीप बैठे ॥४४॥

[४३३] आचार्य आदि के न तो पार्श्वभाग (बराबर) मे, न आगे और न ही पृष्ठभाग मे (पीछे) बैठे तथा गुरु के समीप (उनके ऊरु से अपना) ऊरु सटा कर (भी) न बैठे ॥४५॥

विवेचन—गुरुजनो के समीप बैठने की विधि—प्रस्तुत दो गाथाओ (४३२-४३३) मे गुरुजनो की पर्युपासना करते समय उनके समीप बैठने की विधि का प्रतिपादन किया है। पूर्वगाथा मे बहुश्रुत पूज्यवरो की पर्युपासना करने का निर्देश था, इन दो गाथाओ मे पर्युपासना की विधि बताई गई है।

'पणिहाय' आदि पदों का विशेषार्थ—**पणिहाय**—संयमित होकर। इसके दो विशेषार्थ मिलते है—(१) गुरु के समीप बैठते समय अपने हाथ, पैर आदि शरीर के अवयवो को सकोच कर पूर्ण सभ्यता से बैठना, (२) हाथो को न नचाना, पैरो को न फैलाना आदि एवं शरीर को बार-बार न मोडना या कुचेष्टा न करना। **अल्लीणगुत्तो**—**आलीनगुप्त**—दो विशेषार्थ (१) आलीन-ईषल्लीन—उपयोगयुक्त हो कर। (२) तात्पर्य है—गुरु के न अतिनिकट और न अतिदूर बैठने वाला, तथा गुप्त का अर्थ होता है—मन से गुरु के वचन मे उपयोगयुक्त और वचन से प्रयोजनवश बोलने वाला। **किच्चाण**—गुरुओ या आचार्यो—बहुश्रुत पूज्यवरो के।

उरुं समासेज्जा : दो विशेषार्थ—(१) जाघ पर जाघ चढा कर, (२) गुरु के ऊरु से अपने ऊरु (घुटने के ऊपर का भाग—साथल) का स्पर्श कर। उत्तराध्ययन सूत्र के **'न जुंजे उरुणा उरु'** के अर्थ से यह अर्थ अधिक मेल खाता है।[५५]

बराबर मे, आगे या पीछे बैठने का निषेध क्यो ?—यह पक्ति भी गुरु की उपासना करते समय उनकी अविनय-आशातना न हो, असभ्यता प्रकट न हो, इस दृष्टि से दी गई है। गुरु के पार्श्वभाग मे अर्थात् बराबर मे—कानो की समश्रेणि मे बैठने का निषेध इसलिए किया गया है कि वहाँ बैठने पर शिष्य का शब्द सीधा गुरु के कर्णकुहरो मे आता है। उससे गुरु की एकाग्रता भग

---

५५ (क) पणिहाय णाम हत्थेहिं हत्थनट्टगादीणि अकरं पाएहिं पसारणादीणि अकुव्वतो, काएण सासणदुगादीणि अकुव्वतो। —जिन. चूर्णि, पृ २८८

(ख) अल्लीणो नाम ईसिलीणो अल्लीणो, णातिदूरत्थो ण वा अच्चासणो। वायाए कज्जमेत्त भासतो। —जि. चूर्णि, पृ २८८

(ग) मणसा गुरुवयणे उवयुत्तो।—अ चू, पृ ११६

होती है। गुरु के आगे अर्थात्—गुरु के सम्मुख एकदम निकट बैठने से अविनय भी होता है, और गुरु को वन्दना करने वालो को व्याघात होता है। इस दृष्टि से गुरु के आगे न बैठने का निर्देश किया गया है। पृष्ठभाग मे अर्थात् पीठ पीछे या गुरु की पीठ से सट कर बैठने से गुरु के दर्शन नही होते, उनकी कृपापूर्ण दृष्टि शिष्य पर नही पडने पाती। उनके इगित और आकार को नही जाना जा सकता। इसलिए पीछे बैठने का निषेध किया गया है। गुरु के उरु से अपना उरु सटा कर बैठना भी अविनय-आशातना और असभ्यता प्रदर्शन है। साराश यह है कि इस गाथा मे गुरुजनो की पर्युपासना करते समय इस ढग से नही बैठना चाहिए, जिससे उनकी अविनय-आशातना हो, असभ्यता प्रदर्शित हो।[५६]

स्व-पर-अहितकर भाषा-निषेध

४३४. अपुच्छिओ न भासेज्जा भासमाणस्स अंतरा।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा, मायामोसं विवज्जए ॥४६॥

४३५. अप्पत्तियं जेण सिया, आसु कुप्पेज्ज वा परो।
सव्वसो तं न भासेज्जा भासं अहियगामिणिं ॥४७॥

४३६. दिट्ठं मियं असंदिद्धं पडिपुण्णं वियं जियं।
अयंपिरमणुव्विग्गं भासं निसिर अत्तवं ॥४८॥

४३७. आयारपण्णत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जगं।
वइ विक्खलियं णच्चा न तं उवहसे मुणी ॥४९॥

४३८. नक्खत्त सुमिणं जोगं निमित्तं मंत भेसजं।
गिहिणो तं न आइक्खे भूयाहिगरण पयं ॥५०॥

[४३४] (विनीत साधु गुरुजनो के) बिना पूछे न बोले, (वे) बात कर रहे हो तो बीच मे न बोले। पृष्ठमास (चुगली) न खाए और मायामृषा (कपटसहित असत्य) का वर्जन करे ॥४६॥

[४३५] जिससे (जिस भाषा के बोलने से) अप्रीति (या अप्रतीति) उत्पन्न हो अथवा दूसरा (सुनने वाला व्यक्ति) शीघ्र ही कुपित होता हो, ऐसी अहित करने वाली भाषा सर्वथा न बोले ॥४७॥

[४३६] आत्मवान् (आत्मार्थी साधु या साध्वी) दृष्ट (देखी हुई), परिमित, असदिग्ध, परिपूर्ण, व्यक्त (स्पष्ट या प्रकट), परिचित, अजल्पित (वाचालतारहित) और अनुद्विग्न (भयरहित) भाषा बोले ॥४८॥

---

५६. (क) "समुप्पेहपेरिया सद्दपोग्गला कण्णबिलमणुपविसतीति कण्णसमसेढी पक्खो, ततो न चिट्ठे गुरूणमतिए तधा अणेगग्गता भवति।" —अ चू, पृ १९६

(ख) पुरओ नाम अग्गओ, तत्थवि अविणओ वदमाणाण च वग्घाओ, एवमादि दोसा भवतित्ति काऊण पुरओ गुरूण नवि चिट्ठेज्जत्ति। —जिन चूर्णि, पृ २८८

[४३७] आचाराग (आचार) और व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र के धारक एव दृष्टिवाद के अध्येता साधु (कदाचित्) वचन से स्खलित हो जाएँ तो मुनि उनका उपहास न करे ।।४९।।

[४३८] (आत्मार्थी साधु) नक्षत्र, स्वप्न (-फल), वशीकरणादि योग, निमित्त, मन्त्र (तन्त्र, यन्त्र), भेषज आदि अयोग्य बाते गृहस्थो को न कहे, क्योकि ये प्राणियो के अधिकरण-(हिसा आदि अनिष्टकर) स्थान हैं ।।५०।।

विवेचन—भाषा में द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एवं पात्र का विवेक प्रस्तुत पाच गाथाओ (४३४ से ४३८ तक) मे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव एव पात्र की दृष्टि से साधु के लिए न बोलने योग्य भाषा का निषेध तथा बोलने योग्य भाषा का विधान किया गया है ।

भाषा के विषय मे पात्र का विवेक—यद्यपि साधक जो भाषा बोलता है, वह निरवद्य ही बोलता है, तथापि गाथा ४३४ मे बोलने का जो निषेध किया गया है वह काल और मुख्यतया पात्र की दृष्टि से है । गुरुजन या कोई श्रावक आदि साधु से कुछ पूछे नही और कोई प्रयोजन भी न हो, उस समय निष्प्रयोजन बोलना निषिद्ध है, प्रयोजनवश बोलने का निषेध नही । साथ ही जब गुरुजन आदि किसी से बात कर रहे हो, उस समय बीच मे ही उनकी बात काट कर बोलना उचित नही । उस समय पात्र और परिस्थिति दोनो देखे बिना ही तपाक से कह बैठना- आपने यह कहा था, यह नही, यह अविवेक है । पृष्ठमास—पैशुन्य या चुगली को कहते हैं । पैशुन्यसूचक शब्द भले ही निरवद्य हो, किन्तु निन्दा और चुगली से द्वेष, ईर्ष्या, असूया, घृणा आदि दुर्गुण बढते है, पापकर्म का बन्ध होता है, वैर बढता है और मायामृषा तो द्रव्य, क्षेत्र आदि सभी दृष्टियो से हानिकर होने से त्याज्य है ही । क्योकि इसमे असत्य बोलने के साथ-साथ पूर्वयोजित माया का प्रयोग होता है । अपनी असत्यता को छिपाने के लिए अपने कपटयुक्त भावो का उस पर चिन्तनपूर्वक आवरण डाल कर ऐसे कहा जाता है, ताकि सुनने वाला उसकी बात पूर्ण सच मान ले ।[५७]

गाथा सख्या ४३५ मे **'सव्वसो'** कह कर सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और पात्र सभी दृष्टि से ऐसी स्वपर-अहितकारिणी भाषा का प्रयोग निषिद्ध बताया है, जो अप्रीतिकर हो, जिससे श्रोता का क्रोध भडकता हो ।

गाथा सख्या ४३७ मे शास्त्रज्ञ साधु के मुह से निकलने वाले वचनो मे व्याकरण की दृष्टि से कदाचित् कोई त्रुटि या स्खलना रह जाए तो उनका उपहास करना भी प्राज्ञ साधु के लिए उचित नही, क्योकि छद्मस्थ मनुष्य भूल न करने की पूरी-पूरी सावधानी रखता हुआ भी कभी भूल कर बैठता है । सर्वज्ञ बन जाने पर ही 'भूल' सर्वथा मिट सकती है । उपहास करना भी भाषा दोष है,

---

५७ (क) अपुच्छिओ निक्कारणे ण भासेज्जा । भासमाणस्स अतरा ण कुज्जा, जहा—ज एय ते भणित, एय न । 'ज परमुहस्स अवबोलिज्जइ, त तस्स पिट्ठिमसभक्खण भवइ । मायाए सह मोस—मायामोस । न मायामन्तरेण मोस भासइ, कह ? ज पुव्वि भाम कुडिल्लीकरेइ पच्छा भासइ । अहवा ज माया-सहिय मोस ।' —जिनदासचूर्णि, पृ २८८

(ख) 'पृष्ठिमास—परोक्षदोषकीर्तनरूपम् । मायाप्रधाना मृषावाचम् ।' —हारि वृत्ति, पत्र २३६

(ग) दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८०२

क्योंकि ऐसा करने से पापकर्म का बन्ध तो होता ही है, महापुरुषो की अविनय-आशातना भी होती है, उनके हृदय को आघात पहुँचता है । उपहासात्मक वचन कदाचित् सत्य भी हो, तो भी परपीडाकारक होने से साधु के लिए वर्जित है ।[५८]

निमित्त, नक्षत्रादि काल सम्बन्धित है, योग, भैषज मन्त्रादि द्रव्य से तथा शेष भावो से सम्बन्धित है । कदाचित् किसी साधु को निमित्त-नक्षत्रादि का ज्ञान भी हो, तो भी घटी, पल की गणना ठीक न होने से, दृष्टिविपर्यासवश या किसी स्वार्थवश, छद्मस्थ होने के कारण कोई फलादेश विपरीत कह दिया गया अथवा कहने से विपरीत, उलटा परिणाम आ जाए तो साधुवर्ग के प्रति उसकी श्रद्धाभक्ति उठ जाएगी । अन्य अनर्थ होने की भी सम्भावना है । इस दृष्टि से निमित्तादि का कथन करना साधु के लिए वर्जित है ।

नक्षत्र आदि का अर्थ—नक्षत्र—कृत्तिका आदि जो नक्षत्र है, उनके विषय मे बताना कि आज चन्द्रमा अमुक नक्षत्रयुक्त है, उसका फल ऐसा है । **स्वप्न-फल**—स्वप्न का शुभाशुभ फल बताना । **वशीकरणादि योग**—अमुक औषध, जडी या खाद्यपदार्थों के सयोग से चूर्ण या वशीकरणयोग बना कर गृहस्थ को दूसरो को वश मे करने के लिए देना । **निमित्त**—अतीत, वर्तमान और भविष्य सम्बन्धी शुभ-अशुभ फल बताने वाली विद्या या ज्योतिष विद्या के बल से शुभाशुभ फल गृहस्थो को बताना । **मन्त्र**—जपा जाने वाला शब्दसमूह, आकृति खीच कर कागज आदि पर लिखा जाने वाला यन्त्र तथा मन्त्र-यन्त्रसहित कठोर विधिपूर्वक सिद्ध किया जाने वाला तन्त्र । देवी को सिद्ध करने वाले मन्त्र को विद्या कहते है । मन्त्रादि का प्रयोग करना या बताना भी वर्जित है । **भूयाहिगरणं**—एकेन्द्रिय आदि भूत कहलाते है, अथवा भूत शब्द सभी प्राणियो का वाचक है । सघट्टन, परितापन आदि के द्वारा उनका अधिकरण—हनन करना भूताधिकरण है ।[५९] कोई गृहस्थ यदि साग्रह पूछे तो कह देना चाहिए -साधुओ का यह अधिकारक्षेत्र नही है । इससे अहिसा और भाषा दोनो की सुरक्षा होगी ।

'अत्तव' आदि पदो का विशेषार्थ—**अत्तवं**—आत्मवान्—जिसकी आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय हो, अथवा आत्मार्थी पुरुष । **दिट्ठं**-जिसे अपनी आँखो से देखा हो । **मियं**—परिमित भाषा, अर्थात् जितना आवश्यक हो, उतना ही बोलना । **असदिद्ध**--**असंदिग्ध**—जिसमे किसी प्रकार का सन्देह न हो । **पडिपुन्न**--प्रतिपूर्ण अर्थात्—ऐसा न हो कि वाक्य मे केवल क्रिया हो परन्तु कर्त्ता और कर्म न हो, अथवा केवल कर्त्ता हो, क्रिया न हो । अथवा जो वचन स्वर, व्यजन, पद आदि से रहित हो । **विय**—

---

५८ (क) 'सव्वसो नाम सव्वकाल सव्वावत्थासु ।' —जिनदास चूर्णि, पृ २८९
(ख) दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८०६-८०७
(ग) दशवै. (सतबालजी), पृ ११४

५९. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ. ८०९
(ख) गिहत्थाण पुच्छमाणाण णो णक्खत्त कहेज्जा, जहा चदिमा अज्ज अमुकेण णक्खत्तेण जुत्तोत्ति । सुमिणे अव्वत्तदसणे । जोगो ओसह समवादो, अहवा निद्देसण-वसीकरणाणि जोगो भण्णइ । निमित्ततीतादि । मतो असाहणो, 'एगगाहणे गहण तज्जातीयाणमिति काउ विज्जा गहिता । भूताणि-एगिदियाईणि तेसि सघट्टणपरितावणादीणि अहिय कीरति जमि त भूताधिकरण । —जि. चू., पृ २९९
(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ४१३

व्यक्त अर्थात्--स्पष्ट हो, जो गुनगुनात्मक न हो। **जियं**—जो परिचित हो, जिसका अर्थ परिचित हो। **अयंपिरं**—अजल्पित—जो भाषा केवल बकवास या वाचालता न हो तथा अनुद्विग्न उद्वेग-रहित हो।[६०]

आयारपन्नत्तिधरं दिट्ठिवायमहिज्जग : विविध व्याख्याएँ—(१) पहली व्याख्या शास्त्रपरक है, जो अर्थ मे दी गई है। दूसरी व्याख्या भाषाशास्त्रपरक है। अर्थात्—**आचारधर**—स्त्री-पुरुष-नपु सक लिग-ज्ञाता, **प्रज्ञप्तिधर**—लिगो का विशेष ज्ञाता तथा **दृष्टिवादधर**—प्रकृति, प्रत्यय, लोप, आगम, वर्णविकार, कारक आदि व्याकरण के अगो को जानने वाला। निर्युक्तिकार के अनुसार इनकी व्याख्या धर्मकथापरक है। आक्षेपणी कथा के ४ प्रकार है—आचारकथा, व्यवहारकथा, प्रज्ञप्तिकथा और दृष्टिवादकथा। आचार—लोच, अस्नान आदि, व्यवहार—किसी दोष की शुद्धि करने के लिए प्रायश्चित्त रूप व्यवहार, प्रज्ञप्ति—सशयग्रस्त व्यक्ति को मधुर वचनो से समझाना और दृष्टिवाद—श्रोता की अपेक्षा (दृष्टि) से सूक्ष्म जीवादि भावो का कथन करना।

समग्र वाक्य का अर्थ हुआ आचारधर, प्रज्ञप्तिधर और दृष्टिवाद का अध्येता (पाठक) यदि कही बोलने मे चूक गया हो तो उसका उपहास न करे।[६१]

ब्रह्मचर्यगुप्ति के विविध अंगों के पालन का निर्देश

४३९. अप्पट्ठं पगड लेणं भएज्ज सयणाऽऽसण।
उच्चारभूमिसंपन्न इत्थी-पसु-विवज्जिय ॥५१॥

४४०. विवित्ता य भवे सिज्जा, नारीण न लवे कह।
गिहिसथव न कुज्जा, कुज्जा साहूहि सथव ॥५२॥

---

६० (क) दिट्ठ नाम ज चक्खुणा सय उवलद्ध। मित दुविह। सद्दओ परिमाणओ य। सद्दओ अणउव्व उच्चारिज्जमाण मित, परिमाणओ कज्जमेत्त उच्चारिज्जमाण मित। पड्प्पन्न नाम सर-वजण-पयादीहि उववेय।
—जिन चू, पृ २८९

(ख) अणुच्च कज्जमेत्त च मित। विय व्यक्त। जित न बामोहकरमणेकाकार। नाणदसणचरित्तमया जस्स आया अत्थि सो अत्तव। —अ चू, पृ १९७

(ग) 'दृष्टा दृष्टार्थ विषयाम्। जिता परिचिताम।' —हारि वृत्ति, पत्र २३५

६१. (क) आचारधर द्वादशागी मे प्रथम अग आचाराग के धारक, प्रज्ञप्तिधर—पाचवें अग व्याख्याप्रज्ञप्ति के धारक और दृष्टिवाद-अध्येता—बारहवे अग दृष्टिवाद का पढने वाला।
—दशवै (आ आत्मा), पृ ८०६

(ख) आचारधर स्त्रीलिगादीनि जानाति, प्रज्ञप्तिधरस्तान्येव सविशेषाणीत्येवभूतम्। तथा दृष्टिवाद-मधीयान—प्रकृति-प्रत्यय-लोपागम-वर्णविकार-कालकारकादिवेदिनम्। —हारि टी, प २२६

(ग) आचारो—लोचास्नानादि व्यवहार कथचिदापन्नदोषव्यपोहाय प्रायश्चित्तलक्षण प्रज्ञप्तिश्चैव सशयापन्नस्य मधुरवचनै प्रज्ञापना दृष्टिवादश्च। श्रोत्रपेक्षया सूक्ष्मजीवादिभावकथनम्।
—हारि टी., प ११०

(घ) ठाणाग ४।२४७ आयार-अक्खेवणी दिट्ठोवातअक्खेवेणी।

४४१. जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं।
एवं खु बंभयारिस्स इत्थीविग्गहओ भयं ॥५३॥

४४२. चित्तभित्तिं न निज्झाए, नारिं वा सुअलंकियं।
भक्खरं पिव दट्ठूणं दिट्ठिं पडिसमाहरे ॥५४॥

४४३. हत्थ-पाय-पडिच्छिन्नं + कण्ण-नास-विगप्पियं।
अवि वाससइं ÷ नारिं बंभयारी विवज्जए ॥५५॥

४४४. विभूसा इत्थिसंसग्गो पणीयरसभोयणं।
नरस्सऽत्तगवेसिस्स विसं तालउडं जहा ॥५६॥

४४५. अंग-पच्चंग-संठाणं चारुल्लवियपेहियं।
इत्थीणं तं न निज्झाए कामराग-विवड्ढणं ॥५७॥

४४६. विसएसु मणुण्णेसु पेमं नाभिनिवेसए।
अणिच्चं तेसिं विण्णाय परिणामं पोग्गलाण × य ॥५८॥

४४७. पोग्गलाण परिणामं तेसिं णच्चा जहा तहा।
विणीयतण्हो* विहरे सीईभूएण अप्पणा ॥५९॥

[४३९] (मुनि) दूसरो के लिए बने हुए, उच्चारभूमि (मल-मूत्र-विसर्जन की भूमि) से युक्त तथा स्त्री और पशु (उपलक्षण से नपु सक के ससर्ग) से रहित स्थान (उपाश्रय), शय्या और आसन (आदि) का सेवन करे ॥५१॥

[४४०] यदि उपाश्रय (स्थानक या निवासस्थान) विविक्त (एकान्त—अन्य साधुओ से रहित) हो तो (वहाँ अकेला मुनि) केवल स्त्रियो के बीच (धर्म-) कथा (व्याख्यान) न कहे, (तथा मुनि) गृहस्थो के साथ सस्तव (अतिपरिचय) न करे, (अपितु) साधुओ के साथ ही परिचय करे ॥५२॥

[४४१] जिस प्रकार मुर्गे के बच्चे को बिल्ली से सदैव भय रहता है, इसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है ॥५३॥

[४४२] चित्रभित्ति (स्त्रियो के चित्रो से चित्रित या युक्त दीवार) को अथवा (वस्त्राभूषणो से) विभूषित (सुसज्जित) नारी को टकटकी लगा कर न देखे। कदाचित् सहसा उस पर दृष्टि पड जाए तो दृष्टि तुरत उसी तरह वापस हटा ले, जिस तरह (मध्याह्नकालिक) सूर्य पर पडी हुई दृष्टि हटा ली जाती है ॥५४॥

[४४३] जिसके हाथ-पैर कटे हुए हो, जो कान और नाक से विकल हो, वैसी सौ वर्ष की (पूर्णवृद्धा) नारी (के ससर्ग) का भी ब्रह्मचारी परित्याग कर दे ॥५५॥

पाठान्तर—+पलिच्छिन्न। ÷वाससय। ×उ। *विणीय-तिण्हो।

[४४४] आत्मगवेषी पुरुष के लिए विभूषा, स्त्रीससर्ग और स्निग्ध (प्रणीत) रस-युक्त (सरस) भोजन तालपुट विष के समान है ।।५६।।

[४४५] स्त्रियो के (शृ गाररसप्रसिद्ध) अग, प्रत्यग, सस्थान, चारु-भाषण (मधुर बोली) और कटाक्ष (मनोहर-प्रेक्षण) के प्रति (साधु) ध्यान न दे (गौर से न देखे), (क्योकि ये सब) काम-राग को बढाने वाले (ब्रह्मचर्य-विघातक) है ।।५७।।

[४४६] (ब्रह्मचारी) शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श, इन पुद्गलो के परिणमन को अनित्य जान कर मनोज्ञ विषयो मे रागभाव स्थापित न करे ।।५८।।

[४४७] उन (इन्द्रियो के विषयभूत) पुद्गलो के परिणमन को जैसा है, वैसा जान कर अपनी प्रशान्त (शीतल हुई) आत्मा से तृष्णारहित होकर विचरण करे ।।५९।।

विवेचन—ब्रह्मचर्य की गुप्तियो के सन्दर्भ मे—प्रस्तुत ९ गाथाओ (४३९ से ४४७ तक) मे ब्रह्मचर्यमहाव्रत की रक्षा के लिए ब्रह्मचर्यव्रत की नौ बाडो के सन्दर्भ मे कतिपय स्वर्णसूत्र दिये गए है ।

ब्रह्मचर्यगुप्ति के लिए दस स्वर्णसूत्र—(१) परकृत उच्चारभूमियुक्त, स्त्री-पशु-नपु सक रहित स्थान, शयन और आसन का सेवन करे । (२) विविक्त स्थान मे स्थित अकेला साधु केवल स्त्रियो के बीच धर्मकथा न करे । (३) गृहस्थो से परिचय न करके साधुओ से परिचय करे । (४) मुर्गे के बच्चे को बिल्ली से भय होता है, वैसे ही साधु को स्त्रीशरीर से खतरा है । (५) दीवार पर चित्रित या विभूषित नारी को टकटकी लगा कर न देखे, कदाचित् दृष्टि पड जाए तो तुरत वहाँ से हटा ले । (६) हाथ-पैर कटी हुई विकलाग सौ वर्ष की वृद्धा के ससर्ग से भी दूर रहे । (७) विभूषा, स्त्रीससर्ग और स्निग्ध सरसभोजन तालपुटविष के समान है । (८) स्त्रियो के अगोपाग, मधुर भाषण, कटाक्ष आदि की ओर ध्यान न दे, विकारी दृष्टि से न देखे, क्योकि ये कामरागवर्द्धक हैं । (९) मनोज्ञ इन्द्रियविषयो के प्रति रागभाव न रखे । (१०) पुद्गलो के परिणमनरूप विषयो को यथावत् जान कर उनके प्रति अनासक्त एव उपशान्त होकर विचरण करे ।[६२]

'अन्नट्ठ पगड' आदि शब्दों के विशेषार्थ—**अन्नट्ठ पगड**—**अन्यार्थ प्रकृत**—निर्ग्रन्थ श्रमणो के अतिरिक्त अन्य के लिए निर्मित । 'अन्य' शब्द से सूचित होता है कि वह चाहे गृहस्थ के लिए बना हो या अन्य तीर्थिको के लिए, साधु उसमे निवास कर सकता है । **लयनं** का अर्थ घर या निवासगृह है ।

इत्थीपसुविवज्जियं : स्त्रीपशुविवर्जितः तात्पर्य है—जहाँ स्त्री, पशु और नपु सक से ससक्त बार-बार आवागमन होता हो या रात्रिनिवास हो अथवा जहाँ ये दीखते हो, वहाँ साधु को रहना वर्जित है ।

नारीणं न लवे कहं—(१) स्त्रियो को कथा न कहे अथवा (२) स्त्रियो की कथा न कहे ।

गिहिसंथव न कुज्जा का तात्पर्य—यह है कि गृहस्थ के अतिससर्ग के कारण आसक्ति तथा आचारशैथिल्य आदि दोषो की सम्भावना है ।

---

६२ दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ६०-६१

इत्थीविग्गहओ भयं : अभिप्राय—यहाँ 'स्त्री से भय है', ऐसा न कह कर स्त्रीविग्रह (नारीशरीर) से भय है, इसका फलितार्थ यह है कि स्त्रीससर्ग, स्त्रीपरिचय, स्त्री के साथ निवास अथवा विकारी दृष्टि से उसके हावभाव, कटाक्ष, अगोपाग, चित्रित-विभूषित स्त्री आदि का प्रेक्षण साधु के लिए वर्जित है। यहाँ तक कि मृतक स्त्रीशरीर भी भयकारी हैं।

हत्थपायपडिच्छिन्नं. आदि गाथा का फलितार्थ—यहाँ 'अपि' शब्द सम्भावनार्थ है, अतः यह सम्भावना की जा सकती है कि जब हाथ-पैर कटी हुई विकलाग शतवर्षीया वृद्धा के ससर्ग से दूर रहने का कहा गया है, तब वह स्वस्थ एव सर्वांगपूर्ण तरुण नारी से दूर रहे, इसमे कहना ही क्या है ?[६३]

अत्तगवेसिस्स : आत्मगवेषी—जिसने आत्मा के हित का अन्वेषण कर लिया, उसने आत्मा का अन्वेषण कर लिया। आत्मगवेषणा आत्मा के हिताहित के सन्दर्भ मे की जाती है। दुर्गतिगमन,

---

६३ (क) 'अन्यार्थं प्रकृत'—न साधुनिमित्त निर्वर्तितम्।' —हारि वृत्ति, पत्र २३६

(ख) अन्नट्ठगहणेण अन्नउत्थिया गहिया, अन्नस्स अट्ठाए नाम अन्ननिमित्त पगड-पकप्पिय भण्णइ।
—जिन चूर्णि, पृ २९०

(ग) विवज्जिय नाम जत्थ तेसिं आलोयमादीणि णत्थि त विवज्जिय भण्णइ, तत्थ आत-पर-समुत्था दोसा भवतित्ति काउ ण ठाइयव्व। तीए विवित्ताए सेज्जाए नारीण णो कह कहेज्जा। कि कारण ? आत-पर-समुत्था दोसा भवतित्ति काउ। —वही, चूर्णि, पृ २९०

(घ) नत्थ जतिच्छोवगताण वि नारीण सिंगारातिग विसेसेण ण कधे कह। को पुण निबधो, ज विवित्तलय-णत्थितेणावि कहचि उपगताण नारीण कहा ण कथनीया ? भण्णति। वत्स ! न णु चरित्तवतो महाभयमिद इत्थी-णाम कह। —अग चूर्णि, पृ १९८

(ङ) बितिय-नारीजणस्स मज्झे न कहेयव्वा कहा विचित्ता। —प्रश्न सवरद्वा. ४

(च) नो स्त्रीणा कथा कथयिता भवतीति। —समवा वृत्ति, पत्र १५

(छ) स्त्रीणा केवलानामिति गम्यते, कथा धर्मदेशनादि-लक्षणवाक्-प्रतिबन्धरूपा। यदि वा 'कर्णाटी सुरतोप-चारकुशला,' इत्यादि प्रागुक्ता वा जात्यादिचातुर्यरूपा कथा कथयिता। —ठा ९।३ वृ

(ज) गिहिसथव-- गृहिपरिचय न कुर्यात्। तत्स्नेहादिदोषसभवात्। कुर्यात् साधुभि सस्तव-परिचय, कल्याणमित्रयोगेन, कुशलपक्षवृद्धिभावत। —हारि वृत्ति, पत्र २३७

(झ) विग्गहो सरीर भण्णइ। आह —इत्थीओ भयति भाणियव्वे ता किमत्थ विग्गहग्गहण कय ? भण्णति, न केवल सज्जीवइत्थिसमीवाओ भय किन्तु ववगतजीवाए वि सरीर, ततो वि भय भवई। अओ विग्गहगहण कय ति। -- जिन चूर्णि, पृ २९१

(ञ) दशवै (सतबालजी), पृ ११५

(ट) अवि सद्दो सभावणे वट्टइ। कि सभावयति ? जहा--जइ हत्थादिविच्छिन्ना वि वाससयजीवी दूरओ परिवज्जणिज्जा, किं पुण जा अपलिच्छिन्ना वायत्था वा ? एय सभावयति। —जिन चूर्णि, पृ २९१

जन्ममरणरूप ससारपरिभ्रमण, आदि आत्मा के लिए अहित है तथा अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, स्वभाव-रमण आदि आत्मा के लिए हित है। जो अहितो से आत्मा को मुक्त करना और हितो में आत्मा को व्यापृत करना चाहता है, वही आत्मगवेषी है।[६४]

विसं तालउडं जहा—तालपुट विष का अर्थ है—ताल (हथेली) सपुटित (बद) हो, उतने समय मे जो विष भक्षणकर्ता को मार डाले ऐसा तत्काल प्राणनाशक विष।[६५]

अंग-पच्चंग-सठाणं—**अग-प्रत्यंग-सस्थान**—अग (हाथ, पैर आदि शरीर के मुख्य अवयव), प्रत्यग (आंख, दात आदि शरीर के गौण अवयव) और सस्थान (शरीर की आकृति, सौष्ठव, डीलडौल सौन्दर्य या रूप) एव अग और प्रत्यगो का सस्थान—विन्यासविशेष।[६६]

पोग्गलाणं परिणामं—**पुद्गलों का परिणमन**—इन्द्रियो के पाचो विषय पुद्गलो के परिणाम है। परिणाम का अर्थ है—वर्तमान पर्याय को छोड कर दूसरी पर्याय मे जाना—अवस्थान्तरित होना। शब्दादि इन्द्रिय-विषय मनोज्ञ और अमनोज्ञ दोनो रूप मे परिवर्तित होते रहते है। जो आज मनोज्ञ या सुन्दर हैं, वे कालान्तर मे अमनोज्ञ या असुन्दर हो सकते है, जो अमनोज्ञ या असुन्दर है, वे मनोज्ञ या सुन्दर या विशेष अमनोज्ञ हो सकते है। यही इनका अनित्य रूप है, जिसका चिन्तन करके ब्रह्मचारी को विषय के प्रति राग-द्वेष से दूर रहना चाहिए। प्रेम और राग एकार्थक है।[६७]

कामरागविवड्ढणं : तात्पर्य—स्त्रियो के अग-प्रत्यग, हावभाव, सौन्दर्य, चालढाल, अग-चेष्टा आदि को गौर से देखने से कामराग की वृद्धि होती है।[६८]

सीईभूएण अप्पणा : विशेषार्थ—शीतीभूत का अर्थ है—क्रोधादि अग्नि के शान्त हो जाने से उपशान्त।[६९]

---

६४ (क) 'अत्तगवेसिणा' आत्महितान्वेषणपरस्य।' —हारि. वृ, पत्र २३७
(ख) अप्पहितगवेसणेण अप्पा गविट्ठो भवति। — अ चू, पृ १९९
(ग) अहवा मरणभयभीतस्स अत्तणो उवायगणवेसितेण अत्ता सुट्ठु वा गवेसिणो, ज एएहिंतो अप्पाण विमोएई। —जिन चूर्णि, पृ २९२

६५ तालपुड नाम जेणतरेण ताला सपुडिज्जति तेणतरेण मारयतीति तालपुड। जहा जीवियाकखिणो न तालपुट-विसभक्खण सुहावह भवति, तहा धम्मकामिणो नो विभूसाईणि सुहावहाणि भवतीत्ति।
—जिन चूर्णि, पृ २९२

६६ अगस्त्यचूर्णि, पृ २९२

६७ (क) जि चू, २९२-२९३
(ख) 'पेमति वा रागोत्ति वा एगट्ठा।'

६८ दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ. ८१९

६९ शीतीभूतेन क्रोधाद्यग्न्यपगमात् प्रशान्तेन। —हारि वृत्ति., पत्र २३८

प्रव्रज्याकालिक श्रद्धा अन्त तक सुरक्षित रखे

४४८. जाए सद्धाए निक्खंतो परियायठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालेज्जा गुणे आयरियसम्मए ॥६०॥

[४४८] जिस (वैराग्यभावपूर्ण) श्रद्धा से घर (अथवा ससार) से निकला और उत्तम पर्यायस्थान (प्रव्रज्या-स्थान) को स्वीकार किया, उसी (त्यागवैराग्यपूर्ण) श्रद्धा से आचार्य-सम्मत गुणो (मूल-गुणो) का अनुपालन करे ॥६०॥

विवेचन—प्रस्तुत गाथा मे साधु के आचार-सर्वस्व—मूलगुण-उत्तरगुणो का पालन उसी श्रद्धा से हो जिस श्रद्धा से (उत्कृष्ट वैराग्यभाव) से प्रव्रज्या अगीकार की है, यह प्रतिपादन किया गया है।

अणुपालेज्जा—निरन्तर पालन करे।

गुणे—उत्तम गुणो मे मूलगुणो और उत्तरगुणो का समावेश होता है। जिसका विस्तृत वर्णन पूर्व मे किया गया है।

सद्धाए : श्रद्धा से—व्युत्पत्ति के अनुसार श्रद्धा का अर्थ होता है—श्रत्—सत्य को जो धारण करती है, वह श्रद्धा है।× निष्कर्ष है—त्याग, वैराग्य आदि (साधुजीवन के परमसत्यो को मनोभाव से धारण करना श्रद्धा है। 'जाए' श्रद्धा का विशेषण है। अर्थ होता है—जिस (प्रव्रजित होने के समय की) श्रद्धा से। आचारागसूत्र मे भी ऐसा ही पाठ मिलता है।[७०]

आचार-प्रणिधि का फल

४४९. तवं चिमं सजमजोगयं च सज्झायजोगं च सया अहिट्ठए।
सूरे व सेणाइ+ समत्तमाउहे अलमप्पणो होई अलं परेसिं ॥६१॥

४५०. सज्झाय-सज्झाणरयस्स ताइणो, अपावभावस्स तवे रयस्स।
विसुज्झइ जं से* मलं पुरेकडं समीरियं रुप्पमलं व जोइणा ॥६२॥

७० (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.)
(ख) दशवै (सतबालजी), पृ ११७
(ग) सद्धा धम्मे आयरो। —अ चू, पृ २००
(घ) सद्धा परिणामो भवई। —जि चू, पृ २९३
× श्रत् सत्य दधातीति श्रद्धा।
(ङ) श्रद्धया-प्रधानगुणस्वीकरणरूपया। —हारि वृत्ति, पत्र २३८
(च) त सद्ध पव्वज्जासमकालिणि अणुपालेज्जा। —अ चू, पृ. २००
(छ) तमेव परियायट्ठाणमुत्तम। —जि. चू, पृ २९३
(ज) आचाराग १।३५

पाठान्तर— + सेणाए। * जसि।

४५१. से तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए सुएण जुत्ते अममे अकिंचणे ।
विरायइ कम्मघणम्मि अवगए, कसिणऽब्भपुडावगमे व चंदिमा ॥६३॥

—त्ति बेमि ॥

॥ अट्ठम : आयारप्पणिहि-अज्झयणं समत्तं ॥८॥

[४४९] (जो मुनि) इस (सूत्रोक्त) (बाह्याभ्यन्तर) तप, सयमयोग और स्वाध्याययोग मे सदा निष्ठापूर्वक प्रवृत्त रहता है, वह अपनी और दूसरो की रक्षा करने मे उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार सेना से घिर जाने पर समग्र आयुधो (शस्त्रास्त्रो) से सुसज्जित शूरवीर ॥६१॥

[४५०] स्वाध्याय और सद्ध्यान मे रत, त्राता, निष्पापभाव वाले (तथा) तपश्चरण मे रत मुनि का पूर्वकृत (कर्म) मल उसी प्रकार विशुद्ध होता है, जिस प्रकार अग्नि द्वारा तपाए हुए रूप्य (सोने और चादी) का मल ॥६२॥

[४५१] जो (पूर्वोक्त) गुणो से युक्त है, दु खो (परीषहो) को (समभावपूर्वक) सहन करने वाला है, जितेन्द्रिय है, श्रुत (शास्त्रज्ञान) से युक्त है, ममत्वरहित और अकिंचन (निष्परिग्रह) है, वह कर्मरूपी मेघो के दूर होने पर, उसी प्रकार सुशोभित होता है, जिस प्रकार सम्पूर्ण अभ्र-पटल से विमुक्त चन्द्रमा ॥६३॥

ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—इहलौकिक और पारलौकिक उपलब्धियाँ—प्रस्तुत तीन गाथाओ (४४९ से ४५१ तक) मे इस अध्ययन मे उक्त आचार-प्रणिधि के सूत्रानुसार सयमी जीवनयापन करने वाले मुनि को प्राप्त होने वाली इहलौकिक, पारलौकिक उपब्धियो का वर्णन किया गया है ।

तीन उपलब्धियाँ—(१) कषाय-विषय आदि से अपनी रक्षा करने और कर्मशत्रुओ को हटाने मे समर्थ हो जाता है, (२) अग्नितप्तस्वर्ण की तरह पूर्वकृत कर्ममल से रहित हो जाता है, और (३) अभ्रपटलमुक्त चन्द्रमा की तरह कर्मपटलमुक्त सिद्ध आत्मा बन जाता है ।[७१]

सूरे व सेणाई० पंक्ति का आशय—जो साधु तप, सयम एव स्वाध्याययोग मे रत रहता है, वह इन्द्रियो और कषायो की सेना से घिरा होने पर तप आदि खड्ग प्रभृति समग्र शस्त्रास्त्रो से अपनी आत्मरक्षा करने मे और कर्म आदि शत्रुओ को परास्त करके खदेडने मे उसी प्रकार समर्थ होता है, जिस प्रकार समग्र शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित योद्धा शत्रु की चतुरगिणी विशाल सेना से घिरा होने पर अपनी रक्षा करने और शत्रुओ को खदेडने मे समर्थ होता है । अथवा जिस प्रकार शस्त्रो से सुसज्जित वीर चतुरगिणी सेना से घिर जाने पर अपना और दूसरो का सरक्षण करने मे समर्थ होता है, उसी प्रकार जो मुनि तप, सयम, स्वाध्यायादि गुणो से सम्पन्न होता है, वह इन्द्रिय और कषायरूप सेना से घिर जाने पर अपनी आत्मा की और सघ के अन्य साधुओ के आत्मा की पापो

---

७१ दसवेयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ ६१

से रक्षा करने में समर्थ होता है ।[७२]

तीन योगों में निष्ठावान्—तपयोग, सयमयोग, स्वाध्याययोग मे निष्ठापूर्वक प्रवृत्त होने वाला ही स्वपररक्षा मे समर्थ हो सकता है ।

तपोयोग का अर्थ है—बारह प्रकार के तप मे मन-वचन-काया के योग से प्रवृत्त रहना । **सयमयोग** का अर्थ है—जीवकायसयम, इन्द्रियसयम, मन सयम आदि १७ प्रकार के सयम के निरन्तर समाचरण और **स्वाध्याययोग** का अर्थ है—वाचना आदि पाच अगो वाले स्वाध्याय मे रत रहना । **एक प्रश्न : समाधान**—तप का ग्रहण करने से १२ प्रकार के तपो मे स्वाध्याय का समावेश हो ही जाता है, फिर स्वाध्याय को पृथक् ग्रहण करने का क्या कारण है ? इसका समाधान अगस्त्यचूर्णि मे इस प्रकार किया गया है—स्वाध्याय १२ प्रकार के तपो मे मुख्य तप है, इस मान्यता को परिपुष्ट करने हेतु स्वाध्याय का पृथक् ग्रहण किया गया है ।[७३]

अहिट्ठए-अहिट्ठिए : दो रूप, दो अर्थ—(१) **अधिष्ठाता**—निष्ठावान्, किन्तु 'अहिट्ठए' का यहाँ क्रियापरकरूप **'अधिष्ठेत्'** मानकर अर्थ किया है—प्रवृत्त (जुटा) रहता है । (२) **अधिष्ठित**—निष्ठापूर्वक स्थित हो जाता है ।[७४]

समत्तमाउहे : समस्तायुध : अर्थ - समग्र आयुधो (पचविध शस्त्रास्त्रो) से सुसज्जित । **मल**—पापमल या कर्ममल ।

दुक्खसहे—शारीरिक-मानसिक दु खो को सहने वाला, परीषहविजेता ।

अममे अकिंचणे—अमम का अर्थ होता है—जिसके ममता—मेरापन नही होता, जबकि

---

७२ (क) दशवै पत्राकार, (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८२५

(ख) 'जहा कोई पुरिसो चउरगबलसमन्नागताए सेणाए अभिरुद्धो सपन्नाउहो अल (सूरो अ) सो अप्पाण पर च ताओ सगामाओ नित्थारेउ ति, अल नाम समत्थो, तहा सो एवगुणजुत्तो अल अप्पाण पर च इदिय-कसायसेणाए अभिरुद्ध नित्थारेउ ति ।।' —जिन चूर्णि, पृ २९३

(ग) अहवा अल परेसिं, परसद्दो एत्थ सत्तूसु वट्टति, अल सद्दो विधारणे । सो अल परेसिं धारणसमत्थो सत्तूण । —अगस्त्यचूर्णि, पृ २००

७३ (क) सत्तरस विध सजमजोग । —अ. चू , पृ २००

(ख) सयमयोग—पृथिव्यादिविषय सयमव्यापार ।

(ग) इह च तपोऽभिधानात् तद्ग्रहणेऽपि स्वाध्याययोगस्य प्राधान्यख्यापनार्थं भेदेनाऽभिधानम् ।
—हारि वृत्ति, पत्र २३८

(घ) बारसविहम्मि वि तवे, सब्भितरबाहिरे कुसलदिट्ठे ।
न वि अत्थि, न वि अ होही, सज्झायसम तवोकम्म ॥ —कल्प भाष्य, गा ११६९

७४. (क) अधिष्ठाता—तप प्रभृतीना कर्ता । —हा. वृ., पत्र २३८

(ख) दसवेयालिय (मु. नथ), पृ ६८२

अकिंचन का अर्थ होता है—जो हिरण्य आदि द्रव्यकिंचन और मिथ्यात्वादि भावकिंचन से रहित होता है।

अब्भपुडावगमे : अभ्रपुट से वियुक्त होने पर। बादल आदि का दूर होना, या हिम, रज, तुषार, कुहासा आदि सब अभ्रपुटो से वियुक्त होना।[७५]

॥ अष्टम अध्ययन : आचार-प्रणिधि समाप्त ॥

---

७५ पंचवि आउधाणि सुविदिताणि जस्स सो समत्तमायुधो।

(ख) स्योमलो पावमुच्यते। दुक्ख सारीर-माणस सहतीति दुक्खसहो। णिमम्मते अममे। अब्भस्स पुड बलाहतादि, अब्भपुडस्स अवगमो—हिम-रजो-तुसार-धूमिकादीण वि अवगमो। —अ. चू., पृ. २०१

(ग) दुक्खमह परिसहजेता। —हा वृ. प २३८

नवमं अज्झयणं : विणयसमाही

नौवाँ अध्ययन : विनयसमाधि

प्राथमिक

☐ दशवैकालिकसूत्र का यह नौवाँ अध्ययन विनयसमाधि है। विनय में समाधि किन-किन उपायो से एव किस-किस प्रकार के आचरण से प्राप्त होती है ? यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य विषय है।[1] नौवें पूर्व की तृतीय वस्तु से यह अध्ययन उद्धृत हुआ है।

☐ जिस प्रकार वृक्ष, रथ आदि के योग्य होता है, तथा सोना, कडा-कुण्डल आदि बनाने के योग्य होता है, ठीक इसी प्रकार आत्मा भी विनयधर्म से समाधि के योग्य होता है।[2]

☐ विनय का अर्थ केवल नमन करना, झुक जाना, वाणी से नम्रता दिखाना ही नही है, क्योकि कई लोग अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए, दूसरो को धोखा देने या ठगने के लिए भी नमते-झुकते है, या मीठे-मीठे वचन बोलकर नम्रता दिखाते है। विनयवादी भी एकान्तरूप से कायिक विनय को ही कल्याण का साधन मानकर पापी, उद्दण्ड आदि सभी मनुष्यो को ही नही, कुत्ते, घोडे, सिह, सर्प आदि को भी नमन करते है। लौकिक लाभ की दृष्टि से विनय के मुख्यतया चार भेद है—(१) लोकोपचारविनय, (२) अर्थविनय, (३) कामविनय और (४) भयविनय। **लोकोपचार-विनय**—लौकिक लाभ या फल के लिए नानाप्रकार से विनय, भक्ति, सेवाशुश्रूषा आदि करना। **अर्थ विनय**—धनप्राप्ति के लिए राजा, सेठ, मत्री या ग्राहक आदि का विनय करना। **कामविनय**—काममुख के लिए या भोगसामग्री प्राप्त करने के लिए कुलटा स्त्रियो आदि के समक्ष नम्रता दिखाना, धनादि द्वारा सत्कार करना, सेवा करना। **भयविनय**—किसी भी प्रकार के भयवश वेतनभोगी नौकर, दास, दुर्बल या निर्धन आदि द्वारा अपने स्वामी (मालिक) या सेठ अथवा जबर्दस्त व्यक्ति आदि की विनय करना। ये चारो प्रकार लौकिक विनय के है।[3]

☐ **लोकोत्तरविनय अथवा मोक्षविनय**—लोकोत्तरविनय के सम्बन्ध मे जैनधर्म का दृष्टिकोण केवल गुरु के प्रति नम्रता के अर्थ मे परिसीमित नही है। वह लोकोत्तरविनय को धर्म का मूल और उसका परम (उत्कृष्ट) फल मोक्ष को मानता है।[4] इसका फलितार्थ यह है कि जो आचरण या व्यवहार कर्मों के बन्धन से आशिक या सर्वथा रूप से मुक्त (मोक्ष) होने का हेतु हो, उसे मोक्ष या लोकोत्तरविनय कहते है। जैनधर्म मे विनय एक आभ्यन्तरतप है और तप कर्मनिर्जरा

---

१ दशवै निर्युक्ति गा. १७

२ दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८३२

३. वही, पृ. ८३३

४. एवं धम्मस्स विणओ, मूल, परमो से मोक्खो। —दश ९।२।२

का उत्तम साधन होने से धर्म है। धर्म सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्ररूप है और ये तीनो ही मिलकर मोक्षमार्ग है। इसलिए मोक्षरूप लक्ष्य को पाने के लिए विनय को सर्वांगीणरूप से जानना और आचरित करना आवश्यक है।

☐ ज्ञातासूत्र के अनुसार सुदर्शन ने थावच्चापुत्र अनगार से पूछा—आपके धर्म का मूल क्या है? थावच्चापुत्र ने कहा—हमारे धर्म का मूल विनय है। वह दो प्रकार का है—अगारविनय और अनगारविनय। पाच अणुव्रत, सात शिक्षाव्रत और ११ उपासक प्रतिमाएँ अगारविनय और पाच महाव्रत, १८ पापस्थान-विरति, रात्रिभोजन-विरमण, दशविध-प्रत्याख्यान और १२ भिक्षुप्रतिमाएँ, यह अनगार-विनय है।[५] इसके अतिरिक्त देव, गुरु, धर्म, शास्त्र और आचारवान् के प्रति मोक्ष-लक्ष्यप्राप्ति के उद्देश्य से नम्रता का प्रयोग भी लोकोत्तरविनय के अन्तर्गत है।

☐ इसी दृष्टि से औपपातिकसूत्र मे लोकोत्तर विनय के ७ प्रकार बताए गए है—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, मन, वाणी और काया तथा सातवा उपचार विनय है।[६] केवल महाव्रती गुरु के प्रति आदर-सत्कार, सम्मान-बहुमान, सेवा-शुश्रूषा करना उनके आने पर खडा होना, हाथ जोडना, आसन देना, भक्ति करना, अनुशासन मे रहना, आज्ञापालन करना, उनके प्रति मन, वचन, काया से नम्र, अनुद्धत रहना, आदि ही विनय नही है।[७] परन्तु प्रस्तुत अध्ययन तथा उत्तराध्ययन-सूत्र के प्रथम 'विनयश्रुत' अध्ययन के परिशीलन से स्पष्ट है कि ज्ञान, दर्शन और चारित्र के प्रति अनुद्धत रहना, इनकी तथा ज्ञानवान्, दर्शनवान्, चारित्रवान् की आशातना न करना भी विनय है।+ लोकोत्तरविनय के इन सब प्रकारो मे ज्ञानादि पच आचार की प्रधानता है।

☐ प्रस्तुत अध्ययन के चार उद्देशक है, इन चारो मे प्रतिपादित विषय को देखते हुए इनके शीर्षक इस प्रकार हो सकते हैं—(१) गुरु की आशातना के दुष्परिणाम, गुरु की महिमा और विनयभक्ति का निर्देश, (२) विनय के द्वारा प्राप्त उपलब्धि एव विनयविधि तथा अविनीत-सुविनीत का लक्षण, (३) आचारप्रधान विनयधर्म का आराधक ही लोकपूज्य, (४) विनय-समाधि की परिपूर्णता।

☐ प्रथम उद्देशक मे सर्वप्रथम ११ गाथाओ मे विविध उपमाओ के द्वारा आचार्य या गुरु (चाहे वह अल्पवयस्क या अल्पप्रज्ञ हो) की अविनय, अवज्ञा, अवहेलना या आशातना करने के दुष्परिणामो का निरूपण किया गया है। तत्पश्चात् यह बताया गया है कि गुरु के प्रति विनय, सत्कार, नमस्कार, हाथ जोडना, सेवा-शुश्रूषा करना तथा मन-वचन-काया से आदर आदि क्यो करना चाहिए? अन्त मे गुरुविनय के उत्कृष्टफल—अनुत्तर ज्ञानादि गुणों की प्राप्ति,

---

५ ज्ञातासूत्र ५ अ

६ औपपातिकसूत्र

७. उत्त ३०।३२

+ विणओ वि तवो, तवो वि धम्मो। —आव. ३, स. द्वार

कर्म-निर्जरा, समाधियोग, श्रुतशीलसम्पन्नता, बौद्धिक वैभव, मोक्ष एव अनुत्तरसिद्धि आदि बताए हैं।[८]

- द्वितीय उद्देशक मे विनय को धर्मरूपी वृक्ष का मूल बता कर उसका परमफल मोक्ष बताया गया है। अविनीत को ससारस्रोतपतित, ज्ञान-दर्शनादि दिव्यलक्ष्मी से वचित अविनीत अश्वादि की तरह दु खानुभवकर्ता, विविधप्रकार से यातना पाने वाला, विपत्तिभाजन आदि और सुविनीत को ऋद्धि-यश पाकर सुखानुभवकर्ता, ग्रहण-आसेवन शिक्षा से पुष्पित-फलित एव शिक्षाकाल मे कठोर अनुशासन को भी प्रसन्नतापूर्वक स्वीकारकर्ता और गुरुवचनपालक बताया है। तत्पश्चात् गुरु के प्रति कायिक, वाचिक एव मानसिक विनय की विधि का निर्देश किया है। ग्रहण-आसेवन शिक्षा को प्राप्त करने का अधिकारी सुविनीत ही होता है। अन्त मे अविनीत, उद्धत, चण्ड, गर्विष्ठ, पिशुन, साहसिक, आज्ञा को भग करने वाला, अदृष्टधर्मा, विनय मे अनिपुण एव असविभागी को मोक्ष की अप्राप्ति और आज्ञाकारी, गीतार्थ और विनयकोविद को सर्वदा कर्मक्षय करके ससारसागर को पार करके उत्तम गति की प्राप्ति बताई है।[९]
- तृतीय उद्देशक मे बताया गया है कि पूज्य वह होता है, जो अग्निहोत्री के समान गुरु की सेवा-शुश्रूषा मे सतत जागरूक रह कर उनकी आराधना करता है, गुरु के उपदेशानुसार आचरण करता है, अल्पवयस्क किन्तु दीक्षा ज्येष्ठ साधु को पूजनीय मान कर विनयभक्ति करता है। जो नम्र है, सत्यवादी है, गुरुसेवा मे रत है, अज्ञात-भिक्षाचर्या करता है, अलाभ मे खिन्न और लाभ मे स्वप्रशसापरायण नही होता, जो अल्पेच्छ, यथा-लाभ-सन्तुष्ट, कण्टकसम कठोरवचन-सहिष्णु, जितेन्द्रिय एव अवर्णवाद-विमुख होता है, निषिद्ध भाषा का प्रयोग नही करता, जो रसलोलुप, चमत्कारप्रदर्शक, पिशुन, दीनभाव मे याचक, आत्मश्लाघाकर्ता नही है, जो अकुतूहली है, गुणो से साधु है, सब जीवो को आत्मवत् मानता है, किसी को तिरस्कृत नही करता गर्व एव क्रोध से दूर है, योग्यमार्गदर्शक है, पचमहाव्रतो मे रत है, त्रिगुप्त, कषायविजयी तथा जिनागमनिपुण है।[१०]
- चतुर्थ उद्देशक मे विनय, श्रुत, तप और आचार के द्वारा विनयसमाधि के चार स्थानो का विशद निरूपण किया गया है। अत मे चारो समाधियो के ज्ञाता और आचरणकर्ता को जन्म-मरण मे सर्वथा मुक्ति अथवा दिव्यलोकप्राप्ति बताई है।[११]

□

---

८ दसवेयालिय सुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), ९।१

९ वही, ९।२

१० वही, ९।३

११ वही, ९।४

नवमं अज्झयणं : विणयसमाही

नौवाँ अध्ययन : विनयसमाधि

पढमो उद्देसो : प्रथम उद्देशक

अविनीत साधक द्वारा की गई गुरु-आशातना के दुष्परिणाम

४५२. थंभा व कोहा व मयप्पमाया गुरुस्सगासे विणय न सिक्खे ।
सो चेव उ तस्स अभूइभावो फलं व कीयस्स वहाय होइ ॥१॥

४५३. जे यावि मदेत्ति* गुरुं विइत्ता डहरे इमे + अप्पसुए त्ति नच्चा ।
हीलंति मिच्छं पडिवज्जमाणा करेंति आसायण ते गुरूण ॥२॥

४५४. पगईए मंदा वि भवंति एगे डहरा वि य जे सुयबुद्धोववेया ।
आयारमंता गुणसुट्ठियप्पा जे हीलिया सिहिरिव भास कुज्जा ॥३॥

४५५. जे यावि नागं डहरे = त्ति नच्चा आसायए से अहियाय होइ ।
एवाऽऽयरियं पि हु हीलयतो नियच्छई जाइपहं खु मंदे । ४॥

४५६. आसीविसो यावि परं सुरुट्ठो किं जीवनासाओ* पर नु कुज्जा ?
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहि-आसायण नत्थि मोक्खो ॥५॥

४५७. जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा आसीविस वा वि हु कोवएज्जा ।
जो वा विस खायइ जीवियट्ठी एसोवमाऽऽसायणया गुरूण ॥६॥

४५८. सिया हु से पावय नो डहेज्जा, आसीविसो वा कुविओ न भक्खे ।
सिया विस हालहल न मारे, न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥७॥

४५९. जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे सुत्तं व सीह पडिबोहएज्जा ।
जो वा दए सत्तिअग्गे पहारं, एसोवमाऽऽसायणया गुरूणं ॥८॥

४६०. सिया हु सीसेण गिरिं पि भिंदे, सिया हु सीहो कुविओ न भक्खे ।
सिया न भिंदेज्ज व सत्तिअग्गं, न यावि मोक्खो गुरुहीलणाए ॥९॥

४६१. आयरियपाया पुण अप्पसन्ना अबोहि-आसायण नत्थि मोक्खो ।
तम्हा अणाबाह-सुहाभिकंखी गुरुप्पसायाभिमुहो रमेज्जा ॥१०॥

पाठान्तर—* मदत्ति । + अप्पसुअ त्ति । = डहर ति । * नासाउ ।

[४५२] (जो साधक) गर्व, क्रोध, माया और प्रमादवश गुरुदेव के समीप विनय नही सीखता, (उसके) वे (अहकारादि दुर्गुण) ही वस्तुत उस (साधु) के ज्ञानादि वैभव के (उसी प्रकार) विनाश के लिए होते हैं, जिस प्रकार बास का फल उसी के विनाश के लिए होता है ।।१।।

[४५३] जो (अविनीत साधु) गुरु की 'ये मन्द (मन्दबुद्धि) है, ये अल्पवयस्क हैं तथा अल्पश्रुत हैं' ऐसा जान कर हीलना करते है, वे मिथ्यात्व को प्राप्त करके गुरुओ की आशातना करते हैं ।।२।।

[४५४] कई (वयोवृद्ध आचार्य) स्वभाव (प्रकृति) से ही मन्द होते है और कोई अल्पवयस्क (होते हुए) भी श्रुत (शास्त्रज्ञान) और बुद्धि से सम्पन्न होते हैं। वे आचारवान् और गुणो मे सुस्थितात्मा (आचार्य चाहे मन्द हो या प्राज्ञ) अवज्ञा (हीलना) किये जाने पर (गुणराशि को उसी प्रकार) भस्म कर डालते हैं, जिस प्रकार इन्धनराशि को अग्नि ।।३।।

[४५५] जो कोई (अज्ञ साधक) सर्प को 'छोटा बच्चा है' यह जान कर उसकी आशातना (कदर्थना) करता है, वह (सर्प) उसके अहित के लिए होता है, इसी प्रकार (अल्पवयस्क) आचार्य की भी अवहेलना करने वाला मन्दबुद्धि भी ससार में जन्म-मरण (या एकेन्द्रियादि जाति) के पथ पर गमन (परिभ्रमण) करता है ।।४।।

[४५६] अत्यन्त क्रुद्ध हुआ भी आशीविष सर्प जीवन-नाश से अधिक और क्या कर सकता है ? परन्तु अप्रसन्न हुए पूज्यपाद आचार्य तो अबोधि के कारण बनते है, (जिससे आचार्य की) आशातना से मोक्ष नही मिलता ।।५।।

[४५७] जो प्रज्वलित अग्नि को (पैरो से) लाघता-मसलता है, अथवा आशीविष सर्प को (छेडकर) कुपित करता है, या जीविताथी (जीवित रहने का अभिलाषी) होकर (भी) जो विष-भक्षण करता है, ये सब उपमाएँ गुरुओ की आशातना के साथ (घटित होती हैं) ।।६।।

[४५८] कदाचित् वह (प्रचण्ड) अग्नि (उस पर पैर रख कर चलने वाले को) न जलाए, अथवा कुपित हुआ आशीविष सर्प भी (छेडखानी करने वाले को) न डसे, इसी प्रकार कदाचित् वह हलाहल (नामक तीव्र विष) भी (खाने वाले को) न मारे, किन्तु गुरु की अवहेलना से (कदापि) मोक्ष सम्भव नही है ।।७।।

[४५९] जो (मदान्ध) पर्वत को सिर से फोडना चाहता है, अथवा सोये हुए सिह को जगाता है, या जो शक्ति (भाले) की नोक पर (हाथ-पैर आदि से) प्रहार करता है, गुरुओ की आशातना करने वाला भी इनके तुल्य है ।।८।।

[४६०] सम्भव है, कोई अपने सिर से पर्वत का भी भेदन कर दे, कदाचित् कुपित हुआ सिह भी (उस जगाने वाले को) न खाए, अथवा सम्भव है भाले की नोक भी (उस पर प्रहार करने वाले का) भेदन न करे, किन्तु गुरु की अवहेलना से मोक्ष (कदापि) सम्भव नही है ।।९।।

[४६१] आचार्यप्रवर के अप्रसन्न होने पर बोधिलाभ नही होता तथा (उनकी) आशातना से मोक्ष नही मिलता। इसलिए निराबाध (मोक्ष) सुख चाहने वाला साधु गुरु की प्रसन्नता (कृपा) के अभिमुख होकर प्रयत्नशील रहे ।।१०।।

विवेचन—गुरु की आशातना के फल का निरूपण—प्रस्तुत १० गाथाओ (४५२ से ४६१) मे गुरुओ की आशातना के दुष्परिणामो का विविध उपमाओ द्वारा निरूपण किया गया है।

विणयं न सिक्खे : व्याख्या—गुरुदेव के समीप रह कर विनय नही सीखता अर्थात्—विनय का शिक्षण या अभ्यास नही करता। जिनदासचूर्णि मे विनय के दो भेद किये गए हैं—ग्रहणविनय और आसेवनविनय। अगस्त्यचूर्णि एव हारि वृत्ति मे 'ग्रहण' के बदले 'शिक्षा' शब्द मिलता है। ग्रहणविनय का अर्थ है—शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त करना, साधुसमाचारी, श्रमणधर्म आदि का शिक्षण लेना। आसेवनाविनय का अर्थ है—साध्वाचार एव प्रतिलेखन-स्वाध्याय-ध्यान आदि धर्मक्रिया का प्रशिक्षण या अभ्यास करना। व्यापक दृष्टि से देखा जाए तो दशाश्रुतस्कन्ध आदि मे विनय का अर्थ—आदर, बहुमान, नम्रता, अनुशासन, मर्यादा, विशिष्टनीति (कर्तव्यनिष्ठा) अनाशातना, सयम और आचार आदि है।[1]

'थंभा' आदि पदो के अर्थ—थंभा-स्तम्भ से—गर्व से। **मयप्पमाया**—माया और प्रमाद (मद, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा असावधानी आलस्य आदि) वश। **अभूइभावो : अभूतिभाव**—भूति का अर्थ है वैभव या ऋद्धि, भूति का अभाव अभूतिभाव है, जिसका पर्यायवाची शब्द विनाशभाव है। **कीयस्स वहाय**—हवा चलने से जो आवाज करता है, उस बास को कीचक कहते है। वह फल लगते ही सूख जाता है और नष्ट हो जाता है। अत कीचक बास का फल उसके विनाश के लिए होता है, उसी प्रकार अहकार आदि दुर्गुण ज्ञान-दर्शन आदि गुणो, आत्मशक्तियो के विनाश (विकसित न होने देने) के लिए होते है।[2]

विनयधर्म को ग्रहण न करने वाले कौन-कौन ?—प्रस्तुत गाथा (४५२) मे बताया गया है कि जो जाति, कुल, बल, रूप आदि का अहकार करते है, जो क्रोधी है, बात-बात मे आगबबूला हो जाते है, गुरु से शिक्षा लेते समय जिनकी त्योरियाँ चढ जाती हैं, जो मायावी है, शिक्षा पाने के डर से—'आज मेरे पेट मे दर्द है' या 'मस्तक दुख रहा है', इत्यादि—छल-कपट करके बेकार बैठे

---

१. (क) जिनदासचूर्णि, पृ ३०२ विनयेन न तिष्ठति, नासेवत इत्यर्थ। विणये दुविहे-गहणविणए, आसेवणाविणए।
(ख) विनय आसेवना—शिक्षाभेदभिन्नम्। —हारि. वृत्ति, पत्र २४२
(ग) दशाश्रुतस्कन्ध, दशा ४
(घ) दसवेयालिय (मु. नथमलजी), पृ ४३०
(ङ) दशवै. (सतबालजी), पृ. ११९

२. (क) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८३२
(ख) मायातो निकृतिरूपाया। —हारि वृत्ति, पत्र २४२
(ग) प्रमादग्रहणेन—निद्राविकहादिपमादट्ठाणा गहिया। अभूतिभावो नाम अभूतिभावो त्ति वा विणासभावो त्ति वा एगटठा। —जिन चूर्णि, पृ ३०२
(घ) भूतिभावो ऋद्धी, भूतीए अभावो अभूतिभावो—असपद्भाव इत्यर्थ। कीयो वसो, सो य फलेण सुक्खति। —अगस्त्यचूर्णि, पृ. २०६
(ङ) 'स्वनन् वातात स कीचक।' —अभिधानचिन्तामणि, ४-२१९

रहने, गपशप करने या सोते रहने में राजी रहते है, इसी तरह जो प्रमादी है, जिन्हे पढ़ने-लिखने या सेवा करने में अरुचि होती है, ऐसे दुर्गुणो वाले साधक विनयधर्म की शिक्षा ग्रहण करने के अधिकारी नही हो सकते ।[3]

आशातना : स्वरूप, प्रकार, कारण तथा दुष्परिणाम—आशातना का अर्थ—सब ओर से विनाश करना या कदर्थना करना है । गुरु की अवहेलना, अवज्ञा या लघुता करने का प्रयत्न आशातना है । गुरु की आशातना अपने ही सम्यग्ज्ञान-सम्यग्दर्शन की आशातना है । आशातना शब्द के विभिन्न अर्थ विभिन्न स्थलो में मिलते हैं—गुरु, आचार्य आदि के प्रतिकूल आचरण, उद्दण्डता, उद्धतता, विनयमर्यादारहित व्यवहार, गुरुवचन न मानना आदि । गुरुजनो की अवज्ञा अविनीत शिष्य दो प्रकार से करते है—सूया और असूया से । **सूया रीति** वह है, जो ऊपर से तो स्तुतिरूप मालूम होती है परन्तु उसके गर्भ मे निन्दारूप विषाक्त नदी बहती है । यथा—'गुरुजी विद्या में तो बृहस्पति से भी श्रेष्ठतर है, सभी शास्त्रो मे इनकी अबाधगति है, इनके अनुभवो का तो कहना ही क्या ? पूर्ण वयोवृद्ध जो हैं । ये हमसे सभी प्रकार से बडे हैं,' आदि-आदि । **असूयारीति** वह है, जिसमे गुरु की प्रत्यक्ष रूप मे निन्दा की जाती है । यथा—'तुम्हे क्या आता है ! तुम से तो हम ही अच्छे, जो थोडा-बहुत शास्त्रीयज्ञान रखते हैं । अवस्था भी कितनी छोटी है ! हमे तो इन से अध्ययन करते लज्जा आती है,' आदि ।[4]

(१) इस प्रकार जो गुरु की हीलना—अवज्ञा करते है, वे गुरु की आशातना करते हैं, वे मिथ्यात्व को प्राप्त करते हैं ।

(२) कई साधु वयोवृद्ध होते हुए भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की कमी के कारण स्वभाव से ही अल्पप्रज्ञाशील होते है, इसके विपरीत कई साधु अल्पवयस्क होते हुए भी श्रुत और प्रज्ञा से सम्पन्न होते है । किन्तु ज्ञान मे भले ही न्यूनाधिक हो, आचारवान् और सद्गुणो मे सुदृढ ऐसे गुरुओ की अवज्ञा (आशातना) सद्गुणो को उसी तरह भस्म कर देती है, जिस प्रकार अग्नि क्षणमात्र मे इन्धन के विशाल ढेर को भस्म कर देती है ।

(३) सर्प के छोटे-से बच्चे को छेडने वाला अपना अहित कर बैठता है । उसी प्रकार आचार्य को अल्पवयस्क समझ कर जो उनकी आशातना करता है, वह एकेन्द्रियादि जातियो मे जन्म-मरण करता रहता है । कदाचित् मन्त्रादिबल से अग्नि पैर आदि को न जलाए, मन्त्रादिबल से वश किया साप भी कदाचित् डस न सके, मन्त्रादिप्रयोग से तीव्र विष भी कदाचित् न मारे, किन्तु गुरु की की हुई आशातना के अशुभ फल से कभी छुटकारा नही हो सकता । उसके अशुभ फल भोगे विना कोई भी व्यक्ति मुक्त नही हो सकता ।

(४) गुरु की आशातना पर्वत से अपना सिर टकराना है, सोये हुए सिंह को छेड़कर जगाना है, या भाले की नोक पर हथेली से प्रहार करना है । पर्वत से टकराने वाले का सिर चकनाचूर हो

---

३. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८३४
४. (क) दसवेयालिय (मुनि नथ.), पृ ४३१
   (ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मा), पृ ८३६-८३७

जाना है, सिंह को जगाने वाला स्वय काल-कवलित हो जाता है और भाले की नोक पर प्रहार करने वाले के अपने हाथ-पैर से रक्तधारा बहने लगती है। इसी प्रकार गुरु की आशातना करने वाला अविवेकी अपना ही अहित करता है। इहलोक-परलोक दोनो मे अतीव दु:ख पाता है। इसलिए अनाबाध सुखरूप मोक्ष के अभिलाषी साधक को सदैव गुरु की सेवा-शुश्रूषा एव भक्ति करके उन्हे प्रसन्न रखने का प्रयत्न करना चाहिए। यह इन गाथाओ का तात्पर्य है।[५]

पगईए मंदा—क्षयोपशम की विचित्रता के कारण कई स्वभाव से शास्त्रीययुक्तिपूर्वक व्याख्या करने मे असमर्थ होते है, कई स्वभाव से मद-अल्पप्रज्ञ होते हुए भी अतिवाचाल नही होते, उपशान्त होते हैं।

निग्गच्छई जाइपहं—एकेन्द्रियादि योनियो मे चिरकाल तक भ्रमण करता है, अथवा जाति यानी जन्म, वध यानी मरण--अर्थात् चिरकाल तक जन्म-मरण को पाता है, या जातिमार्ग अर्थात्—ससार मे आवागमन—परिभ्रमण करता है।[६]

गुरु (आचार्य) के प्रति विविध रूपों मे विनय का प्रयोग

४६२. जहाऽऽहियग्गी जलणं नमंसे नाणाहुईमंतपयाभिसित्त।
एवाऽऽयरियं उवचिट्ठएज्जा अणंतणाणोवगओ वि सतो ॥११॥

४६३. जस्संतिए धम्मपयाइं सिक्खे, तस्संतिए वेणइय पउंजे।
सक्कारए सिरसा पजलीओ कायग्गिरा भो! मणसा य निच्चं ॥१२॥

४६४. लज्जा दया सजम बंभचेर कल्लाणभागिस्स विसोहिठाण।
जे मे गुरू सययमणुसासयति, ते ह गुरुं सययं पूययामि ॥१३॥

[४६२] जिस प्रकार आहिताग्नि (अग्निपूजक) ब्राह्मण नाना प्रकार की आहुतियो और मत्रपदो से अभिषिक्त की हुई अग्नि को नमस्कार करता है, उसी प्रकार शिष्य अनन्तज्ञान-सम्पन्न हो जाने पर भी आचार्य की विनयपूर्वक सेवा-भक्ति करे ॥११॥

[४६३] जिसके पास धर्म-(शास्त्रो के) पदो का शिक्षण ले, हे शिष्य! उसके प्रति विनय (-भक्ति) का प्रयोग करो। सिर से नमन करके, हाथो को जोड कर तथा काया, वाणी और मन से सदैव सत्कार करो ॥१२॥

---

५ दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८३७ से ८५०

६ (क) क्षयोपशमवैचित्र्यात् तत्रयुक्त्याऽऽलोचनाऽसमर्थं सत्प्रज्ञाविकल इति। जातिपन्थान-द्वीन्द्रियादि जातिमार्गम्। —हारि वृत्ति, पत्र २४४

(ख) 'पगइ' त्ति सूत्र—प्रकृत्या स्वभावेन, कर्मवैचित्र्यात मदा अपि सद्बुद्धिरहिता अपि एके—केचन वयोवृद्धा अपि। —हारि वृत्ति, पत्र २४४

(ग) स्वभावा—पगती, तीए मदा वि णातिवायाला उवसता। "जाती—समुप्पत्ती वधो-मरण, जम्ममरणाणि, अथवा जातिपथ— जातिमग्ग—ससार'।" —अगस्त्यचूर्णि, पृ २०७

[४६४] कल्याणभागी (साधु) के लिए लज्जा, दया, सयम और ब्रह्मचर्य, ये विशोधि-(कर्म-मल-निवारण करने) के स्थान हैं। अत जो गुरु मुझे (इस सद्गुणो की) निरन्तर शिक्षा देते हैं, उनकी मैं सतत पूजा करू, (शिष्य सदा यह भाव रखे।) ॥१३॥

विवेचन—प्रत्येक परिस्थिति में विनय करना अनिवार्य—प्रस्तुत तीन गाथाओ (४६२ से ४६४ तक) में ज्ञान के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचे हुए शिष्य को भी गुरुदेव की विनय-भक्ति, सेवा, पूजा, सिर से नमन, वाणी, काया और मन से सत्कार और हाथ जोडकर वन्दन आदि करने का युक्तिपूर्वक विधान किया गया है।

विनय की अनिवार्यता—यहाँ तीन गाथाओ मे तीन उक्तियो से विनय की अनिवार्यता प्रतिपादित की गई है—(१) जैसे अग्निहोत्री बनने के लिए ब्राह्मण विविध वेदमत्रो और घृत-मधु-प्रक्षेपादि आहुतियो से अभिषिक्त एव अपने घर मे स्थापित अग्नि की नमस्कार आदि से पूजाभक्ति करता है, उसी प्रकार अनन्तज्ञानसम्पन्न (केवलज्ञानी) हो जाने पर भी गुरु की सविनय उपासना करे, (२) जिन से आत्मगुणविकासकर धर्मसिद्धान्त-वाक्यो का कल्याणकारी शिक्षण लिया है, उन परम-उपकारी गुरु की हर प्रकार से विनय करना चाहिए। (३) विशुद्धिस्थानरूप लज्जा, दया आदि सद्गुणो का जिन गुरुओ ने मुझे बारबार शिक्षण देकर कल्याणभागी बनाया है, उनकी सतत पूजा-भक्ति करनी उचित है।[७] (ऐसा विचार करना चाहिए)।

'आहियग्गी' आदि पदो के विशेषार्थ:—आहियग्गी—आहिताग्नि—जो ब्राह्मण अग्निहोत्री बनने के लिए अपने घर मे अग्नि सतत प्रज्वलित रखता है, उसकी पूजा विविध मत्रो और आहुतियो से करता है, वह आहिताग्नि कहलाता है। **मंतपय—मंत्रपदों से**—'अग्नये स्वाहा' इत्यादि मत्रवाक्यो से। **आहुई—आहुतियों से**—मत्र पढकर अग्नि मे घृत, मधु आदि को डालना आहुति है। **धम्मपयाइं**—धर्म-बोधरूप फल वाले सिद्धान्तवाक्य धर्मपद हैं।[८]

विनयभक्ति के प्रकार—प्रथम विनयभक्ति—नमस्कार से होती है, यह नमन सिर झुका कर किया जाता है। अपना अह दूर करने के लिए सर्वप्रथम अग नमस्कार है। नमस्कार जिसको किया जाता है, उसकी गुरुता का और अपनी लघुता का द्योतक है। जब मनुष्य स्वय को लघु समझेगा, तभी वह गुरुता की ओर बढेगा।

दूसरी विनयभक्ति—करयुगल जोडना है। दोनो हाथ जोड़ कर गुरु को वन्दना की जाती है। **'सिरसा पंजलीओ'** इन दोनो पदो मे चूर्णिकार **'पचांगवन्दन'**-विधि सूचित करते हैं। 'सिरसा पजलीओ' का फलितार्थ है—वे पचागवन्दन करते है। यथा—दोनो घुटनो को भूमि पर टिका कर, दोनो हाथो को भूमि पर रख कर, उन पर पाचवाँ अग सिर रखकर नमाना पचागवन्दन है।

तीसरी विनयभक्ति—काया द्वारा सेवा-शुश्रूषा करने से होती है। यथा—गुरु के पधारने पर

---

७. दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८५२

८. (क) आहिताग्नि कृतावसथादिर्ब्राह्मण.। आहुतयो-घृतप्रक्षेपादिलक्षणा। मत्रपदानि—'अग्नये स्वाहेत्यवमादीनि।' धर्मपदानि-धर्मफलानि सिद्धान्तफलानि। —हारि वृत्ति, पत्र २४५

(ख) नाणाविहेण पयादिणा मत उच्चारेऊण आहुय दलयइ। —जि. चू., पृ. ३०६

खडे होना, उठकर सामने जाना, उनका पैर पोछना, उन्हे आहार-पानी ला कर देना, रुग्णावस्था मे उनकी सेवा करना, (पगचपी करना, दवा लाना) इत्यादि ।

चौथी विनयभक्ति—वचन से सत्कार करने से होती है । यथा—कही आते-जाते विनयपूर्वक 'मत्थएण वदामि' कहना प्रसगोपात्त गुरु के गुणगान, स्तुति, प्रशसा आदि करना, गुरु द्वारा किसी कार्य की आज्ञा मिलने पर या गुरु द्वारा कोई शिक्षावचन कहे जाने पर 'तहत्ति' कह कर स्वीकार करना आदि ।

पाचवीं विनयभक्ति—मन से होती है । यथा—गुरु के प्रति अपने हृदय मे पूर्ण अविचल श्रद्धा एव भक्तिभावना रखना, गुरु को सर्वोपरि पूज्य मानना, उनको अपने व्यवहार से किसी भी प्रकार का क्लेश न हो, इसका ध्यान रखना । 'नित्य' शब्द यहाँ इसलिए दिया गया है कि यह गुरु-भक्ति केवल शास्त्राध्ययन के समय मे ही न हो, किन्तु सदैव, प्रत्येक परिस्थिति मे करनी चाहिए ।[९]

लज्जा, दया आदि विशोधिस्थान क्यो ?—कल्याणभागी साधक के लिए लज्जा आदि आत्मा की विशुद्धि के स्थान इसलिए है कि लज्जा अर्थात्— अकरणीय या अपवाद का भय रहता है तो व्यक्ति पापकर्म करने से रुक जाता है, प्राणियो के प्रति दया के कारण भी हिसा आदि मे प्रवृत्त नही होता, १७ प्रकार के सयम से जीवो की रक्षा करता है, आत्मभावो मे रमणरूप ब्रह्मचर्य से परभाव या विभाव मे प्रवृत्त होने से रुक जाता है । अत ये सब कर्ममल को दूर करके आत्मा को विशुद्ध बनाने के कारण हैं ।[१०]

जे मे गुरु सययमणुसासयंति : इन (आत्मविशुद्धिकर गुणो) की गुरु मुझे सतत शिक्षा देते हैं, या जो गुरु मुझे सदैव हितशिक्षा देते हैं ।[११] अनुशास्ता (गुरु) की इच्छा शिष्य को सदैव योग्य बनाने की होती है, इसलिए अनुशासन करने (शिक्षा देने) वाले गुरुओ की सदैव पूजा विनयभक्ति करनी चाहिए ।

गुरु (आचार्य) की महिमा

४६५. जहा निसंते तवणऽच्चिमाली पभासई केवलभारहं तु ।
एवाऽऽयरियो सुय-सील-बुद्धिए विरायई सुरमज्झे व इंदो ॥१४॥

---

९ (क) दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८५४
(ख) सिरसा पजलीओ त्ति—एतेण पंचगितस्स वदण गहण । —अ चू , पृ २०८
(ग) पचगीएण वदणिएण त जहा—जाणुदुग भूमीए निवडिण, हत्थदुएण भूमीए अवट्ठभिय, ततो सिर पचम निवाएज्जा । —जिन चूर्णि, पृ ३०६

१०. (क) अकरणिज्ज-सकण लज्जा । —अ चू , पृ २०८
(ख) अपवादभय—लज्जा । —जि चूर्णि, पृ ३०६
(ग) दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ. ८५६

११ (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ४२९
(ख) दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ ८५६

४६६. जहा ससी कोमुइजोगजुत्ते नक्खत्ततारागणपरिवुडप्पा ।
खे सोहई विमले अब्भमुक्के, एवं गणी सोहइ भिक्खुमज्झे ॥१५॥

[४६५] जैसे रात्रि के अन्त (दिवस के प्रारम्भ) मे प्रदीप्त होता हुआ (जाज्वल्यमान) सूर्य (अपनी किरणो से) सम्पूर्ण भारत (भारतवर्ष—भरतक्षेत्र) को प्रकाशित करता है, वैसे ही आचार्य श्रुत, शील और प्रज्ञा से (विश्व के समस्त जड़-चैतन्य पदार्थों के) भावो को प्रकाशित करते है तथा जिस प्रकार देवो के बीच इन्द्र सुशोभित होता है, उसी प्रकार आचार्य भी साधुओ के मध्य मे सुशोभित होते है ॥ १४ ॥

[४६६] जैसे मेघो से मुक्त अत्यन्त निर्मल आकाश मे कौमुदी के योग से युक्त, नक्षत्र और तारागण से परिवृत चन्द्रमा सुशोभित होता है, उसी प्रकार गणी (आचार्य) भी भिक्षुओ के बीच सुशोभित होते है ॥ १५ ॥

विवेचन—साधुगण के मध्य आचार्य की शोभा—प्रस्तुत दो गाथाओ मे आचार्य अतीव पूजनीय है, यह तथ्य तीन उपमाओ द्वारा बतलाया गया है ।

निसते-निशान्ते : भावार्थ—रात्रि का अन्त (व्यतीत) होने पर प्रभात के समय । कौमुदी-योगयुक्त कार्तिकी पूर्णिमा का चन्द्रमा ।[१२]

प्रथम उपमा—रात्रि के व्यतीत होने पर प्रभात के समय देदीप्यमान सूर्य उदयाचल पर उदय होकर समग्र भरतखण्ड को प्रकाशित कर देता है, सोते हुए लोगो को जगाकर अपने-अपने कार्यों मे उत्साहपूर्वक लगा देता है । उसी प्रकार श्रुत, (आगमज्ञान) से, शील (परद्रोहविरतिरूप सयम) से तथा (तर्कणारूप) प्रज्ञा से सम्पन्न आचार्य स्पष्ट उपदेश द्वारा जड-चेतन पदार्थों के भावो को प्रकाशित करते है और शिष्यो को प्रबोधित कर आत्मशुद्धि के कार्य मे पूर्ण उत्साह के साथ जुटा देते है । **द्वितीय उपमा**—देवलोक मे सभी देवो के बीच रत्नासनासीन इन्द्र सुशोभित होते है, उसी प्रकार मनुष्यलोक मे छोटे-बडे सभी साधुओ के बीच पट्टे पर विराजमान सघनायक आचार्य सुशोभित होते हैं । **तृतीय उपमा** - जिस प्रकार कार्तिकपूर्णिमा या शरद्पूर्णिमा की विमल रात्रि मे मेघमुक्त निर्मल आकाश मे नक्षत्र और तारागण से घिरा हुआ चन्द्रमा सुशोभित होता है, वह अपनी अतिशुभ्र किरणो द्वारा अन्धकाराच्छन्न वस्तुओ को प्रकाशित करता है, दर्शको के चित्त को आह्लादित करता है, इसी प्रकार गणाधिपति आचार्य भी साधुओं के बीच विराजमान होते हुए दर्शको के चित्त को आह्लादित करते हैं तथा विशुद्ध श्रुतज्ञान द्वारा गूढ भावो को प्रकाशित करते हैं ।[१३]

गुरु की आराधना का निर्देश और फल

४६७. महागरा आयरिया महेसी समाहिजोगे सुय-सील-बुद्धिए ।
संपाविउकामे अणुत्तराइं आराहए तोसए धम्मकामी ॥१६॥

---

१२. 'कौमुदीयोगयुक्त कार्तिकपौर्णमास्यामुदित' ।' —हारि वृत्ति, पत्र २४६

१३. दशवैकालिक. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ८५८-८६०

४६८. सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं सुस्सूसए आयरिएऽप्पमत्तो ।
आराहइत्ताण गुणे अणेगे, से पावई सिद्धिमणुत्तरं ॥९७॥
—त्ति बेमि ॥

॥ विणयसमाहीए पढमो उद्देसो समत्तो ॥९-१॥

[४६७] अनुत्तर (सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि गुणरत्नो) की सम्प्राप्ति का इच्छुक तथा धर्मकामी (निर्जराधर्माभिलाषी) साधु (ज्ञानादि रत्नो के) महान् आकर (खान), समाधियोग तथा श्रुत, शील, और प्रज्ञा से सम्पन्न महर्षि आचार्यों की आराधना करे तथा उनको (विनयभक्ति से सदा) प्रसन्न रखे ॥ १६ ॥

[४६८] मेधावी साधु (पूर्वोक्त) सुभाषित वचनो को सुनकर अप्रमत्त रहता हुआ आचार्य की शुश्रूषा करे। इस प्रकार वह अनेक गुणो की आराधना करके अनुत्तर (सर्वोत्तम) सिद्धि (मुक्ति) को प्राप्त करता है ॥ १७ ॥ —ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—आचार्यों की आराधना की विधि और फलश्रुति—प्रस्तुत दो गाथाओ (४६७-४६८) मे महागुणसम्पन्न आचार्यों की आराधना साधक को क्यो और कैसे करनी चाहिए ? यह बताकर उक्त आराधना के महाफल का प्रतिपादन किया गया है ।

महागरा० आदि : व्याख्या– प्रस्तुत पक्ति मे आचार्यो की विशिष्टगुणसम्पन्नता का उल्लेख किया गया है । यहाँ आचार्यों के छह विशेषण प्रयुक्त है- (१) **महागरा : महाकर** अर्थात्- आचार्य ज्ञानादि भावरत्नो के महान् आकर (खान) है, (२ से ५) तथा **समाहिजोग**—समाधियोग से अर्थात् विशिष्ट ध्यान से, **सुय-सीलबुद्धिए**– श्रुत, शील और प्रज्ञा से, श्रुत अर्थात्—द्वादशागी के अभ्यास से, शील अर्थात् परद्रोहविरतिरूप शील से और बुद्धि सद्-असद्-विवेकशालिनी प्रज्ञा से अथवा औत्पत्तिकी आदि बुद्धियो से सयुक्त है और (६) **महेसी : दो रूप : दो अर्थ**—(१) **महर्षि**—महान् ऋषि, (२) **महेषी**—मोक्षैषी –मोक्षाभिलाषी है ।[१४]

ऐसे महान् आचार्यों की आराधना क्यो करनी चाहिए ? इस विषय मे इन दोनो गाथाओ मे साधु के जो विशेषण दिये गए है, वे ही कारण है –(१) क्योकि साधु सर्वोत्कृष्ट ज्ञानादि भावरत्नो को प्राप्त करने का इच्छुक है, (२) क्योकि वह कर्मक्षयरूप निर्जराधर्म का आकाक्षी है, (३) क्योकि वह मेधावी है, अर्थात्—मर्यादाशील है, अथवा स्वपरहित-बुद्धि से सम्पन्न है ।[१५]

---

१४ (क) दशवै (आचार्यश्री आत्मा), पृ ८६१
(ख) महागरा समाधिजोगाण सुत्तस्सबारमगस्स, सीलस्स य बुद्धिए य अथवा सुत-सील-बुद्धीए समाधिजोगाण महागरा । —अगस्त्यचूर्णि, पृ. २०८
(ग) 'महैषिणो मौक्षैषिण , कथम् महैषिण ? इत्याह—समाधियोग-श्रुत-शील-बुद्धिभि । समाधियोगै.—ध्यानविशेषै , श्रुतेन—द्वादशागाभ्यासेन, शीलेन—परद्रोहविरतिरूपेण, बुद्धया च औत्पतिक्यादिरूपया ।'
—हारि. वृत्ति, पत्र २४६

१५ दशवै पत्राकार, (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८६१, ८६३

महान् आचार्यों की आराधना कैसे करे ? इसके लिए गाथा में प्रयुक्त ये शब्द विशेष मननीय है—(१) **आराहए**, (२) **तोसइ**, (३) **सुच्चाण, सुभासियाइं, सुस्सूसए**, (४) **अप्पमत्तो**। इनका भावार्थ क्रमशः इस प्रकार है—(१) पूर्वगाथाओ के विवेचन मे कथित विनयभक्ति के सभी प्रकारो द्वारा आराधना करे, (२) उन्हे अपने विनयव्यवहार से तथा ज्ञानादि की आराधना करके तुष्ट—प्रसन्न करे, (३) पूर्वगाथाओ मे उक्त विनयधर्म के सुभाषितो को अथवा आचार्य के सुवचनो को अवधानपूर्वक सुन कर उनकी सेवा-शुश्रूषा करे, (४) निद्रादि प्रमादो को छोडकर अप्रमत्तभाव से आचार्यश्री की आज्ञा का पालन करे।[16]

तीन फलश्रुति—आचार्यश्री की आराधना से तीन फल उपलब्ध होते है—(१) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान आदि अनेक सद्गुणो की आराधना होती है, (२) या तो उसी भव मे सर्वोत्कृष्ट सिद्धि-मुक्ति प्राप्त हो जाती है, (३) या अनुत्तरविमान तक पहुचकर सुकुलादि मे जन्म लेकर क्रमशः मोक्षप्राप्ति होती है।[17]

॥ नवम अध्ययन : विनय-समाधि : प्रथम उद्देशक समाप्त ॥

---

१६. दशवै पत्राकार (आचार्य आत्मारामजी म), पृ ८६१ से ८६३ तक

१७. वही, पत्राकार, पृ. ८६१, ८६३

नवमं अज्झयणं : विणयसमाही

नौवाँ अध्ययन : विनयसमाधि

बीओ उद्देसो : द्वितीय उद्देशक

वृक्ष की उपमा से विनय के माहात्म्य और फल का निरूपण

४६९. **मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स खंधाओ पच्छा समुवेंति साहा।**
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता, तओ से पुप्फं च फलं रसो य ॥१॥

४७०. **एवं धम्मस्स विणओ मूलं, परमो से मोक्खो।**
जेण कित्तिं सुयं सिग्घं निस्सेसं चाभिगच्छइ ॥२॥

[४६९-४७०] वृक्ष के मूल से (सर्वप्रथम) स्कन्ध उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् स्कन्ध से शाखाएँ उगती हैं और शाखाओं मे से प्रशाखाएँ निकलती है। तदनन्तर उस (वृक्ष) के पत्र, पुष्प, (फिर) फल और रस उत्पन्न होता है ॥१॥

इसी प्रकार धर्म (-रूप वृक्ष) का मूल विनय है, और उस (धर्मरूपी वृक्ष) का परम (अन्तिम अथवा उत्कृष्ट रसयुक्त फल) मोक्ष है। उस (विनय) के द्वारा (विनयी श्रमण) कीर्ति, श्रुत और नि श्रेयस् (मोक्ष) प्राप्त करता है ॥२॥

विवेचन—धर्म के मूल, अन्तिम फल तथा मध्यवर्ती फल सम्बन्धी अवस्थाएँ—प्रस्तुत गाथाद्वय मे वृक्ष की उपमा द्वारा विनय का माहात्म्य व्यक्त करते हुए उसे उपमा मे धर्म का मूल बताकर उसकी परम और अपरम अवस्थाओं का फल के सन्दर्भ मे उल्लेख किया गया है। उपमेय मे केवल मूल और परम का उल्लेख है। जिस प्रकार वृक्ष की अपरम अवस्थाएँ हैं—स्कन्ध, शाखा, प्रशाखा, पत्र, पुष्प, फल, रस आदि, उसी प्रकार धर्म का परम फल मोक्ष है, जो विनय से प्राप्त होता है और अपरम फल है—देवलोक-प्राप्ति, सुकुल मे जन्म, तथा क्षीरास्रव, मधुरास्रव आदि लब्धियो का प्राप्त होना इत्यादि।[1]

सिग्घ-सग्घ—दो रूप : दो विशेषार्थ—(१) **श्लाघ्यं—श्रुत का विशेषण**—प्रशसनीय श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) को (२) **श्लाघा**—प्रशसा।[2]

---

१. (क) 'अपरमाणि उ खधो साहा-पत-पुप्फ-फलाणि त्ति, एव धम्मस्स परमो मोक्खो, अपरमाणि उ देवलोग-सुकुलपच्चायायादीणि खीरासवमधुरासवादीणि त्ति।' —जिन चूर्णि, पृ. २०९
(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म)

२. (क) सुत च सग्घ-साघणीयमधिगच्छति। —अगस्त्यचूर्णि
(ख) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ८६६

निस्सेसं : दो रूप : दो अर्थ—(१) निःश्रेयस्—मोक्ष। (२) निःशेष—समस्त।[3] ये सब विनय के इहलौकिक फल है। अथवा नि शेष श्लाघा का विशेषण है।

अविनीत और सुविनीत के दोष-गुण तथा कुफल-सुफल का निरूपण

४७१. जे य चंडे मिए थद्धे दुव्वाई नियडी सढे।
बुज्झई से अविणीयप्पा, कट्ठं सोयगयं जहा ॥३॥

४७२. विणयं पि जो उवाएण चोइओ कुप्पई नरो।
दिव्वं सो सिरिमेज्जंति दंडेण पडिसेहए ॥४॥

४७३. तहेव अविणीयप्पा उववज्झा हया गया।
दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ॥५॥

४७४. तहेव सुविणीयप्पा उववज्झा हया गया।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥६॥

४७५. तहेव अविणीयप्पा लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति दुहमेहंता छाया ते विगलिंदिया ॥७॥

४७६. दंड-सत्थ-परिजुण्णा असब्भवयणेहियय।
कलुणा विवन्नछंदा, खुप्पिवासाए परिगया ॥८॥

४७७. तहेव सुविणीयप्पा लोगंसि नर-नारिओ।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥९॥

४७८. तहेव अविणीयप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति दुहमेहंता आभिओगमुवट्ठिया ॥१०॥

४७९. तहेव सुविणीयप्पा देवा जक्खा य गुज्झगा।
दीसंति सुहमेहंता इड्ढिं पत्ता महायसा ॥११॥

[४७१] जो क्रोधी (चण्ड) है, मृग-पशुसम अज्ञ है, अहकारी है, दुर्वादी (कठोरभाषी) है, कपटी और शठ है, वह अविनीतात्मा ससारस्रोत (जलप्रवाह) मे वैसे ही प्रवाहित होता रहता है, जैसे जल के प्रबल स्रोत मे पडा हुआ काष्ठ ॥३॥

[४७२] (किसी भी) उपाय से विनय (-धर्म) मे प्रेरित किया हुआ जो मनुष्य कुपित हो जाता है, वह आती हुई दिव्यलक्ष्मी को डडे से रोकता (हटाता) है ॥४॥

---

३. (क) 'णिस्सेयसं च मोक्खमधिगच्छति।' —अगस्त्यचूर्णि
(ख) 'श्रुतम्—अगप्रविष्टादि, श्लाघ्य-प्रशंसास्पदभूत, नि.शेष-सम्पूर्णं अधिगच्छति।'
—हारि वृत्ति, पत्र २४७

[४७३] इसी प्रकार जो औपवाह्य हाथी और घोडे अविनीत होते है, वे (सेवाकाल मे) दु ख भोगते हुए तथा भार-वहन आदि निम्न कार्यो मे जुटाये हुए देखे जाते है ।।५।।

[४७४] उसी प्रकार जो औपवाह्य हाथी और घोडे सुविनीत होते हैं, वे (सेवाकाल मे) सुख का अनुभव करते हुए महान् यश और ऋद्धि को प्राप्त करते देखे जाते हैं ।।६।।

[४७५-४७६] उपर्युक्त दृष्टान्त के अनुसार इस लोक मे जो नर-नारी अविनीत होते है, वे चाबुक आदि के प्रहार से घायल (क्षत-विक्षत), (कान, नाक आदि के छेदन से) इन्द्रियविकल, दण्ड और शस्त्र से जर्जरित, असभ्य वचनो से ताडित (डाट-फटकार पाते हुए), करुण (दयनीय), पराधीन, भूख और प्यास से पीडित होकर दु.ख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।।७-८।।

[४७७] इसी प्रकार लोक मे जो नर-नारी सुविनीत होते हैं, वे ऋद्धि को प्राप्त कर महायशस्वी बने हुए सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते हैं ।।९।।

[४७८] इसी प्रकार (अविनीत मनुष्यो की तरह) जो देव, यक्ष और गुह्यक (भवनवासी देव) अविनीत होते है, वे पराधीनता-दासता को प्राप्त होकर दु ख भोगते हुए देखे जाते हैं ।।१०।।

[४७९] इसके विपरीत जो देव, यक्ष और गुह्यक सुविनीत होते है, वे ऋद्धि और महान् यश को प्राप्त कर सुख का अनुभव करते हुए देखे जाते है ।।११।।

विवेचन—अविनीत और सुविनीत को इसी लोक मे मिलने वाले फल—प्रस्तुत ११ गाथाओ (४७१ से ४७९ तक) मे अविनीत और सुविनीत की होने वालो प्रत्यक्ष दशा का वर्णन किया गया है ।

अविनीत के लक्षण—गाथा ४७१ मे अविनीत के ५ लक्षण दिये गए है—जो अत्यन्त क्रोधी हो, जो अपना हिताहित न समझने वाले पशु के समान जडबुद्धि हो, अहकारी हो, कपटी हो, कुटिल या धूर्त्त (शठ) हो और विनय की ओर प्रेरित करने पर जिसका कोप भडक उठता हो, वह अविनीत कहलाता है ।

सुविनीत के लक्षण—इसके विपरीत जो क्षमावान् हो, गम्भीर और दीर्घदर्शी हो, हिताहित-विवेकी हो, नम्र हो, सरल एव निश्छल हो, जो अहर्निश गुरुशिक्षा को ग्रहण करने के लिए लालायित रहता हो, गुरु द्वारा विनयभक्ति मे प्रेरित करने पर उस प्रेरणा को जो सविनय शिरोधार्य कर लेता हो, वह सुविनीत कहलाता है ।

अविनीत को मिलने वाला प्रत्यक्ष फल—(१) अविनीत ससारसमुद्र में इधर से उधर थपेडे खाता रहता है, (२) आती हुई विनयरूपी लक्ष्मी को ठुकरा देता है, (३) दासवृत्ति में लगे हुए दु.खानुभव करते हैं, (४) अविनीत स्त्री-पुरुष क्षतविक्षत, इन्द्रियविकल, दण्ड और शस्त्र से जर्जर, असभ्य वचनो द्वारा प्रताडित, करुण, परवश और भूख-प्यास से पीडित होकर दु.खानुभव करते देखे जाते हैं, (५) अविनीत देव, यक्ष और गुह्यक भी नीच कार्यों मे लगाये हुए दासभाव में रहकर दु खानुभव करते देखे जाते हैं ।

सुविनीत को मिलने वाले प्रत्यक्षफल—(१) सुविनीत घोडे-हाथी महान् यश और ऋद्धि को पाकर सेवाकाल मे सुखानुभव करते देखे जाते है, (२) इसी प्रकार सुविनीत स्त्री-पुरुष भी ऋद्धि और

महायश को पाकर सुखानुभव करते देखे जाते हैं, (३) सुविनीत देव, यक्ष और गुह्यक भी ऋद्धि और यश को पाकर सुखानुभूति करते देखे जाते हैं।[४] यहाँ देव शब्द ज्योतिष और वैमानिक देवों का वाचक है, यक्ष व्यन्तर देवो का और गुह्यक भवनपति देवों का वाचक है।

'उववज्झा' आदि शब्दों के विशेषार्थ—**उववज्झा : दो रूप, दो अर्थ**—(१) **उपवाह्य**—सवारी के काम मे आने वाले वाहन—हाथी या घोडा, (२) **औपवाह्य**—राजा आदि के प्रिय कर्मचारियो की सवारी के काम में आने वाले। **छाया विगलिंदिया : विगलितेंदिया : दो अर्थ**—(१) छाया—क्षत-विक्षत, घायल, अथवा शोभाविकलित एव इन्द्रियविकल, (२) इन्द्रियाँ विषयग्रहण में असमर्थ हो, अथवा नाक, हाथ, पैर आदि कटे हुए हो वे विकलितेन्द्रिय कहलाते है।[५] **आभियोग्य**—अभियोगी—दास, आभियोग्य—दासता। दास का कार्य केवल आज्ञापालन होता है।

लौकिकविनय की तरह लोकोत्तरविनय की अनिवार्यता

४८०. जे आयरिय-उवज्झायणं सुस्सूसा वयणंकरा।
तेसिं सिक्खा पवड्ढंति जलसित्ता इव पायवा ॥१२॥

४८१. अप्पणट्ठा परट्ठा वा सिप्पा णेउणियाणि य।
गिहिणो उवभोगट्ठा इहलोगस्स कारणा ॥१३॥

४८२. जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं।
सिक्खमाणा नियच्छंति जुत्ता ते ललिइंदिया ॥१४॥

४८३. ते वि तं गुरुं पूयंति तस्स सिप्पस्स कारणा।
सक्कारंति नमंसंति तुट्ठा निद्देसवत्तिणो ॥१५॥

४८४. किं पुण जे सुयग्गाही अणंतहियकामए।
आयरिया जं वए भिक्खू तम्हा ते नाइवत्तए ॥१६॥

[४८०] जो साधक आचार्य और उपाध्याय की सेवा-शुश्रूषा करते है, उनके वचनो का पालन (आज्ञापालन) करते हैं, उनकी शिक्षा उसी प्रकार बढती है, जिस प्रकार जल से (भलीभाति) सीचे हुए वृक्ष बढते हैं ॥१२॥

---

४ (क) दसवेयालिय (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ ६४
(ख) दशवै. (आ. आत्मा), पृ. ८६८ से ८८०

५. (क) 'उपवाह्यानां राजादिवल्लभानामेते कर्मकरा, इत्यौपवाह्या।' —हारि वृत्ति, पत्र २४८
(ख) छाया सोभा सा पुण सरूवता, सविसयगहणसामत्थ वा। छायातो विकलेंदियाणि जेसिं ते। छाया-विगलेंदिया विगलितेन्द्रिया अपनीतनासिकादीन्द्रिया।
(ग) छाता.-कसघातव्रणांकितशरीरा। —हा. टी, पृ. २४८
(घ) अभियोग. आज्ञाप्रदानलक्षणोऽस्यास्तीति अभियोगी, तद्भाव आभियोग्यं कर्मकरत्वमित्यर्थ.।
—दशवै. (आ आत्मा.), पृ. ८७९

[४८१-४८२] जो गृहस्थ लोग इस लोक (मे आजीविका) के निमित्त, (अथवा लौकिक) सुखोपभोग के लिए, अपने या दूसरो के लिए, (कलागुरु से) शिल्पकलाएँ या नैपुण्यकलाएँ सीखते हैं।

(कलाओ को सीखने मे) लगे हुए, ललितेन्द्रिय (सुकुमार राजकुमार आदि) व्यक्ति भी कला सीखते समय (शिक्षक द्वारा) घोर बन्ध, वध और दारुण परिताप को प्राप्त होते है ॥१३-१४॥

[४८३] फिर भी वे (राजकुमार आदि) गुरु के निर्देश के अनुसार चलने वाले (छात्र) उस शिल्प के लिए प्रसन्नतापूर्वक उस शिक्षकगुरु की पूजा करते हैं, सत्कार करते है, नमस्कार करते हैं ॥१५॥

[४८४] तब फिर जो साधु आगमज्ञान (श्रुत) को पाने के लिए उद्यत है और अनन्त-हित (मोक्ष) का इच्छुक है, उसका तो कहना ही क्या ? इसलिए आचार्य जो भी कहे, भिक्षु उसका उल्लघन न करे ॥१६॥

विवेचन—लोकोत्तर विनय की अनिवार्यता : मोक्षकामी के लिए—प्रस्तुत ५ गाथाओ (४८० से ४८४ तक) मे लौकिक लाभार्थ शिल्प, कला आदि मे निपुणता के लिए कलाचार्य का दृष्टान्त देकर मोक्षकामी के द्वारा शास्त्रीय ज्ञान मे नैपुण्य के लिए विनयभक्ति की अनिवार्यता सिद्ध की गई है।

आचार्य और उपाध्याय के लक्षण—आचार्य के चार लक्षण—(१) सूत्र-अर्थ से सम्पन्न तथा अपने गुरु द्वारा जो गुरुपद पर स्थापित हो, वह आचार्य है, (२) सूत्र-अर्थ का ज्ञाता किन्तु अपने गुरु द्वारा गुरुपद पर स्थापित न हो, वह भी आचार्य कहलाता है। वृत्ति के अनुसार सूत्रार्थदाता अथवा गुरु-स्थानीय ज्येष्ठ आर्य 'आचार्य' कहलाता है। इस सबका फलितार्थ यह है कि गुरुपद पर स्थापित या अस्थापित जो सूत्र और अर्थ-प्रदाता है, वह आचार्य है। ओघनिर्युक्ति के अनुसार 'अत्थ वाएइ आयरिओ सुत्त वाएइ उवज्झाओ।' अर्थात्—सूत्रवाचनाप्रदाता उपाध्याय होते है और अर्थवाचनाप्रदाता आचार्य होते है।[६]

सिक्खा . शिक्षा—गुरु के समीप रह कर प्राप्त किया जाने वाला शिक्षण। यह शिक्षा दो प्रकार की होती है—(१) ग्रहणशिक्षा (शास्त्र-ज्ञान का ग्रहण करना) और (२) आसेवनशिक्षा (उस ज्ञान को आचार मे क्रियान्वित करने का अभ्यास सीखना)।[७]

सिप्पा णेउणियाणि : शिल्पानि नैपुण्यानि—शिल्प शब्द कुम्भकार, लोहार, सुनार आदि के

---

६ (क) सुत्तत्थतदुभयादिगुणसम्पन्नो अप्पणो गुरुहिं गुरुपदे त्थावितो आयरिओ। —अ. चूर्णि, पृ ९।३।१
(ख) 'आगरिओ सुत्तत्थतदुभयविऊ, जो वा अन्नोऽपि सुत्तत्थतदुभयगुणेहि अ उववेओ गुरुपए ण ठाविओ, सोऽवि आयरिओ चेव।' —जिन. चूर्णि, पृ. ३१८
(ग) 'आचार्य सूत्रार्थप्रद, तत्स्थानीय वाऽन्य ज्येष्ठार्यम्।' —हारि. वृत्ति, पत्र २५२
(घ) 'अत्थ वाएइ आयरिओ, सुत्त उवाएइ वज्झाओ। —'सूत्रप्रदा उपाध्याया, अर्थप्रदा आचार्या' —ओघनिर्युक्ति वृत्ति.

७. 'सिक्खा दुविहा-गहणसिक्खा आसेवणसिक्खा य।' —जिन चूर्णि पृ ३१३

कर्म (कारीगरी) से सम्बन्धित है और नैपुण्य शब्द चित्रकार, वादक, गायक आदि के कला-कौशल से।[८]

उस युग की अध्यापनपद्धति—गाथा संख्या ४८२ से उस युग की अध्यापनपद्धति का पता लगता है, जब अध्यापक अपने सुकोमल शरीरवाले शिक्षणार्थी को साकल या रस्से से बाधते थे, चाबुक आदि से बेरहमी से मारते-पीटते थे और कठोर वचनो से डाटते-फटकारते और तरह-तरह से दारुण परिताप देते थे। वे अकारण ही ऐसा दण्ड नही देते थे, परन्तु जब शिक्षणार्थी शिल्प या कला सीखने मे लापरवाही करता, बार-बार पढाने या सिखाने पर पर भी भूल जाता, अपने उद्देश्य से स्खलित हो जाता, तभी शिक्षक का पुण्य-प्रकोप शिक्षणार्थी पर बरसता था और अध्यापक कलादि शिक्षण मे उन्हे दृढ करते व सन्मार्ग पर लाते थे। शिक्षणार्थी भी शिक्षक का अपने पर महान् उपकार समझ कर उस दण्ड को सविनय स्वीकारता था।[९]

'ललितेंदिया' आदि पदों के विशेषार्थ—**ललितेंदिया**—**ललितेन्द्रिय**—जिनकी इन्द्रिया सुख से लालित (लाड-प्यार मे पली हुई) होती है, अथवा जिनकी इन्द्रिया रमणीय (ललित) या क्रीड़ाशील होती हैं, वे। **नियच्छंति**—प्राप्त करते है। **सक्कारेंति नमंसंति**—सत्कार करते हैं, नमस्कार करते है; गुरुजन के आने पर उठना, हाथ जोडना, आदि नमस्कार कहलाता है और उन्हे भोजन-वस्त्रादि से सम्मानित करना सत्कार कहलाता है। नमसति के बदले अगस्त्यचूर्णि मे 'ममणेति' पाठ है, जिसका अर्थ है—स्तुतिवचन, चरणस्पर्श आदि करते हैं। **तुट्ठा निद्देसवत्तिणो**—सन्तुष्ट होकर उनके निर्देशो (आदेशो) का पालन करते है।[१०]

गुरु-विनय करने की विधि

४८५. **नीयं सेज्जं* गइ ठाणं, नीयं च आसणाणि य।**
नीयं च पाए वंदेज्जा, नीयं कुज्जा य अंजलिं ॥१७॥

४८६. **संघट्टइत्ता काएणं, तहा उवहिणामवि।**
खमेह अवराहं मे' वएज्ज 'न पुणो' त्ति□ य ॥१८॥

४८७. **दुग्गओ वा पओएणं, चोइओ वहई रहं।**
एवं दुब्बुद्धि किच्चाणं वुत्तो वुत्तो पकुव्वई ॥१९॥

---

८. शिल्पानि-कुम्भकारक्रियादीनि, नैपुण्यानि-आलेख्यादि-कला-लक्षणानि। —हारि वृत्ति, पत्र २४९

९ तत्थ निगलादीहिं बधं पावेति, वेत्तासयादिहिं य वधं घोरं पावेति, तओ तेहिं बधेहिं वधेहिं य परितावो सुदारुणो भवइ त्ति; अहवा परितावो निट्ठुरचोयण-तज्जियस्स जो मण-सतावो सो परितावो भण्णइ।
—जिन चूर्णि, ३१३-३१४

१० (क) लालितेंदिया वा सुहेहिं, लकारस्स ह्रस्सादेसो। ललिताणि नाडगातिसुक्खसमुदिताणि इंदियाणि जेसिं रायपुत्तप्पभीतीण ते ललितेंदिया। सक्कारो भोजणाच्छादणादि सपादणओ भवइ। थुतिवयण-पादोवफरिस समयक्करणादीहि य समाणेति। —अगस्त्यचूर्णि

(ख) 'नमसणा अब्भुट्ठाणजलिपग्गहादी।' —जि चूर्णि, पृ १४३

पाठान्तर—* सिज्ज। □ 'न पुण' त्ति।

× [आसवंते लवंते वा न निसिज्जाइ पडिस्सुणे।
मुत्तूणं आसणं धीरो, सुस्सूसाए पडिस्सुणे ॥]

४८८. कालं छंदोवयारं च पडिलेहित्ताण हेउहिं।
तेण तेण उवाएणं, तं तं संपडिवायए ॥२०॥

[४८५] (साधु आचार्य से) नीची शय्या करे, नीची गति करे, नीचे स्थान मे खड़ा रहे, नीचा आसन करे तथा नीचा होकर (सम्यक् प्रकार से विनत होकर आचार्यश्री के) चरणो मे वन्दन करे और नीचा होकर अजलि करे (हाथ जोड कर नमस्कार करे) ॥१७॥

[४८६] (कदाचित् असावधानी से गुरुदेव या आचार्य के) शरीर (चरण आदि शरीर के अवयवो) का अथवा (उनके) उपकरणो का भी स्पर्श (सघट्टा) हो जाए तो [(तत्काल उनसे) कहे—'(भगवन् !) मेरा अपराध क्षमा करे, फिर ऐसा नही होगा' ॥१८॥

[४८७] जिस प्रकार दुष्ट बैल (अयोग्य गलिया बैल) चाबुक से (बार-बार) प्रेरित किये जाने पर (ही) रथ को वहन करता है, उसी प्रकार दुर्बुद्धि शिष्य (भी) आचार्यों (गुरुओ) के बार-बार कहने पर (कार्य) करता है ॥१९॥

[गुरु के एक बार बुलाने पर अथवा बार-बार बुलाने पर बुद्धिमान् शिष्य (उनकी बात सुन कर अपने) आसन पर से ही उत्तर न दे, (किन्तु शीघ्र ही) आसन छोड कर शुश्रूषा के साथ (उनकी बात सुन कर समुचित रूप से) स्वीकार करे ॥]

[४८८] (शीतादि) काल को, गुरु के अभिप्राय (छन्द) को और (सेवा करने के) उपचारो (विधियो) को तथा देश आदि को (तर्क-वितर्करूप) हेतुओ से भलीभाति जानकर उस-उस (तदनुकूल) उपाय से उस-उस योग्य कार्य को सम्पादित (पूरा) करे ॥२०॥

विवेचन—सर्वक्रियाओं मे गुरुओ के प्रति नम्रभाव : विनय का प्रथम पाठ—प्रस्तुत चार गाथाओ (४८५ से ४८८ तक) मे गुरुओ के प्रति लोकोत्तर उपचारविनय की विधि बताई गई है। ४८७ वी गाथा मे दुर्विनीत शिष्य की दुष्ट बैल से उपमा देकर उसकी वृत्ति का परिचय दिया गया है।

'दुग्गओ' आदि पदों के विशेषार्थ—दुग्गओ-दुर्गवो—दुष्ट-गलिया बैल। **किच्चाणं**—कृत्यानां, कृत्य का अर्थ वन्दनीय या पूज्य है। आचार्य, उपाध्यायादि पूज्यवर वन्द्य गुरुजन कृत्य कहलाते है। 'किच्चाइ' पाठान्तर है, वहाँ अर्थ होगा- [११] आचार्यादि के अभीष्ट कृत्य—कार्य। **'नीयं सेज्जं'** आदि

अधिकपाठ— × इस निशान वाली गाथा कई प्रतियो मे मिलती है। —स

११ (क) दुग्गओ-दुर्गव दुष्टबलीवर्द इत्यर्थ।
(ख) कृत्यानामाचार्यादीना वन्दनीय-पूजनीयानामित्यर्थ। कृत्यानि वा-तदभिरुचितकार्याणि।
—हारि वृत्ति, पृ २५०
(ग) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ४४६

पदों की व्याख्या—नीयं सेज्जं—आचार्य या गुरु की शय्या से अपनी शय्या (बिस्तर) नीचे स्थान में करना। **गइं**—नीची गति करे, अर्थात्—साधु आचार्य या गुरु के आगे या पीठ पीछे न चले, न ही अतिदूर और अतिनिकट चले। अतिनिकट चलने से धूल उड कर आचार्य पर लगती है और अतिदूर चलने, जल्दी जल्दी आगे चलने से प्रत्यनीकता या आशातना होती है। **ठाणं**—नीचे स्थान में खडा रहे। आचार्य खड़े हो, उनसे नीचे स्थान मे खडा रहे। उनके आगे या पार्श्वभाग मे सट कर खड़ा न हो। **नीयं च आसणाणि**—**दो अर्थ**—(१) आचार्य के आसन (पट्टा, चौकी आदि) से अपना आसन नीचा करे, (२) आचार्य से अपना आसन लघुतर करे। **नीयं च पाए वंदेज्जा**—नीचा होकर आचार्य के चरणो मे वन्दना करे। आचार्य आसन पर बैठे हो तो शिष्य नीचे (निम्न) भूभाग पर खडा हो, फिर भी खडा-खडा ही वन्दना न करके सिर से चरणस्पर्श कर सके उतना झुक कर वन्दना करे। **नीयं कुज्जा य अंजलिं**—नीचा होकर अजलि करे—करबद्ध हो। अर्थात्—नमस्कार करने के लिए सीधा खडा-खडा हाथ जोड कर न रह जाए, किन्तु सिर झुका कर करबद्ध होकर नमस्कार करे।[१२]

'काल' आदि पदों की व्याख्या- **कालं**—काल को देखकर, अर्थात्—यह कौन-सी ऋतु है ?, रात है या दिन ? कैसी परिस्थिति है गुरुजी की ? उपयुक्त अवसर है या नही ? इत्यादि सब जाने। यथा—शरद् आदि ऋतुओ के अनुकूल भोजन, शय्या, आसन आदि लाए। **छंदं**—गुरु के अभिप्राय, (इच्छा, चेष्टा, इगित, आकार आदि) को जाने कि गुरुजी इस समय क्या चाहते है ? इन्हे इस समय किस वस्तु की आवश्यकता है ? किस कार्यसिद्धि के लिए इनके हृदय मे विचार-प्रवाह बह रहा है ? देश-काल के अनुसार रुचिया भी विभिन्न होती हैं। जैसे—किसी को ग्रीष्म ऋतु में छाछ प्रिय होती है, किसी को सत्तू आदि। क्षेत्र के आधार पर भी रुचि-परिवर्तन होता है—जैसे—ठडे प्रदेश मे गर्म पेय और गर्म प्रदेश मे शीतल पेय अभीष्ट होता है। **उवयारं : उपचार : तीन अर्थ**—(१) विधि (सेवा की विधिया), (२) आराधना के प्रकार, अथवा (३) आज्ञा क्या है, इसे जान कर। **हेउहिं—हेतुओं से**—अर्थात्— नानाविध हेतुओ—तर्क-वितर्कों, ऊहापोहो, अनुमानो, स्वय स्फुरणाओ आदि से देश, काल, अभिप्राय एव सेवा के प्रकारो को जाने। तात्पर्य यह है कि गुरुमहाराज के कहे बिना ही उनके

---

१२. (क) नीचां 'शय्या'—सस्तारकलक्षणामाचार्यशय्याया. सकाशात् कुर्यादिति योग। नीचा गतिमाचार्यगतते, तत्पृष्ठतो नातिदूरेण नातिद्रुतं यायादित्यर्थ। नीच स्थानमाचार्यस्थानात्, यत्राचार्य आस्ते तस्मान्नीचतरे स्थाने स्थातव्यमिति भाव। नीचानि वा लघुतराणि। नीच च सम्यगवनतोत्तमांग सन् पादावाचार्यसत्कौ वन्देत, नावज्ञया। नीच नम्रकाय कुर्यात्—सपादयेच्चाञ्जलिं, न तु स्थाणुवत् स्तब्ध एवेति। —हारि वृत्ति, पत्र २५०

(ख) 'णीयं गइ' णाम ण आयरियाण पिट्ठओ गतव्व, तमिवि णो अच्चासन्ना न वा अतिदूरेण गतव्व। अच्चासन्ने ताव पादरेणुणा आयरियसघट्टण-दोसो भवई, अइदूरे पडिणीय-आसायणादि बहवे दोसा भवतीति। तहा नीययरे पीढगाइमि आसणे आयरिअणुन्नाए उवविसेज्जा। जइ आयरिओ आसणे, इतरो भूमिए नीययरे भूमिप्पदेसे वदमाणो उवट्ठिओ न वदेज्जा, किंतु जाव सिरेण फुसे पादे तावणीय वदेज्जा। तहा अजलिमवि कुव्वमाणेण णो पहाणम्मि उवविट्ठेण अजली कायव्वा, किन्तु ईसिअवणएण कायव्वा। —जिन. चूर्णि, पृ. ३१५

शरीर की दशा आदि से जान ले। यथा—कफ का प्रकोप देखे तो कफनाशक पदार्थों का सेवन कराए, इसी प्रकार वात या पित्त का प्रकोप देखे तो वातनाशक या पित्तनाशक पदार्थों का सेवन कराए।[13]

अविनीत और विनीत को सम्पत्ति, मुक्ति आदि की अप्राप्ति एवं प्राप्ति का निरूपण

४८९. विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स या।
जस्सेय दुहओ नायं, सिक्खं से अभिगच्छई ॥२१॥

४९०. जेयावि चंडे मइइड्ढि-गारवे पिसुणे नरे साहस हीणपेसणे।
अदिट्ठधम्मे विणए अकोविए असविभागी न हु तस्स मोक्खो ॥२२॥

४९१. निद्देसवत्ती पुण जे गुरुणं सुयत्थधम्मा विणयम्मि कोविया।
तरित्तु ते ओहमिण दुरुत्तरं, खवित्तु कम्म गइमुत्तम गया ॥२३॥
—त्ति बेमि

॥ विणयसमाहीए बीओ उद्देसओ समत्तो ॥९-२॥

[४८९] अविनीत (व्यक्ति) को विपत्ति और विनीत को सम्पत्ति (प्राप्त) होती है, जिसको ये (उक्त) दोनो प्रकार से (विपत्ति और सम्पत्ति) ज्ञात है, वही (इस कल्याणकारिणी) शिक्षा को प्राप्त होता है ॥२१॥

[४९०] जो मनुष्य चण्ड (क्रोधी) है, जिसे अपनी बुद्धि और ऋद्धि का गर्व (अथवा जिसकी बुद्धि आदि गौरव मे निमग्न) है, जो पिशुन (चुगलखोर) है, जो (अयोग्यकार्य करने मे) साहसिक है, जो गुरु-आज्ञा-पालन से हीन (पिछडा हुआ) है, जो (अपने श्रमण-) धर्म से अदृष्ट (अनभिज्ञ) है, जो विनय मे निपुण नही है, जो सविभागी नही है, उसे (कदापि) मोक्ष (प्राप्त) नही होता ॥२२॥

[४९१] किन्तु जो (साधक) गुरुओं की आज्ञा के अनुसार प्रवृत्ति करते है, जो (श्रुतार्थ-धर्म-विज्ञ) गीतार्थ है तथा विनय मे कोविद (-निपुण) है, वे इस दुस्तर ससार-सागर (के प्रवाह) को तैर कर कर्मों का क्षय करके सर्वोत्कृष्ट गति मे गए है, (जाते है और जाएगे) ॥२३॥
—ऐसा मै कहता हूँ।

विवेचन —शिक्षा-प्राप्ति के अयोग्य : कौन और कैसे—गाथा ४८९ मे **'विवत्ती अविणीयस्स'** इत्यादि पक्ति का भावार्थ यह है कि जो व्यक्ति अपने पूज्यवर गुरुजनो की विनय-भक्ति नही करता, इतना ही नही, बल्कि वह उद्धत होकर उनकी आशातना करता है, उसके सम्यग्दर्शन,

---

१३ (क) 'जधा काल जोग्ग भोजणासणादि उवणेय।' —अगस्त्य चूर्णि
(ख) जिनदास चूर्णि तत्थ मरदि वात-पित्तहराणि दव्वाणि आहरिज्जा 'छदो नाम इच्छा भण्णइ'। 'उवयार' णाम विधी भण्णइ। —जिन चूर्णि, पृ ३१६
(ग) 'उवयारो आणा को ति आणत्तिआए तूसति।' —अगस्त्य चूर्णि
(घ) उपचार आराधना-प्रकारम्। —हारि वृत्ति, पत्र २५०
(ङ) दशवै पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म) पृ ८९५-८९६

सम्यग्ज्ञान आदि सद्गुणो की विनष्टि (विपत्ति) हो जाती है और पूर्वोक्त विनयगुणो से सम्पन्न सुविनीत पुरुष, जो अपने से स्थविर वन्दनीय पूज्य गुरुजनो की सभी प्रकार से भक्तिभाव से यथोचित विनय करता है, उसके सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि सद्गुणो की सम्यक् वृद्धि (सम्पत्ति) होती है। उक्त दोनो प्रकार से हानि और वृद्धि जिसे ज्ञात है, अर्थात्- अविनय हेय है, विनय पूर्णत उपादेय है, इस बात को जो जान चुका है, वही गुरुजनो के सान्निध्य में रह कर उनकी कृपापूर्ण दृष्टि से ग्रहण और आसेवन, दोनो प्रकार की कल्याणकारिणी मोक्ष सुखदायिनी शिक्षा को प्राप्त करने के योग्य होता है।[१४]

मोक्ष के लिए अयोग्य—पूर्व गाथा मे उक्त शिक्षा के लिए अयोग्य अविनीत व्यक्ति के अतिरिक्त गाथा ४९० मे बताया गया है कि जो साधक साधुजीवन मे क्रोध की प्रचण्ड अग्नि मे धधकता रहता है, जो अपने ऋद्धि और बुद्धि के गौरव (गर्व) मे अन्धा होकर रहता है, जो अनाचार-सेवन मे साहसिक होता है तथा जो अपने गुरु की हितशिक्षाकारी आज्ञाओ के पालन करने मे टालमटोल करता है, आज्ञा लोप करने मे स्वय को धन्य समझता है, जो धर्म-कर्म की बात से अनभिज्ञ है, उन्हे निकम्मी समझकर उनकी खिल्ली उडाता है, जो विनय की विधियो से भी अपरिचित है, जिसे विनय व्यर्थ का भार मालूम होता है, जो प्राप्त अन्न, वस्त्र आदि अपने साथी साधुओ मे वितरित नही करता, न ही उन्हे देता है, सविभाग (ठीक बटवारा) नही करता, ऐसे दुर्गुणी व्यक्ति को मोक्षप्राप्ति नही हो सकती। यही इस गाथा का आशय है।[१५]

मोक्षप्राप्ति के योग्य—गाथा ४९१ के अनुसार—जो साधक अपने स्वार्थों की परवाह न करके प्राणप्रण से सद्गुरुओ की आज्ञापालन मे तत्पर रहते है, जो श्रुतधर्म के सिद्धान्तो के सूक्ष्म रहस्यो के ज्ञाता (गीतार्थ) होते है तथा विनयधर्म के विधि-विधानो के विषय मे दक्ष होते है, वे इस दु खमय ससार सागर को सुखपूर्वक तैर कर तथा कर्मशत्रुओ के दलबल को समूल नष्ट करके अनुपम सिद्धि-गति को प्राप्त होते है, हुए है और होगे। यही इस गाथा का आशय है।[१६]

'विवत्ति' आदि शब्दो के विशेषार्थ—**विवत्ति**—**विपत्ति**, इसका विशेष अर्थ है सद्गुणो—सम्यग्ज्ञानादि सद्गुणो का नष्ट होना। **संपत्ति**—**सम्पत्ति**—अर्थ होता है, सम्पदा। परन्तु यहाँ भौतिक सम्पत्ति नही, सम्यग्दर्शनादि आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त होती है, विनीत व्यक्ति को। **दुहओ**—दोनो प्रकार से हानि-वृद्धि को जो ज्ञात कर चुका है। अर्थात्—वह भलीभाति जानता है कि विनय से ही सद्गुणो की सम्प्राप्ति एव वृद्धि होती है। अत यही पूर्णत उपादेय है तथा अविनय से दुर्गुणो की प्राप्ति और सद्गुणो की हानि होती है। अत. वह सर्वथा हेय है। **मइइड्ढिगारवे : तीन अर्थ**—(१) जो ऋद्धि-गौरव मे अभिनिविष्ट है। (२) जो मति द्वारा ऋद्धिगौरव वहन करता है। (३) जिसे बुद्धि और ऋद्धि का गर्व है। **साहस**—बिना सोचे-समझे आवेश मे आकर कार्य (अकृत्य कार्य) करने मे तत्पर रहता है। **हीणपेसणे**—**हीनप्रेषण**—प्रेषण के अर्थ है—आज्ञा, नियोजन, या कार्य मे प्रवृत्ति

---

१४ दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ ८९७

१५. वही, पृ. ८९९

१६. वही, पृ. ९०१

करना आदि। गुरु-आज्ञा को हीन (हेय समझ कर टालमटोल) करने वाला, यथासमय पालन न करने वाला। **सुयत्थधम्मा : भावार्थ**—(१) गीतार्थ, या (२) जिसने अर्थ और धर्म अथवा धर्म का अर्थ सुना है।[१७]

॥ नवम अध्ययन : विनयसमाधि : द्वितीय उद्देशक समाप्त ॥

---

१७ (क) दशवै (आ आत्मा), पृ. ८९७
(ख) ऋद्धिगौरवमति—ऋद्धिगौरवाभिनिविष्ट। —हारि. वृत्ति, पत्र २५१
(ग) 'जो मतीए इड्ढि-गारवमुव्वहति।' —अगस्त्यचूर्णि
(घ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ४४७
(ङ) साहसिक —अकृत्यकरणपर। —हारि. वृत्ति, पत्र २५१
(च) 'रभसेणाकिच्चकारी साधसो। पेसण जधाकालमुपपादयितुमसत्तो हीणपेसणो। सुतो अत्थो धम्मो जेहिं ते सुत्तत्थधम्मा।' —अगस्त्यचूर्णि
(छ) हीनप्रेषण हीनगुर्वाज्ञापर.। श्रुतधर्मार्था गीतार्था इत्यर्थ.। —हारि. वृत्ति, पत्र २५१

नवमं अज्झयणं : विणयसमाही

नवम अध्ययन : विनयसमाधि

तइओ उद्देसो : तृतीय उद्देशक

विनीत साधक की पूज्यता

४९२. आयरियऽग्गिमिवाऽऽहियग्गी,
सुस्सूसमाणो पडिजागरेज्जा ।
आलोइयं इंगियमेव णच्चा,
जो छंदमाराहयई, स पुज्जो ॥१॥

४९३. आयारमट्ठा विणयं पउंजे,
सुस्सूसमाणो* परिगिज्झ वक्कं ।
जहोवइट्ठं अभिकंखमाणो,
गुरुं तु नाऽऽसाययई, स पुज्जो ॥२॥

४९४. राइणिएसु विणयं पउंजे,
डहरा वि य जे परियायजेट्ठा ।
=नियत्तणे वट्टइ सच्चवाई,
×ओवायवं वक्ककरे, स पुज्जो ॥३॥

४९५. अन्नाय-उंछं चरई विसुद्धं,
जवणट्ठया समुयाणं च निच्चं ।
अलद्धुयं नो परिदेवएज्जा,
लद्धुं न विकत्थयई□ स पुज्जो ॥४॥

४९६. संथार+सेज्जाऽऽसण-भत्त-पाणे,
अप्पिच्छया अइलाभे वि संते ।
जो एवमप्पाणऽभितोसएज्जा,
संतोसपाहन्न-रए, स पुज्जो ॥५॥

पाठान्तर— * पडिगिज्झ । =नीयत्तणे । ×उवायवं । □ विकत्थइ, विकंथयई । +सिज्जाऽऽसण ।

४९७. सक्का सहेउ आसाए+ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वईमए कण्णसरे, स पुज्जो ॥६॥

४९८. मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया,
अओमया, ते वि तओ सुउद्धरा।
वाया दुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥७॥

४९९. समावयंता वयणाभिघाया,
कण्णंगया दुम्मणियं जणंति।
॥ धम्मो त्ति किच्चा परमग्गसूरे,
जिइंदिए जो सहई, स पुज्जो ॥८॥

५००. अवण्णवायं च परम्मुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया, स पुज्जो ॥९॥

५०१. अलोलुए अकुहए* अमायी,
अपिसुणे यावि अदीणवित्ती।
नो भावए, नो वि य भाविअप्पा,
अकोउहल्ले य सया, स पुज्जो ॥१०॥

५०२. गुणेहि साहू, अगुणेहऽसाहू,
गेण्हाहि† साहूगुण, मुंचऽसाहू।
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,
जो रागदोसेहि समो, स पुज्जो ॥११॥

५०३. तहेव डहरं व महल्लगं वा,
×इत्थी पुमं पव्वइयं गिहिं वा।
नो हीलए, नो वि य खिंसएज्जा,
थंभं च कोहं च चए, स पुज्जो ॥१२॥

+ आसाइ। ॥ धम्मु त्ति। * अकुहए। † गिण्हाहि। × इत्थिं।

५०४. जे आयिया सयमं आयंति,
जसेण कन्नं व निवेसयंति।
ते आणए आणरिहे तवस्सी,
जिइंदिए सच्चरए, स पुज्जो ॥१३॥

५०५. तेसिं गुरूणं गुणसागराणं,*
सोच्चाण मेहावि सुभासियाइं।
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,
चउक्कसायावगए, स पुज्जो ॥१४॥

[४९२] जिस प्रकार आहिताग्नि (अग्निहोत्री ब्राह्मण) अग्नि की शुश्रूषा करता हुआ जाग्रत (सावधान) रहता है, उसी प्रकार जो आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जाग्रत रहता है तथा जो आचार्य के आलोकित (दृष्टि या चेहरे) एव इगित (चेष्टा) को जान कर उनके अभिप्राय को आराधना करता है, वही (शिष्य) पूज्य होता है ॥१॥

[४९३] जो (शिष्य) आचार के लिए विनय (गुरुविनय-भक्ति) का प्रयोग करता है, जो (आचार्य के वचनो को) सुनने की इच्छा रखता हुआ (उनके) वचन को ग्रहण करके, उपदेश के अनुसार कार्य (या आचरण) करना चाहता है और जो गुरु की आशातना नही करता, वह पूज्य होता है ॥२॥

[४९४] अल्पवयस्क होते हुए भी (दीक्षा) पर्याय मे जो ज्येष्ठ है, (उन सब पूजनीय) रत्नाधिको के प्रति जो (साधु) विनय का प्रयोग करता है, (जो सर्वथा) नम्र हो कर रहता है, सत्यवादी है, गुरु की सेवा मे रहता है, (या उन्हे प्रणिपात करता है) और जो गुरु के वचनो (आदेशो) का पालन करता है, वह पूज्य होता है ॥३॥

[४९५] जो [साधक] सयमयात्रा के निर्वाह (या जीवन-यापन) के लिए सदा विशुद्ध सामुदायिक (तथा) अज्ञात (अपरिचित कुलो से) उञ्छ (भिक्षा) चर्या करता है, जो (आहारादि) न मिलने पर (मन मे) विषाद नही करता और मिलने पर श्लाघा नही करता, वह पूजनीय है ॥४॥

[४९६] जो (साधु) सस्तारक (बिछौना), शय्या, आसन, भक्त (भोजन) और पानी का अतिलाभ होने पर भी (इनके विषय मे) अल्प इच्छा रखने वाला है, इस प्रकार जो अपने आप को (थोडे मे ही) सन्तुष्ट रखता है तथा जो सन्तोष-प्रधान जीवन मे रत है, वह पूज्य है ॥५॥

[४९७] मनुष्य (धन आदि के लाभ की) आशा से लोहे के (लोहमय) काटो को उत्साहपूर्वक सहन कर सकता है किन्तु जो (किसी भौतिक लाभ की) आशा के बिना कानो मे प्रविष्ट होने वाले तीक्ष्ण वचनमय काटो को सहन कर लेता है, वही पूज्य होता है ॥६॥

पाठान्तर—* सायराण।

[४९८] लोहमय काटे को केवल मुहूर्त्तभर (अल्पकाल तक) दु.खदायी होते हैं, फिर वे भी (जिस अग मे लगे है) उस (अंग) मे से सुखपूर्वक निकाले जा सकते है। किन्तु वाणी से निकले हुए दुर्वचनरूपी काटे कठिनता से निकाले जा सकने वाले, वैर की परम्परा बढ़ाने वाले और महाभयकारी होते है ।।७।।

[४९९] (एक साथ एकत्र हो कर सामने से) आते हुए कटुवचनो के आघात (प्रहार) कानो मे पहुँचते ही दौर्मनस्य उत्पन्न करते है, (परन्तु) जो वीर-पुरुषो का परम अग्रणी जितेन्द्रिय पुरुष 'यह मेरा धर्म है' ऐसा मान कर (उन्हे समभाव से) सहन कर लेता है, वही पूज्य होता है ।।८।।

[५००] जो मुनि पीठ पीछे कदापि किसी का अवर्णवाद (निन्दावचन) नही बोलता तथा प्रत्यक्ष मे (सामने मे) विरोधी (शत्रुताजनक) भाषा नही बोलता एव जो निश्चयकारिणी और अप्रियकारिणी भाषा (भी) नही बोलता, वह पूज्य होता है ।।९।।

[५०१] जो (रसादि का) लोलुप (लोभी) नही होता, इन्द्रजालिक (यत्र-मत्र-तत्रादि के) चमत्कार-प्रदर्शन नही करता, माया का सेवन नही करता, (किसी की) चुगली नही खाता, (सकट मे घबरा कर या सरस आहारादि पाने के लाभ से किसी के सामने) दीनवृत्ति (दीनतापूर्वक याचना) नही करता, दूसरो से अपनी प्रशसा (श्लाघा) नही करवाता और न स्वय (अपने मु ह से) अपनी प्रशसा करता है तथा जो कुतूहल (खेल-तमाशे दिखा कर कौतुक) नही करता, वह पूज्य है ।।१०।।

[५०२] (मनुष्य) गुणो से साधु होता है, अगुणो (दुर्गुणो) से असाधु। इसलिए (हे साधक ! तू) साधु के योग्य गुणो को ग्रहण कर और असाधु-गुणो (असाधुता) को छोड। आत्मा को आत्मा से जान कर जो राग-द्वेष (राग-द्वेष के प्रसगो) मे सम (मध्यस्थ) रहता है, वही पूज्य होता है ।।११।।

[५०३] इसी प्रकार अल्पवयस्क (बालक) या वृद्ध (बडी उम्र का) को, स्त्री या पुरुष को, अथवा प्रव्रजित (दीक्षित) अथवा गृहस्थ को उसके दुश्चरित की याद दिला कर जो साधक न तो उसकी हीलना (निन्दा या अवज्ञा) करता है और न ही (उसे) झिडकता है तथा जो अहकार और क्रोध का त्याग करता है, वही पूज्य होता है ।।१२।।

[५०४] (अभ्युत्थान आदि विनय-भक्ति-द्वारा) सम्मानित किये गए आचार्य उन साधको को सतत सम्मानित (शास्त्राध्ययन के लिए प्रोत्साहित एव प्रशसित) करते हैं, जैसे—(पिता अपनी कन्याओ को) यत्नपूर्वक योग्य कुल मे स्थापित करते हैं, वैसे ही (जो आचार्य अपने शिष्यो को योग्य स्थान, पद या सुपथ मे) स्थापित करते हैं, उन सम्मानार्ह, तपस्वी, जितेन्द्रिय और सत्यपरायण आचार्यों का जो सम्मान करता है, वह पूज्य होता है ।।१३।।

[५०५] जो मेधावी मुनि उन गुण-सागर गुरुओ के सुभाषित (शिक्षावचन) सुनकर, तदनुसार आचरण करता है, जो पच (महाव्रतो मे) रत, (मन-वचन-काया की) तीन (गुप्तियो से) गुप्त (हो कर) चारो कषायो (क्रोध, मान, माया और लोभ) से रहित हो जाता है, वह पूज्य होता है ।।१४।।

विवेचन—पूज्यत्व की अर्हताएँ—प्रस्तुत चौदह गाथाओ (४९२ से ५०५ तक) मे लोकपूज्य बनने वाले साधु के पूज्यत्व की अर्हताएँ दी गई है।

लोकपूज्य बनने वाले साधक की तीस अर्हताएँ—साधु की पूजा-प्रतिष्ठा केवल वेष या क्रिया-काण्डो के आधार पर नही होती। वह होती है गुणो के आधार पर। वे गुण या वे अर्हताएँ निम्नोक्त है, जिनके आधार पर साधु को पूज्यता प्राप्त होती है—(१) आचार्य की शुश्रूषा करता हुआ जागरूक रहे, (२) उनकी दृष्टि और चेष्टाओ को जान कर अभिप्रायो के अनुरूप आराधना करे, (३) आचारप्राप्ति के लिए विनय-प्रयोग करे, (४) आचार्य के वचनों को सुनकर स्वीकार करे और तदनुसार अभीष्ट कार्य सम्पादित करे, (५) गुरु की आशातना न करे, (६) दीक्षापर्याय मे ज्येष्ठ एव रत्नाधिक साधुओ का विनय करे, (७) सत्यवादी हो, (८) आचार्य की सेवा मे रहे, (९) आचार्य की आज्ञा का पालन करे, (१०) नम्र होकर रहे, (११) अज्ञातकुल में सामुदायिक विशुद्ध भिक्षाचरी करे, (१२) आहार प्राप्त न हो तो खेद न करे, प्राप्त होने पर श्लाघा न करे, (१३) सस्तारक, शय्या, आसनादि अत्यधिक मिलने लगे तो भी अल्पेच्छा रखे, थोडे मे सन्तुष्ट हो, सतोष मे रत रहे, (१४) विना किसी भौतिक लाभ की आशा से कर्णकटु वचनो को समभावपूर्वक सहन करे, (१५) परोक्ष मे किसी का अवर्णवाद न करे, (१६) प्रत्यक्ष मे वैरविरोध बढाने वाली, निश्चयकारी तथा अप्रियकारी भाषा न बोले, (१७) जिह्वालोलुपता आदि से दूर हो, (१८) मत्र-तत्रादि ऐन्द्र-जालिक प्रपचो से दूर रहे, (१९) माया एव पैशुन्य से दूर रहे, (२०) दीनवृत्ति न करे, (२१) न तो दूसरो से अपनी स्तुति कराए और न स्वय अपनी स्तुति करे, (२२) खेल-तमाशे आदि कुतूहलवर्द्धक प्रवृत्तियो से दूर रहे, (२३) साधुगुणो को ग्रहण करे और असाधुगुणो को त्यागे, (२४) अपनी आत्मा को आत्मा से समझने वाला हो, (२५) रागद्वेष के प्रसगो मे सम रहे, (२६) किसी की भी अवहेलना, निन्दा एव भर्त्सना न करे, (२७) अहकार और क्रोध का त्याग करे, (२८) सम्मानार्ह तपस्वी, जितेन्द्रिय, सत्यवादी साधु पुरुषो का सम्मान करे, (२९) पचमहाव्रतपालक, त्रिगुप्तिधारक और कषायचतुष्टयरहित हो, (३०) गुणसमुद्र गुरुओ के सुवचनो को सुनकर तदनुसार आचरण करे।[1]

'छंदमाराहयई' : व्याख्या—छद अर्थात् गुरु के अभिप्राय को समझ कर तदनुसार समयोचित कार्य करता है। यहाँ गुरु के अभिप्राय को समझने के लिए दो शब्द दिये है—**'आलोकित'** और **'इंगित'**। उनका तात्पर्य है कि शिष्य गुरु के निरीक्षण और अगचेष्टा से उनका अभिप्राय जाने और तदनुसार उनकी आराधना करे। **निरीक्षण से अभिप्राय जानना**—जैसे कि गुरु ने कबल की ओर देखा, उसे देख कर शिष्य ने तुरत भाप लिया कि गुरुजी को ठड लग रही है, उन्हें कबल की आवश्यकता है। **अंगचेष्टा से अभिप्राय जानना**—यथा—गुरुजी को कफ का प्रकोप हो रहा है। बार-बार खासते हैं। शिष्य ने उनकी इस अगचेष्टा को जानकर सोठ आदि औषध ला कर सेवन करने को दी। अभिप्राय जानने के और भी साधन हैं, जिन्हे एक श्लोक मे दिया है—'आकृति, इगित (इशारा), गति (चाल), चेष्टा, भाषण, आँख और मुह के विकारो से किसी के आन्तरिक मनोभावों को जाना जा सकता है।'[2]

---

१ दशवै पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ९०४ से ९२८ तक का सार

२ (क) यथा शीते पतति प्रावरणावलोकने तदानयने।
(ख) इंगिते वा निष्ठीवनादिलक्षणे शुण्ठ्यानयनेन। —हारि. वृत्ति, पत्र २५२
(ग) 'आकारैरिंगितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च।
नेत्र-वक्त्रविकारैश्च लक्ष्यतेऽन्तर्गत मन.॥' —हितोपदेश

विनय-प्रयोग का मुख्य प्रयोजन : आचारप्राप्ति—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, इन पचाचारो की प्राप्ति के लिए गुरु आदि के प्रति विनय करना चाहिए, अन्य किसी लौकिक प्रयोजन, अर्थलाभ, पूजा-प्रतिष्ठा आदि के लिए नही। इसीलिए यहाँ कहा गया है—**'आयारमट्ठा विणयं पउंजे।'**[3]

'परियायजेट्ठा' आदि पदो की व्याख्या—'ज्येष्ठ' यहाँ स्थविर के अर्थ मे प्रतीत होता है। स्थविर तीन प्रकार के होते है—जाति-(वय) स्थविर, श्रुतस्थविर और पर्याय—(दीक्षा) स्थविर। जाति और श्रुत से ज्येष्ठ न होने पर भी पर्याय से ज्येष्ठ हो, उसके प्रति विनय का प्रयोग करना चाहिए। **ओवाय : दो रूप : दो अर्थ**—(१) **उपपात**—समीप अथवा आज्ञा। (२) **अवपात**—वन्दन और सेवा आदि। **जवणट्ठया**—**यापनार्थ**—सयमभार को वहन करने वाले शरीर को पालन करने के लिए, अथवा जीवनयापन करने के लिए। जैसे यात्रा के लिए गाडी के पहिये मे तेल दिया जाता है, वैसे ही सयमयात्रा के निर्वाह के लिए आहार करना चाहिए। **अन्नाय-उंछ : अज्ञात-उंछ · दो अर्थ**—(१) अज्ञात—अपरिचित कुलो का उंछ (भिक्षाचर्या) और (२) अपना पूर्व (मातृपितृपक्षीय) परिचय और पश्चात् (श्वसुरपक्षीय) परिचय दिये बिना प्राप्त (अज्ञात) उछा। **परिदेवएज्जा**—परिदेवन करना, खेद या विलाप करना, कोसना। जैसे—मैं कितना मदभागी हूँ कि आज भिक्षा ही न मिली। या इस गाँव के लोग अच्छे नही हैं। **विकत्थयइ**—विकत्थन करना—श्लाघा करना, अपनी डीग हाकना कि 'मैं कितना भाग्यशाली हूँ, मेरे पुण्य से ऐसा आहार मिला है।' **अप्पिच्छया—अल्पेच्छता : दो अर्थ**—(१) प्राप्त होने वाले पदार्थों पर मूर्च्छा न करना, (२) आवश्यकता से अधिक लेने की इच्छा न करना। **कण्णसरे : दो अर्थ**—(१) कानो मे प्रवेश करने वाले, या (२) कानो मे चुभने वाले बाण जैसे तीखे। **सुउद्धरा**—जो सुखपूर्वक निकाले जा सके। **वेराणुबंधीणि—वैरानुबंधी**—अनुबन्ध कहते है—परम्परा या सातत्य को। कटुवाणी वैर-परम्परा को आगे से आगे बढाने वाली है, इसलिए इसे वैरानुबन्धिनी कहते हैं। **अलोलुए : अलोलुप**—आहार, वस्त्र आदि पर लुब्ध न होने वाला, स्वशरीर मे भी प्रतिबद्ध न रहने वाला। **अकुहए**—यत्र, मत्र, तत्र आदि ऐन्द्रजालिक प्रपचो मे न पडने वाला। **अदीणवित्ती**—जिसमे दीनवृत्ति न हो, दीनवृत्ति के दो अर्थ हैं—(१) अनिष्टसयोग और इष्टवियोग होने पर दीन हो जाना, (२) दीनभाव से गिडगिडा कर याचना करना। **नो भावए नो वि भाविय्प्पा**—(१) न भावयेत् नाऽपि च भावितात्मा—जो न तो दूसरे को अकुशल भावो मे भावित-वासित करे और न ही स्वय अकुशल भावो से भावित हो। भावार्थ—जो दूसरो से श्लाघा नही करवाता, न स्वय आत्म-श्लाघा करता है। अथवा (२) **नो भापयेद् नोऽपि च भापितात्मा**—न तो दूसरो को डराए और न स्वय दूसरो से डरे। **अकोउहल्ले—अकौतूहल**—कुतूहल के मुख्यतया तीन अर्थ होते हैं—(१) उत्सुकता या आश्चर्यमग्नता, (२) क्रीडा करना—खेल-तमाशे दिखाना, अथवा (३) किसी आश्चर्यजनक वस्तु या व्यक्ति को देखने की उत्कट अभिलाषा। जो कुतूहलवृत्ति से रहित हो, वह अकुतूहल है। **डहरं**—अल्पवयस्क। **महल्लगं**—बडी उम्र का, वृद्ध। **नो हीलाए नो वि अ खिसइज्जा**—हीलना और खिसना, ये दोनो शब्द एकार्थक होते हुए भी यहाँ दोनो के भिन्न-भिन्न अर्थ किये गए हैं। **हीलना** का अर्थ किया गया है—दूसरे को उसके पूर्व दुश्चरित्र का स्मरण करा कर उसे लज्जित करना, उसकी निन्दा करना और खिसना है—ईर्ष्या या असूयावश दूसरे को दुर्वचन कहकर पीडित करना, झिडकना।

---

३ पचविधस्स णाणाइ-आयारस्स अट्ठाए, साधु आयरियस्स विणय पउजेज्जा। —जि. चू., पृ. ३१८

अथवा—किसी व्यक्ति को दुर्वचन से एक बार लज्जित करना, दुष्ट कहना या निन्दित करना हीलना है और बार-बार दुर्वचन कह कर लज्जित करना, दुष्ट कहना या निन्दित करना खिंसना है। **माणिआ : भावार्थ**—जो शिष्यो द्वारा वियनभक्ति आदि से सम्मानित होते हैं। **निवेसयंति**—श्रेष्ठ स्थान मे स्थापित करते हैं। **चरे**—तदनुसार आचरण करते हैं।[४]

विनीत साधक को क्रमशः मुक्ति की उपलब्धि

५०६. गुरुमिह सययं पडियरिय मुणी,
जिणवयनिउणे अभिगम कुसले।
धुणियरयमलं पुरेकडं,
भासुरमउलं गइं गय॥ १५॥ —त्ति बेमि

॥ विणयसमाहीए तइओ उद्देसो समत्तो॥ ९-३॥

---

४ (क) जाति-सुत-थेरभूमीहिंतो परियागथेरभूमिमुक्करिसेतेहिं विसेसिज्जति, डहरा वि जो वयसा परियायजेट्ठा पव्वज्जामहल्ला। उवातो नाम आणानिद्देसो। —अगस्त्यचूर्णि

(ख) 'अवपातवान्'—वदनशीलो निकटवर्ती वा। यापनार्थं सयमभारोद्वाहि-शरीरपालनाय, नाऽन्यथा।
—हारि. वृत्ति, पत्र २५३

(ग) जवणट्ठया णाम जहा सगडस्स अब्भगो जत्तत्थ कीरइ, तहा सजमजत्तानिव्वहणत्थ आहारेयव्वति।
—जिन चूर्णि, पृ. ३१९

(घ) अन्नात-ज न मित्त-सयणादि (णात)। तमेव समुदाण पुव्व-पच्छा-सथवादीहिं ण उप्पादियमिति ···· अन्नातउछ। भावु छ अन्नातमेसणासुद्धमुपपातिय। —अगस्त्यचूर्णि

(ङ) 'अज्ञातोञ्छ'—परिचयाकरणेनाज्ञात सन् भावोञ्छ गृहस्थोद्धरितादि। —हारि. वृत्ति, पत्र २५३

(च) परिदेवयेत्-खेद यायात् यथा—मन्दभाग्योऽहम्, अशोभनो वाऽय देश इति। विकत्थते-श्लाघां करोति—सपुण्योऽह, शोभनो वाऽय देश इति। अल्पेच्छता-अमूर्च्छया परिभोगोऽतिरिक्ताऽग्रहणम् वा।
—हारि. वृत्ति, पत्र २५३

(छ) कण्ण सरति पावति कण्णसरा, अधवा सरीरस्स दुस्सहमायुध सरो तहा ते कण्णस्स एव कण्णसरा।
—अ चूर्णि

(ज) कर्णसरान्—कर्णगामिन.। सूद्धरा सुखेनैवोद्धियते वर्णपरिकर्म च क्रियते। तथाश्रवणप्रद्वेषादिनेह परत्र च वैरानुबन्धीनि भवन्ति। —हारि. वृत्ति, पत्र २५३

(झ) उक्कोसेसु आहारादिषु अलुद्धो भवइ, अहवा जो अप्पणो वि देहे अपडिबद्धो सो अलोलुओ भण्णइ। कुहग इंदजालादीय न करेइत्ति अक्कुहए त्ति। अदीणवित्ती नाम आहारोवहिमाइसु अलब्भमाणेसु णो दीणभाव गच्छइ, तेसु विरूवेसु लद्धेसु वि अदीणभावो भवइत्ति। —जिन. चूर्णि, पृ. ३२२

(ञ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ. ४५९
'धरत्थेण अण्णतित्थिएण वा मए लोगमज्झे गुणमत्त भावेज्जासि त्ति एव णो भावयेदेतेसिं वा कचि अप्पणा णो भावये, अहमेवंगुण इति अप्पणा वि ण भावितप्पा। —अगस्त्यचूर्णि

(ट) तहा नडनट्टगादिसु णो कूउहल करेइ। —जिन. चूर्णि., पृ. ३२२

(ठ) दशवै. पत्राकार, (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ९२५ से ९२७

[५०६] जिन-(प्ररूपित) धर्म-सिद्धान्त (आगम) मे निपुण, अभिगम (अतिथि साधुओ की सेवा अथवा विनयप्रतिपत्ति) मे कुशल मुनि इस लोक मे सतत गुरु की परिचर्या (सेवा) करके पूर्वकृत (कर्म) रज और मल को क्षय कर भास्वर (प्रकाशमयी) अतुल (अनुपम) सिद्धि गति को प्राप्त करता है ।। १५ ।। —ऐसा मैं कहता हूँ ।।

विवेचन—फलश्रुति—इस उपसंहारात्मक गाथा मे विनयवान् साधु को क्रमश सिद्धि गति-प्राप्ति रूप फलश्रुति बताई गई है ।

'पडियरिय' आदि पदो के विशेषार्थ—पडियरिय—परिचर्य—विधिपूर्वक आराधना, सेवा-शुश्रूषा या भक्ति करके । **अभिगमकुसले**—अतिथि साधुओ तथा आचार्यों का आदर-सम्मान व सेवा-भक्ति करने मे दक्ष । **रयमलं**—रजोमल—आश्रवकाल मे कर्म 'रज' कहलाता है और बद्ध, स्पृष्ट और निकाचित काल मे 'मल' कहलाता है ।

।। नवम अध्ययन : विनय-समाधि : तृतीय उद्देशक समाप्त ।।

---

५ (क) 'परिचर्य'—विधिना आराध्य । 'अभिगमकुशलो'—लोकप्राघूर्णकादिप्रतिपत्तिदक्ष ।
—हारि. वृत्ति., पत्र २५५

(ख) 'जधा जोग सुस्सूसिऊण पडियरिय ।' आश्रवकाले रयो, बद्ध-पुट्ठ-निकाइय कम्म मलो ।
—अगस्त्यचूर्णि

(ग) जिणोवइट्ठेण विणएण आराहेऊण । अभिगमो नाम साधूणमायरियाण जा विणयपडिवत्ती सो अभिगमो भण्णइ, तमि कुसले । —जिनदासचूर्णि, पृ. ३२४

नवमं अज्झायणं : विणयसमाही

नवम अध्ययन : विनयसमाधि

चउत्थो उद्देसो : चतुर्थ उद्देशक

विनय-समाधि और उसके चार स्थान

५०७. सुयं मे आउसं ! तेण भगवया एवमक्खायं—इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता ।। १ ।।

५०८ प्र. कयरे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता ? ।। २ ।।

५०९ उ. इमे खलु ते थेरेहिं भगवंतेहिं चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा पण्णत्ता; तं जहा—विणयसमाही १, सुयसमाही २, तवसमाही ३, आयारसमाही ४ ।। ३ ।।

५१०. विणए १ सुए २ तवे ३ य आयारे निच्चं *पंडिया ।
अभिरामयंति अप्पाणं जे भवंति जिइंदिया ।। ४ ।।

[५०७] [गुरु—] आयुष्मन् ! मैंने सुना है, उन भगवान् (प्रज्ञापक आचार्य प्रभवस्वामी) ने इस प्रकार प्रतिपादन किया है—इस (निर्ग्रन्थ-प्रवचन) मे स्थविर भगवतो ने विनयसमाधि के चार स्थानो का प्रज्ञापन किया है ।। १ ।।

[५०८ प्र] [शिष्य—] स्थविर भगवन्तो ने विनयसमाधि के वे चार स्थान कौन-से प्ररूपित किये हैं ? ।। २ ।।

[५०९ उ] [गुरु—] वे विनयसमाधि के चार स्थान ये है जिनका स्थविर भगवन्तो ने प्रज्ञापन किया है, जैसे—(१) विनयसमाधि, (२) श्रुतसमाधि, (३) तप समाधि, और (४) आचार-समाधि ।। ३ ।।

[५१०] जो जितेन्द्रिय होते है, वे पण्डित (मुनिवर) अपनी आत्मा को सदा विनय, श्रुत, तप और आचार (इन चार प्रकार के समाधिस्थानो) मे निरत रखते है ।। ४ ।।

विवेचन—विनयसमाधि के सूत्र—पूर्वोक्त तीन उद्देशको मे विनय का माहात्म्य, अविनय से होने वाली हानि, विनय से प्राप्त होने वाली फलश्रुति आदि का स्फुट निरूपण करने के पश्चात् प्रस्तुत उद्देशक मे शास्त्रकार विनयसमाधि के प्रमुख सूत्रो का स्पष्ट प्रतिपादन प्रश्नोत्तर-शैली मे प्रस्तुत कर रहे हैं ।

पाठान्तर— * सया ।

समाधि और विनयसमाधि आदि—समाधि का शब्दश अर्थ होता है—समाधान, अर्थात्—मन का एकाग्रतापूर्वक सम्यक् प्रकार से स्थित हो जाना। समाधि का परमार्थ है—वास्तविक रूप से आत्मा का हित, सुख, अथवा स्वस्थता। अथवा विनयादि उक्त चारो प्रकार की क्रियाओं में अत्यधिक तल्लीनता हो जाना भी समाधि है। तात्पर्य यह है कि विनय, श्रुत, तप और आचार मे प्रवृत्त होने, तल्लीन होने से आत्मा का हित होता है, आत्मा को सुख-शान्ति प्राप्त होती है और आत्मा परभावो की ओर न जाकर स्वभाव मे ही प्राय स्थित हो जाता है। इसलिए इन्हें विनयसमाधि आदि कहा गया है। इनसे आत्मा मे उत्कट समभाव उत्पन्न होता है। वस्तुत ये चारो गुण आत्मा मे समाहित—स्थापित हो जाते हैं, इसलिए इन्हे समाधिस्थान—समाधि के कारण कहते हैं।

कठिन शब्दों के विशेषार्थ—**इह**—इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन मे, अथवा इस क्षेत्रलोक में। **थेरेहिं**—**स्थविरों के द्वारा**—स्थविर शब्द से यहाँ गणधरो का ग्रहण किया गया है। **तेण भगवया**—उन भगवान् ने। यहाँ 'भगवान्' शब्द से शास्त्रकार का आशय प्रज्ञापक आचार्य प्रभवस्वामी से है, जो दशवैकालिक सूत्र के रचयिता आचार्य शय्यभव के गुरु थे। **अभिरामयंति**—लीन करते हैं, दिव्यादि गुणो मे स्थिर करते हैं, जुट जाते हैं।[1]

चारो समाधिस्थानों मे तल्लीन होने योग्य कौन?—गाथा ५१० मे समाधिस्थानो के पात्रो के लिए दो मापदण्ड निर्धारित किये हैं—(१) **जितेन्द्रिय** हो और (२) **पण्डित** (जिनकी बुद्धि सद्-असद् विवेकशालिनी) हो, केवल शास्त्रो के पढ लेने मात्र से ही कोई पण्डित नही हो जाता और न वशपरम्परा से बपौती मे यह पद मिलता है।[2]

विनयसमाधि के चार प्रकार

५११. चउव्विहा खलु विणयसमाही भवइ। तं जहा—अणुसासिज्जंतो सुस्सूसइ १, सम्मं संपडिवज्जइ २, वेयमाराहइ ३, न य भवइ अत्तसंपग्गहिए। चउत्थं पयं भवइ ४॥ ५॥

५१२. भवइ य एत्थ सिलोगो—

पेहेइ हियाणुसासणं १ सुस्सूसई २ त च पुणो अहिट्ठए ३।
न य माणमएण मज्जइ ४ विणयसमाही आययट्ठिए १॥ ६॥

[५११] विनयसमाधि चार प्रकार की होती है। जैसे—

---

१ (क) इहक्षेत्रे—प्रवचने वा।
(ख) समाधान समाधि—परमार्थत आत्मनो हित सुख स्वास्थ्य। —हारि. वृत्ति, पत्र २५६
(ग) 'ज विणयसमारोवण, विणयेण या ज गुणाण समाधाण, एस विणयसमाधी भवतीति।' —अगस्त्यचूर्णि
(घ) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. ९३५
(ङ) थेरगहणेण गणहराण गहण कय। —जिन चूर्णि, पृ. ३२५
(च) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ४६५

२. दसवेयालियसुत्तं (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ. ६९

(१) [आचार्य या गुरु द्वारा] अनुशासित किया हुआ (शिष्य) उनके अनुशासन-वचनो को सुनना चाहता है; (२) अनुशासन (शिक्षा) को सम्यक् प्रकार से स्वीकार करता है; (३) वेद (शास्त्र-ज्ञान) की आराधना करता है, (अथवा आचार्य के वचन के अनुसार आचरण कर उनकी वाणी को सार्थक करता है) और (४) वह (गर्व से) आत्म-प्रशसक (आत्मोत्कर्षकर्ता) नही होता, यह चतुर्थ पद है ॥५॥

[५१२] इस (विषय) मे श्लोक भी है—

(१) आत्मार्थी (या मोक्षार्थी) मुनि हितानुशासन सुनने की इच्छा करता है, (२) शुश्रूषा करता है—गुरु के अनुशासन को सम्यक्रूप से ग्रहण करता है, (३) उस (अनुशासन) के अनुकूल आचरण करता है, (४) (मैं) विनयसमाधि मे (प्रवीण हूँ, इस प्रकार के) अभिमान के उन्माद से उन्मत्त नही होता।

विवेचन—विनयसमाधि के सूत्र - प्रस्तुत दो सूत्रो (५११-५१२) मे विनयसमाधि को जीवन मे रमाने वाले साधक के चार सूत्रो का प्रतिपादन किया गया है।

'सुस्सूसइ' आदि पदों के विशेषार्थ—सुस्सूसइ—शुश्रूषा करता है—सुनने की इच्छा करता है, अथवा सेवा करता है, या सम्यक्रूप से ग्रहण करता है। **वेयं—वेद** श्रुतज्ञान या ज्ञान। **आराहइ**—शास्त्र मे जिस प्रकार कहा है, तदनुकूल आचरण-आराधन करता है। **आययट्ठिए : आयतार्थिक**—मोक्षार्थी, मोक्षाकाक्षी।

न य माणमएण मज्जइ—गर्व के उन्माद से मत्त नही होता। **अत्तसपग्गहिए**—जिसकी आत्मा गर्व से सप्रगृहीत (अक्खड या अवलिप्त) हो।[3]

श्रुतसमाधि के प्रकार

५१३. चउव्विहा खलु सुयसमाही भवइ। त जहा—'सुयं मे भविस्सइ' त्ति अज्झाइयव्वं भवइ १, 'एगग्ग चित्तो भविस्सामि' त्ति अज्झाइयव्वं भवइ २, 'अप्पाणं ठावइस्सामि' त्ति अज्झाइयव्वं भवइ ३, 'ठिओ प[र] ठावइस्सामि' त्ति अज्झाइयव्वं भवइ चउत्थं पयं भवइ ४ ॥७॥

५१४. भवइ य एत्थ सिलोगो—

नाण १ मेगग्गचित्तो २ य ठिओ ३ ठावयई पर ४।
सुयाणि य अहिज्जित्ता रओ सुयसमाहिए ॥८॥

---

३. (क) आयरिय-उवज्झायादओ य आदरेण हिओवदेसगत्ति काऊण सुस्सूसइ। वेदो नाण भण्णइ। तत्थ ण जहा भणित तहेव कुव्वमाणो तमाराहयइ त्ति। —जिन. चूर्णि, पृ ३२७

(ख) शुश्रूषतीत्यनेकार्थत्वाद् यथाविषयमवबुध्यते। वेद्यतेऽनेनेति वेद —श्रुतज्ञानम। आराधयति ... यथोक्तानुष्ठानपरतया सफलीकरोति। —हारि. वृत्ति, पत्र २५६

(ग) सपग्गहीतो गव्वेण जस्स अप्पा सो अत्तसपग्गहितो। —अगस्त्यचूर्णि
अत्तुक्करिस करेइ त्ति, जहा विणीयो (ह) जहुत्तकारी य एवमादि। —जिन चूर्णि, पृ ३२६

[५१३] श्रुतसमाधि चार प्रकार की होती है, जैसे कि—

(१) 'मुझे श्रुत (आचारागादि शास्त्रज्ञान) प्राप्त होगा,' इसलिए अध्ययन करना उचित है। (२) (शास्त्रज्ञान से) 'मै एकाग्रचित्त हो जाऊँगा,' इसलिए अध्ययन करना चाहिए। (३) (एकाग्रचित्त से) मैं अपनी आत्मा को (आत्मधर्म मे—स्व-भाव मे) स्थापित करूँगा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए। (४) एव (स्वधर्म मे स्थित होकर) मैं दूसरो को (उसमे) स्थापित करू गा, इसलिए अध्ययन करना चाहिए, यह चतुर्थ पद है ॥७॥

[५१४] इस (श्रुतसमाधि के विषय) मे एक श्लोक है—(प्रतिदिन शास्त्राध्ययन के द्वारा सम्यक्) ज्ञान होता है, चित्त एकाग्र हो जाता है, (अपने आत्मधर्म मे) स्थिति होती है और दूसरो को (उसमे) स्थिर करता है तथा अनेक प्रकार के श्रुत (शास्त्रो) का अध्ययन कर श्रुतसमाधि मे रत हो जाता है ॥८॥

विवेचन—श्रुतसमाधि के सूत्र—प्रस्तुत दो सूत्रो (५१३-५१४) मे शास्त्र-अध्ययन करने के चार महत्त्वपूर्ण उद्देश्य बताते हुए श्रुतसमाधि के चार सूत्रो का निरूपण किया गया है।

शास्त्राध्ययन के चार प्रयोजन—(१) शास्त्रो का प्रतिदिन अध्ययन करते रहने से सैद्धान्तिक ज्ञान तथा आचार-व्यवहार का ज्ञान परिपक्व और अस्खलित हो जाता है। शास्त्रीय अध्ययन के विना साधु-साध्वीगण जैनधर्म के सिद्धान्त, तत्त्वज्ञान और आचार-व्यवहार की बाते भलीभाति समझ नही सकते। बल्कि कभी-कभी शास्त्रज्ञान की अज्ञता के कारण भौतिक सुख-सुविधावादी पुस्तके पढ-सुन कर स्वय विपरीत मार्ग पर चल पडते हैं और दूसरो को भी उसी उन्मार्ग पर ले जाते है। (२) शास्त्र-अध्ययन के बिना साधक का चित्त इधर-उधर विषयवासना की बाते सुनकर चचल हो उठता है, परन्तु शास्त्रीय अध्ययन से उसका चित्त अपने ध्येय मे एकाग्र हो जाता है। वह इधर-उधर भटकता नही। (३) शास्त्रीय अध्ययन करने से ही साधु-साध्वी अपने स्वधर्म में, आत्मिक गुणो मे, अहिंसा-सत्यादि धर्मों मे स्थिर रह सकते हैं। आकस्मिक विपत्ति, भय या प्रलोभन अथवा प्रतिष्ठा आदि का लोभ आने पर उनका चित्त स्वधर्म और धैर्य से च्युत हो जाता है, वह पापवृत्ति की ओर झुक जाते हैं। (४) अध्ययन न करने वाला जब स्वय स्वधर्म से भ्रष्ट—पतित हो जाता है, अनेक क्रियाकाण्ड करते हुए भी धर्म मे स्थिर नही रहता, तब वह दूसरो को धर्म मे कैसे स्थिर कर सकता है? किन्तु जो स्वाध्यायशील होता है, वह ज्ञानबल से स्वय स्वधर्म मे स्थिर होता है, इसलिए धर्म से डिगते हुए अन्य साधको को भी वह उसमे स्थिर कर देता है। इन चार कारणो से साधु-साध्वीगण अनेक प्रकार के शास्त्रो का अध्ययन करके श्रुतसमाधि मे लीन हो जाते है। फलितार्थ यह है कि साधु-साध्वी को इन्ही शुभ उद्देश्यो को लेकर शास्त्रो का अध्ययन करना चाहिए, प्रसिद्धि, पद-प्रतिष्ठा, प्रशसा या अन्य किसी भौतिक स्वार्थसिद्धि के उद्देश्य से नही।[५]

तपःसमाधि के चार प्रकार

५१५. चउव्विहा खलु तवसमाही भवइ। तं जहा—नो इहलोगट्ठयाए □तवमहिट्ठेज्जा १, नो परलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा २, नो कित्ति-वण्णसद्द-सिलोगट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा ३, नऽन्नत्थ निज्जरट्ठयाए तवमहिट्ठेज्जा चउत्थं पयं भवइ ४ ॥९॥

५ दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ ९४३-९४४

पाठान्तर— □ तवमहिट्ठिज्जा।

५१६. भवइ य *एत्थ सिलोगो—

विविहगुण-तवोरए य निच्चं भवइ निरासए निज्जरट्ठिए ।
तवसा धुणइ पुराणपावगं, जुत्तो सया तवसमाहिए ॥१०॥

[५१५] तप समाधि चार प्रकार की होती है । यथा—

(१) इहलोक (वर्तमान जीवन के भौतिक लाभ या तुच्छ विषयभोगो की वाञ्छा) के प्रयोजन से तप नही करना चाहिए ।

(२) परलोक (पारलौकिक भौतिक सुखो या भोगासक्ति-विषयक लाभो) के लिए तप नही करना चाहिए ।

(३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए तप नही करना चाहिए ।

(४) (कर्म—) निर्जरा के अतिरिक्त अन्य किसी भी उद्देश्य से तप नही करना चाहिए, यह चतुर्थ पद है ॥९॥

[५१६] सदैव विविध गुणो वाले तप मे (जो साधक) रत रहता है, (जो इहलौकिक, पारलौकिक, किसी भी भौतिक-पौद्गलिक प्रतिफल की) आशा नही रखता, (जो केवल) कर्म-निर्जरार्थी होता है, वह तप के द्वारा पूर्वकृत कर्मों का क्षय कर डालता है और सदैव तप समाधि से युक्त रहता है ॥१०॥

विवेचन—तपःसमाधि संबधी सूत्र—प्रस्तुत दो सूत्रो (५१५-५१६) में तप समाधि को प्राप्त करने के लिए भौतिक प्रयोजनवश तपश्चरण का निषेध करते हुए एकान्त कर्मक्षय के उद्देश्य से तपश्चरण का विधान किया गया है ।

तपश्चरण के लिए निषिद्ध उद्देश्य—इहलोगट्ठयाए—परलोगट्ठयाए—तपस्या का उद्देश्य इहलौकिक या पारलौकिक नही होना चाहिए । साधक को ऐहिक या पारलौकिक सुख-समृद्धि, भोगोपभोग या किसी सासारिक स्वार्थसिद्धि की आशा से तप नही करना चाहिए । यथा—इस तप से मुझे तेजोलेश्या तथा आमर्षौषधि आदि लब्धि या भौतिकसिद्धि, वचनसिद्धि प्राप्त हो जाएगी, अथवा आगामी जन्म मे मुझे देवलोक के दिव्य सुखों, देवागनाओ अथवा सासारिक ऋद्धि प्राप्त हो जाएगी । **कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए**—तपस्या का उद्देश्य कीर्ति आदि भी नही होना चाहिए । **कीर्ति**—दूसरो के द्वारा गुणकीर्त्तन, अथवा सर्वदिग्व्यापी यशोवाद, **वर्ण**—लोकव्यापी या एकदिग्व्यापी यशोवाद, **शब्द**—लोकप्रसिद्धि अथवा अर्द्धदिग्व्यापी यश, **श्लोक**—ख्याति अथवा उसी स्थान पर होने वाला यश अथवा प्रशसा । तात्पर्य यह है कि पद, प्रतिष्ठा, पदोन्नति, कीर्ति, प्रसिद्धि एव प्रशसा, स्तुति, प्रशस्ति आदि की दृष्टि से साधक को तपश्चर्या नही करनी चाहिए । कर्मक्षय करके आत्म-शुद्धि की दृष्टि से ही बारह प्रकार की तपश्चर्या करनी चाहिए । जो लोग किसी सासारिक आशा-आकाक्षा से प्रेरित होकर तप करते है, उनकी वे लौकिक-भौतिक कामनाएँ कदाचित् पूर्ण हो जाएँ किन्तु उन्हें कर्मों से सर्वथा मुक्तिरूप निर्वाणपद की प्राप्ति नही होती । उनकी दशा प्राय ब्रह्मदत्त

पाठान्तर— * इत्थ ।

चक्रवर्ती के समान होती है, जिसने तपोबल के साथ फलाकाक्षा को जोड़ कर भौतिक सुखसमृद्धि एव भोगसामग्री तो बहुत प्राप्त की, किन्तु धर्म का बोध तथा धर्माचरण न हो सकने से अन्त मे, नरक का मेहमान बनना पडा। अत भगवान् महावीर ने कहा—**निज्जरट्ठाए तवमहिट्ठेज्जा**—अर्थात्—कर्मनिर्जरा के लिए ही तप करना चाहिए।[६]

'अन्नत्थ' आदि पदों के विशेषार्थ—**अन्नत्थ**—अन्यत्र—छोड कर या अतिरिक्त। **निरासए**—पौद्गलिक प्रतिफल की आशा-आकाक्षा से रहित।[७]

आचारसमाधि के चार प्रकार

५१७. चउव्विहा खलु आयारसमाही भवइ। त जहा—नो इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा १, नो परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा २, नो कित्ति-वण्ण-सद्द-सिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठेज्जा ३, नऽन्नत्थ आरहतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठेज्जा चउत्थ पय भवइ ४॥ ११॥

५१८ भवइ य एत्थ सिलोगो—

जिणवयणरए अतितिणे पडिपुण्णाययमायय‌ट्ठिए।
आयार-समाहि-संवुडे भवइ य दंते भावसंधए ४॥ १२॥

[५१७] आचारसमाधि चार प्रकार की है, यथा—(१) इहलोक के लिए आचार का पालन नही करना चाहिए, (२) परलोक के निमित्त आचार का पालन नही करना चाहिए, (३) कीर्ति, वर्ण, शब्द और श्लोक के लिए भी आचार का पालन नही करना चाहिए, (४) आर्हत-हेतुओ के सिवाय अन्य किसी भी हेतु (उद्देश्य) को लेकर आचार का पालन नही करना चाहिए, यह चतुर्थ पद है॥११॥

[५१८] यहाँ आचारसमाधि के विषय मे एक श्लोक है-

'जो जिनवचन मे रत होता है, जो क्रोध से नही झुझाता, जो (सूत्रार्थ-ज्ञान मे) परिपूर्ण है और जो अतिशय मोक्षार्थी है, वह मन और इन्द्रियो का दमन करने वाला (दान्त) मुनि आचार-समाधि द्वारा सवृत होकर (आस्रवनिरोध करके अपनी आत्मा को) मोक्ष के अत्यन्त निकट करने वाला होता है॥१२॥

विवेचन—आचारसमाधि के सूत्र—प्रस्तुत दो सूत्रो (५१७-५१८) मे आचारसमाधि को प्राप्त करने के लिए विभिन्न भौतिक प्रयोजनवश आचार-पालन का निषेध करते हुए एकमात्र आर्हत-हेतुओ (आर्हत्-वीतराग-पद-प्राप्ति के उद्देश्य) मे आचार-पालन का विधान किया गया है।

---

६. 'परेहि गुणससद्दण कित्ती, लोकव्यापी जसो वण्णो, लोके विदितया सद्दे, परेहि पूर (य) ण सिलोगो।'
—अगस्त्यचूर्णि

'सर्वदिग्व्यापी साधुवाद कीर्ति, एकदिग्व्यापी वर्ण, अर्द्धदिग्व्यापी शब्द, तत्स्थान एव श्लाघा। निराशो—निष्प्रत्याश इहलोकादिषु।' —हारि वृत्ति, पत्र २५७

७ अन्नत्थसद्दो परिवज्जणे वट्टइ। 'निग्गता आसा अप्पसत्था जस्स सो निरासए।' —जिन चूर्णि, पृ ३२८

आचार : दो स्वरूप—(१) मोक्षप्राप्ति मे हेतुभूत ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और वीर्याचाररूप पचाचार, (२) सम्यक्चारित्र मूलगुण-उत्तरगुणमय आचार।[८]

आरहंतेहिं हेउहिं—(१) अर्हन्तो ने मोक्षसाधना के लिए अनास्रवत्व (सवर) और निर्जरा आदि जिन गुणो का उपदेश दिया है या आचरण किया है, उन हेतुओ—उद्देश्यो से अथवा (२) अर्हत्प्रणीत शास्त्रो मे जिन आचारो द्वारा जीव का आस्रवरहित होना बताया है, उन आस्रवनिरोधादि हेतुओ से अथवा (३) अर्हत्पद की प्राप्ति के उद्देश्यो से।[९]

'पडिपुण्णायय' आदि पदों के विशेषार्थ : परिपूर्णायत : दो अर्थ—(१) सूत्रार्थों से अत्यन्त आयत—प्रतिपूर्ण, अथवा (२) जिसका आयत (आगामीकाल—भविष्य) प्रतिपूर्ण है। **दंते**—दान्त, इन्द्रिय और नो-इन्द्रिय (मन) का दमन करने वाला।

भावसंधए : भावसन्धक—भाव का अर्थ है—मोक्ष, उसका सन्धक अर्थात्—मोक्ष को आत्मा के निकट करने वाला अथवा दूरस्थ मोक्ष (भाव) को अपने साथ सम्बद्ध करने वाला।[१०]

चतुर्विध-समाधि-फल-निरूपण

५१९. अभिगम चउरो समाहिओ,
सुविसुद्धो सुसमाहियप्पओ।
विउल-हिय+ सुहावहं पुणो,
कुव्वइ सो पयखेममप्पणो ॥१३॥

५२०. जाई-मरणाओ मुच्चई,
इत्थथं च चएइ सव्वसो।
सिद्धे वा भवइ* सासए,
देवे वा अप्परए ×महिड्ढिए ॥१४॥ **—त्ति बेमि॥**

॥ विणयसमाहीए चउत्थो उद्देसो समत्तो ॥ ९-४ ॥
॥ नवमं अज्झयण : विणयसमाही समत्तं ॥ ९ ॥

---

८ (क) 'पचविधस्स णाणाइ-आयारस्स ।' —जिन चूर्णि, पृ ३१८
(ख) 'आचार—मूलगुणोत्तरगुणमय ।' —हारि वृत्ति., पत्र २५८

९ (क) 'जे अरहतेहिं अणासवत्त-कम्मणिज्जरणादयो गुणा भणिता आयिण्णा वा, ते आरहतिया हेतवो कारणाणि।' —अगस्त्यचूर्णि
(ख) आर्हतै —अर्हत्-सम्बन्धिभिर्हेतुभिरनाश्रवत्वादिभि । —हारि वृत्ति, पत्र २५८
(ग) दशवै. पत्राकार (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ ९५१

१० (क) ''''सुत्तत्थेहिं पडिपुण्णो, आयया अच्चत्थ (अत्यन्त)। —जिन चूर्णि, पृ ३२९
(ख) पडिपुण्ण आयत आगामिकाल सव्व-आगामिण काल पडिपुण्णायत। —अगस्त्यचूर्णि
(ग) दान्त-इन्द्रिय-नोइन्द्रिय-दमाभ्याम। भाव-सन्धक —भावो मोक्षस्तत्सन्धक आत्मनो मोक्षासन्नकारी।
—हा चू, पृ. २५८
(घ) भावो-मोक्खो त दूरत्थमप्पणा सह सबधए। —जि. चू., पृ. ३२९

पाठान्तर— +हिअ। * हवइ। ×महड्ढिए।

[५१९] परम-विशुद्धि (निर्मलचित्त) और (सयम मे) अपने को भलीभाँति सुसमाहित रखने वाला जो साधु है, वह चारों समाधियो को जान कर अपने लिए विपुल हितकर, सुखावह एव कल्याण (क्षेम)-कर मोक्षपद (स्थान) को प्राप्त कर लेता है ।।१३।।

[५२०] (पूर्वोक्त गुणसम्पन्न साधु) जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है, नरक आदि सब पर्यायो (अवस्थाओ) को सर्वथा त्याग देता है। (ऐसा साधक) या तो शाश्वत (अजर-अमर) सिद्ध (मुक्त) हो जाता है, अथवा (यदि कुछ कर्म शेष रह जाएँ तो वह अल्पकर्मवाला) महर्द्धिक देव होता है ।।१४।।

विवेचन -चतुर्विध विनयसमाधि की फलश्रुति—प्रस्तुत दो गाथाओ (५१९-५२०) मे विनयसमाधि के अनन्तर और परस्पर फल का निरूपण किया गया है।

समाधि की फल-प्राप्ति के योग्य—जो सुविशुद्ध हो, सुसमाहितात्मा हो तथा चारो समाधियो का सुविज्ञ हो, वही चतुर्विध समाधि के फल को पाने के योग्य है।

फलश्रुति—उसे निम्नोक्त फल प्राप्त होते है—(१) वह विपुल हितकर, सुखकर और क्षेम-कर मोक्षपद प्राप्त करता है, (२) जन्म-मरण से मुक्त हो जाता है, (३) नरकादि अवस्थाओ से सर्वथा बच जाता है, (४) शाश्वतसिद्ध होता है, अथवा (५) अल्पकर्म वाला महर्द्धिक देव बनता है।[११]

'पयं' आदि शब्दो के अर्थ—**पय**—पद अर्थात् मोक्षपद। **जाइ-मरणाओ**—जन्म और मरण से, अथवा जन्म-मरणरूप ससार से। **इत्थं यं**—इत्थ का अर्थ है—इस प्रकार प्राप्त हुआ, जो इस प्रकार स्थित हो, जिसके लिए 'यह ऐसा है', इस तरह का व्यपदेश किया जाए उसे इत्थस्थ कहा जाता है। नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव, ये ४ गतियाँ, शरीर, वर्ण, सस्थान इत्यादि सब जीवो के व्यपदेश के हेतु है। जो इत्थस्थ को त्याग देता है अर्थात् अमुक प्रकार के विकारी रूप को त्याग देता है। **अल्परए : दो रूप : दो अर्थ**—(१) **अल्परजा**—थोडे कर्म वाला और (२) **अल्परत**- अल्प-आसक्त।[१२]

।। नवम अध्ययन : विनयसमाधि—चतुर्थ उद्देशक समाप्त ।।९-४।।

।। नवम अध्ययन सम्पूर्ण ।।९।।

---

११ दशवै (आत्म) पृ. ९५२-५३

१२ (क) अगस्त्यचूर्णि
(ख) हारि. वृत्ति, पृ ३२९
(ग) जि चू, पृ १५८

दसमं अज्झयणं : स-भिक्खु

दसवां अध्ययन : स-भिक्षु

प्राथमिक

☐ दशवैकालिकसूत्र के इस दसवें अध्ययन का नाम 'स-भिक्खु' है, सस्कृत मे इसके दो रूपान्तर होते है—सभिक्षु और सद्भिक्षु। आधुनिक युग की भाषा मे 'सच्चा भिक्षु' या 'आदर्श भिक्षु' कहा जा सकता है।

☐ भिक्षु का अर्थ—भिक्षाजीवी या भिक्षाशील होता है। अर्थात्—जो किसी भी वस्तु को खरीद कर या अग्नि आदि मे पकाकर सेवन नही करता, किन्तु भिक्षा के द्वारा ही जीवननिर्वाह करता है, भिक्षा करके ही खाता है या अन्य उपकरण प्राप्त करता है।

☐ परन्तु इस अर्थ पर से आदर्श या सच्चे भिक्षु की पहचान नही हो सकती। इस अर्थ की परिधि मे तो वे लोग भी आ जाते है, जो भीख माग कर खाते है, भिखारी है, जो लोगों से गिड़गिडा-कर, दीनता और दयनीयता का स्वाग करके भीख मागते हैं। इसके अतिरिक्त कई अन्य सम्प्रदायो के भिक्षु या साधु भी आ जाते है जो—(१) भीख मागकर तो खाते है, परन्तु स्त्री-पुत्र वाले है, आरम्भरत है। (२) भिक्षा करके तो खाते हैं, पर है मिथ्यादृष्टि, तथा त्रस-स्थावर जीवो का वध करने-कराने मे जिन्हे सकोच नही है। (३) भिक्षा माग कर खाते है पर सचय करते है, परिग्रह मे त्रिकरण-त्रियोग से आसक्त हैं। (४) भिक्षा माग कर खाते है, परन्तु सचित्तभोजी है, खाद्यवस्तुएँ माग कर लाते है, स्वय पकाते है, अथवा उद्दिष्टभोजी है। (५) भिक्षा करके लाते है, परन्तु त्रिकरण-त्रियोग से स्व-पर-उभय के लिए सावद्य-प्रवृत्ति करते हैं, सार्थक-अनर्थकदण्ड मे प्रवृत्त है। इन और ऐसे ही भिक्षुको को, जो कि याचक तो है, परन्तु अविरत है, सैद्धान्तिक दृष्टि से 'द्रव्यभिक्षु' कहा जा सकता है, 'भावभिक्षु' नही *

☐ नाम और रूप से एक सरीखा प्रतीत होने पर भी जैसे असली सोना, अपने गुणो के कारण नकली सोने से सदा पृथक् होता है, वैसे ही सद्भिक्षु अपने गुणो से पृथक् होता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे कहा गया है- गुणो से साधु हो, उसे ही साधु कहा जा सकता है। जैसे कसौटी पर कसे जाने पर जो खरा उतरता है, वही खरा सोना कहलाता है, वैसे ही नाम, रूप या वेष से अथवा बाह्य क्रिया से सदृश होने पर भी सद्भिक्षु के अन्य गुणो की कसौटी पर कसने से जो गुणो की दृष्टि से खरा नही उतरता वह असद्भिक्षु कहलाता है।

☐ भिक्षु के वे गुण कौन-से है, जिनके कारण सद्भिक्षु और असद्भिक्षु का अन्तर जाना जा सके? इस अध्ययन मे इसी प्रश्न का उत्तर अकित है। दशवैकालिकसूत्र के इस अन्तिम अध्ययन मे

---

* 'जे भिक्खू गुणरहिओ भिक्ख गिण्हइ न होई सो भिक्खू।' —दशवै. निर्युक्ति, गा. ३५६

गुणो की दृष्टि से सद्भिक्षु के लक्षण दिये गए है। निर्युक्तिकार ने सक्षेप में एक गाथा में भिक्षु (आदर्श भिक्षु) का लक्षण बताया है कि पूर्ववर्ती ९ अध्ययनो मे प्रतिपादित आचार-निधि का पालन करने के लिए जो भिक्षा करता है, वही सद्भिक्षु है। यही इस अध्ययन का प्रतिपाद्य है। ॥

☐ प्रस्तुत अध्ययन मे सद्भिक्षु के लक्षण इस प्रकार बताए है—जो तीर्थंकर के वचनो में समाहित-चित्त हो, स्त्रियो मे आसक्ति से तथा त्यक्त विषय-भोगो से विरत हो। जो षट्कायिक जीवो की किसी भी प्रकार से विराधना नही करता—कराता, जो समस्त प्राणियो को आत्मवत् मानता है, जो पच महाव्रत एव पच सवर का पालन करता है, जो कषायविजयी है, परिग्रह-वृत्ति तथा गृहस्थ-प्रपचो से दूर है, जो खाद्य-पदार्थों का सचय नही करता, जो लाया हुआ आहार साधर्मिको को सविभक्त और आमन्त्रित करके खाता है, जो कलहकथा, कोप आदि नही करता, जो इन्द्रियविजयी, सयम मे ध्रुवयोगी एव उपशान्त है, जो कठोर एवं भयावह शब्दो को समभावपूर्वक सहता है, जो सुख-दु ख मे समभावी, अभय, तपश्चरण एव विविध-गुणो मे रत, शरीरनिरपेक्ष, सर्वांग-सयत, अनिदान, कायोत्सर्गी, परीषह-विजेता, श्रमणभाव मे रत, उपधि मे अनासक्त है, जो अज्ञातकुलो मे भिक्षा करने वाला, क्रय-विक्रय तथा सन्निधि से विरत, सर्वसग-रहित, असयमी जीवन का अनाकाक्षी, वैभव, आडम्बर, सत्कार, पूजा, प्रतिष्ठा आदि मे बिलकुल नि स्पृह है, जो स्थितप्रज्ञ है, आत्मशक्ति के विकास के लिए तत्पर है, जो समिति-गुप्ति का भलीभाति पालक है, अष्टविध मद से दूर एव धर्मध्यान आदि मे रत है, स्वधर्म मे स्थिर है, शाश्वत हित मे सुस्थित, देहाध्यास-त्यागी और क्षुद्र हास्यचेष्टाओ से विरत है।※

☑ अत प्रस्तुत अध्ययन मे भिक्षुचर्या तथा भिक्षु के स्वधर्म एव सद्गुणो से सम्बन्धित समग्र चिन्तन मे विशुद्धरूप से अकित किया गया है।

☐ उत्तराध्ययनसूत्र के पन्द्रहवे अध्ययन का नाम भी 'सभिक्खुय' है और वहाँ भी इस अध्ययन की तरह प्रत्येक गाथा के अन्त मे 'सभिक्खू' शब्द प्रयुक्त किया गया है, उक्त अध्ययन के विषय और पदो से बहुत-कुछ साम्य है। सम्भव है आचार्य शय्यभव ने इस अध्ययन की रचना मे उसे आधार माना हो।+

☐☐

॥ जे भावा दसवेयालियम्मि करणिज्ज वण्णिअ जिणेहिं।
तेसिं समाणणमि जो भिक्खू, इति भवति सभिक्खू॥ —दशवै निर्युक्ति, गा ३३०

※ दशवैयालियसुत्त (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त), पृ ७५ से ७८ तक

\+ देखिये—उत्तराध्ययनसूत्र का १५वां सभिक्खुय अध्ययन।

दसमं अज्झायणं : स-भिक्खु

दसवाँ अध्ययन : स-भिक्षु

सद्भिक्षु : षट्कायरक्षक एवं पंचमहाव्रती आदि सद्गुणसम्पन्न

५२१. निक्खम्ममाणाय+ बुद्धवयणे,
निच्च चित्तसमाहिओ भवेज्जा※ ।
इत्थीण वसं न यावि गच्छे,
वंतं नो × पडियावियति जे, स भिक्खू ॥१॥

५२२. पुढवि न खणे, न खणावए,
सीओदग न पिए, न पियावए ।
अगणिसत्थं जहा सुनिसिय,
तं न जले, न जलावए जे, स भिक्खू ॥२॥

५२३. अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे, न छिंदावए ।
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्त नाऽऽहारए जे, स भिक्खू ॥३॥

५२४. वहणं तस-थावराण होइ,
पुढवि-तण-कट्ठ-निस्सियाणं ।
तम्हा उद्देसिय न भुंजे,
नो वि पए, न पयावए जे, स भिक्खू ॥४॥

५२५. रोइय नायपुत्तवयणं,
अत्तसमे= मन्नेज्ज छप्पिकाए ।
पंच य फासे महव्वयाइं,
पचासवसंवरए जे, स भिक्खू ॥५॥

[५२१] जो तीर्थंकर भगवान् की आज्ञा से निष्क्रमण कर (प्रव्रजित होकर) निर्ग्रन्थ-प्रवचन (सर्वज्ञ-वचन) मे सदा समाहितचित्त रहता है, जो स्त्रियो के वशीभूत नही होता, जो वमन किये (त्यागे) हुए (विषयभोगो) को पुन नही सेवन करता, वह सद्भिक्षु होता है ॥१॥

पाठान्तर— +आणाइ, आणाय । ※ हविज्जा । × पडिआयइ । =अत्तसम ।

[५२२] जो (सचित्त) पृथ्वी को नही खोदता तथा दूसरो से नही खुदवाता, शीत (सचित्त) जल नही पीता और न पिलाता है, (खड्ग आदि) शस्त्र के समान सुतीक्ष्ण अग्नि को न जलाता है और न जलवाता है, वह भिक्षु है ।।२।।

[५२३] जो वायुव्यजक (पखे आदि) से हवा नही करता और न दूसरो से करवाता है, जो हरित (हरी वनस्पति) का छेदन नही करता और न दूसरो से कराता है, जो बीजो (बीज आदि) का सदा विवर्जन करता हुआ (उनके स्पर्श से दूर रहता हुआ) सचित्त (पदार्थ) का आहार नही करता, वह भिक्षु है ।।३।।

[५२४] (भोजन बनाने मे) पृथ्वी, तृण और काष्ठ मे आश्रित रहे हुए त्रस और स्थावर जीवो का वध होता है। इसलिए जो औद्देशिक (आदि दोषो मे युक्त आहार) का उपभोग नही करता तथा जो (अन्नादि) स्वय नही पकाता और न दूसरो से पकवाता है, वह सद्भिक्षु है ।।४।।

[५२४] जो ज्ञातपुत्र (श्रमण भगवान् महावीर) के वचनो मे रुचि (श्रद्धा) रख कर षट्कायिक जीवो (सर्वजीवो) को आत्मवत् मानता है, जो पाच महाव्रतो का पालन करता है, जो पाच (हिसादि) आस्रवो का सवरण (निरोध) करता है, वह सद्भिक्षु है ।।५।।

विवेचन—सद्भिक्षु की परिभाषा—जो विधिवत् गृहस्थाश्रम का त्याग कर षट्जीवनिकाय का त्राता एव पचमहाव्रती बनता है, वही वास्तविक भिक्षु है, यही इन ५ गाथाओ मे बताया गया है।

निक्खम्ममाणाए : व्याख्या—आणाए आज्ञा से—तीर्थकर एव गणधर की आज्ञा, आगम, उपदेश, सन्देश या वचन से। **निक्खम्म**—निष्क्रम्य अर्थात् (१) द्रव्यगृह और भावगृह से निकल कर, प्रव्रजित होकर। (२) सर्वसगपरित्याग करके, अथवा गृह या गृहस्थभाव से निकल कर द्विपद आदि का त्याग कर। द्रव्यगृह अर्थात् घर और भावगृह यानी गृहस्थभाव, गृहस्थ-सम्बन्धी प्रपच या सम्बन्ध। (३) आरम्भ-समारम्भ से दूर हो कर।[1]

बुद्धवयणे चित्तसमाहिओ : अर्थ बुद्धवचन मे समाहितचित्त, इनका भावार्थ है—बुद्ध अर्थात्—तीर्थकर या गणधर के वचन अर्थात्—प्रवचन मे जिसका चित्त भलीभाति आहित—लीन होता है।[2]

---

१ (ख) आणा वा आणत्ति नाम उववायोत्ति वा उवदेसोत्ति वा आगमो त्ति वा एगट्ठा। निष्क्रम्य—तीर्थकर-गणधराज्ञया निष्क्रम्य—सर्वसगपरित्याग कृत्वेत्यर्थ निक्खम्म नाम गिहाओ गिहत्थभावाओ वा दुपदादीणि चइऊण। —जिन. चूर्णि, पृ ३३८

(ख) आणा वयण सदेसो वा। निक्खम्म—निग्गच्छिऊण गिहातो आरभातो वा। —अ चूर्णि

२ (क) बुद्धवचने—अवगततत्त्वतीर्थकर-गणधरवचने।
चित्तसमाहित—चित्तेनातिप्रसन्नो भवेत्, प्रवचन एवाभियुक्त इति गर्भ। —हा. वृ, प. २६५

(ख) बुद्धा जाणगा तेसि वयण—बुद्धवयण दुवालसग गणिपिडग।

इत्थीण वसं न यावि गच्छे : अभिप्राय:—चित्तसमाधि मे सबसे बड़ा विघ्न है स्त्रीसग अर्थात्—तत्सम्बन्धी कामभोगो की अभिलाषा। इसलिए समाधिस्थ चित्त वाले भिक्षु के लिए गुण बताया है कि सर्वाधिक दुर्जेय स्त्रीसम्बन्धी कामभोगाभिलाषा के वशीभूत नही होता।[3]

वंतं नो पडियायइ—वान्त अर्थात्—वमन किये (त्यागे हुए) विषयभोगो को **नो प्रत्यापिबति**—पुन नही पीता या **नो प्रत्यादत्ते**—पुन ग्रहण—सेवन नही करता।[4]

कठिन शब्दार्थ—**सुनिसियं : सुनिशितं**—सुतीक्ष्ण। **रोइय**—रुचि—श्रद्धा रख कर। **पंचासव-संवरे**—पाच इन्द्रिया पचास्रवद्वार हैं, अथवा हिंसादि पाच आस्रव है, उन पाच आस्रवो को रोकता है। **असससमे मन्निज्ज छप्पिकाए**—छहकाय के जीवो को आत्मवत् मानता है, अर्थात्—उनके सुख-दु ख जीवन-मरण को अपने समान समझता है। **पंचमहव्वयाइ फासे**—पाच महाव्रतो का स्पर्श—पालन करता है। **अनिलेण**—पखे आदि वायुव्यजक साधन से।[5]

पुढविं न खणे० इत्यादि का आशय—सचित्त पृथ्वी मे जीव हैं, इसी प्रकार सचित्त जल, अग्नि, वायु एव वनस्पति मे जीव है, इनकी हिंसा विविध प्रकार से हो जाती है, जिसका विस्तृत वर्णन चतुर्थ अध्ययन मे किया गया है। यहा पृथ्वी को न खोदे, सचित्त जल न पीए, अग्नि न जलाए, पखे आदि से हवा न करे, हरी वनस्पति को न छेदे, इत्यादि इन पाच स्थावरो (एकेन्द्रिय जीवो) की हिंसा करने-कराने के एक-एक प्रकार का निषेध किया गया है। अर्थात्—यहा पृथ्वी आदि प्रत्येक स्थावर जीव के साथ उसके एक प्रकार का और एक ही क्रिया से हिंसा-निषेध का सकेत किया गया है। शास्त्रकार का तात्पर्य यह है कि पृथ्वीकायादि जीवो मे सम्बन्धित कोई भी ऐसी क्रिया न करनी-करानी चाहिए, जिससे उनका वध हो।[6]

सद्भिक्षु : श्रमणचर्या में सदा जागरूक

५२६. चत्तारि वमे सया कसाए,
धुवजोगी य हवेज्ज बुद्धवयणे।
अहणे निज्जाय-रूव-रयए,
गिहिजोग परिवज्जए जे, स भिक्खू ॥६॥

३ चित्त समाधाण-विग्घभूता विसया तत्थवि पाहण्णेण इत्थिगतत्ति भणति इत्थीण वस। —अगस्त्यचूर्णि

४ **पडियायई-प्रत्यापिबति, प्रत्यादत्ते**—दसवेयालिय (न मु), पृ ४७९

५ (क) जधा खग्ग-परसु-छुरिगादि-सत्थमणुधार छेदग तथा समततो दहणरूव। 'पचासवदाराणि इदियाणि ताणि आसवा चेव तानि सवरे।' —अ चू
(ग) पचाश्रवसंवृतश्च द्रव्यतो पचेन्द्रियसवृतश्च।—हा वृ, पृ. २६५
सेवते महाव्रतानि।' —हा वृ, प २६५
(घ) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ४८७
(ङ) अनिलेन = अनिलहेतुना चेलकर्णादिना। —हा वृ, प २६५

६ (क) 'पुढवी चित्तमतमक्खाया इत्यादि पाठ।' —दशवै अ ४
(ख) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ४८५-४८६
(ग) सचित्तग्गहणेण सव्वस्स पत्तेय-साहारणस्स सभेदस्स वणप्फइकायस्स गहण कय, त सचित्तं नो आहारेज्जा। —जिन चूर्णि, पृ. ३४१

५२७. सम्मदिट्ठी सया अमूढे,
अत्थि हु नाणे तवे सजमे य।
तवसा धुणई पुराण-पावगं,
मण-वय-काय-सुसंवुडे जे, स भिक्खू ॥७॥

५२८. तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइमं साइमं लभित्ता।
होही अट्ठो सुए परे वा,
त न निहे, न निहावए जे, स भिक्खू ॥८॥

५२९. तहेव असणं पाणगं वा,
विविहं खाइम साइमं लभित्ता।
छंदिय साहम्मियाण भुंजे,
भोच्चा सज्झायरए य जे, स भिक्खू ॥९॥

५३०. न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा,
न य कुप्पे, निहुइदिए पसते।
संयम-धुव-जोगजुत्ते उवसंते,
अविहेडए जे, स भिक्खू ॥१०॥

[५२६] जो चार कषायो (क्रोध, मान, माया और लोभ) का वमन (परित्याग) करता है, जो तीर्थंकरो (बुद्धो) के प्रवचनो मे सदा ध्रुवयोगी रहता है, जो अधन (अकिचन) है तथा सोने और चाँदी से स्वय मुक्त है, जो गृहस्थो का योग (अधिक ससर्ग या व्यापार) नही करता, वही सद्भिक्षु है ॥६॥

[५२७] जिसकी दृष्टि सम्यक् है, जो सदा अमूढ है, जो ज्ञान, तप और सयम मे आस्थावान् है तथा जो तपस्या मे पुराने (पूर्वकृत) पाप कर्मों को प्रकम्पित (नष्ट) करता है और जो मन-वचन-काया से सुसवृत है, वही सच्चा भिक्षु है ॥७॥

[५२८] पूर्वोक्त एषणाविधि मे विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य को प्राप्त कर—'यह कल या परसो के लिए काम आएगा,' इस विचार से जो उस आहार को न तो (सचित) करता है और न कराता है, वह भिक्षु है ॥८॥

[५२९] पूर्वोक्त प्रकार से विविध अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य आहार को पाकर जो अपने साधर्मिक साधुओ को निमन्त्रित करके खाता है तथा भोजन करके स्वाध्याय मे रत रहता है, वही सच्चा भिक्षु है ॥९॥

[५३०] जो कलह उत्पन्न करने वाली कथा (वार्ता) नही करता और न कोप करता है,

जिसकी इन्द्रिया निभृत (अनुत्तेजित) रहती हैं, जो प्रशान्त रहता है। जो सयम मे ध्रुवयोगी है, जो उपशान्त रहता है और जो उचित कार्य का अनादर नही करता, वही भिक्षु है ॥१०॥

विवेचन—सच्चे भिक्षु का जीवन—प्रस्तुत ५ गाथाओ (५२६ से ५३० तक) मे बताया गया है कि सच्चे भिक्षु का निर्ग्रन्थ धर्म की दृष्टि से जीवन कैसा होता है ? उसकी चर्या कैसी होती है ? वह स्वधर्म का आचरण किस प्रकार करता है ?

ध्रुवयोगी : विभिन्न परिभाषाएँ—(१) जो प्रतिक्षण, लव और मुहूर्त प्रबुद्धता—जागृति आदि गुणो से युक्त हो, (२) प्रतिलेखन आदि सयमचर्या मे नियमित रूप से सलग्न हो तथा (३) मन, वचन, काया से की जाने वाली प्रवृत्तियो मे सदा उपयोग-(सावधानी) पूर्वक जुटा रहता हो, (४) तीर्थंकर-प्रवचन (द्वादशागी रूप) मे निश्चल योग वाला हो और (५) श्रुत (शास्त्र-ज्ञान) में सदा उपयोगयुक्त रहता हो, वह ध्रुवयोगी है। अगस्त्यचूर्णि के अनुसार (१) जो तीर्थंकर-वचनानुसार मन-वचन-काया से प्रवृत्ति करता हो, (२) प्रतिलेखनादि जो भी अवश्यकरणीय कार्य हो, उन्हे सदैव समय पर उपयोगपूर्वक करने वाला हो, वह ध्रुवयोगी है। कहा भी है—

जिन शासन मे, तीर्थंकरवचनरूप द्वादशागी गणिपिटक मे जो निश्चल योग-युक्त हो तथा पाच प्रकार के स्वाध्याय मे रत हो, वह ध्रुवयोगी है।[७]

'गिहिजोग' आदि पदो का विशेषार्थ—**गिहिजोगं**—**गृहस्थयोग**—अर्थात्—(१) गृहस्थो से ममत्वयुक्त ससर्ग या सम्बन्ध रखना या (२) गृहस्थो का क्रय-विक्रय, पचन-पाचन आदि व्यापार स्वय करना। **सम्मदिट्ठी**—**सम्यग्दृष्टि**—जिनप्ररूपित जीव, अजीव आदि तत्त्वो (सद्भावो) पर जिसकी सम्यक् श्रद्धा है। **अमूढे : अमूढ**—(१) मिथ्यादृष्टियो (मिथ्या-विश्वासरत) का वैभवादि देख कर मूढता न लाने वाला, (२) देव, गुरु और धर्म, इस तत्त्वत्रयी मे जिसे पक्का विश्वास हो अथवा (३) देवमूढता, गुरुमूढता और शास्त्रमूढता से जो दूर हो। **'अत्थि हु नाणे०' इत्यादि : दो व्याख्याएँ**—(१) जिनशासन मे सम्यक् ज्ञान है, उस ज्ञान का फल तप और सयम है और सयम का भी फल मोक्ष है। ये ज्ञान, तप और सयम जिनप्रवचन मे ही सम्पूर्ण है, अन्य कुप्रावचनो मे नही। (२) हेय, ज्ञेय और उपादेय पदार्थों का विज्ञापक ज्ञान है, कर्ममल को शुद्ध करने के लिए जल के समान बाह्याभ्यन्तर भेद वाला तप है और नवीन कर्मों के बन्ध का निरोध करने वाला सयम है, इस प्रकार जो अमूढभाव से मानता है। अर्थात्—ज्ञान, तप और सयम के अस्तित्व मे दृढ आस्था रखता है। **मण-वय-काय-सुसंवुडे**—**मन-वचन-काय से सुसवृत**—**मन से सुसवृत**—अकुशल मन का निरोध और कुशल मन की उदीरणा करने वाला, **वचन से सुसंवृत**—अप्रशस्त वचन का निरोध और प्रशस्त वचनो की उदीरणा करने या मौन रखने वाला, **काय से सुसंवृत**—शास्त्रोक्त नियमानुसार शयनासन-आदान-निक्षेपादि कायचेष्टाएँ करने वाला, शेष अकरणीय क्रियाएँ न करने वाला।[८]

---

७. जिन चूर्णि, पृ ३४९

८. (क) गिहिजोगो-जो तेसि वायारो पयण-पयावण त। —अ. चूर्णि.
(ख) गृहियोग-मूर्च्छया गृहस्थसम्बन्धम्। —हारि वृत्ति, पत्र २६६
(ग) सब्भाव सद्दहणालक्खणा सम्म दिट्ठी जस्स सो सम्मदिट्ठी। परतित्थिविभवादीहिं अमूढे। —अगस्त्यचूर्णि

होही अट्ठो सुए परे वा० : व्याख्या—सुए का अर्थ है—श्व—आगामी कल और परे—परश्व का अर्थ है—परसो अथवा तीसरा, चौथा आदि दिन। **न निहे** : बासी नही रखता, स्थापित करके नही रखता, अर्थात् सचय नही करता। यह आहार कल या परसो या तीन चार दिन के लिए काम आएगा, इस विचार से जो रातबासी नही रखता या सचय करके नही रखता। जिस प्रकार पक्षी भूख लगने पर इधर-उधर घूम कर अपनी प्रकृति के योग्य भोजन पाकर पेट भर लेता है, वह भविष्य के लिए कुछ भी सग्रह करके नही रखता, उसी प्रकार भिक्षु भी भिक्षाटन से जो कुछ निर्दोष आहार मिलता है, उससे क्षुधा-निवृत्ति कर लेता है, भविष्य के लिए सग्रह करके नही रखता।[९]

साहम्मियाण छंदिय : व्याख्या—साधर्मिको को इच्छाकारपूर्वक निमत्रित कर। साधर्मिक का अर्थ—समानधर्मा साधु है। साधु भोजन के लिए उन्ही को आमत्रित कर सकता है, जिनका वेष, क्रिया, चर्या एव नियमोपनियम समान हो। वह विषयभोगी (असमानधर्मा) साधु को या श्रावक को निमत्रित नही कर सकता। जिनदासचूर्णि के अनुसार—'मुझ पर अनुग्रह करे' ऐसा मान कर साधु अपने साधर्मिक साधुओ को निमत्रित करे अर्थात् आप अपनी इच्छानुसार इसमे से ग्रहण करे, इस प्रकार अपनी ओर से उन्हे लेने के लिए अनुरोध (मनुहार) करे। यदि किसी साधर्मी साधु की इच्छा हो तो उसे प्रदान कर स्वय आहार करना चाहिए।[१०]

न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा—वैग्रहिकी कथा वह है जिस कथा, चर्या या वार्ता से विग्रह, (कलह, युद्ध या विवाद) उत्पन्न हो। कलह या झगडे को प्रोत्साहन देने वाली बात नही कहनी चाहिए। **न य कुप्पे**—'कोप न करे', इसका आशय यह है कि कोई विवाद बढाने वाली चर्चा छेडे अथवा चर्चा करते हुए कोई मतवादी कुतर्क प्रस्तुत करे तो उसे सुन कर मुनि कोप न करे।[११]

(घ) 'अहवा सम्मद्दिट्ठिणा जो इदाणी अत्थो भण्णइ तमि अत्थि सया अमूढा दिट्ठी कायव्वा। जहा अत्थि हु जोगे नाणे य, तस्स नाणस्स फल सजमे य, सजमस्स फल, ताणि य इममि चेव जिणवयणे सपुण्णाणि, णो अण्णेसु कुप्पावयणेसुत्ति। मणवयणकायजोगे सुट्ठु सवुडेत्ति। तत्थ मणेण ताव अकुसलमणणिरोध करेइ, कुसलमणोदीरण च, वायाएवि पसत्थाणि वायण-परियट्टयाईणि कुव्वइ, सेसाणि य अकणिज्जाणि य ण कुव्वइ। —जिन चूर्णि., पृ ३४२

(ङ) अमूढ—अविप्लुत सन्नेव मन्यते—अस्त्येव ज्ञान हेयोपादेयविषयमतीन्द्रियेष्वपि तपश्च बाह्याभ्यन्तर कर्ममलापनयनजलकल्प सयमश्च नवकर्मानुपादानरूप। —हारि वृत्ति, पत्र २६६

९ (क) परश्व न निधत्ते, न स्थापयति। —हारि वृत्ति, पत्र २६६

(ख) परग्गहणेण तइय-चउत्थमादीण दिवसाण गहण कय। न निहे, न निहावाए णाम न परिवासिज्जत्ति वुत्त भवति। —जिन. चूर्णि, पृ ३४२

१० (ख) साधम्मिया—समाणधम्मिया साधुणो। छदो इच्छा, इच्छाकारेण जोयण छदण एव छदिय।—अ चूर्णि.

(ख) दसवेयालिय (मु. नथ), पृ ४९०

११ (क) न च वैग्रहिकी कलहप्रतिबद्धा कथा कथयति। —हारि वृ, पृ. २६६

(ख) जति वि परो कहेज्ज तधावि अम्ह रायाण देस वा णिंदसित्ति ण कुप्पेज्जा। वादादी सयमवि कहेज्जा विग्गहकह, ण य पुण कुप्पेज्जा। —अ. चूर्णि

(ग) दसवेयालिय (मु. न), पृ ४९०

'निहुइंदिए' आदि पदो के अर्थ—**निहुइंदिए**—निभृतेन्द्रिय—निभृत का अर्थ विनीत या निश्चल। जिसकी इन्द्रिया अनुद्धत या अचचल है, वह निभृतेन्द्रिय है। जो इन्द्रियो पर कठोर नियत्रण से सयम-सीमा से उन्हे बाहर नही जाने देता। **सजमधुवजोगजुत्ते**—**सयमध्रुवयोगयुक्त**—यहाँ ध्रुव का अर्थ है—अवश्यकरणीय या सदैव। योग का अर्थ है—मन-वचन-काय। अत. इस पक्ति का अर्थ हुआ—जो सयम मे सदैव (सर्वकाल) मन, वचन और काया से सयुक्त रहता है, अर्थात्—स्वीकृत सयम से मन-वचन-काया तीनो मे से एक को भी न हटाने वाला। **उवसंते**—**उपशान्त**—अनाकुल, अव्याक्षिप्त अथवा काया की चपलता से रहित। **अविहेडए : अविहेठक**—(१) विग्रह, विकथा आदि प्रसगो मे समर्थ होने पर भी जो ताडना-तर्जना (डाट-फटकार) आदि द्वारा दूसरे को तिरस्कृत नही करता, (२) उचित कार्य का अनादर न करने वाला अर्थात्—अवसर आने पर स्वयोग्य कार्य करने म आनाकानी न करने वाला, अथवा (३) क्रोध आदि का परिहार करने वाला।[१२]

सद्भिक्षु : आक्रोशादि परीषह-भय-कष्टसहिष्णु

५३१. जो सहइ उ गाम-कंटए,
अक्कोस-पहार-तज्जणाओ य।
भय-भेरवसद्द सपहासे,
समसुह-दुक्खसहे य जे, स भिक्खू ॥११॥

५३२. पडिमं पडिवज्जिया मसाणे,
नो भायए भय-भेरवाइं दिस्स।
विविहगुणतवोरए य निच्चं,
न सरीरं चाभिकखई जे, स भिक्खू ॥१२॥

५३३. असए वोसट्ठचत्तदेहे,
अकुट्ठे व हए व लूसिए वा।
पुढविसमे मुणी हवेज्जा,
अनियाणे अकोउहल्ले य जे, स भिक्खू ॥१३॥

५३४. अभिभूय काएण परीसहाइ,
समुद्धरे जाइपहाओ* अप्पयं।
विइत्तु जाइमरण महब्भयं,
तवे+रए सामणिए जे, स भिक्खू ॥१४॥

---

१२ (क) निभृतेन्द्रिय—अनुद्धतेन्द्रिय। ध्रुव सर्वकाल। उपशान्त अनाकुल कायचापलादिरहित। अविहेठक—न क्वचिदुचितेऽनादरवान् क्रोधादीना विश्लेषक इत्यन्ये। —हारि. वृ., पत्र २६६

(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मा), पृ. ९८२

(ग) सजमे सव्वकाल (ध्रुवं) तिविहेण जोगेण जुत्तो भवेज्जा। अविहेडए नाम जे पर अक्कोसतेप्पणादीहिं न विधेडयति एव स अविहेडए। —जि चूर्णि

पाठान्तर—* जाइपहाओ। + भवे।

[५३१] जो (साधु) इन्द्रियो को काटे के समान चुभने वाले आक्रोश-वचनो, प्रहारो, तर्जनाओ और (वेताल आदि के) अतीव भयोत्पादक अट्टहासो को सहन करता है तथा सुख-दु ख को समभावपूर्वक सहन कर लेता है, वही सुभिक्षु है ॥११॥

[५३२] जो (साधक) श्मशान मे प्रतिमा अगीकार करके (वहाँ के) अतिभयोत्पादक दृश्यो (या भूतपिशाचादि के रूपो) को देख कर भयभीत नही होता तथा जो विविध गुणो (मूल-उत्तर-गुणो) एव तप मे रत रहता है, जो शरीर की भी (ममत्वपूर्वक) आकाक्षा नही करता, वही (मुमुक्षु) भिक्षु होता है ॥१२॥

[५३३] जो मुनि बार-बार देह का व्युत्सर्ग और (ममत्व) त्याग करता है (अथवा शरीर को सस्कारित एव आभूषणादि से विभूषित नही करता), जो किसी के द्वारा आक्रोश किये जाने, (डडे आदि से) पीटे जाने अथवा (शस्त्रादि से) क्षत-विक्षत किये जाने पर भी पृथ्वी के समान (सर्वसह - सब कुछ सहने वाला) क्षमाशील रहता है, जो (किसी प्रकार का) निदान (नियाण) नही करता तथा (नृत्य, खेल-तमाशे आदि) कौतुक नही करता (या उनमे अभिरुचि नही रखता), वही सद्भिक्षु है ॥१३॥

[५३४] जो (साधु अपने) शरीर से परीषहो को जीत कर जातिपथ (जन्म-मरणरूप ससार-मार्ग) से अपना उद्धार कर लेता है, जो जन्ममरण (-रूप ससार) को महाभय जान कर श्रमणवृत्ति के योग्य तपश्चर्या मे रत रहता है, वही सद्भिक्षु है ॥१४॥

विवेचन—परीषहादि-विजेता साधुजीवन—प्रस्तुत चार गाथाओ (५३१ से ५३४ तक) मे आक्रोश आदि परीषह, भय, इन्द्रियविषय, देहासक्ति आदि पर विजय प्राप्त करने वाले आदर्श भिक्षु का जीवनचित्र प्रस्तुत किया गया है।

'गामकंटए' आदि पदो के विशेषार्थ—गामकंटए : दो अर्थ— (१) ग्राम- इन्द्रियो के समूह के लिए काटो के समान चुभने वाले, अथवा (२) ग्राम का अर्थ इन्द्रिय-विषयसमूह भी है, अत काटे के समान चुभने वाले इन्द्रिय-विषयसमूह को। जिस प्रकार शरीर मे लगे हुए काटे पीडित करते है, उसी प्रकार अनिष्ट शब्द आदि विषय श्रोत्रादि इन्द्रियो मे प्रविष्ट होने पर उन्हे (इन्द्रियो को) दु खदायी लगते है।

अक्कोस-पहार-तज्जणाओ—आक्रोश—गाली देना, झिडकना, आदि क्षुद्रवचन। प्रहार—चाबुक आदि से पीटना और तर्जना—त्यौरी चढाकर अगुलि या बेत आदि दिखा कर झिडकना अथवा ताने मारना। **भयभेरवसद्दसंपहासे**—भयभैरवशब्द का अर्थ है अत्यन्त भय उत्पन्न करने वाले शब्द। सप्रहास का अर्थ है—प्रहास या अट्टहास सहित। अथवा वैताल आदि के भय-भैरव (अ ारुण भयोत्पादक) अट्टहास आदि शब्द। **पडिमं पडिवज्जिया मसाणे**—प्रतिमा शब्द यहाँ मा । आदि भिक्षुप्रतिमा, विशिष्ट अभिग्रह (प्रतिज्ञा) अथवा कायोत्सर्ग अर्थ मे है। कायोत्सर्गमुद्रा मे स्थित होकर श्मशान मे ध्यान करने और विशिष्ट प्रतिमा ग्रहण करने की परम्परा जैन साधुओ मे रही है। **विविहगुण-तवोरए**—इस पक्ति का आशय है कि श्मशान मे रह कर न डरना ही कोई खास बात नही है, किन्तु साथ ही उसे विविध गुणो और तपस्याओ में सतत रत भी रहना चाहिए। ताकि घोरातिघोर उपसर्गों के होने पर भी शरीर पर किसी प्रकार का ममत्वभाव न रह सके। इसलिए

आगे कहा गया है—**'सरीरं नाभिकंखए।'** भिक्षुप्रतिमाओ का विशेष वर्णन दशाश्रुतस्कन्ध में है। **असइं वोसट्ठचत्तदेहे**—व्युत्सृष्ट-त्यक्तदेह उसे कहते हैं, जिसने शरीर का व्युत्सर्ग और त्याग किया हो व्युसर्ग और त्याग दोनो समानार्थक होते हुए भी आगमो मे ये शब्द विशेष अर्थ मे प्रयुक्त हैं। व्युत्सृष्टदेह का अर्थ है - अभिग्रह और प्रतिमा स्वीकार करके जिसने शारीरिक क्रिया का त्याग कर दिया है और त्यक्तदेह का अर्थ—शरीरिक परिकर्म (मर्दन, स्नान और विभूषा आदि) का जिसने परित्याग कर दिया है। व्युत्सृष्टदेह का अर्थ जिनदासचूर्णि मे शारीरिक अस्थिरता से निवृत्त होने के लिए स्थान (कायोत्सर्ग), मौन और ध्यानपूर्वक शरीर का व्युत्सर्ग करना किया गया है। हरिभद्रसूरि ने अर्थ किया है—किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के विना शरीर का विभूषादि परिकर्म जिसने छोड दिया है, वह। भिक्षु को बार-बार देह का व्युत्सर्ग करना चाहिए, इसका आशय है—उसे काया का स्थिरीकरण या कायोत्सर्ग और उपसर्ग सहने का अभिग्रह करते रहना चाहिए।[१३]

पुढविसमे हविज्जा—जिस प्रकार पृथ्वी आक्रोश, हनन और तक्षण करने पर भी सब सह लेती है, तथैव मुनि को भी आक्रोश, हनन आदि को क्षमाभाव से सहना चाहिए। **अनियाणे :**

१३ (क) ग्रामो विषयशब्दाऽत्रभूतेन्द्रियगुणाद् व्रजे। —अभिधानचिन्तामणि ३।९५

(ख) गामगहणेण इदियगहण कय। जहा कटगा सरीरानुगता सरीर पीडयति तहा अणिट्ठा विसयकटगा सोताइदियगामे अणुप्पविट्ठा तमेव इदिय पीडयति। तज्जणाए जहा एते समणा किवणा कम्मभीता पव्वतिया, एवमादि। —जिन चूर्णि, पृ ३८३

(ग) ग्रामकण्टकान्-गामा-इन्द्रियाणि, तद्दु खहेतव कण्टकास्तान् स्वरूपत एवाह—आक्रोशान् प्रहारान् (कशादिभि) तर्जनाश्च। भैरवभया-अत्यन्तरौद्रभयजनका शब्दा सप्रहासा यस्मिन स्थान इति गम्यते, तत्तथा तस्मिन् वैतालादिकृताऽऽर्त्तनादाट्टहास इत्यर्थ। पतिमा-मासादिरूपा।

—हारि वृत्ति, पत्र २६७

(घ) भय पसिद्ध, भय च भेरव, न सव्वमेव भय भेरव, किन्तु तत्थवि ज अतीव दारुण भय त भेरव भण्णइ। वेतालगणादयो भयभेरवकायेण महता सद्देण जत्थ ठाणे पहसति सप्पहासे, त ठाण भयभेरवसप्पहास भण्णइ।

(ङ) 'पच्चवायो—भय रोद्द भैरव वैतालकालिवादीण सद्दो। भयभेरवसद्देहिं समेच्च पहसण भयभेरवसद्द-सपहासो। तमि समुवत्थिते।'

(य) जधा सक्कभिक्खूण एस उवदेसो मासाणिगेण भवितव्व, ण य ते तम्मि बिभेति, तम्मत-णिसेधणत्थ विसेसिज्जति। —अगस्त्यचूर्णि

* दशाश्रुत स्कन्ध ७ दशा

(छ) वोसट्ठो चत्तो य देहो जेण, सो वोसट्ठ-चत्तदेहो। वोसट्ठो पडिमादिसु विनिवृत्तक्रियो, ण्हाणु-मद्दणातिविभूषाविरहितो चत्तो। —अगस्त्यचूर्णि

(ज) ण य सरीर तेहि उवसग्गेहिं वाहिज्जमाणोऽवि अभिकखइ, जहा—जइ मम एत सरीर न दुक्खा-विज्जेज्जा, ण वा विणिस्सिजेज्जा। वोसट्ठ ति वा वोसिरिय ति वा एगट्ठा।

—जिन चूर्णि., पृ ३४४

(झ) ठाणेणं मोणेण झाणेण अप्पाण वोसिरामि। —आवश्यक ४

(ञ) 'व्युत्सृष्टो भावप्रतिबन्धाभावेन त्यक्तो विभूषाकरणेन देह।' —हारि वृत्ति, पत्र २६७

अनिदान—निदान से रहित। जो साधक मनुष्यभव-प्राप्ति, ऋद्धि आदि के निमित्त तप-सयम नही करता अथवा जो भावी फलाशसा से रहित होता है, वह अनिदान कहलाता है। **परीसहाइं: परीषह**—कर्मनिर्जरा (आत्मशुद्धि) एव श्रमणनिर्ग्रन्थमार्ग से च्युत न होने के लिए जो अनुकूल और प्रतिकूल स्थितिया और मनोभाव सहे जाते हैं, उन्हे परीषह कहते है। वे क्षुधा आदि २२ हैं। **जाइपहाओ**—दो रूप दो अर्थ—(१) जातिपथ—ससार। जाति-वध—जाति का अर्थ है—जन्म और वध का अर्थ है—मरण। **तवे रए सामणिए : भवे रए सामणिए : दो अर्थ**—(१) जो श्रमणसम्बन्धी तप मे रत रहता है और (२) जो श्रामण्य (श्रमणभाव या श्रमणधर्म) मे रत रहता है।[१४]

सद्भिक्षु : संयम, अमूर्च्छा, अगृद्धि आदि गुणों से समृद्ध

५३५. हत्थसंजए पायसंजए,
वायसंजए संजइंदिए।
अज्झप्परए सुसमाहियप्पा,
सुत्तत्थं च वियाणई जे, स भिक्खू ॥१५॥*

५३६. उवहिम्मि अमुच्छिए अगढिए,+
अण्णाय-उंछ पुलनिप्पुलाए।
कय-विक्कय-सन्निहिओ विरए,
सव्वसगावगए य जे, स भिक्खू ॥१६॥

---

१४ (क) जहा पुढवी अक्कस्समाणी हम्ममाणी भक्खिज्जमाणी च न य किंचि पओस वहइ, तहा भिक्खुणावि सव्वफासविसहेण होयव्व।
(ख) माणुस-रिद्धिनिमित्त तव-सजम न कुव्वइ, से अणियाणे। —जिन चूर्णि, पृ ३४५
(ग) अनिदानो—भाविफलाशसारहित। —हारि वृत्ति, पत्र २६७
(घ) मार्गाऽच्यवन-निर्जरार्थं परिषोढव्या परीषहा। —तत्त्वार्थ ९।८
(ङ) जातिग्गहणेण जम्मणस्स वधग्गहणेण मरणस्स गहण कयं। —अ चू
(च) जातिपथात् —ससारमार्गात। तपसि रत तपसि रक्त। किम्भूत इत्याह-श्रामण्ये-श्रामणाना सम्बन्धिनि-शुद्धे इति भाव। —हारि वृत्ति, पत्र २६७
(छ) 'भवे रते सामणिए'—'समणभावो सामणिय, तम्मि रतो भवे।' —अगस्त्यचूर्णि

* तुलना कीजिए— चक्खुना सवरो साधु, साधु सोतेन सवरो।
घाणेन सवरो साधु, साधु जिह्वा य सवरो॥
कायेन सवरो साधु, साधु वाचा य सवरो।
मनसा सवरो साधु, साधु सव्वत्थ सवरो॥
सव्वत्थ सवुतो भिक्खू, सव्वदुक्खा पमुच्चति।
—धम्मपद २५।१-२

पाठान्तर— +अगिद्धे।

५३७. अलोलो* भिक्खू न रसेसु गिद्धे,
उछं चरे जीविय नाभिकंखे।
इड्ढि च सक्कारण पूयण च
चए, ठियप्पा अणिहे जे, स भिक्खू ।१७।।

५३८. न परं वएज्जासि 'अयं कुसीले',
जेणऽन्नो कुप्पेज्ज न तं वएज्जा।
जाणिय पत्तेयं* पुण्ण-पावं,
अत्ताणं न समुक्कसे जे, स भिक्खू ।।१८।।

५३९. न जाइमत्ते, न य रूवमत्ते,
न लाभमत्ते न सुएण मत्ते।
मयाणि सव्वाणि विवज्जइत्ता,
धम्मज्झाणरए य जे, स भिक्खू ।।१९।।

५४०. पवेयए अज्जपयं महामुणी,
धम्मे ठिओ, ठावयई परं पि।
निक्खम्म वज्जेज्ज कुसीललिंगं,
न यावि□हस्सकुहए जे, स भिक्खू ।।२०।।

५४१. न देहवासं असुइं असासयं,
सया चए निच्चहिय-ठियप्पा।
छिंदित्तु जाई-मरणस्स बंधणं
उवेइ भिक्खू अपुणरागमं+ गइं ।।२१।।
--त्ति बेमि ।।

।। दसमं स भिक्खू अज्झयणं समत्तं ।।१०।।

[५३५] जो (साधु) हाथो से सयत है, पैरो से सयत है, वाणी से सयत है, इन्द्रियो से सयत है, अध्यात्म में रत है, जिसकी आत्मा सम्यक् रूप से समाधिस्थ है और जो सूत्र तथा अर्थ को विशेष रूप से जानता है, वह भिक्षु है ।।१५।।

[५३६] जो (साधु वस्त्रादि) उपधि (उपकरण) मे मूर्च्छित (आसक्त) नही है, जो अगृद्ध है, जो अज्ञात कुलो मे भिक्षा की एषणा करता है, जो सयम को निस्सार कर देने वाले दोषो से

पाठान्तर—* अलोल। * पत्तेय। □ हास कुहए, हासककुहए। +अपुणागम।

रहित है, जो क्रय-विक्रय और सन्निधि (सग्रहवृत्ति) से रहित है तथा सब प्रकार के सगो से मुक्त है, वही भिक्षु है ।।१६।।

[५३७] जो भिक्षु लोलुपता-रहित है, रसो मे गृद्ध नही है, (आहारार्थ) अज्ञात कुलो मे (थोडी-थोडी) भिक्षाचरी करता है, जो असयमी जीवन की आकाक्षा नही करता, जो ऋद्धि (लब्धि आदि), सत्कार और पूजा (की स्पृहा) का त्याग कर देता है, जो (ज्ञानादि मे) स्थितात्मा है और (आसक्ति या) छल से रहित है, वही भिक्षु है ।।१७।।

[५३८] 'प्रत्येक व्यक्ति के पुण्य-पाप पृथक्-पृथक् होते है,' ऐसा जानकर, जो दूसरो को (यह) नही कहता कि 'यह कुशील (दुराचारी) है ।' तथा जिससे दूसरा कुपित हो, ऐसी बात भी नही कहता और जो अपनी आत्मा को सर्वोत्कृष्ट मानकर अहकार नही करता, वह भिक्षु है ।।१८।।

[५३९] जो जाति का मद नही करता, न रूप का मद करता है, न लाभ का मद करता है और न श्रुत का मद करता है, जो सब मदो को त्यागकर (केवल) धर्मध्यान मे रत रहता है, वही भिक्षु है ।।१९।।

[५४०] जो महामुनि (दूसरो के कल्याण के लिए) आर्य-(शुद्ध धर्म-) पद का उपदेश करता है, जो स्वय धर्म मे स्थित (स्थिर) होकर दूसरे को भी धर्म मे स्थापित (स्थिर) करता है, जो प्रव्रजित होकर कुशील-लिग को छोड देता है तथा हास्य उत्पन्न करने वाली कुतुहलपूर्ण चेष्टाएँ नही करता, वह भिक्षु है ।।२०।।

[५४१] अपनी आत्मा को सदा शाश्वत हित मे सुस्थित रखने वाला पूर्वोक्त भिक्षु इस अशुचि (अपवित्र) और अशाश्वत देहवास को सदा के लिए छोड देता है तथा जन्म-मरण के बन्धन को छेदन कर अपुनरागमन नामक गति (सिद्धगति) को प्राप्त कर लेता है ।।२१।।

—ऐसा मै कहता हूँ ।

विवेचन—सयम मे निरत : सद्भिक्षु—प्रस्तुत ७ सूत्र गाथाओ (५३५ से ५४१) मे साधु सयम मे किस प्रकार तल्लीन रहता है और सयम के फलस्वरूप वह अपने जन्म-मरण के बन्धनो से सदा के लिए मुक्त होकर किस प्रकार अपुनरागमन स्थिति को प्राप्त करता है, यह बताया गया है ।

हत्थसजए० आदि शब्दो की व्याख्या—जो हाथ-पैरो को कछुए की तरह सगोपन करके रखता है, प्रयोजन होने पर प्रतिलेखन, प्रमार्जन करके सम्यक् प्रवृत्ति करता है, वह **हस्तसंयत** एव **पादसंयत** कहलाता है । **वायसंजए—वाणी से सयत**—जो अकुशल वचन का निरोध और कुशल वचन की उदीरणा करता है, वह **वाक्संयत** है । **संजइंदिए**—जो श्रोत्र आदि इन्द्रियो को विषयो मे प्रवृत्त होने से रोकता है, प्रयोजनवश सयमकार्य मे प्रवृत्त होने देता है तथा अनायास विषय प्राप्त होने पर उनके प्रति राग-द्वेष नही करता, उसे **इन्द्रियसंयत** कहते हैं । **अज्झप्परए—अध्यात्मरत**—देहाध्यास या देहासक्ति से ऊपर जो आत्महित या आत्मगुणो या आत्मभावो के चिन्तन में रत रहता है, अथवा जो **आर्त्त-रौद्र**

ध्यान छोड कर धर्म-शुक्ल ध्यान मे लीन रहता है, वह अध्यात्मरत कहलाता है।[१५]

भिक्षु का सर्वाङ्गीण संयमाचरण—साधु-साध्वियों के पास मन, वचन और काया रूप तीन साधनो के अतिरिक्त वस्त्र, पात्र, आहार, शय्या-आसन आदि सयमाचार्या के लिए गृहस्थो से प्राप्त साधन होते हैं। शरीर के साथ ही जाति, कुल, बल, रूप, तप, लाभ, श्रुत, वैभव (पद, प्रतिष्ठा, ऋद्धि, सिद्धि, लब्धि आदि) भी सम्बद्ध होने से प्रकारान्तर से ये भी साधन ही हैं। सच्चा भिक्षुवर्ग इनके प्रति किस-किस प्रकार से सयम रखता है?, यह ५३६वी गाथा से लेकर ५४१वी गाथा तक मे ध्वनित किया गया है। जैसे—मुनि मर्यादित वस्त्र रखता है, किन्तु उन पर ममता-मूर्च्छा और गृद्धि हो तो असयम हो सकता है, अत मुनि उन वस्त्र, पात्र आदि उपकरणो पर भी अमूर्च्छा और अगृद्धि रखता है, यही उसका उपधिसयम है। भिक्षा से प्राप्त निर्दोष आहार मे भी मनोज्ञ आहार पर आसक्ति, लोलुपता, सरस आहार की लालसा नही रखता, न ही उनका सचय करके रखता है, न क्रय-विक्रय करता है तथा उसे सत्कार-सम्मान, पूजा, प्रतिष्ठा, लब्धि आदि पाने की लालसा या प्राप्त विभूतियो के प्रति भी कोई आसक्ति नही होती और न जाति, रूप, श्रुत आदि साधनो का मद करके वह असयम की वृद्धि करता है। अपनी वाणी रूप साधन का उपयोग वह दूसरो की निन्दा, चुगली, अथवा किसी की भर्त्सना करने मे नही करता, वह वाणी का निरोध करेगा, अथवा प्रयोजन होने पर वाणी से दूसरो को शुद्ध धर्म का उपदेश देता है, अथवा धर्म से डिगते हुए साधको को धर्म मे स्थिर करता है, किन्तु किसी प्रकार की हँसी-मजाक करने या हास्यकौतुक बताने मे वाणी का उपयोग नही करता। शरीररूप महत्त्वपूर्ण साधन से जब तक धर्म-पालन, सयम-पालन होता है तब तक साधक उसका यतनापूर्वक सन्मार्ग मे उपयोग करता है। किन्तु जब शरीर अत्यन्त अशक्त, रुग्ण एव लाचार होकर धर्मपालन या सयमी जीवनयात्रा के लिए अयोग्य या अक्षम हो जाता है, तब उस पर ममत्व न रखकर शान्तिपूर्वक सलेखना एव समाधिमरणपूर्वक उसे त्याग देने मे तनिक भी नही हिचकिचाता। यही आदर्श भिक्षु का सर्वाङ्गीण—सर्वक्षेत्रीय सयमाचार है।[१६] ज्ञान का फल सयम और त्याग है। इस कारण ज्ञानी का प्रथम चिह्न है— सयम। सयमी स्वार्थ प्रवृत्ति से ऊपर उठकर आत्मभाव मे ही लीन रहता है।

उवहिम्मि अमुच्छिए अगढिए : आशय—मूर्च्छा और गृद्धि एकार्थक होते हुए भी कुछ अन्तर बताते हुए जिनदास महत्तर कहते है—यहाँ मूर्च्छा मोहग्रस्तता के अर्थ मे और गृद्धि प्रतिबद्धता के अर्थ मे समझना चाहिए। उपधि आदि साधनो मे मूर्च्छित रहने वाला साधक करणीय-अकरणीय का

१५ (क) 'हत्थ-पाएहि कुम्मो इव णिक्कारणे जे गुत्तो अच्छइ, कारणे पडिलेहिय पमज्जिय वावार कुव्वइ, एव कुव्वमाणो हत्थसजमो पायसजमो भवइ। वायाए वि सजमो, कह? अकुसलवइनिरोध कुव्वइ, कुसलवइ-उदीरण च कज्जे कुव्वइ। सजइदिय नाम इदियविसयपयारनिरोध कुव्वइ, विसयपत्तेसु इदियत्थेसु रागद्दोसविणिग्गह च कुव्वति त्ति। अज्झप्परए नाम सोभणज्झाणरए।'

—जिन चूर्णि, पृ ३४५

(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. ९८०

१६. (क) वही, पृ ९८१ से ९९२ तक

(ख) दशवै (सतबालजी), पृ. १४४

विवेक नही कर पाता और गृद्ध रहने वाला उनसे प्रतिबद्ध हो जाता है अतः आदर्श भिक्षु उपधि में अमूर्च्छित और अगृद्ध रहता है। साथ ही वह किसी क्षेत्र या किसी गृहस्थ से प्रतिबद्ध नही होता।[१७]

अन्नाय-उंछं पुल निप्पुलाए : विशेषार्थ—**अज्ञात उंछ** का आशय है—जो अज्ञात कुलो से भिक्षा करता है तथा पुल निप्पुलाए—पुलाक-निष्पुलाक का भावार्थ है—सयम को सारहीन कर देने वाले दोषो से रहित। अथवा मूलगुण-उत्तरगुण मे दोष लगाकर सयम को निस्सार न करने वाला।[१८]

सव्वसंगावगए : सर्वसंगापगत—सग का अर्थ यहाँ 'इन्द्रियविषय' किया गया है। अत सर्वसग अर्थात् समस्त इन्द्रियविषयो से रहित।

अलोल—जो अप्राप्त रसो की लालसा नही करता, वह 'अलोल' है। सरस पदार्थों का त्याग करने के बाद भी अन्तर की गहराई मे उन पदार्थों की वासना रह जाती है, जिनका त्याग करना ही वास्तविक त्याग है।

इड्ढि—ऋद्धि—ऋद्धि का अर्थ यहाँ योगजन्य विभूति अर्थात्--वैक्रियलब्धि आदि है। **ठियप्पा : स्थितात्मा**—जिसकी आत्मा ज्ञान, दर्शन और चारित्र मे स्थित होती है।[१९]

'न परं वएज्जासि०' इत्यादि गाथा की व्याख्या—'पर' का अर्थ यहाँ गृहस्थ या वेषधारी साधु है। क्योकि प्रव्रजित का पर—अप्रव्रजित होता है। जो गृहस्थ या वेषधारी है। दूसरे को 'यह दुराचारी है' ऐसा कहने से उसे चोट लगती है, अप्रीति उत्पन्न होती है, इसलिए गृहस्थ हो या वेषधारी अव्यवस्थित आचार वाला साधु हो तो भी 'यह कुशील है' इस प्रकार का व्यक्तिगत आरोप करना, अहिंसक मुनि के लिए उचित नही है। क्योकि सबके अपने-अपने पाप-पुण्य है। सब अपने-अपने कर्मों का फल भोग रहे है,—जो अग्नि को हाथ मे ग्रहण करता है, वही जलता है। यह जान कर आदर्श भिक्षु न तो दूसरे की अवहेलना करता है और न अपनी बडाई करता है। वस्तुत परनिन्दा और

---

१७. मुच्छासद्दो गिद्धिसद्दो य दोऽवि एगट्ठा । अहवा मुच्छिय-गढियाण इमो विसेसो भण्णइ। तत्थ मुच्छासद्दो मोहे गढियसद्दो पडिबधे दट्ठव्वो। जहा—कोइ मुच्छिओ तेण मोहकारणेण कज्जाकज्ज न याणइ, तहा सोऽवि भिक्खू उवहिमि अज्झोववण्णो मुच्छिओ किर कज्जाकज्ज न याणइ। तम्हा ण मुच्छिओ अमुच्छिओ, अगिद्धिओ अबद्धो (अपडिबद्धो) भण्णइ। —जिन. चूर्णि, पृ ३४६

१८ (क) जेण मूलगुण-उत्तरगुणपदेण पडिसेविएण णिस्सारो सजमो भवति, सो भावपुलाओ। एत्थ भावपुलाएण अहिगारो। तेण भावपुलाएण निपुलाए भवेज्जा, णो त कुवेज्जा, जेण पुलागो भवेज्ज त्ति।
—जिन. चूर्णि, पृ ३४६

(ख) 'त पुलएति—तमेसति एस अण्णायउछपुलाए। मूलगुण-उत्तरगुणपडिसेवणाए निस्सार सजम करेति एस भावपुलाए तधा णिपुलाए।' —अगस्त्यचूर्णि

(ग) 'पुलाक-निष्पुलाक' इति सयमासारतापाददोषरहित। --हारि. वृत्ति, पत्र २६८

१९. (क) 'सगोत्ति वा इदियपत्थोत्ति वा णगट्ठा।'

(ख) 'इड्ढि-विउव्वणमादि।'

(ग) नाणदसणचरित्तेसु ठिओ अप्पा जस्स सो ठियप्पा।' --जिन चूर्णि, पृ ३४६

(घ) अलोलो नाम नाप्राप्तप्रार्थनपर। —हारि वृत्ति पत्र २६८

आत्मश्लाघा, ये दोनो ही महादोष हैं। साधु-साध्वी को इन दोनो मे बच कर मध्यस्थ रहना चाहिए।[२०]

साधु को अपनी जाति, रूप, बल, श्रुत आदि का गर्व करना और दूसरो का उपहास करना अनुचित है।

अज्जपयं : अज्जवय—दो रूप—दो अर्थ—(१) आर्यपद—श्रेष्ठ या शुद्ध धर्म-पद (उपदेश) (२) आर्जवता—ऋजुभाव,—अहिंसादिलक्षण धर्म।

वज्जिज्ज कुसीललिंगं : कुशीललिंग का वर्जन करे—(१) आचारहीन स्वतीर्थिक अथवा परतीर्थिक साधुओ का वेष धारण न करे, (२) जिस आचरण से कुशील होने का अनुमान (लिंग) हो, उसका वर्जन करे। (३) कुशीलो द्वारा चेष्टित आरम्भादि का त्याग करे।[२१]

न या वि हस्सकुहए : प्रासंगिक अर्थ—'कुहक' शब्द के अर्थ होते है—विस्मय उत्पन्न करने वाला, वञ्चक, ऐन्द्रजालिक आदि। यहाँ विस्मित करने के अर्थ मे 'कुहुक' शब्द प्रयुक्त है। 'हास्य' के साथ 'कुहुक' शब्द होने से इस वाक्य का अर्थ होगा—हास्यपूर्ण कुतुहल न करने वाला या दूसरो को हसाने के लिए कुतुहलपूर्ण चेष्टा न करने वाला।[२२]

अशुचि और अशाश्वत देहवास—इस अध्ययन की अन्तिम गाथा मे देहवास को अशुचि अर्थात्—अशुचि से पूर्ण या अशुचि से उत्पन्न और अशाश्वत अर्थात्—अनित्य, विनाशशील या क्षणभगुर बताया है। शरीर की अशुचिता के सम्बन्ध मे सुत्तनिपात मे बताया गया है—हड्डी और नस से युक्त, त्वचा और मास का लेप चढे हुए तथा चर्म से ढके होने से यह शरीर जैसा है, वैसा दिखाई नही देता। इस शरीर के भीतर आते, उदर, यकृत, वस्ति, हृदय, फुफ्फुस (फेफड़ा), तिल्ली (वृक), नासामल, लार, पसीना, मेद, रक्त, लसिका, पित्त और वर्बी है। इस शरीर के नौ द्वारो से

---

२० (क) आह-कि कारण परो न वत्तव्वो ? जहा—जो चेव अगणि गिण्हइ, सो चेव डज्झइ। एव नाऊण पत्तेय पत्तेय पुण्णपाव, अत्ताण ण समुक्कसइ, जहाऽह सोभणो, एस असोभणो इत्यादि। जइ वि सो अप्पणो कम्मेसु अव्ववत्थिओ तहावि न वत्तव्वो, जहाऽय कुत्थियसीलो त्ति, किं कारण ? तत्थ अपत्तियमादि बहवे दोसा भवति। —जिन चू, पृ. ३४७

(ख) परो णाम गिहत्थो लिंगी वा। —जिन चू, पृ. ३४७

(ग) दसवेयालियं (मुनि नथमलजी), पृ. ४९८

२१ (क) आर्यपदम्—शुद्धधर्मपदम्। —हारि. वृत्ति, पत्र २६९

(ख) अज्जवग्गहणेण अहिंसाइलक्खणस्स एयारिसस्स धम्मस्स गहण कय, त आयरिय धम्मपद गिहीण साधूण य पवेदेज्जा। —जिन चूर्णि, पृ ३४८

(ग) कुसीलाण पडुरगाईण लिग ' 'अहवा जेण आयरिएण कुसीलो सभाविज्जति त (कुसीललिंग न रक्खए।) —जिन चूर्णि, पृ ३४८

(घ) कुसीललिंग—आरम्भादि कुसीलचेष्टितम्। —हारि. वृत्ति, पृ २६९

२२. हस्समेव कुहग, त जस्स अत्थि सो हस्सकुहतो। तधा न भवे। हस्स-निमित्त वा कुहग तधा करेति, जधा परस्स हस्समुप्पज्जति। एव ण यावि हस्सकुहए। —अगस्त्यचूर्णि

सदैव गन्दगी निकलती रहती है। यथा—आँख से आँख की और कान से कान की गन्दगी निकलती है। नाक से नासामल, मुख से पित्त और कफ तथा शरीर से पसीना और मैल निकलते है। इसके सिर की खोपडी गुदा से भरी है। अविद्या के कारण मूर्ख इसे शुभ मानता है। मृत्यु के बाद जब यह शरीर सूज कर नीला हो श्मशान मे पडा रहता है तो बन्धु-बाधव भी इसे छोड देते हैं। इसकी अशाश्वतता के सम्बन्ध मे ज्ञाताधर्मकथा-सूत्र मे कहा गया है—यह देह जल के फेन या बुलबुले की तरह अध्रुव है, बिजली की चमक की तरह अशाश्वत है, दर्भ की नोक पर स्थित जलबिन्दु की तरह अनित्य है।

देह जीवरूपी पक्षी का अस्थिरवास है। अन्तत इसे छोडे बिना कोई चारा नही। इसीलिए आदर्श भिक्षु देहवास को अशाश्वत और अशुचिपूर्ण मानकर छोड देता है।[२३]

॥ दशमं स-भिक्षु अज्झयण समत्तं ॥ १० ॥

॥ इति श्री दशवैकालिकसूत्रं समाप्तम् ॥

---

२३ (क) दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म) पृ. ९९३
(ख) सुत्तनिपात अ ११
(ग) ज्ञाताधर्मकथा-सूत्र, पृ ५९ (आगमप्रकाशनसमिति, ब्यावर)

पढमा चूलिया : रइवक्का

प्रथम चूलिका : रतिवाक्या

[एक्कारसमं अज्झयणं : ग्यारहवाँ अध्ययन]

प्राथमिक

- दशवैकालिकसूत्र की प्रथम चूलिका का नाम 'रतिवाक्या' है। कुछ आचार्य इसे रतिवाक्य नामक ग्यारहवाँ अध्ययन भी कहते हैं।
- साधुजीवन गृहस्थजीवन की अपेक्षा त्याग, तप और सयम की दृष्टि से अनेकगुना उच्च और सात्त्विक है। महाव्रती साधकवर्ग की इतनी उच्च भूमिका होते हुए भी जब तक वह वीतरागता की स्थिति पर न पहुँच जाए, तब तक राग, द्वेष, मोह एव विषय व कषाय की परिणतियाँ उसे बार-बार अपने व्रत, नियम, सयम एव त्याग से विचलित कर देती हैं। कभी-कभी तो परीषहो और उपसर्गों का दौर आता है तो मोहनीयकर्मोदयवश उच्चकोटि का वह साधक जरा-से कष्ट, दु ख या ताप को सहन नही कर पाता। जिन विषयभोगो का उसने वर्षों पहले त्याग किया था, साधुधर्म के जिन नियमो, आचार-विचारो और महाव्रतो को वैराग्यपूर्वक सहर्ष अपनाया था, जो अपने उच्च चारित्र के कारण लाखो-करोडो व्यक्तियो का पूज्य, वन्दनीय, मार्गदर्शक और प्रेरक बन गया था, वही मोहदशा के कारण जरा-सा दु ख, कष्ट या परीषह का निमित्त मिलते ही सयम से विचलित हो जाता है। उसका शिथिल और चचल मन पामर बन कर उसे दुष्ट वृत्तियो की ओर ले जाता है। सयम के प्रति उसकी अरुचि, अप्रीति और अरति हो जाती है। ऐसे समय मे उस साधक के भटकते मन पर अकुश लगाकर सयम के प्रति रुचि, प्रीति और रति उत्पन्न करने वाले कुशल मार्गदर्शक एव प्रेरक की आवश्यकता होती है। इसी आवश्यकता की पूर्ति करने वाली यह 'रतिवाक्या' चूला है। इसके वाक्य श्रमणधर्म मे रति उत्पन्न करने वाले है। इसलिए इस का नाम 'रतिवाक्या' रखा गया है।×
- साधक जब मोहदशावश विषयसुखरूप असयम की ओर मुडने लगता है तब रतिवाक्या अध्ययन मे वर्णित अठारह स्थान (सूत्र) घोडे के लिए लगाम, हाथी के लिए अकुश और नौका के लिए पताका (पाल) के समान उसके मन पर अकुश लगाने और सयम में स्थिर करने वाले सिद्ध होते है।
- यद्यपि एक बार के प्रयत्न से या प्रेरणा से अनादिकालीन मोह-रोग नही मिट जाता। इसे मिटाने के लिए कुशल चिकित्सक का होना अनिवार्य है, जो बार-बार प्रेरणा देकर मोह-रोग

× धर्मे-चारित्ररूपे रतिकारकाणि—रतिजनकानि तानि च वाक्यानि, येन कारणेन 'अस्या चूडाया तेन निमित्तेन रतिवाक्यैषा चूडा।' —हारि वृत्ति, पृ २७०

को शान्त कर दे। अन्यथा, बीच-बीच मे जरा-सा निमित्त या कुपथ्य का सयोग मिलते ही मोह-रोग (सयम मे अरतिरूप व्याधि) फिर से उभर जाता है और साधक को फिर पूर्वस्थिति में जाने को विवश कर देता है। अत ये अठारह रतिवाक्यसूत्र मोह-रोगशमन करने के लिए अमोघ औषधरूप है।

☐ वैदिकधर्मपरम्परा मे सामाजिक जीवन-व्यवस्था के लिए विहित ४ आश्रमो मे गृहस्थाश्रम को सर्वज्येष्ठ बताया है,+ किन्तु जैनधर्मपरम्परा मे सन्यासाश्रम को आध्यात्मिक दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ बताया है। त्याग और सयम द्वारा कर्मबन्धन एव जन्म-मरण की परम्परा से मुक्त होने के लिए सर्वोत्तम मुनिपर्याय है। गृहस्थाश्रम (गृहवास) सामाजिक दृष्टि से धर्मप्रधान हो तो भले ही महत्त्वपूर्ण हो किन्तु आध्यात्मिक दृष्टि से वह प्राय बन्धनकारक है। इसका अर्थ यह है कि कर्मबन्धन को पूर्णतया काटने मे तथा आत्मा की पूर्ण स्वस्थता-स्वतन्त्रता-मोहशून्यदशा (वीतरागता) को प्राप्त कराने मे मुनिपर्याय ही सक्षम है।☐

☐ गृहस्थजीवन मे साधुजीवन जितना धर्म और सयम का पालन दुष्कर है। यह बात अनुभवसिद्ध है कि प्रारम्भ से जीवन-पर्यन्त स्वाभाविकरूप से गृहस्थाश्रम मे रहने वाला व्यक्ति फिर भी गृहस्थोचितधर्म का पालन कर सकता है किन्तु जो मुनि-पर्याय छोड कर पुन गृहस्थजीवन मे प्रविष्ट होता है, शुद्ध धर्म के प्रति विश्वास और आचरण मे उसकी मन्दता आ जाती है। इसीलिए यहाँ बताए गए १८ स्थानो मे पुनर्गृहवास स्वीकार करने को नारकीय, कष्टप्रद, अपमानास्पद, क्लेशयुक्त, प्रपची, बन्धनकारक, सावद्य, मायाबहुल, आतकयुक्त आदि बताया है तथा आगे की गाथाओ मे गृहवास मे होने वाले परितापो की परम्परा का विशद वर्णन किया गया है। सचमुच उत्प्रव्रजित का जीवन निस्तेज, निन्द्य, अपमानित, अपकीर्तियुक्त, दु खपूर्ण गति का अधिकारी एव दुर्लभबोधि हो जाता है, जबकि प्रव्रजित साधक का जीवन देवलोकसम सुखद, स्वर्गसम उत्कृष्ट सुखयुक्त, तेजस्वी, यशस्वी, पूज्य, वन्द्य एव मोक्षगामी होता है।

☐ प्रस्तुत चूलिका मे कर्मवाद के सिद्धान्त के आधार पर स्पष्ट प्रेरणा दी गई है कि कर्मबन्धन को काटने के लिए मुनिपर्याय एक उत्तम अवसर था, उसे खो कर गृहवास मे स्वयकृत कर्मों को स्वय भोगना होगा, उसमे समभाव न रहने से पूर्वकृत कर्मों को काटने की अपेक्षा नये अशुभ कर्मों का बन्ध अधिक होता जाएगा। उन पापकर्मों को भोगे बिना तथा तपस्या से निर्वीर्य किये बिना मुक्ति नही मिल सकती।+

☐ अन्त मे १५-१६वी गाथा में कुछ चिन्तनसूत्र दिये गए है--नरक के अतिदीर्घकालीन दु खो की अपेक्षा सयमीजीवन मे सहे जाने वाले दु ख अत्यल्प और अल्पावधिक हैं। भोग-पिपासा अशाश्वत है। ये चिन्तनसूत्र साधक को सयमीजीवन के कष्टो को सहने, भोग-पिपासा से विरक्त होने तथा सयम मे स्थिर रहने की प्रेरणा देते है।

+ 'तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही।'

☐ 'बधे गिहवासे, मोक्खे परियाए। सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परियाए।' —चू. १, स्थान. १२-१३

× चूलिका १ स्थान २, ३, ५, ६, ७, १० से १४ तक तथा श्लोक १ से ८ तक तथा १० से १४ तक।

+ 'पत्तेय पुण्णपाव। वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता।' —चू. १, स्थान १५, १८

पढमा चूलिया : रइवक्का

प्रथम चूलिका : रतिवाक्या

[एक्कारसमं अज्झयणं : ग्यारहवाँ अध्ययन]

संयम में शिथिल साधक के लिए अठारह आलोचनीय स्थान

५४२. इह खलु भो ! पव्वइएण उप्पन्नदुक्खेणं संजमे अरइसमावन्नचित्तेणं ओहाणुप्पेहिणा अणोहाइएण चेव हयरस्सि-गयंकुस-पोयपडागाभूयाइ इमाइ अट्ठारस ठाणाइं सम्मं संपडिलेहियव्वाइं भवंति । तं जहा--

१ हं भो ! दुस्समाए दुप्पजीवी । २. लहुस्सगा इत्तिरिया गिहीणं कामभोगा । ३. भुज्जो य साइबहुला मणुस्सा । ४. *इम च मे दुक्खं न चिरकालोवट्ठाइ भविस्सइ । ५. ओमजणपुरक्कारे । ६. वंतस्स य पडियाइयण + । ७. अहरगइवासोवसंपया । ८. दुल्लभे खलु भो ! गिहीणं धम्मे गिहिवासमज्झे वसताणं । ९. आयंके से वहाय होइ । १०. संकप्पे से वहाय होइ । ११. सोवक्केसे गिहवासे, निरुवक्केसे परियाए । १२. बंधे गिहवासे, मोक्खे परियाए । १३. सावज्जे गिहवासे, अणवज्जे परियाए । १४. बहुसाहारणा गिहीण कामभोगा । १५. पत्तेय पुण्ण-पाव । १६ अणिच्चे खलु भो ! मणुयाण जीविए कुसग्गजलबिंदुचंचले । १७. बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं । १८. पावाण च खलु भो ! कडाण कम्माण पुव्वि दुच्चिण्णाण दुप्पडिक्कंताणं वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, □ तवसा वा झोसइत्ता, अट्ठारसम पयं भवइ ।। १ ।।

[५४२] हे मुमुक्षु साधको ! इस निर्ग्रन्थ-प्रवचन (जिनशासन) मे जो प्रव्रजित हुआ है, किन्तु कदाचित् दु ख उत्पन्न हो जाने मे सयम मे उसका चित्त अरतियुक्त हो गया । अत वह सयम का परित्याग कर (गृहस्थाश्रम मे चला) जाना चाहता है, किन्तु (अभी तक) सयम त्यागा नही है, उससे पूर्व इन (निम्नोक्त) अठारह स्थानो का सम्यक् प्रकार से आलोचन करना चाहिए । ये अठारह स्थान अश्व के लिए लगाम, हाथी मे लिए अकुश और पोत (जहाज) के लिए पताका के समान है । (अठारह स्थान) इस प्रकार हैं—

(१) ओह ! दुष्षमा (दु खबहुल पचम) आरे मे लोग अत्यन्त कठिनाई से जीते (या जीविका चलाते) है ।

(२) गृहस्थो के कामभोग असार (तुच्छ) है एव अल्पकालिक हैं ।

(३) (इस काल मे) मनुष्य प्राय: कपटबहुल हैं ।

पाठान्तर—* इमे अ मे दुक्खे । + पडियायण । □ वेइत्ता मुक्खो, नत्थि अवेइत्ता ।

(४) मेरा यह (परीषहजनित) दु ख चिरकाल-स्थायी नही होगा ।

(५) (सयम छोड देने पर गृहवास मे) नीच जनो का पुरस्कार-सत्कार (करना पड़ेगा ।)

(६) (सयम का त्याग कर पुन गृहस्थवास मे जाने का अर्थ है–) वमन किए हुए (विषयभोगो) का वापिस पीना ।

(७) सयम को छोड कर गृहवास मे जाने का अर्थ है—नीच गतियो मे निवास को चला कर स्वीकार (करना) ।

(८) अहो ! गृहवास मे रहते हुए गृहस्थो के लिए शुद्ध धर्म (का आचरण) निश्चय ही दुर्लभ है ।

(९) वहाँ आतक (विसूचिका आदि घातक व्याधि) उसके (धर्महीन गृहस्थ के) वध (घात) का कारण होता है ।

(१०) वहाँ (प्रिय के वियोग और अप्रिय के सयोग से उत्पन्न) सकल्प (-विकल्प) वध (विनाश) के लिए होता है ।

(११) गृहवास (सचमुच) क्लेश-युक्त है, (जबकि) मुनिपर्याय (साधु-अवस्था) क्लेश-रहित है ।

(१२) गृहवास बन्ध (कर्मबन्धजनक) है, (जबकि) श्रमणपर्याय मोक्ष (मोक्ष का स्रोत) है ।

(१३) गृहवास सावद्य (पाप-युक्त) है, (जबकि) मुनिपर्याय अनवद्य (पाप-रहित) है ।

(१४) गृहस्थो के कामभोग बहुजन-साधारण है ।

(१५) प्रत्येक के पुण्य और पाप अपने-अपने है ।

(१६) ओह ! मनुष्यो का जीवन कुश के अग्र भाग पर स्थित जलबिन्दु के समान चचल है, इसलिए निश्चय ही अनित्य है ।

(१७) ओह ! मैंने (इससे पूर्व) बहुत ही पापकर्म किये है ।

(१८) ओह ! दुष्ट भावो से आचरित तथा दुष्पराक्रम से अर्जित पूर्वकृत पापकर्मो का फल भोग लेने पर ही मोक्ष होता है, बिना भोगे मोक्ष नही होता, अथवा तप के द्वारा (उन पूर्व कर्मों का) क्षय करने पर ही मोक्ष होता है । यह अठारहवा पद है ।

विवेचन —संयम में अस्थिर चित्त के लिए अठारह प्रेरणा सूत्र—प्रस्तुत सूत्र मे प्रव्रजित मुनि को किसी कारणवश सयम मे विचलित हो जाने पर अस्थिरता-निवारणार्थ १८ प्रेरणासूत्र दिये गए हैं ।

'उप्पन्नदुक्खेणं' आदि पदों के विशेषार्थ—**उप्पन्नदुक्खेणं**—जिसे शीत, उष्ण आदि परीषह रूप शारीरिक दु ख या कामभोग, सत्कार-पुरस्कार आदि मानसिक दु ख उत्पन्न हो गए है । **ओहाणुप्पेहिणा-अवधावनोत्प्रेक्षिणा**—अवधावन का अर्थ पीछे हटना या अतिक्रमण करना है । यहाँ अवधावन

का अर्थ है—सयम का परित्यग करके वापस गृहस्थाश्रम मे चला जाना। अवधावन की अभिलाषा जिसके मन मे उठी है, वह अवधानवनोत्प्रेक्षी है। **अणोहाइएणं-अनवधावितेन**—परन्तु अभी तक सयम छोड कर गृहस्थवास मे गया नही है। **पोय-पडागा—पोतपताका या पोतपटागार**—(१) जहाज की पताका अर्थात्—वस्त्र का बना हुआ पाल। जिसके तानने पर नौका लहरो से क्षुब्ध नही होती, उसे अभीष्ट स्थान की ओर ले जाया जा सकता है। **संपडिलेहियव्वाइं—सम्प्रतिलेखितव्यानि**—सम्यक् प्रकार से मननीय-विचारणीय है। तात्पर्य यह है कि इन अठारह स्वर्ण-सूत्रो का गहरा चिन्तन-मनन करने से सयम से अस्थिर हुआ मन स्थिर हो जाता है। **हं भो !**—हे और भो ! ये दोनो शब्द वृत्तिकार के मतानुसार शिष्यो को आमन्त्रित करने के लिए प्रयुक्त हैं, चूर्णिकार के मतानुसार दोनो आदरसूचक सम्बोधन है तथा अन्य व्याख्याकारो के अनुसार ये दोनो विस्मयसूचक या अपनी आत्मा के लिए सम्बोधन है। **दुप्पजीवी : दुष्प्रजीवी : दो अर्थ**—(१) जीविका बडी मुश्किल से चलाते हैं। तात्पर्य यह है कि समर्थ व्यक्तियो के लिए भी जीविका (जीने के साधन) जुटाना कठिन है। दूसरो की तो बात ही क्या ? (२) दु खपूर्वक जीवन व्यतीत करते है। जिसके पास गृहस्थाश्रम योग्य कोई भी सामग्री नही है, उसे तो गृहस्थवास मे विडम्बना और दुर्गति के अतिरिक्त और क्या मिल सकता है ? **लहुस्सगा इत्तरिया : लघुस्वका इत्वरिका : भावार्थ** - मानवीय कामभोग लघु अर्थात्—तुच्छ या असार हैं, अर्थात्—सर्वथा सारहीन है और इत्वरिक यानी अल्पकालिक है, देवो के समान वे चिर-स्थायी नही हैं।[1]

'साइबहुला' आदि पदों का तात्पर्य—साइबहुला—सातिबहुल : दो अर्थ—(१) मायाबहुल (२) अविश्वस्त प्रचुर। बहुत-से मानव इस काल मे छली-कपटी एव विश्वासघाती है, उन मनुष्यो मे रह कर सुख कैसे मिल सकता है ! वे तो प्राय दु ख ही देते रहते है। **न चिरकालोवट्ठाइ—नचिरकालोपस्थायि**—किसी कारणवश उत्पन्न हुए ये दु ख चिरस्थायी नही है। ये भी रथ के चक्र की तरह बदलते जाते है। फिर इस कष्ट को सहने से कर्मो की निर्जरा और शाश्वत सुख की प्राप्ति होगी। नही सहन किया तो मरने के बाद नरकादि दुर्गतियो मे जाना होगा, जहाँ इससे भी अनेकगुना कष्ट भोगना पडेगा। **ओमजणपुरक्कारे—अवमजन-पुरस्कार · आशय**—यहाँ सयमी जीवन मे स्थिर रहने से तो

---

१ (क) दुक्ख दुविध —शारीर माणस वा। तत्थ सारीर सीउण्हदसमसगाइ, माणस इत्थी-निसीहियसक्कारपुरक्कारपरीसहादीण। एव दुविह दुक्ख उप्पन्न जस्स तेण **उप्पण्णदुक्खेण:**" **अवहावण**—अवसप्पण अतिक्कमण, सजमातो अवक्कमणमवहावण। जाणवत्त—पोतो, तस्स **पडागा**—सीतपडो, पोतोऽवि सीतपडेण विततेण वीचिहिं ण खोभिज्जति, इच्छित च देस पाविज्जिति। ह भोत्ति सम्बोधनद्वयमादराय। दुप्पजीवी नाम दुक्खेण प्रजीवण, आजीविआ। —जिनदास चूर्णि, पृ. ३५३

(ख) ह भो—शिष्यामन्त्रणे। दु खेन-कृच्छ्रेण प्रकर्षेणोदारभोगापेक्षया जीवितु शीला दुष्प्रजीविन।
—हारि वृत्ति, पत्र २७२

(ग) जाणवत्त पोतो, तस्स पडागारो—सीतपडो। दुक्ख एत्थ पजीवसाधगाणि सपाडिज्जतीति ईसरेहिं किं पुण सेसेहिं ? रायादियाण चिताभरेहिं, वाणियाण भडविणएहिं, सेसाण पेसणेहिं य जीवणसपादण दुक्ख। लहुसगा-इत्तरकाला कदलीगब्भवदसारगा जम्हा गिहत्थभोगे चतिऊण रति 'कुणइ धम्मे।'
—अगस्त्यचूर्णि

(घ) दशवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. ९९९

राजा-महाराजा, धनाढ्य आदि मेरा सत्कार-सम्मान एव भक्ति करते है, किन्तु गृहवास मे जाने पर मुझे नीच मनुष्यो की सेवा, भक्ति, चापलूसी, खुशामद आदि करनी पडेगी, उनके असह्य वचन भी सहने पडेगे। **वतस्स पडिआइयण**—जिन विषयभोगो का मै वमन (त्याग) कर चुका हूँ, उनका गृहवास में जाकर पुन आसेवन करना श्रेष्ठ जन का कार्य नही है। वमन किया हुआ तो कुत्ता, गीदड आदि नीच जीव ही ग्रहण करते हैं, प्रव्रजित होने से मैं श्रेष्ठ जन हूँ, अत मेरे लिए त्यक्त विषय-भोगो का पुन सेवन करना उचित नही है। **दुल्लहे गिहीणं धम्मे**—जो व्यक्ति पहले से गृहवास मे रहते है, वे तो श्रद्धापूर्वक थोडा-सा धर्माचरण कर लेते है, किन्तु जो साधुजीवन छोडकर गृहवास मे जाते है, वे न घर के रहते हैं न घाट के। उनकी श्रद्धा धर्म से हट जाती है, उनके लिए गृहस्थी मे रह कर धर्माचरण करना तो और भी दुष्कर है। अथवा गृहस्थ मे पुत्र-कलत्रादि का स्नेहबन्धन पाश है। उसमे फसे हुए गृहस्थ से भी धर्माचरण होना दुष्कर है, प्रमादवश धर्मश्रवण भी दुर्लभ है। **आयके से वहाय**—आतक का अर्थ है—शीघ्रघाती रोग। गृहस्थवास मे धर्मरहित व्यक्ति को या निर्धन व्यक्ति को ये हैजा आदि रोग बहुत जल्दी धर दबाते है और साधना एव साधन के अभाव मे तुरन्त ही ये जीवन का खेल खत्म कर देते है। **संकप्पे से वहाय**—आतक शारीरिक रोग है, और सकल्प मानसिक रोग। इष्ट के वियोग और अनिष्ट के सयोग से जो मानसिक आतक होता है, उसे यहाँ सकल्प कहा गया है। क्षण-क्षण मे होने वाली सुख दु खो की चोटो से मनुष्य गृहवास मे सदा घायल, उदास एव आहत रहता है। बुरा सकल्प भी एक दृष्टि से आध्यात्मिक मृत्यु है। शरीर छूटना तो भौतिक मरण है, दु सकल्प -विकल्प से आत्मा का पतन होना भी वास्तव मे आध्यात्मिक मरण है। **सोवक्केसे गिहवासे निरुवक्केसे परियाए : भावार्थ**—कृषि, वाणिज्य, पशुपालन, आश्रितो का भरणपोषण, तेल-लवण-लकडी आदि जुटाने की नाना चिन्ताओ का कारण गृहवास क्लेशमय है, फिर आधि, व्याधि और उपाधि तथा आजीविका आदि का मानसिक सन्ताप होने के कारण गृहस्थवास उपक्लेशयुक्त है, जबकि मुनिपर्याय इन सभी चिन्ताओ और क्लेशो से दूर होने तथा निश्चिन्त होने से क्लेशमुक्त है। पर्याय का अर्थ यहा प्रव्रज्याकालीन अवस्था या दशा अथवा मुनिव्रत है। **'बधे गिहवासे मोक्खे परियाए' : तात्पर्य**—गृहवास बन्धन रूप है, क्योकि इसमे जीव मकडी की तरह स्वय स्त्री पुत्र-परिवार आदि का मोहजाल बुनता है और स्वय ही उसमे फस जाता है, जबकि मुनिपर्याय कर्मक्षय करके मोक्षप्राप्ति करने और बन्धनों को काटने का सुस्रोत है। **सावज्जे गिहवासे अनवज्जे परियाए : भावार्थ**—गृहवास पापरूप है, क्योकि इसमे हिंसा, झूठ, चोरी (करचोरी आदि), मैथुन और ममत्व-पूर्वक सग्रह, परिग्रह आदि सब पापमय कार्य करने पडते हैं। इसके विपरीत मुनिपर्याय मे उक्त पापजनक कार्यों का सर्वथा त्याग किया जाता है। आरम्भ, परिग्रहादि को इसमे कोई स्थान ही नही है।

बहुसाहारणा गिहीणं कामभोगा—गृहस्थो के कामभोग बहुत ही साधारण हैं, इसका एक अर्थ यह भी है कि देवो के कामभोगो की अपेक्षा मानवगृहस्थो के कामभोग बहुत नगण्य हैं, सामान्य हैं। दूसरा अर्थ यह है कि गृहस्थो के कामभोग बहुजनसाधारण हैं, उनमे राजा, चोर, वेश्या, आदि लोगों का भी हिस्सा है। इसलिए सासारिक कामभोग बहुत ही साधारण हैं। **पत्तेयं पुण्णपावं**—जितने भी प्राणी है, वे सब अपने-अपने किये हुए शुभाशुभ कर्मों का फल स्वय भोगते हैं। किसी के किए हुए कर्मों का फल कोई अन्य नही भोग सकता। स्त्रीपुत्रादि मेरे कर्मों के फल भोगने मे हिस्सा नही बँटा सकते। फिर मुझे गृहवास मे जाने से क्या प्रयोजन ?

मणुआण जीविए चंचले—मनुष्य का जीवन क्षणभगुर है। रोगादि उपद्रवो के कारण देखते ही देखते नष्ट हो जाता है, अत क्षणविनाशी मानवीय जीवन के तुच्छभोगो के लिए मैं क्यो अपना साधुजीवन छोड कर गृहवास स्वीकार करू ? **बहुं मे पावकम्मं कडं : तात्पर्य**—मैंने बहुत ही पापकर्म किये है, जिनके उदय से मेरे शुद्ध हृदय मे इस प्रकार के अपवित्र विचार उत्पन्न होते है। जो पुण्यशाली पुरुष होते है, उनके विचार तो चारित्र मे सदैव स्थिर एव दृढ रहते हैं। पापकर्मों के उदय से ही मनुष्य अध पतन की ओर जाता है। **वेयइत्ता मोक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता**—प्रमाद, कषाय आदि के वशीभूत होकर मैंने पूर्वजन्म मे जो पापकर्म किये है, उन्हे भोगे बिना मोक्ष नही मिल सकता। कृतकर्मों को भोगे बिना दु खो से छुटकारा नही मिल सकता, अत क्यो न मैं इस आई हुई विपत्ति को भोगूँ ? इसे भोगने पर ही दु खो से छुटकारा मिलेगा। जैन सिद्धान्त के अनुसार—बद्ध कर्म की मुक्ति के दो उपाय हैं—(१) स्थिति परिपाक होने पर उसे भोगने से, अथवा (२) तपस्या द्वारा कर्मों को क्षीणवीर्य करके नष्ट कर देने से। सामान्यतया कर्म अपनी स्थिति पकने पर फल देता है, परन्तु तप के द्वारा स्थिति पकने से पूर्व ही कर्मों की उदीरणा करके कर्मफल भोगा जा सकता है। इससे कर्म की फलशक्ति मन्द हो जाती है और वह फल प्रदान के बिना भी नष्ट हो जाता है। अत उत्कट तप द्वारा कर्म की स्थिति का परिपाक होने से पूर्व ही क्यो न मै अपने पूर्वकृत कर्मो को क्षय कर दू और अक्षय मोक्षसुख का भागी बनू ! यह इस पक्ति का रहस्य है।[२]

उत्प्रव्रजित के पश्चात्ताप के विविध विकल्प

भवइ य एत्थ सिलोगो—

५४३. जया य चयई धम्मं अणज्जो भोगकारणा।
से तत्थ मुच्छिए बाले आयइं नावबुज्झई ॥२॥

५४४. जया ओहाविओ होइ, इदो वा पडिओ छमं।
सव्वधम्मपरिब्भट्ठो स पच्छा परितप्पई ॥३॥

---

२. (क) साति कुडिल। पुणो पुणो कुडिलहियया प्रायेण भुज्जो सातिबहुला मणुस्सा। —अ. चू
(ख) न कदाचित् विश्रभहेतवोऽमी, तद्रहिताना च कीदृक् सुखम् ? इति किं गृहाश्रमेण इति सम्प्रत्युपेक्षितव्यमिति। —हारि. वृत्ति, पत्र २७२
(ग) आतक सद्योघाती विषूचिकादिरोग। सकल्प इष्टानिष्टवियोगप्राप्तिजो मानस आतक.। उपक्लेशा —कृषिपाशुपाल्यवाणिज्याद्यनुष्ठानानुगता पण्डितजनगर्हिता शीतोष्णश्रमादयो धृतलवणचिन्तादयश्चेति। प्रव्रज्या पर्याय। —हारि वृ. प २७३
(घ) आयको सारीर दुक्ख सकप्पो माणम, त च पियविप्पयोगमय, सवाससोगभयविसादिकमणेगहा सभवति। —जि. चू पृ. ३५६
(ङ) तरियातो समततो पुन्नागमण, पव्वज्जा-सद्दस्सेव अवब्भसो परियातो।
(च) दशवैकालिक (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. १००४ से १००८ तक

५४५. जया य वंदिमो होई, पच्छा होइ अवंदिमो ।
देवया व चुया ठाणा, स पच्छा परितप्पई ।।४।।

५४६. जया य पूइमो होइ, पच्छा होइ अपूइमो ।
राया व रज्जपब्भट्ठो, स पच्छा परितप्पई ।।५।।

५४७. जया य माणिमो होई, पच्छा होइ अमाणिमो ।
सट्ठिव्व कव्वडे छूढो स पच्छा परितप्पई ।।६।।

५४८. जया य थेरओ होइ समइक्कंतजोव्वणो ।+
मच्छो व्व गलं गिलित्ता स पच्छा परितप्पई ।।७।।

[जया य कुकुडुबस्स कुतत्तीहि विहम्मई ।
हत्थी व बंधणे बद्धो स पच्छा परितप्पई ।।]

५४९. पुत्तदार-परिकिण्णो मोहसंताणसंतओ ।
पंकोसन्नो जहा नागो, स पच्छा परितप्पई ।।८।।

[५४३] इस विषय मे कुछ श्लोक हैं—जब अनार्य (साधु) भोगो के लिए (चारित्र-) धर्म को छोडता है, तब वह भोगो मे मूर्च्छित बना हुआ अज्ञ (मूढ) अपने भविष्य को सम्यक्तया नहीं समझता ।।२।।

[५४४] जब (कोई साधु) उत्प्रव्रजित होता है (अर्थात् चारित्रधर्म त्याग कर गृहवास मे प्रवेश करता है) तब वह (अहिंसादि) सभी धर्मों मे परिभ्रष्ट हो कर वैसे ही पश्चात्ताप करता है, जैसे आयु पूर्ण होने पर देवलोक के वैभव मे च्युत हो कर पृथ्वी पर पडा हुआ इन्द्र ।।३।।

[५४५] जब (साधु प्रव्रजित अवस्था मे होता है, तब) वन्दनीय होता है, वही (अब सयम छोडने के) पश्चात् अवन्दनीय हो जाता है, तब वह उसी प्रकार पश्चात्ताप करता है, जिस प्रकार अपने स्थान मे च्युत देवता ।।४।।

[५४६] प्रव्रजित अवस्था मे साधु पूज्य होता है, वही (उत्प्रव्रजित हो कर गृहवास मे प्रवेश करने के) पश्चात् जब अपूज्य हो जाता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है, जैसे राज्य से भ्रष्ट राजा ।।५।।

[५४७] (दीक्षित अवस्था में) साधु माननीय होता है, वही (उत्प्रव्रजित होकर गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने के) पश्चात् जब अमाननीय हो जाता है, तब वह वैसे ही पश्चात्ताप करता है, जैसे कर्बट (छोटे-से गवारू गाँव) मे अवरुद्ध (नजरबद) किया हुआ (नगर-) सेठ ।।६।।

पाठान्तर—+समइक्कत जुव्वणो ।

अधिकपाठ— [ ] यह गाथा प्राचीन प्रतियो में उपलब्ध नहीं है । —सं.

[५४८] उत्प्रव्रजित (दीक्षा छोड कर गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट) व्यक्ति यौवनवय के व्यतीत हो जाने पर जब बूढा हो जाता है, तब वैसे ही पश्चात्ताप करता है, जैसे काटे को निगलने के पश्चात् मत्स्य ।।७।।

[जब संयम छोडा हुआ साधु दुष्ट कुटुम्ब की कुत्सित चिन्ताओ से प्रतिहत (आक्रान्त) होता है, तब वह वैसे ही परिताप करता है, जैसे (विषयलोलुपतावश) बन्धन मे बद्ध हाथी ।]

[५४९] पुत्र और स्त्री से घिरा हुआ और मोह की परम्परा से व्याप्त वह दीक्षा छोडने के बाद (गृहवास में प्रविष्ट साधु) पक मे फसे हुए हाथी के समान परिताप करता है ।।८।।

विवेचन—उत्प्रव्रजित साधु की पश्चात्ताप-परम्परा- प्रस्तुत सात गाथाओ (५४३ से ५४९ तक) मे संयम को छोड कर गृहवास मे प्रविष्ट (उत्प्रव्रजित) साधु को कैसी-कैसी आधि-व्याधि-उपाधियो का सामना करना पडता है, उस दु स्थिति मे वह किस-किस प्रकार पश्चात्ताप करता है, यह विविध उपमाओ द्वारा प्रतिपादित किया गया है ।

उत्प्रव्रजित के पश्चात्ताप करने के कारण—यहाँ आठ गाथाओ मे दीक्षा छोड कर गृहवास मे प्रवेश करने वाले साधु को होने वाले पश्चात्तापो के ८ कारण बताए है—**(१) भविष्य को भूल जाता है**—सयम को छोडने वाला व्यक्ति म्लेच्छो के समान चेष्टाएँ करने वाला अनार्य बन जाता है । वह शब्द-रूप आदि जिन विषयभोगो को पाने के लिए सयम छोडता है, उन वर्तमानकालीन क्षणस्थायी विषयसुखो मे अतीव मूर्च्छित-मोहित होने पर उसे भविष्यत्काल का भान नही रहता । जिससे उसे भविष्य मे भयकर पश्चात्ताप करने का मौका आता है ।[3]

(२) सर्वधर्म-परिभ्रष्ट हो जाने के कारण—जैसे देवाधिपति इन्द्र आयुष्य क्षय होने पर देवलोक से च्युत होकर मनुष्यलोक मे आता है, तब वह अत्यधिक शोक करता है कि—'हाय ! मेरा वह अनुपम वैभव नष्ट हो गया । अब तो मनुष्यलोक मे मुझे अनेक कष्ट भोगने पडेगे ।' इसी प्रकार उत्प्रव्रजित साधु भी जब अपने क्षमा, शील, सन्तोष या अहिसा-सत्यादि सब धर्मों से भ्रष्ट हो जाता है, तब वह लोगो की नजरो मे गिर जाता है, वह लोगो का श्रद्धाभाजन एव गौरवास्पद नही रहता, तब वह सिर धुन-धुन कर पछताता है कि हाय मैने कितना अनर्थ कर डाला ! अब तो मै किसी दीन-दुनिया का नही रहा । मैने लोक-परलोक दोनो बिगाड लिये ! पश्चात्ताप का कारण यह भी है कि जब व्यक्ति साधुधर्म से स्खलित होता है, तब तो उसके मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होता है, जिससे सभलना कठिन होता है, किन्तु बाद मे जब एक के बाद एक भयकर दु.ख आ पडते हैं और मोहनीय कर्म का उदय मन्दभाव मे आ जाता है, तब वह इन्द्र के समान शोक, विलाप और पश्चात्ताप करने लगता है ।[4]

(३) अवन्दनीय हो जाने के कारण—जब साधु अपने सयम मे स्थिरचित्त रहता है, उसका भलीभाति पालन करता है, उस समय तो वह राजा, मत्री, करोडपति श्रेष्ठी आदि द्वारा वन्दनीय होता है, किन्तु जब सयमधर्म को छोड कर भोगी गृहस्थ हो जाता है, तब सत्कार करने वाले उन्ही

---

३ दशवैकालिक (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ १०१०

४. वही, पृ. १०११-१०१२

मनुष्यों से वह असह्य तिरस्कार पाता है, अवन्दनीय हो जाता है, गलितकाय कुत्ते की तरह दुरदुराया जाता है। जिस तरह स्थानच्युत इन्द्रवर्जित देवी अपने पूर्वकालीन अखण्ड गौरव, देवियो द्वारा सेवाभक्ति, वन्दन आदि सुखो का स्मरण कर-करके शोक करती है, उसी तरह सयमस्थान मे च्युत[५] साधु भी अपने भूतपूर्व गौरव, पद, स्थान आदि को बार-बार याद करके मन मे पश्चात्ताप करता है।

(४) **अपूज्य होने के कारण**—जब साधु अपने चारित्रधर्म मे स्थिर रहता है, तब भावुक जन भावभक्तिपूर्वक भोजन, वस्त्र आदि से उसकी पूजा करते है, उसके चरण पूजते है, उसे प्रतिष्ठा देते हैं, किन्तु जब वह चारित्रधर्म को छोड कर गृहस्थ बन जाता है, तब सब लोगो के लिए अपूज्य हो जाता है। उसका कही भी भोजनवस्त्रादि से सत्कार नही होता। तब जिस प्रकार राज्य से भ्रष्ट हो जाने पर राजा को कोई नही पूछता, वह अपने पूर्व गौरव को याद करके भारी पश्चात्ताप करता है, उसी प्रकार चारित्रभ्रष्ट व्यक्ति भी अपनी पूर्वगौरवदशा का स्मरण करके मन मे झूरता रहता है।[६]

(५) **अमान्य होने के कारण**—अपने शील और धर्म मे जब साधु स्थिरचित्त होता है, तब तो वह अभ्युत्थान एव आज्ञापालन आदि के रूप मे सर्वमान्य होता है, किन्तु जब साधुधर्म से भ्रष्ट होकर गृहस्थ बन जाता है, तब उन्ही सत्कार करने वाले लोगो द्वारा वह अमान्य हो जाता है, जिस प्रकार राजा के आदेश से किसी क्षुद्र गाँव मे नजरबद किया हुआ नगर सेठ पश्चात्ताप करता है कि 'हाय! कहाँ तो नगर मे सब लोग मेरी आज्ञा मानते थे, मै सम्मानित होता था कहाँ यह क्षुद्र गाँव, जहाँ कोई भी मुझे पूछता तक नही?' इसी प्रकार शीलधर्मभ्रष्ट साधु भी अमाननीय हो जाने के कारण शारीरिक एव मानसिक दु खो से पीडित होता रहता है।[७]

(६) **बुढ़ापा आने पर**—सरस भोजन के लाभ मे मछली धीवरो द्वारा पानी मे डाले हुए लोहे के काटे को निगल जाती है। जब वह काटा गले मे अटक जाता है, तब वह पछताती है। इसी प्रकार सयम मे पतित एव गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट व्यक्ति भी जवानी बीत जाने पर जब बुढापा झाकने लगता है तब पश्चात्ताप करता है, क्योकि जिस प्रकार मछली के गले मे अटका हुआ काटा (बडिश) न तो गले के नीचे उतरता है और न गले से बाहर निकल सकता है, इसी प्रकार उत्प्रव्रजित भी न तो बुढापे मे भोगो को भोग सकता है और न उनसे मुक्त हो सकता है, क्योकि वह स्त्रीपुत्रादि के जाल मे फस जाता है।[८]

(७) **कुटुम्ब की दुश्चिन्ताओ से घिरने पर**—सयम से पतित साधु को जब गृहवास मे अनुकूल परिवार नही मिलता है, तब विभिन्न प्रतिकूल दुश्चिन्ताओ के कारण उसका हृदय दग्ध होने लगता है। फिर जिस प्रकार स्पर्शविषय का लोभ देकर बन्धनो मे बाधा हुआ हाथी घोर दु ख

---

५ दशवैकालिक (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ १०१३

६ वही, पृ १०१५

७ वही, पृ १०१६

८ वही, पृ १०१७

भोगता है, उसी प्रकार साधु भी विषयभोगरूपी बन्धनो से गृहवास मे बधा उत्प्रव्रजित भी घोर दु:ख भोगता है। इष्टसयोग न मिलने से उसके विषयभोगो में विघ्न पडता है, जिससे उसका मन कुत्सित चिन्ताओ के कारण संतप्त होता है। लोहे की साँकलो से बधा हुआ हाथी घोर कष्ट भोगता है, वैसे ही विषय-भोगो के झूठे लालच मे फंसकर गृहस्थवास की शृखला से बधा हुआ उत्प्रव्रजित भी घोर दु.ख पाता है।[९]

(८) **स्त्री-पुत्रों से घिर जाने के कारण**—सयम छोडकर गृहस्थवास में उत्प्रव्रजित व्यक्ति स्त्री-पुत्रादि से घिर जाता है। जिस प्रकार दल-दल मे फसा हुआ हाथी दु ख पाता है, उसी प्रकार उत्प्रव्रजित भी स्त्री-पुत्र आदि के मोहमय दल-दल मे फस कर घोर दु ख पाता है। उस समय हाथी की तरह वह उत्प्रव्रजित भी शोक करता है कि हाय! मैं पहले इस विषयभोग के दल-दल मे न फसता और सयम-क्रियाओ मे दृढ रहता तो मेरी आज ऐसी दुर्दशा न होती! सयम छोडकर मैंने क्या लाभ उठाया?[१०]

'आयइं' आदि शब्दो के विशेषार्थ—आयइ आयति : तीन अर्थ—(१) भविष्यकाल, (२) आत्महित या (३) गौरव। **कब्बडे : कर्बट—तीन प्रसिद्ध अर्थ**—(१) बहुत छोटा सन्निवेश, या क्षुद्र गवारू गाँव, (२) कुनगर, जहाँ क्रय-विक्रय न होता हो, (३) ऐसा कस्बा, जहाँ छोटा-सा बाजार हो। **सेट्ठी—श्रेष्ठी**—(१) जिस पर लक्ष्मी का चित्र छपा हो, ऐसी पगडी (वेष्टन) बाधने की जिसे राजाज्ञा प्राप्त हो। (२) वणिक्-ग्राम का प्रधान (३) राजमान्य नगरसेठ।[११] **छमं—क्ष्मा**—पृथ्वी।

संयमभ्रष्ट गृहवासिजनों की दुर्दशा : विभिन्न दृष्टियों से

५५०. अज्ज या हं गणी होतो भावियप्पा बहुस्सुओ।
जइ हं रमंतो परियाए सामण्णे जिणदेसिए ॥९॥

५५१. देवलोगसमाणो उ परियाओ महेसिणं।
रयाणं, अरयाणं च महानिरय-सालिसो ॥१०॥

५५२. अमरोवम जाणिय सोक्खमुत्तम,
रयाण परियाए, तहाऽरयाणं।
निरओवमं जाणिय दुक्खमुत्तमं,
रमेज्ज तम्हा परियाए पंडिए ॥११॥

---

९. दशवैकालिक (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ १०१८
१०. वही, पृष्ठ १०१९
११. (क) अगस्त्यचूर्णि
(ख) राजकुलसम्माणो, समाविद्धवेट्ठगो वणिग्गामहत्तरो य सेट्ठी। —अग चूर्णि
(ग) जम्मि य पट्टे सिरियादेवी कज्जति, त वेट्ठणग जस्स रन्ना अणुज्ञात सो सेट्ठी भण्णइ। —निशीथचूर्णि

५५३. धम्माओ भट्ठं सिरिओ ववेयं,
जन्नग्गि विज्झायमिवऽप्पतेयं ।
हीलंति णं दुव्विहियं कुसीला,
दाढुद्धियं घोरविसं व नागं ॥१२॥

५५४. इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती,
दुन्नामधेज्जं च पिहुज्जणम्मि ।
चुयस्स धम्माओ अहम्मसेविणो,
संभिन्नवित्तस्स य हेट्ठओ गई ॥१३॥

५५५. भुंजित्तु भोगाइं पसज्झ चेयसा
तहाविहं कट्टु असंजमं बहुं ।
गइं च गच्छे अणभिज्झियं दुहं
बोही य से नो सुलभा पुणो पुणो ॥१४॥

[५५०] यदि मै भावितात्मा और बहुश्रुत होकर जिनोपदिष्ट श्रामण्य-पर्याय मे रमण करता तो आज मै गणी (आचार्य) होता ॥९॥

[५५१] (सयम मे) रत महर्षियो के लिए मुनि-पर्याय देवलोक के समान (सुखद होता है) और जो सयम मे रत नही होते, उनके लिए (यही मुनिपर्याय) महानरक के समान (दु खद होता है ।) ॥१०॥

[५५२] इसलिए मुनिपर्याय मे रत रहने वालो का सुख देवो के समान उत्तम जान कर तथा मुनिपर्याय मे रत नही रहने वालो का दु.ख नरक के समान तीव्र जान कर पण्डितमुनि मुनिपर्याय मे ही रमण करे ॥११॥

[५५३] जिसकी दाढे निकाल दी गई हो, उस घोर विषधर (सर्प) की साधारण अज्ञ जन भी अवहेलना करते हैं, वैसे ही धर्म से भ्रष्ट, श्रामण्य (या तप) रूपी लक्ष्मी से रहित, बुझी हुई यज्ञाग्नि के समान निस्तेज और दुर्विहित साधु की कुशील लोग भी निन्दा करते है ॥१२॥

[५५४] धर्म (श्रमणधर्म) से च्युत, अधर्मसेवी और (गृहीत) चारित्र को भग करने वाला इसी लोक मे अधर्मी (कहलाता) है, उसका अपयश और अपकीर्ति होती है, साधारण लोगो में भी वह दुर्नाम (बदनाम) हो जाता है और अन्त मे उसकी अधोगति होती है ॥१३॥

[५५५] वह सयम-भ्रष्ट साधु आवेशपूर्ण चित्त से भोगो को भोग कर एव तथाविध बहुत-से असयम (कृत्यो) का सेवन करके दु खपूर्ण अनिष्ट (नरकादि) गति में जाता है और उसे बार-बार (जन्म-मरण करने पर भी) बोधि सुलभ नही होती ॥१४॥

विवेचन—संयमभ्रष्ट की उभयलोक मे दुर्गति—प्रस्तुत छह गाथाओं (५५० से ५५५ तक) मे उत्प्रव्रजित का हार्दिक पश्चात्ताप तथा सयम मे रति और अरति के सुखद-दु खद परिणामो का निरूपण किया गया है।

हार्दिक पश्चात्ताप—उत्प्रव्रजित होकर गृहजजाल मे फसा हुआ भूतपूर्व साधु हार्दिक पश्चात्ताप करता है कि 'यदि मै भावितात्मा होता, (अर्थात्—ज्ञान-दर्शन-चारित्र और विविध अनित्यादि भावनाओ से मेरी आत्मा भावित-वासित होती) और मैं उभयलोकहितकारी द्वादशागी का या अनेक शास्त्रो का ज्ञाता, (बहुश्रुत) होकर जिनेन्द्र-प्रतिपादित श्रमणभाव मे ही रमण करता तो आज मैं आचार्य पद पर प्रतिष्ठित होता। किन्तु अफसोस! मैंने मूर्खतावश साधुजीवन छोड़ कर विषयभोग रूपी पकपूर्ण जलबिन्दु के लिए अद्वितीय आचार्यपद जैसे महागौरवरूपी क्षीरसिन्धु को छोड दिया।' यह ५५०वी गाथा का आशय है।[१२]

संयत मे रत और अरत की मनोदशा का विश्लेषण—जो साधु सयम मे रत रहते हैं, उनके लिए मुनिपर्याय देवलोक के समान सुखप्रद होता है। जिस प्रकार देवता देवलोक मे होने वाले नृत्य, गीत, वाद्य आदि देखने मे तल्लीन रहते हैं और प्रसन्नता से सदैव समय व्यतीत करते हैं, ठीक उसी प्रकार सयम मे रत मुनिगण भी स्वाध्याय, ध्यान, प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, धर्मोपदेश आदि एव योगादि क्रियाओ मे निमग्न रह कर देवो से बढ कर सुखो का अनुभव करते है। किन्तु जो साधु सयम में रतिहीन होते हैं—जिन्हे सयमपर्याय अरुचिकर प्रतीत होता है, उन्हे यह मुनिपर्याय महारौरव नरक के समान दु खप्रद बन जाता है। क्योकि उनके चित्त मे सदैव विषयसुखो की प्राप्ति की लालसा बनी रहती है, इसलिए वे अहर्निश अशान्त रहते है। भगवान् के वेष की वे विडम्बना करते हैं और असातावेदनीय के उदय के कारण उनकी आत्मा घोर मानसिक दु.खो का अनुभव करती है।

इसी गाथा (५५१) का उपसहार द्वारा निगमन करते हुए शास्त्रकार ने ५५२वी गाथा मे कहा है –पापभीरु विद्वान् मुनि दोनो के सुख-दु ख पर विचार करे, और निश्चित जान ले कि जो साधु सयमरत हैं, वे देवो के समान सुखानुभव करते है और जो सयम मे रत नही है वे घोर नरकोपम दु खानुभव करते हैं। अतएव शास्त्रज्ञ मुनि के लिए उचित है कि वह सयम मे दृढचित्त होकर मुनिपर्याय मे ही रमण करने का मार्ग अपनाए।[१३]

संयमभ्रष्ट व्यक्तियों की दुर्दशा का चित्रण—५५३-५५४ एव ५५५वी गाथाओ मे सयम-भ्रष्ट की दुर्दशा का स्पष्ट चित्रण करते हुए बताया गया है कि (१) जो मनुष्य सयमभ्रष्ट होकर विषयभोग मे फस जाते है, वे अन्तर्जाज्वल्यमान तपोरूप अग्नि के अलौकिक तेज से हीन, तथा चारित्रश्री से क्षीण होकर प्रभावहीन बन जाते है और निन्द्य आचरण करने लगते हैं। आचारहीन नीच पुरुष भी उन्हे घृणा की दृष्टि से देखते है। वे उनकी विडम्बना करते है। शास्त्रकार ने सयम-भ्रष्ट व्यक्ति की अवहेलना की उपमा बुझी हुई यज्ञ की अग्नि से तथा उखाडी हुई दाढ वाले विषधर से दी है। उनका आशय यह है कि जिस प्रकार यज्ञ की अग्नि जब तक प्रज्वलित रहती है, तब तक

---

१२. दशवैकालिक, पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ. १०२१

१३. वही, पृ. १०२३-१०२४

लोग उसमें मधु, घृत आदि श्रेष्ठ वस्तुएँ आहुति के रूप मे डालते रहते है और उसे हाथ जोड़ कर प्रणाम करते है। किन्तु बुझ जाने के बाद भस्मीभूत हुई उसी यज्ञाग्नि को लोग बाहर फेक देते है, पैरो तले रौदते हुए चले जाते हैं। इसी प्रकार सर्प के मुह मे जब तक दाढ़े रहती है, तब तक सब लोग उससे दूर भागते और डरते है, किन्तु मदारी द्वारा जब उसकी दाढे निकाल दी जाती है तो उस सर्प से छोटे-छोटे बच्चे भी नही डरते है। उसके मुह मे लकडी ठूसते है, उसे छेड़ते है। ऐसा ही लज्जानजक तिरस्कार मुनिपदभ्रष्ट व्यक्तियो का होता है। (२) जो व्यक्ति सासारिक भोग-विलासो के लोभ से श्रमणधर्म से भ्रष्ट एव पतित होकर गृहीत व्रतो को खण्डित करता है, गृहवास मे आकर अधार्मिक कृत्य करने लग जाता है, इस लोक मे शुभ पराक्रम न होने से उसकी अपकीर्ति और बदनामी होती है, तथा प्राकृत श्रेणी के साधारण अज्ञ लोगो द्वारा भी वह धर्मभ्रष्ट, कायर, म्लेच्छ, पतित आदि नामो से चिढ़ाया जाता है। यह तो हुई इस लोक की दुर्दशा। परलोक मे भी उसकी दुर्दशा कम नही होती। सयमभ्रष्ट व्यक्ति जब अपना जीवन दु खपूर्वक समाप्त करके परलोक मे जाता है तब उसकी अधर्म-भावना के कारण उसे अच्छा स्थान नही मिलता। उसे स्थान मिलता है—नरक और तिर्यञ्चगति में। नरक मे तो उसे पलक झपकने तक को भी सुख नही मिलता। वह सतत हाय-हाय और मरा-मरा की करुण पुकार मे समग्र जीवन बिताता है। (३) जिस मनुष्य ने श्रमणजीवन का परित्याग कर मुनिधर्म की अपेक्षा न रखते हुए अत्यासक्तिपूर्वक विषय-भोगो का सेवन किया है तथा अज्ञानतापूर्वक हिंसाकारी कृत्य किये है, वह असन्तुष्ट एव अतृप्त होकर दु खपूर्वक मर कर नरकादि दुर्गतियो मे जाता है, जो स्वभावत भयकर एव असह्य दु खद है। घोरातिघोर दु खो से पीडित मनुष्य भी वहाँ जाना नही चाहता। फिर नरक के घोरातिघोर दु ख भोगने के बाद भी दु खो से पिण्ड नही छूटता, क्योकि दु खो से छुटकारा दिलाने वाली जिनधर्मप्राप्तिरूप बोधि है, जो उसे मिथ्यामोहनीय आदि अशुभकर्मोदयवश सरलता से प्राप्त नही हो सकती, यह प्रवचन-विराधना एव सयमभ्रष्टता का कटुफल है। अत थोडे से क्षणिक विषयसुखो के लिए सयम-परित्याग करना कितनी भयकर भूल है ?[१४]

कठिन शब्दों के अर्थ—**सिरिओ**—श्रियः—(१) श्रामण्य (चारित्र) रूपी लक्ष्मी या शोभा से अथवा (२) तपरूपी लक्ष्मी से। **अप्पतेयं**—अल्पतेज, निस्तेज। **दुव्विहियं : दुर्विहित**—जिसका आचरण या विधि-विधान दुष्ट होता है, अथवा समाचारी का विधिवत् पालन करने वाला भिक्षु। **हीलंति**—लज्जित करते हैं, कदर्थना करते हैं, अवहेलना करते है। **संभिन्नविन्नस्स-संभिन्नवृत्त**—जिसका शील या चारित्र खण्डित हो गया है। **अधम्मो**—अधर्म—अधर्मजनक। **अयसो**—अयश—अपयश होता है। जैसे—यह देखो—भूतपूर्व श्रमण है, धर्म से पतित है,—इस प्रकार व्यगपूर्वक दोषकीर्तन करना अयश कहलाता है। यश का अर्थ सयम भी है, इसलिए सयम मे पराक्रम की न्यूनता—मन्दता को भी अयश—अल्पयश कहा है। **पसज्झचेतसा—प्रसह्यचेतसा**—प्रसह्य शब्द के अनेक अर्थ हैं—हठात्, बलपूर्वक, प्रकट, वेगपूर्वक आदि। यहाँ भावार्थ होगा—विषयभोगो के लिए हिंसा, असत्यादि मे मन को अभिनिविष्ट करके प्रबल वेगपूर्ण चित्त से। **अणभिज्झियं—अनभिध्यातं**—अनिष्ट, अनभिलषित या अनिच्छनीय। **बोही**—अर्हद्धर्म की उपलब्धि, बोधि।[१५]

---

१४ दशवैकालिक, पत्राकार (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १०२५ से १०३० तक

१५ हारि. वृत्ति पत्र २७६-२७७, जिनदासचूर्णि, पृ. ३६४, अगस्त्यचूर्णि

श्रमणजीवन में दृढ़ता के लिए प्रेरणासूत्र

५५६. इमस्स ता नेरइयस्स जंतुणो दुहोवणीयस्स किलेसवत्तिणो ।
पलिओवमं झिज्जइ सागरोवमं किमंग ! पुण मज्झ इमं मणोदुहं ? ॥१५॥

५५७. न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई,
असासया भोग-पिवास जंतुणो ।
न से सरीरेण इमेणऽवेस्सई,
अवेस्सई जीवियपज्जवेण मे ॥१६॥

५५८. जस्सेवमप्पा उ हवेज्ज निच्छिओ,
'चएज्ज देहं, न उ धम्मसासणं ।'
त तारिसं नो पयलेंति इंदिया,
उवेंतवाया व सुदंसणं गिरिं ॥१७॥

५५९. इच्चेव संपस्सिय बुद्धिमं नरो,
आयं उवायं विविहं वियाणिया ।
काएण वाया अदु माणसेणं,
तिगुत्तिगुत्तो जिणवयणमहिट्ठेज्जासि ॥१८॥
—त्ति बेमि ॥

॥ रइवक्कचूला नाम पढमा चूला समत्ता ॥

[एक्कारसमं रइवक्कऽज्झयणं समत्तं]

[५५६] दुःख से युक्त और क्लेशमय मनोवृत्ति वाले इस (नारकीय) जीव की (नरक-सम्बन्धी) पल्योपम और सागरोपम आयु भी समाप्त हो जाती है, तो फिर हे जीव ! मेरा यह मनो-दुःख तो है ही क्या ? अर्थात्—कितने काल का है, (कुछ भी नही) ॥१५॥

[५५७] 'मेरा यह दुःख चिरकाल तक नही रहेगा, (क्योकि) जीवो की भोग-पिपासा अशाश्वत है । यदि वह इस शरीर से (शरीर के होते हुए) न मिटी, तो मेरे जीवन के अन्त (के समय) मे तो वह अवश्य ही मिट जाएगी ॥१६॥

[५५८] जिसकी आत्मा इस (पूर्वोक्त) प्रकार से निश्चित (दृढ-सकल्पयुक्त) होती है वह शरीर को तो छोड़ सकता है, किन्तु धर्मशासन को छोड नही सकता । ऐसे दृढ़प्रतिज्ञ साधु (या साध्वी) को इन्द्रिया उसी प्रकार विचलित नही कर सकती, जिस प्रकार वेगपूर्ण गति से आता हुआ सुदर्शनगिरि (मेरुपर्वत) को ॥१७॥

[५५९] बुद्धिमान् मनुष्य इस प्रकार सम्यक् विचार कर तथा विविध प्रकार के (ज्ञानादि

के) लाभ और उनके (विनयादि) उपायो को विशेष रूप से जान कर काय, वाणी और मन, इन तीन गुप्तियो से गुप्त होकर जिनवचन (प्रवचन) का आश्रय ले ॥१८॥ —ऐसा मैं कहता हूँ।

विवेचन—प्रव्रज्यात्याग के विचार से विरति के चिन्तनसूत्र—प्रस्तुत ४ गाथाओ (५५६ से ५५९ तक) मे सयमत्याग का विचार सम्यक् चिन्तनपूर्वक स्थगित रखने की प्रेरणा दी गई है।

संयम मे दृढ़ता के विचार—(१) गाथा ५५६ का आशय यह है कि सयम पालते हुए किसी प्रकार का दु ख आ पडने पर उसके कारण संयम से विचलित होने की अपेक्षा उन दु खो को सहन करने की शक्ति और सयम में दृढता कैसे प्राप्त हो ? इसके लिए इस प्रकार चिन्तन करना चाहिए—इस जीव ने महादु खपूर्ण एव एकान्त क्लेशमय नरकगति मे अनन्त बार जाकर वहाँ के शारीरिक-मानसिक दु खो को पल्योपमों और सागरोपमो जितने दीर्घकाल पर्यन्त सहन किया है, तो फिर सयम-जीवन मे उत्पन्न हुआ यह दु ख तो है ही कितना ! यह तो सिन्धु मे बिन्दु के बराबर है। जिस प्रकार अनन्तकाल तक का वह दु ख भोग कर क्षय किया गया था, उसी प्रकार यह दु ख भी भोगने से क्षीण हो जाएगा। अत मुझे सयम मे दृढ़ता धारण करनी चाहिए, उसका परित्याग करना उचित नही। नरक के दु खो का यह महत्त्वपूर्ण दृष्टान्त साहस एव धैर्य की हिलती हुई दीवार को अतीव सुदृढ बनाने वाला है।

(२) गाथा ५५७ का आशय यह है कि—यदि किसी कष्ट के कारण सयम मे अरति उत्पन्न हो जाए तो साधु को इस प्रकार विचार करना चाहिए—मुझे जो यह दु ख हुआ है, वह चिरकाल तक नही रहेगा—कुछ ही दिनो मे दूर हो जाएगा, क्योकि दु ख के बाद सुख आता ही है। दूसरी बात यह है कि रह-रह कर जो भोग-पिपासा जागृत होती है, जिसके कारण मेरा मन सयम से विचलित हो जाता है, वह अशाश्वत है। इसकी अधिकता यौवन वय तक ही रहती है, उसके बाद तो यह स्वयमेव ढीली पड जाती है। अत मैं इस क्षणिक भोग-पिपासा के चक्कर मे क्यो पडू ! कदाचित् यह भी मान ले कि यह वृद्धावस्था तक पिण्ड नही छोडेगी, तब भी कोई बात नही। मृत्यु के समय तो इसे अवश्य ही हट जाना या मिट जाना पडेगा। आशय यह है कि जब शरीर ही अनित्य है तो भोग-पिपासा कैसे नित्य हो सकती है ! ये वैषयिक सुख या सयमपालन मे उत्पन्न होने वाले दु.ख, दोनो ही अस्थिर-अनित्य हैं। अत नश्वर भोग-पिपासाजनित वैषयिक सुख एव सयमजनित दु ख के कारण अनन्त कल्याणकारी सयम का कथमपि त्याग नही करना चाहिए।

(३) तृतीय गाथा ५५८ मे कहा गया है कि उपर्युक्त चिन्तन के आधार पर जब साधक की आत्मा ऐसा दृढ निश्चय (सकल्प) कर लेती है कि मेरा शरीर भले ही चला जाए, परन्तु मेरे सद्धर्म का अनुशासन (मौलिक नियम) नही जाना चाहिए, अथवा मेरा सयमी जीवन कदापि नहीं जाना चाहिए, क्योकि शरीर (जीवन) छूट जाने पर जीर्ण शरीर के बदले नया सुन्दर शरीर मिल सकता है, परन्तु आध्यात्मिक जीवन की मृत्यु हो जाने के बाद उसे पुन प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। ऐसे दृढनिश्चयी मुनि को चचल इन्द्रियाँ उसी प्रकार धर्मपथ से डिगा कर वैषयिक सुखो मे सुमायमान नही कर सकती, जिस प्रकार प्रलयकाल की प्रचण्ड महावायु पर्वतराज सुमेरु को कम्पायमान नही कर सकती। अत आत्मार्थी मुनि इस प्रकार का दृढ सकल्प करके श्रमणधर्म मे दृढ़ता धारण करके स्वय को विषयवासना के बीहड से अपनी आत्मा को पृथक् रखे।

(४) चतुर्थ चिन्तन एवं प्रेरणा—प्रस्तुत अध्ययन का उपसहार करते हुए ५५९ वी गाथा मे कहा गया है कि बुद्धिमान् साधक इस अध्ययन में उक्त वर्णन पर भलीभाति पूर्वापर विचार करके तथा उसकी ज्ञानादि प्राप्ति के उपायो (साधनो) को जान कर तीन गुप्तियो से गुप्त होकर जिनवचनो (अथवा जिनशासन) पर दृढ रहे अथवा अर्हन्तो मे धर्मोपदेश द्वारा आत्मकल्याण करे। इसका अन्तिम फल मोक्ष-प्राप्ति है।

सारांश—इस अध्ययन मे प्रतिपादित समग्र चिन्तन तथा पूर्वोक्त १८ स्थानो मे प्रतिपादित विचार सयम से डिगते हुए जीवो को पुन सयम मे स्थिर करने वाले हैं।

'अविस्सई' आदि पदों के अर्थ—**अविस्सई**—**अपैष्यति**—अवश्य ही चली जाएगी। **जीवियपज्जवेण**—**जीवितपर्यवेण**—जीवितपर्याय का यहाँ आशय है जीवन का अवसान (मरण)। **किलेसवत्तिणो**—एकान्त क्लेशवृत्ति वाले। अथवा क्लेशमय जीवनवृत्त वाले।

उवेंत वाया—प्रबल वेगपूर्ण गति से आता हुआ प्रचण्ड महावायु।

आय उवायं : आय उपायं—आय का अर्थ है—लाभ—सम्यक् ज्ञान, विज्ञान आदि की प्राप्ति, और उपाय का अर्थ है—उन (ज्ञानादि) को प्राप्त करने के (विनय) आदि साधन। **जिणवयणमहिट्ठिज्जासि**—जिनवचनो का आश्रय ले। भावार्थ यह है कि जिनवचनानुकूल क्रिया करके स्वकार्य सिद्ध करे।

॥ रतिवाक्या : प्रथम चूलिका समाप्त ॥

[॥ ग्यारहवां रतिवाक्या नामक अध्ययन सम्पूर्ण ॥]

बिइया चूलिया : विवित्तचरिया

द्वितीय चूलिका : विविक्तचर्या

[बारसमं अज्झयणं : बारहवाँ अध्ययन]

प्राथमिक

- दशवैकालिक सूत्र की इस द्वितीय चूलिका (चूडा) को दशवैकालिकसूत्र का बारहवाँ अध्ययन भी कुछ आचार्यों ने माना है।
- विविक्त के कई अर्थ हैं—पृथक्, विवेकयुक्त, पवित्र (शुद्ध), स्त्री-पशु-नपुसक से असक्त, विजन (जनसम्पर्क से शून्य), प्रच्छन्न (गुप्त), एकान्त आदि और चर्या का अर्थ है-- आचरण, विचरण, व्यवहार, चारित्र, ज्ञानादि पच-विध आचार। इस प्रकार 'विविक्तचर्या' शब्द अनेक अर्थों को अपने मे समाए हुए है। प्रस्तुत चूलिका के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होना है कि इसका मुख्य प्रतिपाद्य श्रमणनिर्ग्रन्थचर्या है। इसमे श्रमणनिर्ग्रन्थो की बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार की चर्या का निरूपण किया गया है।
- सर्वप्रथम चूलिका के प्रतिपादन की प्रतिज्ञा के बाद दो गाथाओ मे विविक्तचर्या के आन्तरिक स्वरूप, उसके अधिकारी तथा यह अतिकठिन एव दुष्कर होते हुए भी मुमुक्षु के लिए उपादेय है, इसका भलीभाति निरूपण है।
- विश्व का अधिकाश जनसमूह जिस विषयसुखभोग के प्रवाह मे अविवेकपूर्वक बह रहा है, उस प्रवाह मे अन्धानुकरणपूर्वक बहे जाना —अनुस्रोतगमन है। ऐसी गति (चर्या) मे किसी प्रकार की जागृति, विवेक, विचार, बौद्धिक चिन्तन-मनन, हार्दिक अन्तर्निरीक्षण-परीक्षण, आत्मशक्ति के विकास या विज्ञान की खास आवश्यकता नही होती। अन्धा व्यक्ति या विवेकहीन व्यक्ति भी गतानुगतिक परम्परा के सहारे चल सकता है। ऐसे औधिक सज्ञा वाले जीवो की प्राय सभी क्रियाएँ परम्परानुसार-- अधिकाश जनो की देखादेखी--होती रहती है।
- किन्तु कुछ आत्मार्थी जागृत एव साधनाशील व्यक्ति होते हैं, जिनके आन्तरिक चक्षु खुल जाते हैं, जिनके बौद्धिक एव आध्यात्मिक विकासमार्ग मे पडे हुए आवरण दूर हो जाते है, ऐसे जागरूक साधक अपनी आत्मशक्ति का उपयोग अनुस्रोतगामी प्रवाह मे बहाने के बदले प्रतिस्रोतगामी बन कर सासारिक प्रवाह से विपरीत त्याग, तप, सवर, निर्जरा एव कर्ममुक्ति के मार्ग मे करते हैं। अनुस्रोतगामी विषयभोगों की ओर गति करते है, जबकि प्रतिस्रोतगामी विषयभोगो से विरक्त होकर सयम, त्याग, तप, वैराग्य आदि की ओर गति करते हैं। अनुस्रोतगमन संसारमार्ग है, प्रतिस्रोतगमन जन्ममरणमुक्ति रूप मोक्षमार्ग है। यही अनुस्रोत-गामियो से पृथक् उसकी आन्तरिक विविक्तचर्या है, जिसका इस चूलिका में उल्लेख है।

- बाह्यविविक्तचर्या मे भी आहार, विहार, निवास, व्यवहार, भिक्षा, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग त्याग, तप, नियम आदि प्रवृत्तियो मे सासारिक जनो की प्रवृत्तियो से पृथक्, एकान्त-आत्महित-कारी, विवेकयुक्त तथा शास्त्रोक्त मार्ग-सम्मत चर्या का निर्देश किया है।
- प्रतिस्रोतगामी बनने के लिए बाह्य विविक्तचर्या के कुछ निषिद्ध आचरण भी बताए हैं, जैसे—गृहस्थो की वैयावृत्य, वन्दना, पूजा, अभिवादन, ससर्ग, सहनिवास न करना आदि।
- दोनो प्रकार की विविक्तचर्याओ का मुख्य उद्देश्य समस्त दु.खो से मुक्त होना है, जो आत्मा की सतत रक्षा करने से ही सभव है। इससे पूर्व आत्मरक्षा के उत्तम उपाय बताए है।
- कुल मिला कर प्रस्तुत चूलिका मे विविक्तचर्या के सभी पहलुओं का सांगोपाग चिन्तन प्रस्तुत किया गया है।
- इस चूलिका को कोई श्रुतकेवलिभाषित, कोई केवलिभाषित और कोई विहरमान तीर्थंकर सीमधरस्वामी से प्राप्त और एक साध्वी द्वारा श्रुत मानते है।

बिइया चूलिया : विवित्तचारिया

द्वितीय चूलिका : विविक्तचर्या

[बारसमं अज्झयणं : बारहवाँ अध्ययन]

चूलिका - प्रारम्भप्रतिज्ञा, रचयिता और श्रवणलाभ

५६०. चूलियं तु पवक्खामि, सुयं केवलिभासियं ।
जं सुणेत्तु सपुण्णाणं धम्मे उप्पज्जई मई ॥१॥

[५६०] मै उस चूलिका को कहूँगा, जो श्रुत (श्रुतज्ञानरूप या सुनी हुई) है, केवली-भाषित है, जिसे सुन कर पुण्यशाली जीवो की धर्म मे मति (श्रद्धा) उत्पन्न होती है ॥१॥

विवेचन—चूलिका का उद्गम—प्रस्तुत गाथा मे प्रयुक्त चूलिका भावचूला का विशेषण माना गया है, जिसे 'तु' शब्द से ध्वनित किया गया है। अर्थात्—मैं भावचूलारूप चूलिका कहूँगा। इस चूलिका के उद्गम के सम्बन्ध में कुछ मतभेद हैं—(१) वृद्धपरम्परा के अनुसार—यह चूलिका प्रथम विहरमान तीर्थंकर श्री सीमधरस्वामी (केवली) द्वारा भाषित और एक साध्वी द्वारा श्रुत है। (२) चूर्णिद्वय के अनुसार—शास्त्र का गौरव बढ़ाने के लिए कहा गया है कि यह केवली भगवान् द्वारा कथित है। (३) टीकाकार के अनुसार—यह श्रुत—श्रुतज्ञानरूप है और केवलिभाषित है। (४) ऐतिहासिक कसौटी पर इसे कसा जाए तो यह सभावना अधिक पुष्ट होती है कि यह श्रुत-केवलीभाषित (श्रुतकेवली की रचना) है। **'सुयं केवलि-भासियं'** इस पाठ को **'सुय-केवलि-भासियं'** माना जाए तो यही अर्थ होता है। जो भी हो, 'तत्त्व' केवलिगम्यम्।[1]

सपुण्णाणं—सुपुण्णाणं : दो रूप—(१) सपुण्यानाम्—पुण्यसहित जीवो की, (२) सुपुण्यानाम्—उत्तम अर्थात् पुण्यानुबन्धी पुण्य वाले जीवों की।[2]

सामान्यजनों से पृथक् चर्या के रूप में विविक्तचर्यानिर्देश

५६१. अणुसोय-पट्ठिए+ बहुजणम्मि पडिसोयलद्धलक्खेणं ।
पडिसोयमेव अप्पा, दायव्वो होउकामेणं ॥२॥

---

१ (क) तु शब्दविशेषिता भावचूडाम्। श्रयते इति श्रुत त पुण सुतनाण। केवलिय भासितमिति सत्थगोरव-मुप्पायणत्थ भगवता केवलिणा भणित, न जेण केणति। —अ चू, जि चू, पृ ३६८
(ख) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ५२४

२ (क) 'महपुण्णेण सपुण्णो।' —अ च, (ख) सुपुण्यामा कुशलानुबन्धिपुण्ययुक्तानां प्राणिनाम्। —हा वृ, पृ २७९

+ पाठान्तर—पट्ठिअ।

५६२. अणुसोयसुहो लोगो, पडिसोओ आसवो* सुविहियाणं ।
अणुसोओ संसारो, पडिसोओ तस्स उत्तारो ॥३॥

५६३. तम्हा आयारपरक्कमेण संवर-समाहि-बहुलेणं ।
चरिया गुणा य नियमा य, होंति साहूण दट्ठव्वा ॥४॥

[५६१] (नदी के जलप्रवाह मे गिर कर प्रवाह के वेग से समुद्र की ओर बहते हुए काष्ठ के समान) बहुत-से लोग अनुस्रोत (विषयप्रवाह के वेग मे ससार-समुद्र) की ओर प्रस्थान कर रहे (बहे जा रहे) है, किन्तु जो मुक्त होना चाहता है, जिसे प्रतिस्रोत (विषयभोगों के प्रवाह से विमुख-विपरीत होकर सयम के प्रवाह) मे गति करने का लक्ष्य प्राप्त है, उसे अपनी आत्मा को प्रतिस्रोत की ओर (सासारिक विषयभोगो के स्रोत से प्रतिकूल) ले जाना चाहिए ॥२॥

[५६२] अनुस्रोत (विषयविकारो के अनुकूल प्रवाह) ससार (जन्म-मरण की परम्परा) है और प्रतिस्रोत उसका उत्तार (जन्ममरण के पार जाना) है । साधारण ससारीजन को अनुस्रोत चलने मे सुख की अनुभूति होती है, किन्तु सुविहित साधुओ के लिए प्रतिस्रोत आश्रव (इन्द्रिय-विजय) होता है ॥३॥

[५६३] इसलिए (प्रतिस्रोत की ओर गमन करने के लिए) आचार (-पालन) मे पराक्रम करके तथा सवर मे प्रचुर समाधियुक्त हो कर, साधुओ को अपनी चर्या, गुणो (मूल-उत्तरगुणो) तथा नियमों की ओर दृष्टिपात करना चाहिए ॥४॥

विवेचन—अनुस्रोत मार्ग और प्रतिस्रोत मार्ग : क्या, किसके लिए और कैसे ?—प्रस्तुत तीन गाथाओ (५६१ से ५६३ तक) मे अनुस्रोतमार्ग की ओर गमन का निषेध और प्रतिस्रोतमार्ग-गमन का विधान करने के साथ ही दोनो का स्वरूप, उनके अधिकारी और प्रतिस्रोतमार्ग पर कैसे चला जाए ? इसका दिशानिर्देश किया गया है ।

अनुस्रोत और प्रतिस्रोत—स्रोत अर्थात् जलप्रवाह । **अनुस्रोत का अर्थ है**—स्रोत के पीछे-पीछे अथवा स्रोत के अनुकूल । जब जल का बहाव निम्न (नीचे) प्रदेश की ओर होता है, तब उसमे पडने वाली काठ आदि वस्तुएँ उसी बहाव के अनुकूल होकर बहती है । उसे अनुस्रोत-प्रस्थान कहते है । यह द्रव्य-अनुस्रोत है, प्रस्तुत मे द्रव्य-अनुस्रोत की भाति भाव-अनुस्रोत बताया गया है । जैसे अनुस्रोतप्रस्थित काष्ठ की तरह जो सासारिक जन इन्द्रियविषयो के स्रोत-प्रवाह मे बहते जाते हैं, वे अनुस्रोतप्रस्थित है । प्रतिस्रोत का अर्थ है– प्रतिकूलप्रवाह, उलटी दिशा मे बहना । प्रस्तुत मे भाव-प्रतिस्रोत है—शब्दादिविषयो के प्रवाह के प्रतिकूल गमन करना अर्थात्—शब्दादिविषयो से निवृत्त होना । गाथा ५६२ में स्पष्ट बता दिया गया है कि अनुश्रोतगमन ससार का कारण है । यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके ससार के कारण को 'ससार' कहा गया है । **तस्स उत्तारो पडिसोओ**—उस ससार से पार होना अर्थात्—प्रतिस्रोतमगमन मुक्ति का कारण है ।[3]

---

* पाठान्तर—आसमो ।

१. अगस्त्यचूर्णि, जिन. चूर्णि, पृ. ३६१

प्रतिस्रोत के अधिकारी—सुविहियाणं आसवो (आसवी) : पडिसोओ : आशय—सुविहित साधुओ के लिए इन्द्रियविजय (आश्रव) करना अथवा साधुदीक्षारूप आश्रय को स्वीकार करना प्रतिस्रोत है।

होउकामेण के दो अर्थ व्याख्याकारो ने किये हैं—(१) मुक्त होने की इच्छा वाला, अथवा (२) विषयभोगों से विरक्त होकर सयम की आराधना करना चाहने वाला। **'पडिसोअलद्धलक्खेणं'** का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार धनुर्वेद या बाणविद्या मे दक्ष व्यक्ति बालाग्र जैसे सूक्ष्मतम लक्ष्य को बीध देता है, उसी प्रकार विषयभोगो को त्यागने वाला सयम के लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है।[४]

अणुसोयसुहो लोओ : भावार्थ—जिस प्रकार काष्ठ नदी के अनुस्रोत में सरलता से चला जाता है, किन्तु प्रतिस्रोत मे कठिनता से जाता है, उसी प्रकार ससारी जीवो को अनुस्रोतरूप विषयभोगो की ओर ढलना सुखावह लगता है, किन्तु वे इन्द्रियविजयरूप प्रतिस्रोत की ओर सुखपूर्वक गमन नही कर सकते।[५]

विविक्तचर्या का बाह्य रूप—गाथा ५६३ मे विविक्तचर्या के बाह्य रूप की एक झाँकी दी है—'चरिया गुणा य नियमा य।' **चरिया : चर्या** के दो अर्थ इस प्रकार हैं—(१) आगे कही जाने वाली श्रमणभाव-साधिका अनियतवासादिरूप शुद्ध श्रमणचर्या, अथवा (२) मूलोत्तरगुणरूप चारित्र। **गुणा**—(१) मूलोत्तरगुण, (२) अथवा ज्ञानादि गुण, तथा (३) मूलोत्तरगुणो की रक्षा के लिए जो भावनाएँ हैं, वे। तथा **नियमा**—नियम—प्रतिमा (द्वादशविध भिक्षुप्रतिमा) एव विशिष्ट प्रकार के अभिग्रह (सकल्प या प्रतिज्ञा आदि) चर्या, गुण और नियम, ये तीनो मिलकर विविक्तचर्या का बाह्य रूप बनता है।

विविक्तचर्या के पालन के तीन उपाय—प्रस्तुत बाह्य विविक्तचर्या के पालन के लिए शास्त्रकार ने तीन उपाय इसी गाथा मे बताए हैं—(१) **आयारपरक्कमेण**, (२) **संवरसमाहिबहुलेण**, और (३) **तुंति साहूण वट्टव्वा**। तीनों का आशय क्रमश: इस प्रकार है—(१) साधु-साध्वी द्वारा ज्ञानादि पचाचारो मे सतत पराक्रम करने से, अथवा आचार को सतत धारण करने का सामर्थ्य प्राप्त करने से, (२) प्राय: इन्द्रिय-मन सयमरूप सवरधर्म मे चित्त को समाहित—अनाकुल या अप्रकम्प रखने से तथा विविक्तचर्या के पूर्वोक्त तीनो अगो (चर्या, गुण एव नियम) पर प्रतिक्षण दृष्टिपात करते रहने से अथवा इन तीनो को शास्त्रनिर्दिष्ट समय के अनुसार आचरण करने से जिस समय जो क्रिया आसेवन करने योग्य हो, उस समय उसका अवश्य आसेवन करने से) अर्थात्—आगे पर न टालने से या उपेक्षा न करने से।[६]

---

४ णिव्वाणगमणारुहो 'भवितुकामो' होउकामो तेण होउकामेण। आसवो णाम इंदियजओ।
—जि. चू., पृ. ३६९

(ख) दशवै (आचार्य श्री आत्मा.), पृ १०४१

(ग) 'भवितुकामेन'—समारसमुद्रपरिहारेण मुक्ततया भवितुकामेन साधुना, न क्षुद्र-अनाचरितान्युदाहरणीकृत्यासन्मार्ग-प्रवणचेतोऽपि कर्तव्यम, अपित्वागमैकप्रवणेनैव भवितव्यम्। —हारि. वृत्ति

५ दशवै (आचार्य श्री आत्मारामजी म.), पृ. १०४१

६. जिन. चूर्णि, ३७, हारि टीका पृ. २७०

भिक्षा, विहार और निवास आदि के रूप में एकान्त और पवित्र विविक्तचर्या

५६४. अणिएयवासो समुयाणचरिया,
अण्णाय-उंछं पइरिक्कया य।
अप्पोवही कलहविवज्जणा य,
विहारचरिया इसिणं पसत्था ॥ ५ ॥

५६५. अइण्ण-ओमाण-विवज्जणा य,
उस्सन्नदिट्ठाहड - भत्तपाणे।
संसट्ठकप्पेण चरेज्ज भिक्खू,
तज्जायसंसट्ठ जई जएज्जा ॥ ६ ॥

५६६. अमज्ज-मंसासि अमच्छरीया,
अभिक्खणं +निव्विगईगया य।
अभिक्खण काउसग्गकारी,
सज्झायजोगे पयओ हवेज्जा ॥ ७ ॥

५६७. न पडिण्णवेज्जा† सयणाऽऽसणाइं,
सेज्जं निसेज्जं तह भत्तपाणं।
गामे कुले वा नगरे व देसे,
ममत्तभावं न कहिंचि* कुज्जा ॥ ८ ॥

५६८. गिहिणो वेयावडियं न कुज्जा,
अभिवायणं वंदणं पूयणं वा।
असंकिलिट्ठेहि समं वसेज्जा,
मुणी चरित्तस्स जओ न हाणी ॥ ९ ॥

५६९. न या लभेज्जा निउणं सहायं,
गुणाहियं वा गुणओ समं वा।
एक्को वि पावाइ विवज्जयंतो,
विहरेज्ज कामेसु असज्जमाणो ॥ १० ॥

५७०. संवच्छरं वा वि परं पमाणं,
बीयं च वासं न तहिं वसेज्जा।
सुत्तस्स मग्गेण चरेज्ज भिक्खू,
सुत्तस्स अत्थो जह आणवेइ ॥ ११ ॥

पाठान्तर— + निव्विगइ गया। † पडिन्नविज्जा। * कहिं पि।

[५६४] अनिकेत-वास (अथवा अनियतवास), समुदान-चर्या, अज्ञातकुलो से भिक्षा-ग्रहण, एकान्त (विविक्त) स्थान मे निवास, अल्प-उपधि और कलह-विवर्जन, यह विहारचर्या ऋषियों के लिए प्रशस्त है ॥५॥

[५६५] आकीर्ण और अवमान नामक भोज का विवर्जन एव प्राय: दृष्टस्थान से लाए हुए भक्त-पान का ग्रहण, (ऋषियो के लिए प्रशस्त है।) भिक्षु ससृष्टकल्प (ससृष्ट हाथ और पात्र आदि) से ही भिक्षाचर्या करे। (दीयमान वस्तु से दाता के हाथ बर्तन आदि ससृष्ट हो तो) उसी ससृष्ट (हाथ और पात्र) से साधु भिक्षा लेने का यत्न करे ॥६॥

[५६६] साधु मद्य और मास का अभोजी हो, अमत्सरी हो, बार-बार विकृतियो (दूध, दही आदि विगयो) को सेवन न करने वाला हो, बार-बार कायोत्सर्ग करने वाला और स्वाध्याय के लिए (विहित तपरूप) योगोद्वहन में प्रयत्नशील हो ॥७॥

[५६७] (साधु मासकल्पादि की समाप्ति पर उस स्थान से विहार करते समय गृहस्थ को ऐसी) प्रतिज्ञा न दिलाए कि यह शयन (सस्तारक-बिछौना या शयनीय पट्टा, चौकी आदि), आसन, शय्या (उपाश्रय या स्थानक आदि वसति), निषद्या (स्वाध्यायभूमि) तथा भक्त-पान (आहार-पानी) आदि (जब मै लौट कर आऊँ, तब मुझे ही देना। अतएव साधु) किसी ग्राम, नगर, कुल या देश पर, (यहाँ तक कि) किसी भी स्थान पर ममत्वभाव न करे ॥८॥

[५६८] मुनि गृहस्थ का वैयावृत्य न करे (तथा गृहस्थ का) अभिवादन, वन्दन और पूजन भी न करे। मुनि सक्लेशरहित साधुओ के साथ रहे, जिससे (चारित्रादि गुणो की) हानि न हो ॥९॥

[५६९] कदाचित् (अपने से) गुणो मे अधिक अथवा गुणो मे समान निपुण सहायक (साथी) साधु न मिले तो पापकर्मों को वर्जित करता हुआ, कामभोगो मे अनासक्त रहकर अकेला ही विहार (विचरण) करे ॥१०॥

[५७०] वर्षाकाल मे चार मास और अन्य ऋतुओ मे एक मास रहने का उत्कृष्ट प्रमाण है। (अत जहाँ चातुर्मास—वर्षावास किया हो, अथवा मासकल्प किया हो) वहाँ दूसरे वर्ष (चातुर्मास अथवा दूसरे मासकल्प) नही रहना चाहिए। सूत्र का अर्थ जिस प्रकार आज्ञा दे, भिक्षु उसी प्रकार सूत्र के मार्ग से चले ॥११॥

विवेचन—आहार-विहार आदि की विवेकयुक्त चर्या के सूत्र—भिक्षाजीवी, अप्रतिबद्ध-विहारी, पचमहाव्रती, अनासक्त एव निर्ग्रन्थ साधु को आहार, विहार, भिक्षा, निवास, व्यवहार, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि से सम्बन्धित जितनी भी चर्याएँ हैं, वे पूर्णविवेक से युक्त एव शास्त्रोक्त मर्यादा-पूर्वक हो, इस दृष्टि से इन सात गाथाओ (५६४ से ५७० तक) में प्रशस्त विहारचर्या का रूप प्रस्तुत किया गया है।

प्रशस्त विहारचर्या के विभिन्न सूत्रों की व्याख्या—**(१) अणिएयवासो : दो रूप, तीन अर्थ—अनिकेतवास**—निकेत का अर्थ घर है। अर्थात्—भिक्षु को किसी गृहस्थ के घर मे नही रहना चाहिए। इसका फलितार्थ यह है कि उसे स्त्री-पशु-नपु सक आदि से युक्त गृहस्थ के घर में न रह कर

एकान्त, उद्यान, उपाश्रय, स्थानक या शून्यगृह आदि मे रहना चाहिए। ब्रह्मचर्यसुगुप्ति की दृष्टि से भी 'विविक्तशय्या' आवश्यक है।

अनिकेतवास का अर्थ—गृहत्याग भी है। **अनियतवास**—बिना किसी रोगादि कारण के सदा एक ही नियतस्थान में नही रहना। एक ही स्थान पर अधिक रहने से ममत्वभाव का उदय होता है। (२) **समुयाणचरिया आशय**—भिक्षाचर्या उच्च-नीच-मध्यम सभी कुलो से—अनेक घरो से सामुदायिक रूप से करनी चाहिए, क्योकि एक ही घर से आहार-पानी लेने से औद्देशिक आदि दोष लगने की सभावना है। (३) **अन्नाय-उंछ**—पूर्वपरिचित पितृपक्ष और पश्चात्परिचित श्वसुरपक्ष आदि से भिक्षा न लेकर अपरिचित कुलो से प्राप्त भिक्षा। (४) **पाइरिक्कया-प्रतिरिक्तता**—एकान्तस्थान मे निवास, आशय यह है- जहाँ स्त्री-पुरुष, पशु या नपु सक रहते हो वहाँ या भीडभाड वाले स्थान मे न रहना। (५) **अप्पोवही—अल्प उपधि रखना**—वस्त्रादि धर्मोपकरण कम रखना। अल्प-उपधि से प्रतिलेखन करने मे समय कम लगता है, ममत्वभाव भी घटता है और परिग्रहवृद्धि नही होती। (६) **कलह-विवज्जणा : कलहवर्जन**—कलह मे शान्ति भग होती है, रागद्वेषवृद्धि, कर्मबन्ध तथा लोगो मे धर्म के प्रति घृणाभाव होता है। **विहारचर्या : भावार्थ**—विहारचर्या का अर्थ यहाँ टीका और जिनदासचूर्णि मे मासकल्पादि पादविहार की चर्या किया है, किन्तु अगस्त्यचूर्णि के अनुसार विहारचर्या यहाँ समस्तचर्या—साधु की क्रिया मात्र का सग्राहक है। (७) **आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा—आकीर्ण-अवमान-विवर्जना** · आकीर्ण और अवमान, ये दो प्रकार के भोज हैं। आकीर्ण भोज वह है, जिसमे बहुत भीड हो। आकीर्ण भोज मे अत्यधिक जनसमूह होने से साधु को धक्का-मुक्की होने के कारण हाथ-पैर आदि मे चोट लगने की सभावना है। अनेक स्त्री-पुरुषो के यातायात से मार्ग खचाखच भरा होने मे स्त्री आदि का सघट्टा हो सकता है। **अवमानभोज** वह है, जिसमे गणना से अधिक खाने वालो की उपस्थिति होने से भोजन कम पड जाए। अवमानभोज से भोजन लेने पर भोजकार को अतिथियो के लिए दुबारा भोजन बनाना पडता है, अथवा भोजकार साधु को भोजन देने मे इन्कार कर देता है, अथवा स्वपरपक्ष की ओर से अपमान होने की सम्भावना है। अनेक दोषो की सभावना के कारण आकीर्ण और अवमान भोज मे जाना साधु के लिए वर्जित है। (८) **ओसन्न-दिट्ठाहड-भत्तपाणे—उत्सन्न-दृष्टाहृत-भक्तपान**—उत्सन्न का अर्थ है—प्राय। दिट्ठाहड का अर्थ है—दृष्टस्थान से लाए हुए आहार-पानी को ग्रहण करना। इसकी मर्यादा यह है कि तीन घरो के अन्तर से लाया हुआ आहार-पानी हो, वह ग्रहण करे, उससे आगे का नही। जहाँ से आहार-पानी दाता द्वारा लाया जाता है, उसे देखने के दो प्रयोजन हैं—(१) गृहस्थ अपनी आवश्यकता की वस्तु तो नही दे रहा है? (२) वह आहार किसी दोष से युक्त तो नही है? (९) **संसट्ठकप्पेण-इत्यादि पंक्ति का भावार्थ**—अचित्त वस्तु से लिप्त हाथ और भाजन (बर्तन) से आहार लेना ससृष्टकल्प कहलाता है। क्योकि यदि दाता सचित्त जल मे हाथ और बर्तन को धोकर भिक्षा देता है, तो पुराकर्म दोष और यदि वह देने के तुरत बाद बर्तन या हाथ धोता है तो पश्चात्कर्मदोष लगता है और सचित्त वस्तु से ससृष्ट हाथ और बर्तन से देता है तो जीव की विराधना का दोष लगता है। इसलिए आगे कहा गया है—हाथ और पात्र तज्जातससृष्ट हो उसी से आहार-पानी लेने का प्रयत्न करना चाहिए। तज्जात का अर्थ है—देयवस्तु के समानजातीय वस्तु से लिप्त।[८]

---

७. दशवै. (आचार्य श्री आत्मारामजी म), पृ १०४४

८ (क) आइण्णमि अन्नत्थं आइन्न राजकुल-सखडिमाइ, तत्थ महाजण-विमद्दो पविसमाणस्स हत्थपादादिलूसण-

उत्तरगुणरूप चारित्र की चर्या—(१) **अमज्जमंसासिणो—अमद्य-मांसाशी**—साधु मद्य और मास का सेवन न करे, क्योंकि दोनो पदार्थ अनेक जीवो की, उत्पत्ति और विनाश के कारण हैं तथा इनसे बुद्धि भ्रष्ट होती है। (२) **अमच्छरी—अमत्सरी**—किसी से मत्सर—डाह या ईर्ष्या न करने वाला हो। (३) **अभिक्खणं निव्विगइं गया**—बार-बार विकृतिकारक घी, दूध, मिष्टान्न आदि पौष्टिक पदार्थों के सेवन से मादकता, आलस्य, मतिमन्दता आदि की वृद्धि होती है, रसलोलुपता जागती है। (४) **अभिक्खणं काउसग्गकारी**—प्रतिदिन पुन पुन. कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग से शरीर के प्रति ममत्व घटता है, देहाध्यास घटाने का अभ्यास होता है, शरीर से सम्बन्धित चिन्ताएँ नही सताती। ध्यान से आत्मिक शक्ति, मनोबल एव आत्मशुद्धि होती है। (५) **सज्झायजोगे पयओ हवेज्जा**—स्वाध्याय और उसके योगोद्वहन मे प्रयत्नशील हो। स्वाध्याय से ज्ञानवृद्धि, आत्मविकास एव आत्मशुद्धि के लिए चिन्तन-मनन-आलोचन आदि की जागृति होती है। चित्त मे स्थिरता, समता और वीतरागता का भाव जागता है। स्वाध्याय के साथ योग अर्थात् योगोद्वहन—आचाम्ल आदि का एक विशेष तपोऽनुष्ठान आवश्यक है। इससे बौद्धिक निर्मलता, आत्मशुद्धि और चित्त की स्थिरता बढती है, इन्द्रियाँ दुर्विषयों की ओर प्राय नही दौडती।[९] (६) **ण पडिन्नविज्जा इत्यादि गाथा**—का निष्कर्ष यह है कि साधु किसी भी खाद्यवस्तु, उपकरण, शय्या, स्थान, देश, नगर, ग्राम आदि मे ममता-मूर्च्छा, आसक्ति या लालसा न रखे, अन्यथा ममत्व भाव से परिग्रहमहाव्रत भग हो जाएगा।[१०] (७) **गिहिणो वेयावडिय आदि पंक्ति का रहस्य**—मुनि को किसी भी गृहस्थ का वैयावृत्य (प्रीतिजनक उपकार—उसका व्यापार आदि कार्य) करना, या उसकी सेवाभक्ति करना तथा अभिवादन, वन्दन, पूजन करना चाहिए। इससे गृहस्थ के साथ अत्यधिक ससर्ग बढता है। (८) **असंकिलिट्ठेहिं सम्मं वसिज्जा : आशय**—जो मुनि सब प्रकार से सक्लेशो से रहित हैं, उत्कृष्ट-चारित्री हैं, उन्ही के साथ या ससर्ग मे रहना चाहिए, जिससे ज्ञानादि गुणो की वृद्धि हो, हानि न हो।[११] (९) **निपुण साथी न मिलने पर एकाकी विहार का निर्देश**—प्रस्तुत गाथा (५९६) का तात्पर्य यह है कि कदाचित् काल-दोषवश अथवा गुरु या साथी साधु के वियोग के कारण सयमानुष्ठान मे कुशल, परलोकसाधन मे सहायक, अपने से ज्ञानादि गुणो मे अधिक या समान कोई मुनि साथी के रूप मे न मिले तो मुनि को अकेले विचरण करना उचित है, किन्तु भूल कर भी शिथिलाचारी, सक्लेशी,

---

भाणभेदाई दोसा।' ओमाण-विवज्जण नाम अवम-ऊण अवमाण, ओमो वा मोणा जत्थ सभवइ त ओमाण। —जि चू, पृ ३७१

(ख) अवमान स्वपक्ष-परपक्षप्राभृत्यज लोकाबहुमानादि अवमाने अलाभाद्याकर्मादिदोषात्। इद चोत्सर्ग-दृष्टाहृत यत्नोपयोग शुद्धयति त्रिगृहान्तरादारात इत्यर्थ। —हा. वृ, पत्र २८

(ग) दशवै. (संतबालजी), पृ. १५९

(घ) तज्जायसद्दुमिति जातसद्दो प्रकारवाची, तज्जात तथाप्रकार। —अ. चू.

(ङ) तज्जातेन देयद्रव्याऽविरोधिना यत्ससृष्ट हस्तादि। —स्था ५।१ वृत्ति।

(च) दसवेयालिय (मु नथ.), पृ. ५२८

९ दशवैकालिक (आचार्यश्री आत्मारामजी म), पृ. १०४८

१० वही, पृ. १०५०

११. वही, पृ. १०५१

प्रपंची या भ्रष्टाचारी साधु के साथ नही रहना या विचरना चाहिए, क्योकि शिथिलाचारी के साथ रहने से चारित्रधर्म की हानि, समाज में अप्रतीति, अप्रतिष्ठा, अश्रद्धा उत्पन्न होती है। अयोग्य साधु के साथ रहने से हानि ही हानि है। परन्तु एकाकी विचरण करने वाले मुनि के लिए दो बातें शास्त्रकारो ने अकित की हैं—(१) कठिन से कठिन सकट-प्रसग में भी पापकर्मों से दूर रहे, उनका स्पर्श न होने दे तथा (२) काम-भोगो के प्रति जरा भी आसक्ति न रखे। इस गाथा मे आपवादिक स्थिति में अकेले विचरण की चर्चा है। जो साधु रसलोलुप, सुविधावादी, निरकुश या अपनी उग्रप्रकृतिवश स्वच्छन्दाचारी होकर आचार्य के अनुशासन की अवहेलना करके अकेले विचरण करते हैं, उनके लिए शास्त्रकार अकेले विचरण की आज्ञा नही दे रहे है। एकाकी विचरण को कठिन शर्तों के साथ उसकी अवधि भी अल्प ही है, वह भी तब तक जब तक वैसा निपुण सहायक-साथी न मिले।[१२] (१०) **चातुर्मास एवं मासकल्प में निवास की चर्या**—प्रस्तुत ५७० वी गाथा मे चातुर्मास एव मासकल्प की मर्यादा बताई है। मुनि के लिए वर्ष भर के काल को दो भागो मे बाँटा गया है—चातुर्मास्यिकाल एव ऋतुबद्धकाल। इसीलिए यहाँ उसे 'सवच्छर' (सवत्सर) कहा गया है। मुनि चातुर्मास्यिकाल मे ४ मास और शेष ८ मास के ऋतुबद्धकाल मे उत्कृष्ट १-१ मास तक एक स्थान पर रहता है। यहाँ बतलाया गया है कि जहाँ उत्कृष्ट काल तक वास किया हो, वहाँ दूसरी या तीसरी बार वास नही करना चाहिए। तीसरी बार का यहाँ स्पष्ट उल्लेख नही है, किन्तु 'चकार' के द्वारा यह अर्थ अध्याहृत होता है। तात्पर्य यह है कि जहाँ मुनि चातुर्मास करे, वहाँ दो चातुर्मास अन्यत्र किए बिना चातुर्मास न करे और जहाँ मुनि एक मास रहे, वहाँ दो मास अन्यत्र बिताए बिना न रहे।[१३] (११) **सुत्तस्य मग्गेण चरेज्ज०** इत्यादि **पंक्ति का भावार्थ**—यहाँ तक सूत्रोक्त उत्सर्ग और अपवाद को दृष्टि में रख कर साधुवर्ग की विशिष्ट विविक्तचर्या का उल्लेख किया गया है। फिर भी अनेक चर्याओ का यहाँ उल्लेख नही है। उनके विषय मे अतिदेश करते हुए शास्त्रकार कहते है—शेष चर्याओ के विषय मे सूत्र मे उत्सर्ग और अपवादरूप अर्थ (चर्या) की जिस प्रकार से आज्ञा हो, उसी प्रकार से सूत्रोक्तमार्ग से चलना चाहिए, स्वच्छन्द-वृत्ति के अनुसार नही, क्योकि सूत्रोक्त मार्ग से चलने वाला साधु आज्ञा का आराधक होता है। सूत्र के भावों को सम्यक् प्रकार से सोच-समझ कर जो साधु-साध्वी चलते हैं,[१४] वे अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेते हैं। इस प्रकार मुख्य विविक्तचर्याओ के सम्बन्ध मे यहा तक चर्चा की गई है।

एकान्त आत्मविचारणा के रूप में विविक्तचर्या

५७१. जो पुव्वरत्तावरत्तकाले,
संपेक्खई + अप्पगमप्पएणं।
किं मे कडं, किं च मे किच्चसेसं ?
किं सक्कणिज्जं न समायरामि ? ॥१२॥

---

१२. (क) दसवै. (आचार्यश्री आत्मारामजी म) पृ. १०५३-५४ (ख) दसवे. (मु. नथ), पृ ५३०
१३. दसवे. (मुनि नथमलजी), पृ. ५३१ १४. दशवै. (आ आत्मारामजी म), पृ. १०५५
+ पाठान्तर—संपेहए, संपेहइ, संपिक्खइ।

५७२. किं मे परो पासइ, किं#व अप्पा ?
किं वाहं खलियं न विवज्जयामि ?
इच्चेव सम्मं अणुपासमाणो,
अणागयं नो पडिबंध कुज्जा ।। १३ ।।

५७३. जत्थेव पासे कई दुप्पउत्तं,
काएण वाया अदु माणसेणं ।
तत्थेव धीरो पडिसाहरेज्जा,+
आइन्नओ* खिप्पमिव क्खलीणं ।। १४ ।।

५७४. जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स,
धिईमओ सप्पुरिसस्स निच्चं ।
तमाहु लोए पडिबुद्धजीवी,
सो जीवइ□ संजय-जीविएणं ।। १५ ।।

५७५ अप्पा खलु सययं रक्खियव्वो,
सव्विंदिएहिं सुसमाहिएहिं ।
अरक्खिओ जाइपहं उवेइ,
सुरक्खिओ सव्वदुहाण मुच्चइ ।। १६ ।।
—त्ति बेमि ।।

।। विवित्तचरिया : बिइया चूलिया समत्ता ।।

[बारसम विवित्तचरिया णामऽज्झयणं समत्तं]

।। दसवेयालियं समत्तं ।।

[५७१-५७२] जो साधु रात्रि के प्रथम प्रहर और पिछले (अन्तिम) प्रहर में अपनी आत्मा का अपनी आत्मा द्वारा सम्प्रेक्षण (सम्यक् अन्तर्निरीक्षण) करता है कि—मैने क्या (कौन-सा करने योग्य कृत्य) किया है ? मेरे लिए क्या (कौन-सा) कृत्य शेष रहा है ? वह कौन-सा कार्य है, जो मेरे द्वारा शक्य है, किन्तु मैं (प्रमादवश) नही कर रहा हूँ ? ।।१२।।

क्या मेरी स्खलना (भूल या प्रमाद) को दूसरा कोई देखता है ? अथवा क्या अपनी भूल को मैं स्वय देखता हूँ ? अथवा कौन-सी स्खलना मै नही त्याग रहा हूँ ? इस प्रकार आत्मा का सम्यक् अनुप्रेक्षण (अन्तर्निरीक्षण) करता हुआ मुनि अनागत (भविष्यकाल) मे (किसी प्रकार का दोषात्मक) प्रतिबन्ध न करे ।।१३।।

पाठान्तर—# च । + पडिसाहरिज्जा । * आइण्णो । □ जीअइ ।

[५७३] जहाँ (प्रतिलेखन, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि जिस क्रिया में) भी तन से, वाणी से अथवा मन से (अपने आपको) दुष्प्रयुक्त (प्रमादपूर्वक-प्रवृत्त) देखे, वहीं (उसी क्रिया मे) धीर (साधक स्वय शीघ्र) सम्भल जाए, जैसे जातिमान् अश्व लगाम खीचते ही शीघ्र सभल जाता है ।।१४।।

[५७४] जिस जितेन्द्रिय, धृतिमान् सत्पुरुष के योग (मन-वचन-काया का योग) सदा इस प्रकार के रहते हैं, उसे लोक मे प्रतिबुद्धजीवी कहते हैं। वह प्रतिबुद्धजीवी ही (वास्तव में सयमी जीवनयापन करता है ।।१५।।

[५७५] समस्त इन्द्रियो को सुसमाहित करके आत्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए, (क्योकि) अरक्षित आत्मा जातिपथ (जन्म-मरण-परम्परा) को प्राप्त होता है और सुरक्षित आत्मा सब दु खो से मुक्त हो जाता है ।।१६।। —ऐसा मैं कहता हूँ ।।

विवेचन—आत्मानुशासन—चर्या के सूत्र—प्रस्तुत पाच गाथाओ (५७१ से ५७५ तक) मे आत्मा का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने तथा अपने मन-वचन-काया को आत्मा के अनुशासन मे रखने और आत्मा की सब प्रकार से सदैव सतत रक्षा करने का निर्देश किया गया है।

आत्मनिरीक्षण--आत्मार्थी मुनि शान्त चित्त से रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में अन्तर की गहराई मे डूब कर एकान्त मे, अकेले मे, केवल अपनी आत्मा के साथ वार्तालाप करे—मैं कौन हूँ ? मैंने इस जीवन मे अथवा आज कौन-कौन-से शुभकार्य किये है ? तप, जप, सेवा, ध्यान, आदि कौन-कौन-से कार्य करने बाकी है ? तथा ऐसे कौन-कौन-से शुभकार्य हैं, जिनके करने की मुझ मे शक्ति तो है, किन्तु मैं प्रमादवश उन्हे क्रियान्वित नही कर रहा हूँ ? इसके पश्चात् एकाग्र होकर फिर विचार करे कि मैं अपने गृहीत व्रतो, नियमोपनियमो तथा सयमाचार की मर्यादाओ से स्खलित होता हूँ, तब स्व-पर-पक्ष के लोग मुझे किस दृष्टि से देखते हैं ? तथा इस आत्मकल्याण के पक्ष से स्खलित होने पर क्या मैं अपने आपका अन्तर्निरीक्षण करता हूँ ? यह कार्य करना मेरे लिए उचित नही है, क्या मै इस प्रकार से विचार करता हूँ ? और अपनी भूल या स्खलना को छोड देता हूँ ? अथवा कौन-सी ऐसी स्खलना या त्रुटि है, जिसे मैं छोड नही रहा हूँ ? मेरी असमर्थता का क्या कारण है ? इस प्रकार से साधु-साध्वी प्रतिदिन नियमित रूप से अपना अन्त-निरीक्षण करे। ऐसा करने से आत्मशक्ति एव स्वकर्त्तव्य का भान होता है, भ्रम का पर्दा दूर होता है, आलस्य एव प्रमाद के स्थान पर पुरुषार्थ एव आत्मजागरण बढता है तथा पाप-मल दूर होने मे निजात्मा की शुद्धि होती है, आत्मशक्ति बढती और अन्त मे ससार की जन्ममरणपरम्परा से मुक्ति मिलती है। आत्मनिरीक्षण करने के पश्चात् मनुष्य अपनी भूल को सुधारने के लिए भी प्रयत्नशील होता है। अत्यन्त सावधानी से अपनी सूक्ष्म भूल का भी विचार करने से भविष्य मे किसी प्रकार का दोष न लगाने या वैसी भूल न करने की सावधानी रखना है। अथवा **'अणागयं पडिबंधं न कुज्जा'** का भावार्थ यह भी हो सकता है कि वह अपने दोषो (भूलो) को तत्काल सुधारने में लग जाए, भविष्य पर न टाले कि मैं इस भूल को कल, परसो या महीने बाद सुधार लूगा। यही **'अनागत प्रतिबन्ध न करे'** का आशय प्रतीत होता है। जब कभी कोई भूल हो, उसे उसी दिन या शीघ्र ही स्मरण करके उससे निवृत्त होने का प्रयत्न करे तथा भविष्य मे वैसी भूल न करने

के लिए सावधान रहे। स्खलित होना बुरा है किन्तु इससे भी बुरा है स्खलित होकर फिर सभलने की चेष्टा न करना। इसीलिए अगली गाथा (५७३) मे इसी प्रकार की प्रेरणा दी गई है कि मन-वचन-काया से जिस किसी विषय मे अपने-आप का कुमार्ग पर जाता हुआ देखे कि धैर्यवान् साधक तुरन्त अपने-आप को पीछे हटा ले, शीघ्र ही स्वय सभल जाए। जिस प्रकार जातिमान घोड़ा लगाम खीचते ही विपरीत मार्ग से पीछे हट जाता है, सभल कर सन्मार्ग पर चलने लगता है।[१५]

प्रतिबुद्धजीवी : लक्षण और उपाय—गाथा ५७५ मे यह बताया गया है कि जो स्पर्श आदि पाचो इन्द्रियों को अपने वश मे करके जितेन्द्रिय बन गया है तथा हृदय में सयम के प्रति अदम्य धैर्य से युक्त है तथा जिसके मन, वचन और काययोग सदैव वश मे रहते हैं, जो सतत अप्रमत्त रहकर अपने-आप को त्रियोग मे से किसी योग से स्खलित होता हुआ देखता है तो शीघ्र ही सभल जाता है और उस दोष से अपने को पृथक् कर लेता है। यही प्रतिबुद्धजीवी का लक्षण है, जो भारण्डपक्षी की तरह सदैव अप्रमत्त रहता है तथा सदैव सयमी जीवन जीता है।[१६]

आत्म-रक्षाचर्या—गाथा ५७५ मे आत्मा की सतत रक्षा करने का निर्देश किया है। कुछ लोग देहरक्षा को मुख्य मानते हैं। उनका मानना है कि आत्मा की परवाह न करके भी शरीर की रक्षा करनी चाहिए, क्योकि शरीर आत्मसाधना करने का साधन है। किन्तु यहाँ इस मान्यता का खण्डन करके आत्मरक्षा को ही सर्वोपरि माना है। साधु-साध्वी को महाव्रत के ग्रहणकाल से लेकर मृत्युपर्यन्त प्रतिक्षण प्रतिपल सावधानीपूर्वक सदैव आत्मरक्षा मे लगे रहना चाहिए। प्रश्न हो सकता है—आत्मा तो कभी मरती नही फिर उसकी रक्षा का विधान क्यो ? इसका उत्तर आचार्यो ने स्पष्टत. दिया है कि यहाँ आत्मा से ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चारित्रात्मा और वीर्यात्मा का अथवा सयमात्मा (सयमीजीवन) का ग्रहण अभीष्ट है। ज्ञानात्मा आदि की, अथवा सयमात्मा की सतत रक्षा करनी चाहिए। सयमात्मा की रक्षा क्यो करनी चाहिए ? इसका उत्तर है—सुरक्षित की हुई आत्मा ही शारीरिक एव मानसिक समस्त दु खो से मुक्त होकर अनन्त मोक्षसुख को प्राप्त होती है। इसके विपरीत जो आत्मा अरक्षित रहती है, वह एकेन्द्रिय आदि नानाविध जातियो (जन्म-मरण) के पथ की पथिक बनती है, जहाँ वह अनेकानेक असह्य दु ख भोगती है। आत्मारक्षा होती है—समस्त इन्द्रियों को सुसमाहित करने से अर्थात्—उनकी वहिर्मुखी (विषयोन्मुखी) वृत्ति को रोक कर, इन्द्रियो के विषय-विकारो से निवृत्त होकर आत्मा की परिचर्या मे समाहित—एकाग्र करने से।[१७]

॥ विविक्तचर्या : द्वितीय चूलिका समाप्त ॥

[बारहवाँ : विविक्तचर्या नामक अध्ययन समाप्त]

॥ दशवैकालिकसूत्र सम्पूर्ण ॥

---

१५. दशवै (आचार्यश्री आत्मारामजी म.), पृ. १०५७ से १०६० के आधार पर

१६ वही, पृ. १०६१-१०६२

१७. (क) दसवेयालिय (मुनि नथमलजी), पृ ५ (ख) दशवै (आ आत्मा.) पृ. १०६३

प्रथम परिशिष्ट

दशवैकालिकसूत्र का सूत्रानुक्रम

सूत्र का आदि	सूत्रसंख्या	सूत्र का आदि	सूत्रसंख्या
अइभूमिं न गच्छेज्जा	१०६	अत्तट्ठगुरुओ	२४५
अईयम्मि य कालम्मि जत्थ (तृ च)	३४०	अत्थगयम्मि आइच्चे	४१६
अईयम्मि य कालम्मि निस्सकिय (तृ च)	३४१	अदीणो वित्तिमेसेज्जा	२३९
अईयम्मि य कालम्मी जमट्ठ (तृ च)	३३९	अधुव जीविय नच्चा	४२२
अकाले चरसि भिक्खू	२१८	अनिलस्स समारभ	२९९
अगुत्ती बभचेरस्स	३२१	अनिलेण न वीए, न वीयावए	५२३
अग्गल फलिह दार	२२२	अन्नट्ठ पगड लेण	४३९
अजय आसमाणो उ	५७	अन्नाय उछ चरई विसुद्ध	४९५
अजय चरमाणो उ	५५	अपुच्छिओ न भासेज्जा	४३४
अजय चिट्ठमाणो उ	५६	अप्पग्घे वा महग्घे वा	३७७
अजय भासमाणो उ	६०	अप्पणट्ठा परट्ठा वा कोहा	२७४
अजय भु जमाणो उ	५९	अप्पणट्ठा परट्ठा वा सिप्पा ...	४८१
अजय सयमाणो उ	५८	अप्पत्तिय जेण सिया	४३५
अजीव परिणय णच्चा	१९०	अप्पा खलु सयय रक्खियव्वो	५७५
अज्जए पज्जए वा वि	३४९	अप्पे सिया भोयणजाए	१८७
अज्ज याऽह गणी होतो ...	५५०	अबभचरिय घोर	२७८
अज्जिए पज्जिए वा वि	३४६	अभिगम चउरो समाहिओ	५१९
अट्ट सुहुमाइ पेहाए	४०१	अभिभूय काएण परीसहाइ	५३४
अट्ठावए य नाली य ...	२०	अमज्जमसासि अमच्छरीया	५६६
अणायय णे चरतस्स	९२	अमरोवम जाणिय सोक्खमुत्तम	५५२
अणायार परक्कम्म	४२०	अमोह वयण कुज्जा	४२१
अणिएयवासो समुयाणचरिया	५६४	अरस विरस वावि	२११
अणुन्नए नावणए	९५	अल पासायखभाण	३५८
अणुन्नवेत्तु सुमेहावी	१९६	अलोलुए अक्कुहए अमायी	५०१
अणुसोयपट्ठिए बहुजणम्मि	५६१	अलोलो भिक्खू न रसेसु गिद्धे	५३७
अणुसोयसुहो लोगो	५६२	अवण्णवाय च परम्मुहस्स	५००
अतितिणे अचवले	४१७	असइ वोसट्ठ-चत्तदेहे	५३३
		असथडा इमे अबा	३६४

असंसट्ठेण हत्थेण १३२
असंसत्त पलोएज्जा १०५
असच्चमोस सच्च च ३३४
असणं पाणग वा वि··· १५४, १५६, १५८, १६०, १६२, १६४, १६६, १६८, १७०, १७२, १७४, १७६

अह कोइ न इच्छेज्जा २०९
अह च भोगरायस्स १३
अहावरे चउत्थे भते ! महव्वए ८ ४५
अहावरे छट्ठे भते ! वए ८ ४७
अहावरे तच्चे भते ! महव्वए × ४४
अहावरे दोच्चे भते ! महव्वए × ४७
अहावरे पचमे भते ! महव्वए ८ ४४
अहो ! जिणेहिं असावज्जा २०५
अहो ! निच्च तवोकम्म २८५
अग—पच्चगसठाण ४४५
अजणगतेण हत्थेण १२३
'अतलिक्खे' त्ति ण बूया ३८४
आइण्ण-ओमाण-विवज्जणा य ५६५
आउकाय न हिंसति २९२
आउकाय विहिंसतो २९३
आउक्कातिए जीवे ण सद्दहति + गा-२
आउक्कातिए जीवे सद्दहती + गा-८
आ ऊ चित्तमतमक्खाया + ३६
आभोएत्ताण निस्सेस २०२
आयरिए आराहेइ २५८
आयरिए नाऽऽराहेइ २५३
आयरियऽग्गिमिवाऽऽहियग्गी ४९२
आयरियपाया पुण अप्पसन्ना ४६१
आयारप्पणिहि लद्धु ३८९
आयार-पण्ण त्तधर ४३७
आयारमट्ठा विणय पउजे ४९३
आयावयति गिम्हेसु २८
आयावयाही चय सोगुमल्ल १०
आलवंते लवते वा + ४८७
आलोय थिग्गल दार ९७
आसण सयण जाण ३६०
आसदी-पलियकेसु ३१६
आसीविसो यावि पर सुरुट्ठो ४५६
आहरती सिया तत्थ ११०
ओगाहइत्ता चलइत्ता ११३
इच्चेयाइ पच महव्वयाइ राईभोयण + ४८
इच्चेसि छण्ह जीवनिकायाणं + ४१
इच्चेय छज्जीवणिय ·· ८२
इच्चेव सपस्सिय बुद्धिम नरो ५५९
इत्थिय पुरिस वावि २४२
इमस्स ता नेरइयस्स जतुणो ५५६
इमा खलु सा छज्जीवणिया × ३४
इमे खलु ते थेरेहि भगवतेहि चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा ८ ५०९
इह खलु भो ! पव्वइएण उप्पन्नदुक्खेण ८ ५४२
इहलोग-पारत्तहिय ४३१
इहेवऽधम्मो अयसो अकित्ती ५५४
इगाल अगणि अच्चि ३९६
इगाल छारिय रासि ८९
उक्कुडुगतेण हत्थेण १३१
उग्गम से पुच्छेज्जा १५३
उच्चार पासवण खेल ४०६
उज्जुप्पण्णो अणुव्विग्गो २०३
उदओल्ल अप्पणो काय ३९५
उदओल्ल बीयसमत्त २८७
उदओल्लेण हत्थेण ११५
उद्देसिय १ कीयगड २ नियाग ३ १८
उद्देसिय कीयगड पूईकम्म १५२
उप्पन्न नाइहीलेज्जा २१२
उप्पल पउम वावि सलुचिया (च च) २२७

८ इस चिह्न से अकित सूत्र गद्य-पाठात्मक है।
+ ये गाथाएँ अधिकपाठात्मक हैं। —स.

उप्पल पउम वावि सम्मद्दिया (च. च.)	२२९	कुक्कुसगतेण हत्थेण	१३०
उवसमेण हणे कोह	४२६	कोह माण च माय च	४२४
उवहिम्मि अमुच्छिए अगढिए	५३६	कोहो पीइ पणासेइ	४२५
ऊसगतेण हत्थेण	११९	कोहो य माणो य अणिग्गहीया	४२७
एएणऽनेण अट्ठेण	३४४	खवित्ता पुव्वकम्माइ	३१
एगतमवक्कमित्ता अचित्त	१९४	खवेंति अप्पाणममोहदंसिणो	३३०
एगतमवक्कमित्ता अच्चित्त	१९९	खुह पिवास दुस्सेज्ज	४१५
एसेए समणा मुत्ता	३	गहणेसु न चिट्ठेज्जा	३९९
एय च अट्ठमन्न वा	३३५	गभीरविजया एए	३१८
एय च दोस दट्ठूण अणुमाय	२६२	गिहिणो वेयावडिय जा य	२२
एय च दोस दट्ठूण सव्वाहार	२८८	गिहिणो वेयावडिय न कुज्जा	५६८
एयारिसे महादोसे	१८२	गुणेहि साहू, अगुणेहऽसाहू	५०२
एलग दारग साण	१०४	गुरुमिह सयय पडियरिय	५०६
एव आयारपरक्कमेण	५६३ पा	गुव्विणीए उवस्सत्थ	१३६
एव करेंति संबुद्धा	१६	गेरुयगतेण हत्थेण	१२५
एव तु अगुणप्पेही	२५४	गोयरग्ग-पविट्ठस्स	३१९
एव तु गुणप्पेही	२५७	गोयरग्ग-पविट्ठो उ न	२२१
एव धम्मस्स विणओ मूल	४७०	गोयरग्ग-पविट्ठो उ वच्च मुत्त न	१०१
एवमाई उ जा भासा	३३८	चउण्ह खलु भासाण	३३२
एवमेयाणि जाणित्ता	४०४	चउव्विहा खलु आयारसमाही×	५१७
ओगाहइत्ता चलइत्ता	११३ पा	चउव्विहा खलु तवसमाही×	५१५
ओवाय विसम खाणु	८६	चउव्विहा खलु विणयसमाही×	५११
कण्णसोक्खेसु सद्देसु	४१४ पा	चउव्विहा खलु सुयसमाही×	५१३
कण्णसोक्खेहि सद्देहि	४१४	चत्तारि वमे सया कसाए	५२६
कयराइ अट्ठमुहमाइ ?	४०२	चित्तभित्ति न निज्झाए	४४२
कयरा खलु सा छज्जीवणिया+	३३	चित्तमतमचित्त वा	२७६
कयरे खलु ते थेरेहि भगवतेहि+	५०८	चूल्लिय तु पवक्खामि	५६०
कविट्ठ माउलिंग च	२३६	जइ त काहिसि भाव	१४
कह चरे ? कह चिट्ठे ?	६१	जत्थ पुप्फाइ बीयाइ	१०३
कह नु कुज्जा सामण्ण ?	६	जत्थेव पासे कई दुप्पउत्त	५७३
कद मूल पलंब वा	१८३	जय चरे जय चिट्ठे	६२
कसेसु कसपाएसु	३१३	जया ओहाविओ होइ	५४४
काल छदोवयारं च	४८८	जया कम्म खवित्ताण	७९
कालेण निक्खमे भिक्खू	२१७	जय गइ बहुविह	६९
कि पुण जे सुयग्गाही	४८४		
कि मे परो पासइ ? कि व अप्पा !	५७२		

× इस चिह्न से अंकित सूत्र गद्यपाठात्मक है।

जया चयइ सजोगं	७२	जावंति लोए पाणा	२७२
जया जीवमजीवे य	६८	जिणवयणरए अतितिणे	५१८
जया जोगे निरु भित्ता	७८	जुवगवेत्ति ण बूया	३५६
जया धुणइ कम्मरयं	७५	जे आयरिय-उवज्झायाणं	४८०
जया निव्विंदए भोए	७१	जेण बंधं वह घोरं	४८२
जया पुण्णं च पावं च	७०	जे न वंदे, न से कुप्पे	२४३
जया मुंडे भवित्ताणं	७३	जे नियाग ममायति	३११
जया य चयई धम्मं	५४३	जे माणिया सययं माणयति	५०४
जया य थेरओ होइ	५४८	जे य कंते पिए भोए	८
जया य पूइमो होइ	५४६	जे य चंडे मिए थद्धे	४७१
जया य माणिमो होइ	५४७	जे यावि चंडे मइ-इड्ढि-गारवे	४९०
जया य वंदिमो होइ	५४५	जे यावि नागं डहरेत्ति नच्चा	४५५
जया लोगमलोगं च	७७	जे यावि मंदेत्ति गुरुं विदित्ता	४५३
जया सवरमुक्किट्ठं	७४	जोगं च समणधम्मम्मि	४३०
जया सव्वत्तगं नाणं	७६	जो जीवे वि न याणाति	६६
जरा जाव न पीलेइ	४२३	जो जीवे वि वियाणति	६७
जस्सतिए धम्मपयाइं सिक्खे	४६३	जो पव्वयं सिरसा भेत्तुमिच्छे	४५९
जस्सेरिसा जोग जिइंदियस्स	५७४	जो पावगं जलियमवक्कमेज्जा	४५७
जस्सेवमप्पाउ हवेज्ज निच्छओ	५५८	जो पुव्वरत्तावरत्तकाले	५७१
जहा कुक्कुडपोयस्स	४४१	जो सहइ हु गामकंटए	५३१
जहा दुमस्स पुप्फेसु	२	णाण-दंसण संपन्नं	३८०
जहा निसंते तवणऽच्चिमाली	४६५	तओ कारणमुप्पन्ने	२१६
जहा ससी कोमुइजोगजुत्ते	४६६	तणरुक्खं न छिंदेज्जा	३९८
जहाऽऽहियग्गी जलणं नमंसे	४६२	तत्तो वि से चइत्ताणं	२६१
जं जाणेज्ज चिराधोयं	१८९	तत्थ से चिट्ठमाणस्स	१०९
जंपि वत्थं व पायं वा कंपि	२८२	तत्थ से भुंजमाणस्स	११७
जंपि वत्थं व पायं वा न ते	३०१	तत्थिमं पढमं ठाणं	२७१
जं भवे भत्तपाणं तु	१४१	तत्थेव पडिलेहेज्ज	१०७
जाइं चत्तारिऽभोज्जाइं	३०९	तम्हा असण-पाणाइं	३१२
जाइमंता इमे रुक्खा	३६२	तम्हा आयारपरक्कमेण	५६३
जाई-मरणाओ मुच्चइ	५२०	तम्हा एयं वियाणित्ता··· आउं (तृ. च)	२९४
जाए सद्धाए निक्खंतो	४४८	तम्हा एयं वियाणित्ता··· तसकायं. (तृ. च)	३०८
जाणंतु ता इमे समणा	२४७	तम्हा एयं वियाणित्ता··· तेउं. (तृ. च.)	२९८
जायतेयं न इच्छंति	२९५	तम्हा एयं वियाणित्ता पुढविं. (तृ. च)	२९१
जा य सच्चा अवत्तव्वा	३३३	तम्हा एवं वियाणित्ता···वज्जए (तृ. च.)	९३

तम्हा एयं वियाणित्ता ·· वणस्सइ (तृ च) ३०५
तम्हा एय वियाणित्ता ···वाउ. (तृ च) ३०२
तम्हा गच्छामो वक्खामो ३३७
तम्हा तेण न गच्छेज्जा ८८
तम्हा ते न सिणायति ३२५
तरुणग वा पवाल २३२
तरुणिय वा छिवाडि २३३
तवतेणे-वइतेणे २५९
तव कुव्वइ मेहावी २५५
तव चिम सजमजोगय च ४४९
तवोगुण-पहाणस्स ८१
तसकातिए जीवे ण स * गा ६
तसकातिए जीवे सद्द.* गा १२
तसकाय न हिंसति ३०६
तसकाय विहिसनो ३०७
तसे पाणे न हिसिज्जा ४००
तस्स पस्सह कल्लाण २५६
तहा कोलमणस्सिन्न २३४
तहा नईओ पुण्णाओ ३६९
तहा फलाइ पक्काइ ३६३
तहेव अविणीयप्पा उववज्झा ४७३
तहेव अविणीयप्पा देवा ४७८
तहेव अविणीयप्पा लोगसि ४७५
तहेव असण पाणग वा छदिय (तृ. च) ५२९
तहेव असण पाणग वा होही (तृ च) ५२८
तहेव 'काण' 'काणे' त्ति ३४३
तहेव गतुमुज्जाण ·एव (च च) ३६१
तहेव गतुमुज्जाण नेव (च च) ३५७
तहेव गाओ दोज्झाओ ३५५
तहेव चाउलं पिट्ठ २३५
तहेव डहर व महल्लग वा ५०३
तहेव फरुसा भासा ३४२
तहेव फलमंथूणि २३७
तहेव माणुस पसुं ३५३
तहेव मेह व नह व माणव ३८३
तहेव सखडि नच्चा ३६७
तहेव सत्तुचुण्णाइ १८४
तहेव सावज्ज जोग ३७१
तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा ३८५
तहेव सुविणीयप्पा उववज्झा हया ४७४
तहेव सुविणीयप्पा देवा ४७९
तहेव सुविणीयप्पा लोगसि ४७७
तहेव 'होले' 'गोले' ति ३४५
तहेवाऽणागत अट्ठ ज वऽण्ण * ३३९
तहेवाऽणागत अट्ठ ज होति · * ३४०
तहेवाऽसजय धीरो ३७८
तहेवुच्चावय पाण १८८
तहेवुच्चावया पाणा २२०
तहेवोसहीओ पक्काओ ३६५
त अइक्कमित्तु न पविसे २२४
न अप्पणा न गेण्हति २७७
त उक्खिवित्तु न निक्खिवे १९८
त च अच्चबिल पूइ १९२
त च उब्भिदिउ देज्जा १४३
त च होज्ज अकामेण १९३
त देहवास असुइ असासय ५४१
त भवे भत्तपाण तु १३८-१४०
त भवे भत्तपाण तु १४५-१४७
त भवे भत्तपाण तु १४९-१५१
त भवे भत्तपाण तु १५५-१५७
त भवे भत्तपाण तु १५९-१६१
त भवे भत्तपाण तु १६३-१६५
त भवे भत्तपाण तु १६७-१६९
त भवे भत्तपाण तु १७१-१७३
त भवे भत्तपाण तु १७५-१७७
तारिस भत्तपाण तु २२८-२३०
तालियतेण पत्तेण ··न ते वाइ ३००
तालियतेण पत्तेण न वीएज्ज ३९७
तिण्हमन्नयरागस्स ३२२
तित्तग व कडुय व कसाय २१०

* इस चिह्न से अकित सूत्र अधिक पाठात्मक है।—स.

तीसे सो वयणं सोच्चा	१५
तेउक्कातिए जीवे ण सद्द *	गा. ३
तेउक्कातिए जीवे ण सद्द *	गा ९
तेऊ चित्तमंतममक्खाया +	३७
ते तारिसे दुक्खसहे जिइंदिए	४५१
ते वि त गुरु पूयति	४८३
तेसिं अच्छणजोएण	३९१
तेसिं गुरूणं गुणसागराण	५०५
तेसिं सो निहुओ दंतो	२६६
थणगं पेज्जमाणी	१३९
थंभा व कोहा व मयप्पमाया	४५२
थोवमासायणट्ठाए	१९१
दग-मट्टिय-आयाणे	१०८
दग-वारएण पिहिय	१४२
दव-दवस्स न गच्छेज्जा	९६
दस अट्ठ य ठाणाइं	२७०
दंड-सत्थपरिजुण्णा	४७६
दिट्ठं मिय असंदिद्धं	४३६
दुक्कराइं करेत्ता ण	३०
दुमाओ वा पओएण	४८७
दुरुहमाणी पवडेज्जा	१८१
दुल्लहा उ मुहादाई	२१३
देवलोगसमाणो उ	५५१
देवाण मणुयाण च	३८१
दोण्ह तु भुंजमाणाण एगो	१३४
दोण्ह तु भुंजमाणाण दो वि	१३५
धम्मस्स विणओ मूलं	४७०
धम्माओ भट्ठं सिरिओववेयं	५५३
धम्मो मंगलमुक्किट्ठं	१
धिरत्थु तेऽजसोकामी	१२
धुवं च पडिलेहेज्जा	४०५
धूवणे त्ति वमणे य	२५
नक्खत्तं सुमिणं जोगं	४३८
नगिणस्स वा वि मुंडस्स	३२७
न चरेज्ज वासे वासंते	९०
न चरेज्ज वेससामंते	९१
न जाइमत्ते न य रूवमत्ते	५३९
न तेण भिक्खू गच्छेज्जा	१७९
नऽन्नत्थ एरिसं वुत्तं	२६८
न पक्खओ न पुरओ	४३३
न पडिण्णवेज्जा सयणाऽऽसणाइं	५६७
न परं वएज्जासि, 'अयं कुसीले'	५३८
न बाहिरं परिभवे	४१८
न मे चिरं दुक्खमिणं भविस्सई	५५७
नमोक्कारेण पारेत्ता	२०६
न य भोयणम्मि गिद्धो	४११
न य वुग्गहियं कहं कहेज्जा	५३०
न या लभेज्जा निउणं सहायं	५६९
न सम्ममालोइयं होज्जा	२०४
न सो परिग्गहो वुत्तो	२८३
नाण-दंसण-संपन्नं	२६४
नाणमेगग्गचित्तो य	५१४
नामधेज्जेण ण बूया इत्थीं०	३४८
नामधेज्जेण ण बूया पुरिसं०	३५१
नाऽऽसंदी-पलियंकेसु	३१७
निक्खम्ममाणाय बुद्धवयणे	५२१
निच्चुव्विग्गो जहा तेणो	२५२
निट्ठाणं रसनिज्जूढं	४१०
निद्दं च न बहु मन्निज्जा	४२९
निद्देसवत्ती पुण जे गुरूणं	४९१
निस्सेणिं फलगं पीढं	१८०
नीयं सेज्जं गइं ठाणं	४८५
नीयदुवार तमसं	१०२
पक्खंदे जलियं जोइं	११
पगईए मंदा वि भवंति एगे	४५४
पच्छाकम्मं पुरेकम्मं	३१५
पच्छा वि ते पयाया ×	८१ B
पडिकुट्ठ कुलं न पविसे	९९
पडिग्गहं संलिहित्ताणं	२१४
पडिमं पडिवज्जिया मसाणं	५३२
पडिसेहिए व दिन्ने वा	२२६

* ऐसे चिह्न से अंकित सूत्र अधिकपाठात्मक है। —स

पढम नाण, तओ दया	६४
पढमे भंते ! महव्वए×	४२
पयत्तपक्के त्ति व पक्कमालवे	३७३
परिक्खभासी सुसमाहि-इंदिए	३८८
परिवूढे त्ति ण बूया	३५४
परीसह-रिऊ-दंता	२९
पवडते व से तत्थ	८७
पविसित्तु परागार	४०७
पवेयए अज्जपय महामुणी	५४०
पचासवपरिन्नाया	२७
पंचिंदियाण पाणाणं	३५२
पाईण पडिण वा वि	२९६
पिट्ठगतेण हत्थेण	१२९
पियए एगओ तेणो	२५०
पिंड सेज्ज च वत्थ च	३१०
पीढए चगबेरे य	३५९
पुढवि न खणे न खणावए	५२२
पुढवि भित्ति सिल लेलु	३९२
पुढविकाय न हिंसति	२८९
पुढविकाय विहिंसतो	२९०
पुढविक्कातिए जीवे ण सद्द०+	गा १
पुढविक्कातिए जीवे सद्द०+	गा ७
पुढवि चित्तमतमक्खाया×	३५
पुढवि-दग-अगणि-मारुय	३९०
पुत्त-दार-परिकिण्णो	५४९
पुरओ जुगमायाए	८५
पुरेकम्मेण हत्थेण	११४
पूयणट्ठा जसोकामी	२४८
पेहेइ हियाणुसासण	५१२
पोग्गलाण परीणाम	४४७
बल थामं च पेहाए+	४२२/B
बहवे इमे असाहू	३७९
बहुअट्ठिय पोग्गल	१८६
बहु परघरे अत्थि	२४०
बहु सुणेइ कण्णेहिं	४०८
बहुवाहडा अगाहा	३७०
भवइ य एत्थ सिलोगो ·जया य०×	५४३
भवइ य एत्थ सिलोगो ·जिणवयणर ए०×	५१८
भवइ य एत्थ सिलोगो· ·णाण०×	५१४
भवइ य एत्थ सिलोगो ·पेहेइ×	५१२
भवइ य एत्थ सिलोगो ···विविह×	५१६
भासाए दोसे य गुणे य जाणिया	३८७
भुंजित्तु भोगाइ पसज्झचेतसा	५५५
भूयाणमेसमाघाओ	२९७
मट्टियागतेण हत्थेण	११८
मणोसिलागतेण हत्थेण	१२२
मुसावाओ य लोगम्मि	२७५
मुहुत्तदुक्खा हु हवंति कंटया	४९८
मूलए सिंगबेरे य	२३
मूलमेयमहम्मस्स	२७९
मूलाओ खंधप्पभवो दुमस्स	४६९
रण्णो गिहवईण च	९८
रायणिएसु विणय पउंजे डहरा	४९४
रायणिएसु विणय पउंजे धुव०	४२८
रायाणो रायमच्चा य	२६५
रोइय नायपुत्तवयण	५२५
लज्जा दया संजम बंभचेर	४६४
लद्धूण वि देवत्त	२६०
लूहवित्ती सुसंतुट्ठे	४१३
लोणगतेण हत्थेण	१२४
लोभऽस्सेसऽणुफासो	२८१
वड्ढइ सोंडिया तस्स	२५१
वणस्सइ न हिंसति	३०३
वणस्सइ विहिंसतो	३०४
वणस्सई चित्तमंतमक्खाया	३९
वणस्सतिकातिए जीवे ण सद्द०+	गा ५
वणस्सतिकातिए जीवे सद्द०+	गा. ११
वणीमगस्स वा तस्स	२२५

+ इस चिह्न से अंकित सूत्र अधिकपाठात्मक, तथा

× इस चिह्न से अंकित सूत्र गद्यपाठात्मक समझने चाहिये। —सं.

वण्णियगतेण हत्थेण	१२६
वत्थगधमलकार	७
वय च वित्ति लब्भामो	४
वयछक्क कायछक्कं +	(७/B)
वहण तसथावराण होइ	५२४
वाउक्कातिए जीवे ण सद्द० +	गा ४
वाउक्कातिए जीवे सद्द० +	गा १०
वाऊ चित्तमतमक्खाया ×	३८
वाओ वुट्ठ व सीउण्ह	३८२
वाहिओ वा अरोगी वा	३२३
विक्कायमाण पसढ	१८५
विडमुब्भेइम लोण	२८०
विणएण पविसित्ता	२०१
विणए सुए तवे य	५१०
विणय पि जो उवाएण	४७२
वितह पि तहा मुत्ति	३३६
विभूसा इत्थिससग्गी	४४४
विभूसावत्तिय चेय	३२९
विभूसावत्तिय भिक्खू	३२८
विरूढा बहुसभूया	३६६
विवत्ती अविणीयस्स	४८९
विवत्ती बभचेरस्स	३२०
विवित्ता य भवे सेज्जा	४४०
विविहगुणतवोरए य निच्च	५१६
विसएसु मणुण्णेसु	४४६
वीसमतो इम चिते	२०७
सइ काले चरे भिक्खू	२१९
सओवसता अममा अकिंचणा	३३१
सक्का सहेउ आसाए कटया	४९७
सखुड्डग—वियत्ताण	२६९
सज्झाय—सज्झाणरयस्स ताइणो	४५०
सन्निहि च न कुव्वेज्जा	४१२
सन्निही गिहिमत्ते य	१९
समण माहण वावि उवस० (तृ. च)	२२३
समाए पेहाए परिव्वयतो	९
समावयता वयणाभिघाया	४९९
समुदाण चरे भिक्खू	२३८
सम्मद्दमाणाणि पाणाणि	१११
सम्मद्दिट्ठी सया अमूढे	५२७
सयणासण-वत्थ वा	२४१
सुक्कसुद्धि समुपेहिया मुणी	३८६
सव्वे जीवा वि इच्छति +	२७३/B
ससिणिद्धेण हत्थेण	११६
ससरक्खेण हत्थेण	११७
सखडि सखडि बूया	३६८
सघट्टइत्ता काएण	४८६
सजमे सुट्ठिअप्पाण	१७
सतिमे सुहुमा पाणा घसासु	३२४
सतिमे सुहुमा पाणा तसा	२८६
सथार-सेज्जाऽऽसणभत्तपाणे	४९६
सपत्ते भिक्खकालम्मि	८३
सवच्छर वा वि पर पमाण	५७०
ससट्ठेण हत्थेण	१३३
साण सूइय गाविं	९४
साणी-पावार-पिहिय	१००
साल्लुय वा विरालिय	२३१
साहट्टु निक्खिवित्ताण	११२
साहवो तो चियत्तेण	२०८
भिक्खिऊण भिक्खेसणसोहि	२६३
भिणाण अदुवा कक्क	३२६
भिणेह पुप्फसुहुम च	४०३
सिया एगइओ लद्धु लोभेण	२४४
सिया एगइओ लद्धु विविह	२४६
सिया य गोयरग्गगओ	१९५
सिया य भिक्खु इच्छेज्जा	२००
सिया य समणट्ठाए	१३७
सिया हु सीसेण गिरिंपि भिंदे	४६०
सिया हु से पावय नो डहेज्जा	४५८
सीओदग न सेवेज्जा	३९४

+ इस चिह्न से अकित सूत्र अधिकपाठात्मक, तथा
× इस चिह्न से अकित सूत्र गद्यपाठात्मक समझने चाहिए। —स.

सीओदग- समारभे	३१४	से भिक्खू वा भिक्खुणी वा संजय-	
सुकडे त्ति सुपक्के त्ति	३७२	विरय... से कीड वा+	५४
सुक्कीय वा सुविक्कीय	३७६	से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजय-	
सुद्धपुढवीए न विसिए	३९३	विरय · से पुढवि वा+	४९
+सुय मे आउस ! तेण भगवया		से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजय-	
एवमक्खाय—इह खलु छज्जीवणिया	३२	विरय से बीएसु वा+	५३
+ सुय मे आउस ! तेण भगवया एव-		से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजय-	
मक्खाय—इह खलु थेरेहिं भगवतेहिं		विरय · से सिएण वा+	५२
चत्तारि विणयसमाहिट्ठाणा ·	५०७	सोच्चा जाणाइ कल्लाण	६५
सुय वा जइ वा दिट्ठ	४०९	सोच्चाण मेहावि सुभासियाइ	४६८
सुर वा मेरग वा वि	२४९	सोरट्ठियगतेण हत्थेण	१२८
सुहसायगस्स (सीलगस्स) समणस्स	८०	सोवच्चले सिंधवे लोणे	२४
से गामे वा नगरे वा	८४	हत्थं पाय च काय च	४३२
से जाणमजाण वा	४१९	हत्थ-पाय-पडिच्छिन्नं	४४३
से जे पुण इमे अणेगे बहवे तसा पाणा+	४०	हत्थसजए पायसजए	५३५
सेज्जा निसीहियाए	२१५	हरितालगतेण हत्थेण	१२०
सेज्जायरपिंड च	२१	हले-हले त्ति अन्ने त्ति	३४७
सेडियगतेण हत्थेण	१२७	हदि धम्मत्थ-कामाण	२६७
से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजय-		हिंगुलुयगतेण हत्थेण	१२१
विरय · से अगणि वा+	५१	हे हो हलेत्ति अन्नेत्ति	३५०
से भिक्खू वा भिक्खुणी वा सजय-		होज्ज कट्ठ सिल वा वि	१७८
विरय से उदग वा+	५०		

+ इस चिह्न से अंकित सूत्र गद्यपाठात्मक समझे। —स.

□

कथा, दृष्टान्त, उदाहरण

(१) सहजनिष्पन्न भिक्षा से निर्वाह करेंगे

(वयं च वित्ति लब्भामो०)

एक श्रमण भिक्षा के लिए किसी नव-भक्त के घर पहुँचे। गृहस्वामी ने वन्दना करके आहारग्रहण करने की भक्तिभावपूर्वक प्रार्थना की। श्रमण ने पूछा—'यह भोजन हमारे लिए तो नही बनाया ?' गृहपति ने सहमते हुए कहा—'इससे आपको क्या ? आप तो भोजन ग्रहण कीजिए।' श्रमण ने कहा—'ऐसा नही हो सकता। हम अपने निमित्त बना हुआ (औद्देशिक) आहार ग्रहण नही कर सकते।'

गृहपति—'उद्दिष्ट आहार लेने मे क्या हानि है ?'

श्रमण—'औद्देशिक आहार लेने से श्रमण त्रस-स्थावर जीवो की हिसा के पाप का भागी होता है।'

गृहस्वामी—'तो फिर आप अपना जीवननिर्वाह कैसे करेंगे ?'

श्रमण—'हम गृहस्थ के यहाँ उसके अपने परिवार के उपभोग के लिए सहज निष्पन्न (यथाकृत) आहार लेगे और उस निर्दोष भिक्षा से प्राप्त आहार से अपना निर्वाह करेंगे।'

—दशवै अ १, गा ४ चूर्णि

(२) पद-पद पर विषादग्रस्त

(पए-पए विसीयंतो०)

कोकणदेशीय एक वृद्ध साधु ने एक लडके को दीक्षा दी। वृद्ध साधु का अपने शिष्य पर अतीव मोह था। एक दिन शिष्य उद्विग्न होते हुए कहने लगा—'गुरुजी ! बिना पगरखी के मुझ से चला नही जाता।' वृद्ध ने अनुकम्पावश उसे पगरखी पहनने की छूट दे दी। एक दिन शिष्य ने ठड से पैर फटने की शिकायत की, तो वृद्ध ने मोजे पहनने की स्वीकृति दे दी। शिष्य की माग हुई कि 'मेरा सिर गर्मी से तप जाता है, अत सिर ढकने के लिए वस्त्र चाहिए।' वृद्ध ने उसे सिर पर कपडा ढकने की छूट दे दी। अब क्या था ? एक दिन वह बोला—'मेरे से भिक्षा के लिए घर-घर घूमा नही जाता !' वृद्ध स्वय आहार लाकर देने लगा। फिर कहने लगा—'जमीन पर सोया नही जाता।' इस पर वृद्ध ने बिछौना बिछाने की छूट दे दी। तब बोला—'लोच मुझ से नही होगा और न मैं नहाए बिना रह सकू गा !' वृद्ध ने उसे क्षुरमुण्डन कराने और प्रासुक पानी से नहाने की आज्ञा

दे दी। शिष्य गुरु के अत्यन्त स्नेहवश प्रत्येक बात मे छूट मिलती देख एक दिन बोला—'गुरुजी ! अब मैं स्त्री के बिना नही रह सकता !' गुरु ने उसे अयोग्य और सुविधालोलुप जान कर अपने आश्रय से दूर कर दिया। सच है, कामनाओ के वशीभूत व्यक्ति बात-बात से शिथिल होकर सुकुमारतावश श्रमणत्व से भ्रष्ट हो जाता है। —दशवै अ. २, गा. १, हारि. वृत्ति, पत्र ८९

(३) परवशतावश त्यागी, त्यागी नहीं

(अच्छंदा जे न भुंजति०)

नन्द के अमात्य सुबन्धु ने चन्द्रगुप्त को प्रसन्न करने के लिए एक दिन अवसर देख कर कहा—'मैं धनलिप्सु नही, कर्त्तव्यपरायण हूँ, अत. आपके हित की दृष्टि से कहता हूँ कि आपकी मा को चाणक्य ने मार डाला है !' चन्द्रगुप्त ने अपनी धाय से पूछा तो उसने भी इसका समर्थन किया। जब चाणक्य चन्द्रगुप्त के पास आया तो उसने उपेक्षाभाव से देखा। चाणक्य समझ गया कि राजा मुझ पर अप्रसन्न है और सम्भव है, मुझे बुरी मौत मरवाए। चाणक्य ने घर आकर अपनी सारी सम्पत्ति पुत्र-पौत्रो मे बाट दी। तत्पश्चात् उसने गन्धचूर्ण एकत्रित करके एक पत्र लिखा। उसे एक के बाद एक क्रमश चार मजूषाओ मे रखा। उक्त मजूषाओ को गन्धप्रकोष्ठ मे रख कर कीलो से जड दिया। तत्पश्चात् वन मे जाकर इगिनीमरण अनशन धारण कर लिया।

राजा को यह बात विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुई तो वह पश्चात्ताप करने लगा। अन्तःपुर सहित राजा चाणक्य से क्षमा माग कर उसे वापस राज्य मे लौटा ले आने लिए वन मे पहुंचा। चाणक्य से निवेदन करने पर वह बोला—'अब मै नही लौट सकता। मैंने धन-वैभव, आहारादि सभी कुछ त्याग दिया है।'

चन्द्रगुप्त नृप से अवसर देखकर सुबन्धु बोला—'आपकी आज्ञा हो तो मैं इसकी पूजा करू ?' राजा की स्वीकृति पाकर सुबन्धु ने चाणक्य की पूजा के बहाने धूप जलाया और उसे उपलो पर फेक दिया, जिससे आग की लपटे उठी और चाणक्य वही जल कर भस्म हो गया।

सुबन्धु ने राजा को प्रसन्न कर चाणक्य का घर और गृहसामग्री माग ली। चाणक्य के घर मे गन्धप्रकोष्ठ मे रखी हुई मजूषा देखी। कुतूहलवश खोली, तो उसमे एक सुगन्धित पत्र मिला। उसमे लिखा था—"जो इस सुगन्धित चूर्ण को सूघेगा, फिर स्नान करके वस्त्राभूषण धारण करेगा, शीतल जल पीएगा, गुदगुदी शय्या पर सोयेगा, यान पर चढेगा, गन्धर्वगीत सुनेगा और इसी तरह विभिन्न मनोज्ञ विषयो का सेवन करेगा, साधु की तरह नही रहेगा, वह शीघ्र ही मरण-शरण होगा किन्तु जो इन सबसे विरत होकर साधु की तरह रहेगा, वह नही मरेगा।" यह पढ कर सुबन्धु चौका। उसने दूसरे मनुष्य को गन्धचूर्ण सुघा कर तथा मनोज्ञ विषयभोग सामग्री का सेवन करा कर इस बात की यथार्थता की जाच की। सचमुच, वह भोगासक्त मनुष्य मर गया। अतः जीवनलालसावश सुबन्धु अनिच्छापूर्वक साधु की तरह रहने लगा।

जैसे मृत्युभयवश अनिच्छापूर्वक भोगसामग्री त्याग कर साधु की तरह रहने वाला सुबन्धु त्यागी साधु नही कहा जा सकता, वैसे ही परवशता के कारण भोगो को न भोगने वाला भी त्यागी साधु नही कहा जा सकता। —दशवै अ २, गा २, चूर्णिद्वय एव हारि वृत्ति

(४) 'कान्त' और 'प्रिय' का स्पष्टीकरण

(जे य कंते पिय भोए०)

इस विषय में गुरु-शिष्य का एक सवाद है—

शिष्य ने पूछा—'गुरुदेव ! जो कान्त होते है, वे प्रिय होते ही है, फिर एक साथ यहाँ दो विशेषण क्यो ?'

गुरु—'आयुष्मन् ! (१) कोई पदार्थ कान्त होता है, पर प्रिय नही होता, (२) कोई प्रिय होता है, कान्त नही, (३) कोई पदार्थ प्रिय भी होता है और कान्त भी तथा (४) कोई पदार्थ न प्रिय होता है और न कान्त ।'

शिष्य—'गुरुवर ! ऐसा होने का कारण क्या है ?'

गुरु—'शिष्य ! जो पदार्थ कान्त हो, वह प्रिय हो ही, ऐसा नियम नही है । किसी व्यक्ति को कान्त पदार्थ मे प्रियबुद्धि होती है, किसी को एकान्त मे भी प्रियबुद्धि उत्पन्न होती है । एक वस्तु एक व्यक्ति को कान्त लगती है, वही दूसरे को अकान्त लगती है । क्रोध, असहिष्णुता, अकृतज्ञता और मिथ्यात्वाभिनिवेश आदि कारणो से व्यक्ति किसी मे विद्यमान गुणो को देख नही पाता, वह उसमे अविद्यान दोषो को ढू ढने लगता है । इस प्रकार कान्त मे उसकी अकान्तबुद्धि हो जाती है ।

इसलिए 'कान्त' और 'प्रिय' भोग के ये दोनो विशेषण सार्थक हैं । कान्त का अर्थ रमणीय है और प्रिय का अर्थ है—इष्ट । अथवा कान्त का अर्थ है—सहज सुन्दर और प्रिय का अर्थ है—अभिप्रायकृत सुन्दर ।' —दशवै अ २, गा ३, जिनदास चूर्णि

(५) स्वेच्छा से तीन साररत्नों का त्यागी भी त्यागी है

(साहीणे चयइ भोए०)

इस विषय मे एक शका प्रस्तुत करके आचार्यश्री एक दृष्टान्त द्वारा उसका समाधान करते है—

शिष्य ने पूछा—'पूज्यवर ! यदि भरत और जम्बू जैसे स्वाधीन भोगो का त्याग करने वाले ही त्यागी है, तो क्या निर्धन दशा मे प्रव्रजित होकर अहिंसा आदि महाव्रतो तथा दशविध श्रमणधर्म का सम्यक् पालन करने वाले त्यागी नही हैं ?'

आचार्य—'ऐसे श्रमणधर्म मे दीक्षित व्यक्ति भी दीन-हीन नही हैं, वे भी तीन सारभूतरत्नो का स्वेच्छा से परित्याग कर दीक्षा लेते है, अत वे भी त्यागी है ?'

शिष्य—'गुरुदेव ! वे तीन सारभूतरत्न कौन-से हैं ?'

आचार्य—'लोक मे अग्नि, सचित्त जल और महिला, ये तीन साररत्न हैं । इनका स्वेच्छा से बिना किसी दबाव के परित्याग करके प्रव्रजित होना अतीव दुष्कर है । इन तीनो साररत्नो के त्यागी को, त्यागी न समझना भयकर भूल है ।'

शिष्य—'किसी उदाहरण द्वारा इसे समझाइए।'

गुरुदेव—'पचम गणधर श्री सुधर्मास्वामी के पास एक लकड़हारे ने राजगृही में दीक्षा ली। दीक्षित होकर वह साधु जब राजगृही में भिक्षा के लिए घूमता तो कुछ धनोन्मत्त लोग उसे ताने मारते—'देखोजी ! यह वही लकडहारा है, जो सुधर्मास्वामी के पास प्रव्रजित हो गया है।' साधु बार-बार लोगो की व्यग्योक्ति सुनकर तिलमिला उठा। उसने गणधर सुधर्मास्वामी से कहा—'अब मुझसे ये ताने नही सहे जाते। इसलिए अच्छा हो कि आप मुझे अन्यत्र ले पधारे।' आचार्यश्री ने अभयकुमार से कहा—'हमारा अन्यत्र विहार करने का भाव है।' अभयकुमार ने पूछा—'क्यो पूज्यवर ! क्या यह क्षेत्र मासकल्पयोग्य नही, जो आप इतने शीघ्र ही यहाँ से अन्यत्र विहार करना चाहते हैं ?' आचार्यश्री ने वह घटना आद्योपान्त सुनाई। उसे सुनकर अभयकुमार ने कहा—'आप निश्चिन्त होकर विराजे, मै लोगो को युक्ति से समझा दू गा।' आचार्यश्री वही विराजे।

बुद्धिमान् अभयकुमार ने दूसरे दिन एक सार्वजनिक स्थान पर तीन रत्नकोटि के ढेर लगवा कर नगर मे घोषणा कराई—'अभयकुमार रत्नो का दान देना चाहते हैं।' घोषणा सुनकर घटनास्थल पर लोगो की भीड जमा हो गई। अभयकुमार ने एक ऊचे स्थान पर खडे होकर कहा—'मैं ये तीन रत्नकोटि के ढेर उस व्यक्ति को देना चाहता हूँ, जो अग्नि, सचित्त जल और स्त्री, इन तीनो चीजो को जीवन भर के लिए छोड देगा।' यह सुनते ही लोग बगले झाकने लगे, बोले—'इन को छोड़कर कौन तीन रत्नकोटि लेना चाहेगा ?' जब कोई भी इन तीनो साररत्नो का आजीवन त्याग करने को तैयार न हुआ तो अभयकुमार ने कहा—'तब क्यो नाना मारते हो कि यह निर्धन लकड़हारा प्रव्रजित हुआ है ? इनके पास स्थूल धन भले ही न रहा हो, परन्तु इन्होंने तीन साररत्नकोटियो का जीवनभर के लिए त्याग किया है।' लोग निरुत्तर होकर बोले—'आपकी बात यथार्थ है, मन्त्रिवर ! अब हम कदापि इनके प्रति घृणा नही करेगे। ये महान् त्यागी एव पूज्य है।'

'हे शिष्य ! इसी प्रकार तीन सार पदार्थ—अग्नि, सचित्त जल और कामिनी का जीवनभर के लिए स्वेच्छा से त्याग कर प्रव्रजित होने वाला निर्धन व्यक्ति भी श्रमणधर्म में स्थिर होने पर त्यागी ही कहलाएगा।' —दशवै अ १, गा. ३, हारि-वृत्ति, पत्र ९३

(६) कदाचित् मन संयम से बाहर निकल जाए तो !

(सिया मणो निस्सरई बहिद्धा०)

एक बार राजकुमार बाहर उपस्थानशाला मे खेल रहा था। एक दासी जल से भरा हुआ घडा लेकर पास से निकली। राजकुमार ने ककर मार कर उसके घडे मे छिद्र कर दिया। दासी रोने लगी। उसे रोती देख राजकुमार ने फिर ककर मारा। इस बार छेद कुछ बडा हो गया। दासी ने सोचा—'जब रक्षक ही भक्षक बन जाए तो कहा पुकार की जाए ?' यह सोच कर उसने कीचड से सनी गीली मिट्टी ली और घडे के छेद पर लगा दी। इस तरह घडे का छिद्र बन्द करके वह घडा लेकर घर पहुच गई।

इसी प्रकार सयमरूपी घट में रहते हुए, कदाचित् सयमी का मन सयमघट से, अप्रशस्त परिणामरूपी छिद्र द्वारा बाहर निकलने लगे तो अपनी दीन-हीनता एव असमर्थता का रोना-धोना

छोड़ कर शुभसकल्परूपी मिट्टी के लेप से उक्त छिद्र को तत्काल बन्द करके ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप मोक्षमार्ग पर चल पडना चाहिए। —दशवै अ २, गा. ४, जिनदास चूर्णि

(७) न वह मेरी, न मै उसका

(न सा मह, नो वि अहपि तीसे)

मनोज्ञ वस्तु पर से रागभाव दूर करने के लिए रामबाण उपाय बताते हुए उसे दृष्टान्त द्वारा समझाते है—

एक वणिक्पुत्र अपनी प्रियतमा को छोड कर प्रव्रजित हो गया। किन्तु यहा-कदा पूर्व सस्कारवश उस स्त्री की याद सताती थी। उसने गुरु महाराज से इस राग के निवारण का उपाय पूछा, तो उन्होने एक मत्र रटने के लिए दिया—"न वह मेरी, न मै उसका।" बस, वह दिनरात इसी मत्र का रटन करता रहता। एक दिन मोहोदयवश फिर विचार उठा—"वह तो मेरी ही है, मैं भी उसका हूँ, क्योकि वह मुझ मे अनुरक्त है।" इस अशुभ परिणाम के कारण वह अपने भण्डोपकरणो को ले उसी गाँव मे पहुचा, जहाँ उसकी गृहस्थाश्रम की पत्नी थी। उसका विचार था कि यदि पत्नी जीवित होगी तो दीक्षा छोड दू गा, अन्यथा नही। पत्नी ने दूर से ही आते देख अपने भूतपूर्व पति को तथा उसके मनोभाव को जान लिया, परन्तु वह इसे नही पहचान सका। अत उसने पूछा—'अमुक की पत्नी मर गई या जीवित है?' स्त्री ने सोचा—अगर इसने दीक्षा छोड दी और पुन गृहवास स्वीकार कर लिया, तो हम दोनो ही ससार मे परिभ्रमण करते रहेगे। अत वह युक्तिपूर्वक बोली—'अब वह दूसरे की हो गई।'

यह सुन उसकी चिन्तनधारा ने पुन नया मोड लिया—वास्तव मे गुरुदेव का बताया हुआ मत्र ठीक था—वह मेरी नही है, न मैं उसका हूँ। उसका रागभाव दूर हो गया। वह पुन सयम मे स्थिर हो गया। वह विरक्तिभावपूर्वक बोला—'तो मै वापस जाता हूँ।'

इसी प्रकार यदि कभी किसी मनोज्ञ वस्तु के प्रति कामना या वासना जागृत हो जाए तो इसी चिन्तन-मत्र से राग भाव दूर करके सयम मे आत्मा को सुप्रतिष्ठित करना चाहिए।

—दशवै अ २, गा ४, हारि वृत्ति, पत्र ९४

(८) महासती राजीमती के प्रखर उपदेश से संयम मे पुनः प्रतिष्ठित रथनेमि

('तीसे सो वयणं सोच्चा संजयाए सुभासियं.')

सोरठ देश के अन्तर्गत बारह योजन लम्बी और नौ योजन चौडी द्वारका नगरी मे उस समय नौवे वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज राज्य करते थे। उनके पिता—वसुदेव के बडे भाई समुद्रविजय थे। इनकी पटरानी शिवादेवी मे भगवान् श्री अरिष्टनेमि का जन्म हुआ।

यौवनवय मे पदार्पण करने पर श्रीकृष्ण महाराज की प्रबल इच्छा से उनका विवाह उग्रसेन राजा की पुत्री राजीमती के साथ होना निश्चित हुआ।

धूमधाम के साथ बरात लेकर जब वे विवाह के लिए श्वसुरगृह पधार रहे थे, तभी उन्होंने जूनागढ के पास बहुत पशुओ को बाडे और पिंजरो में बद देखा। उन पीडितो की करुण पुकार सुन कर श्री अरिष्टनेमि ने जानते हुए भी जनता को बोध देने हेतु सारथी से पूछा—'ये पशु यहाँ किसलिए बद किये गए है?' सारथी ने कहा —'भगवन्! ये पशु आपके विवाह मे सम्मिलित मासाहारी बरातियो के भोजनार्थ यहां लाये गए हैं।' यह सुनते ही उनका चित्त अत्यन्त उदासीन हुआ। सोचा—मेरे विवाह के लिए इतने पशुओ का वध हो, यह मुझे अभीष्ट नही है। उनका चित्त विवाह से हट गया। उन्होने समस्त आभूषण उतार कर सारथी को प्रीतिदानस्वरूप दे दिये और उन पशुओ को बन्धनमुक्त करा कर वापस घर लौट आए। एक वर्ष तक आपने करोडो स्वर्णमुद्राओ का दान देकर एक सहस्र पुरुषो के साथ स्वय साधुवृत्ति ग्रहण की।

तदनन्तर राजकन्या राजीमती भी अपने अविवाहित पति के वियोग के कारण ससार से विरक्त होकर उन्ही के पदचिह्नो पर चलने के लिए तैयार हुई। राजीमती ने ७०० सहचरियो सहित उत्कट वैराग्यभाव से भागवती दीक्षा अगीकार की।

एक बार वे भगवान् श्री अरिष्टनेमि के दर्शनार्थ रैवतक पर्वत पर जा रही थी। रास्ते मे अकस्मात् भयकर अन्धड और वर्षा होने के कारण सभी साध्विया तितर-बितर हो गई। उस भयकर वर्षा से राजीमती साध्वी के सब वस्त्र भीग गए थे। एक गुफा को एकान्त निरापद समझकर उसमे प्रवेश किया। निर्जन स्थान जान कर व्याकुलतावश साध्वी राजीमती ने अपने सब वस्त्र उतार कर भूमि पर सुखा दिये। उसी गुफा मे भगवान् श्री अरिष्टनेमि के छोटे भाई श्री रथनेमि मुनि ध्यानस्थ खडे थे। बिजली की चमक मे उनकी दृष्टि श्री राजीमती की निर्वस्त्र देह पर पडी। राजीमती का शरीरसौन्दर्य और एकान्तवास देख कर रथनेमि का चित्त कामभोगो की ओर आकर्षित हो गया। वे विमूढ होकर राजीमती से प्रार्थना करने लगे। इस पर विदुषी राजीमती ने विभिन्न युक्तिपूर्वक प्रबल वैराग्यपूर्ण उपदेश देकर श्री रथनेमि को सयममार्ग मे स्थिर किया।

श्री राजीमती के प्रेरक वचनरूप अकुश से जैसे रथनेमि का कामविकार क्षणभर मे उपशान्त हो गया, वैसे ही तत्त्वज्ञ सयमी साधु का मन कामविकारग्रस्त हो जाने पर उसे वीतरागवचनरूपी अकुश लगाकर शीघ्र ही कामविकार से निवृत्त हो जाना चाहिए।

—उत्तराध्ययनसूत्र, अ २२ बृहद्वृत्ति
—दशवैकालिकसूत्र, अ २ हारि वृत्ति

(६) अमूर्च्छित होकर भिक्षाचर्या करना

(सपत्ते भिक्खकालम्मि असभतो अमुच्छिओ.)

भिक्षाचरी के समय साधु शब्दादि विषयो मे आसक्त न होकर आहार की गवेषणा मे रत रहे, इसके लिए जिनदासचूर्णि मे गोवत्स और वणिक्वधू का एक दृष्टान्त है—

एक वणिक् के यहाँ गाय का छोटा-सा बछडा था। वह सबको अत्यन्त प्रिय था। घर के सभी लोग प्यार से उसकी सारसभाल किया करते थे। एक दिन वणिक् के यहाँ कोई जीमणवार था।

सभी लोग उसमे व्यस्त थे। बछडे को पानी पिलाने या घास-चारा डालने का किसी को ध्यान न रहा। दोपहर हो गई। वह भूख-प्यास के मारे रभाने लगा। वणिक् की युवती पुत्रवधू ने उसे सुना तो वह जैसे सुन्दर वस्त्राभूषणों से विभूषित थी, वैसे ही झटपट घास और पानी लेकर बछडे के पास पहुँच गई। बछडे की दृष्टि घास और पानी पर टिक गई। उसने कुलवधू के रग, रूप तथा वस्त्राभूषणों की साजसज्जा एव शृ गार की ओर न तो देखा और न ही उसका विचार करके आसक्त और व्यग्र हुआ। ठीक इसी प्रकार साधुवर्ग भी आर्तध्यानादि से रहित होकर शब्दादि विषयो मे तथा मनोज्ञ दृश्य आदि देखने में चचलचित्त न होकर एक मात्र एषणासमिति से युक्त होकर भिक्षाचरी एव आहार-गवेषणा में ही ध्यान रखे। —दशवै अ ५।१ जिनदासचूर्णि

(१०) अलेपकर आहार कब लेना, कब नहीं ?

('दिज्जमाणं न इच्छेज्जा, पच्छाकम्मं जहिं भवे.)

पिण्डनिर्युक्ति मे एक रोचक सवाद द्वारा बताया गया है कि असंसृष्ट (अलेपकर) आहार कब लेना चाहिए, कब नही ?

आचार्य ने शिष्य से कहा—मुनि को अलेपकर (असंसृष्ट) आहार लेना चाहिए, इससे पश्चात्-कर्म के दोष की सभावना नही रहती और रसलोलुपता भी अनायास ही मिट जाती है।' यह सुनकर शिष्य ने कहा—'यदि पश्चात्कर्म दोष से बचने के लिए अलेपकर आहार लिया जाना ठीक हो तो, फिर आहार ही न लिया जाए, जिससे किसी भी दोष का प्रसग न आए।' आचार्य ने कहा- 'वत्स ! सदा अनाहार रहने से चिरकाल तक होने वाले व्रत, तप, नियम और सयम की हानि होती है। इसलिए जीवनभर का उपवास करना ठीक नही।' शिष्य ने पुन तर्क किया—'यदि ऐसा न हो सके लगातार छह-छह महीने के उपवास किये जाएँ और पारणे मे अलेपकर आहार लिया जाए तो क्या हानि है ?' आचार्य ने कहा—'यदि ऐसा करते हुए सयमयात्रा चल सके तो कोई आपत्ति नही है। परन्तु इस काल मे शारीरिक बल सुदृढ नही है, इसलिए तप उतना ही करना चाहिए जिससे शरीर अपनी धर्मक्रिया (प्रतिलेखन-प्रतिक्रमणादि) ठीक तरह से कर सके, मन मे दुर्ध्यान पैदा न हो।' निष्कर्ष यह है—साधु का आहार मुख्यतया अलेपकर होना चाहिए, किन्तु जहाँ पश्चात्कर्म दोष की सभावना हो तो तप, सयम-योग की दृष्टि से शरीर की उचित आवश्यकतानुसार लेपकर आहार भी लिया जा सकता है। —पिण्डनिर्युक्ति, गा ६१३-२६

(११) सुधादायी दुर्लभ है

(दुल्लहाओ सुहादाई)

एक परिव्राजक सन्यासी घूमता-घामता किसी भागवत के यहां पहुँचा और बातचीत के सिलसिले मे बोला—'मैं तुम्हारे यहा चातुर्मास करना चाहता हूँ। तुम्हारा स्थान मुझे बहुत पसन्द है। यदि तुम्हारी अनुमति हो तो मैं यहाँ चातुर्मास कर सकता हूँ। आशा है, चातुर्मासिक सेवा का लाभ तुम अवश्य लोगे।'

भागवत ने कहा—'भगवन् ! बड़ी कृपा होगी, यदि आप मेरे यहाँ चौमासा करे। आपकी सेवा यह दास सहर्ष करेगा। मेरा अहोभाग्य है कि आप जैसे त्यागी पुरुषो का मेरे यहाँ निवास होगा। परन्तु मेरी एक शर्त आपको स्वीकार करनी होगी। वह यह है कि आप मेरे यहाँ प्रसन्नता से और नि.स्पृहभाव से रहे। मेरे घर और परिवार से सम्बधित कोई भी कार्य आप नही करेंगे। चाहे मेरा कोई भी कार्य बनता या बिगडता हो, आपको उसमें हस्तक्षेप नही करना होगा। मुझ पर आप किसी प्रकार का ममत्वभाव नही रखे।' परिव्राजक ने भागवत की शर्त स्वीकार करते हुए कहा—'ठीक है, मै ऐसा ही करू गा। मुझे भला, तुम्हारे कार्यो मे हस्तक्षेप करके अपना सन्यासीपन खोने से क्या लाभ ! मैं नि स्पृह, निर्लेप और नि सग रहूँगा।' सन्यासी ठहर गए। भागवत उनकी अशन-वसन आदि से खूब सेवा-भक्ति करने लगा। एक दिन रात्रि के समय भागवत के घर मे चोर घुसे और उसका घोडा चुरा ले गए। प्रभात का समय हो जाने से चोरो ने उस घोडे को नगर के बाहर तालाब पर एक पेड से बाध दिया, सन्यासीजी को पता लग गया। वे उस दिन बहुत जल्दी उठ गए और सीधे उसी तालाब पर स्नान करने पहुँच गए। वहाँ चोर उस घोडे को बाध रहे थे। सन्यासीजी चोरो की करतूत समझ गए। फिर उन्हे भागवत की शर्त याद आ गई। सोचा—शर्त के अनुसार तो मुझे भागवत को कुछ भी नही कहना चाहिए, परन्तु हृदय मानता नही है। सन्यासीजी से रहा न गया। वे शीघ्रता से भागवत के पास पहुँचे और प्रतिज्ञा-भग से बचते हुए बोले—मेरी बड़ी भूल हुई। मै अपना वस्त्र तालाब पर भूल आया। भागवत ने अपने नौकर को भेजा। नौकर ने भागवत के घोड को वहाँ बधा देखा तो सन्यासीजी का वस्त्र लेकर शीघ्र पहुँचा। भागवत से घोडे के विषय मे कहा। भागवत सारी बात समझ गया और सन्यासीजी से बोला—'महात्मन् ! आपने अपनी प्रतिज्ञा भग कर दी है। अब मुझ से आपकी सेवा नही हो सकती, क्योकि जिस सेवा-दान का फल बहुत ही स्वल्प मिले, वह मुझे पसद नही। किसी से सेवा की अपेक्षा रख कर सेवा करने का फल अत्यल्प होता है।'

बेचारे सन्यासीजी अपना दण्ड-कमण्डलु उठा कर चल दिये। इसीलिए जिस दाता मे सेवा आदि के रूप मे दान का प्रतिफल पाने की इच्छा नही होती, जो नि स्पृहभाव से सेवा या दान करता है ऐसा मुधादायी दुर्लभ है।

—दशवै अ ५ गा २१३ (आचार्य श्री आत्मा.)

(१२) मुधाजीवी भी दुर्लभ है !

(मुहाजीवी वि दुल्लहा ··)

एक राजा अत्यन्त धर्मात्मा और प्रजाप्रिय था। एक दिन उसने विचार किया कि यो तो सभी धर्म वाले अपने-अपने धर्म की प्रशसा करते है और उसी के स्वीकार से मोक्ष प्राप्त होना बतलाते है। अत. धर्मगुरु से धर्म की परीक्षा करनी चाहिए, क्योकि धर्म के प्रवर्तक धर्मगुरु ही होते हैं। सच्चा धर्मगुरु वही है जो किसी प्रकार की आशा-आकाक्षा के नि स्वार्थभाव से, जैसा भी जो भी आहार-पानी मिला, उसे प्रसन्नता से ग्रहण करके सन्तुष्ट रहता है। उसी का धर्म सर्वश्रेष्ठ होगा। यह सोच कर राजा ने अपने सेवको द्वारा घोषणा कराई कि मेरे देश मे जितने भी भिक्षुक हैं, उन सबको मै मोदक दान करना चाहता हूँ। सभी राजमहल के प्रागण मे पधारे। उनमे

बहुत-से भिक्षुक आए, जिनमे कार्पटिक, जटाधारी, जोगी, तापस, सन्यासी, श्रमण, ब्राह्मण आदि सभी थे। नियत समय पर राजा ने आकर उनसे पूछा—'भिक्षुओ! कृपा करके यह बतलाइए कि आप अपना जीवननिर्वाह कैसे करते है?'

उपस्थित भिक्षुओ मे से एक ने कहा—'मै अपना निर्वाह मुख से करता हूँ।' दूसरे ने कहा—'मै पैरो से निर्वाह करता हूँ।' तीसरे ने कहा—'मै हाथो से अपना निर्वाह करता हूँ।' चौथे ने कहा—'मैं लोकानुग्रह से निर्वाह करता हूँ।' पाचवे ने कहा—'मेरे निर्वाह का क्या! मैं तो मुधाजीवी हूँ।'

राजा ने सबकी बाते सुन कर कहा—'आप सब ने जो-जो उत्तर दिया, उसे मै समझ नही सका। कृपया इसका स्पष्टीकरण कीजिए।' इस पर उत्तरदाताओ ने क्रमश कहना प्रारम्भ किया—

प्रथम—'राजन्! मै भिक्षुक तो हो गया पर पेट वश मे नही है। उदरपूर्ति के लिए मैं लोगो के सन्देश पहुँचाया करता हूँ। अत मैंने कहा कि मैं मुख से निर्वाह करता हूँ।'

द्वितीय—'महाराज! मैं साधु हूँ। पत्रवाहक का काम करता हूँ। गृहस्थ लोग, जहाँ भेजना होता है, वहाँ पत्र देकर मुझे भेज देते है और उपयुक्त पारिश्रमिक द्रव्य दे देते हैं, जिससे मै अपनी आवश्यकताएँ पूरी करता हूँ। अत मैं पैरो से निर्वाह करता हूँ।'

तृतीय—'नरेन्द्र! मैं लेखक हूँ। मै अपनी समस्त आवश्यकताओ की पूर्ति लेखन-कार्य से करता हूँ। इसलिए मैंने कहा कि मैं अपना निर्वाह हाथो से करता हूँ।'

चतुर्थ—'महीपाल! मै परिव्राजक हूं। मेरा कोई खास धधा नही है, जिससे मेरा निर्वाह हो। परन्तु मै आवश्यकताओ की पूर्ति लोगो के अनुग्रह से करता हूँ। अत येन-केन-प्रकारेण लोगो को प्रसन्न रखना मेरा काम है—इसी से मेरा निर्वाह हो जाता है।'

पंचम—"आयुष्मन् देवानुप्रिय! मेरे निर्वाह का क्या पूछते हैं? मै तो ससार से सर्वथा विरक्त निर्ग्रन्थ हूँ। मैं अपने निर्वाह के लिए किसी प्रकार का सासारिक कार्य नही करता। केवल सयम-पालन के लिए गृहस्थो द्वारा नि स्वार्थ बुद्धि से दिया आहार आदि नि.स्पृहभाव से ग्रहण करता हूँ। मै सर्वथा स्वतन्त्र और अप्रतिबद्ध हूँ। मै आहार आदि के बदले किसी गृहस्थ का कुछ भी सासारिक कार्य नही करता, न किसी की खुशामद करता हूँ, और न किसी पर दबाव डालता हूँ। इसलिए मैंने कहा कि मैं मुधाजीवी हूँ। निष्काम भाव से जीता हूँ।'

राजा ने सबकी बाते सुन कर निर्णय किया कि वास्तव मे यही सच्चा धर्मगुरु-साधु मुधाजीवी है। इसी धर्म को तथा धर्मोपदेश को ग्रहण करना चाहिए। राजा ने मुधाजीवी निर्ग्रन्थ से *धर्मोपदेश सुना। ससार से विरक्ति हो गई। प्रतिबुद्ध होकर राजा उन्ही के पास प्रव्रजित हो गया और सयम-साधना करके मोक्ष का अधिकारी बना।*

इस दृष्टान्त का निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार से जाति आदि के सहारे, किसी की प्रतिबद्धता,

अधीनता स्वीकार न करके, या किसी आशा-आकाक्षा से प्रेरित होकर दीनता या खुशामद न करने तथा नि.स्पृहभाव से जीने वाले निर्ग्रन्थ मुधाजीवी अत्यन्त दुर्लभ हैं।

—दशवै अ. ५।१।२१३ (आचार्य श्री आत्मारामजी म.)

(१३) प्रज्ञप्तिधर : कथाकुशल कैसे होते हैं ?

(आयार-पन्नत्तिधरे · ··)

व्यवहारसूत्रभाष्य मे प्रज्ञप्तिधर का अर्थ कथाकुशल करके भाष्यकार एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—

एक क्षुल्लकाचार्य प्रज्ञप्ति-कुशल (कथानिपुण) थे। एक दिन उनकी धर्मसभा मे मुरुण्डराज उपदेश श्रवण कर रहे थे। प्रसगवश मुरुण्डराज ने एक प्रश्न प्रस्तुत किया—'भगवन्! देवता गतकाल को नही जानते, इसे सिद्ध कीजिए।'

राजा ने प्रश्न पूछा कि आचार्य सहसा खडे हो गए। आचार्य को खडा होते देख मुरुण्डराज भी खडा हो गया। आचार्य को क्षीरास्रवलब्धि प्राप्त थी। वे उपदेश देने लगे। उनकी वाणी से दूध की-सी मधुरता टपक रही थी। मुरुण्डराज मन्त्रमुग्ध की तरह सुनता रहा। उसे पता ही न लगा कि कितना समय बीत गया है। आचार्य ने पूछा—'राजन्! तुम्हे खडे हुए कितना समय बीत गया ?' 'भगवन्! मै तो अभी-अभी खडा हुआ हूँ।' राजा ने कहा।

आचार्य ने कहा—'तुम्हे खडे हुए एक पहर बीत चुका है। उपदेश-श्रवण मे तुम इतने आनन्द-विभोर हो गए कि तुम्हे गतकाल का पता नही चल सका। इसी प्रकार देवता भी नृत्य, गीत, वाद्य आदि मे इतने आनन्दमग्न हो जाते हैं कि वे भी गतकाल को नही जान पाते। यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर है।'

—दशवै अ ८, गा ४९
—व्यवहारभाष्य ४।३।१४५-१४९

(१४) स्त्री से ही नहीं, स्त्रीशरीर से भी भय !

(जहा कुक्कुडपोयस्स निच्चं कुललओ भयं०)

ब्रह्मचारी साधक को स्त्री से भय है, ऐसा न कह कर स्त्री-शरीर से भय है, इस सम्बन्ध में आचार्य जिनदास महत्तर ने एक सवाद प्रस्तुत किया है—

शिष्य ने पूछा—'भगवन्! स्त्री से भय है, ऐसा न कह कर 'स्त्रीशरीर से भय है,' ऐसा क्यो कहा ?' आचार्य ने कहा—'आयुष्मन्! ब्रह्मचारी को स्त्री के सजीव शरीर से ही नही, अपितु मृत शरीर से भी भय है, यह बताने के लिए ऐसा कहा गया है। शिष्य ने पुन· प्रश्न किया—'भगवन्! विविक्त स्थान में स्थित मुनि के लिए किसी प्रकार दर्शनार्थ आई हुई केवल स्त्रियो को कथा कहने का निषेध करने का क्या कारण है ?'

आचार्य ने कहा—'वत्स, तुम यथार्थ समझो कि चारित्रवान् पुरुष के लिए केवल स्त्री, बहुत बडा खतरा है।' शिष्य ने पूछा—'यह कैसे भगवन् ?'

इसके उत्तर मे आचार्य ने जो उत्तर दिया, वह इसी गाथा (४४१) मे अकित है। उसका भावार्थ यह है कि 'जिस प्रकार (जिसके पख न आए हो ऐसे) मुर्गे के बच्चे को सदैव बिल्ली से भय होता है, उसी प्रकार ब्रह्मचारी को स्त्री के शरीर से भय होता है।'

—दशवै. अ ८, गा ४४१; जिन. चूर्णि पृ २९१

तृतीय परिशिष्ट

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

१. **अनुयोगद्वारसूत्र** (मलधारी हेमचन्द्रसूरि रचित टीका)
प्रकाशक —आगमोदय समिति, सूरत

२. **अनुयोगद्वारसूत्र**
सम्पादक - स्व आचार्यश्री आत्मारामजी
प्रकाशक—जैन शास्त्रोद्धार ग्रन्थमाला, लाहौर

३. **अभिधानचिन्तामणि** (कोष)
लेखन आचार्य हेमचन्द्र
प्रकाशक—हेमचन्द्राचार्य सभा, पाटण (उत्तर गुजरात)

४ **आचारागसूत्र** (शीलाकवृत्ति)
प्रकाशक- आगमोदय समिति, सूरत

५ **आचारांग** (विवेचन)
प्रधान सम्पादक- युवाचार्य श्री मधुकर मुनि
प्रकाशक— श्री आगम प्रकाशन समिति,
ब्यावर (राजस्थान)

६ **आवश्यकसूत्र** (मलयगिरि वृत्ति)
वृत्तिकार आचार्य मलयगिरि
प्रकाशक —आगमोदय समिति, बम्बई-सूरत

७. **उत्तराध्ययनसूत्र**
(वादिवैताल शान्तिसूरि विरचित बृहद्वृत्ति)
प्रकाशक —जैन पुस्तकोद्धार, बम्बई

८. **उत्तराध्यनसूत्र**
(आचार्य नेमिचन्द्र वृत्ति)
प्रकाशक—श्री ऋषभदेवजी केशरीमलजी जै श्वे सस्था, रतलाम

९. **उत्तराध्ययनसूत्र** (हिन्दी व्याख्या)
सम्पादक —आचार्य श्री आत्मारामजी महाराज
प्रकाशक आचार्य श्री आत्माराम जैन प्रकाशन समिति
जैनस्थानक, लुधियाना (पजाब)

१०. **ऐतिहासिक नोध**
लेखक—वा मो शाह
प्रकाशक—श्री जैन हितेच्छु श्रावक मण्डल, रतलाम

११. **तत्त्वार्थाधिगमभाष्य स्वोपज्ञवृत्तिसहित**
(आचार्य उमास्वातिविरचित)
सम्पादक—व्याकरणाचार्य प ठाकुरप्रसाद शर्मा
प्रकाशक—परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई

१२. **तत्त्वार्थसूत्र** (सर्वार्थसिद्धि टीका)
टीकाकार—आचार्य पूज्यपाद. सम्पादक—प फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री
प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, वाराणसी
तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन)
ले —प सुखलालजी, प्रकाशक—जैन सशोधक मडल, वाराणसी

१३. **तन्दुलवेयालियं**
[प्रकीर्णक (पइन्ना) ग्रन्थ]
प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत

१४. **दशवैकालिक** (गुजराती अनुवाद, टिप्पण)
सम्पादक —मुनिश्री सतबालजी
प्रकाशक—महावीर साहित्य प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद-४

१५. **दसवेयालियं**
सम्पादक और विवेचक - मुनिश्री नथमलजी
प्रकाशक— जैन विश्व भारती, लाडनू (राजस्थान)

१६. **दसवेयालियसुत्तं** (मूलपाठ-टिप्पणयुक्त)
सम्पादक—स्व मुनि श्री पुण्यविजयजी
प अमृतलाल मोहनलाल भोजक
प्रकाशक—श्री महावीर जैन विद्यालय
अगस्तक्रान्ति मार्ग, बम्बई-४०००३६

१७. **दशवैकालिकसूत्र** (मूल, छाया, अनुवाद, हिन्दी टीका सहित)
टीकाकार —आचार्य श्री आत्मारामजी म
सम्पादक—उपाध्याय श्री अमरचन्द्रजी महाराज
प्रकाशक —सेठ ज्वालाप्रसाद माणकचन्द जैन जौहरी
महेन्द्रगढ (पटियाला)

१८. **दशवैकालिकसूत्र** (आचारमणिमजूषा टीका सहित)
टीकाकार—आचार्य पूज्यश्री घासीलालजी म
नियोजक—प मुनिश्री कन्हैयालालजी महाराज
प्रकाशक—अ भा श्वे स्था जैनशास्त्रोद्धार समिति, राजकोट

१९. **दशवैकालिक** (हरि वृत्ति)
टीकाकार—आचार्य हरिभद्रसूरिजी
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डार, बम्बई

२०. **दशवैकालिक** (जिनदास चूर्णि)
चूर्णिकार—आचार्य जिनदास महत्तर
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ-परिषद्, वाराणसी-५

२१. **दशवैकालिक** (अगस्त्य चूर्णि)
चूर्णिकार—अगस्त्यसिंह स्थविर
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ-परिषद्, वाराणसी-५

२२. **दशवैकालिक निर्युक्ति**
निर्युक्तिकार—आचार्यश्री भद्रबाहुस्वामी
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भडार, बम्बई (१९१८)

२३. **दशवैकालिकसूत्र** (दीपिका)
प्रकाशक—श्री ऋषभदेवजी केसरीमलजी जैन श्वे सस्था, रतलाम

२४. **दशाश्रुतस्कन्ध**
हिन्दी टीकाकार—आचार्यश्री आत्मारामजी
प्रकाशक—जैन शास्त्रोद्धार ग्रन्थमाला, लाहौर

२५. **धम्मपद**
सम्पादक—भिक्षु धर्मरक्षित
प्रकाशक—मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स, कचौडी गली, वाराणसी (१९५३)

२६. **नन्दीसूत्र**
व्याख्याकार—जैनाचार्यश्री आत्मारामजी महाराज, सम्पादक—प फूलचन्दजी म 'श्रमण'
प्रकाशक—आचार्य श्री आत्मारामजी जैन प्रकाशन समिति, जैन स्थानक, लुधियाना (पजाब)

२७. **निशीथचूर्णि** सभाष्य
सम्पादक—उपाध्याय अमरमुनिजी एव प. मुनि श्री कन्हैयालालजी 'कमल'
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा (उ प्र)

२८. **प्रश्नव्याकरण**
व्याख्याकार—प हेमचन्द्रजी म
सम्पादक—प्रवचनभूषण श्री अमरमुनिजी
प्रकाशक—सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा

२९. **प्रवचनसारोद्धार**(सिद्धसेन टीकासहित)
आ नेमिचन्द्र
प्रकाशक—देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भण्डार, बम्बई

३०. **प्रश्नोपनिषद्**
सम्पादक—प द्वारिकादास शास्त्री
प्रकाशक—चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

३१. **प्रज्ञापनासूत्र** (प्रमेयबोधिनी टीका)
टीकाकार—पूज्य श्री घासीलालजी म
प्रकाशक अ भा श्वे स्था जैन शास्त्रोद्धार समिति, अहमदाबाद

३२. **पाइयसद्दमहण्णवो**
आद्य सम्पादक—प हरगोविन्ददास शेठ
पुन सम्पादन—प दलसुखभाई मालवणिया
प्रकाशक—प्राकृत ग्रन्थ परिषद्, वाराणसी-५ (वि स सन् १९६३)

३३ **बृहत्कल्पभाष्य**
प्रकाशक -आत्मानन्द जैन सभा, भावनगर

३४. **भगवतीसूत्र** (अभयदेवसूरि वृत्ति)
प्रकाशक - आगमोदय समिति, सूरत

३५. **व्यवहारसूत्रभाष्य**
प्रकाशक—केशवलाल प्रेमचन्द, अहमदाबाद— (वि स १९८२)

३६. **स्थानागसूत्र** (अभय वृत्ति)
टीकाकार—आचार्य अभयदेवसूरि
प्रकाशक—आगमोदय समिति, सूरत—बम्बई

३७. **ठाण** (स्थानागसूत्र)
सम्पादक और विवेचक—मुनिश्री नथमलजी
प्रकाशक—जैन विश्वभारती, लाडनू (राजस्थान)

३८. **सूत्रकृतांग**
सम्पादक प. अम्बिकादत्तजी ओझा, व्याकरणाचार्य
प्रकाशक—जैनोदय प्रकाशन समिति, राजकोट

३९. **समवायांगसूत्र**
टीकाकार—पूज्यश्री घासीलालजी म.
प्रकाशक—अ भा. श्वे स्था जै शास्त्रोद्धार समिति, राजकोट

४०. **पिण्डनिर्युक्ति** (मलयगिरिविहितवृत्तियुक्त)
अनुवाद—हससागर
प्रकाशक—I शासन कटकोद्धार ज्ञानमन्दिर, मु उलिया (भावनगर)
II देवचन्द लालभाई जैन पुस्तकोद्धार भडार, बम्बई

४१. **महाभारत**
सम्पादक—टी आर कृष्णाचार्य
प्रकाशक—निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

४२. **मनुस्मृति**
सम्पादक—प जनार्दन झा
प्रकाशक—अ भा हिन्दी पुस्तकालय एजेसी
हरिसन रोड, कलकत्ता (वि स १९८३)

४३. **सुत्तनिपात**
(अनु—भिक्षु धर्मरक्षित)
प्रकाशक—महाबोधि सोसाइटी, सारनाथ (वाराणसी)

४४. **हितोपदेश**
(विष्णुशर्मारचित)
प्रकाशक—मास्टर खेलाडीलाल एण्ड सन्स, कचौडी गली, वाराणसी

४५. **ज्ञाताधर्मकथागसूत्र**
सयोजक एव प्रधान सम्पादक—स्व युवाचार्य श्री मधुकर मुनि
अनुवादक-विवेचक-सम्पादक—प शोभाचन्द्रजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ
प्रकाशक श्री आगम प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान)

४६. **अमरकोष**
सम्पादक—भानुजी दीक्षित
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी

४७. **यादवकोष**

अनध्यायकाल

[स्व० आचार्यप्रवर श्री आत्मारामजी म० द्वारा सम्पादित नन्दीसूत्र से उद्धृत]

स्वाध्याय के लिए आगमो मे जो समय बताया गया है, उसी समय शास्त्रो का स्वाध्याय करना चाहिए। अनध्यायकाल मे स्वाध्याय वर्जित है।

मनुस्मृति आदि स्मृतियो मे भी अनध्यायकाल का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। वैदिक लोग भी वेद के अनध्यायो का उल्लेख करते है। इसी प्रकार अन्य आर्ष ग्रन्थो का भी अनध्याय माना जाता है। जैनागम भी सर्वज्ञोक्त, देवाधिष्ठित तथा स्वरविद्या सयुक्त होने के कारण, इनका भी आगमो मे अनध्यायकाल वर्णित किया गया है, जैसे कि—

दसविधे अतलिक्खिते असज्झाए पण्णत्ते, त जहा—उक्कावाते, दिसिदाघे, गज्जिते, विज्जुते, निग्घाते, जुवते, जक्खालित्ते, धूमिता, महिता, रयउग्घाते।

दसविहे ओरालिते असज्झातिते, त जहा—अट्ठी, मस, सोणिते, असुतिसामते, सुसाणसामते, चदोवराते, सूरोवराते, पडने, रायवुग्गहे, उवस्सयस्स अतो ओरालिए सरीरगे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान १०

नो कप्पति निग्गथाण वा, निग्गथीण वा चउहि महापाडिवएहि सज्झाय करित्तए, त जहा—आसाढपाडिवए, इदमहापाडिवए, कत्तिअपाडिवए सुगिम्हपाडिवए। नो कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चउहि सझाहि सज्झाय करेत्तए, त जहा—पडिमाते, पच्छिमाते मज्झण्हे, अड्ढरत्ते। कप्पइ निग्गथाण वा निग्गथीण वा, चाउक्काल सज्झाय करेत्तए, त जहा—पुव्वण्हे अवरण्हे, पओसे, पच्चूसे।

—स्थानाङ्ग सूत्र, स्थान ४, उद्देश २

उपर्युक्त सूत्रपाठ के अनुसार, दस आकाश से सम्बन्धित, दस औदारिक शरीर से सम्बन्धित, चार महाप्रतिपदा, चार महाप्रतिपदा की पूर्णिमा और चार सन्ध्या, इस प्रकार बत्तीस अनध्याय माने गए है, जिसका सक्षेप मे निम्न प्रकार से वर्णन है, जैसे

आकाश सम्बन्धी दस अनध्याय

१. **उल्कापात-तारापतन**—यदि महत् तारापतन हुआ है तो एक प्रहर पर्यन्त शास्त्र-स्वाध्याय नही करना चाहिए।

२. **दिग्दाह**—जब तक दिशा रक्तवर्ण की हो अर्थात् ऐसा मालूम पडे कि दिशा मे आग सी लगी है तब भी स्वाध्याय नही करना चाहिए।

३. **गर्जित**—बादलो के गर्जन पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

४. **विद्युत**—बिजली चमकने पर एक प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय न करे।

किन्तु गर्जन और विद्युत् का अस्वाध्याय चातुर्मास मे नही मानना चाहिए। क्योकि वह

गर्जन और विद्युत् प्राय. ऋतु-स्वभाव से ही होता है। अत आर्द्रा से स्वाति नक्षत्र पर्यन्त अनध्याय नही माना जाता।

५. **निर्घात**—बिना बादल के आकाश मे व्यन्तरादिकृत घोर गर्जना होने पर, या बादलो सहित आकाश में कडकने पर दो प्रहर तक अस्वाध्याय काल है।

६. **यूपक** –शुक्लपक्ष मे प्रतिपदा, द्वितीया, तृतीया को सन्ध्या की प्रभा और चन्द्रप्रभा के मिलने को यूपक कहा जाता है। इन दिनो प्रहर रात्रि पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

७. **यक्षादीप्त**—कभी किसी दिशा मे बिजली चमकने जैसा, थोडे थोडे समय पीछे जो प्रकाश होता है वह यक्षादीप्त कहलाता है। अत आकाश मे जब तक यक्षाकार दीखता रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

८. **धूमिका-कृष्ण**—कार्तिक से लेकर माघ तक का समय मेघो का गर्भमास होता है। इसमे धूम्र वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध पडती है। वह धूमिका-कृष्ण कहलाती है। जब तक यह धुंध पडती रहे तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए।

९. **मिहिकाश्वेत**—शीतकाल मे श्वेत वर्ण की सूक्ष्म जलरूप धुंध मिहिका कहलाती है। जब तक यह गिरती रहे, तब तक अस्वाध्याय काल है।

१०. **रज-उद्घात**—वायु के कारण आकाश मे चारो ओर धूलि छा जाती है। जब तक यह धूलि फैली रहती है, स्वाध्याय नही करना चाहिए।

उपरोक्त दस कारण आकाश सम्बन्धी अस्वाध्याय के है।

औदारिक शरीर सम्बन्धी दस अनध्याय

११-१२-१३ **हड्डी, मांस और रुधिर**—पचेन्द्रिय तिर्यंच की हड्डी, मास और रुधिर यदि सामने दिखाई दे, तो जब तक वहाँ से वे वस्तुएँ उठाई न जाएँ तब तक अस्वाध्याय है। वृत्तिकार आस-पास के ६० हाथ तक इन वस्तुओ के होने पर अस्वाध्याय मानते है।

इसी प्रकार मनुष्य सम्बन्धी अस्थि, मास और रुधिर का भी अनध्याय माना जाता है। विशेषता इतनी है कि इनका अस्वाध्याय सौ हाथ तक तथा एक दिन-रात का होता है। स्त्री के मासिक धर्म का अस्वाध्याय तीन दिन तक। बालक एव बालिका के जन्म का अस्वाध्याय क्रमश सात एव आठ दिन पर्यन्त का माना जाता है।

१४. **अशुचि**—मल-मूत्र सामने दिखाई देने तक अस्वाध्याय है।

१५. **श्मशान**– श्मशानभूमि के चारो ओर सौ-सौ हाथ पर्यन्त अस्वाध्याय माना जाता है।

१६. **चन्द्रग्रहण**—चन्द्रग्रहण होने पर जघन्य आठ, मध्यम बारह और उत्कृष्ट सोलह प्रहर पर्यन्त स्वाध्याय नही करना चाहिए।

१७. **सूर्यग्रहण**—सूर्यग्रहण होने पर भी क्रमश आठ, बारह और सोलह प्रहर पर्यन्त अस्वाध्यायकाल माना गया है।

१८. **पतन**—किसी बडे मान्य राजा अथवा राष्ट्रपुरुष का निधन होने पर जब तक उसका दाहसस्कार न हो, तब तक स्वाध्याय नही करना चाहिए। अथवा जब तक दूसरा अधिकारी सत्तारूढ न हो, तब तक शनै शनै स्वाध्याय करना चाहिए।

१९. **राजव्युद्ग्रह**—समीपस्थ राजाओ मे परस्पर युद्ध होने पर जब तक शान्ति न हो जाए, तब तक और उसके पश्चात् भी एक दिन-रात्रि स्वाध्याय नही करें।

२०. **औदारिक शरीर**—उपाश्रय के भीतर पचेन्द्रिय जीव का वध हो जाने पर जब तक कलेवर पडा रहे, तब तक तथा १०० हाथ तक यदि निर्जीव कलेवर पडा हो तो स्वाध्याय नही करना चाहिए।

अस्वाध्याय के उपरोक्त १० कारण औदारिक शरीर सम्बन्धी कहे गये हैं।

२१-२८. **चार महोत्सव और चार महाप्रतिपदा** आषाढ-पूर्णिमा, आश्विन-पूर्णिमा, कार्तिक-पूर्णिमा और चैत्र-पूर्णिमा ये चार महोत्सव हैं। इन पूर्णिमाओ के पश्चात् आने वाली प्रतिपदा को महाप्रतिपदा कहते हैं। इनमे स्वाध्याय करने का निषेध है।

२९-३२. **प्रातः, साय, मध्याह्न और अर्धरात्रि**—प्रात सूर्य उगने से एक घडी पहिले तथा एक घडी पीछे। सूर्यास्त होने मे एक घडी पहले तथा एक घडी पीछे। मध्याह्न अर्थात् दोपहर मे एक घडी आगे और एक घडी पीछे एव अर्धरात्रि मे भी एक घडी आगे तथा एक घडी पीछे स्वाध्याय नही करना चाहिए।

□□

अर्थसहयोगी सदस्यों की शुभ नामावली

महास्तम्भ

१. श्री सेठ मोहनमलजी चोरडिया , मद्रास
२. श्री गुलाबचन्दजी मागीलालजी सुराणा, सिकन्दराबाद
३. श्री पुखराजजी शिशोदिया, ब्यावर
४. श्री सायरमलजी जेठमलजी चोरडिया, बैंगलोर
५ श्री प्रेमराजजी भवरलालजी श्रीश्रीमाल, दुर्ग
६. श्री एस. किशनचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
७ श्री कवरलालजी बैताला, गोहाटी
८ श्री सेठ खीवराजजी चोरड़िया मद्रास
९ श्री गुमानमलजी चोरड़िया, मद्रास
१०. श्री एस बादलचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
११. श्री जे. दुलीचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१२ श्री एस. रतनचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१३. श्री जे. अभयराजजी चोरड़िया, मद्रास
१४. श्री एस. सायरचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१५. श्री आर. शान्तिलालजी उत्तमचन्दजी चोरड़िया, मद्रास
१६. श्री सिरेमलजी हीराचन्दजी चोरडिया, मद्रास
१७ श्री जे हुक्मीचन्दजी चोरड़िया, मद्रास

स्तम्भ सदस्य

१. श्री अगरचन्दजी फतेचन्दजी पारख, जोधपुर
२ श्री जसराजजी गणेशमलजी सचेती, जोधपुर
३. श्री तिलोकचदजी, सागरमलजी सचेती, मद्रास
४. श्री पूसालालजी किस्तूरचंदजी सुराणा, कटगी
५. श्री आर. प्रसन्नचन्दजी चोरडिया, मद्रास
६. श्री दीपचन्दजी चोरडिया, मद्रास
७. श्री मूलचन्दजी चोरड़िया, कटंगी
८. श्री वर्द्धमान इण्डस्ट्रीज, कानपुर
९. श्री मांगीलालजी मिश्रीलालजी संचेती, दुर्ग

संरक्षक

१. श्री बिरदीचदजी प्रकाशचदजी तलेसरा, पाली
२. श्री ज्ञानराजजी केवलचन्दजी मूथा, पाली
३. श्री प्रेमराजजी जतनराजजी मेहता, मेडता सिटी
४. श्री श० जड़ावमलजी माणकचन्दजी बेताला, बागलकोट
५. श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपड़ा, ब्यावर
६. श्री मोहनलालजी नेमीचन्दजी ललवाणी, चागाटोला
७. श्री दीपचदजी चन्दनमलजी चोरडिया, मद्रास
८. श्री पन्नालालजी भागचन्दजी बोथरा, चागा-टोला
९. श्रीमती सिरेकुँवर बाई धर्मपत्नी स्व. श्री सुगन चन्दजी झामड, मदुरान्तकम्
१०. श्री बस्तीमलजी मोहनलालजी बोहरा (K G. F) जाडन
११. श्री थानचन्दजी मेहता, जोधपुर
१२. श्री भैरुदानजी लाभचन्दजी सुराणा, नागौर
१३. श्री खूबचन्दजी गादिया, ब्यावर
१४ श्री मिश्रीलालजी धनराजजी विनायकिया ब्यावर
१५ श्री इन्द्रचन्दजी बैद, राजनादगाव
१६. श्री रावतमलजी भीकमचन्दजी पगारिया, बालाघाट
१७ श्री गणेशमलजी धर्मीचन्दजी काकरिया, टगला
१८. श्री सुगनचन्दजी बोकडिया, इन्दौर
१९. श्री हरकचन्दजी सागरमलजी बेताला, इन्दौर
२०. श्री रघुनाथमलजी लिखमीचन्दजी लोढा, चांगाटोला
२१. श्री सिद्धकरणजी शिखरचन्दजी बैद, चांगाटोला

२२. श्री सागरमलजी नोरतमलजी पींचा, मद्रास
२३. श्री मोहनराजजी मुकनचन्दजी बालिया, अहमदाबाद
२४. श्री केशरीमलजी जंवरीलालजी तलेसरा, पाली
२५. श्री रतनचन्दजी उत्तमचन्दजी मोदी, ब्यावर
२६. श्री धर्मीचन्दजी भागचन्दजी बोहरा, झूठा
२७. श्री छोगमलजी हेमराजजी लोढ़ा डोडीलोहारा
२८. श्री गुणचदजी दलीचदजी कटारिया, बेल्लारी
२९ श्री मूलचन्दजी सुजानमलजी सचेती, जोधपुर
३० श्री सी० अमरचन्दजी बोथरा, मद्रास
३१. श्री भवरलालजी मूलचदजी सुराणा, मद्रास
३२. श्री बादलचदजी जुगराजजी मेहता, इन्दौर
३३ श्री लालचदजी मोहनलालजी कोठारी, गोठन
३४ श्री हीरालालजी पन्नालालजी चौपडा, अजमेर
३५ श्री मोहनलालजी पारसमलजी पगारिया, बेंगलोर
३६. श्री भवरीमलजी चोरड़िया, मद्रास
३७ श्री भवरलालजी गोठी, मद्रास
३८ श्री जालमचदजी रिखबचदजी बाफना, आगरा
३९. श्री घेवरचदजी पुखराजजी मुरट, गोहाटी
४०. श्री जबरचन्दजी गेलडा, मद्रास
४१. श्री जडावमलजी सुगनचन्दजी, मद्रास
४२. श्री पुखराजजी विजयराजजी, मद्रास
४३ श्री चेनमलजी सुराणा ट्रस्ट, मद्रास
४४. श्री लूणकरणजी रिखबचदजी लोढ़ा, मद्रास
४५. श्री सूरजमलजी सज्जनराजजी महेता, कोप्पल

सहयोगी सदस्य

१. श्री देवकरणजी श्रीचन्दजी डोसा, मेडतासिटी
२. श्रीमती छगनीबाई विनायकिया, ब्यावर
३. श्री पूनमचन्दजी नाहटा, जोधपुर
४. श्री भवरलालजी विजयराजजी कांकरिया, विल्लीपुरम्
५. श्री भवरलालजी चौपडा, ब्यावर
६. श्री विजयराजजी रतनलालजी चतर, ब्यावर
७. श्री बी. गजराजजी बोकडिया, सेलम
८. श्री फूलचन्दजी गौतमचन्दजी कांठेड, पाली
९. श्री के. पुखराजजी बाफणा, मद्रास
१०. श्री रूपराजजी जोधराजजी मूथा, दिल्ली
११. श्री मोहनलालजी मगलचदजी पगारिया, रायपुर
१२. श्री नथमलजी मोहनलालजी लूणिया, चण्डावल
१३ श्री भवरलालजी गौतमचन्दजी पगारिया, कुशालपुरा
१४. श्री उत्तमचदजी मागीलालजी, जोधपुर
१५ श्री मूलचन्दजी पारख, जोधपुर
१६. श्री सुमेरमलजी मेडतिया, जोधपुर
१७. श्री गणेशमलजी नेमीचन्दजी टाटिया, जोधपुर
१८. श्री उदयराजजी पुखराजजी संचेती, जोधपुर
१९. श्री बादरमलजी पुखराजजी बंट, कानपुर
२०. श्रीमती सुन्दरबाई गोठी W/o श्री ताराचंदजी गोठी, जोधपुर
२१. श्री रायचन्दजी मोहनलालजी, जोधपुर
२२. श्री घेवरचन्दजी रूपराजजी, जोधपुर
२३. श्री भवरलालजी माणकचदजी सुराणा, मद्रास
२४. श्री जवरीलालजी अमरचन्दजी कोठारी, ब्यावर
२५. श्री माणकचन्दजी किशनलालजी, मेडतासिटी
२६. श्री मोहनलालजी गुलाबचन्दजी चतर, ब्यावर
२७. श्री जसराजजी जवरीलालजी धारीवाल, जोधपुर
२८. श्री मोहनलालजी चम्पालालजी गोठी, जोधपुर
२९. श्री नेमीचदजी डाकलिया मेहता, जोधपुर
३०. श्री ताराचदजी केवलचदजी कर्णावट, जोधपुर
३१. श्री आसूमल एण्ड कं०, जोधपुर
३२. श्री पुखराजजी लोढा, जोधपुर
३३. श्रीमती सुगनीबाई W/o श्री मिश्रीलालजी सांड, जोधपुर
३४. श्री बच्छराजी सुराणा, जोधपुर
३५. श्री हरकचन्दजी मेहता जोधपुर
३६. श्री देवराजजी लाभचंदजी मेड़तिया, जोधपुर
३७. श्री कनकराजजी मदनराजजी गोलिया, जोधपुर
३८. श्री घेवरचन्दजी पारसमलजी टांटिया, जोधपुर
३९. श्री मांगीलालजी चोरड़िया, कुचेरा

४०. श्री सरदारमलजी सुराणा, भिलाई
४१. श्री ओकचदजी हेमराजजी सोनी, दुर्ग
४२ श्री सूरजकरणजी सुराणा, मद्रास
४३. श्री घीसूलालजी लालचदजी पारख, दुर्ग
४४. श्री पुखराजजी बोहरा, (जैन ट्रान्सपोर्ट कं.) जोधपुर
४५. श्री चम्पालालजी सकलेचा, जालना
४६. श्री प्रेमराजजी मीठालालजी कामदार, बेंगलोर
४७ श्री भवरलालजी मूथा एण्ड सन्स, जयपुर
४८ श्री लालचदजी मोतीलालजी गादिया, बेंगलोर
४९ श्री भवरलालजी नवरत्नमलजी सांखला, मेट्टूपालियम
५०. श्री पुखराजजी छल्लाणी, करणगुल्ली
५१ श्री आसकरणजी जसराजजी पारख, दुर्ग
५२ श्री गणेशमलजी हेमराजजी सोनी, भिलाई
५३. श्री अमृतराजजी जसवन्तराजजी मेहता, मेडतासिटी
५४ श्री घेवरचदजी किशोरमलजी पारख, जोधपुर
५५ श्री मांगीलालजी रेखचदजी पारख, जोधपुर
५६. श्री मुन्नीलालजी मूलचदजी गुलेच्छा, जोधपुर
५७. श्री रतनलालजी लखपतराजजी, जोधपुर
५८. श्री जीवराजजी पारसमलजी कोठारी, मेडता सिटी
५९. श्री भवरलालजी रिखबचदजी नाहटा, नागौर
६० श्री मागीलालजी प्रकाशचन्दजी रूणवाल, मंसूर
६१. श्री पुखराजजी बोहरा, पीपलिया कला
६२ श्री हरकचदजी जुगराजजी बाफना, बेंगलोर
६३. श्री चन्दनमलजी प्रेमचदजी मोदी, भिलाई
६४ श्री भीवराजजी बाघमार, कुचेरा
६५. श्री तिलोकचदजी प्रेमप्रकाशजी, अजमेर
६६. श्री विजयलालजी प्रेमचंदजी गुलेच्छा, राजनांदगाँव
६७. श्री रावतमलजी छाजेड, भिलाई
६८. श्री भंवरलालजी डूगरमलजी कांकरिया, भिलाई
६९. श्री हीरालालजी हस्तीमलजी देशलहरा, भिलाई
७०. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावकसंघ, दल्ली-राजहरा
७१. श्री चम्पालालजी बुद्धराजजी बाफणा, ब्यावर
७२ श्री गगारामजी इन्द्रचदजी बोहरा, कुचेरा
७३. श्री फतेहराजजी नेमीचदजी कर्णावट, कलकत्ता
७४. श्री बालचदजी थानचन्दजी भरट, कलकत्ता
७५. श्री सम्पतराजजी कटारिया, जोधपुर
७६. श्री जवरीलालजी शातिलालजी सुराणा, बोलारम
७७ श्री कानमलजी कोठारी, दादिया
७८ श्री पन्नालालजी मोतीलालजी सुराणा, पाली
७९. श्री माणकचदजी रतनलालजी मुणोत, टगला
८० श्री चिम्मनसिंहजी मोहनसिंहजी लोढा, ब्यावर
८१. श्री रिद्धकरणजी रावतमलजी भुरट, गौहाटी
८२ श्री पारसमलजी महावीरचदजी बाफना, गोठ
८३. श्री फकीरचदजी कमलचदजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
८४. श्री मांगीलालजी मदनलालजी चोरडिया, भैरूंद
८५ श्री सोहनलालजी लूणकरणजी सुराणा, कुचेरा
८६. श्री घीसूलालजी, पारसमलजी, जवरीलालजी कोठारी, गोठन
८७ श्री सरदारमलजी एण्ड कम्पनी, जोधपुर
८८ श्री चम्पालालजी हीरालालजी बागरेचा, जोधपुर
८९ श्री धुखराजजी कटारिया, जोधपुर
९० श्री इन्द्रचन्दजी मुकनचन्दजी, इन्दौर
९१ श्री भंवरलालजी बाफणा, इन्दौर
९२ श्री जेठमलजी मोदी, इन्दौर
९३ श्री बालचन्दजी अमरचन्दजी मोदी, ब्यावर
९४ श्री कुन्दनमलजी पारसमलजी भडारी, बेंगलौर
९५. श्रीमती कमलाकवर ललवाणी धर्मपत्नी श्री स्व. पारसमलजी ललवाणी, गोठन
९६. श्री अखेचंदजी लूणकरणजी भण्डारी, कलकत्ता
९७. श्री सुगनचन्दजी सचेती, राजनांदगाँव

९८. श्री प्रकाशचदजी जैन, नागौर
९९ श्री कुशालचदजी रिखबचन्दजी सुराणा, बोलारम
१००. श्री लक्ष्मीचंदजी अशोककुमारजी श्रीश्रीमाल, कुचेरा
१०१. श्री गूदड़मलजी चम्पालालजी, गोठन
१०२. श्री तेजराजजी कोठारी, मांगलियावास
१०३. सम्पतराजजी चोरडिया, मद्रास
१०४. श्री अमरचंदजी छाजेड़, पादु बडी
१०५. श्री जुगराजजी धनराजजी बरमेचा, मद्रास
१०६. श्री पुखराजजी नाहरमलजी ललवाणी, मद्रास
१०७ श्रीमती कचनदेवी व निर्मलादेवी, मद्रास
१०८. श्री दुलेराजजी भंवरलालजी कोठारी, कुशालपुरा
१०९. श्री भवरलालजी मांगीलालजी बेताला, डेह
११०. श्री जीवराजजी भवरलालजी चोरड़िया, भैरूंदा
१११. श्री मांगीलालजी शातिलालजी रूणवाल, हरसोलाव
११२. श्री चादमलजी धनराजजी मोदी, अजमेर
११३. श्री रामप्रसन्न ज्ञानप्रसार केन्द्र, चन्द्रपुर
११४. श्री भूरमलजी दुलीचंदजी बोकड़िया, मेड़ता सिटी
११५. श्री मोहनलालजी धारीवाल, पाली
११६. श्रीमती रामकंवरबाई धर्मपत्नी श्री चांदमलजी लोढा, बम्बई
११७. श्री मांगीलालजी उत्तमचंदजी बाफणा, बेंगलोर
११८. श्री सांचालालजी बाफणा, औरगाबाद
११९. श्री भीखमचन्दजी माणकचन्दजी खाबिया, (कुडालोर) मद्रास
१२०. श्रीमती अनोपकुवर धर्मपत्नी श्री चम्पालालजी सघवी, कुचेरा
१२१. श्री सोहनलालजी सोजतिया, थांवला
१२२. श्री चम्पालालजी भण्डारी, कलकत्ता
१२३. श्री भीखमचन्दजी गणेशमलजी चौधरी, धूलिया
१२४. श्री पुखराजजी किशनलालजी तातेड़, सिकन्दराबाद
१२५. श्री मिश्रीलालजी सज्जनलालजी कटारिया सिकन्दराबाद
१२६. श्री वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक सघ, बगडीनगर
१२७. श्री पुखराजजी पारसमलजी ललवाणी, बिलाड़ा
१२८. श्री टी. पारसमलजी चोरड़िया, मद्रास
१२९. श्री मोतीलालजी आसूलालजी बोहरा एण्ड कं., बेंगलोर
१३०. श्री सम्पतराजजी सुराणा, मनमाड़ □□